# विश्व-इतिहास
# की
# झलक

पहला खण्ड

लेखक
जवाहरलाल नेहरू
अनुवादक
चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय

•

१९८६

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
एन ७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली

•

सातवीं बार १९८६
मूल्य : दोनों खण्डों का साठ रुपये

•

मुद्रक
अग्रवाल प्रिंटर्स
नई दिल्ली

# प्रकाशकीय

इस पुस्तक मे नेहरूजी के विभिन्न जेलो से अपनी पुत्री इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम लिखे पत्रो का सग्रह है। इन पत्रो मे विद्वान् लेखक ने दुनिया के इतिहास और साम्राज्यो के उत्थान एवं पतन की कहानी बडी खूबी के साथ लिखी है। उन्होंने बहुत दिन पहले कुछ पत्र इन्दिरा के नाम लिखे थे, जो 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' से सन् १९२९ मे प्रकाशित हुए। उन पत्रो मे सृष्टि के आरम्भ से प्राणी की उत्पत्ति और इतिहास-काल के आरम्भ तक का हाल था। 'झलक' की कहानी उसके बाद से शुरू होती है। दोनो पुस्तकें एक-दूसरे की पूरक हैं, फिर भी अपने-आपमे स्वतन्त्र हैं।

अंग्रेजी पुस्तक के नये सस्करण के अन्त मे लेखक ने जो उपोद्घात तथा नई टिप्पणियाँ जोडी थीं वे इस पुस्तक के दूसरे सस्करण मे बढा दी गई थी। अन्त में निर्देशिका भी दे दी गई है।

प्रस्तुत सस्करण मे सारे ग्रन्थ की भाषा मे फिर से सशोधन करके उसे अधिक प्रवाहपूर्ण बना दिया गया है। साथ ही लगभग पचास नकशे इस पुस्तक मे दे दिये गए हैं, जिससे विषय के समझने मे सुगमता होती है।

नेहरूजी की यह अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। इसमे उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा इतिहास के गहरे ज्ञान का-मानो सागर भर दिया है।

पुस्तक का यह नया सस्करण है। हम आशा करते हैं कि इस सस्करण का भी पूर्ववत् स्वागत होगा।

—मन्त्री

# भूमिका

चार बरस हुए मैंने इस किताब का लिखना देहरादून-जेल मे खत्म किया था। उसके कुछ दिन बाद यह अंग्रेज़ी मे छपी थी। मेरी इच्छा थी कि यह हिन्दी और उर्दू मे भी निकले। उसका कुछ प्रबन्ध किया भी, लेकिन दुर्भाग्य से उसमे उस समय कामयाबी नही हुई। मैं फिर जेल चला गया।

अब मुझे खुशी है कि ये मेरे पत्र इन्दिरा के नाम देश की पोशाक मे निकल रहे हैं। कसूर तो मेरा है कि मैंने इनको शुरू मे विदेशी लिबास पहनाया। मुझे कुछ आसानी हुई अंग्रेज़ी मे लिखने मे, क्योकि उसमे लिखने का अभ्यास अधिक था और विषय भी ऐसा था, जिसमें ज्यादातर किताबें यूरोप की भाषाओ मे हैं और उन्हीको मैंने पढा था।

दुनिया के इतिहास पर किसीका भी कुछ लिखना हिम्मत का काम है। मेरे लिए यह जुर्रत करना तो एक अजीब बात थी, क्योकि मैं न लेखक हूँ और न इतिहास के जाननेवालो मे गिना जाता हूँ। कोई बडी पुस्तक लिखने का तो मेरा खयाल भी नही था। लेकिन जेल के लम्बे और अकेले दिनो मे मैं कुछ करना चाहता था और मेरा ध्यान आजकल की दुनिया और उसके कठिन सवालो से भटककर पुराने जमाने मे दौडता और फिरता था। क्या-क्या सबक यह पुराना इतिहास हमे सिखाता है? क्या रोशनी आजकल के अँधेरे मे डालता है? क्या यह सब कोई सिलसिला है, कोई माने रखता है, या यह एक बेमानी खेल है, जिसमे कोई कायदा-कानून नही, कोई मतलब नही, और सब बातें यो ही इत्तफाक से होती हैं? ये खयाल मेरे दिमाग़ को परेशान करते थे, और इस परेशानी को दूर करने के लिए इतिहास को मैंने पढा और आजकल की हालत को मैंने समझने की कोशिश की। दिमाग में बहते हुए विचारो को पकडकर काग़ज़ पर लिखने से सोचने मे भी आसानी होती है और उनके नये-नये पहलू निकलते हैं। इसलिए मैंने लिखना शुरू किया। फिर इन्दिरा की याद ने मुझे उसकी तरफ खीचा और इस लिखने ने उसके नाम पत्रो का रूप धारण किया।

महीने गुज़रे। कुछ दिनो के लिए जेल से निकला, फिर वापस गया। सर्दी का मौसम खत्म हुआ, वसन्त आया, फिर गर्मी और बरसात। एक साल पूरा हुआ, दूसरा शुरू हुआ और फिर वही सर्दी, वसन्त, गर्मी और चौमासा। लिखने का सिलसिला जारी रहा और हलके-हलके मेरे लिखे हुए पत्रो का एक पहाड-सा हो गया। उसको देखकर मैं भी हैरान हो गया। इस तरह से, करीब-करीब इत्तफाक

से, यह मोटी पुस्तक बनी। इसमे हज़ार ऐब हैं, हज़ार कमियाँ, लेकिन फिर भी मैं समझता हूँ कि इससे कुछ फायदा भी हो सकता है। अंग्रेज़ो ने या यूरोप के लोगो ने जो ऐसी पुस्तकें लिखी हैं, उनमे यूरोपीय दुनिया का अधिकतर हाल है, एशिया और पुराने इतिहास की चर्चा कम है। मैंने कोशिश की है कि एशिया का हाल ज्यादा दूं। दोनो को सामने रखकर ही पूरी तसवीर सामने आती है। वह तसवीर चाहे कितनी ही अधूरी हो और उसमे ऐब और खामियाँ हो, फिर भी वह पूरी तसवीर है। मुझे इस बात का विश्वास है कि हम किसी एक देश का हाल नही समझ सकते, जबतक कि और देशो का हाल नही जानते। कोई एक देश औरो से अलग होकर न रहा है और न रह सकता है। आजकल की दुनिया मे तो यह बात बिलकुल ज़ाहिर है और हम सब एक-दूसरे के सहारे खडे रहते हैं या गिरते है।

यूरोप की भाषाओ मे बहुत सारी पुस्तकें दुनिया के इतिहास पर है, लेकिन हमारे देश की भाषाओ मे इनकी बहुत कमी है। इसलिए मैं खासतौर से यह चाहता था कि यह मेरी पुस्तक हिन्दी और उर्दू मे निकले। गोकि इसमे ऐब और खामियाँ हैं, और वे बहुत हैं, फिर भी यह इस कमी को कुछ पूरा करती है। हिन्दी मे अब यह निकल रही है और मैं आशा करता हूँ कि जल्दी ही उर्दू मे भी निकलेगी।

इसको लिखे कोई चार बरस हुए। दुनिया के इतिहास के लिए चार बरस क्या चीज़ है? लेकिन हम एक ऐसे अजीब जमाने मे पैदा हुए, जबकि दुनिया की रफ्तार तेज़ है और हम सब उसकी धारा मे बहते जाते हैं। कोई कह नही सकता कि यहाँ कह पहुँचायगी। इन बरसो मे क्रान्ति और इन्किलाब कितने देशो मे हो गये। अबीसीनिया की हत्या हुई। स्पेन मे बढती हुई आजादी को एक भयानक मुकाबला करना पडा और अभीतक जिन्दगी और मौत की कुश्ती जारी है। फिलस्तीन मे हमारे अरब भाइयो का गला घोटा जा रहा है। चीन के मशहूर शहर, जहाँ लाखो लोग रहते थे, मिट्टी के ढेर हो गये, और उस मिट्टी में बेशुमार पुरुष और स्त्री, लडके और लडकियाँ और बच्चे दबे पडे हैं। साम्राज्यवाद और फासिस्ट-वाद हर जगह हमला कर रहे हैं और दुनिया की नई उमगो को कुचलने की कोशिश कर रहे हैं। उसीके साथ समाजवाद और राष्ट्रीयता के विचार फैलते जाते है और वे इस मुकाबिले से हटते नही।

इस पुस्तक के आखिर मे मैने लडाई के साये का जिक्र किया है। इन चार बरसो मे यह साया सारे देश मे फैल गया है और एक भयानक घटा हमे घेरे हुए है। दिन और रात इस लडाई की तैयारी सब देश कर रहे हैं और एक सवाल हरेक की जबान पर और चेहरे पर है। यह तूफान कब दुनिया पर छायगा और क्या-क्या मुसीबतें लायगा? क्या इसका नतीजा होगा—हमे लाभ या हानि?

मैं चाहता था कि इन चार बरसो का कुछ हाल लिखकर इस किताब के अन्त मे जोड दूं। लेकिन और कामो मे इतना फंसा हूं कि समय नही मिलता।

एक भाषा से दूसरी भाषा मे अनुवाद करना कठिन काम है। कभी पूरा मतलब इस तरह से अदा नही हो सकता। फिर भी यह काम तो करना ही होता है। इस अनुवाद मे एक और कठिनाई हुई। हम सबकी इच्छा थी कि यह बीच की हिन्दुस्तानी भाषा मे हो, जो न कठिन हिन्दी हो, न कठिन उर्दू। हमे अपने देश मे ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा को चालू करना है। शुरू-शुरू मे इसमे काफी दिक्कतो का सामना करना पडता है और दोनो तरफ के साहित्यकार नाराज़ हो जाते हैं। एतराज़ होता है कि यह क्या दोगली चीज़ है—न हिन्दी, न उर्दू। साहित्य के प्रेमियो से मैं माफी मांगता हूं, लेकिन मैं समझता हूं कि बीच के रास्ते पर चलकर हम एक मज़बूत और जानदार साहित्य बना सकेंगे। इस कोशिश मे ग़लतियां होगी और कभी-कभी आंखो को और कानो को चोट लगेगी। लेकिन जल्दी ही समय आयगा जब हम इस नई चीज़ की, जो आम जनता से पैदा हो और उसीकी तरफ देखे, शक्ति पहचानेंगे और उसके बढाने मे लगेंगे।

रेल मे
२१-११-३७

जवाहरलाल नेहरू

# विषय-सूची

## पहला खण्ड

# मानचित्र

# विश्व-इतिहास
# की
# झलक

"जेल के लंबे और अकेले दिनों में मैं कुछ करना चाहता था। इंदिरा की याद ने मुझे उसकी ओर खींचा, इसलिए मैंने लिखना शुरू किया और इस लिखने ने उसके नाम पत्रों का रूप धारण किया।"

—जवाहरलाल नेहरू

# सालगिरह की चिट्ठी

सेन्ट्रल जेल, नैनी
२६ अक्तूबर, १९३०[1]

इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम
उसके तेरहवें जन्मदिन पर—

अपनी सालगिरह के दिन तुम बराबर उपहार और शुभ-कामनाएँ पाती रही हो। शुभ-कामनाएँ तो तुम्हे अब भी बहुत-सी मिलेंगी। लेकिन नैनी-जेल से मैं तुम्हारे लिए कौन-सा उपहार भेज सकता हूँ? फिर मेरे उपहार वास्तविक या बहुत ठोस शक्ल के नही हो सकते। वे तो हवा के समान सूक्ष्म ही होगे, जिनका मन और आत्मा से सम्बन्ध हो—ऐसे उपहार शायद तुम्हे नेक परियाँ ही दे सके और इन्हे जेल की ऊँची दीवारें भी नही रोक सकती।

प्यारी बेटी, तुम जानती हो कि उपदेश देना और नेक सलाह बाँटना मुझे कितना नापसन्द है। जब कभी ऐसा करने को मेरा जी चाहता भी है तो मुझे हमेशा एक 'बहुत अक्लमन्द आदमी' की कहानी याद आ जाती है, जो मैंने एक बार पढी थी। कभी शायद तुम खुद उस पुस्तक को पढोगी, जिसमे यह कहानी लिखी है। तेरह सौ बरस हुए एक मशहूर यात्री अनुभव और ज्ञान की खोज मे चीन से भारत आया था। उसका नाम ह्यूएनत्साङ[2] था। उसकी ज्ञान की प्यास इतनी तेज़ थी कि वह अनेक खतरो का सामना करता, अनेक मुसीबतो और बाधाओ को झेलता और जीतता हुआ, उत्तर के रेगिस्तानो और पहाडो को पार करके

---

[1] इन्दिरा का जन्मदिन अंग्रेजी तारीख के हिसाब से १९ नवम्बर को पड़ता है, लेकिन विक्रमी संवत् के अनुसार २६ अक्तूबर को मनाया गया था।

[2] ह्यूएनत्सांङ एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुक और चीनी यात्री था। इसका समय सन् ६०५ से ६६४ ई० के लगभग माना जाता है। ६२९ मे यह हिन्दुस्तान के लिए रवाना हुआ। उन दिनो चीन मे शाही हुक्म के अनुसार विदेश-यात्रा करना मना था, इसलिए इसकी रवानगी का पता लगने पर इसकी गिरफ्तारी की बड़ी कोशिश की गई; लेकिन बड़ी कठिनाइयो से यह वहाँ से निकल भागा और रास्ते में भी बहुत मुसीबतें झेलीं, मगर घबराया नहीं और हिन्दुस्तान आ पहुँचा। इसने यहाँ से लौटने के बाद चीन, मध्य-एशिया और भारत की तत्कालीन स्थिति का बड़ा ही दिलचस्प वर्णन लिखा है।

इस देश मे आया था। यहाँ नालन्दा[1] के महान् विश्व-विद्यालय मे, जो उस स
के पाटलिपुत्र[2] और आज के पटना के नजदीक था, इसने खुद पढने और दू
को पढाने मे कई वर्ष विताये। ह्यूएनत्साङ्ग वहुत वडा विद्वान् हो गया और
त्रिपिटकाचार्य यानी वौद्ध-धर्म के आचार्य की उपाधि दी गई। फिर वह सारे भार
मे घूमा और इस महान् देश के उस जमाने के लोगो का और उनके रस्म-रिवा
का अध्ययन करता रहा। वाद को इसने अपनी यात्रा के वारे मे एक पुस्तक लिखी
और जो कहानी मुझे याद आई वह इसी पुस्तक मे है। कहानी यो है कि दक्षिण
भारत का रहनेवाला एक आदमी कर्णसुवर्ण नाम के नगर मे गया। यह शह
उस जमाने मे विहार के आजकल के भागलपुर शहर के आसपास कही वस
हुआ था। इस पुस्तक मे लिखा है कि वह आदमी अपने पेट और कमर के चारो
ओर ताँवे के पत्तर लपेटे रहता था और अपने सिर पर जलती हुई मशाल वाँधक
चलता था। इस विचित्र भेष मे, हाथ मे डण्डा लिये और अकड़ के साथ लम्वे-लम्वे ड
रखता हुआ यह शख्स इधर-उधर घूमा करता था। जब कोई उससे पूछता कि तुम
यह अजीव स्वाग क्यो वना रक्खा है, तो वह जवाव देता, "मुझमे इतनी ज्याद
अक्ल है कि अगर मैं अपने पेट के चारो तरफ ताँवे की चादरें न वाँधे रहूँ तो डर
कि कही मेरा पेट फट न जाय। और क्योंकि मुझे सव तरफ दिखाई देनेवाले अज्ञानी
आदमियो पर, जो अँधेरे मे भटक रहे हैं, दया आती है, इसलिए मैं अपने सिर प
मशाल लेकर चलता हूँ।"

मुझे पूरा भरोसा है कि अक्ल की ज्यादती के कारण मेरे पेट के फट जा
का कोई अन्देशा नही है, इसलिए मुझे ताँवे की चादरें या जिरह-वख्तर पहन
की जरूरत नही है। वहरहाल, मुझे उम्मीद है कि मुझमे जो-कुछ भी अक्ल है
वह मेरे पेट मे नही रहती। मेरी अक्ल चाहे जहाँ रहती हो, वहाँ और ज्यादा
लिए अव भी काफी जगह वाकी है, और इस वात का कोई अन्देशा नही कि अधि
के लिए वहाँ जगह ही न वचे। फिर जब मेरी अक्ल इतनी सीमित है तो मैं दूस
के सामने अक्लमन्द होने की शान कैसे गाँठ सकता हूँ और सवको नेक सला
कैसे वाँट सकता हूँ? इसलिए मेरा हमेशा से यह विश्वास रहा है कि यह जान

---

[1] नालन्दा—यह मगध, आजकल के बिहार, के अन्तर्गत एक पुराना बौ
मठ और मशहूर विद्यापीठ था। ज्ञान और धर्म का उपदेश देने के लिए यहाँ १०
विद्वान् बौद्ध पण्डित रहते थे। उनके अलावा लगभग दस हजार से ज्यादा याजक
और शिष्य यहाँ पर रहा करते थे। इसके जोड का विश्व-विद्यालय उस वक्त
दुनिया में दूसरा न था।

[2] पाटलिपुत्र—पटना का पुराना नाम। यह मगध और गुप्त साम्राज्यों
की राजधानी था।

के लिए कि क्या सही है और क्या नहीं, क्या करना चाहिए, और क्या न करना चाहिए, सबसे अच्छा तरीका यह नहीं है कि उपदेश दिया जाय, बल्कि यह है कि बातचीत और चर्चा की जाय, क्योंकि अक्सर ऐसी चर्चाओं में से कुछ-न-कुछ सचाई निकल आती है। मुझे तो तुमसे बातचीत करना ही पसन्द रहा है और हमने आपस में बहुत-सी बातों पर चर्चाएं की भी हैं। लेकिन दुनिया बहुत लम्बी-चौड़ी है और हमारी इस दुनिया के परे भी बहुत-सी आश्चर्यजनक और रहस्य-भरी दुनिया है। इसलिए हममें से किसी को भी ह्यू एनत्साड की कहानी में बताये हुए बेवकूफ और घमण्डी आदमी की तरह कभी उकताना नहीं चाहिए और न यह खयाल ही करना चाहिए कि जितना सीखने लायक था वह सब हमने सीख लिया और अब हम बहुत अक्लमन्द हो गए। और शायद इसी बात में अपनी भलाई है कि हम बहुत अक्लमन्द नहीं बन जाते, क्योंकि 'बहुत ही अक्लमन्द लोग', अगर इस किस्म के लोग कहीं पाये भी जाते हों, जरूर इस बात को सोचकर उदास हो जाते होंगे कि अब सीखने को कुछ भी बाकी नहीं रहा। नई बातों के सीखने और नई चीजों के खोज निकालने के आनन्द से—उस महान् साहसपूर्ण कार्य के आनन्द से जिसे हममें से जो चाहे प्राप्त कर सकता है—वे जरूर वंचित रह जाते होंगे।

इसलिए उपदेश देना तो मेरा काम नहीं। तब फिर मैं करूँ क्या? चिट्ठी से बातचीत का काम तो निकल नहीं सकता। ज्यादा-से-ज्यादा उससे एक तरफ की बात ही प्रकट की जा सकती है। इसलिए अगर मेरी कोई बात तुम्हें उपदेश-सी जान पड़े, तो उसे कड़वा घूंट न समझना। तुम यही समझना कि मानो हम दोनों सचमुच बातचीत ही कर रहे हैं, और इस बातचीत में मैंने तुम्हारे सामने विचार करने को कोई तजवीज़ रक्खी है।

इतिहास की किताबों में हम राष्ट्रों के जीवन में बीतनेवाले बड़े-बड़े जमानों का और उनके महान् पुरुषों और महिलाओं का हाल और उनके शानदार कार-नामों की कहानियाँ पढ़ते ही रहते हैं। कभी-कभी हम सोचते-सोचते और सपने देखते-देखते यह खयाल करने लगते हैं कि मानो हम भी उसी पुराने जमाने में चले गए हैं और पुराने जमाने के उन वीरों और वीरांगनाओं के समान हम भी बहादुरी के काम कर रहे हैं। क्या तुम्हें याद है कि जब तुमने पहले-पहल 'जीन द आर्क'[1] की कहानी पढ़ी थी, तो तुम कितनी मुग्ध हो गई थीं और तुम्हारे दिल में कितना

---

[1] जीन द आर्क—इसका जन्म सन् १४१२ ई० में फ्रांस देश के एक किसान-जमींदार के घर में हुआ था। कहते हैं कि बचपन से ही इसके हृदय में 'दैवी-सन्देश' आया करते थे और इसे विश्वास हो गया था कि फ्रांस का उद्धार इसीके हाथों होगा। उस वक्त फ्रांस अंग्रेजों के अधीन था। एक बार जीन फ्रांस के बादशाह चार्ल्स के पास जा पहुँची और उसे प्रभावित करके चार-पाँच हजार सेना के साथ सवनि

हौसला पैदा हुआ था कि तुम भी उन्हीकी तरह कुछ काम करो ? साधारण मर्दो और औरतो मे आमतौर पर साहस की भावना नही होती। वे तो अपनी रोजाना की दाल-रोटी की, अपने बाल-बच्चो की, घर-गिरस्ती की झझटो की और इसी तरह की दूसरी बातो की चिन्ता मे फँसे रहते है। लेकिन एक समय आता है जब किसी बडे उद्देश्य के लिए सारी जनता मे उत्साह भर जाता है और उस वक्त सीधे-सादे मामूली स्त्री और पुरुष वीर बन जाते है, और इतिहास दिल को थर्रा देनेवाला और नया युग पैदा करनेवाला बन जाता है। महान् नेताओ मे कुछ ऐसी बाते होती है जो सारी जाति के लोगो मे जान पैदा कर देती है और उनसे बडे-बडे काम करवा देती है।

वह वर्ष, जिसमे तुम्हारा जन्म हुआ, अर्थात् सन् १९१७, इतिहास का एक बहुत प्रसिद्ध वर्ष है। इसी वर्ष एक महान् नेता ने, जिसके हृदय मे ग़रीबो और दुखियो के लिए बहुत प्रेम और हमदर्दी थी, अपनी कौम मे इतिहास के एक शानदार और अमर अध्याय की रचना करवा दी। उसी महीने मे, जिसमे तुम पैदा हुई, लेनिन ने उस महान् क्रान्ति को शुरू किया था, जिसमे रूस और साइबेरिया की काया पलट गई। और आज भारत मे एक दूसरे महान् नेता ने, जिसके हृदय मे मुसीबत के मारे और दुखी लोगो के लिए दर्द है और जो उनकी सहायता के लिए बेताब हो रहा है, हमारे राष्ट्र मे महान् प्रयत्न और उच्च बलिदान करने के लिए नई जान डाल दी है कि जिससे हमारा राष्ट्र फिर आजाद हो जाय, और भूखे, गरीब और पीडित लोग अपने पर लदे हुए बोझ से छुटकारा पा जाय। बापूजी[1] जेल मे पडे है,लेकिन हिन्दुस्तान की करोडो जनता के दिलो मे उनके सन्देश का जादू पैठ गया है और मर्द और औरते और छोटे-छोटे बच्चे तक अपने-अपने छोटे-छोटे और तग दायरो से निकलकर भारत की आजादी के सिपाही बन रहे है। भारत मे आज हम इतिहास निर्माण कर रहे है। हम और तुम आज बडे खुशकिस्मत है कि ये सब बाते हमारी आँखो के सामने हो रही है, और इस महान् नाटक मे हम भी कुछ हिस्सा ले रहे है।

---

लिबास मे अग्रेजो से लडने चल पडी। आर्लियंस की लडाई में इसने अग्रेजों को मार भगाया और चार्ल्स को फ्रास की गद्दी पर बिठाया। पर चार्ल्स ने इसका साथ न दिया और बर्गण्डी के ड्यूक ने इसे युद्ध मे पकडकर अग्रेजो के हाथ बेच दिया। अंग्रेजो ने इसे इन्क्वीजिशन (देखो फुटनोट पृष्ठ १४५) के हवाले कर दिया और इन्क्वीजिशन ने इसे काफिर और जादूगरनी क़रार देकर रूएन नगर मे जिन्दा जलवा डाला। उस वक्त इसकी उम्र ३० साल की थी। इसके २५ वर्ष बाद पोप ने इसे बेक़सूर बतलाया और बाद को यह जादूगरनी के बजाय साध्वी क़रार दी गई।

[1] महात्मा गाधी।

इस महान् आन्दोलन मे हमारा व्यवहार कैसा रहेगा ? इसमे हम क्या भाग लेंगे ? मैं नही कह सकता कि हम लोगो के ज़िम्मे कौन-सा काम आयेगा। लेकिन हमारे ज़िम्मे चाहे जो काम आ पडे, हमे यह याद रखना चाहिए कि हम कोई ऐसी वात नही करेंगे, जिससे हमारे उद्देश्यो पर धब्बा लगे और हमारे राष्ट्र की वदनामी हो। अगर हमे भारत के सिपाही होना है, तो हमको उसके गौरव का रक्षक वनना होगा और यह गौरव हमारे लिए एक पवित्र धरोहर होगी।

कभी-कभी हमे यह दुविधा हो सकती है कि इस समय हमे क्या करना चाहिए ? सही क्या है और गलत क्या है, यह तय करना आसान काम नही होता। इसलिए जव कभी तुम्हे शक हो तो ऐसे समय के लिए मैं एक छोटी-सी कसौटी तुम्हे वताता हू। शायद इससे तुम्हें मदद मिलेगी। वह यह है कि कोई काम खुफिया तौर पर न करो, कोई काम ऐसा न करो जिसे तुम्हे दूसरो से छिपाने की इच्छा हो। क्योंकि छिपाने की इच्छा का मतलव यह होता है कि तुम डरती हो, और डरना बुरी वात है और तुम्हारी शान के खिलाफ है। तुम वहादुर वनो और वाकी चीज़े तुम्हारे पास आप-ही-आप आती जायेंगी। अगर तुम वहादुर हो तो तुम डरोगी नही, और कभी ऐसा काम न करोगी जिसके लिए दूसरो के सामने तुम्हें शर्म मालूम हो। तुम्हें मालूम है कि हमारी आज़ादी के आन्दोलन मे, जो वापूजी की रहनुमाई मे चल रहा है, गुप्त तरीको या लुक-छिपकर काम करने के लिए कोई स्थान नही है। हमे तो कोई चीज़ छिपानी ही नही है। जो कुछ हम कहते या करते हैं, उसमे हम डरते नही। हम तो उजाले मे और दिन-दहाडे काम करते हैं। इसी तरह अपनी निजी ज़िन्दगी मे भी हमे सूरज को अपना दोस्त बनाना चाहिए और रोशनी मे काम करना चाहिए। कोई वात छिपाकर या आँख वचाकर नही करनी चाहिए। एकान्त तो अलवत्ता हमे चाहिए और वह स्वाभाविक भी है, लेकिन एकान्त और चीज़ है और पोशीदगी दूसरी चीज़ है। इसलिए, प्यारी वेटी, अगर तुम इस कसौटी को सामने रखकर काम करती रहोगी तो प्रकाश की सन्तान होकर वढोगी और चाहे जो घटनाएँ तुम्हारे सामने आयें तुम निर्भय और शान्त रहोगी और तुम्हारे चेहरे पर शिकन तक न आयगी।

मैंने तुम्हें एक बडी लम्बी चिट्ठी लिख डाली। फिर भी वहुत-सी बाते रह गईं, जो मैं तुमसे कहना चाहता हूँ। एक पत्र मे इतनी सव वातें कहाँ समा सकती हैं ?

मैंने तुम्हे वताया है कि तुम वडी खुशक़िस्मत हो कि आज़ादी की बडी लडाई, जो हमारे देश मे इस वक्त चल रही है, तुम्हारी आँखो के सामने हो रही है। तुम्हारी एक वडी खुशकिस्मती यह भी है कि तुम्हें एक वहुत वहादुर और

दिलेर स्त्री 'मम्मी'[1] के रूप मे मिली है। जब कभी तुम्हे कोई शक-शुबह हो, या कोई परेशानी सामने आये, तो उनसे बढकर मित्र तुम्हें दूसरा नही मिल सकता।

प्यारी नन्ही, अब मैं तुमसे विदा लेता हूँ, और मेरी यह कामना है कि तुम बडी होकर भारत की सेवा के लिए एक बहादुर सिपाही बनो। मेरा प्रेम और आशीर्वाद तुम्हे पहुँचे।

१

# नये साल की भेंट

१ जनवरी, १९३१

क्या तुम्हें उन पत्रो[2] की याद है, जो दो साल से ज्यादा हुए मैंने तुम्हे लिखे थे, जबकि तुम मसूरी मे थी और मैं इलाहाबाद मे था? उस समय तुमने मुझे बताया था कि मेरे वे पत्र तुम्हें पसन्द आये थे। इसलिए, मैं अक्सर यह सोचता रहता हूँ कि पत्रो के इस सिलसिले को मै क्यो न जारी रक्खूं और अपनी इस दुनिया के बारे मे तुम्हे कुछ और बाते क्यो न बताऊँ? लेकिन मै हिचकता रहा। ससार के बीते हुए जमाने की कहानी और उसके महान् पुरुषो और स्त्रियो और उनके महान् कार्यों का चिन्तन करना बहुत दिलचस्प चीज है। इतिहास का पढना अच्छा है, लेकिन उससे ज्यादा दिलचस्प और दिल लुभानेवाली बात इतिहास के निर्माण मे मदद देना है। और तुम जानती हो कि हमारे देश मे आज इतिहास का निर्माण हो रहा है। भारत का पिछला इतिहास बहुत ही पुराना है और प्राचीनता के कुहरे मे खो गया है। इसमे अनेक दुःखद और अप्रिय युग भी है, जिनकी याद करके हमे शर्म आती है और ग्लानि होती है। लेकिन सभी बातो का लिहाज करते हुए हमारा पिछला जमाना बहुत शानदार है, जिसपर हम सही तौर पर गर्व कर सकते हैं और जिसका खयाल करके हम खुशी हासिल कर सकते हैं। लेकिन आज हमे इतनी फुरसत नही कि हम अतीत की याद करने बैठे। हमारे दिमाग मे तो वह भविष्य, जिसका हम निर्माण कर रहे हैं, भरा पडा है, और वह वर्तमान है, जिसमें हमारा पूरा समय और हमारी पूरी शक्ति लग रही है।

यहाँ नैनी-जेल मे मुझे इस बात का काफी समय मिल गया है कि मै जो कुछ चाहूँ लिख-पढ सकूँ। लेकिन मेरा मन भटकता रहता है और मैं उस महान् सघर्ष के बारे मे सोचता रहता हूँ, जो बाहर चल रहा । मैं यह सोचता रहता हूँ कि दूसरे लोग क्या कर रहे है, और अगर मैं उनके बीच मे होता तो क्या करता? वर्तमान

---

[1] इन्दिरा की मा श्रीमती कमला नेहरू। [2] ये पत्र 'पिता के पत्र पुत्री के नाम', नाम से पुस्तक रूप में छप चुके हैं।

और भविष्य के विचारो मे मैं इतना डूबा रहता हूँ कि बीते हुए ज़माने पर ध्यान देने की फुरसत ही नही होती। लेकिन, साथ-ही-साथ मैं यह भी महसूस करता रहा हूँ कि ऐसा सोचना मेरे लिए मुनासिब नही है। जब मैं बाहर के कामो मे कोई हिस्सा ले नही सकता, तो उसकी फिक्र क्यो करूँ?

लेकिन असल वजह, जिससे मैं तुम्हें पत्र लिखना टालता रहा हूँ, दूसरी ही है। क्या चुपके से तुम्हारे कान मे कह दूँ? मुझे यह शक होने लगा है कि मैं इतना जानता भी हूँ या नही कि जो तुम्हें पढा सकूँ। तुम इतनी तेजी से बढ रही हो और इतनी अक्लमन्द लडकी साबित हो रही हो कि जो कुछ मैंने स्कूल या कॉलेज मे और उसके बाद पढा-लिखा है, सम्भव है, वह तुम्हारे लिए काफी न हो और इसमे तो कोई शक नही कि वह कुछ बासी है। यह भी हो सकता है कि कुछ दिन बाद तुम शिक्षक का स्थान ले लो और मुझे कई नई-नई बातें सिखाओ। जैसा मैंने तुम्हारे जन्मदिनवाले पिछले पत्र मे तुम्हें लिखा था, मैं उस 'बहुत अक्लमन्द आदमी' की तरह बिलकुल नही हूँ जो अपने शरीर के चारो तरफ ताँबे की चादरें बाँधे फिरता था, ताकि कही अक्ल की ज्यादती से उसका पेट न फट जाय।

जब तुम मसूरी मे थी तब दुनिया की शुरुआत के दिनो के बारे मे कुछ लिखना मेरे लिए आसान था। उस ज़माने के सम्बन्ध मे जो कुछ जानकारी पाई जाती है वह अनिश्चित और धुंधली-सी है। लेकिन जब हम उस बहुत पुराने ज़माने से इस पार निकल आते है, तो इतिहास धीरे-धीरे शुरू होने लगने लगता है और मनुष्य-जाति दुनिया के अलग-अलग हिस्सो मे अपना विचित्र जीवन शुरू करती दिखाई देने लगती है। पर मनुष्य-जाति के इस जीवन को, जो कभी-कभी अक्लमन्दी लिये हुए लेकिन ज्यादातर पागलपन और बेवकूफी से भरा है, सिलसिलेवार पकडना आसान काम नही है। किताबो की मदद से कोशिश-भर की जा सकती है। लेकिन नैनी-जेल मे कोई पुस्तकालय नही है। इसलिए मेरे बहुत चाहने पर भी, मुझे अन्देशा है कि मैं तुम्हें शायद दुनिया के इतिहास का सिलसिलेवार हाल न बता सकूंगा।

मुझे यह बहुत नापसन्द है कि लडके और लडकियाँ सिर्फ एक देश का इतिहास जानें, और वह भी सिर्फ कुछ तारीखें और चन्द घटनाएँ रटकर। इतिहास तो एक सिलसिलेवार मुकम्मिल चीज़ है, और जबतक तुम्हें यह मालूम न हो कि दुनिया के दूसरे हिस्सो मे क्या हुआ, तुम किसी एक देश का इतिहास समझ ही नही सकती। मुझे उम्मीद है कि इस भद्दे तरीके से, तुम इतिहास को एक या दो देशो तक ही सीमित रहकर न पढोगी, बल्कि सारी दुनिया पर नज़र दौडाओगी। हमेशा याद रक्खो कि अलग-अलग देशो के लोगो मे इतना ज्यादा अन्तर नही होता जितना लोग समझते है। नकशो और नकशो की किताबो मे मुल्क अलग-अलग

रंगो मे दिखाये जाते हैं। इसमें शक नही कि अलग-अलग देशो के रहनेवालों में कुछ भेद जरूर होता है, लेकिन उनमें समानता भी बहुत ज्यादा पाई जाती है। इसलिए हमें यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए और नक्शों के रंग या राष्ट्रों की सीमा-रेखाएँ देखकर भुलावे में नहीं पड़ना चाहिए।

मैं तुम्हारे लिए अपनी पसन्द का इतिहास नहीं लिख सकता। इसके लिए तुम्हें दूसरी पुस्तकें पढ़नी होंगी। लेकिन मैं तुम्हें बीते हुए जमाने के बारे में, और उस जमाने के लोगों के बारे में कि जिन्होंने दुनिया के रंगमंच पर बड़े-बड़े काम किये हैं, समय-समय पर थोड़ा-बहुत लिखता रहूँगा।

मैं नही कह सकता कि मेरी चिट्ठियाँ तुम्हारे लिए रोचक होंगी और तुम्हारे दिल मे कुतूहल पैदा करेंगी या नहीं। सच तो यह है कि मैं यह भी नहीं जानता कि ये चिट्ठियाँ तुम्हें कब मिलेंगी या कभी मिलेंगी भी या नहीं। कितनी विचित्र बात है कि हम एक-दूसरे से इतने नजदीक होते हुए भी इतनी दूर हैं! मसूरी मे तुम मुझसे कई सौ मील के फासले पर थीं; लेकिन तब मैं जितनी दफा चाहता तुम्हें पत्र लिख सकता था, और जब कभी तुम्हें देखने को बहुत तबीयत चाहती तब जाकर मिल सकता था। लेकिन आजकल तुम जमना नदी के उस पार हो, और मैं इस पार हूँ, एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं। फिर भी नैनी-जेल की ऊँची दीवारो ने हमें एक-दूसरे से एकदम अलग कर रखा है, पन्द्रह दिन में मैं एक पत्र लिख सकता हूँ और एक पा सकता हूँ, और पन्द्रह दिन में बीस मिनट की मुलाकात भी मुझे मिल सकती है। फिर भी मैं इन बन्दिशों को अच्छा समझता हूँ। क्योंकि जो चीज हमें सस्ती मिल जाती है, हम अक्सर उसकी कद्र नही करते, और मैं यह विश्वास करने लग गया हूँ कि कुछ दिन जेल मे बिताना आदमी की शिक्षा का बहुत वांछनीय हिस्सा है। खुशकिस्मती की बात है कि हमारे देश के बीसों हजार आदमी आज इस तरह की शिक्षा पा रहे हैं।

मैं नही जानता कि जब तुम्हे मेरे ये पत्र मिलेंगे तुम इन्हे पसन्द करोगी या नही। लेकिन मैंने अपनी ही खुशी के लिए इनका लिखना तय कर लिया है। इन पत्रो से तुम मेरे बहुत नजदीक आ जाती हो और मैं तो यहाँ तक महसूस करने लगता हूँ कि मानो मैंने तुमसे बातें कर ली। वैसे तो मैं तुम्हें अक्सर याद करता रहता हूँ, लेकिन आज तो सारे दिन तुम शायद ही मेरे चित्त से हटी होगी। आज नये साल का पहला दिन है। आज बड़े सवेरे जब मैं बिस्तर पर लेटे-लेटे तारो को देख रहा था, तो मेरे दिल मे पिछले महत्वपूर्ण वर्ष का खयाल हो आया। और साथ ही खयाल मे आई उस साल की वे सब उम्मीदें, टीसें और खुशियाँ और वे सारे महान् और वीरता के काम जो इस साल मे किये गए। मुझे बापूजी का भी खयाल आया, जिन्होंने यरवदा-जेल की कोठरी मे बैठे-बैठे अपने जादूभरे स्पर्श से

हमारे बूढे देश को जवान और ताकतवर बना दिया। और मुझे दादू[1] की भी याद आई, और दूसरो की भी। मुझे खास तौर से तुम्हारी मम्मी का और तुम्हारा खयाल आया। इसके बाद सुबह होने पर खबर आई कि तुम्हारी मम्मी गिरफ्तार करली गईं और जेल पहुँचा दी गई। मेरे लिए यह नये साल की एक सुन्दर भेंट है। इसकी उम्मीद तो बहुत दिन से की जा रही थी और मुझे इसमें कोई शक नही कि मम्मी बिलकुल प्रसन्न और सन्तुष्ट होगी।

लेकिन तुम अपने-आपको अकेली अनुभव कर रही होगी। पन्द्रह दिन मे तुम एक दफा मुझसे और एक दफा अपनी मम्मी से मिल सकोगी और हम दोनो के सदेसे एक-दूसरे को पहुँचा दिया करोगी। लेकिन मैं तो कलम और कागज़ लेकर बैठ जाया करूँगा और तुम्हारा ध्यान किया करूँगा। तब तुम चुपके-से मेरे पास आ बैठोगी और हम एक-दूसरे से बहुत-सी चीजो के बारे में बातचीत करेंगे। हम गुज़रे हुए जमाने का स्वप्न देखेंगे और भविष्य को बीते हुए ज़माने से ज्यादा शानदार बनाने की तरकीबें सोचेंगे। इसलिए आओ, आज नये साल के दिन हम लोग इस बात का पक्का इरादा करें कि, इससे पहले कि यह वर्ष भी बूढा होकर चल बसे, हम अपने उज्ज्वल भविष्य के सपनो को वर्तमान के नज़दीक ले आयेंगे, और भारत के प्राचीन इतिहास मे एक शानदार पृष्ठ और बढा लेंगे।

## २

# इतिहास से शिक्षा

५ जनवरी, १९३१

प्यारी बेटी, मैं तुम्हे क्या लिखूं और किस जगह से शुरू करूँ? जब मैं पुराने ज़माने का खयाल करता हूँ तो मेरी आँखो के सामने बहुत-सी तसवीरे तेजी के साथ घूम जाती हैं। कुछ तसवीरे ज्यादा देर तक ठहरती है, तो कुछ थोडी ही देर तक। वे मेरी पसन्द की चीजे हैं, और उनके बारे मे विचार करते-करते मैं उन्ही मे डूब जाता हूँ। बिलकुल अनजान मे ही मै पिछली घटनाओ से आजकल की घटनाओ का मुकाबला करने लगता हूँ, और उनसे आगे के लिए नसीहत लेने की कोशिश करता हूँ। लेकिन आदमी का मन भी क्या अजीब खिचडी है, जिसमे ऐसे विचार भरे रहते हैं कि जिनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नही होता और ऐसी तसवीरें मौजूद रहती हैं, जिनमे कोई तरतीब नही पाई जाती—जैसे कोई ऐसी चित्रशाला हो, जहाँ तसवीरो की सजावट मे कोई व्यवस्था न रक्खी गई हो। लेकिन शायद इसमे हमी लोगो का सारा दोष नही है। हममे बहुत-से आदमी अपने

[1] इन्दिरा के दादा पडित मोतीलाल नेहरू।

दिमाग मे घटनाओ के क्रम को ज़रूर बेहतर तरीके से जमा सकते हैं। लेकिन कभी-कभी खुद घटनाएँ इतनी अजीब होती हैं कि उन्हें किसी भी योजना के ढांचे मे ठीक तरह बिठा सकना मुश्किल हो जाता है।

मुझे खयाल पडता है कि मैंने तुम्हे एक बार लिखा था कि इतिहास पढकर हमे यह सीखना चाहिए कि दुनिया ने कैसे आहिस्ता-आहिस्ता लेकिन निश्चित रूप से तरक्की की है। दुनिया के आरम्भ के सरल जीवो की जगह पर अधिक उन्नत और पेचीदा जीव कैसे आ गये और कैसे सबसे अखीर मे जीवो का सिरताज आदमी पैदा हुआ और अपनी बुद्धि के जोर पर उसने कैसे दूसरो पर विजय पाई। बर्बरता से निकलकर सभ्यता की ओर मनुष्य की प्रगति का हाल इतिहास का विषय माना गया है। मैंने अपने कुछ पत्रो मे तुम्हे यह बताने की कोशिश की है कि सहयोग यानी मिल-जुलकर काम करने की भावना कैसे बढी और सबकी भलाई के लिए मिल-जुलकर काम करना हमारा आदर्श क्यो होना चाहिए? लेकिन कभी-कभी जब हम इतिहास के लम्बे जमानो पर नज़र डालते है, तो यह विश्वास करना मुश्किल होता है कि इस आदर्श ने बहुत ज्यादा तरक्की की है या हम लोग बहुत सभ्य या उन्नत हो गये हैं। सहयोग का अभाव आज भी बहुत काफी पाया जाता है। एक मुल्क या राष्ट्र दूसरे मुल्क और दूसरे राष्ट्र पर खुदगरज़ी से आक्रमण कर रहा है या उसे सता रहा है, एक आदमी दूसरे आदमी से बेजा फायदा उठा रहा है। अगर करोडो वर्षों की प्रगति के बाद भी हम इतने पिछडे और अपूर्ण हैं, तो न जाने समझदार और वाजिब बात करनेवाले आदमियो की तरह व्यवहार करना सीखने मे हमे और कितने दिन लग जायँगे! कभी-कभी हम इतिहास के उन बीते हुए जमानो के बारे मे पढते है, जो हमारे ज़माने मे बेहतर मालूम होते हैं और अधिक सस्कृत और सभ्य भी जान पडते हैं। इससे हमे यह शक होने लगता है कि हमारी दुनिया आगे बढ रही है या पीछे हट रही है। गुजरे हुए जमाने मे खुद हमारे देश मे ही ऐसे उज्ज्वल युग ज़रूर बीते हैं जो हर बात मे वर्तमान से बहुत अच्छे थे।

यह सच है कि भारत, मिस्र, चीन, यूनान, वगैरा बहुत-से देशो के पुराने इतिहास मे उज्ज्वल युग हुए है और इन देशो मे से बहुत-से बाद मे पिछड गये और गिर गये है। लेकिन फिर भी हमे हिम्मत न हारनी चाहिए। दुनिया एक बहुत बडी जगह है, और थोडी देर के लिए किसी मुल्क के चढाव और उतार का सारी दुनिया पर कोई ज्यादा असर नही पडता।

आजकल बहुत-से लोग हमारी महान् सभ्यता की और विज्ञान के चमत्कारो की डीग मारते रहते हैं। इसमे शक नही कि विज्ञान ने बहुत चमत्कार कर दिया है, और बडे-बडे वैज्ञानिक पूरी इज्जत के योग्य हैं। लेकिन जो डीग मारते है वे

अक्सर बडे नही हुआ करते। दूसरे, यह बात भी याद रखनी चाहिए कि बहुत-सी बातो मे आदमी ने दूसरे जीवो की बनिस्बत कुछ बहुत ज्यादा प्रगति नही की है। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ बातो मे कुछ जीव आदमी से अब भी श्रेष्ठ है। यह बात बेवकूफी की-सी मालूम पड सकती है और जो लोग ज्यादा नही जानते, वे इसकी हँसी भी उडा सकते है। लेकिन तुमने अभी मैटरलिक की लिखी हुई 'शहद की मक्खी, दीमक और चीटी की जिन्दगी'[1] नामक किताब पढी ही है और इन जन्तुओ के सामाजिक सगठन का हाल पढकर तुम्हे जरूर ताज्जुब हुआ होगा। हम लोग इन जन्तुओ को सबसे नीचे दर्जे के जीव समझकर हिकारत की नजर से देखते है। लेकिन इन छोटे-छोटे जन्तुओ ने सहयोग और सार्वजनिक हित के लिए त्याग की कला आदमी की अपेक्षा कही ज्यादा सीख रखी है। जबसे मैने दीमक का और अपने साथियो के लिए उसके त्याग का हाल पढा तो मेरे दिल मे इस जन्तु के लिए आदर का भाव पैदा हो गया है। अगर आपसी सहयोग को और समाज की भलाई के लिए त्याग को सभ्यता की कसौटी माने, तो हम कह सकते है कि इस लिहाज से दीमक और चीटियाँ मनुष्य जाति से ऊँची है।

सस्कृत की हमारी एक पुरानी पुस्तक मे एक श्लोक[2] है, जिसका अर्थ है, "कुल के लिए व्यक्ति को, समाज के लिए कुल को, देश के लिए समाज को और आत्मा के लिए सारी दुनिया को त्याग देना चाहिए।" आत्मा क्या चीज है, इसे हममे से न कोई समझता है और न बता सकता है और हरेक आदमी आत्मा का अर्थ अपने-अपने खयाल के अनुसार अलग-अलग किया करता है। लेकिन सस्कृत का यह श्लोक हमे सहयोग की और सार्वजनिक हित के लिए त्याग करने की वही शिक्षा देता है। हम भारत के लोग असली महानता के इस राजमार्ग को बहुत दिनो तक भूले रहे, इसीलिए हमारा पतन हुआ। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि अब फिर हमे उसकी झलक दिखाई देने लगी है और सारे देश मे जागृति की लहर दौड रही है। यह देखकर कितना आश्चर्य होता है कि मर्द और औरते, लडके और लडकियाँ, हँसते-हँसते भारत के हित के लिए आगे बढ रहे है और कष्ट या यातना की ज़रा भी परवा नही करते। उनका हँसना और खुश होना स्वाभाविक ही है, क्योकि एक महान् उद्देश्य के लिए यत्न करने का आनन्द उनको मिला है, और जो खुशकिस्मत है, उन्हे बलिदान होने का भी आनन्द प्राप्त होता है। आज हम भारत को आज़ाद करने की कोशिश कर रहे है। यह एक बडी बात है। लेकिन मनुष्य-मात्र का हित इससे भी बडी चीज़ है। और क्योकि हम यह महसूस करते

---

[1] 'Life of the Bee,' the white Ant and the Ant'

[2] त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत्।
ग्राम जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥—पञ्चतन्त्र

है कि हमारा संग्राम मनुष्य-मात्र की तकलीफो और मुसीबतो को मिटाने के महान् संग्राम का एक हिस्सा है, हम भी इस बात पर खुशी मना सकते है कि हम दुनिया की प्रगति मे मदद करके अपना कुछ फर्ज अदा कर रहे है।

इस बीच तुम आनन्द-भवन मे बैठी हो, मम्मी मलाका-जेल मे बैठी है, और मैं नैनी-जेल मे हूँ। हमे कभी-कभी एक-दूसरे की याद बुरी तरह सताती है। क्यो, सताती है या नही? लेकिन उस दिन की याद करो, जब हम तीनो फिर मिलेगे। मैं उस दिन का इन्तजार करूँगा और उसका खयाल मेरे दिल को हलका करेगा और उसे उम्मीद से भर देगा।

३

## 'इन्क़िलाब जिन्दाबाद'

७ जनवरी, १९३१

प्रियदर्शिनी, आँखो को प्यारी, लेकिन जब आँखो से ओझल हो तो और भी प्यारी! आज, जब मैं यहाँ तुम्हे पत्र लिखने बैठा तो दूर के बादल की गरज जैसा कुछ हलका-सा शोर मुझे सुनाई दिया। पहले तो मुझे पता न चला कि यह आवाज कैसी है, लेकिन यह कुछ परिचित-सी जान पडी और ऐसा मालूम हुआ कि उसके जवाब मे मेरे हृदय मे गूँज उठ रही है। धीरे-धीरे यह आवाज नजदीक आती हुई और बढती हुई मालूम देने लगी और थोडी ही देर मे वह क्या है उसके बारे मे कोई शक नही रहा। 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद'! 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद!' इस जोशभरी ललकार से जेलखाना गूँज उठा, और इसे सुनकर हम सबके दिल हरे हो गए। मैं नही जानता कि ये कौन लोग थे—जो हमारे इस जगी नारे को हमसे इतना नजदीक जेल के बाहर बुलन्द कर रहे थे—शहर के मर्द और औरतें थी या गाँवो के किसान लोग? और न मैं यह जानता हूँ कि आज इसका कौन-सा मौका था? लेकिन ये लोग चाहे जो हो, इन्होने हमारे दिलो के हौसले बढा दिये और इनके अभिवादन का हम लोगो ने खामोश जवाब भेज दिया, जिसके साथ-साथ हमारी सारी शुभकामनाए भी थी।

सवाल यह होता है कि हम 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद' क्यो पुकारते है? हम क्रान्ति और परिवर्तन किसलिए चाहते हैं? इसमे शक नही कि भारत मे आज बहुत परिवर्तन की जरूरत है। लेकिन वे सारे बडे परिवर्तन, जो हम चाहते हैं, हो भी जायँ, और भारत को आजादी भी मिल जाय, तो भी हम निश्चल नही बैठ सकते। दुनिया की कोई भी चीज, जिसमे जान है, बिना परिवर्तन के नही रहती। सारी कुदरत रोज-ब-रोज और मिनट-मिनट पर बदलती रहती है। केवल

सभाओ को भी देखो। इनमे से बहुत-से बच्चो के माता-पिता ऐसे होगे, जो शायद पहले कायरो और गुलामो की तरह आचरण करते रहे हो। लेकिन क्या अब कोई यह शक करने की हिम्मत कर सकता है कि हमारी पीढी के बच्चे गुलामी या कायरता को कभी भी बरदाश्त करेगे?

और इस तरह परिवर्तन का चक्र चल रहा है और जो नीचे थे वे ऊपर आ रहे हैं और जो ऊपर थे वे नीचे जा रहे हैं। हमारे देश में भी इस चक्र के चलने का समय आ गया है। लेकिन इस बार हम लोगो ने इसे ऐसा धक्का दिया है कि अब कोई भी इसे रोक नही सकता।

इन्क़िलाब जिन्दाबाद!

## ४

# एशिया और यूरोप

८ जनवरी, १९३१

मैंने अपने पिछले पत्र मे बताया था कि हरेक चीज बराबर बदलती रहती है। इन परिवर्तनो के अभिलेखो के सिवा वास्तव मे इतिहास और है भी क्या? अगर पुराने जमाने मे बहुत कम परिवर्तन हुए होते, तो इतिहास लिखने के लिए कुछ मसाला ही न मिलता।

स्कूलो और कॉलिजो मे जो इतिहास पढाया जाता है, उसमे आमतौर पर कुछ ठीक बाते नही होती। दूसरो की बाबत तो मैं जानता नही, अपने बारे मे यह जरूर कह सकता हूँ कि स्कूल मे मुझे बहुत कम ज्ञान हासिल हुआ। मैंने भारत के इतिहास के बारे मे बहुत ही कम और इग्लैण्ड के इतिहास के बारे मे कुछ थोडी-सी बाते स्कूल मे पढी। भारत का इतिहास भी जो-कुछ मैंने पढा, वह ज्यादातर गलत या तोडा-मरोडा हुआ और ऐसे लोगो का लिखा हुआ था जो हमारे देश को नफरत की नजर से देखते थे। दूसरे देशो के इतिहास के बारे मे तो मेरा ज्ञान बहुत ही धुंधला था। कॉलिज छोडने के बाद ही मैंने कुछ असली इतिहास पढा। खुशकिस्मती से जेल की यात्राओ ने मुझे अपना ज्ञान बढाने का खासा मौका दिया।

अपनी पिछली चिट्ठियो मे मैं तुम्हें भारत की प्राचीन सभ्यता, द्रविडो और आर्यो के आगमन के बारे मे लिख चुका हूँ। मैंने आर्यो के आने के पहले के जमाने का कोई हाल इन पत्रो मे नही लिखा था, क्योकि मुझे उसके बारे मे ज्यादा मालूम नही है। लेकिन तुम्हे यह जानकर दिलचस्पी होगी कि भारत मे इन पिछले वर्षो मे एक बहुत प्राचीन सभ्यता के चिह्न खोज निकाले गये हैं। ये चिह्न उत्तर-

पश्चिम भारत मे मोहेन-जो-दड़ो[1] नाम की जगह के आस-पास पाये गए हैं। करीब पाँच हज़ार वर्ष पुराने उन खण्डहरो को लोगो ने खोदा और वहाँ प्राचीन मिस्र की-सी मोमियाई[2] भी मिली हैं। ये सब बाते हज़ारो वर्ष पुरानी, आर्यो के आने से बहुत पहले की है। यूरोप उस समय वीरान रहा होगा।

आज यूरोप मज़बूत और ताकतवर है और वहाँ के रहनेवाले अपनेको दुनियाभर मे सबसे ज्यादा सभ्य और सुसंस्कृत समझते है। वे एशिया और उसके निवासियो को नफरत की नज़र से देखते हैं, और एशिया के देशो मे आकर जो कुछ यहाँ मिलता है, उसे झपट ले जाते हैं। ज़माना कितना बदल गया है! आओ, हम एशिया और यूरोप पर ज़रा गौर से नज़र डालें। नक्शो की किताब खोलो और देखो कि छोटा-सा यूरोप एशिया के विशाल महाद्वीप से किस तरह चिपका हुआ है। यह एशिया की ही एक छोटी-सी टाँग मालूम देती है। जब तुम इतिहास पढोगी तो तुम्हे मालूम होगा कि लम्बे युगो और वर्षो तक उसपर एशिया का प्रभुत्व रह चुका है। एशिया के लोग बार-बार बाढ की तरह यूरोप मे गये और विजयी हुए। उन लोगो ने यूरोप को उजाडा भी और सभ्य भी बनाया। आर्य, शक, हूण, अरब, मंगोल और तुर्क, ये सब एशिया के किसी-न-किसी हिस्से मे आये, और एशिया और यूरोप के सब हिस्सो मे फैल गये। मालूम होता था कि एशिया इन्हें टिड्डी-दल की तरह बेशुमार संख्या मे पैदा कर रहा है। सच तो यह है कि यूरोप बहुत दिनो तक एशिया का उपनिवेश रहा और आज के यूरोप की बहुत-सी जातियाँ एशिया मे गये हुए इन हमला करनेवालो की वंशज हैं।

एशिया एक बडे और भारी-भरकम देव की तरह नक्शे मे एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला पडा है। यूरोप छोटा-सा है। लेकिन इसका यह मतलब नही कि एशिया अपने विस्तार के कारण बडा है, या यह कि यूरोप ज्यादा ध्यान दिये जाने के योग्य नही है। किसी आदमी या देश का आकार उसकी महानता की सबसे तुच्छ कसौटी है। हम अच्छी तरह जानते है कि यूरोप सब महाद्वीपो से छोटा होने पर भी आज महान् बना हुआ है। हम यह भी जानते है कि यूरोप के अनेक देशो के इतिहास मे शानदार युग हुए हैं। इन देशो ने विज्ञान के बडे-बडे पडित पैदा किये, जिन्होंने अपनी खोजो और आविष्कारो से मानवी सभ्यता को बहुत आगे बढाया और करोडो आदमियो और औरतो के लिए जिन्दगी आसान बना दी। इन देशो में बडे-बडे लेखक, विचारक, कलाकार, संगीतज्ञ और कर्मवीर पैदा हुए हैं। यूरोप की महानता को स्वीकार न करना बेवकूफी होगी।

---

[1] मोहेन-जो-दडो—यह स्थान सिंध नदी की घाटी मे है और अब पाकिस्तान मे है।

[2] मोमियाई या ममी—मसाला लगाकर रखा गया शव।

लेकिन एशिया की महानता को भुला देना भी उसी तरह की वेवकूफी होगी। कभी-कभी हम यूरोप की तडक-भडक मे प्रभावित होने लगते हैं और पुरानी बातो को भूल जाते है। हमे याद रखना चाहिए कि एशिया ने ही वडे-वडे मौलिक विचारक पैदा किये हैं जिन्होंने दुनिया पर इतना प्रभाव डाला कि शायद ही किसी दूसरी जगह के किसी आदमी या किसी चीज़ ने डाला हो। ये हैं ससार के मुख्य धर्मों के महान् प्रवर्त्तक। हिन्दू-धर्म, जो आजकल के वडे मजहवो से सबसे पुराना है, भारत की ही देन है। ऐसा ही उसका महान् भाई बौद्ध धर्म भी है, जो आज तमाम चीन, जापान, वरमा, तिब्बत और लका मे फैला हुआ है। यहूदियो और ईसाइयो के मजहव भी एशियाई ही हैं, क्योंकि उनका जन्म एशिया के पश्चिम किनारे पर फिलस्तीन[1] मे हुआ था। जोरास्ट्रियन मजहव जो पारसियो का मजहव है, ईरान[2] मे शुरू हुआ। और तुम यह तो जानती ही हो कि इस्लाम के पैगम्वर मुहम्मद अरव के मक्का मे पैदा हुए थे। कृष्ण, वुद्ध, जरथुस्त,[3] ईसा, मुहम्मद,

---

[1] फिलस्तीन—इसे पैलस्टाइन भी कहते हैं। यह एशिया का एक प्राचीन देश है और यहूदियो, ईसाइयो व मुसलमानों, तीनो की पवित्र भूमि है। पश्चिम देश के अधीन रहने के वाद ईसा से ११०० वर्ष पूर्व यह फिलस्तीन जाति के अधिकार मे आया। ईसा से पहले की नवीं सदी से छठी सदी तक अशर और बाबुल के साम्राज्य इसे जीतते और फिर इससे हारते रहे। एक ज़माने मे यहूदियो ने यहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य क़ायम किया था। कभी यह मुसलमानो के भी अधीन रहा। १९१७-१८ से १९४८ ई० तक यह अंग्रेजो के अधिकार मे रहा। अब इसके दो भाग कर दिये गए हैं। एक भाग इज़राईल है, जिसे यहूदियो ने अपना राष्ट्रीय वतन बना लिया है। दूसरा जार्डन है जहाँ अरव लोगो का प्रभुत्व है।

[2] ईरान—एशिया का एक स्वतन्त्र देश है। ईसा से पूर्व ५५९ से ३३१ तक ईरानी सभ्यता बहुत उन्नत दशा मे थी और सम्राट् डेरियस या दारा के जमाने से इसका साम्राज्य इतना विस्तृत और शक्तिशाली हो गया था कि यूनानियो को इसके डर के मारे नींद नही आती थी और यूरोप, अफ्रीका और एशिया ईरानी सम्राट् के नाम से कांपते थे। लेकिन वाद मे धीरे-धीरे इसका पतन होने लगा, और यूनानी विजेता सिकन्दर ने इस साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्टकर डाला।

[3] जरथुस्त—यह प्राचीन ईरानी मजहव के प्रवर्त्तक या पैगम्वर थे। यह किस जमाने मे हुए, इसका कुछ ठीक-ठीक पता नहीं लगता। लेकिन कुछ लोगो के ख़याल से इनका समय ईसा से १००० वर्ष पहले का है। ईरानी शाहंशाह कुरश के जमाने मे इनका धर्म ईरान का खास धर्म हो गया था। यह भी एक आर्य-धर्म ही था। भारत के पारसी अव भी इसी धर्म को मानते हैं। इनके सिवा इस धर्म का माननेवाला दुनिया मे अव कोई नहीं है। इनकी मुख्य धर्म-पुस्तक ज़ेन्दावस्ता है।

और चीन के महान् दार्शनिक कनफ्यूशस[1] और लाओ-त्से[2], वगैरा एशिया के बड़े-बड़े विचारकों के नामों से पृष्ठ-के-पृष्ठ भरे जा सकते हैं। इसी तरह एशिया के कर्मवीरों के नामों से भी पन्ने-के-पन्ने रंगे जा सकते हैं। कई और तरीकों से भी मैं तुम्हें बता सकता हूँ कि हमारा यह बूढ़ा महाद्वीप प्राचीन काल में कितना महान् और महत्वपूर्ण रहा है!

देखो, जमाना कितना बदल गया है! लेकिन अब भी वह हमारी आँखों के सामने ही फिर बदलता जा रहा है। इतिहास आमतौर पर धीरे-धीरे सदियों में अपना प्रभाव दिखाता है, हालाँकि उसमें कभी-कभी भगदड़ और विस्फोटों के काल भी होते हैं। आज तो एशिया में जमाना बहुत तेजी से आगे बढ़ रहा है और यह बूढ़ा महाद्वीप अपनी लम्बी नींद के बाद जाग उठा है। दुनिया की आँखें इस पर लगी हैं, क्योंकि सभी जानते हैं कि भविष्य के निर्माण में एशिया बहुत बड़ा हिस्सा लेनेवाला है।

## ५

# पुरानी सभ्यताएँ और हमारी विरासत

९ जनवरी, १९३१

हिन्दी अखबार 'भारत' में, जो हमें हफ्ते में दो बार बाहरी दुनिया की कुछ खबरें पहुँचाता रहता है, कल मैंने पढ़ा कि तुम्हारी मम्मी के साथ मलाका-जेल में ठीक व्यवहार नहीं किया जा रहा है और वह लखनऊ-जेल भेजी जानेवाली हैं। इससे मुझे कुछ धक्का-सा लगा और मैं परेशान होने लगा। फिर सोचा कि शायद 'भारत' में छपी अफवाह सही न हो। लेकिन इस सम्बन्ध में शक भी दुःख देनेवाला है। अपनी तकलीफों और मुसीबतों को सहना काफी आसान है। इससे हरेक को फायदा होता है, वरना हम लोग बहुत नाजुक बन जायें। लेकिन दूसरे लोगों की, जो हमें प्रिय हैं, मुसीबतों के बारे में सोचना कोई बहुत आसान या तसल्ली देनेवाली बात नहीं है। इसलिए इस सन्देह के कारण, जो 'भारत' ने

---

[1]कनफ्यूशस—यह मशहूर चीनी दार्शनिक और धर्म-प्रवर्तक या पैगम्बर था। ईसा से ५५१ वर्ष पहले इसका जन्म हुआ था और इसने अपना सारा जीवन अपने देश की प्राचीन पुस्तकों के इकट्ठा करने, सम्पादन करने और छपाने में बिताया। ईसा से ४५८ वर्ष पहले इसकी मृत्यु हुई। चीन में अब भी इसका मजहब माननेवाले बहुत पाये जाते हैं। इसका चीनी नाम कुंग-फू-त्से है।

[2]लाओ-त्से—मशहूर चीनी वेदान्ती और पैगम्बर था। यह कनफ्यूशस के जमाने में ही हुआ और उसका विरोधी था। इसके माननेवाले भी चीन में बहुत हैं।

मेरे मन मे पैदा कर दिया था, मैं मम्मी के बारे मे चिन्ता करने लगा। वह बहादुर है और शेरनी का-सा उसका दिल है, लेकिन वह शरीर मे कमजोर है, और मैं नही चाहता कि उसका शरीर और कमजोर हो जाय। हम दिल के चाहे कितने ही मजबूत क्यो न हो, अगर हमारे शरीर हमे जवाब दे बैठें तो हम क्या कर सकते हैं? अगर हम कोई काम अच्छी तरह करना चाहते है तो हमारे लिए तन्दुरुस्ती, ताकत और शरीर का तगड़ापन जरूरी है।

शायद यह अच्छा ही है कि मम्मी लखनऊ भेजी जा रही है। सम्भव है वह वहाँ ज्यादा आराम से और खुश रहे। लखनऊ-जेल मे उसे कुछ साथिनें भी मिल जायेंगी। मलाका-जेल मे वह शायद अकेली ही हो। फिर भी यहाँ इतना सन्तोष जरूर था कि वह दूर नही है, हमारी जेल से सिर्फ चार-पाँच मील पर ही है। लेकिन यह बेवकूफो का-सा ख्याल है। जब दो जेलो की ऊँची-ऊँची दीवारें बीच मे खड़ी है तो क्या पाँच मील और क्या एक सौ पचास मील, दोनो बराबर है।

आज यह जानकर बेहद खुशी हुई कि दादू इलाहाबाद वापस आ गये है, और पहले से अच्छे हैं। यह जानकर और भी खुशी हुई कि वह मम्मी से मिलने मलाका-जेल गये थे। मुमकिन है, तकदीर मे कल तुम सब लोगो से मेरी मुलाकात हो जाय, क्योंकि कल मेरा 'मुलाकात का दिन' है और जेल मे यह दिन एक बड़ा दिन माना जाता है। करीब दो महीने से मैंने दादू को नही देखा है। उम्मीद है, कल उनसे मुलाकात होगी और मैं तसल्ली कर सकूँगा कि वास्तव मे वह अब पहले से अच्छे है। तुमसे तो मैं एक बड़े लम्बे पखवाड़े के बाद मिलूँगा, और तुम मुझे अपना और अपनी मम्मी का हाल सुनाओगी।

क्या खूब! लिखने तो बैठा था पुराने इतिहास पर, लेकिन लिख रहा हूँ बेवकूफी की बातें। अच्छा, अब थोड़ी देर के लिए हम वर्तमान को भूल जायें और दो-तीन हजार वर्ष पीछे लौट चले।

मिस्र मे और क्रीट[1] के प्राचीन नगर नोसास[2] के बारे मे मैंने तुम्हे अपनी पहली चिट्ठियो मे कुछ लिखा था, और तुम्हे बताया था कि प्राचीन सभ्यता ने

---

[1]क्रीट—यह भूमध्यसागर के सबसे बड़े टापुओ मे से एक है। प्राचीन सभ्यता मे इसका स्थान बहुत ऊँचा है। कला-कौशल में कुशलता पानेवाला यह सबसे पहला यूरोपीय देश है। यहाँ का राजा माइनास बड़ा मशहूर शासक था और इतिहास का सबसे पहला राजा था, जिसके पास अपनी जल-सेना थी।

[2]नोसास—राजा माइनास के वक्त मे भूमध्यसागर के क्रीट नामक टापू की राजधानी था। यह बड़ा सम्पन्न और खुशहाल शहर था। मिट्टी का काम तो यहाँ खास तौर पर सुन्दर होता ही था, सोने-चाँदी का काम भी बहुत अच्छा होता था। यहाँ के हथियार भी बहुत मशहूर होते थे।

इन दोनों देशों ने और उन मुल्कों ने जो आज इराक़[1] या मैसोपोटामिया कहलाता है, तथा चीन, भारत और यूनान ने पहले-पहल जन्म लिया। यूनान शायद औरों से कुछ देर से सामने आया। इसलिए प्राचीनता के लिहाज से भारत की सभ्यता मिस्र, चीन और इराक़ की सभ्यताओं की बराबरी की है। प्राचीन यूनान की सभ्यता भी इनके मुकाबले में कम उम्र की है। इन पुरानी सभ्यताओं का क्या हाल हुआ? नोसास खतम हो गया। सच तो यह है कि करीब तीन हजार वर्षों से उसका कोई नाम-निशान भी नहीं है। यूनान की बाद की सभ्यता के लोग यहाँ पहुँचे और उन्होंने इसे नष्ट कर दिया। मिस्र की पुरानी सभ्यता कई हजार वर्षों के शानदार इतिहास के बाद समाप्त हो गई, और अल-अहराम[2], स्फिन्क्स[3], बड़े-बड़े मन्दिरों के खण्डहरों, मोमियाइयों और इसी तरह की दूसरी चीजों के अलावा वह अपना कोई निशान नहीं छोड़ गई। मिस्र का देश तो अब भी है और नील नदी पहले की तरह अब भी उसमें होकर बहती है, और दूसरे देशों की तरह यहाँ भी स्त्री और पुरुष रहते हैं, लेकिन इन नये आदमियों को इनके देश की पुरानी सभ्यता से जोड़नेवाली कोई कड़ी नजर नहीं आती।

इराक़ और ईरान—इन देशों में कितने साम्राज्य फूले-फले और एक-दूसरे के बाद विस्मृति के गर्भ में समाते गये। इनमें सबसे पुराने साम्राज्यों के ही कुछ नाम लिये जायँ तो ये हैं बाबुल[4],

---

[1] इराक़—फरात और दजला नदियों के बीच के पूरे प्रान्त का नाम इराक़ है। यह देश प्राचीन सभ्यताओं में से कइयों का क्रीडा-क्षेत्र रहा है।

[2] अल-अहराम या पिरेमिड—मिस्र देश के पत्थर के विशाल स्तूप या मीनार जिनके नीचे मिस्र के प्राचीन सम्राटों की क़ब्रें हैं। सबसे बड़ा पिरेमिड गिज़ेह नामक स्थान पर है। इसमें पत्थर की तेईस लाख चट्टानें लगी हैं, और एक-एक चट्टान का वज़न ढाई-ढाई टन है। जिस ज़माने में मशीनों का नाम तक न था, उस ज़माने में लोगों ने कैसे ढाई-ढाई टन के तेईस लाख पत्थर एक-दूसरे पर चुनकर रख दिये, इस बात के समझने में बुद्धि चकरा जाती है।

[3] स्फिन्क्स—यूनान की कहानियों के अनुसार यह एक दानवी है, जिसका सिर स्त्री का-सा और धड़ पर-दार शेर का-सा है। गिज़ेह नामक जगह पर पिरेमिडों के पास इसकी एक बड़ी भारी मूर्ति है, जिसकी लम्बाई १८७ फुट और ऊँचाई ६६ फुट है। उसका केवल सिर ही ३० फुट लम्बा है, और मुँह की चौड़ाई १४ फुट है।

[4] बाबुल—इराक़ के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। प्रथम बाबुली राजवंश की स्थापना ईसा से क़रीब २३०० साल पहले हुई थी। कई बार इसका उत्थान और पतन हुआ। ईसा से क़रीब ६२५ साल पहले, नाबोपोलासार के

अशर[1] और खाल्दिया[2]। बाबुल और निनीवे[3] इनके विशाल नगर थे। इजील या बाइबिल का पुराना हिस्सा तौरात[4] यहाँ के लोगो के वर्णनो से भरा पडा है। इसके बाद भी प्राचीन इतिहास की इस भूमि मे दूसरे साम्राज्य फूले-फले और मुरझा गये। अलिफलैला की मायानगरी बगदाद यही है। लेकिन साम्राज्य बनते और बिगडते रहते हैं और बडे-से-बडे और अभिमानी-से-अभिमानी राजा और सम्राट् दुनिया के रग-मच पर सिर्फ थोडे ही अरसे के लिए अकड के साथ चल पाते हैं। पर सभ्यताएँ क़ायम रह जाती हैं। लेकिन इराक और ईरान की पुरानी सभ्यताएँ मिस्र की पुरानी सभ्यता की तरह बिलकुल ही खतम हो गईं।

अपने प्राचीन दिनो मे यूनान सचमुच महान् था और आज भी लोग उसकी

---

ख़ाल्दिया के सम्राट् होने पर यह फिर आगे बढ़ने लगा, और उसके उत्तराधिकारी दूसरे नेबूख़ुदनज़र ने ईसा से पूर्व क़रीब ६०४ और ५६५ साल के बीच इस साम्राज्य को गौरव की सबसे ऊँची चोटी तक पहुँचा दिया था। लेकिन उसके बाद फिर उसका ऐसा पतन हुआ कि आगे कभी न उठा। इसकी राजधानी बाबुल एशिया का बहुत पुराना शहर था। आजकल के बग़दाद से क़रीब ६० मील दक्षिण की तरफ, फुरात नदी के दोनो किनारो पर यह आबाद था। यहीं पर अशर और ईरानी साम्राज्यों की राजधानियाँ भी थीं। यहाँ के 'लटकते हुए उद्यान' ससार का एक आश्चर्य माने जाते थे।

[1]अशर—एशिया के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। इसका विशाल साम्राज्य उन सबसे पहले साम्राज्यो मे से एक है, जिनके ऐतिहासिक लेख मिलते हैं। अपने गौरव-काल मे यह मिस्र मे ईरान तक फैला हुआ था।

[2]ख़ाल्दिया—एक अर्थ में यह बैबीलोनिया का एक प्रान्त था। ईरान की खाड़ी के ऊपर की तरफ अरब के रेगिस्तान से मिला हुआ फुरात नदी के निचले हिस्से के किनारो पर आबाद था। यहाँ का निवासी नाबोपोलासार मीड जाति की मदद से बैबीलोनिया का सम्राट् हुआ और उसीके उत्तराधिकारियों के ज़माने में बैबीलोनियन साम्राज्य अपने गौरव की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँचा। इसलिए वह ज़माना ख़ाल्दियन बैबीलोनियन ज़माना कहलाता है।

[3]निनीवे—इसका दूसरा नाम नाइनस भी है। यह पुराने ज़माने का एक मशहूर शहर है और असीरियन साम्राज्य की राजधानी था। सम्राट् सेनकेरिब के ज़माने मे इस शहर ने बड़ी तरक्क़ी की थी और क़रीब दो सौ साल तक बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र बना रहा। यहाँ का पुस्तकालय अपने ज़माने मे दुनियाभर में मशहूर था। ईसा से पहले ६१२ में मीडो और बैबीलोनियनो ने मिलकर हमला किया और इस फूलते-फलते शहर को तहस-नहस कर डाला।

[4]Old Testament of the Bible.

शान-शौकत का हाल अचरज के साथ पढते हैं। आज भी हम उसकी संगमरमर की खूबसूरत मूर्त्तिकला देखकर स्तम्भित और चकित हो जाते हैं, और उसके पुराने साहित्य के उस अंश को, जो बच गया है, श्रद्धा और आश्चर्य के साथ पढते हैं। कहा जाता है, और ठीक ही कहा जाता है, कि मौजूदा यूरोप कई दृष्टि मे यूनान का बच्चा है क्योकि यूरोप पर यूनानी विचार और यूनानी तरीको का गहरा असर पडा है। लेकिन वह शान जो यूनान की थीं, अब कहाँ है? इस पुरानी सभ्यता को गायब हुए अनेक युग बीत गये। उसकी जगह दूसरी तरह के तौर-तरीकों ने ले ली और यूनान आज यूरोप के दक्षिण-पूरब मे एक छोटा-सा मुल्क भर रह गया है।

मिस्र, नोमास, इराक और यूनान—ये सब खत्म हो गये। इनकी सभ्यता की हस्ती भी बाबुल और निनीवे की तरह मिट गई। तो फिर इन पुरानी सभ्यताओ के साथी बाकी दो, चीन और भारत, का क्या हुआ? और देशो या मुल्को की तरह इन दोनो देशो मे भी साम्राज्य के बाद साम्राज्य कायम होते रहे। यहाँ भी भारी तादाद मे हमले हुए, बरबादी और लूटमार हुई। बादशाहो के वंश सैकडो वर्षों तक राज करते रहे और फिर इनकी जगह पर दूसरे आ गये। भारत और चीन मे ये सब बातें वैसे ही हुईं जैसे दूसरे देशो मे। लेकिन सिवाय चीन और भारत के, किसी भी दूसरे देश मे सभ्यता का असली सिलसिला कायम नही रहा। सारे परिवर्तनो, लडाइयो और हमलो के बावजूद इन देशो मे पुरानी सभ्यता की धारा अटूट बहती आई है। यह सच है कि ये दोनो अपने पुराने गौरव मे बहुत नीचे गिर गये है और इनकी प्राचीन संस्कृतियो के ऊपर ढेर-की-ढेर गर्द और कही-कही गन्दगी, लम्बे अर्से से जमा होती गई है। लेकिन ये संस्कृतियाँ अभी तक कायम हैं और आज भी वही भारतीय सभ्यता और भारतीय जीवन का आधार है। अब दुनिया मे नई हालतें पैदा हो गई हैं, भाप से चलनेवाले जहाजो, रेलो और बडे-बडे कारखानो ने दुनिया की सूरत ही बदल दी है। हो सकता है, बल्कि वास्तव मे सम्भव है, कि वे भारत की भी काया-पलट कर दे, जैसा कि वे कर भी रही है। लेकिन भारतीय संस्कृति और सभ्यता, जो इतिहास के उदयकाल से लेकर लम्बे-लम्बे युगो को पार करती हुई वर्तमान काल तक चली आई हैं, के इस लम्बे विस्तार और सिलसिले का खयाल दिलचस्प और बहुत-कुछ आश्चर्यजनक है। एक अर्थ मे भारत के हम लोग इन हजारो वर्षों के उत्तराधिकारी है। यह हो सकता है कि हम लोग उन प्राचीन लोगो के ठेठ वंशज हो जो उत्तर-पश्चिम के पहाडी दर्रों से होकर उस लहलहाते हुए मैदान मे आये, जो ब्रह्मावर्त्त, आर्यावर्त्त, भारतवर्ष और बाद मे हिन्दुस्तान कहलाया। क्या तुम अपनी कल्पना मे इन लोगो को पहाडी दर्रों से होकर नीचे के अनजान मुल्क मे उतरते हुए नही देख सकती? बहादुरी और साहस की भावना से भरे हुए ये लोग, परिणामो की परवा न करते हुए हिम्मत के साथ आगे बढते चले गये। अगर मौत आई तो उन्होने उसकी परवा नही की। हँसते-हँसते

उसे गले लगाया। लेकिन उन्हें जीवन से प्रेम था और वे जानते थे कि जीवन का सुख भोगने का एकमात्र तरीक़ा यह है कि आदमी निडर हो जाय, और हार और आफतो से परेशान न हो। क्योंकि हार और आफत मे एक बात यह होती है कि वे निडर लोगो के पास नही फटकती। अपने उन प्राचीन पूर्वजो का ख़याल तो करो जो आगे बढ़ते-बढ़ते एकदम समुद्र की ओर शान के साथ बहती हुई पवित्र गगा के किनारे आ पहुँचे। यह दृश्य देखकर उनका हृदय कितना आनन्दित हुआ होगा। और इसमे आश्चर्य की कौन-सी बात है कि इन लोगो ने गगा के सामने आदर से अपना सिर झुका दिया हो और अपनी समृद्ध और मधुर भाषा मे उसकी स्तुति की हो?

यह सोचकर सचमुच कुतूहल होता है कि हम इन सब युगो के उत्तराधिकारी हैं। लेकिन हमे घमड से फूल न जाना चाहिए क्योकि अगर हम युग-युगान्तरो के उत्तराधिकारी है तो उसकी अच्छाई और बुराई दोनो के हैं। और भारत मे हमें मौजूदा विरासत मे जो कुछ मिला है, उसमे बहुत-सी बुराइयाँ हैं, बहुत-कुछ ऐसा है, जिसने हमे दुनिया मे नीचा गिराये रक्खा और हमारे महान् देश को सख्त ग़रीबी मे डाल दिया और उसे दूसरो के हाथ का खिलौना बना दिया। लेकिन क्या हमने यह निश्चय नही कर लिया है कि यह हालत अब न रहने देंगे?

## ६

## यूनानी

१० जनवरी, १९३१

तुममे से कोई भी आज हमसे मिलने नही आया और 'मुलाकात का दिन' बिलकुल कोरा ही रहा। इससे निराशा हुई। मुलाकात टलने की जो वजह बताई गई, वह और भी निराशाजनक थी। हमे बताया गया कि दादू की तबीयत अच्छी नही है। इससे ज्यादा हमे कुछ और पता न चला। ख़ैर, जब मुझे यह मालूम हुआ कि आज मुलाकात न होगी, तो मैंने अपना चरखा उठाया और कुछ सूत काता। मेरा अनुभव है कि चरखा कातने और निवाड बुनने मे दिल को मज़ेदार राहत मिलती है। इसलिए जब कभी असमजस मे हो, तो कातने लगो।

अपने पिछले पत्र मे हमने यह देखा था कि यूरोप और एशिया, इन दोनो मे कितनी बाते एक-दूसरे से भिन्न हैं और कितनी एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। आओ, अब हम प्राचीन यूरोप पर, जैसा कि वह बतलाया जाता है, थोडी-सी नज़र डालें। बहुत दिनो तक भूमध्यसागर के चारो तरफ के देश ही यूरोप समझे जाते थे। हमे उस ज़माने के यूरोप के उत्तरी देशो का कोई हाल नही मिलता। भूमध्यसागर के देशो के रहनेवाले लोगो का खयाल था कि जर्मनी, इग्लैण्ड और

पश्चिमी एशिया तथा दक्षिण-पूर्वी योरप की प्राचीन सभ्यताएँ
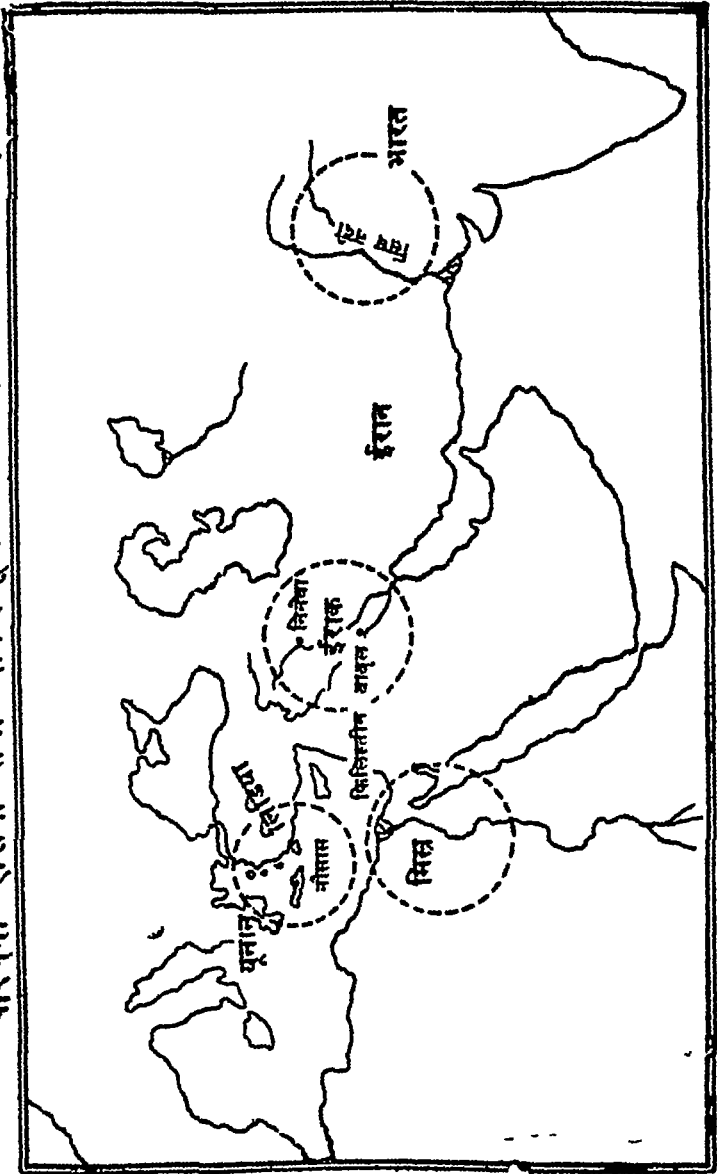
फ्रान्स मे जगली और बर्बर कबीले रहा करते हैं। यहाँतक कि लोगो का खयाल है कि शुरू जमाने मे सभ्यता भूमध्यसागर के पूर्वी हिस्से तक ही सीमित थी। तुम जानती हो कि मिस्र (जो अफ्रीका मे है, यूरोप मे नही) और नोसास ही पहले देश थे, जो आगे बढे। धीरे-धीरे आर्य लोग एशिया से पश्चिम की ओर बढने लगे और यूनान तथा आस-पास के मुल्को मे फैल गये। ये आर्य वही यूनानी हैं, जिन्हें हम प्राचीन यूनानी कहते हैं और जिनकी तारीफ करते हैं। शुरू मे मेरा खयाल है कि ये लोग उन आर्यों से बहुत भिन्न नही थे, जो शायद इसके पहले भारत मे उतर चुके थे। लेकिन बाद मे धीरे-धीरे इनमे परिवर्तन हुए होंगे, और धीरे-धीरे आर्य जाति की इन दोनो शाखाओं मे दिन-पर-दिन ज्यादा फर्क होता गया। भारतीय आर्यों के ऊपर उससे भी पुरानी भारत की सभ्यता, यानी द्रविड सभ्यता का और शायद उस सभ्यता के बचे-खुचे हिस्से का बहुत असर पडा, जिसके खण्डहर आज हमे मोहेन-जो-दडो मे मिलते हैं। आर्यों और द्रविडो ने एक-दूसरे से बहुत-कुछ लिया और एक-दूसरे को बहुत कुछ दिया भी, और इस तरह इन्होंने मिल-जुलकर भारत की एक मिली-जुली सस्कृति बनाई।

इसी प्रकार यूनानी आर्यों पर भी नोसास की उस पुरानी सभ्यता का बहुत ज्यादा असर पडा होगा जो कि यूनान की भूमि पर इनके आने के समय खूब जोरो से लहरा रही थी। इनके ऊपर इसका असर जरूर पड़ा, लेकिन इन्होंने नोसास को और उसकी सभ्यता के बाहरी रूप को नष्ट कर दिया और उसकी राख पर अपनी सभ्यता रची। हमे यह कभी भी न भूलना चाहिए कि यूनानी आर्य और भारतीय आर्य, दोनो उस पुराने ज़माने मे बडे सख्त और जाँ-बाज लडाके थे। ये बडी जीवट-वाले थे और जिन नाजुक या अधिक सभ्य लोगो से इनका सामना हुआ, उन्हें या तो इन्होंने हज़म कर लिया या नष्ट कर डाला।

इसी तरह नोसास ईसा के पैदा होने के करीब एक हजार वर्ष पहले नष्ट हो चुका था, और नये यूनानियो ने यूनान मे और आस-पास के टापुओ मे अपना अधिकार जमा लिया था। ये लोग समुद्र के रास्ते एशिया कोचक[1] के पश्चिमी किनारे तथा दक्षिण-इटली और सिसली तक और दक्षिण-फ्रान्स तक भी जा पहुँचे। फ्रान्स मे मारसाई नाम के शहर को इन्होने ही बसाया था। लेकिन शायद इनके जाने के पहले वहाँ फिनिश लोगो की बस्ती थी। तुम्हें याद होगा कि फिनिश जाति एशिया कोचक की मशहूर समुद्र-यात्री कौम थी, जो व्यापार की तलाश मे दूर-दूर तक धावे मारा करती थी। उस पुराने ज़माने मे ये लोग इग्लैण्ड तक

---

[1] एशिया कोचक या एशिया माइनर—एशिया महाद्वीप के पश्चिम में एक प्रायद्वीप। यहाँ तुर्कों का राज्य है।

पहुँच गये थे, जिन दिनो व्रह बिलकुल जगली देश था, और जब जिब्राल्टर के जल-डमरूमध्य का जहाजी सफर जरूर खतरनाक रहा होगा।

यूनान की मुख्य भूमि मे एथेन्स, स्पार्टा, थीब्स और कोरिन्थ जैसे मशहूर शहर आबाद हो गये। यूनानियो के, जो उस वक्त हेलेन्स कहलाते थे, पुराने जमाने का हाल 'ईलियद' और 'औदेसी' नाम के दो महाकाव्यो मे बयान किया गया है। तुम्हें इन दोनो प्रसिद्ध महाकाव्यो का कुछ हाल मालूम ही है। ये दोनो महाकाव्य, हमारे देश की रामायण और महाभारत की तरह के ग्रन्थ हैं। कहते हैं कि होमर ने जो अन्धा था,-ये काव्य लिखे है। 'ईलियद' मे यह किस्सा बयान किया गया है कि किस तरह सुन्दरी हेलन को पेरिस अपने शहर त्राय मे भगा ले गया और किस तरह यूनान के राजाओ और सरदारो ने उसे छुडाने के लिए त्राय के चारो तरफ घेरा डाला। और 'औदेसी' त्राय के घेरे से लौटते वक्त औदेसियस या यूलीसस के भ्रमण की कहानी है। एशिया कोचक मे, समुद्र-तट से बहुत नजदीक, त्रायका यह छोटा शहर बसा था। आज इसका कोई निशान नही है और उसकी हस्ती मिटे बहुत जमाना हो गया, लेकिन कवि की प्रतिभा ने इसे अमर बना दिया है।

इधर तो हेलेन्स या यूनानी कौम तेजी के साथ, थोडे दिन की लेकिन शानदार जवानी पर पहुँच रही थी। उधर एक दूसरी शक्ति का, जो आगे जाकर यूनान को जीतनेवाली और उसकी जगह लेनेवाली थी, चुपचाप उदय होना, दिलचस्पी की बात है। कहा जाता है कि इसी जमाने मे रोम की बुनियाद पडी। कई सौ वर्षों तक इसने दुनिया के रगमच पर कोई महत्व का काम करके नही दिखाया। लेकिन ऐसे महान् शहर की स्थापना अवश्य ही उल्लेखनीय है, जो सदियो तक यूरोपीय ससार पर हावी रहा और जो 'ससार की स्वामिनी' और 'अमरपुरी' के नाम से मशहूर हुआ। रोम की स्थापना के बारे मे अजीब-अजीब किस्से कहे जाते हैं। कहते हैं कि 'रेमस' और 'रोमुलस'[1] को, जिन्होने इस शहर की बुनियाद

---

[1] रोमुलस—रोम का सस्थापक और पहला सम्राट् था। रोमुलस और रेमस दो जुडवाँ भाई थे। इन दोनों को उनके नाना एम्यूलियस ने एक डोंगी में रखकर टाइबर नदी मे बहा दिया। डोंगी उस दलदल मे जाकर रुक गई, जहाँ कि बाद को रोम आबाद हुआ। कहा जाता है कि यहाँ से एक मादा भेडिया इनको उठाकर ले गई और इन्हे अपना दूध पिलाया और बाद को फोस्च्यूलस नामक गडरिये की स्त्री ने इनका पालन-पोषण किया। बडे होकर ये फिलस्तीन के युद्ध-प्रिय गडरियो के एक गिरोह के सरदार बन गये। कुछ समय बीतने पर इनके बाबा-ने इन्हें पहचान लिया, जिसने अन्यायी एम्यूलियस को क़त्ल कर अल्बस की राज-गद्दी पर इनको वापस बैठा दिया था। इन्होने अब इस भूमि पर, जहाँकि इनक-

डाली थी, एक मादा भेड़िया उठा ले गई थी और उसी ने उन्हें पाला था। शायद तुम्हें यह किस्सा मालूम है।

जिस जमाने मे रोम की बुनियाद पडी, उसी जमाने मे या कुछ समय पहले, प्राचीन दुनिया का एक दूसरा बडा शहर भी बसाया गया। इसका नाम कारथेज था और इसे अफ्रीका के उत्तरी समुद्र-तट पर फिनिश लोगो ने बसाया था। यह शहर बढते-बढते एक बडी समुद्री शक्ति बन गया। रोम के साथ इसकी भयकर प्रतिस्पर्धा चली और बहुत-सी लडाइयाँ हुईं। अन्त मे रोम ने विजय पाई और कारथेज बिलकुल नष्ट कर दिया गया।

आज की कहानी समाप्त करने से पहले फिलस्तीन के ऊपर अगर सरसरी नजर डाल लें तो अच्छा होगा। फिलस्तीन यूरोप मे नही है और न इसका कोई ज्यादा ऐतिहासिक महत्व ही है। लेकिन बहुत-से लोग इसके प्राचीन इतिहास मे दिलचस्पी रखते हैं, क्योकि इसका जिक्र तौरात मे पाया जाता है। इस कहानी का सम्बन्ध यहूदियो के कुछ कबीलो से है, जो इस छोटे-से देश में रहते थे, और इसमे बताया गया है कि यहूदियो को अपने दोनो तरफ बसे हुए शक्तिशाली पडौसियो, बाबुल, अशर और मिस्र से कितने झगडे करने पडे। अगर यह कहानी यहूदी और ईसाई मजहबो का हिस्सा न बन गई होती तो शायद ही किसीको इसका पता चलता।

जिस समय नोसास नष्ट किया जा रहा था, फिलस्तीन के इजराईल भाग का बादशाह सालूस[1] था। इसके बाद दाऊद[2] और फिर

---

पालन-पोषण हुआ था, एक शहर बनाने का इरादा किया, लेकिन कौन पहले शुरू करे इसपर झगडा हो गया, जिसमे रेमस मारा गया। रोमुलस ने रोम आबाद किया और अपनी शक्ति बढ़ाकर और अपने शत्रुओं को हराकर एक-छत्र राज्य करने लगा। बाद में वह एकाएक एक तूफान में गायब हो गया और अन्त में एक देवता की तरह से पूजा जाने लगा।

[1]सालूस—यहूदियो के देश इजराईल का पहला बादशाह था। इसका समय ईसा से क़रीब १०१० साल पहले है। इसने फिलस्तीन जाति को हराया और अमालेकाइट जाति का दमन किया। लेकिन अन्त मे फिर फ़िलस्तीनो से हार गया और इसलिए आत्मग्लानि से अपनी ही तलवार पर गिरकर आत्म-हत्या कर ली।

[2]दाऊद—इसे डेविड भी कहते हैं। यह इजराईल का दूसरा बादशाह था। इसका समय ईसा से १०३० से लगाकर ९९० साल पहले तक है। जब बादशाह सालूस ने खुदकुशी कर ली और फिलस्तीनो ने राजकुमार को मार डाला, तब यह राजा बनाया गया। कहा जाता है कि बाइबिल के पुराने अहदनामे का बहुत-सा हिस्सा इसीका लिखा है।

सुलेमान[1] हुआ जो अपनी अक्लमन्दी के लिए बहुत मशहूर है। मैं इन तीन नामो का इसलिए जिक्र कर रहा हूँ कि तुमने इनके बारे मे जरूर पढ़ा या सुना होगा।

७

## यूनान के नगर-राज्य

११ जनवरी, १९३१

मैंने अपने पिछले पत्र मे यूनानियो या हेलेन्स का कुछ हाल लिखा था। आओ, हम फिर इनपर एक नजर डाले और उस जमाने को समझने की कोशिश करे कि ये लोग किस तरह के थे। जिन लोगो को या जिन चीजो को हमने कभी नही देखा उनके बारे मे सही और सच्चा खयाल बनाना बहुत मुश्किल होता है। हम लोग अपनी आजकल की हालत और रहन-सहन के इतने आदी हो गये है कि एक बिलकुल दूसरी तरह की दुनिया की कल्पना भी नही कर सकते। लेकिन प्राचीन दुनिया, चाहे वह भारत की हो, चीन की हो, या मिस्र की, आजकल की दुनिया से बिलकुल निराली थी। ज्यादा-से-ज्यादा हम यही कर सकते है कि उनकी पुस्तको, इमारतो और बचे हुए दूसरे निशानो की मदद से अन्दाजा लगाये कि उस जमाने के लोग किस तरह के थे।

यूनान के बारे मे एक बात बड़ी दिलचस्प है। ऐसा लगता है कि यूनानी लोग बड़ी-बड़ी बादशाहते या साम्राज्य पसन्द नही करते थे। उन्हे छोटे-छोटे नगर-राज्य पसन्द थे, यानी उनका हरेक शहर एक स्वतन्त्र राज्य हुआ करता था। ये राज्य छोटे-छोटे गणराज्य होते थे। बीच मे शहर होता था और चारो तरफ कुछ खेत होते थे, जिनमे लोगो के लिए खाने की सामग्री मिला करती थी। तुम जानती ही हो कि गणराज्य मे कोई राजा नही होता। यूनान के ये नगर-राज्य बिना राजा के थे, लेकिन धनी नागरिक इनका शासन चलाते थे। साधारण आदमी को राज्य के मामलो मे बोलने का कोई हक नही था। बहुत-से गुलाम थे, जिन्हें शासन मे कोई अधिकार नही होता था, और औरतो को भी इस प्रकार का कोई हक नही था। इस तरह आबादी के सिर्फ एक हिस्से को इन नगर-राज्यो मे नागरिकता का अधिकार मिला हुआ था, और यही हिस्सा सार्वजनिक मामलो पर राय दे सकता

[1] सुलेमान—इसे सालोमन भी कहते हैं। इजराईल का यह तीसरा बादशाह था। इसके पास बहुत धन था, इसलिए पुराने इतिहास मे इसका राज्य शान-शौकत के लिए मशहूर है। इसके गीत और कविताएं भी प्रसिद्ध हैं और कहा जाता है कि यह बड़ा बुद्धिमान और इन्साफ-पसन्द बादशाह था। इसकी अक्लमन्दी की बहुत-सी कहानियाँ मशहूर हैं।

था। इन नागरिकों के लिए वोट देना कोई मुश्किल काम नहीं था, क्योंकि सब-के-सब एक ही जगह पर इकट्ठे किये जा सकते थे। यह इसलिए होना सम्भव था कि ये छोटे-छोटे नगर-राज्य थे, किसी एक सरकार की मातहती में कोई बड़ा देश नहीं था। भारतभर के, या बंगाल या उत्तर प्रदेश जैसे सिर्फ एक प्रदेश के ही वोटरों के एक जगह जमा होने की जरा कल्पना तो करो! ऐसा करना बिलकुल असम्भव है। बाद को दूसरे देशों को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ा। तब इसके लिए 'प्रतिनिधि सरकार' का हल ढूँढ निकाला गया। इसका मतलब यह हुआ कि किसी मामले का फैसला करने के लिए देशभर के सारे वोटरों को इकट्ठा करने के बजाय लोग अपने 'प्रतिनिधि' चुन देते हैं, जो इकट्ठे होकर देश से सम्बन्ध रखनेवाले सार्वजनिक मामलों पर विचार करते हैं और देश के लिए कानून बनाते हैं। यह समझा जाता है कि साधारण वोटर इस तरह अपने देश के शासन में परोक्ष रूप से सहायता देता है।

लेकिन इस चीज़ का यूनान से कोई ताल्लुक नहीं। यूनान ने कभी नगर-राज्य से बड़ी कोई राजनीतिक इकाई बनाई ही नहीं। और इस तरह वह इस मुश्किल सवाल को टाल गया। हालाँकि यूनानी लोग, जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, यूनान भर में, और दक्षिण-इटली, सिसली और भूमध्यसागर के दूसरे किनारों पर फैल गये थे, लेकिन इन लोगों ने अपने अधीन इन सब देशों में कोई साम्राज्य या एक सरकार बनाने की कोशिश नहीं की। जहाँ कहीं ये गये, वहीं इन्होंने अपना अलग नगर-राज्य कायम कर लिया।

तुम देखोगी कि शुरू के ज़माने में भारत में भी, यूनान के नगर-राज्यों की तरह के ही, छोटे-छोटे गणराज्य या छोटे-छोटे राज्य हुआ करते थे। लेकिन मालूम होता है कि वे बहुत दिनों तक कायम नहीं रहे और बड़े राज्यों में समा गये। इस पर भी, बहुत समय तक, हमारी गाँवों की पचायतों के हाथों में बहुत बड़ी ताकत रही। शायद पुराने आर्यों की पहली प्रेरणा यही होती थी, कि जहाँ-जहाँ जायें वहीं छोटे-छोटे नगर-राज्य बनायें। लेकिन भौगोलिक परिस्थितियों और अपने से पुरानी सभ्यता के सम्पर्क ने इन्हें अपने इन विचारों को, उन देशों में, जहाँ जाकर ये बसे, धीरे-धीरे छोड़ने पर मजबूर कर दिया। ईरान में खासतौर से हम देखते हैं कि बड़े-बड़े राज्य और साम्राज्य कायम हुए। भारत में भी बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित करने की ओर झुकाव रहा। लेकिन यूनान में नगर-राज्य बहुत दिनों तक कायम रहे, और उस समय तक बने रहे, जबतक कि एक इतिहास-प्रसिद्ध यूनानी ने दुनिया को जीतने की सबसे पहली बार कोशिश की। इसका नाम था अलक्सान्दर या सिकन्दर महान्। इसके बारे में बाद को कुछ कहूँगा।

इस तरह यूनानी लोगों ने अपने छोटे-छोटे नगर-राज्यों को मिलाकर कोई

अच्छा, तो अब प्राचीन काल के लोगो की चर्चा फिर शुरू की जाय। हाल मे हम पुराने यूनानियो का ज़िक्र कर रहे थे। उस समय दूसरे देशो की क्या हालत थी ? हमे यूरोप के दूसरे देशो के लिए परेशान होने की ज़रूरत नही। हमे, कम-से-कम मुझको, इन देशो के वारे मे कोई दिलचस्प वात नही मालूम। उस समय उत्तरी यूरोप की जलवायु शायद वदल रही थी, जिसकी वजह से नई परिस्थिति जरूर पैदा हो गई होगी। शायद तुम्हे याद हो, लाखो-करोडो वर्ष पहले उत्तरी यूरोप और उत्तरी एशिया मे वहुत कडी सरदी पडती थी। इस जमाने को 'हिमयुग'[1] कहते हैं, जब बर्फ की विशाल नदियाँ मध्य-यूरोप तक फैली हुई थी। उस वक्त आदमी तो शायद पैदा ही नही हुआ था और अगर उसका अस्तित्व हो भी तो वह मानव की वनिस्वत जानवर जैसा ज्यादा रहा होगा। तुम्हे आश्चर्य होगा कि आज हम यह कैसे कह सकते है कि उस जमाने मे वहाँ हिम-नदियाँ हुआ करती थी। पुस्तको मे तो उनका कोई ज़िक्र हो ही नही सकता, क्योकि उस ज़माने मे न तो पुस्तकें थी और न उनके लिखनेवाले। लेकिन मैं उम्मीद करता हूँ कि तुम यह न भूली होगी कि प्रकृति की भी एक पुस्तक होती है। वह अपना इतिहास अपने तरीके से चट्टानो और पत्थरो मे लिखा करती है और इसे वहाँ जिसकी इच्छा हो वह पढ सकता है। इसे एक तरह की आत्म-कथा यानी खुद अपनी कहानी कहना चाहिए। बर्फ की नदियो मे एक बात यह होती है कि वे अपनी हस्ती के खास निशान छोड जाती हैं। एक बार तुम इन निशानो को पहचानने लगो, तो फिर वहुत जल्दी इन्हें समझ सकती हो। अगर तुम इन निशानो का अध्ययन करना चाहती हो, तो सिर्फ यह करना पडेगा कि आजकल की किसी हिम-नदी को, हिमालय मे, आल्प्स पर या दूसरी जगह जाकर, देख आओ। आल्प्स पर तुमने माउण्ट ब्लाक[2] के आसपास बहुत-सी हिम-नदियाँ देखी होगी। लेकिन उस समय तुम्हें शायद किसीने इनके खास निशान नही वतलाये। कश्मीर मे और हिमालय के दूसरे हिस्सो मे भी बहुत-सी सुन्दर हिम-नदियाँ हैं। हम लोगो के लिए सबसे नज़दीक पिंडारी हिम-नदी है, जो अलमोडे से हफ्ते भर की मञ्ज़िल पर है। जब मैं छोटा था—जितनी वडी तुम आज हो, उससे भी छोटा—तो मैं एक बार इस हिम-नदी को देखने गया था और आज भी मुझे उसकी स्पष्ट याद वनी है।

---

[1] हिम-युग—हिम का मतलब बर्फ है, इसलिए इसे बर्फ-युग भी कह सकते हैं। सृष्टि का यह सबसे पुराना युग है, और बर्फ-युग इसलिए कहलाता है कि उस समय दुनिया के वहुत-से हिस्से बर्फ से ढके हुए थे। इस युग के चार काल हुए हैं, और चौथा काल ईसा से पचास हजार साल पहले का है।

[2] माउण्ट ब्लाक—यह स्विट्ज़रलैण्ड में आल्प्स पहाड़ों की सबसे ऊँची चोटी है।

उस प्राचीन काल मे भी इराक, ईरान और एशिया कोचक मे कितने ही साम्राज्य एक के बाद एक बनते और बिगडते रहे। यहाँ अशूर, मीदिया,[1] बाबुल और बाद में ईरानी साम्राज्य बने। हमे इस विवरण मे जाने की जरूरत नही कि ये साम्राज्य आपस मे कैसे लडते थे या कुछ दिन शान्तिपूर्वक साथ-साथ कैसे रहते थे, या इन्होने एक-दूसरे को कैसे नष्ट किया। पश्चिमी एशिया के साम्राज्यो और यूनान के नगर-राज्यो के अन्तर पर तुमने गौर किया होगा। एशिया मे बहुत शुरू के जमाने से ही बडे राज्य या साम्राज्य के लिए जबर्दस्त लगन पाई जाती थी। शायद इसका कारण इसकी पुरानी सभ्यता थी, या शायद कोई दूसरी वजह भी हो सकती है।

एक नाम सुनकर तुम्हे जरूर दिलचस्पी होगी। यह नाम कारूँ का है जो तुमने सुना होगा। 'कारूँ का खजाना' एक मशहूर कहावत है। तुमने इस कारूँ के किस्से भी पढे होंगे कि यह कितना धनवान और घमण्डा था और उसे किस तरह नीचा देखना पडा। कारूँ लिदिया का राजा था। यह देश एशिया के पश्चिमी तट पर था, जहाँ आज एशिया कोचक है। समुद्र के किनारे होने की वजह से यहा का व्यापार शायद खूब बढा हुआ था। उसके जमाने मे कुरुष[2] की मातहती मे ईरानी साम्राज्य तरक्की कर रहा था और ताकतवर होता जाता था। कुरुष और कारूँ मे मुठभेड हो गई और कुरुष ने कारूँ को हरा दिया। यूनानी इतिहास-लेखक हिरोदोत[3] ने इस पराजय की कहानी लिखी है और बताया है कि किस तरह मुसीबत पडने पर घमण्डी कारूँ को अक्ल और समझ आई।

कुरुष के पास बहुत बडा साम्राज्य था, जो शायद पूर्व मे भारत तक फैला हुआ था। लेकिन उसके एक उत्तराधिकारी दारा के पास इससे भी बडा साम्राज्य था, जिसमे मिस्र, मध्य-एशिया का कुछ भाग और सिन्ध नदी के पास का भारत का भी छोटा-सा हिस्सा शामिल था। कहा जाता है कि उसके इस भारतीय प्रान्त

---

[1] मीदिया—ईसा के ७०० बरस पहले का एशिया का एक पुराना साम्राज्य, जो कैस्पियन सागर के दक्षिण और ईरान के उत्तर था। ई० पू० ३३१ मे सिकन्दर ने इसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। बाद मे यूनानियो के पतन के बाद ईरानी साम्राज्य मे मिला लिया गया और उसके बाद छिन्न-भिन्न हो गया।

[2] कुरुष या साइरस—यह ईरानी साम्राज्य का प्रवर्त्तक सम्राट् था। इसका समय ईसा से ६०० से लगाकर करीब ५२९ साल पहले तक है। यह बडा प्रतापी सम्राट् था, इसीलिए इसे 'महान्' की उपाधि मिली थी।

[3] हिरोदोत या हेरोडोटस—मशहूर यूनानी इतिहास-लेखक। इसका समय ईसा से करीब ४८४ से ४२४ साल पहले था। इसके इतिहास का मुख्य विषय

फटने से भी पहले, उठना। यह आदत मैंने पिछली गर्मियों में शुरू की, क्योंकि मुझे यह देखना भला मालूम होता था कि उषा कैसे आती है और किस तरह धीरे-धीरे तारों की रोशनी को बुझा देती है। क्या तुमने कभी पौ फटने से पहले की चांदनी देखी है और यह देखा है कि धीरे-धीरे यह तड़का दिन के रूप में कैसे बदल जाता है? मैंने चांदनी और उषा की इस प्रतियोगिता को अक्सर देखा है, जिसमें उषा की हमेशा जीत रहती है। इस विचित्र और मन्द रोशनी में कभी-कभी यह बताना मुश्किल हो जाता है कि यह चांदनी है या आनेवाले दिन की रोशनी है। थोड़ी ही देर के बाद कोई सन्देह बाकी नहीं रह जाता, दिन हो जाता है और फीका चन्द्रमा प्रतियोगिता में हार कर पीछे हट जाता है।

अपनी आदत के अनुसार मैं आज जब उठा तो तारे चमक रहे थे और तड़के से पहले हवा में जो अजीब ताजगी होती है उससे कोई भी अन्दाज़ लगा सकता था कि सुबह होनेवाली है। और ज्योंही मैं पढ़ने बैठा कि दूर से आनेवाली आवाज़ों और मरमराहटों ने, जो बढ़ती ही जाती थीं, सवेरे की शान्ति को भंग कर दिया। मुझे याद आ गया कि आज सक्रांति यानी माघ मेले का पहला पर्व है,और यात्री लोग हज़ारों की तादाद में संगम में—जहां गंगा, यमुना और गुप्त सरस्वती मिलती हैं—स्नान करने जा रहे हैं। ये चलते-चलते गाते जाते थे, और कभी-कभी गंगा माता की जय पुकारते थे। 'गंगा माई की जय!' इनकी यह आवाज़ नैनी-जेल की दीवारों को लांघकर मेरे कानों में पहुंच रही थी। इन्हें सुनकर मुझे यह खयाल आ गया कि देखो श्रद्धा में कितनी शक्ति है कि वह इन असंख्य लोगों को नदी के किनारे खींच लाई है और ये लोग थोड़ी देर के लिए अपनी ग़रीबी और मुसीबतों को भूल गये हैं। और मैं यह सोचने लगा कि देखो सैकड़ों और हज़ारों वर्षों से हर साल यात्री लोग किस तरह त्रिवेणी की यात्रा को आते हैं। आदमी पैदा हों और मर जायें, सरकारें और साम्राज्य कुछ दिनों के लिए शान जमा लें और फिर अतीत में ग़ायब हो जायें, लेकिन पुरानी परम्परा बराबर जारी रहती है और पीढ़ी के बाद पीढ़ी, उसके सामने सिर झुकाती रहती है। परम्परा में बहुत-कुछ अच्छाई होती है, लेकिन कभी-कभी वह एक भयंकर बोझ बन जाती है, जिसकी वजह से हमारी प्रगति मुश्किल हो जाती है। जो अटूट ज़ंजीर धुंधले और प्राचीन अतीत से हमारा सम्बन्ध जोड़ती है, उसकी कल्पना करने से और तेरह सौ वर्ष पहले के लिखे हुए इन मेलों के, जो उस समय भी पुरानी परम्परा से चले आ रहे थे, हाल-चाल पढ़ने से चित्त मोहित हो जाता है। लेकिन इस ज़ंजीर में एक आदत यह है कि जब हम आगे बढ़ना चाहते हैं तो यह हमारे पैरों में लिपट जाती है और हमें इस परम्परा के शिकंजे में कसकर कैदी-जैसा बना देती है। यह सच है कि अपने अतीत से जोड़नेवाली बहुत-सी लड़ियों को हमें क़ायम रखना

पड़ेगा। लेकिन अगर यह परम्परा हमें आगे बढ़ने से रोकने लगे तो हमें उसके कैदखाने को तोड़कर बाहर भी निकलना होगा।

पिछले तीन पत्रों में हमने यह कोशिश की है कि तीन हज़ार से लगाकर ढाई हज़ार वर्ष पहले के बीच के ज़माने की दुनिया किस तरह की थी, उसकी एक तसवीर हमारे सामने खिंच जाय। मैंने तारीखों का कोई ज़िक्र नहीं किया है। मुझे तारीखें पसन्द नहीं हैं और न मैं यह चाहता हूँ कि इनके रगड़े में तुम ज्यादा पड़ो। अलावा इसके, उस पुराने ज़माने की घटनाओं की सही तारीखें जानना आसान भी नहीं है। बाद को कभी-कभी यह ज़रूरी हो सकता है कि कुछ तारीखें भी दे दी जायँ और उन्हें याद रखा जाय, ताकि हमें घटनाओं को ठीक सिलसिलेवार याद रखने में मदद मिल सके। अभी तो हम प्राचीन संसार की रूपरेखा ही खींचने की कोशिश कर रहे हैं।

यूनान, भूमध्यसागर, मिस्र, एशिया कोचक और ईरान की एक झलक हम देख चुके हैं। अब हम अपने देश की तरफ आते हैं। भारत के प्रारम्भिक इतिहास का अध्ययन करने में हमारे सामने एक बड़ी कठिनाई आ जाती है। आदि आर्यों ने, जिन्हें अंग्रेज़ी में इण्डो-एरियन कहते हैं, इतिहास लिखने की तरफ ध्यान ही नहीं दिया। हम अपने पिछले पत्रों में देख चुके हैं कि ये लोग बहुत-सी बातों में कितने बढ़े-चढ़े थे। इन लोगों के रचे हुए ग्रन्थ—वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, वगैरा—ऐसे हैं जिन्हें महान् पुरुष ही लिख सकते थे। इन ग्रन्थों से और दूसरी सामग्री की मदद से हमें पुराने इतिहास का अध्ययन करने में सहायता मिलती है। इनसे हमें पूर्वजों के रस्म-रिवाज, रहन-सहन और विचार करने के ढंग का पता लग जाता है। लेकिन ये वास्तव में इतिहास नहीं हैं। संस्कृत में वास्तविक इतिहास की अकेली पुस्तक कश्मीर के इतिहास पर है, लेकिन वह बहुत बाद के ज़माने की है। उसका नाम है 'राजतरंगिणी'। उसमें कश्मीर के राजाओं का सिलसिलेवार हाल है और यह कल्हण की लिखी हुई है। तुम्हें यह जानकर खुशी होगी कि जिस तरह मैं तुम्हारे लिए ये पत्र लिख रहा हूँ, उसी तरह तुम्हारे रणजीत फूफा[1] कश्मीर के इस महान् इतिहास का संस्कृत से अंग्रेज़ी में अनुवाद कर रहे हैं। वह करीब आधा खत्म कर चुके हैं। यह ग्रन्थ बहुत बड़ा है। जब इसका पूरा अनुवाद प्रकाशित होगा तब हम सब बड़े चाव के साथ इसे पढ़ेंगे, क्योंकि दुर्भाग्य से हममें से बहुत-से लोग इतनी संस्कृत नहीं जानते कि मूल ग्रन्थ को पढ़ सकें। हम इस पुस्तक को सिर्फ इसलिए नहीं पढ़ेंगे कि यह बहुत सुन्दर है, बल्कि

---

[1] स्वर्गीय श्री रणजीत एस० पण्डित, श्रीमती विजयलक्ष्मी के पति तथा लेखक के बहनोई। ये भी उस समय जेल में थे। 'राजतरंगिणी' का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

इसलिए भी कि इससे हमें पुराने ज़माने का बहुत-कुछ हाल मालूम होगा—खासकर कश्मीर का, जो कि तुम जानती हो, अपना पुराना वतन है।

जब आर्यों ने भारत मे कदम रक्खा, यह देश पहले ही सभ्य हो चुका था। वास्तव मे उत्तर-पश्चिम मे मोहेन-जो-दडो के खण्डहरो से अब यह सही तौर पर मालूम पडता है कि आर्यों के आने के बहुत दिन पहले से इस देश मे एक महान् सभ्यता मौजूद थी। लेकिन इसके बारे मे अभी तक हम कुछ ज्यादा नही जानते। सम्भव है, कुछ वर्षों के अन्दर ही जब हमारे पुरातत्त्ववेत्ता[1] वहाँ जो कुछ मिल सकता है, उसे खोज निकालेंगे, तब हम उसके बारे मे कुछ ज्यादा जान सकेंगे।

बहरहाल इसके अलावा भी यह प्रकट होता है कि उस समय दक्षिण भारत मे, और शायद उत्तर भारत मे भी, द्रविडो की एक समृद्ध सभ्यता थी। इनकी भाषाएँ, जो आर्यों की सस्कृत से निकली हुई नही हैं, बहुत पुरानी हैं और इनमें बडा सुन्दर साहित्य पाया जाता है। इन भाषाओ के नाम हैं तमिल, तेलुगू, कन्नड और मलयालम। ये भाषाएँ दक्षिण भारत मे आजकल भी फूल-फल रही हैं। शायद तुम्हें मालूम होगा कि हमारी राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) ने भारत के प्रान्त भाषाओ के आधार पर बनाये हैं, हालाँकि अंग्रेज़ सरकार ने ऐसा नहीं किया है। यह तरीका बहुत अच्छा है, क्योंकि इससे एक तरफ़ के लोग, जो एक ही भाषा बोलते हैं, और जिनके रस्म-रिवाज आमतौर से एक ही तरह के हैं, एक प्रान्तीय क्षेत्र मे आ जाते है। दक्षिण मे कांग्रेस के माने हुए प्रान्त ये हैं—उत्तरी मद्रास में आन्ध्र देश, जहाँ तेलुगू बोली जाती है, दक्षिणी मद्रास मे तमिलनाड, जहाँ तमिल भाषा बोली जाती है; बम्बई प्रान्त के दक्षिण मे कर्नाटक, जहाँ कन्नड भाषा बोली जाती है, और केरल, जो करीब-करीब मलाबार ही है, जहाँ मलयालम भाषा बोली जाती है। इसमे कोई शक नहीं कि भारत आगे चलकर जब प्रान्तो मे बाँटा जायगा, तो क्षेत्रीय भाषा पर बहुत ध्यान दिया जायगा।

यहाँ पर मैं भारत की भाषाओ के बारे में ज़रा कुछ और कह दूँ। यूरोप और दूसरे मुल्को के कुछ लोग समझते हैं कि भारत में सैंकडो भाषाएँ बोली जाती हैं। यह बिलकुल बेहूदा बात है और ऐसा कहनेवाला खुद अपना ही अज्ञान ज़ाहिर करता है। यह सच है कि भारत-जैसे बडे देश मे बहुत-सी बोलियाँ हैं, जो स्थान-भेद के अनुसार किसी एक भाषा के अलग-अलग रूप हैं। यहाँ के पहाडी और दूसरे हिस्सो मे भी कितनी ही छोटी-मोटी जातियाँ हैं, जिनकी अपनी-अपनी खास बोलियाँ हैं। लेकिन अगर सारे भारत को एक साथ लिया जाय तो इन सबका कोई महत्व नही रह जाता। उनका महत्व सिर्फ मर्दुमशुमारी के खयाल से ही है। जैसा कि

---

[1] पुरातत्त्ववेत्ता—पुराने ज़माने के खण्डहरों और बाक़ी बचे निशानों का खास अध्ययन करनेवाले विद्वान्।

मेरा ख़याल है, मैंने अपने एक पिछले पत्र मे लिखा है कि भारत की असली भाषाएँ दो परिवारो मे बाँटी जा सकती हैं—पहला परिवार द्रविड भाषा का है, जिसका ऊपर ज़िक्र आ चुका है, और दूसरा भारतीय आर्य-जाति की भाषा का है। भारतीय आर्यों की मुख्य भाषा सस्कृत थी और भारत की सारी आर्य-भाषाएँ—हिन्दी, बँगला, गुजराती और मराठी—सस्कृत से निकली हैं। इसके अलावा कुछ और भेद भी हैं। असम मे असमी है, उडीसा या उत्कल मे उडिया बोली जाती है। उर्दू भी हिन्दी का ही एक भेद है। हिन्दुस्तानी शब्द का मतलब हिन्दी और उर्दू दोनो से है। इस तरह भारत की मुख्य भाषाएँ सिर्फ दस हैं—हिन्दुस्तानी, बँगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगू, कन्नड, मलयालम, उडिया और असमी। इनमें से हिन्दुस्तानी, जो अपनी मातृभाषा है, सारे उत्तर भारत मे—पजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली और मध्यभारत मे—बोली जाती है। यह बहुत बडा हिस्सा है, जिसमे करीब पन्द्रह करोड आदमी बसते हैं। इस प्रकार तुम देखोगी कि अभी भी पन्द्रह करोड आदमी कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनो के साथ हिन्दुस्तानी बोलते हैं और तुम यह अच्छी तरह जानती ही हो कि भारत के ज्यादातर हिस्सो के लोग हिन्दुस्तानी समझते हैं। भारत के सब लोगो की भाषा शायद यही बनेगी। लेकिन इसका यह मतलब कभी भी नही है कि दूसरी मुख्य भाषाएँ, जिनका मैंने ऊपर ज़िक्र किया है, खत्म हो जायँ। बेशक ये प्रान्तीय भाषाओ की हैसियत से बनी रहेगी, क्योंकि इनमे सुन्दर साहित्य पाया जाता है और किसी जाति की समुन्नत भाषा को छीन लेने की कोशिश किसी भी हालत मे नही की जानी चाहिए। किसी कौम के विकास और उसके बच्चो की शिक्षा का एकमात्र साधन उसकी अपनी भाषा ही है। भारत मे आज हरेक चीज़ उलट-पुलट हो रही है और हम आपस मे भी अग्रेजी बहुत ज्यादा इस्तेमाल करते हैं। तुम्हे अग्रेजी मे पत्र लिखना मेरे लिए एक भद्दी बात है—फिर भी मैं ऐसा कर रहा हूँ। लेकिन मुझे उम्मीद है कि हम लोग जल्दी ही इस आदत से छुटकारा पा जायँगे।

: १० :

## प्राचीन भारत के ग्राम-गणराज्य

१५ जनवरी, १९३१

प्राचीन इतिहास का अपना निरीक्षण हम कैसे आगे बढावें? मैं हमेशा सीधा रास्ता छोड देता हूँ और इधर-उधर की पगडण्डियो पर भटक जाता हूँ। पिछले पत्र मे मैं इस विषय पर पहुँच ही रहा था कि मैंने भारत की भाषाओ की बात छेड दी।

अच्छा, अब फिर प्राचीन भारत की चर्चा करें। तुम जानती हो कि जो देश

आज अफगानिस्तान कहलाता है वह उस समय, और बाद मे भी बहुत वर्षों तक, भारत का एक हिस्सा था। भारत का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा गान्धार कहलाता था। सारे उत्तर मे, सिन्ध और गगा के मैदान मे, आर्यों की बडी-बडी बस्तियाँ थी। बाहर से आये हुए ये आर्य लोग शायद इमारतें बनाने की कला अच्छी तरह जानते थे, क्योंकि इनमे-से बहुत-से ईरान और इराक की आर्यों की बस्तियो से आये हुए होंगे, जहाँ उस समय भी बडे-बडे शहर बस गये थे। इन आर्य-बस्तियो के बीच बहुत-से जगल थे, खासकर उत्तर और दक्षिण भारत के बीच मे तो एक बहुत बडा जगल था। यह सम्भव नही मालूम होता कि आर्य लोगो की कोई बडी सख्या इन जगलो को पार करके दक्षिण मे बसने गई हो। हाँ, बहुत-से व्यक्ति खोज और व्यापार करने तथा आर्य-सभ्यता और सस्कृति को फैलाने के लिए दक्षिण ज़रूर गये होंगे। पौराणिक कथा है कि अगस्त्य ऋषि पहले आर्य थे, जो दक्षिण गये और आर्य-धर्म तथा आर्य-सस्कृति का सन्देश दक्षिण तक ले गये।

उस समय भारत और विदेशो के बीच काफी व्यापार चलता था। विदेशी व्यापारी दक्षिण की काली मिर्च, मोती और सोने के लालच से समुद्र पार करके यहाँ आते थे। यहाँ से शायद चावल भी बाहर जाता था। बाबुल के पुराने राज-महलो मे मलाबार का सागवान मिला है।

आर्यों ने भारत मे धीरे-धीरे अपनी ग्रामीण प्रणाली का विकास किया। इस प्रणाली मे कुछ पुरानी द्रविड-ग्राम-प्रथा का और कुछ आर्य-विचारो का मेल-जोल था। ये गाँव करीब-करीब स्वतन्त्र होते थे और चुनी हुई पचायतें इन पर शासन करती थी। कई गाँवो या छोटे कस्बो को मिलाकर उनपर एक राजा या सरदार राज करता था, जो कभी तो चुना हुआ होता था और कभी पुश्तैनी। अक्सर गाँवो के अनेक समुदाय एक-दूसरे से सहयोग करके सडकें, धर्मशालाएँ, सिंचाई के लिए नहरें, या इस प्रकार की सामुदायिक चीजें, जो सब लोगो के फायदे की होती थी, बनाया करते थे। यह भी मालूम होता है कि राजा यद्यपि राज्य का प्रमुख होता था, लेकिन वह मनमानी नही कर सकता था। उसे आर्यों के कानूनो और प्रथाओ के अनुसार चलना पडता था। उसकी प्रजा उसपर जुर्माना कर सकती थी और उसे गद्दी तक से उतार सकती थी। 'राजा ही राष्ट्र है' यह सिद्धान्त, जिसका मैंने अपने पहले पत्रो मे जिक्र किया था, यहाँ नही माना जाता था। इस तरह आर्य-बस्तियो मे एक प्रकार का लोकतन्त्र पाया जाता था, यानी आर्य-प्रजा शासन पर कुछ हद तक नियन्त्रण रख सकती थी।

इन भारतीय आर्यों का यूनानी आर्यों से मुकाबिला करो। इन दोनो मे बहुत-से अन्तर थे, लेकिन कितनी ही बातो मे समानता भी थी। दोनो देशो मे किसी-न किसी रूप मे लोकतन्त्र था। लेकिन हमे यह न भूलना चाहिए कि यह लोकतन्त्र

सिर्फ आर्य-वश के लोगो के लिए ही था। इनके गुलामो या उन लोगो के लिए, जिन्हे इन्होने नीच जाति का ठहरा दिया था, न लोकतन्त्र था, न आजादी। जात-पाँत की प्रणाली और उसके आजकल जैसे अनगिनती भेद उस जमाने मे नहीं थे। उस समय तो भारतीय आर्यों मे समाज के चार भेद या वर्ण माने जाते थे। ब्राह्मण, यानी विद्वान्, पुरोहित और ऋषि-मुनि, क्षत्रिय यानी राज करनेवाले, वैश्य, यानी वाणिज्य और व्यापार करनेवाले, और शूद्र, यानी मेहनत-मजदूरी करनेवाले और कामगर। इस तरह यह जातिभेद पेशे के आधार पर था। सम्भव है, जात-पाँत की प्रणाली एक हद तक इसीलिए रक्खी गई हो कि आर्य लोग विजित जाति से अपने को अलग रखना चाहते थे। आर्य लोग इतने अभिमानी और घमण्डी थे कि दूसरी जातियो को नीची निगाह से देखते थे और यह नही चाहते थे कि उनकी जाति के लोग दूसरी जाति के लोगो से घुल-मिल जायँ। जाति के लिए सस्कृत मे वर्ण शब्द आता है, जिसका अर्थ रग है। इससे यह भी प्रकट होता है कि बाहर से आनेवाले आर्य भारत के मूल निवासियो से गोरे थे।

इस प्रकार हमे यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि एक तरफ तो आर्य लोगो ने श्रमिक वर्ग को दबा रक्खा था और उसे अपने लोकतन्त्र मे कोई हिस्सा नही देते थे, दूसरी तरफ उन्होने अपने लिए बहुत ज्यादा आजादी रक्खी थी। ये लोग इस बात को बिलकुल पसन्द नही करते थे कि उनके राजा या शासक अनुचित व्यवहार करे। अगर कोई शासक अनुचित व्यवहार करता था तो हटा दिया जाता था। आमतौर पर राजा क्षत्रिय होते थे, लेकिन कभी-कभी लडाइयो या अन्य सकटो के समय शूद्र या नीच-से-नीच जाति का आदमी भी, अगर इतना योग्य होता, तो राजगद्दी पा सकता था। इसके बाद आर्य लोगो का पतन हो गया और उनकी जाति-प्रणाली जड हो गई। बहुत-से विभाग हो जाने की वजह से देश कमजोर पड गया और नीचे गिर गया। ये लोग आजादी की पुरानी भावना को भी भूल गये, क्योकि पुराने ज़माने मे यह कहा जाता था कि आर्य कभी भी दास नही बनाया जा सकता। आर्य नाम को कलकित करने के बजाय उसके लिए मर जाना कही ज्यादा अच्छा समझा जाता था।

आर्यो की बस्तियाँ, कस्बे और गाँव ऊटपटाँग तरीके से नही बस गये थे। वे नकशो के अनुसार बसाये जाते थे, और तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि इन नक़शो के तैयार करने मे रेखागणित से बहुत मदद ली जाती थी। सच तो यह है कि वैदिक पूजाओ मे भी रेखागणित की शकलें काम मे आती थी। आज भी अनेक हिन्दू घरो में बहुत-सी पूजाओ मे ये शकलें काम आती हैं। बात यह है कि मकानो और शहरो की रचना से रेखागणित का बहुत निकट का सम्बन्ध है?

सम्भव है, शुरू मे पुराने आर्यों के गाँव किलेबन्द छावनी के समान हुआ

करते थे, क्योकि उस जमाने मे हमलो का हमेशा डर रहा करता था। जब दुश्मनो के हमलो का डर नही रहा तब भी वही नकशा जारी रहा। यह नकशा चतुर्भुज आकार का होता था, जिसमें चारो तरफ परकोटा होता था और इसमे चार बडे फाटक और चार छोटे दरवाज़े रक्खे जाते थे। परकोटे के अन्दर एक खास तरतीब में सडकें और मकान बनाये जाते थे। गाँव के बीच मे पचायत-घर होता था, जहाँ गाँव के बडे-बूढे इकट्ठे होते थे। छोटे गाँवो मे पचायत-घर के बजाय कोई एक बडा पेड ही हुआ करता था। हर साल गाँव के सब नागरिक इकट्ठे होकर अपनी पचायत चुनते थे।

बहुत से विद्वान् लोग सादा जीवन बिताने और शान्ति के साथ अध्ययन या कार्य करने के लिए क़स्बो या गाँवो के आस-पास के जगलो मे चले जाते थे। इनके पास शिष्य इकट्ठे हो जाते थे और धीरे-धीरे इन गुरुओ और विद्यार्थियो की नई बस्तियाँ बनती गईं। हम इन बस्तियो को आजकल के विश्वविद्यालय कह सकते हैं। इन जगहो पर कोई शानदार इमारतें नही हुआ करती थी, लेकिन जिनको ज्ञान की तलाश होती थी वे बडी-बडी दूर से विद्याध्ययन के इन केन्द्रो मे आया करते थे।

आनन्द भवन[1] के सामने भारद्वाज आश्रम है। तुम इसे अच्छी तरह जानती हो। शायद तुम्हें यह भी मालूम है कि भारद्वाज रामायण के पुराने जमाने के बहुत विद्वान् ऋषि माने गये हैं। कहा जाता है कि रामचन्द्र अपने वनवास के समय मे इनके यहाँ आये थे। यह भी कहा जाता है कि भारद्वाज के आश्रम मे हज़ारो शिष्य और विद्यार्थी रहा करते थे। यहाँ एक अच्छा-खासा विश्वविद्यालय रहा होगा और भारद्वाज उसके आचार्य रहे होंगे। उस ज़माने मे यह आश्रम गगा के किनारे था। यह बहुत सम्भव है, हालाँकि अब गगा यहाँ से करीब एक मील दूर चली गई हैं। हमारे बगीचे की मिट्टी कही-कहीं बहुत रेतीली है और सम्भव है कि यह हिस्सा उस जमाने मे गगा की तलहटी में रहा हो।

ये प्रारम्भकाल के दिन भारत मे आर्यों का एक महान् काल था। दुर्भाग्य से इस काल का हमे कोई इतिहास नही मिलता और उस समय की जो बातें हमें मालूम हैं, उनके लिए हमें अनैतिहासिक ग्रन्थो पर ही भरोसा करना पडता है। उस ज़माने के राज्य और गणराज्य ये थे—दक्षिण बिहार मे मगध, उत्तर बिहार में विदेह, काशी, कोशल—जिसकी राजधानी अयोध्या थी, और पाचाल, जो गंगा और यमुना के बीच मे था। पाचालो के देश मे मथुरा और कान्यकुब्ज दो मुख्य शहर थे। ये शहर बाद के इतिहास मे भी मशहूर रहे हैं और आज भी मौजूद हैं। कान्यकुब्ज अब कन्नौज कहलाता है और कानपुर के निकट है। उज्जैन भी प्राचीन

---

[1] प्रयाग में लेखक का मकान।

शहर है, लेकिन आजकल यह ग्वालियर रियासत का एक छोटा-सा नगर है। पाटलिपुत्र या पटना के निकट वैशाली का नगर था। यह लिच्छवी वश के लोगो की राजधानी थी, जो भारत के शुरू-शुरू के इतिहास का एक मशहूर वश है। यह राज्य गणराज्य था। इसमे प्रमुख व्यक्तियो की एक सभा शासन करती थी। इसका एक चुना हुआ सभापति होता था, जिसे नायक कहते थे।

ज्यो-ज्यो जमाना गुजरा, बडे-बडे कस्बे और शहर बनते गये। व्यापार बढा और कारीगरो की कला और दस्तकारी ने भी उन्नति की। शहर बडे-बडे व्यापारिक केन्द्र हो गये। जगल के आश्रम, जहाँ विद्वान् ब्राह्मण अपने शिष्यो के साथ रहा करते थे, बढकर बडे-बडे विश्वविद्यालय बन गये। विद्या के इन केन्द्रो मे वे सब विषय पढ़ाये जाते थे, जिनका उस समय तक मनुष्य को ज्ञान था। ब्राह्मण युद्धकला भी सिखाते थे। तुम्हें याद होगा कि महाभारत मे पाण्डवो के गुरु द्रोणाचार्य ब्राह्मण थे, जो उन्हें अन्य विषयो के साथ-साथ युद्धकला की भी शिक्षा देते थे।

## : ११ :
## चीन के हजार वर्ष

१६ जनवरी, १९३१

बाहरी दुनिया से एक ऐसी खबर मिली है, जिससे परेशानी और दु ख होता है, लेकिन फिर भी ऐसी है कि उससे हृदय गर्व और आनन्द से फूल उठता है। हम लोगो ने शोलापुरवालो की किस्मत का फैसला सुन लिया। इस खेदजनक समाचार के फैलने पर देशभर मे जो-कुछ हुआ उसका भी थोडा-बहुत हाल हमे मालूम हो गया। जबकि हमारे नौजवान अपनी जानो पर खेल रहे हैं और हजारो पुरुष और स्त्रियाँ निर्दय लाठी का मुक़ाबला कर रहे हैं, मेरे लिए यहाँ चुपचाप बैठे रहना मुश्किल हो गया है। लेकिन इससे हमे अच्छी ट्रेनिंग मिल रही है। मेरा खयाल है कि हममे से हरेक स्त्री और पुरुष को अपने-आपको कठिन-से-कठिन परीक्षा मे डालने के बहुत मौके मिलेंगे। इस समय तो यह जानकर दिल को खुशी होती है कि हमारे लोग तकलीफों और मुसीबतो का सामना करने के लिए कैसी हिम्मत से आगे बढ रहे हैं और कैसे दुश्मन का हरेक नया हथियार और प्रहार इन लोगो को ज्यादा मजबूत और प्रतिरोध के लिए ज्यादा दृढ-सकल्प बना रहा है।

जब किसी का दिमाग़ इस तरह के ताजा समाचारो से भरा हो, तो दूसरी बातो का खयाल करना मुश्किल हो जाता है। लेकिन कोरी उधेडबुन से भी कोई खास फायदा नही होता, इसलिए अगर कोई ठोस काम करना हो तो हमे अपने

चीनी सभ्यता की शुरुआत
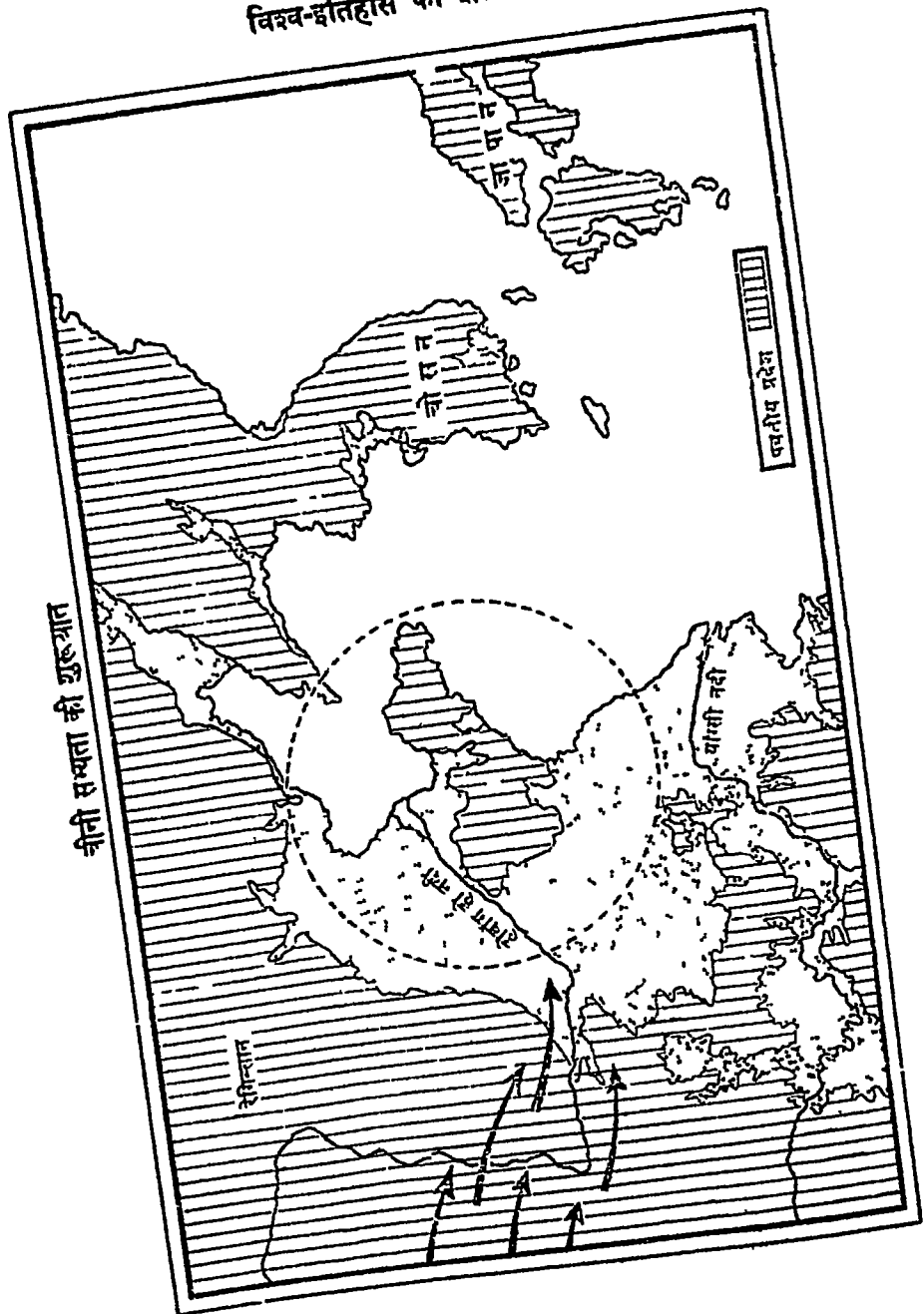
मन को काबू मे रखना चाहिए। इसलिए आओ, हम पुराने जमाने को लौट चलें और थोडी देर के लिए अपनी मौजूदा परेशानियो मे बहुत दूर चलकर रहे।

आओ, अब हम प्राचीन इतिहास मे भारत के भाई चीन की चर्चा करे। चीन मे और पूर्वी एशिया के जापान, कोरिया, हिन्द-चीन, स्याम, बरमा, वगैरा देशो मे आर्य-जाति मे हमे काम नही पडेगा। यहाँ तो उसके बजाय मगोली नस्लो से परिचय करना है।

पाँच हजार या कुछ ज्यादा वर्ष गुजरे होगे जब पश्चिम से चीन पर एक हमला हुआ था। हमला करनेवाली ये जातियाँ भी मध्य-एशिया से आई थी और अपनी सभ्यता में ये अच्छी-खासी आगे बढी हुई थी। ये लोग खेती करना जानते थे और भेड-बकरियो के बडे-बडे रेवड और मवेशियो के बडे-बडे झुण्ड पाला करते थे। ये लोग अच्छे-अच्छे मकान बनाना जानते थे और इनका समाज खूब विक-सित था। ये लोग ह्वागहू नदी के पास, जिसे पीली नदी भी कहते हैं, बस गये और यहाँ इन्होने अपने राज्य का सगठन किया। सैकडो वर्षो तक ये सारे चीन मे फैलते रहे और अपने कला-कौशल और कारीगरी की उन्नति करते रहे। चीनी लोग ज्यादातर किसान थे और उनके सरदार असल मे उसी तरह के कुलपति थे, जिनका मैं अपने पुराने पत्रो मे जिक्र कर चुका हूँ। छ या सात सौ वर्ष बाद, यानी अब मे चार हजार से भी अधिक वर्ष पहले, याओ नामक एक व्यक्ति हुआ, जिसने अपने को सम्राट् कहना शुरु किया। लेकिन उस उपाधि के बावजूद उसकी स्थिति अधिकतर कुलपति की-सी ही थी, मिस्र या इराक के सम्राटो की-सी नही। चीनी लोग किसानो की तरह ही रहते थे, और वहाँ कोई खास केन्द्रीय सर-कार नही बन पाई।

मैंने तुम्हे बताया है कि पहले किस तरह लोग अपने कुलपति चुना करते थे और आगे चलकर किस तरह यह पद मौरूसी अधिकार बन गया। चीन मे हम इसकी शुरुआत होती हुई देखते हैं। याओ का उत्तराधिकारी उसका पुत्र नही हुआ, बल्कि उसने एक दूसरे व्यक्ति को नामजद कर दिया, जो उस समय देश मे सबसे ज्यादा योग्य समझा जाता था।

लेकिन जल्दी ही यह पद मौरूसी हो गया, और कहा जाता है कि चार सौ वर्ष मे ज्यादा तक हिस्या नामक राजवश ने चीन पर हुकूमत की। हिस्या वश का आखिरी राजा बहुत जालिम था। नतीजा यह हुआ कि एक क्रान्ति हुई, जिसने उसे उखाड फेका। इसके बाद शैङ या चिड नामक दूसरे राजवश के हाथो मे सत्ता आई और यह करीब ६५० वर्षो तक चली।

एक छोटे-से पैरे मे, दो या तीन छोटे-छोटे वाक्यो मे मैंने चीन का एक हजार वर्षो मे ज्यादा का इतिहास खत्म कर दिया। क्या यह ताज्जुब की बात

नही है कि इतिहास के इतने विस्तारों को कोई इस तरह निबटा दे? लेकिन तुम्हे यह समझ लेना चाहिए कि मेरे छोटे-से पैरे की वजह से इन हजार या ग्यारह सौ वर्षों की लम्बाई कम नहीं होती। हम दिनो, महीनो और सालो के खयाल के आदी हो गये हैं। तुम्हारे लिए तो सौ साल की भी स्पष्ट कल्पना कर सकना मुश्किल है। तुम्हे तो अपने तेरह वर्ष ही बहुत मालूम होते होंगे! है न यह बात सच? और हर साल तुम और भी बड़ी होती जाती हो। तब फिर तुम अपने दिमाग मे इतिहास के एक हजार वर्षों की कल्पना किस तरह कर सकती हो? यह एक बहुत लम्बा जमाना है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी आती है और चली जाती है। कस्बे बढकर बडे-बडे शहर हो जाते हैं और फिर उजडकर मिट्टी मे मिल जाते हैं और उनकी जगह दूसरे शहर बस जाते हैं। इतिहास के पिछले एक हजार वर्षों का खयाल करो, तब शायद तुम्हे इस तरह का कुछ बोध हो सके। पिछले एक हजार वर्षों मे इस दुनिया मे कितने आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गये हैं!

चीन का इतिहास, उसकी प्राचीन सस्कृति की लम्बी परम्परा और उसके एक-एक राजवश, जो पाँच सौ से लेकर आठ-आठ सौ वर्ष तक राज करते रहे, कितनी अद्भुत चीजें हैं!

इन ग्यारह सौ वर्षों मे चीन की धीमी उन्नति और विकास पर, जिन्हें मैंने एक पैरे मे ही निबटा दिया है, जरा गौर तो करो! धीरे-धीरे कुलपति की प्रथा टूटती गई और उसकी जगह केन्द्रीय सरकार स्थापित हो गई और एक सुसगठित राज्य सामने आ गया। उस पुराने जमाने मे भी चीन के लोग लिखने की कला जानते थे। लेकिन, जैसा कि तुम जानती ही हो, चीनी लिपि हमारी नागरी या अग्रेजी या फ्रान्सीसी लिपि से बिल्कुल भिन्न है। इस लिपि मे अक्षर नही हैं। यह सकेतो या चित्रो द्वारा लिखी जाती है।

शैङ राजवश को, ६४० वर्ष शासन करने के बाद, एक क्रान्ति ने उखाड फेंका और चाऊ नामक एक नये राजवश का अधिकार हुआ। इसने शैङो से ज्यादा दिनो तक सत्ता भोगी। यह ८३७ वर्ष तक बना रहा। चाऊ-वश के जमाने में ही चीन का राज्य अच्छी तरह से सगठित हुआ, और इसी जमाने मे चीन मे दो महान् दार्शनिक कनफ्यूशस और लाओ-त्से पैदा हुए। इनकी कुछ चर्चा हम आगे चलकर करेंगे।

जब शैङ राजवश निकाल फेंका गया, तब इसके कि-त्से नामक एक उच्च अधिकारी ने चाऊ लोगो की नौकरी करने की बनिस्बत देश छोड कर चले जाना अच्छा समझा। इसलिए वह अपने पाँच हजार अनुयायियो को साथ लेकर चीन से बाहर कोरिया को कूच कर गया। उसने इस देश का नाम 'चोसन' यानी

'सुबह की शान्ति का देश' रक्खा। कोरिया या चोसन चीन के पूर्व मे है, इसलिए किन्त्से पूर्व दिशा मे उगते हुए सूर्य की ओर गया। शायद उसने यह समझा हो कि वह पूर्व दिशा के अन्तिम छोरवाले देश मे पहुँच गया है और इसीलिए उसने इसे यह नाम दिया। ईसा से ग्यारह सौ वर्ष पहले से इसी किन्त्से के साथ कोरिया का इतिहास शुरू होता है। किन्त्से के साथ ही इस नये देश मे चीनी कला-कौशल, मकान बनाने की कला, कृषि और रेशम की कारीगरी आई। किन्त्से के पीछे-पीछे और भी बहुत-से चीनी प्रवासी यहाँ आ गये। किन्त्से के वंशजो ने चोसन पर नौ सौ से ज्यादा वर्षों तक राज किया।

लेकिन चोसन पूर्व दिशा का सबसे आखिरी देश नही था। उसके पूर्व मे, जैसा कि हम जानते हैं, जापान है। लेकिन हमे इस बात का कोई पता नही कि जब किन्त्से चोसन गया तो जापान मे क्या हो रहा था। जापान का इतिहास इतना पुराना नही है जितना चीन का या कोरिया यानी चोसन का। जापानी लोगो का कहना है कि उनके पहले सम्राट् का नाम जिम्मूतिम्नू था और उसने ईसा से छ-सात सौ वर्ष पहले राज किया। इन लोगो का यह विश्वास है कि वह सूर्यदेवी से उत्पन्न हुआ था, क्योकि सूर्य जापान मे देवी माना जाता था। जापान के मौजूदा सम्राट् जिम्मूतिम्नू के असली वशज माने जाते हैं। इसीलिए बहुत-से जापानी इन्हें भी सूर्यवशी मानते हैं।

तुम जानती हो कि हमारे देश मे भी राजपूत लोग इसी तरह से सूर्य और चन्द्र से अपना नाता जोडते हैं। उनके सूर्यवशी और चन्द्रवशी दो मुख्य राजघराने प्रसिद्ध हैं। उदयपुर के महाराणा सूर्यवशियो के प्रमुख हैं और वह अपनी वशावली बहुत पुराने जमाने मे शुरू करते हैं। हमारे राजपूत लोग भी बहुत तारीफ के योग्य हैं। इनकी वीरता की और वीरोचित सुजनता की कहानियो का कोई अन्त नही है।

: १२ :

## पुरातन की पुकार

१७ जनवरी, १९३१

करीब ढाई हजार वर्ष पहले तक प्राचीन दुनिया की शायद जो हालत थी उस पर हम एक सरसरी नजर डाल चुके। हमारा निरीक्षण बहुत सक्षिप्त और परिमित रहा। हमने सिर्फ ऐसे ही देशो की चर्चा की, जो अच्छी उन्नति कर चुके थे या जिनका थोडा-बहुत निश्चित इतिहास पाया जाता है। मिस्र की उस महान् सभ्यता का हम अभी जिक्र कर चुके हैं, जिसने अल-अहराम और स्फिन्क्स बनाये और बहुत-सी दूसरी ऐसी चीजें बनाई, जिनकी चर्चा का यहाँ

अवसर नही है। जिस शुरू जमाने की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमे भी यह महान् सभ्यता अपने गौरव के दिन देख चुकी थी और पतन की ओर जा रही थी। नोसास भी अपनी आखिरी घडियाँ गिन रहा था। चीन के उन लम्बे युगो की खोज भी हम कर चुके हैं, जिनमे कि वह बढते-चढ़ते एक विशाल केन्द्रीय साम्राज्य बन गया और वहाँ लिखने, रेशम बनाने और बहुत-सी दूसरी सुन्दर-सुन्दर कलाओ का विकास हुआ। कोरिया और जापान की भी हमने एक झलक देख ली। भारत की उस पुरानी सभ्यता की ओर अभी हमने सकेत किया ही है, जिसे दर्शाने वाले चिह्न सिन्ध नदी की घाटी के मोहेन-जो-दडो के खण्डहरो मे मिलते हैं। साथ ही विदेशो से व्यापार करनेवाली द्रविड सभ्यता और अन्त मे आर्यों की ओर भी हम सकेत कर चुके है। उस जमाने के आर्यों के रचे हुए वेद और उपनिषद् और रामायण और महाभारत की वीर-गाथाओ का उल्लेख भी हम कर चुके हैं। यह भी हम बता चुके कि आर्य लोग उत्तर भारत मे कैसे फैल गये, दक्षिण मे उनका प्रवेश कैसे हुआ और पुराने द्रविडो के सम्पर्क मे आकर किस तरह उन्होंने एक नई सभ्यता और सस्कृति बनाई, जिसमे कुछ तो द्रविड बातें मिल गई लेकिन जिसका अधिकतर हिस्सा उनका अपना था। खासतौर से हमने इनके ग्राम-सघो को लोकतन्त्री आधार पर विकास करते और कस्बो और शहरो के रूप मे बढते देखा और जगल के आश्रमो को विश्वविद्यालय बनते भी देखा। इराक और ईरान मे हमने सक्षेप मे सिर्फ यह देखा कि किस तरह एक के बाद एक साम्राज्य उन्नति करता गया। इनमे सबसे पिछला, दारा का साम्राज्य भारत में सिन्ध नदी तक फैला हुआ था। फिलस्तीन मे हमने यहूदियो की एक झलक देखी। ये लोग, हालांकि सख्या मे बहुत कम थे और दुनिया के एक छोटे-से कोने मे आबाद थे, फिर भी इन्होंने बहुत काफी ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। दूसरे देशो के बडे-बडे राजाओ के नाम मिट गये, लेकिन इनके राजा दाऊद और सुले-मान के नाम आज तक लिये जाते हैं, क्योंकि उनका जिक्र बाइबिल मे आया है। फिर हमने यूनान मे नोसास की पुरानी सभ्यता की राख पर आर्यों की नई सभ्यता को फूलते-फलते देखा। नगर-राज्य पैदा हुए और भूमध्यसागर के किनारो पर यूनानी उपनिवेश बन गये। रोम, जो आगे चलकर महान् होनेवाला था, और कार्थेज, जो उसका कट्टर विरोधी था, इस समय इतिहास के क्षितिज पर उदय हो रहे थे।

इन सबकी हमने मामूली-सी झलक देखी है। उत्तरी यूरोप और दक्षिण-पूर्व एशिया के देशो का भी थोडा-बहुत हाल मैं तुम्हें बतला सकता था, लेकिन मैं उन्हे छोड गया हूँ। उस शुरू के जमाने मे भी दक्षिण भारत के मल्लाह बगाल की खाडी के उस पार मलय प्रायद्वीप और उसके दक्षिण के टापुओ तक बेघडक

आया-जाया करते थे। लेकिन हमे अपने विषय की कोई सीमा तय कर लेनी चाहिए वरना, हम कभी आगे नही बढ सकेंगे।

जिन देशो की हमने चर्चा की है, वे प्राचीन दुनिया के माने जाते हैं। लेकिन याद रहे कि उन दिनो दूर-दूर के देशो मे आपस मे यादा आवागमन नही था। व्यापार या दूसरे मतलब से साहसी मल्लाह समुद्र के जरिये और दूसरे लोग जमीन के रास्ते लम्बे-लम्बे सफर किया करते थे। लेकिन ऐसा बहुत कम होता था, क्योंकि उस समय की यात्राओ मे खतरा बहुत रहता था। लोगो को भूगोल की जानकारी बहुत कम थी। जमीन गोल नही बल्कि चपटी मानी जाती थी। मतलब यह कि निकट के देशो के सिवा दूसरे देशो के बारे मे लोग बहुत कम जानते थे। यूनान के रहनेवाले चीन और भारत से लगभग अपरिचित थे और चीन और भारतवालो को भूमध्यसागर के देशो का बहुत कम पता था।

अगर तुम्हे प्राचीन दुनिया का नक्शा मिल सके तो उसे एक नजर देखो। पुराने जमाने के लेखको ने दुनिया के जो वर्णन लिखे और नक्शे बनाये उनमे कुछ तो बडे मजेदार है। उन नक्शो मे कई देशो की अजीब शक्ले दी गई है। प्राचीन काल के जो नक्शे आजकल बनाये गए है वे कही ज्यादा काम के है। इसलिए उस जमाने के बारे मे पढते समय इन्हे अक्सर देख लिया करना। नक्शे से बहुत मदद मिलती है। बिना इसके इतिहास का असली चित्र हमारी कल्पना मे नही आ सकता। सच तो यह है कि अगर किसी को इतिहास पढना है, तो जितने भी ज्यादा-से-ज्यादा नक्शे, या पुरानी इमारतो, खण्डहरो और उस जमाने की दूसरी निशानियो के जितने भी चित्र मिल सकें, अपने पास रखने चाहिए। इन चित्रो से इतिहास की सूखी ठटरी पर माँस और चमडा चढ जाता है, और वह हमारे लिए एक जिन्दा चीज बन जाता है। इतिहास से अगर हम कुछ सीखना चाहते हैं तो यह जरूरी है कि घटनाओ का एक स्पष्ट और सिलसिलेवार कल्पना-चित्र हमारे दिमाग मे हो जिससे कि उसे पढते समय ऐसा लगे मानो वे घटनाएँ हमारी आँखो के सामने ही हो रही हैं। इतिहास को तो एक चित्ताकर्षक नाटक समझना चाहिए जो हमारे दिल को मोह लेता है—ऐसा नाटक, जो कभी-कभी सुखान्त, लेकिन ज्यादातर दुखान्त रहा है और दुनिया जिसका रगमच और गुजरे जमाने के महान् पुरुष और स्त्रियाँ जिसके पात्र हैं।

तसवीरो और नक्शो की सहायता से इतिहास के इस तमाशे की एक झलक हमारी आँखो के सामने आ जाती है, इसलिए ऐसा इन्तजाम होना चाहिए कि हरेक लडके और लडकी को ये आसानी से मिल सकें। लेकिन तसवीरो और नक्शो से भी ज्यादा अच्छी चीज यह है कि पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले खण्ड-हरो और चिह्नो को खुद जाकर देखा जाय। इन सबको जाकर देख सकना सम्भव

नहीं क्योंकि ये सारी दुनिया में फैले हुए हैं। लेकिन अगर हम अपनी आँखें खुली रखें तो प्राचीन समय के कोई-न-कोई चिह्न ऐसे जरूर होंगे जिन्हें हम आसानी से देख सकें। बड़े-बड़े अजायबघरों में पुराने जमाने की ये छोटी-छोटी निशानियाँ और यादगारें संग्रह करके रक्खी जाती हैं। भारत में पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत काफी निशानियाँ पाई जाती हैं, लेकिन बहुत प्राचीन काल की निशानियाँ बहुत ही कम हैं। मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा' ही शायद ऐसे दो उदाहरण हैं, जो अभी तक मिले हैं। सम्भव है कि पुराने जमाने की बहुत-सी इमारतें गर्म जलवायु की वजह से धीरे-धीरे ढह गई हों। लेकिन यह और भी ज्यादा सम्भव है कि उनमें से बहुत-सी अब भी जमीन के नीचे दबी पड़ी हों, और उन्हें खोद निकालने की जरूरत हो। जैसे-जैसे हम इन्हें खोदते जायेंगे, और पुराने चिह्न और शिलालेख हमें मिलते जायेंगे, वैसे-वैसे हमारे देश के पुराने इतिहास के पृष्ठ धीरे-धीरे हमारे सामने खुलते जायेंगे और पत्थर, ईंट और चूने के इन पृष्ठों में हम अत्यन्त प्राचीन काल के पूर्वजों के कारनामों का हाल पढ़ सकेंगे।

तुम दिल्ली गई हो और मौजूदा शहर के आस-पास कुछ पुरानी इमारतें और खण्डहर तुमने देखे हैं। जब कभी फिर तुम्हें इन इमारतों और खण्डहरों को देखने का मौका मिले, तुम पुराने जमाने की कल्पना करना तो ये तुम्हें पुराने जमाने में पहुँचा देंगी और तुम्हें इतना ज्यादा इतिहास बता देंगी कि जितना कोई पुस्तक नहीं बता सकती। महाभारत के जमाने से लेकर आज तक लोग दिल्ली शहर में या इसके आस-पास रहते आये हैं। उन्होंने इसके बहुत-से नाम रक्खे, जैसे इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, तुगलकाबाद और शाहजहाँनाबाद। मुझे तो सब नाम मालूम भी नहीं। पुराने जमाने से यह कहावत चली आ रही है कि दिल्ली का शहर सात बार, सात अलग-अलग जगहों पर आबाद हुआ और जमना नदी के मनमौजी बहाव की वजह से हमेशा अपनी जगह बदलता रहा। और अब हम इस देश के मौजूदा शासकों के हुक्म से रायसीना या नई दिल्ली नामक आठवाँ शहर तैयार होते देख रहे हैं। दिल्ली में एक के बाद एक साम्राज्य फूलते-फलते और खत्म होते रहे हैं।

या फिर तुम एक सबसे प्राचीन शहर बनारस या काशी चली जाओ और कान लगाकर उसकी गुनगुनाहट सुनो। वह तुम्हें अपने कल्पनातीत युग की कथा

---

' हड़प्पा—माण्टगोमरी जिले (प० पाकिस्तान) का एक बहुत प्राचीन गाँव है, जो रावी नदी के दक्षिण किनारे पर कोट-कमालिया से १६ मील दक्षिण-पूर्व में है। यहाँ से बहुत पुराने जमाने के खण्डहर खोदकर निकाले गये हैं, जिनसे पता चलता है कि उस पुराने जमाने में भी भारत की सभ्यता कितनी बढ़ी-चढ़ी थी।

सुनायेगा और बतायेगा कि किस तरह साम्राज्यो का पतन होता रहा पर वह बना रहा, किस तरह गौतम बुद्ध अपना नया दैवी सन्देश लेकर वहाँ आये और किस तरह युगो से करोडो नर-नारी शान्ति और सन्तोष पाने के लिए इसकी शरण मे आते रहे। प्राचीन और बूढा, जर्जर, गन्दा, बदबूदार और फिर भी बहुत सजीव और युगो की शक्ति से भरपूर यह बनारस है। काशी की यह नगरी अद्भुत और दिल को लुभानेवाली है, क्योकि इसकी आँखो मे तुम भारत के अतीत को देख सकती हो और इसकी जलधारा की कलकल मे सुदूर बीते युगो की आवाजें सुन सकती हो।

या इससे भी निकट अपने ही शहर इलाहाबाद या प्रयाग के पुराने अशोक-स्तम्भ को देखने जाओ। अशोक की आज्ञा से उस पर खुदे हुए लेख को देखो तो तुम्हे मानो दो हजार वर्षों की दूरी को पार करके आती हुई आवाज सुनाई देने लगेगी।

: १३

## धन कहाँ जाता है ?

१८ जनवरी, १९३१

मैंने जो पत्र तुम्हे मसूरी भेजे थे, उनमे यह बताने की कोशिश की थी कि किस तरह मनुष्य-समाज की उन्नति के साथ-साथ उसमे जुदा-जुदा वर्ग बन गये। शुरू मे मनुष्यो को भोजन-सामग्री तक तलाश करने में बडी मुसीबत होती थी। वे हररोज शिकार करते, गिरीदार और दूसरे फल जमा करते और खाने-पीने की चीजो की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह भटकते फिरते थे। धीरे-धीरे इनके कबीले बनने लगे। असल मे ये बडे-बडे कुटुम्ब थे, जो साथ रहते और साथ-साथ शिकार करने जाते थे, क्योकि अकेले रहने से एक साथ रहने मे खतरा कम रहता था। इसके बाद एक बहुत बडा परिवर्तन हुआ—खेती का आविष्कार। इसके कारण मनुष्य जीवन मे बडा ज़बर्दस्त अन्तर हो गया। लोगो को हमेशा शिकार करते रहने की बनिस्बत ज़मीन पर खेती करके खाने का सामान पैदा कर लेना कही ज्यादा आसान मालूम हुआ। जोतने, बोने और फसल काटने के लिए एक जगह बने रहना जरूरी था, इसलिए पहले की तरह वे इधर-उधर भटकते हुए नहीं रह सकते थे, उन्हें अपने खेतो के पास बसनें को मजबूर होना पडता था। इस तरह गाँवो और क़स्बो की बुनियाद पडी।

खेती की वजह से और भी परिवर्तन हुए। खेती से जो अनाज पैदा होता था, वह तुरन्त की जरूरत से कही ज्यादा होता था। इसलिए बचा हुआ या फालतू अनाज जमा किया जाने लगा। पुराने ज़माने की शिकारी जिन्दगी की तुलना में लोगो की जिन्दगी ज्यादा पेचीदा हो गई। एक वर्ग तो खेतो पर तथा दूसरी जगह

खेती-बाडी और मेहनत-मजदूरी करने लगा, और दूसरे ने प्रबन्ध और सगठन का काम अपने जिम्मे ले लिया। प्रबन्ध करनेवाले और सगठनकर्त्ता लोग धीरे-धीरे अधिक शक्तिशाली हो गये और कुलपति, शासक, राजा और सरदार बन बैठे। और क्योकि उनके हाथ मे शक्ति आ गई, इसलिए वे बाकी बचे हुए या फालतू अनाज मे से अधिकतर हिस्सा अपने लिए रख लेने लगे। इस तरह ये लोग धनवान् होते गये और खेतो मे काम करनेवाले सिर्फ गुजारे भर के लिए पाने लगे। बाद मे ऐसा भी समय आया जब प्रबन्धक और सगठनकर्त्ता इतने आलसी और अयोग्य हो गये कि सगठन का भी काम नही कर सके। ये लोग कुछ भी काम नही करते थे, लेकिन इस बात की पूरी सावधानी रखते थे कि काम करनेवाले ने जो कुछ अनाज पैदा किया है, उसका बहुत काफी हिस्सा अपने लिए ले लें। इन्होने यह अपनी धारणा बना ली कि बिना खुद कुछ काम-काज किये इस तरीके से दूसरो की मेहनत पर रहने का इन्हे पूरा-पूरा अधिकार है।

इस प्रकार तुम देखोगी कि खेती के आने से मनुष्य के जीवन मे बहुत बडा फ़र्क आ गया। भोजन-प्राप्ति के साधनो मे तरक्की करके, और उसका पाना आसान बनाकर, खेती ने समाज की सारी बुनियाद ही बदल दी। लोगो को इसकी वजह से फुरसत मिलने लगी। अनेक वर्ग पैदा हो गये। पर चूंकि सभी अन्न उपजाने मे नही लगे रहते थे, इसलिए कुछ लोग दूसरे काम भी कर सकते थे। इससे कई प्रकार की दस्तकारियाँ पैदा हो गईं और नये-नये पेशे बन गये। लेकिन शक्ति फिर भी सगठन करनेवाले वर्ग के हाथो मे ही रही।

बाद के ज़मानो के इतिहास मे भी तुम्हे यही बात मिलेगी कि खाद्य पदार्थ और दूसरी ज़रूरी चीजें पैदा करने के नये तरीको ने कितने बडे-बडे परिवर्तन कर दिये है। आदमियो को दूसरी बहुत-सी चीज़ो की भी उतनी ही ज़रूरत पडने लगी जितनी खाने की चीज़ो की। इसलिए जब-जब पैदावार के तरीको मे कोई बडा परिवर्तन हुआ, समाज मे भी उसके फलस्वरूप बडा परिवर्तन हुआ। सिर्फ एक उदाहरण देता हूँ। जब कारखानो, रेलो और जहाज़ो को चलाने मे भाप का इस्तेमाल होने लगा तो पैदावार और वितरण के तरीको मे भी बहुत बडा फर्क पड गया। भाप के कारखानो मे चीज़ें इतनी तेजी से बन सकती है कि कारीगर या दस्तकार अपने हाथो से या सादा औज़ारो से उसकी बराबरी कर ही नही सकते। बडी मशीन को असल मे बडा-सा औज़ार समझना चाहिए। रेलो और भाप के जहाज़ो से अनाज और कारखानो मे बनी हुई चीज़ो को दूर देशो तक जल्दी पहुँचाने मे मदद मिलती है। तुम कल्पना कर सकती हो कि इसकी वजह से सारी दुनिया मे कितना परिवर्तन हो गया होगा।

खाने की और दूसरी चीजें पैदा करने के नये और तेज़ तरीके इतिहास मे

समय-समय पर ईजाद होते रहे हैं। इससे तुम जरूर यह खयाल करोगी कि अगर पैदावार के लिए अच्छे-अच्छे तरीके काम मे लाये जाते हैं तो माल भी उतना ही ज्यादा पैदा होता होगा। दुनिया मे धन बढता होगा और हरेक आदमी का हिस्सा भी बढ जाता होगा। तुम्हारा ऐसा खयाल करना कुछ हद तक ठीक होगा और कुछ हद तक गलत। पैदावार के बढिया तरीको ने ससार की दौलत जरूर बढा दी है, लेकिन सवाल यह है कि दौलत बढी तो ससार के कौन-से हिस्से की बढी ? यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि हमारे देश मे अभी तक भी काफी गरीबी और मुसीबत ही है, लेकिन इग्लैण्ड जैसे धनवान् देश मे भी यही हाल है। इसकी क्या वजह है ? दौलत आखिर जाती कहाँ है ? यह अजीब-सी बात है कि दौलत तो दिन-पर-दिन ज्यादा पैदा की जाती रही है, लेकिन गरीब लोग गरीब ही बने हुए हैं। कुछ देशो मे इन ग़रीब लोगो ने थोडी-सी उन्नति की है, लेकिन जो नई दौलत पैदा हो रही है उसके मुकाबले मे यह न-कुछ के बराबर है। बहरहाल हम आसानी से पता लगा सकते हैं कि यह दौलत ज्यादातर किसके पास जाती है। यह उन लोगो के पास जाती है जो आम तौर पर प्रबन्धकर्त्ता या सगठनकर्त्ता होने के नाते इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि हरेक अच्छी चीज़ का बडा भाग इनके पल्ले पडता रहे। और इससे भी ज्यादा आश्चर्य की बात तो यह है कि समाज मे ऐसे वर्ग पैदा हो गये है जो दिखावे तक के लिए कोई काम नही करते, लेकिन फिर भी दूसरो की मेहनत के फल का बडा भाग हडप कर जाते हैं। और क्या तुम इसपर विश्वास करोगी कि इज्जत इन्ही वर्गो की होती है, और कुछ बेवकूफ लोग समझते हैं कि अपनी रोज़ी के लिए मेहनत करना अपमानजनक है। ऐसी उलटी-पलटी दशा है हमारी दुनिया की। फिर क्या ताज्जुब है कि खेत मे मेहनत करनेवाला किसान और कारखाने मे मज़दूरी करनेवाला मज़दूर गरीब है, हालाँकि दुनिया भर के खाद्य पदार्थ और सम्पत्ति ये ही लोग पैदा करते हैं। हम अपने देश की आजादी की बातें करते हैं, लेकिन जब तक इस उलटे-पलटेपन का अन्त नही होता और मेहनत करनेवाले को उसकी मेहनत का फल नही मिलता, इस आज़ादी की क्या कीमत हो सकती है ? राजनीति और शासनकला पर, अर्थशास्त्र और राष्ट्रीय सम्पत्ति के बँटवारे पर बडी मोटी-मोटी पुस्तकें लिखी गई हैं। विद्वान् प्रोफेसर इन विषयो पर व्याख्यान देते रहते हैं। लेकिन इधर तो लोग बातचीत और चर्चाओ मे उलझ रहे है और उधर मेहनत करनेवाले तकलीफें पा रहे है। दो सौ वर्ष हुए वाल्तेयर नाम के एक प्रसिद्ध फ्रान्सीसी ने राजनीतिको और इसी तरह के दूसरे लोगो के बारे मे कहा था—"इन लोगो ने अपनी सुन्दर राजनीति मे यह कला खोज निकाली है कि जो लोग ज़मीन जोतकर दूसरो को ज़िन्दा रखने के साधन पैदा करते हैं, उन्हें भूखो मार दिया जाय।"

फिर भी प्राचीनकाल का मनुष्य उन्नति करता गया और धीरे-धीरे जगली

प्रकृति पर अपना अधिकार जमाने लगा। उसने जंगल काटे, मकान बनाये और जमीन जोती। कहा जाता है कि मनुष्य ने किसी हद तक प्रकृति पर विजय पाई है। लोग प्रकृति को वश मे करने की बातें करते हैं। यह तो बे-सर-पैर की बात है और सही नहीं है। यह कहना ज्यादा सही है कि आदमी ने प्रकृति को समझना शुरू किया और जितना वह उसे समझता जाता है, उतना ही वह उससे सहयोग करने के योग्य बन गया है और उसे अपने हित के लिए उपयोग मे ला सका है। पुराने जमाने मे आदमी प्रकृति से और उसकी विचित्र घटनाओ मे डरता था। इसको समझने के बजाय वह उनकी पूजा करता था और शान्ति के लिए उन पर चढ़ावा चढाता था, मानो प्रकृति कोई जगली जानवर है, जिसे सन्तुष्ट करने और बहलाने की जरूरत हो। इसलिए बादल की गरज, बिजली की कडकडाहट और महामारियाँ उन्हे भयभीत कर देती थीं और वे समझते थे कि ये उत्पात सिर्फ़ पूजा मे ही रुक सकते हैं। बहुत-से सीधे-सादे लोग समझते हैं कि चन्द्रमा या सूर्य का ग्रहण कोई भयकर आफत है। यह समझने की कोशिश करने के बजाय कि यह एक सीधी-सादी प्राकृतिक घटना है, लोग इसके बारे मे फिजूल परेशान होते हैं, और सूरज या चाँद की रक्षा के लिए उपवास व स्नान करते है। लेकिन सूरज और चाँद अपनी रक्षा के लिए काफी समर्थ हैं। हमे उनके बारे मे परेशान होने की कोई जरूरत नही।

हमने सभ्यता और सस्कृति की उन्नति की भी कुछ चर्चा की है, और देखा है कि इसकी शुरुआत उस समय से हुई, जब लोग गाँवो और कस्बो मे रहने के लिए बस गये। खाने का काफी सामान पा जाने की वजह से लोगो को कुछ फुरसत मिल गई और इस तरह खाने और शिकार करने के अलावा उन्हे दूसरी बातो पर भी ध्यान देने का मौका मिल गया। विचार की उन्नति के साथ आमतौर पर कला-कौशल और सस्कृति का भी विकास हुआ। जब आबादी बढने लगी तो लोग पास-पास भी रहने लगे। ये एक-दूसरे से बराबर मिलते-जुलते थे और इनका आपस मे व्यापार-व्यवहार चलने लगा। जब लोग आस-पास रहते हैं तो उन्हे एक-दूसरे का लिहाज भी रखना पडता है। उनके लिए यह जरूरी हो जाता है कि कोई बात ऐसी न करें जो साथियो या पडोसियो को बुरी लगे; वरना सामाजिक जीवन ही असम्भव हो जाय। किसी कुटुम्ब का उदाहरण ले लो। कुटुम्ब समाज का छोटा-सा टुकडा है। इसके व्यक्ति आनन्द से तभी रह सकते हैं, जब कुटुम्ब के सदस्य आपस मे एक-दूसरे का लिहाज रक्खें। आमतौर पर यह कोई मुश्किल बात नही होती, क्योकि कुटुम्ब के लोगो मे प्रेम का बन्धन होता है। फिर भी कभी-कभी हम एक-दूसरे का लिहाज करना भूल जाते हैं और यह प्रकट कर देते हैं कि कुछ भी हो हम अभी तक बहुत सुसस्कृत या सभ्य नही हो पाये हैं। कुटुम्ब से आगे बढकर बडे समुदाय मे भी ठीक यही हाल होता है, चाहे हम अपने पडोसियो

को लें, या अपने शहर के रहनेवालो को, या देशवासियो को या दूसरे देशो के लोगो को। इस तरह आवादी वढ जाने से सामाजिक जीवन वढा, और दूसरो का लिहाज करने और अपने पर सयम रखने की भावना भी वढी। सस्कृति और सम्यता की परिभापा मुश्किल है और मैं इसकी परिभापा करने की कोशिश भी नही करूँगा। लेकिन सस्कृति की परिभापा के भीतर आनवाली अनेक वातो मे अपने ऊपर सयम, और दूसरो की सुविधा का खयाल भी निस्सन्देह एक वात है। अगर किसी आदमी मे सयम नही पाया जाता और वह दूसरो की सुविधा का कोई खयाल नही करता तो हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह आदमी असस्कृत है।

: १४ :

## ईसा के पूर्व छठी सदी और मजहब

२० जनवरी, १९३१

आओ, अव हम इतिहास की लम्वी सडक पर आगे वढे। आज से ढाई हजार वर्ष पहले, यानी दूसरे शव्दो मे, ईसा से क़रीव छ सौ वर्ष पहले तक की एक वडी मजिल हम तय कर चुके हैं। लेकिन यह न समझना कि यह कोई निश्चित तारीख है। मैं तो तुम्हे समय का एक मोटा अन्दाजा दे रहा हूँ। हम देखते हैं कि भारत और चीन से लेकर ईरान और यूनान तक भिन्न-भिन्न देशो मे अनेक महापुरुष, वडे-वडे विचारक और धर्म-प्रवर्तक इसी युग मे मिलते हैं। वे सव विलकुल एक ही समय मे नही हुए, लेकिन उनका समय एक-दूसरे से इतना निकट था कि ईसा से पहले की छठी सदी का यह जमाना एक वडा रोचक युग वन गया है। ऐसा मालूम होता है कि उस समय सारी दुनिया मे विचारो की एक लहर उठ रही थी—लोगो के दिलो मे जमाने की परिस्थिति से असन्तोष और कोई वेहतर चीज प्राप्त करने की आशा व लालसा उमड रही थी। याद रक्खो कि धर्मों के सस्थापक हमेशा किसी वेहतर चीज की खोज मे रहते थे और अपने देश की जनता को सुधारने और ऊचा उठाने और उसकी मुसीवतो को कम करने की कोशिश करते रहते थे। ऐसे लोग हमेशा क्रान्तिकारी रहे हैं और उस समय की वुराइयो पर हमला करने मे जरा भी नही डरे हैं। जहाँ कही पुरानी परम्परा गलत रास्ते पर जाती हुई दिखाई दी, या उसके कारण आगे की उन्नति रुकती हुई मालूम पडी, कि उन्होने निडर होकर उस पर हमला किया और उसे मिटा दिया। और सवसे वडी वात यह है कि उन्होंने उच्च जीवन का एक नमूना पेश किया, जो असख्य लोगो के लिए पीढ़ी-दर-पीढी एक आदर्श और प्रेरणा वन गया।

भारत मे, ईसा से पहले की उस छठी सदी मे, वुद्ध और महावीर पैदा

हुए, चीन मे कनफ्यूशस और लाओ-त्से, ईरान मे जरथुस्त या जोरास्टर, और सामोस के यूनानी टापू मे पाइथागोर। तुमने पहले भी ये नाम सुने होंगे, पर शायद किसी दूसरे सिलसिले मे। स्कूल के साधारण लडके-लडकी पाइथागोर को एक झझटी समझते हैं, जिसने रेखागणित का एक प्रमेय सिद्ध किया, जो अब इन बेचारो को सीखना पडता है। इस प्रमेय का सम्बन्ध एक समकोण त्रिभुज की भुजाओ पर के वर्ग-चतुर्भुजो से है। रेखागणित की किसी भी पुस्तक मे यह प्रमेय मिल सकता है। लेकिन रेखागणित की खोजें करने के अलावा पाइथागोर एक महान् विचारक भी माना जाता है। हमे उसके बारे मे बहुत कम मालूम है। कुछ लोगो को तो शक है कि इस नाम का कोई व्यक्ति हुआ भी था या नही।

ईरान का जरथुस्त जोरास्टर धर्म का सस्थापक कहा जाता है। लेकिन मुझे यह निश्चय नही है कि उसे इस धर्म का सस्थापक कहना कहाँ तक ठीक है। शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसने ईरान के पुराने विचारो और मजहब को नई दिशा की ओर मोडा और उन्हे नया रूप दिया। एक लम्बे अर्से से यह मजहब ईरान से बिलकुल उठ-सा गया है। जो पारसी लोग बहुत वर्ष पहले ईरान से भारत चले आये, वे अपने साथ इस मजहब को भी लेते आये और तब से बराबर उसी को मानते आ रहे हैं।

चीन मे इसी जमाने मे दो महापुरुष हुए—कनफ्यूशस और लाओ-त्से। कनफ्यूशस का नाम ज्यादा सही तरीके से कुग-फू-त्से लिखा जाता है। साधारण अर्थो मे इन दोनो मे से किसी को भी धर्म-सस्थापक नही कह सकते। इन्होंने नीति और सामाजिक व्यवहार के नियम बनाये और यह बताया कि आदमी को क्या करना चाहिए और क्या नही। लेकिन इनकी मृत्यु के बाद चीन मे इनकी यादगार मे बहुत-से मन्दिर बनाये गए और इनके ग्रन्थो का चीनी लोग वैसा ही आदर करते हैं, जैसा हिन्दू वेदो का और ईसाई बाइबिल का। कनफ्यूशस की शिक्षा का एक परिणाम यह हुआ कि उसने चीनियो को ससार मे सबसे ज्यादा विनयशील, पूरे शिष्टाचारी और सुसस्कृत बना दिया।

भारत मे महावीर और बुद्ध हुए। महावीर ने आजकल का प्रचलित जैन धर्म चलाया। इनका असली नाम वर्द्धमान था। महावीर तो उन्हे दी गई महानता की एक पदवी है। जैन लोग ज्यादातर पश्चिमी भारत और काठियावाड मे रहते हैं और आजकल इनकी गिनती हिन्दुओ मे की जाती है। काठियावाड मे और राजस्थान मे आबू पहाड पर इनके बडे सुन्दर मन्दिर पाये जाते हैं। अहिंसा में इनकी बडी श्रद्धा है और ये ऐसे कामो के बिलकुल विरुद्ध हैं जिनसे किसी भी जीव को तकलीफ पहुँचे। हाँ, इसी सिलसिले में तुमको यह जानकर दिलचस्पी होगी

अपनी मुट्ठी मे कर रक्खा था और क्षत्रिय राजाओ की सत्ता को चुनौती देने लगे थे। इस तरह क्षत्रियो और ब्राह्मणो मे सघर्ष चल रहा था। उसी समय बुद्ध एक वहुत वडे लोकप्रिय सुधारक के रूप मे प्रकट हुए और उन्होंने पुरोहितो के इन अत्याचारो पर, और पुराने वैदिक धर्म मे जो बुराइयाँ घुस आई थी उन सव पर, हमला वोल दिया। उन्होंने सदाचारी जीवन विताने और भले काम करने पर जोर दिया और पूजा-पाठ वगैरा का निषेध किया। उन्होने अपने अनुयायी भिक्षु और भिक्षुणियो की सस्था 'वौद्ध-सघ' का भी सगठन किया।

कुछ दिनो तक सम्प्रदाय के रूप मे वौद्ध-धर्म का प्रचार भारत मे वहुत नही हुआ। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि यह कैसे फैला और फिर भारत मे एक अलग सम्प्रदाय के रूप मे यह करीव-करीव मिट-सा गया। जहाँ लका से लेकर चीन तक दूर-दूर के मुल्को मे यह धर्म सर्वोपरि हो गया, वहाँ अपनी जन्मभूमि भारत मे यह फिर ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म मे समा गया। लेकिन ब्राह्मण-धर्म पर इसका वहुत वडा असर पडा और इसने हिन्दू-धर्म मे से वहुत-से अन्ध-विश्वास और पाखण्ड हटा दिये।

आजकल दुनिया मे वौद्ध-धर्म के माननेवालो की सख्या सवसे ज्यादा है। ईसाइयत, इस्लाम और हिन्दू-धर्म भी ऐसे मजहव हैं जिनके माननेवाले दुनिया मे दूसरों से ज्यादा हैं। इनके अलावा यहूदी, सिख, पारसी, वगैरा दूसरे मजहव भी हैं। तमाम मजहवो और उनके सस्थापको ने दुनिया के इतिहास मे वहुत वडा हिस्सा लिया है, इसलिए इतिहास पर गौर करते समय इनकी उपेक्षा नही की जा सकती। लेकिन मजहवो के बारे मे लिखने मे मुझे कुछ दिक्कत होती है। इसमे शक नही कि वडे-वडे मजहवो के सस्थापक दुनिया के महान्-से-महान् और ऊँचे-से-ऊँचे व्यक्ति हुए हैं। लेकिन उनके शिष्य और वाद के अनुयायी न तो महान् ही निकले और न नेक ही। इतिहास मे हम अक्सर देखते हैं जिस धर्म का उद्देश्य हमे ऊँचा उठाना और वेहतर और नेक बनाना है, उसी ने लोगो से जानवरो जैसा व्यवहार कराया है। लोगो मे ज्ञान की रोशनी फैलाने के वजाय धर्म ने उन्हें अक्सर अँधेरे मे रखने की कोशिश की, उदार-हृदय बनाने के वजाय अक्सर लोगो को तग दिल और दूसरो के प्रति असहिष्णु बना दिया। धर्म की खातिर वडे-वडे महान् और शानदार काम किये गए हैं, लेकिन धर्म के ही नाम पर लाखो हत्याएँ हुई हैं और हर तरह के सम्भव कुकर्म भी किये गए हैं।

ऐसी हालत मे यह सवाल उठता है कि धर्म के मामले मे कोई क्या रुख अपनाये? कुछ लोगो के लिए धर्म का मतलव है परलोक, फिर उसे स्वर्ग, वैकुण्ठ या बहिश्त चाहे जो कुछ कहा जाय। स्वर्ग मे जाने की लालसा से लोग धर्म का पालन करते हैं या कुछ दूसरी बातें करते हैं। यह देखकर मुझे ऐसे वालक का खयाल

आता है जो इनाम मे जलेबी पाने के लालच से ऊधम नही मचाता। अगर कोई बच्चा हमेशा जलेबी की ही बात सोचा करे, तो तुम यह कभी न मानोगी कि उसकी शिक्षा ठीक ढग से हुई है। और उन लडको या लडकियोको तो तुम और भी कम पसन्द करोगी जो जलेबी की खातिर सब कुछ करें। तब फिर हम ऐसे बडे-बूढो के बारे मे क्या कहे, जो इस तरह सोचते और काम करते हैं? क्योकि आखिर जलेबी और स्वर्ग के खयाल मे कोई खास फर्क नही है। हम सब थोडे-बहुत स्वार्थी होते हैं, लेकिन फिर भी हम अपने बच्चो को ऐसी शिक्षा देने की कोशिश करते हैं कि वे जह तक हो सके निस्वार्थ बनें। कुछ भी हो, हमारे आदर्श बिलकुल स्वार्थ-हीन होने चाहिए ताकि हम अपने जीवन मे उन तक पहुँचने की कोशिश करते रहे।

हम सब सफलता चाहते हैं और अपने कर्मो का फल देखना चाहते हैं। यह स्वाभाविक ही है। लेकिन हमारा लक्ष्य क्या है? क्या हमे सिर्फ अपनी ही फिक्र करनी चाहिए, या सार्वजनिक हित की—यानी देश, समाज और मनुष्य-जाति की भलाई की? आखिर इस सार्वजनिक हित मे ही हमारी अपनी भलाई भी शामिल है। मेरा खयाल है कि कुछ दिन हुए मैंने अपने एक पत्र मे सस्कृत के एक श्लोक का जिक्र किया था। इसका मतलब यह था कि व्यक्ति को कुटुम्ब के लिए, कुटुम्ब को जाति के लिए और जाति को देश के लिए कुर्बान कर देना चाहिए। यहां मैं सस्कृत के एक और श्लोक का भी अर्थ तुमको बताना चाहता हूँ, जो भागवत मे आया है। उसका अर्थ यह है—

> "मुझे न तो अष्टसिद्धियो[1] के साथ स्वर्ग की इच्छा है और न जन्म और मृत्यु से छुटकारा पाकर मोक्ष पाने की ही कामना है। मेरी इच्छा तो यह है कि दु खी जनो के दिलो मे पैठ जाऊँ और उनका दु ख-दर्द अपने ऊपर ले लूं, जिससे वे पीडा से मुक्त हो जायँ।"[2]

---

[1] सिद्धियाँ—आठ प्रकार की होती हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

[2] इस सम्बन्ध में भागवत के ये श्लोक ध्यान में रखने योग्य हैं—

कोनु सस्य दुपायोऽत्र येनाहम् दु खितात्मनाम्
अन्त प्रविश्य भूताना भवेय दु खभाक् सदा।
अपहृत्यार्त्तिमार्तानाम् सुख यदुपजायते
तस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा कला नार्हति षोडशीम्। —च्यवन ऋषि

× × ×

नत्वह कामये राज्य न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दु खतप्ताः म् प्राणिनामार्तिनाशनम्। —रन्तिदेव

एक मज़हबवाला एक बात कहता है, दूसरे मज़हबवाला दूसरी। और बहुत करके हरेक दूसरे को मूर्ख या धूर्त समझता है। इनमे सच्चा कौन है? चूंकि ये लोग ऐसी चीज़ो की बात करते हैं, जो न आँख से देखी जा सकती हैं और न सिद्ध की जा सकती हैं, इसलिए दलीलो से ऐसे मामलो को तय करना मुश्किल हो जाता है। दोनो के लिए यह हिमाकत मालूम होती है कि ऐसे मामलो पर पक्की बातें करें और उनपर एक-दूसरे का सिर फोडें। हममे से ज्यादातर तग विचारो के होते है और ज्यादा बुद्धिमान् नही होते। तब हम यह सोचने का साहस कैसे कर सकते हैं कि हमे सारे सत्य का ज्ञान है और उसे हम अपने पडौसी के गले मे जबर्दस्ती उतार सकते हैं? सम्भव है कि हम सचाई पर हो, और यह भी सम्भव है कि हमारा पडौसी भी सचाई पर हो। अगर तुम किसी पेड पर एक फूल देखो, तो उस फूल को तो पेड नही कहोगी। उसी तरह दूसरे आदमी ने उस दूसरे पेड की पत्तियाँ ही देखी और तीसरे ने सिर्फ उसका तना ही देखा, तो हरेक ने उस पेड का सिर्फ एक-एक हिस्सा ही देखा है। लेकिन उनमे से हरेक के लिए यह कितनी बेवकूफी की बात होगी, कि वह यह दावा करने लगे कि सिर्फ फूल, पत्ती या तना ही पेड है, और इसी बात पर लडने लगें!

मुझे तो परलोक मे कोई दिलचस्पी नही है। मेरा दिमाग तो इन बातो से भरा हुआ है कि मैं इस दुनिया मे क्या करूँ। और अगर इसमे मुझे अपना रास्ता साफ दिखाई दे जाय तो मेरे लिए काफी है। अगर इस लोक मे मुझे अपना कर्त्तव्य साफ-साफ दीख जाता है, तो मुझे किसी दूसरे लोक की बिलकुल चिन्ता नही है।

ज्यो-ज्यो तुम बडी होती जाओगी, तुम्हें हर तरह के लोग मिलेंगे, धर्मात्मा लोग, धर्म का विरोध करनेवाले लोग और ऐसे लोग जिन्हे न धर्म की परवाह है और न अधर्म की। बडे-बडे गिरजे और धार्मिक सस्थाएँ पडी हैं, जिनके पास बहुत धन और शक्ति है? वे उनका कभी अच्छा उपयोग करते हैं और कभी बुरा। तुम्हे बहुत नेक और उदार व्यक्ति मिलेंगे जो धर्मात्मा हैं और ऐसे धूर्त और बदमाश मिलेंगे जो धर्म की आड मे लोगो को लूटते हैं और धोखा देते हैं। तुम्हें इन सब बातो पर खुद सोचना होगा और अपने लिए खुद ही निर्णय करना होगा। आदमी दूसरो से बहुत-कुछ सीख सकता है, लेकिन हर जरूरी बात उसे अपनी ही खोज और अपने ही अनुभव से प्राप्त करनी पडती है। कुछ सवाल ऐसे हैं जिनके उत्तर हर स्त्री-पुरुष को खुद अपने ही आप तलाश करने पडते हैं।

लेकिन निर्णय करने मे जल्दबाजी नही करनी चाहिए। किसी भी बडे या महत्वपूर्ण निश्चय पर पहुँचने से पहले तुम्हे अपने-आपको अभ्यास और शिक्षा के जरिये इस योग्य बनाना होगा। यह ठीक है कि आदमी को खुद ही सोचना चाहिए और निश्चय करना चाहिए, लेकिन इसके लिए उसमे उतनी ही योग्यता भी

होनी चाहिए। तुम किसी दुधमुंहे बच्चे से किसी बात का निर्णय करने के लिए कभी नही कहोगी। इसी तरह बहुत-से आदमी ऐसे है जो उम्र मे तो बडे हो गये हैं, लेकिन जहां तक उनके मानसिक विकास का सवाल है वे करीब-करीब दुधमुंहे बच्चो के समान है।

मेरा पत्र आज साधारण से कुछ ज्यादा लम्बा हो गया। सम्भव है, तुम्हे यह नीरस लगे। लेकिन इस विषय मे मैं कुछ कहना ही चाहता था। अगर आज कोई बात तुम्हारी समझ मे न आये तो कोई बात नही, जल्दी ही तुम सब बातें समझने लगोगी।

१५

## ईरान और यूनान

२१ जनवरी, १९३१

आज तुम्हारा पत्र आया और यह जानकर खुशी हुई कि मम्मी और तुम अच्छी तरह हो। मैं मनाता हूं कि दादू का बुखार उतर जाय और उनकी परेशानियां दूर हो जायें। उन्होंने सारी जिन्दगी बहुत कडी मेहनत की है और आज भी उन्हे आराम और शान्ति नही मिल पाती है।

मालूम होता है, तुमने पुस्तकालय से लेकर कई पुस्तके पढ डाली हैं और चाहती हो कि मैं दो-चार नाम और सुझा दूं। लेकिन तुमने यह नही बताया कि तुमने कौन-कौन-सी पुस्तकें पढी हैं। पढने की आदत बहुत अच्छी है, लेकिन जो लोग बहुत-सी पुस्तकें जल्द-जल्द पढ डालते हैं उन्हे मैं जरा सन्देह की नजर से देखता हूं। मुझे शक होने लगता है कि ये लोग पुस्तकें ठीक तौर से नही पढते। सिर्फ उन पर सरसरी नजर डाल जाते हैं और फिर दूसरे दिन सब कुछ भूल जाते हैं। अगर कोई पुस्तक पढने के योग्य है तो उसे सावधानी से और अच्छी तरह पूरी-पूरी पढनी चाहिए। लेकिन बहुत-सी पुस्तकें ऐसी हैं जो पढ़ने के लायक ही नही हैं। अच्छी पुस्तकों का चुनना कोई आसान काम नही है। तुम कह सकती हो कि तुमने जब हमारी अपनी लाइब्रेरी से पुस्तके चुनी हैं तो वे जरूर अच्छी होंगी, वरना हम उन्हे मँगाते ही क्यो? खैर, अभी तो पढती रहो। नैनी-जेल से जो कुछ मदद मैं कर सकता हूं, करता रहूंगा। कभी-कभी मैं यह सोचता हूं कि तुम्हारा शारीरिक और मानसिक विकास कितनी तेजी के साथ हो रहा है। मेरी कितनी इच्छा है कि मैं तुम्हारे पास होता! शायद जबतक ये चिट्ठियां तुम्हारे पास तक पहुंचेंगी, तुम इतनी आगे बढ जाओगी कि तुम्हे इनकी जरूरत ही न रहे। मैं समझता हूं कि उस वक्त तक चांद[1] इनको पढने के योग्य हो जायगी और इस

[1] इन्दिरा की छोटी फुफेरी बहन चन्द्रलेखा पण्डित।

ईरानी और यूनानी राज्य

( दारा के साम्राज्य की सीमा )

तरह कोई-न-कोई तो ऐसा रहेगा ही जो इनकी कद्र करे।

आओ, अब हम प्राचीन ईरान और यूनान को लौट चलें और थोडी देर के लिए उनकी आपस की लडाइयो पर विचार करें। अपने पिछले एक पत्र मे हमने यूनान के नगर-राज्यो और ईरान के उस बडे साम्राज्य का ज़िक्र किया था, जिसके सम्राट् दारा को यूनानी लोग दारयवहु (डेरियस) कहते हैं। दारा का यह साम्राज्य बहुत बडा था—खाली विस्तार मे ही नही बल्कि सगठन मे भी। ठेठ एशिया कोचक से लगाकर सिन्ध नदी तक यह फैला हुआ था। मिस्र और एशिया कोचक के कुछ यूनानी शहर भी इसमे शामिल थे। इस लम्बे-चौडे साम्राज्य मे एक छोर से दूसरे छोर तक अच्छी-अच्छी सडकें बनी हुई थी, जिनपर शाही डाक बराबर चलती रहती थी। दारा ने किसी-न-किसी वजह से यूनान के नगर-राज्यो को जीतने का निश्चय किया और इस महायुद्ध की कई लडाइयाँ इतिहास मे बहुत प्रसिद्ध हैं। इन लडाइयो का जो कुछ वर्णन हमे मिलता है, वह यूनान के इतिहास-लेखक हिरोदोत का लिखा हुआ है। वह इन घटनाओ के थोडे ही दिन बाद पैदा हुआ था। उसने यूनानियो के साथ पक्षपात जरूर किया है, लेकिन उसका विवरण बहुत दिलचस्प है और इन पत्रो मे मैं तुम्हारे लिए उसके लिखे इतिहास के कुछ हिस्से ज़रूर देना चाहूँगा।

यूनान पर ईरानियो का पहला हमला असफल रहा, क्योकि ईरानियो की फौज को, कूच के रास्ते मे बीमारी और रसद की कमी की वजह से बहुत-सी मुसीबते उठानी पडी। वह यूनान तक पहुँच भी न सकी और उसे वापस लौट आना पडा। इसके बाद ईसा से ४९० वर्ष पहले ईरानियो का दूसरा हमला हुआ। इस बार ईरानी सेना खुश्की का रास्ता छोडकर समुद्री रास्ते से आई और एथेन्स के नज़दीक मैरैथन पर उसने अपना लगर डाल दिया। एथेन्स के निवासी इससे बहुत घबरा गये, क्योकि ईरानी साम्राज्य की ताकत उन दिनो बहुत ज्यादा बढी-चढी थी। उन्होंने डरकर अपने पुराने दुश्मन स्पार्तावालो से सुलह करनी चाही और दोनो के दुश्मन के विरुद्ध उनसे मदद माँगी। लेकिन स्पार्तावालो के पहुँचने के पहले ही एथेन्सवालो ने ईरानी सेना को मार भगाया। यही मैरैथन की प्रसिद्ध लडाई है जो कि ईसा से ४९० वर्ष पहले हुई थी।

यह एक अजीब-सी बात मालूम होती है कि एक छोटा-सा यूनानी नगर-राज्य एक बडे साम्राज्य की सेना को हरा दे। लेकिन यह जितनी आश्चर्यजनक मालूम पडती है उतनी है नही। यूनानी लोग जह अपने घर के निकट अपने वतन के लिए लड रहे थे, वहाँ ईरानी सेना अपने वतन से बहुत दूर थी और फिर वह साम्राज्य-भर के दूर-दूर के हिस्सो के सैनिको से बनी हुई थी। वे लोग लडते ज़रूर थे, लेकिन इसलिए कि उन्हे तनख्वाहे मिलती थी। यूनान को जीतने मे उनको

कोई खास दिलचस्पी नही थी। दूसरी तरफ एथेन्सवाले अपनी आजादी के लिए लड रहे थे। उन्हे अपनी आजादी खो देने से मर जाना कही ज्यादा पसन्द था। और जो लोग किसी उद्देश्य के लिए मरने को तैयार रहते हैं, वे शायद ही कभी हराये जा सकते है।

इस तरह दारा मैरेथन मे हार गया। इसके बाद ईरान पहुँचने पर वह मर गया और उसकी जगह अहस्युर तख्त पर बैठा। उसे भी यूनान फतह करने की धुन सवार थी और उसने वह भेजने के लिए एक सेना तैयार की। यहाँ मैं तुम्हें हिरोदोत का बयान किया हुआ दिलचस्प हाल सुनाऊँगा।

अर्तवानुस अहस्युर का चाचा था। उसका खयाल था कि ईरानी सेना को यूनान ले जाने मे खतरा है, इसलिए उसने अपने भतीजे अहस्युर को यह समझाने की कोशिश की कि वह यूनान मे लडाई न छेडे। हिरोदोत का कहना है कि अहस्युर ने उसे नीचे लिखा जवाब दिया—

"जो कुछ आप कहते हैं उसमे कुछ सच्चाई तो है, लेकिन आपको हर जगह खतरे का डर न करना चाहिए और न हरेक जोखिम का खयाल ही करना चाहिए। अगर हर हालत मे आप हरेक बात को एक ही तराजू से तौलेंगे तो कुछ भी न कर पावेंगे। भावी आशकाओ मे डूबे रहने और कभी कोई तकलीफ न उठाने के बजाय आशावादी होकर आधी आपदाओ को सह लेना कही अच्छा है। आप पेश की गई हर तजवीज पर एतराज तो करेंगे, लेकिन यह न बतलायेंगे कि कौन-सा रास्ता अपनाना चाहिए, तो आपको उतना ही ज्यादा नुकसान उठाना होगा, जितना कि उन लोगो को, जिनका आप विरोध कर रहे हैं। तराजू के दोनो पल्डे बराबर है। कोई मानव निश्चयपूर्वक यह कैसे जान सकता है कि कौन-सा पलडा झुकेगा? वह नही जान सकता। लेकिन सफलता आमतौर पर उन्हीं लोगो के साथ रहती है जो कुछ कर दिखाना चाहते है; उनके साथ नही जो डरपोक होते हैं और हर बात को तौलते है। ईरान की सल्तनत कितनी बडी और ताकतवर हो गई है यह आप देखते हैं। अगर राजगद्दी पर मेरे पूर्वाधिकारी आप ही की राय के होते या उस राय को न मानते हुए भी आप जैसे उनके सलाहकार होते, तो आज हमारी सल्तनत को आप इतनी बढी-चढी कभी न देख पाते। जोखिमे उठाकर ही उन लोगो ने हम लोगो को आज यह शान बना दी है। बडी चीज बडे खतरे उठाकर ही हासिल की जा सकती है।"

मैंने यह लम्बा उद्धरण इसलिए दिया है कि उससे इस ईरानी बादशाह का चरित्र जितना स्पष्ट हमारे सामने आ जाता है, उतना किसी दूसरे वर्णन से नही। लेकिन बाद की घटनाओ ने अर्तवानुस की सलाह ठीक सिद्ध कर दी और ईरानी सेना यूनान मे हार गई। अहस्युर हार जरूर गया, लेकिन उसके शब्दो मे जो

सेवा की। उन्होंने ईरानियों की फौज को रोक दिया और यूनान की बाकी सेना पीछे हटती गई। इस तंग घाटी में एक के बाद दूसरा योद्धा काम आता था, लेकिन जैसे ही एक मरता कि दूसरा उसकी जगह ले लेता था। इस तरह ईरानी सेना आगे नहीं बढ़ सकी। लियोनीद और उसके तीन सौ साथी जब एक-एक करके थर्मापोली में काम आ चुके तब कहीं ईरानी सेना आगे बढ़ पाई। यह बात ईसा के ४८० वर्ष पूर्व की है। यानी आज से २४१० वर्ष पहले की। मगर आज भी इन लोगों के अदम्य साहस की याद से हृदय में बिजली की-सी लहर दौड़ जाती है। आज भी थर्मापोली की यात्रा करनेवाले डबडबाती हुई आँखों से लियोनीद और उसके साथियों के सन्देश को पत्थर पर खुदा हुआ पढ़ सकते हैं। सन्देश यह है—

"ओ राहगीर! स्पार्ता को जाकर बताना कि उसकी आज्ञा का पालन करनेवाले हम लोगों ने यहाँ अपने प्राण दे दिये।"[1]

मौत पर विजय पानेवाली हिम्मत अद्भुत होती है! लियोनीद और थर्मापोली अमर हो गये, और उससे दूर भारत में भी जब हम लोग इनकी याद करते हैं तो रोमांच हो आता है। तब फिर यह कहना कठिन है कि हमारी भावनाएँ अपने उन देशवासियों, अपने पूर्वजों यानी भारत के उन नर-नारियों के प्रति क्या हैं जिनसे हमारा लम्बा इतिहास भरा पड़ा है कि जिन्होंने मुस्कराते हुए मौत का सामना किया और उसकी खिल्ली उड़ाई, मौत को अपमान और गुलामी से ज्यादा अच्छा समझा और जुल्म के सामने सिर झुकाने के बजाय उसको मिटाने के प्रयत्न में मर जाना ज्यादा अच्छा माना। चित्तौड़ और उसकी अनुपम कहानी का, राजपूत वीरों और वीरांगनाओं की आश्चर्यजनक बहादुरी का ज़रा विचार तो करो! फिर आजकल के ज़माने पर भी नज़र डालो और हमारे उन साथियों का विचार करो जिनका खून हमारे खून की ही तरह गर्म है और जिन्होंने भारत की आज़ादी के लिए मौत का सामना करने से भी मुँह नहीं मोड़ा है।

थर्मापोली ने ईरानी सेना को थोड़ी देर के लिए रोक जरूर लिया, लेकिन बहुत दिन तक नहीं। यूनानी लोग ईरानी सेना के मुकाबले में पीछे हटते गये और कुछ यूनानी शहरों ने उनके आगे हथियार भी डाल दिये? लेकिन गर्वीले एथेन्स-वासियों ने आत्म-समर्पण के बजाय यह ठीक समझा कि अपने प्यारे शहर को बरबाद होने के लिए छोड़कर वहाँ से चले जायँ। इसलिए सारी जनता शहर को खाली करके चली गई और ज्यादातर लोग जहाज़ों में बैठकर गये। ईरानी लोगों ने इस उजड़े हुए नगर में घुस कर उसे आग लगा दी। मगर यूनानी जल-सेना

---

[1] "Go tell to Sparta thou that passest by,
That here obedient to their words we lie"

अभी तक हारी नही थी। इसलिए 'सैलेमिस'[1] टापू के पास बहुत बडी लडाई हुई। ईरानी जहाज़ नष्ट कर दिये गए और इस तबाही से बिलकुल हिम्मत हारकर अहस्यूर ईरान वापस लौट गया।

ईरान इसके बाद भी कुछ दिनो तक एक बडा साम्राज्य बना रहा। लेकिन मैरेथन और सैलेमिस की लडाई के बाद उसके पतन की शुरुआत हो गई थी। यह कैसे नष्ट हुआ, इस पर हम फिर विचार करेंगे। उस ज़माने मे जो लोग रहे होंगे, उन्हें इस बडे साम्राज्य को लडखडाकर गिरते देखकर ज़रूर ताज्जुब हुआ होगा। हिरोदोत ने इस पर विचार किया और उससे एक नसीहत निकाली। उसका कहना है कि किसी भी राष्ट्र के इतिहास की तीन मंजिलें होती हैं पहले सफलता; फिर उस सफलता के फलस्वरूप अन्याय और उद्दण्डता, और अन्त मे इन बुराइयो के फलस्वरूप पतन।

: १६ :

# यूनान का वैभव

२३ जनवरी, १९३१

ईरानियो पर यूनानियो की विजय के दो परिणाम हुए। ईरानी साम्राज्य धीरे-धीरे गिरने लगा और कमज़ोर होता गया। दूसरी तरफ यूनानी लोगो ने अपने इतिहास के शानदार युग मे कदम रक्खा। राष्ट्र के जीवन मे यह शान बहुत थोडे दिन तक ही रही। कुल मिलाकर २०० वर्ष से ज्यादा नही ठहरी। उसका यह वैभव ईरान के या उसके पहले के दूसरे विशाल साम्राज्यो के जैसी नही था। बाद मे महान् सिकन्दर पैदा हुआ और उसने कुछ दिनो के लिए अपनी देश-विजयो से दुनिया को आश्चर्य मे डाल दिया। लेकिन इस समय हम उसकी चर्चा नही कर रहे हैं। हम तो ईरान की लडाइयो और सिकन्दर के आगमन के बीच के ज़माने का ज़िक्र कर रहे है—उस जमाने का, जो थर्मापोली और सैलेमिस के बाद १५० वर्ष तक रहा।

ईरान के खतरे ने सारे यूनानियो को एक कर दिया था। लेकिन जब यह खतरा हट गया तो उनमे फिर फूट पैदा हो गई और ६ कुछ ही दिनो बाद आपस मे झगडने लगे। खासकर एथेन्स और स्पार्टा के नगर-राज्य एक-दूसरे के घोर प्रतिद्वन्द्वी थे। लेकिन हम उनके झगडो की चर्चा की झंझट मे नही · डेंगे। उनका

---

[1] सैलेमिस—यूनान का प्रसिद्ध टापू। ५८० ई० पूर्व मे इसके पास यूनानी और ईरानी जल-सेना की प्रसिद्ध लड़ाई हुई थी।

कोई महत्व नही है। हम सिर्फ इसलिए उनकी याद करते हैं कि उन दिनो दूसरी बातो मे यूनान की महानता बहुत बढी-चढी थी।

यूनान के उस ज़माने से सम्बन्ध रखनेवाली सिर्फ थोडी-सी पुस्तकें, कुछ मूर्तियाँ और कुछ खण्डहर ही अब हमे मिलते हैं। लेकिन ये थोडी-सी चीजें भी ऐसी हैं कि उन्हें देखकर हमारा दिल प्रशसा से भर जाता है और यूनानी लोगो की अनेकागी महानता पर हम ताज्जुब करने लगते हैं। इन सुन्दर मूर्तियो और इमारतो को बनानेवाले इनके दिमाग कितने धनी और हाथ कितने कुशल रहे होंगे। फीदियास उस ज़माने का मशहूर मूर्त्तिकार था, लेकिन मशहूर और भी बहुत-से थे। इनके दुःखान्त और सुखान्त नाटक, अभी तक इस ढग के सबसे उत्तम नाटको मे गिने जाते हैं। इस वक्त तो तुम्हारे लिए सोफोक्ले,[1] एस्किल,[2] यूरिपिदे,[3] एरिस्तोफेन,[4] मैनेन्दर,[5] पिन्दार,[6]

---

[1] सोफोक्ले—यूनान का प्रसिद्ध दुःखान्त नाटककार और कवि। इसका समय ४९५ से ४०५ ई० पू० है। ४६८ ई० पू० मे इसने अपने प्रतिद्वन्द्वी एस्किल को हराकर इनाम पाया। तब से ४९१ ई० पू० तक वह यूनान का कवि-सम्राट् रहा।

[2] एस्किल—एक प्रसिद्ध यूनानी नाटककार। इसका जन्म ईसा से ५२५ साल पहले हुआ था। मैरॅथन, सैलेमिस और लिटिपो की लड़ाइयो मे इसने हिस्सा लिया और दो बार इसे अपने दो नाटको पर, दु खान्त नाटक पर दिया जानेवाला सर्वोत्तम पुरस्कार मिला। कहा जाता है कि इसने कुल ७० दु खान्त नाटक लिखे, जिनमें ७ अब भी मौजूद हैं। करीब ७० बरस की उम्र मे उसकी मृत्यु हुई।

[3] यूरिपिदे—यूनान का प्रसिद्ध दुःखान्त नाटककार और कवि। इसका जन्म ईसा से ४८० वर्ष पूर्व हुआ था। यह नाटको में आदर्श के बजाय वास्तविकता के वर्णन पर ज़ोर देता था। इसे अपने नाटको पर इनाम मिला था। इसकी कविता बडी अच्छी है। यह उस समय के धर्म का मजाक उडाया करता था।

[4] एरिस्तोफेन—यह एथेन्स का प्रसिद्ध हँसोड़ कवि और नाटककार था। इसका समय क़रीब ४४५ से ३८० ईसा से पहले तक का है। इसके सुखान्त नाटकों से उस ज़माने की बहुत-सी बातो का पता चलता है और इसके शाब्दिक व्यंग चित्रो से उस समय के प्रधान व्यक्तियो का व्यक्तित्व आँखो के सामने खिच जाता है।

[5] मैनेन्दर—यूनान के एथेन्स नगर-राज्य का सुखान्त नाटकों का प्रसिद्ध नाटककार और कवि। ई० पू० ३४२ मे इसका जन्म हुआ और २९१ ई० पू० में पाइरियस के बन्दरगाह के पास के समुद्र में तैरता हुआ डूब गया।

[6] पिन्दार—यूनान के गीत-काव्य का सर्वोत्तम कवि। क़रीब ई० पू० ५५२

सैफ़ो,[1] और कुछ दूसरो के सिर्फ नाम ही दिये जा सकते है। लेकिन बडी होने पर तुम उनकी रचनाएँ पढोगी और मुझे आशा है कि तब तुम उस वैभव का, जो उस समय यूनान का था, कुछ अन्दाज़ लगा सकोगी।

यूनानी इतिहास का यह काल हमे यह चेतावनी देता है कि किसी देश के इतिहास को हमे किस तरह पढना चाहिए। अगर हम यूनानी राज्यो मे होनेवाली टुच्ची लडाइयो और ओछेपन की दूसरी बातो पर ही ध्यान देते रहें तो हमे यूनानियो के बारे मे क्या मालूम हो सकता है? अगर हम उनको समझना चाहते हैं, तो हमे उनके विचारो की तह तक पहुँचना पडेगा और समझना होगा कि वे क्या महसूस करते थे और उन्होने क्या-क्या किया है? असली महत्व की चीज तो किसी देश का आन्तरिक इतिहास होता है और यही वह चीज़ है, जिसने मौजूदा यूरोप को बहुत-सी बातो मे पुरानी यूनानी सस्कृति की सन्तान बना दिया है।

यह बात भी अजीब और दिल को लुभानेवाली है कि किस तरह राष्ट्रो की ज़िन्दगी मे ऐसे शानदार युग आते हैं और चले जाते हैं। थोडी देर के लिए वे हरेक चीज़ को चमका देते हैं और उस ज़माने और उस देश के पुरुषो और स्त्रियो मे कलापूर्ण वस्तुएँ रचने की योग्यता पैदा कर देते हैं। लोगो मे नई प्रेरणा-सी दिखाई देने लगती है। हमारे देश मे भी ऐसे युग हुए हैं। हमारे यहाँ इस तरह का सबसे पुराना युग, हमारी जानकारी मे वह था, जब वेदो, उपनिषदो और दूसरे ग्रन्थो की रचना हुई। दुर्भाग्य से हमारे पास उस प्राचीन काल का कोई लिखित इतिहास नही है। सम्भव है, बहुत-सी सुन्दर और महान् रचनाएँ नष्ट हो गई हों या खोजकर निकाले जाने की राह देख रही हो। लेकिन फिर भी हमारे पास यह बतलाने-योग्य काफी सामग्री है, कि उस पुराने ज़माने के भारतवासी बुद्धि और विचार के कितने धनी थे। बाद के भारतीय इतिहास मे भी ऐसे ही शानदार युग पाये जाते हैं और सम्भव है युग-युगान्तर मे घूमते-घामते हमारी इनसे भी भेंट हो जाय।

एथेन्स उस ज़माने मे खास तौर से मशहूर हो गया था। उसका नेता एक महान् राजनीतिज्ञ था। इसका नाम पैरिक्ले था और यह ३० वर्ष तक एथेन्स मे हुकूमत करता रहा। उस ज़माने मे एथेन्स बहुत शानदार शहर बन गया था। सुन्दर-सुन्दर इमारतो से वह भरपूर था और बडे-बडे कलाकार और विचारक

मे इसका जन्म हुआ था। यूनानी राष्ट्रो और राजाओं में इसकी कविता की बडी माँग रहती थी। इसकी इर्पिस्सिया नामक कविता ही अब बाक़ी बची है, जो चार जिल्दो में है।

[1]सैफ़ो—यूनान की प्रसिद्ध कवियित्री। यह ई० पू० ५८० मे हुई। कविता, फ़ैशन और प्रेम की यह अपने समय की रानी थी।

वहाँ रहते थे। आज भी वह पैरिक्ले का एथेन्स कहा जाता है और हम 'पैरिक युग' की बात किया करते हैं।

हमारे इतिहासकार मित्र हिरोदोत ने, जो इन्ही दिनो एथेन्स मे रहता था, एथेन्स की इस उन्नति पर ग़ौर किया था और चूंकि उसे नसीहत देने का शौक़ था, इसलिए उसने इसमे से एक नसीहत निकाली। अपने इतिहास में वह लिखता है—

"एथेन्स की शक्ति बढी और यह इस बात का प्रमाण है—और ऐसे प्रमाण सब जगह मिल सकते हैं—कि स्वतन्त्रता एक अच्छी चीज़ है। जवतक एथेन्स-वासियो पर निरकुश शासन होता था, वे युद्ध मे अपने किसी भी पडौसी को मात नही दे सके। लेकिन जब उन्होंने अपने यहाँ के निरकुश शासक को खत्म कर डाला, तव उन्होंने अपने पडौसियो को मात दे दी। इससे जाहिर होता है कि अधीनता मे वे मन लगाकर कोशिश नही करते थे, वल्कि मालिक का काम करते थे। लेकिन जब वे आजाद हो गये तो हरेक व्यक्ति अपने-आप वडी लगन के साथ भरसक काम करने लगा।"

मैंने उस समय के कुछ महान् व्यक्तियो के नाम गिनाये हैं। लेकिन मैंने अभी तक वह नाम नही बताया, जो उस युग के ही नही, बल्कि किसी भी युग के सबसे महान् व्यक्तियो की गिनती मे आता है। उसका नाम है सुकरात[1]। यह तत्वज्ञानी था और हमेशा सत्य की खोज मे लगा रहता था। उसके लिए सच्चा ज्ञान ही ऐसी चीज थी, जिसे वह प्राप्त करने योग्य समझता था। वह अपने मित्रो और जान-पहचान के लोगो से अक्सर कठिन समस्याओ पर चर्चाएँ किया करता था, ताकि वाद-विवाद मे शायद कोई सचाई निकल आये। उसके कई शिष्य थे, जिनमे सबसे बडा अफ़लातून[2] था। अफ़लातून ने कई ग्रन्थ लिखे हैं, जो आज

---

[1] सुकरात—इसे सॉक्रेटीज भी कहते हैं। यह यूनान देश के एथेन्स नगर-राज्य का मशहूर वेदान्ती था। इसका जन्म ई० पू० ४७९ में हुआ था। ई० पू० ३९९ में उसपर नौजवानों को विगाड़ने और दूसरे देवताओं मे विश्वास करने का जुर्म लगाया गया। लेकिन यह तो बहाना था, असली कारण तो राजनीतिक था। उसे मौत की सजा दी गई, और जहर का प्याला उसके पास भेजा गया, जिसे वह खुशी से पी गया। आखिरी दम तक वह अफलातून और अपने दूसरे शिष्यों से आत्मा की अमरता की चर्चा करता रहा। वह बडा विद्वान् था।

[2] अफलातून या प्लेटो—सुकरात का भक्त और शिष्य था। वह ई० पू० ४२७ मे पैदा हुआ था और ई० पू० ३४७ मे मर गया। उसने एथेन्स मे एक विद्यालय स्थापित किया था जहाँ दर्शन और अध्यात्म की शिक्षा दी जाती थी। उसने राजनीति पर कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'रिपब्लिक' बहुत प्रसिद्ध है।

भी मिलते हैं। इन्ही ग्रन्थो से हमे उसके गुरु सुकरात का बहुत-कुछ हाल मालूम होता है। यह तो साफ है कि सरकारें ऐसे आदमियो को पसन्द नही किया करती, जो हमेशा नई-नई खोजो मे लगे रहते हो—वे सत्य की तलाश पसन्द नही करती। एथेन्स की सरकार को—यह पैरिक्ले के ज़माने मे थोडे दिन बाद की बात है—सुकरात का रग-ढग पसन्द नही आया। उसने सुकरात पर मुकदमा चलाया और उसे मौत की सज़ा दे दी गई। सरकार ने उससे कहा कि अगर वह लोगो से वाद-विवाद करना छोड दे और अपना तरीक़ा बदल दे तो उसे छोड दिया जायगा। लेकिन सुकरात ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और जिस बात को अपना कर्त्तव्य समझता था, उसे छोडने के बजाय उसने ज़हर के प्याले को अच्छा समझा, जिसे पीकर वह मर गया। मरते समय उसने अपने ऊपर अभियोग लगानेवालो, न्यायाधीशो और एथेन्सवासियो को सम्बोधित करते हुए कहा—

"अगर आप लोग मुझे इस शर्त पर रिहा करना चाहते हो कि मैं सत्य की अपनी खोज को छोड दूँ, तो मैं कहूँगा कि ऐ एथेन्सवासियो! मै आप लोगो को धन्यवाद देता हूँ, पर मैं आपकी बात मानने के बजाय ईश्वर का हुक्म मानूंगा, जिसने, जैसा कि मेरा विश्वास है, मुझे यह काम सौंपा है, और जबतक मेरे दम-मे-दम है, मैं अपनी दार्शनिक लगन को नही छोडूंगा। मैं अपना यह व्यवहार बराबर जारी रक्खूंगा कि जो कोई मुझे मिलेगा, उसे रोककर मैं यही पूछूंगा—'क्या तुम्हें इस बात मे शर्म नही लगती कि तुमने अपना मन धन और प्रतिष्ठा के पीछे लगा रक्खा है और ज्ञान या सत्य की या अपनी आत्मा को सुधारने की तुम्हें कोई चिन्ता नही है?' मैं नही जानता कि मौत क्या चीज़ है। वह अच्छी चीज़ हो सकती है, पर मैं उससे नही डरता। लेकिन मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि अपनी ज़िम्मेदारी की जगह छोडकर भाग जाना बुरा काम है। और इसलिए मैं जिस चीज़ को बुरी मानता हूँ, उससे उस चीज़ को ज्यादा पसन्द करता हूँ, जो अच्छी हो।"

अपने जीवन मे सुकरात ने सत्य और ज्ञान के पक्ष का समर्थन किया। लेकिन अपनी मौत के द्वारा उसने और भी अच्छी तरह यह काम कर दिखाया।

आजकल तुम अक्सर समाजवाद और पूँजीवाद और अनेक दूसरी समस्याओ के बारे मे होनेवाली चर्चाओ और विवादो को पढा या सुना करती होगी। दुनिया में बहुत मुसीबतें और अन्याय पाये जाते हैं। बहुत-से लोग इस दशा से पूरी तरह असन्तुष्ट हैं और इसे बदलना चाहते हैं। अफलातून ने भी शासन-सम्बन्धी समस्याओ पर विचार किया था और इस विषय पर उसने लिखा भी है। इस प्रकार उस ज़माने मे भी लोग विचार किया करते थे कि किसी देश के समाज को या सरकार को कैसे ढाला जाय जिससे चारो ओर ज्यादा सुख-शान्ति हो।

जब अफलातून बूढ़ा होने लगा, तो एक दूसरा यूनानी, जो बाद मे बहुत

मशहूर हो गया, आगे आया। उसका नाम था अरस्तू[1]। वह महान् सिकन्दर का निजी शिक्षक रह चुका था और सिकन्दर ने उसके काम मे बहुत मदद की थी। सुकरात और अफलातून की तरह अरस्तू तत्वज्ञान की समस्याओं में नही उलझता था। वह ज्यादातर प्रकृति की चीजो के निरीक्षण और उसके तौर-तरीक़ों को समझने मे लगा रहता था। इसको प्रकृति-दर्शन या आजकल ज्यादातर विज्ञान कहते हैं। इस तरह अरस्तू को शुरू का एक वैज्ञानिक मान सकते हैं।

अब हमे अरस्तू के शिष्य महान् सिकन्दर पर आ जाना चाहिए और उसके तेजी से दौडनेवाले जीवन पर नजर डालनी चाहिए। लेकिन यह कल होगा। आज मैंने बहुत काफ़ी लिख डाला है।

आज वसन्त पचमी है—वसन्त की शुरुआत है। सर्दी का बहुत थोडे दिन वाला मौसम बीत चुका है और हवा का तीखापन जाता रहा है। चिडियाँ अब ज्यादा संख्या मे आने लगी हैं और अपने गीतो से सारे दिन को गुजान रखती हैं। और आज से ठीक पन्द्रह वर्ष पहले, आज ही के दिन, दिल्ली शहर में, तुम्हारी मम्मी के साथ मेरी शादी हुई थी।

## : १७ :

## मशहूर विजेता : लेकिन घमण्डी युवक

२४ जनवरी, १९३१

अपने पिछले पत्र मे, और उसके पहले भी मैंने तुम्हें अलक्सान्दर या सिकन्दर महान् के बारे मे कुछ लिखा था। मेरा खयाल है कि मैंने उसे यूनानी बताया है। लेकिन ऐसा कहना एकदम सही न होगा। असल मे वह मकदूनिया का रहनेवाला था, जो यूनान के ठीक उत्तर मे है। मकदूनियावाले कई बातो मे यूनानियों जैसे थे। उन्हें तुम यूनानियो के चचेरे भाई कह सकती हो। सिकन्दर का पिता फिलिप मकदूनिया का बादशाह था। वह बहुत काबिल था। उसने अपने छोटे-से राज्य को बहुत मजबूत बना लिया था और एक बहुत होशियार सेना सगठित कर ली थी। सिकन्दर 'महान्' कहलाता है और इतिहास मे बहुत

---

[1] अरस्तू—यह अरिस्टाटल भी कहलाता है। यह एक प्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्ता था। इसका जन्म ईसा से ३८४ साल पहले हुआ था। यह प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातून का शिष्य और सिकन्दर महान् का गुरु था। इसमें असाधारण प्रतिभा और विद्वत्ता थी और पश्चिमी राजनीति, दर्शन और तर्क के विद्यार्थी को उसके ग्रन्थ अब भी लाजमी तौर पर पढ़ने पड़ते हैं। उसका 'पॉलिटिक्स' नामक ग्रन्थ बड़ा प्रसिद्ध है।

सिकन्दर का साम्राज्य
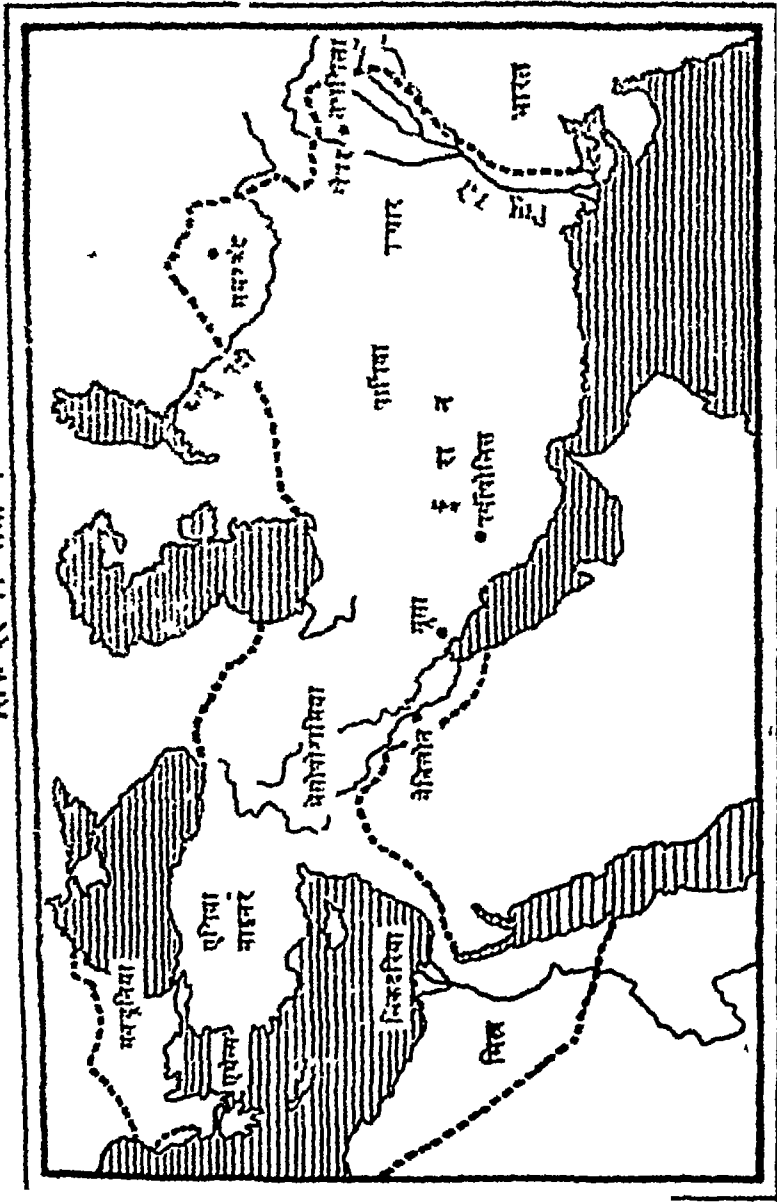
मशहूर है। लेकिन उसने जो किया वह बहुत-कुछ इसलिए सम्भव हुआ कि उसके पिता ने पहले ही से उसके लिए ज़मीन तैयार कर दी थी। सिकन्दर वास्तव में महान् व्यक्ति था या नही, यह कहना मुश्किल है। कम-से-कम मेरे लिए वह अनुकरण करने लायक वीर नहीं है। लेकिन थोडी-सी ज़िन्दगी म उसने दो महाद्वीपो पर अपने नाम की छाप डाल दी और इतिहास मे वह पहला विश्व-विजयी माना जाता है। दूर मध्य-एशिया के भीतर के देशो मे सिकन्दर के नाम से वह अभी तक मशहूर है। असल मे वह चाहे जो कुछ रहा हो, पर इतिहास उसके नाम को चमकदार बनाने मे सफल रहा है। बीसियो शहर उसके नाम पर बसाये गए, जिनमे से बहुत-से आज तक भी मौजूद हैं। इनमे सबसे बडा शहर मिस्र का इस्कन्दरिया है।

जब सिकन्दर बादशाह हुआ तब उसकी उम्र सिर्फ बीस साल की थी। महानता प्राप्त करने के हौसले से उसका दिल इतना भरा हुआ था कि वह अपने पिता की तैयार की हुई सुसगठित सेना को लेकर अपने पुराने दुश्मन ईरान पर धावा करने के लिए बेताब था। यूनानी लोग न तो फिलिप को चाहते थे, न सिकन्दर को, लेकिन उनके बल को देखकर वे लोग कुछ दब-से गये थे। इसलिए सब यूनानियों ने ईरान पर धावा करनेवाली सेना का सेनापति पहले फिलिप को, और बाद मे सिकन्दर को, मान लिया था। इस तरह उन्होंने उदय होनेवाली इस नई शक्ति के सामने सिर झुका दिया था। थीब्स नाम के एक यूनानी शहर ने सिकन्दर के खिलाफ विद्रोह किया और सिकन्दर ने बडी क्रूरता और निर्दयता के साथ आक्रमण करके उस मशहूर शहर को नष्ट कर दिया, उसकी इमारतें ढहा दीं, बहुत-से नगर-निवासियो की हत्या कर डाली और हज़ारो को गुलाम बनाकर बेच दिया। इस क्रूर बर्ताव से उसने यूनान को आतकित कर दिया। सिकन्दर के जीवन मे बर्बरता की यह और इसी तरह की दूसरी घटनाओ की वजह से वह हमारी नज़रो मे प्रशसा के योग्य नही रह जाता। इन घटनाओं से हमको विरक्ति और घृणा होती है।

सिकन्दर ने मिस्र को, जो उस वक्त ईरानी बादशाह के अधीन था, आसानी से जीत लिया। इसके पहले ही वह ईरान के बादशाह तीसरे दारा को, जो अहस्युर का उत्तराधिकारी था, हरा चुका था। बाद मे उसने ईरान पर फिर हमला किया और दारा को दूसरी बार हराया। शहशाह दारा के विशाल महल को उसने यह कहकर तहस-नहस कर दिया कि अहस्युर ने एथेन्स को जलाया था, उसी का यह बदला है।

फारसी भाषा की एक पुरानी किताब है जो फिरदौसी नामक कवि ने लगभग एक हज़ार वर्ष हुए लिखी थी। इसे 'शाहनामा' कहते हैं और यह ईरान के बादशाहों का एक सिलसिलेवार इतिहास है। इसमे दारा और सिकन्दर की लडाइयो का

बहुत काल्पनिक ढंग से वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि सिकन्दर से हार जाने पर दारा ने भारत से मदद माँगी। 'हवा जैसी तेज गति से चलनेवाला एक ऊँट-सवार' उसने फूर या पुरु के पास भेजा, जो उस समय भारत के उत्तर-पश्चिम में एक राजा था। लेकिन पुरु उसकी जरा भी मदद न कर सका। थोड़े दिनों बाद पुरु को ही सिकन्दर के हमले का सामना करना पड़ा। फिरदौसी के इस शाहनामे में दिलचस्प बात यह है कि उसमें भारत की तलवारों और कटारों का ईरान के बादशाह और सरदारों द्वारा इस्तेमाल किये जाने के बहुत प्रसंग पाये जाते हैं। इससे पता चलता है कि सिकन्दर के जमाने में भी भारत में बढ़िया फौलाद की तलवारें बनती थीं, जिनकी विदेशों में बड़ी माँग थी।

सिकन्दर ईरान से आगे चलता गया। उस इलाके को, जहाँ आज हिरात, काबुल और समरकन्द हैं, पार करता हुआ वह सिन्ध नदी के उत्तरी काँठे तक पहुँच गया। वहीं पर उसकी इस भारतीय राजा से मुठभेड़ हुई, जिसने सबसे पहले उसका मुकाबला किया। यूनान के इतिहास-लेखक उसका नाम यूनानी ढंग से पोरस बताते हैं। उसका असली नाम भी कुछ इसी तरह का रहा होगा, लेकिन हम नहीं जानते कि वह क्या था।[1] कहते हैं कि पुरु ने बड़ी बहादुरी से मुकाबला किया और उसे जीतना सिकन्दर के लिए आसान नहीं हुआ। कहते हैं कि वह बहुत लम्बा और बड़ा शूरवीर था। सिकन्दर पर उसकी हिम्मत और बहादुरी का इतना असर पड़ा कि उसे हराने के बाद भी उसने पुरु को अपनी रियासत का अधिकारी बना रहने दिया। लेकिन अब वह राजा पुरु के बजाय यूनानियों के अधीन एक क्षत्रप यानी गवर्नर रह गया।

सिकन्दर उत्तर-पश्चिम में खैबर दर्रे को पार करके रावलपिण्डी से कुछ दूर उत्तर में तक्षशिला[2] होकर भारत में घुसा। आज भी तुम्हें इस प्राचीन शहर के खण्डहर देखने को मिल सकते हैं। पुरु को हराने के बाद सिकन्दर ने दक्षिण की ओर गंगा की तरफ बढ़ने का इरादा किया था। लेकिन बाद में उसने ऐसा नहीं

---

[1] इतिहासवेत्ताओं का मत है कि इस राजा का नाम पुरु था। पोरस उसका यूनानी रूपान्तर है।

[2] तक्षशिला—जिला रावलपिण्डी का एक अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध नगर। रामायण के जमाने में यह गन्धर्वों की राजधानी थी और महाभारत के अनुसार यहीं जनमेजय ने अपना सर्पयज्ञ किया था। पहली सदी में यह नगर अमन्द्र नाम से भी मशहूर था। इस शहर के खण्डहर छः वर्गमील में फैले हुए हैं और उनमें बहुत-से बौद्ध मन्दिर और स्तूप देखने में आते हैं। वहाँ का विश्वविद्यालय प्राचीन इतिहास में बड़ा मशहूर रहा है। उसमें शिक्षा पाने के लिए मध्य-एशिया और चीन तक से विद्यार्थी आया करते थे। अब यह पश्चिमी पाकिस्तान में है।

किया, और सिन्ध नदी के काँठे मे होकर वह वापस चला गया। वह एक दिलचस्प विचार है कि अगर सिकन्दर भारत के भीतरी भाग की तरफ बढा होता तो क्या हुआ होता। क्या वह जीतता चला जाता? या भारतीय सेनाओ ने उसे हरा दिया होता? पुरु जैसे एक सरहदी राजा ने जब उसे इतना परेशान किया तो यह बहुत सम्भव था कि मध्य भारत के बडे-बडे राज्य सिकन्दर को रोकने के लिए काफ़ी बलवान साबित होते। लेकिन सिकन्दर की इच्छा कुछ भी क्यो न रही हो, उसकी सेना ने उसे एक निश्चय पर पहुँचने को मजबूर कर दिया। वर्षो से घूमते-घामते उसके सिपाही बहुत थक गये थे और उकता गये थे। शायद भारतीय सिपाहियो के रणकौशल का भी उन पर असर पडा और वे हार की जोखिम नही उठाना चाहते थे। वजह चाहे जो रही हो, सेना ने वापस लौटने की हठ की और सिकन्दर को राजी होना पडा। लेकिन वापसी का सफर बहुत विनाशकारी साबित हुआ। भोजन और पानी की कमी से फौज को बहुत तकलीफ उठानी पडी। इसके बाद ही, ईसा से ३२३ वर्ष पूर्व सिकन्दर बाबुल पहुँचकर मर गया। ईरान पर धावे के लिए रवाना होने के बाद वह अपनी मातृभूमि मकदूनिया को फिर नही देख पाया।

इस तरह सिकन्दर तैंतीस साल की उम्र मे मर गया। इस 'महान्' व्यक्ति ने अपनी थोडी-सी ज़िन्दगी मे क्या किया? इसने कुछ शानदार लडाइयाँ जीती। निस्सन्देह वह बहुत बडा सेनापति था। लेकिन साथ ही वह अभिमानी और घमण्डी भी था, और कभी-कभी बहुत निर्दयी और उग्र हो जाता था। अपने को वह देवता के समान समझता था। क्रोध के आवेश मे या क्षणिक उन्माद मे उसने अपने कई सच्चे दोस्तो को मरवा डाला और बडे-बडे शहरो को, उनके निवासियो समेत, नष्ट कर डाला। अपने बनाये साम्राज्य मे वह अपने पीछे कोई भी ठोस चीज—यहाँ तक कि अच्छी सडकें भी—नही छोड गया। आकाश के टूटनेवाले उल्का की तरह वह एकदम चमका और गायब हो गया और अपने पीछे अपनी स्मृति के अलावा और कुछ भी नही छोड गया। उसकी मौत के बाद, उसके कुटुम्ब के लोगो ने एक-दूसरे को मार डाला और उसका महान् साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया। सिकन्दर को संसार-विजयी कहा जाता है और कहते हैं कि एक बार वह बैठा-बैठा इसलिए रो उठा कि उसके जीतने के लिए दुनिया मे कुछ बाकी नहीं बचा था। लेकिन सच तो यह है कि उत्तर-पश्चिम के कुछ हिस्से को छोडकर वह भारत को ही नही जीत सका था। चीन उस समय भी बहुत बडा राज्य था और सिकन्दर उसके पास तक भी नही पहुँच पाया था।

उसकी मृत्यु के बाद, उसके सेनापतियो ने उसकी सल्तनत को आपस मे बाँट लिया। मिस्र तालमी[1] के हिस्से मे पडा। उसने वहाँ एक मजबूत राज्य की

---

[1] तालमी—सिकन्दर का एक सेनापति था, जो उसकी मृत्यु के पश्चात्

नीव डाली और एक राज-वंश चलाया। इसकी हुकूमत मे मिस्र, जिसकी राजधानी इस्कन्दरिया थी, बहुत शक्तिशाली राज्य बन गया। इस्कन्दरिया बहुत बडा शहर था और अपने विज्ञान, दर्शन और विद्या के लिए मशहूर था।

ईरान, इराक और एशिया-कोचक[1] का एक हिस्सा दूसरे सेनापति सेलेउक (सेल्युकस) के हिस्से मे आया। भारत का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा भी, जिसे सिकन्दर ने जीता था, इसीको मिला। लेकिन वह भारत के हिस्से पर अपना अधिकार कायम नहीं रख सका और सिकन्दर की मौत के वाद यूनानी सेना यहां से भगा दी गई।

सिकन्दर भारत मे ईसा से पहले ३२६वें साल मे आया था। इसका आना क्या था, एक तरह का धावा था जिसका भारत पर कोई असर नही पडा। कुछ लोगो का विचार है कि इस धावे ने भारतीयो और यूनानियो मे रब्त-जब्त शुरू करने मे मदद दी। लेकिन सच तो यह है कि सिकन्दर से पहले भी पूर्व और पश्चिम के देशो में आपसी आवागमन था और भारत का ईरान और यूनान तक से बराबर सम्पर्क जारी था। सिकन्दर के आने से यह सम्पर्क कुछ और बढा जरूर होगा और भारतीय और यूनानी दोनो सभ्यताएँ कुछ ज्यादा हद तक एक-दूसरे से मिल-जुल गई होगी। 'इण्डिया' शब्द ही यूनानी 'इण्डास' से बना है, और 'इण्डास' की उत्पत्ति 'इण्डस' अर्थात् 'सिन्ध नदी' से हुई है।

सिकन्दर के धावे और उसकी मृत्यु से भारत मे एक वहुत बडे साम्राज्य—मौर्य्य साम्राज्य—की नीव पडी। भारत के इतिहास का यह एक वहुत शानदार युग है और इसके लिए हमे कुछ समय देना चाहिए।

: १८ :

## चन्द्रगुप्त मौर्य्य और कौटिल्य का अर्थशास्त्र

२५ जनवरी, १९३१

अपने एक पत्र मे मैंने मगध का जिक्र किया था। यह एक बहुत पुराना राज्य था और उस जगह वसा हुआ था, जहाँ आजकल बिहार का प्रान्त है। इस राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, जो आजकल पटना है। जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं, उस समय मगध-देश पर नन्दवश राज करता था। जब सिकन्दर ने उत्तर-पश्चिम भारत पर धावा किया था उस समय पाटलिपुत्र मे नन्दवश का एक

---

ई० पू० ३०५ मे मिस्र का सम्राट् बन बैठा। इसीने तालमी राजवश चलाया, जो ई० पू० ३० तक राज्य करता रहा। इस सम्राट् का काल ई० पू० ३८३ से ई० पू० ३६७ तक है। इसने उत्तरी मिस्र में टालेमाय नामक एक प्रसिद्ध और शानदार शहर बसाया और एक पुस्तकालय और अजायबघर की योजना की।

[1] एशिया कोचक—आजकल यह तुर्की का एशियाई भाग है।

राजा राज करता था। उसी समय वहाँ चन्द्रगुप्त नामक एक नवयुवक भी था जो शायद इस राजा का रिश्तेदार था। मालूम होता है, वह बडा चतुर, उत्साही और महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। नन्द राजा ने उसे बहुत ज्यादा चालाक समझकर, या उसके किसी काम से नाराज होकर, उसे अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। शायद सिकन्दर और यूनानियो की कहानियो से आकर्षित होकर चन्द्रगुप्त उत्तर की ओर तक्षशिला चला गया। उसके साथ विष्णुगुप्त नाम का एक विद्वान् ब्राह्मण था, जिसे चाणक्य भी कहते है। चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनो ही नर्म और दब्बू न थे, जो भाग्य और होनहार के सामने सिर झुका देते। उनके दिमागो मे बडी-बडी और हौसले-भरी योजनाएँ थी, और वे आगे बढना और सफलता प्राप्त करना चाहते थे। चन्द्रगुप्त शायद सिकन्दर के वैभव से चकित और आकर्षित हो गया था और उसके उदाहरण के पीछे चलना चाहता था। अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए चाणक्य के रूप मे उसे एक आदर्श मित्र और सलाहकार मिल गया था। ये दोनो ही सजग रहते थे और गौर से देखते रहते थे कि तक्षशिला मे क्या हो रहा है। वे अपने अवसर की तलाश मे थे।

जल्दी ही उनको अवसर मिल गया। ज्योही सिकन्दर के मरने की खबर तक्षशिला पहुँची, चन्द्रगुप्त ने समझ लिया कि काम करने का समय आ गया। उसने आसपास के लोगो को उभाडा और उनकी मदद से यूनानियो की फौज पर, जिसे सिकन्दर छोड गया था, आक्रमण कर दिया और उसे भगा दिया। तक्षशिला पर कब्जा करने के बाद चन्द्रगुप्त और उसके सहायको ने पाटलिपुत्र पर हमला किया और राजा नन्द को हरा दिया। यह ३२१ ई० पूर्व यानी सिकन्दर की मौत के सिर्फ पाँच वर्ष बाद की बात है। इसी समय से मौर्य्यवंश का शासन शुरू होता है। यह साफ-साफ पता नही चलता कि चन्द्रगुप्त 'मौर्य्य' क्यो कहलाया। कुछ लोगो का कहना है कि उसकी माँ का नाम मुरा था, इसलिए वह मौर्य्य कहलाया। और कुछ का यह कहना है कि उसका नाना राजा के मोरो का रखवाला था और मोर को संस्कृत मे मयूर कहते है। इस शब्द का मूल चाहे जो हो, यह चन्द्रगुप्त मौर्य्य के नाम से ही प्रसिद्ध है, ताकि एक दूसरे मशहूर चन्द्रगुप्त से, जो कई सौ वर्ष बाद भारत का बहुत बडा राजा हुआ, इसे अलग समझा जा सके।

महाभारत और दूसरी पुरानी पुस्तको और कथाओ मे चक्रवर्ती राजाओ का वर्णन मिलता है, जिन्होंने सारे भारत पर राज किया। लेकिन हमे उस जमाने का ठीक हाल मालूम नही और न हम यही जानते हैं कि भारत या भारतवर्ष का विस्तार उस समय कितना था। यह सम्भव है कि उस समय की जो कहानियाँ चली आती हैं, उनमे पुराने राजाओ के बल को बढ़ा-चढाकर बताया गया हो। जो कुछ भी हो, चन्द्रगुप्त मौर्य्य का साम्राज्य इतिहास मे भारत के मजबूत और

लम्बे-चौड़े साम्राज्य की पहली मिसाल है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह एक बहुत शक्तिशाली और उन्नत शासन था। यह भी साफ है कि ऐसा शासन और राज्य एकदम से पैदा नही हो गया होगा। बहुत दिनो से कई तरह की प्रक्रियाएँ होती चली आई होगी, छोटे-छोटे राज्य मिलते रहे होगे और शासन-कला मे प्रगति जारी रही होगी।

चन्द्रगुप्त के शासन-काल मे, सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस ने, जिसे उत्तराधिकार मे एशिया-कोचक से लेकर भारत तक के देशो का राज्य मिला था, अपनी सेना के साथ सिन्ध नदी पार कर भारत पर हमला किया। पर अपनी इस जल्दबाजी के लिए उसे बहुत जल्दी पछताना पडा। चन्द्रगुप्त ने उसे बुरी तरह हरा दिया और जिस रास्ते से वह आया था उसी रास्ते उसे अपना-सा मुँह लेकर लौट जाना पडा। यहाँ से कुछ हासिल करने के बजाय उलटा उसे काबुल और हिरात तक गान्धार या अफगानिस्तान का एक बहुत बडा हिस्सा चन्द्रगुप्त को दे देना पडा। चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस की पुत्री से शादी भी कर ली। उसका साम्राज्य अब सारे उत्तरी भारत मे, अफगानिस्तान के एक हिस्से मे, काबुल से बगाल तक और अरब सागर से बगाल की खाडी तक फैल गया। सिर्फ दक्षिण भारत उसके अधीन नहीं था। इस बडे साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी।

सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार मे मेगस्थनीज को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। मेगस्थनीज हमारे लिए उस जमाने का एक बडा दिलचस्प वर्णन छोड गया है। लेकिन इससे ज्यादा दिलचस्प एक दूसरा वर्णन भी हमे मिलता है, जिसमे चन्द्रगुप्त के शासन का पूरा तफसीलवार हाल मिलता है। इस ग्रन्थ का नाम है 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' यानी कौटिल्य का अर्थशास्त्र। यह कौटिल्य और कोई नही, हमारा वही पुराना दोस्त चाणक्य या विष्णुगुप्त है और अर्थशास्त्र का मतलब है 'सम्पत्ति का शास्त्र'।

इस अर्थशास्त्र मे इतने विषय है, और इतनी विभिन्न बातो पर इसमे चर्चा की गई है कि तुमको उसके बारे मे ज्यादा बता सकना मेरे लिए सम्भव नही है। उसमे राजा के धर्म का, उसके मन्त्रियो और सलाहकारो के कर्त्तव्यो का, राज-परिषद् का, शासन-विभागो का, वाणिज्य और व्यापार का, गाँवो और कस्बो के शासन का, कानून और अदालत का, सामाजिक रीति-रिवाजो का, स्त्रियो के अधिकार का, बूढे और असहाय लोगो के पोषण का, विवाह और तलाक का, टैक्सो का, थलसेना और जलसेना का, युद्ध और सन्धि का, कूटनीति का, खेती-बाडी का, कातने और बुनने का, कारीगरो का, पासपोर्टो का, और जेलो तक का जिक्र है। मैं इस सूची को और भी बढा सकता हूँ, लेकिन इस पत्र को कौटिल्य के अध्यायो के शीर्षको से नही भरना चाहता।

जब राजा राजतिलक के समय जनता के हाथो से राज्यसत्ता पाता था, तो उसे जनता की सेवा की शपथ लेनी पडती थी। उसे प्रतिज्ञा करनी पडती थी, "अगर मैं तुम्हें सताऊँ तो स्वर्ग से, जीवन से और सन्तान से वचित रहूँ।" इस ग्रन्थ मे राजा की दिनचर्या दी हुई है। उसके अनुसार राजा को जरूरी काम के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए, क्योंकि जनता का काम न तो रुक सकता है, न राजा की सुविधा का इन्तजार कर सकता है। "अगर राजा मुस्तैद होगा तो उसकी प्रजा भी उतनी ही मुस्तैद होगी।" "अपनी प्रजा की खुशी मे उसकी खुशी है, प्रजा के कल्याण मे ही उसका कल्याण है, जो बात उसे अच्छी लगे उसीको वह अच्छी न समझे, बल्कि प्रजा को जो अच्छी लगे उसीको वह भी अच्छी समझे।"

हमारी इस दुनिया से अब राजा-महाराजा उठते जा रहे है। जो इने-गिने बच गये हैं वे भी बहुत जल्द गायब हो जायँगे। लेकिन यह ध्यान देने लायक बात है कि प्राचीन भारत मे राजपद का मतलब जनता की सेवा था। उस समय राजाओ का न तो कोई ईश्वरीय अधिकार माना जाता था और न उनके हाथो मे कोई निरकुश सत्ता थी। अगर कोई राजा अनुचित व्यवहार करता था तो प्रजा को अधिकार था कि उसे हटा दे और उसकी जगह दूसरा राजा नियुक्त कर दे। उन दिनो यही विचार और सिद्धान्त था। फिर भी उस समय बहुत-से राजा ऐसे हुए जो इस आदर्श से नीचे गिरे और जिन्होंने अपनी बेवकूफी से अपने देश और प्रजा को मुसीबतो मे फँसाया।

अर्थशास्त्र मे इस पुराने मत पर भी जोर दिया गया है कि 'आर्य कभी भी दास नही बनाया जा सकेगा।'[१] इससे प्रकट होता है कि उस जमाने मे किसी-न-किसी तरह के गुलाम होते थे जो या तो देश के बाहर से लाये जाते होंगे, या देश के रहनेवाले होंगे।[२] लेकिन जहाँ तक आर्यों का सम्बन्ध था, इस बात पर पूरा ध्यान रक्खा जाता था कि वे किसी भी हालत मे गुलाम न बनाये जायँ।

मौर्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। यह बडा शानदार शहर था और गगा के किनारे-किनारे नौ मील तक फैला हुआ था। इसकी चारदीवारी मे चौंसठ मुख्य फाटक थे और सैकडो छोटे दरवाजे थे। मकान ज्यादातर लकडी के बने हुए थे, और चूँकि आग लगने का डर रहता था, इसलिए आग बुझाने के लिए पूरी सावधानी से इन्तजाम किया जाता था। खास-खास सडको पर पानी से भरे हजारो घडे हमेशा रक्खे रहते थे। हरेक गृहस्थ को भी अपने घर मे पानी से भरे घडे, सीढी, काँटा और दूसरी जरूरी चीजें तैयार रखनी पडती थीं ताकि आग लगने पर उनका उपयोग किया जा सके।

---

[१] 'न त्वेवाऽर्यस्य दास भावः।'—कौटिल्य

[२] 'म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुंवा'—कौटिल्य

कौटिल्य ने शहरो के बारे मे एक नियम का ज़िक्र किया है जो तुम्हें बहुत दिलचस्प मालूम होगा। अगर कोई आदमी सडक पर कूडा फेंकता था, तो उसपर जुर्माना होता था। इसी तरह अगर कोई रास्ते मे कीचड या पानी इकट्ठा होने देता था तो उसपर भी जुर्माना किया जाता था। अगर इन नियमो पर अमल होता रहा होगा तो पाटलिपुत्र या दूसरे और शहर बहुत सुन्दर और साफ-सुथरे रहे होंगे। मैं चाहता हूँ कि हमारी म्युनिसिपैलिटियो मे भी इसी तरह के कुछ नियम जारी कर दिये जायें।

पाटलिपुत्र मे व्यवस्था के लिए एक नगर-परिषद् थी। जनता इसका चुनाव करती थी। इसमे तीस सदस्य होते थे और पांच-पांच सदस्यो की छ समितियाँ बनाई जाती थी। शहरी उद्योगो और दस्तकारियो का, यात्रियो और तीर्थ-यात्रियो का, टैक्स के लिए मौतो और पैदायशो का, माल तैयार करने का और दूसरी बातो का प्रबन्ध इन्ही समितियो के हाथ मे रहता था। पूरी परिषद सफाई, आय-व्यय, पानी की व्यवस्था, बाग-बगीचो और सार्वजनिक इमारतो का प्रबन्ध देखती थी।

न्याय के लिए पचायतें और अपीलो के लिए अदालतें थी। अकाल-पीडितो की सहायता के लिए खास उपाय किये जाते थे। राज्य के सारे भण्डारो का आधा अनाज अकाल के समय के लिए हमेशा जमा रक्खा जाता था।

ऐसा था वह मौर्य्य-साम्राज्य, जिसे बाईस सौ वर्ष पहले चाणक्य और चन्द्र-गुप्त ने सगठित किया था। मैंने अभी कौटिल्य और मेगस्थेने की बयान की हुई कुछ बातो का ज़िक्र यहाँ किया है। इनसे ही तुम्हें मोटे तौर पर यह पता लग जायगा कि उत्तरी भारत की उस समय क्या हालत थी। पाटलिपुत्र की राजधानी से लेकर साम्राज्य के बहुत-से बडे-बडे शहरो और हज़ारो कस्बो और गाँवो तक सारे देश मे ज़िन्दगी की चहल-पहल थी। साम्राज्य के एक भाग से दूसरे भाग तक बडी-बड़ी सडकें थी। मुख्य राजपथ पाटलिपुत्र से उत्तर-पश्चिम की सीमा तक चला गया था। बहुत-सी नहरें थी और उनकी देखभाल के लिए एक खास विभाग भी था। इसके अलावा एक नौका-विभाग भी था, जो बन्दरगाहो, घाटो, पुलो और एक जगह से दूसरी जगह तक आने-जानेवाले बहुत-से जहाजो और नौकाओ की देख-रेख किया करता था। जहाज़ समुद्र-पार चीन और बर्मा तक जाते थे।

इस साम्राज्य पर चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष राज किया। ईसा पूर्व २९६वें वर्ष में उसकी मृत्यु हुई। अपने अगले पत्र मे, हम मौर्य्य-साम्राज्य की कहानी जारी रक्खेंगे।

## १९

# तीन महीने !

क्रैकोविया जहाज़ से—
२१ अप्रैल, १९३१

तुम्हे पत्र लिखे बहुत दिन हो गये। करीब तीन महीने—दुःख, परेशानी और मुसीबत के तीन महीने—गुज़र गये। भारत के, और सबसे बढ़कर हमारे कुटुम्ब के परिवर्तन के ये तीन महीने ! भारत ने फिलहाल सत्याग्रह या सविनय अवज्ञा आन्दोलन रोक दिया है, लेकिन जो सवाल हमारे सामने हैं उनके हल करने मे कोई आसानी पैदा नही हुई। और हमारे कुटुम्ब ने अपना प्यारा बुज़ुर्ग खो दिया, जिसने हमे बल और प्रेरणा दी थी, और जिसकी आश्रय देनेवाली देख-रेख मे हम सब बडे हुए और अपनी सबकी माता भारत के लिए अपना कर्त्तव्य अदा करना सीखा।

नैनी-जेल का वह दिन मुझे कितनी अच्छी तरह याद है ! वह २६ जनवरी का दिन था और मैं हमेशा की तरह पुरानी बातो के बारे मे तुम्हे पत्र लिखने बैठा था। उसके एक दिन पहले मैं तुम्हें चन्द्रगुप्त और उसके स्थापित किये हुए मौर्य्य-साम्राज्य के बारे मे लिख चुका था। मैंने वादा किया था कि इस वर्णन को मैं जारी रक्खूंगा और उन लोगो का जो चन्द्रगुप्त के बाद हुए, और 'देवाना प्रिय' अशोक महान् का, जो भारतीय आकाश मे एक चमकदार सितारे की तरह चमका और अपना नाम अमर करके गुज़र गया, हाल बताऊँगा। और जब मैं अशोक की याद कर रहा था, मेरा मन घूम-फिरकर वर्तमान की ओर—२६ जनवरी पर आ पहुँचा, जिस दिन मैं कलम-दवात लेकर तुम्हें लिखने बैठा था। हम लोगो के लिए यह एक बहुत बडा दिन था, क्योकि एक साल पहले इसी दिन हमने सारे भारत मे, शहरो और गांवो मे, आज़ादी का दिन—पूर्ण स्वराज्य का दिन—मनाया था और हमारे देश के करोडो लोगो ने स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा ली थी। तब से एक साल बीत गया—संघर्ष का, तकलीफो का और विजय का एक साल—और एक बार फिर भारत उसी महान् दिन को मनाने जा रहा था। जब मैं नैनी-जेल की ६ नम्बर की बैरक मे बैठा हुआ था, मुझे उस दिन सारे देश मे होनेवाली सभाओ, जलूसो, लाठी-प्रहारो और गिरफ्तारियो का ख़याल हो आया था। गर्व, खुशी और दर्द के साथ मैं इन सब बातो का विचार कर ही रहा था कि मेरी कल्पना की धारा एकदम रुक गई। बाहर से ख़बर मिली कि दादू बहुत बीमार हैं और उनके पास जाने के लिए मैं फौरन ही छोड दिया जाऊँगा। चिन्ता से भरी विचार-

धारा टूट गई और तुम्हें जो पत्र लिखना शुरू किया था उसे एक ओर रखकर नैनी-जेल से आनन्द-भवन के लिए रवाना हो गया।

दादू की मृत्यु से पहले दस दिन मैं उनके साथ रहा। दस दिन तक हम उनके कष्ट और यातना को और मौत के दूत से उनकी बहादुराना लडाई को देखा किये। अपने जीवन मे उन्होंने बहुत-सी लडाइयाँ लडीं और बहुत-सी विजय हासिल की। हार मानना तो वह जानते ही न थे, और मौत को अपने सामने खडा हुआ देखकर भी वह उसके सामने डटे रहे। जब मैं उनकी इस आखिरी लडाई को देख रहा था, और जिन्हें मैं इतना प्यार करता था उन्हें मदद पहुँचाने मे अपनी बेबसी पर व्याकुल हो रहा था, तो मुझे कुछ पक्तियाँ, जो मैंने बहुत दिन हुए एडगर एलन पो की किसी कहानी मे पढी थी, याद आ गई, जिनका अर्थ यह है—

> "मनुष्य खुद देवदूतो के सामने हार नही मानता और न वह मौत के सामने ही पूरी तरह सिर झुकाता है, अगर वह हार मानता है तो, अपनी इच्छा-शक्ति की कमजोरी की वजह से ही मानता है।"

६ फरवरी को सुबह वह हमे छोडकर चले गए। जिस झण्डे को वह इतना प्यार करते थे उसी मे उनका शरीर लपेटकर हम उन्हें लखनऊ से आनन्द-भवन ले आये। थोडी ही देर मे वह जलकर मुट्ठी भर राख हो गया और गगा इस अनमोल विभूति को समुद्र की ओर बहा ले गई।

लाखो आदमियो ने उनके लिए शोक मनाया, लेकिन हम सबपर, जो उनके बच्चे हैं और जो उनके मांस और उनकी हड्डियो से बने हैं, कैसी बीती! और उस नये आनन्द-भवन का, जो हम लोगो के समान ही उनका बच्चा है, और जिसे उन्होने इतने प्यार से और इतनी सावधानी से तैयार करवाया था, क्या हुआ? वह अब सुनसान और वीरान हो गया, मानो उसकी जान ही निकल गई। और हम उसके बरामदो मे, उन्हीका बराबर खयाल करते हुए, जिन्होंने इसे बनाया था, दबे पाँव चलते हैं कि कही उनकी शान्ति भग न हो जाय।

हम उनके लिए शोक करते हैं और कदम-कदम पर उनकी कमी को महसूस करते हैं। दिन गुजरते जाते हैं, लेकिन न तो दुःख कम होता दीखता है और न उनका विछोह सहना आसान होता दीखता है। लेकिन फिर मैं सोचता हूँ कि यह चीज उन्हे कभी पसन्द न आयगी। उन्हें यह कभी पसन्द न होगा कि हम रज से हार मान लें। वह तो यही चाहेंगे कि जैसे उन्होंने अपनी तकलीफो का मुकाबला किया वैसे ही हम अपने रज का मुकाबला करें और उसपर विजय पायें। वह चाहेंगे कि जो काम उन्होंने अधूरा छोडा है, उसे हम जारी रक्खें। फिर, जब काम हमें बुला रहा है और भारत की आजादी का उद्देश्य हमारी सेवाओ की माँग कर

रहा है, तब हम चुप कैसे बैठ सकते हैं, और व्यर्थ के शोक के सामने कैसे सिर झुका सकते हैं? इसी उद्देश्य के लिए उन्होंने जान दी। इसीके लिए हम जिन्दा रहेंगे, कोशिश करेंगे और अगर जरूरत हुई तो जान भी देंगे। आखिर हम उनकी सन्तान हैं और हममे उनकी आग, ताक़त और पक्के इरादो का कुछ-न-कुछ अश मौजूद है।

इस समय, जब मैं ये पक्तियाँ लिख रहा हूँ, नीले रग का गहरा अरब सागर मेरे सामने दूर तक फैला हुआ है और दूसरी तरफ बहुत दूर के फासले पर, भारत का किनारा है, जो हमसे छूटता जा रहा है। मैं इस लम्बे-चौडे और लगभग अपरिमित विस्तार का खयाल करता हूँ और उसकी तुलना नैनी-जेल की ऊँची दीवार-वाली छोटी-सी बैरक से करता हूँ, जहाँ से मैंने तुम्हें पिछले पत्र लिखे थे। जहाँ समुद्र आकाश से मिलता-सा मालूम होता है, वहाँ क्षितिज की रेखा साफ़-साफ़ मेरे सामने नजर आ रही है। लेकिन जेल मे कैदी का क्षितिज तो उस दीवार की चोटी है जिससे वह घिरा रहता है। हममे से बहुत-से, जो कल जेलो मे थे, आज बाहर हैं और बाहर की आजाद हवा मे साँस ले सकते हैं। लेकिन हमारे बहुत-से साथी अभी तक अपनी तग कोठरियो मे बन्द हैं और समुद्र, जमीन या क्षितिज के दर्शन से वचित हैं। खुद भारत अभी तक जेल मे है और उसे अभी आजादी मिलनी बाकी है। और अगर भारत आजाद नही है तो हमारी आजादी की क्या क़ीमत है?

: २० .

## अरब सागर

ऋकोविया जहाज,
२२ अप्रैल, १९३१

यह कैसे सयोग की बात है कि हम इस ऋकोविया जहाज पर बम्बई से लका जा रहे हैं। मुझे अच्छी तरह याद है कि करीब चार वर्ष पहले मैं किस तरह वेनिस मे इसके आने का इन्तजार कर रहा था। दादू इसी जहाज से आ रहे थे और मैं स्वीजरलैण्ड के वेक्स स्कूल मे तुम्हें छोडकर उनसे मिलनें के लिए वेनिस गया था। फिर कुछ महीने बाद इसी ऋकोविया जहाज से दादू यूरोप से भारत वापस लौटे थे और मैं उनसे बम्बई मे मिला था। उस यात्रा के उनके कुछ साथी आज भी हमारे साथ हैं और ये सब दादू के बारे मे अपने बहुत-से अनुभव सुनाते रहते हैं।

मैंने तुम्हे कल के पत्र मे पिछले तीन महीनो की बदलती हुई घटनाओ का हाल लिखा था। पिछले कुछ हफ्तो मे एक बात ऐसी हुई है, जिसे मैं चाहता हूँ कि तुम याद रक्खो, क्योकि भारत उसे बहुत वर्षों तक याद रक्खेगा। एक महीने से कम हुआ कानपुर शहर में भारत के एक बहादुर सिपाही, गणेशशकर

विद्यार्थी, चल बसे। वह उस समय मारे गये, जब वह दूसरो को बचाने की कोशिश कर रहे थे।

गणेशजी मेरे प्यारे दोस्त थे। एक बहुत नेक और निःस्वार्थ साथी थे, जिनके साथ काम करना सौभाग्य की बात थी। पिछले महीने जब कानपुर मे लोगो के सिर पर पागलपन सवार हुआ, और एक भारतीय दूसरे भारतीय को कत्ल करने लगा, तो गणेशजी आग मे कूद पडे—अपने किसी देश-भाई से लडने के लिए नही—बल्कि उन्हें बचाने के लिए। उन्होने सैकडो को बचाया; सिर्फ अपने को वह नही बचा सके। अपने बचाव की उन्होंने परवाह भी नहीं की और उनकी मौत उन लोगो के हाथो हुई, जिन्हें वह बचाना चाहते थे। कानपुर का और हमारे प्रान्त का एक हीरा लुट गया और हममे से बहुतेरे अपने एक प्यारे और बुद्धिमान् मित्र से हाथ धो बैठे। लेकिन कितनी शानदार थी उनकी मौत! उन्होने शान्त मुद्रा और निर्भीकता के साथ गुण्डो के पागलपन का मुकाबला किया और खतरे और मौत के बीच भी उन्हें ध्यान था तो सिर्फ दूसरो का और उन्हें बचाने का!

परिवर्तनो के ये तीन महीने! समय के सागर मे एक बूंद के समान और राष्ट्र की जिन्दगी मे एक पल के समान! सिर्फ तीन हफ्ते पहले मैं मोहेन-जो-डेडो के खण्डहर देखने गया था, जो सिन्ध मे, सिन्ध नदी के काँठे मे हैं। उस समय तुम मेरे साथ नही थी। मैंने वहाँ एक बहुत बडा शहर ज़मीन के अन्दर से निकला हुआ देखा—ऐसा शहर जिसमे मज़बूत ईंटो के मकान और लम्बी-चौडी सडकें थी और कहा जाता है कि जिसे बने पाँच हज़ार वर्ष हो गये। मैंने इस प्राचीन शहर मे मिले हुए सुन्दर-सुन्दर ज़ेवर और मिट्टी के बरतन देखे। इन सबको देखते-देखते मुझे ऐसा मालूम होने लगा मानो चटकीले-भड़कीले कपडे पहने हुए पुरुष और स्त्रियाँ इसकी सडको और गली-कूचो मे आ-जा रहे हैं, बच्चे बच्चो के-से खेल खेल रहे हैं, माल मे भरे बाज़ार गुलज़ार हो रहे हैं, लोग सौदा ले-दे रहे हैं और मन्दिरो की घण्टियाँ बज रही हैं।

इन पाँच हज़ार वर्षों से भारत अपना जीवन कायम रखता आ रहा है और उसने बहुत-से परिवर्तन देखे हैं। मैं कभी-कभी सोचने लगता हूँ कि क्या हमारी यह बूढ़ी भारतमाता, जो इतनी प्राचीन और फिर भी इतनी नौजवान और सुन्दर है, अपने बच्चो के उतावलेपन पर, उनकी छोटी-मोटी परेशानियो पर, उनके हर्ष और शोक पर, जो दिन भर रहते हैं और फिर खत्म हो जाते हैं, मुस्कराती न होगी!

: २१ :

# छुट्टी के दिन और स्वप्न-यात्रा

२६ मार्च, १९३२

चौदह महीने हो चुके, जब मैंने तुम्हें नैनी-जेल से प्राचीन इतिहास के बारे में पत्र लिखे थे। इसके तीन महीने बाद पत्रो के उसी सिलसिले मे मैंने अरब सागर से तुम्हें दो छोटे-छोटे पत्र और लिखे थे। उस समय मैं कोकोविया जहाज़ पर लका की यात्रा पर जा रहा था। जैसा कि मैंने लिखा था, विशाल समुद्र मेरे सामने दूर तक पसरा हुआ था। मेरी भूखी आँखें उसे निहार रही थी और अघाती नही थी। इसके बाद हम लका पहुँचे और महीने भर तक बडे आनन्द से छुट्टियाँ मनाई और अपनी मुसीबतें और परेशानियाँ भूल जाने की कोशिश की। उस अत्यन्त सुन्दर द्वीप मे हम खूब घूमे और उसका अतुलित सौन्दर्य और वहाँ की प्रकृति की प्रचुरता पर चकित हो गये। कैंडी, नुवारा-ईलिया, और प्राचीन वैभव के चिह्नों और खण्डहरो से भरपूर अनुरुद्धपुर—इन सारी जगहो की, जहाँ हम गये, याद करके कितना आनन्द आता है। लेकिन मुझे सबसे ज्यादा आनन्द तो आता है, भूमध्य-प्रदेश के उन ठण्डे जगलो की याद करके जिनमे जीवन बिखरा पडता है, जिनकी हज़ारो आँखें हमे देखती हैं, या पतले और बिलकुल सीधे सुपारी के सुन्दर वृक्षो, नारियल के अनगिनती पेडो और ताल-वृक्षो के किनारोवाले उस तट की याद करके जहाँ इस टापू की पन्ने जैसी हरियाली समुद्र और आकाश की नीलिमाओ से मिलती है और सागर-जल किनारे पर छलकता और हिलोरो से अठखेलियाँ करता है और हवा ताल-वृक्षो के पत्तो मे होकर मर्मर आवाज़ करती हुई निकल जाती है।

बहुत दिन हुए तब इस भूमध्य-प्रदेशो मे तुमने और मैंने पहली बार यात्रा की थी, जिसकी याद करीब-करीब जाती रही है, लेकिन वह एक नया अनुभव था। मुझे वहाँ जाने का आकर्षण नही था क्योंकि मैं वहाँ की गर्मी से घबराता था। मुझे तो समुद्र, पहाड और सबसे ज्यादा बर्फ से ढकी हुई ऊँची चोटियाँ और हिम नदियाँ मोहती हैं। लेकिन लका के इस कुछ दिनो के निवास से मुझे भूमध्य-प्रदेश की मनोहरता और जादू जैसी मोहकता का भी कुछ अनुभव हुआ। और मैं यह लालसा लिये हुए वापस आया कि मौका मिला तो इनसे फिर मिलूंगा।

लका मे छुट्टी का हमारा एक महीना देखते-देखते बीत गया और हम समुद्र का सँकरा भाग पार करके भारत के दक्षिणी नाके पर पहुँचे। क्या तुम्हें हमारी कन्याकुमारी की यात्रा की याद है? कहते हैं कि यहाँ कुमारिका देवी निवास करती हैं और अपने देश की रक्षा करती है, और जिसे, हमारे नामो को तोड-मरोडकर भ्रष्ट करने मे कुशल पश्चिम-निवासी 'केप कोमोरिन' कहते हैं। उस समय वहाँ

हम सचमुच भारतमाता के चरणो मे ही बैठे थे, और वही हमने अरब सागर और बगाल की खाडी के समुद्रजलों का सगम देखा था और हमारे मन मे यह कल्पना पैदा हुई थी मानो कि ये दोनों भारत की पूजा कर रहे हैं। उस जगह पर अद्‌भुत शान्ति थी और मेरा मन भारत के दूसरे छोर पर कई हज़ार मील दूर दौड गया था, जहाँ हिमालय की चोटियाँ कभी न गलनेवाली बर्फ का ताज पहने रहती हैं और जहाँ ऐसी ही शान्ति रहती है। लेकिन इन दोनो के बीच मे तो काफी रगडे-झगड़े हैं, गरीबी है, और मुसीबतें हैं!

हम कन्याकुमारी से बिदा हुए और उत्तर की तरफ चले और तिरुवांकुर और कोचीन होते हुए और मलाबार की समुद्री झीलो को पार करते हुए आगे बढे। ये सब स्थान कितने सुन्दर थे और हमारी नाव चाँदनी रात मे पेडो से छाये हुए किनारो के बीच मे होकर कैसी फिसलती चली जाती थी, मानो हम स्वप्न-लोक में विचर रहे हो। इसके बाद हम मैसूर, हैदराबाद और बम्बई होते हुए आख़ीर मे इलाहाबाद आ पहुँचे। यह नौ महीने पहले की यानी जून के महीने की बात है।

लेकिन आजकल तो भारत मे जितने रास्ते हैं, वे सब हमे, देर-सबेर एक ही जगह पहुँचा देते हैं। सारी यात्राएँ, चाहे वह स्वप्न की हो या असली, जेलख़ाने मे ही जाकर खत्म होती हैं। और इसलिए मैं फिर अपनी पुरानी परिचित दीवारो के अन्दर पहुँच गया, जहाँ सोचने के लिए और तुम्हे पत्र लिखने के लिए—चाहे वे तुम्हारे पास पहुँचें न या न पहुँचें—बहुत समय मिलता है। लडाई फिर शुरू हो गई है और हमारे देशवासी, स्त्री और पुरुष, लडके और लडकियाँ, स्वतन्त्रता की लडाई के लिए और इस देश को ग़रीबी की लानत से छुडाने के लिए, निकल पड़े हैं। लेकिन स्वतन्त्रता की देवी मुश्किल से ख़ुश होती है, पुराने जमाने की तरह आज भी यह अपने भक्तो से, नर-बलि चाहती है।

आज मुझे जेल मे आये पूरे तीन महीने हो गये। तीन महीने पहले, आज ही के दिन, यानी २६ दिसम्बर को, मैं छठी बार गिरफ्तार किया गया था। पत्रों के इस सिलसिले को फिर से शुरू करने मे मैंने बहुत देर कर दी। लेकिन तुम जानती हो कि जब दिमाग़ वर्तमान से भरा हुआ हो तो सुदूर अतीत के बारे मे सोचना कितना मुश्किल हो जाता है। जेल मे पहुँचने के बाद जमने-जमाने और बाहर की घटनाओ की चिन्ता से पीछा छुडाने मे कुछ समय लग जाता है। अब मैं तुम्हे बराबर पत्र लिखने की कोशिश करूँगा। लेकिन अब मैं एक दूसरी जेल मे हूँ और यह बदली मेरे पसन्द की नहीं है। इससे मेरे काम मे कुछ रुकावट पडती है। इस जेल मे मेरा क्षितिज इतना ऊँचा हो गया है जितना पहले कभी नही रहा। यहाँ मेरे सामने जो दीवार है उसकी तुलना, कम-से-कम ऊँचाई मे तो, चीन की दीवार से होनी चाहिए। यह क़रीब २५ फुट ऊँची लगती है और हर रोज़ सुबह

सूरज की किरणो को इसे पार करके हमारे पास तक पहुँचने मे डेढ़ घण्टा ज्यादा लग जाता है।

हमारा क्षितिज थोडी देर के लिए सीमित भले ही हो; लेकिन विशाल नीले समुद्र और पहाडो और रेगिस्तानो, और दस महीने पहले तुमने, तुम्हारी मम्मी ने और मैंने जो स्वप्नयात्रा की, इन सबकी याद, जो आज कल्पना की-सी बात हो गई है, बहुत भली मालूम होती है।

: २२ :

## जीविका के लिए मनुष्य का संघर्ष

२८ मार्च, १९३२

आओ, अब हम दुनिया के इतिहास के सिलसिले को, जहाँ से हमने उसे छोडा था, फिर शुरू करें और अतीत की कुछ झाँकियाँ देखने की कोशिश करें। यह एक उलझा हुआ जाल है जिसका सुलझाना मुश्किल है और इसके सारे हिस्सो पर एक साथ नजर डाल सकना और भी ज्यादा मुश्किल है। कभी-कभी हम उसके किसी खास टुकडे मे उलझने लगते हैं और उसे जरूरत से ज्यादा महत्व देने लगते हैं। करीब-करीब सभीकी यह भावना होती है कि अपने देश का, चाहे वह कोई-सा देश हो, इतिहास दूसरे देशो के इतिहास से ज्यादा शानदार है और अध्ययन के ज्यादा योग्य है। इस चीज के खिलाफ मैं एक बार पहले भी तुम्हे चेतावनी दे चुका हूँ, और आज फिर दह देना चाहता हूँ। इस जाल मे फँस जाना बहुत ही आसान है। सच तो यह है कि इसीसे बचाने के लिए मैंने तुम्हें इन पत्रो का लिखना शुरू किया था। लेकिन इसके बावजूद कभी-कभी मैं महसूस करता हूँ कि मैं खुद वही ग़लती कर बैठता हूँ। लेकिन अगर खुद मेरी ही शिक्षा मे कसर है और जो इतिहास मुझे पढाया गया, वही ऊट-पटांग है तो इसमे मेरा क्या कसूर ? इस कमी को पूरा करने के लिए मैंने जेल के एकान्त मे आगे अध्ययन करने की कोशिश की और उसमे मुझे शायद कुछ हद तक कामयाबी भी मिली है। लेकिन अपने मन की चित्रशाला मे घटनाओ और व्यक्तियो की जिन तसवीरो को मैंने अपने बचपन और जवानी के दिनो मे लटकाया था, उन्हे वहाँ से हटा नही सकता। इतिहास के बारे मे मेरे दृष्टिकोण पर, जो अधूरे ज्ञान की वजह से वैसे ही काफी सीमित है, इन तसवीरो का भी असर पड़ता है। इसलिए जो कुछ मैं लिखूंगा उसमे मुझसे ग़लतियाँ होगी, बहुत-सी बेमतलब बातें लिख जाऊंगा और कई बार बहुत-सी महत्वपूर्ण बातो का ज़िक्र तक करना भूल जाऊंगा। लेकिन ये पत्र इसलिए लिखे भी नही गये हैं कि वे इतिहास की पुस्तकों की जगह ले लें। ये तो उस आपसी छोटी-छोटी बातचीत की तरह हैं—कम-से-कम मैं तो

इन्हें ऐसा ही समझकर खुश होता हूँ—जो हम दोनों में होती, अगर एक हजार मील का फासला और कई ठोस दीवारें हम दोनों को जुदा न किये होती।

मैं उन मशहूर आदमियों के बारे में तुम्हें लिखे बिना नहीं रह सकता जिनके शानदार कारनामों से इतिहास के पृष्ठ भरे हुए हैं। अपने ढंग पर उनके खुद के हाल भी दिलचस्प हैं और उनसे हमें उस जमाने को समझने में मदद मिलती है जिसमें वे हुए थे। लेकिन इतिहास सिर्फ बड़े-बड़े आदमियों, बादशाहों, सम्राटों या इन्हीं तरह के दूसरे व्यक्तियों के कारनामों का लेखा ही तो नहीं है। अगर ऐसा होता तो इतिहास का काम अभी तक खत्म हो जाना चाहिए था, क्योंकि बादशाह और शहंशाह दुनिया के रंगमंच पर अब अकड़कर चलते हुए दिखाई नहीं देते। लेकिन वास्तव में महान् स्त्रियों और पुरुषों को अपने प्रदर्शन के लिए किसी ताज या तख्त या हीरे जवाहरात या खिताबों की जरूरत नहीं है। सिर्फ राजाओं और नवाबों को, जिनके अन्दर सिवाय राजापन या नवाबी के और कुछ भी नहीं होता, अपना नंगापन छिपाने के लिए तरह-तरह की वर्दियाँ और राजसी पोशाकें पहननी पड़ती हैं। बदकिस्मती से इस ऊपरी दिखावे से हममें से बहुत-से इस असर में आ जाते हैं और लोग धोखे में फँस जाते हैं और सिर पर ताज रखनेवाले नाम-मात्र के राजा को राजा कहने की ग़लती कर लेते हैं।

असली इतिहास में इधर-उधर के कुछ इने-गिने व्यक्तियों का वर्णन नहीं होना चाहिए, बल्कि जनता के लोगों का होना चाहिए, जिनसे राष्ट्र बनता है, जो मेहनत करते हैं और अपने श्रम से जीवन की जरूरतों और सुख-सुविधा की चीजें पैदा करते हैं, और जो हजारों ढंग से एक दूसरे पर असर डालते हैं। मनुष्य-जाति का ऐसा इतिहास सचमुच एक चित्ताकर्षक कहानी होगी। यह कहानी होगी युगों से चले आते हुए मनुष्य के प्रकृति और उसके तत्वों वगैरा से, जंगली जानवरों और जंगलों से, संघर्ष की, और अन्त में उस कठिन संघर्ष की जो उसे अपनी ही जाति के कुछ ऐसे लोगों के खिलाफ करना पड़ा, जिन्होंने अपने स्वार्थ के लिए उसे दबाये रखने की और उसका शोषण करने की कोशिश की। इतिहास तो जीविका के लिए मनुष्य के संघर्ष की कहानी है, और चूंकि जिन्दा रहने के लिए कुछ चीजें, जैसे भोजन, रहने की जगह, और ठण्डे मुल्कों में कपड़े, जरूरी हैं, इसलिए जिन लोगों का जरूरत के इन सामानों पर नियन्त्रण रहा, उन्होंने अपनी हुकूमत जमा ली। राजाओं और हाकिमों के हाथ में सत्ता इसी वजह से रही है, कि जीविका के कुछ आवश्यक साधनों पर उनका अधिकार या नियन्त्रण था और इस नियन्त्रण ने उन्हें जनता को भूखों मारकर अपने वश में कर लेने की ताकत दे दी। इसी वजह से हमें यह अजीब दृश्य देखने को मिलता है कि मुट्ठी भर आदमी बहुत बड़े जन-समुदाय को चूस रहे हैं, बहुत-से आदमी बिना कुछ मेहनत

किये ही रुपया कमा रहे हैं और बहुत बडी सख्या मे ऐसे लोग हैं, जो मेहनत करते हैं, लेकिन कमाते बहुत कम हैं।

शुरू मे अकेले शिकार करनेवाला जगली आदमी धीरे-धीरे अपना कुटुम्ब बना लेता है और फिर सारा कुनवा मिलकर और एक दूसरे के फायदे के लिए मेहनत करता है। बहुत-से कुनबे आपस मे मिलकर गाँव बना लेते हैं, और बाद मे कई गाँवो के मज़दूर, व्यापारी और दस्तकार मिलकर कारीगरो के सघ बना लेते है। इस तरह धीरे-धीरे सामाजिक इकाई बढती दीखती है। शुरू मे व्यक्ति था जो जगली था। उस समय किसी तरह का कोई समाज नही था। उसके बाद कुटुम्ब उससे बडी इकाई बनी, और उसके बाद गाँव और फिर गाँवो का समूह बना। इस सामाजिक इकाई का विकास क्यो हुआ ? इसलिए कि जीविका के लिए सघर्ष ने मनुष्य को उन्नति और सहयोग करने पर मजबूर कर दिया, क्योकि सहयोग के साथ समान शत्रु से बचाव करना या उस पर हमला करना ज्यादा कारगर होता है, बनिस्बत इसके कि सब अलग-अलग अपना बचाव करें या हमला करें। काम करने मे सहयोग इससे भी ज्यादा मददगार साबित हुआ। अकेले काम करने की बनिस्बत मिल-जुलकर काम करने से वे भोजन और दूसरी आवश्यक चीजें कही ज्यादा पैदा कर सकते थे। काम मे इस सहयोग के फलस्वरूप आर्थिक इकाई का भी विकास होने लगा—जहाँ पहले अकेला जगली आदमी अपने लिए ही शिकार करता था, वहाँ अब बडे-बडे समुदाय बन गये। बहुत मुमकिन है कि मनुष्य की आजीविका के इस सघर्ष की वजह से आर्थिक इकाई का जो विकास हुआ उसीसे समाज और सामाजिक इकाई का विकास हुआ हो। इतिहास के लम्बे विस्तार मे हम लगातार सघर्ष और मुसीबतो के बीच भी यह विकास बराबर देखते आये हैं, और कभी-कभी उलटी धारा भी बही है। लेकिन तुम यह न समझ बैठना कि इस विकास का यह मतलब है कि दुनिया बहुत आगे बढ़ गई है, या पहले से ज्यादा सुखी हो गई है। सम्भव है, पहले से आज उसकी हालत बेहतर हो, लेकिन पूर्णता से अभी वह बहुत दूर है और हर जगह काफी दुख और दरिद्रता है।

जैसे-जैसे आर्थिक और सामाजिक इकाइयाँ विकास करती गईं, ज़िन्दगी भी और ज्यादा पेचीदा होती गई। वाणिज्य और व्यापार ने तरक्की की। उपहार की जगह चीज़ो की अदला-बदली शुरू हुई। और फिर सिक्के का चलन हुआ, जिसने लेन-देन के सब व्यवहारो मे जबर्दस्त अन्तर पैदा कर दिया। इससे व्यापार मे एकदम तरक्की हुई, क्योकि सोने और चाँदी के सिक्को मे दाम दिये जाने की वजह से खरीद-बिक्री आसान हो गई। इसके बाद सिक्को का इस्तेमाल भी हमेशा जरूरी नही रहा और लोगो ने उनकी जगह प्रतीक इस्तेमाल करने शुरू कर दिये। काग़ज़ का टुकडा, जिसपर अदायगी का वादा लिखा हुआ हो, काफी समझा

जाने लगा। इस प्रकार बैंक-नोटो और चैंको का चलन शुरू हुआ। इसका मतलब यह हुआ कि व्यापार उधार या साख पर चलने लगा। साख या उधार के तरीके से व्यापार और वाणिज्य मे और भी ज्यादा मदद मिलती है। तुम जानती ही हो कि आजकल चैंक और बैंक-नोटो का काफी इस्तेमाल होता है और समझदार आदमी अब अपने साथ सोने और चांदी की थैलियां लिये नही फिरते।

इस तरह हम यह देखते है कि ज्यो-ज्यो धुंधले अतीत मे से इतिहास आगे बढता है, लोग माल की उपज बढाते जाते हैं और खास-खास धन्धे अपनाते जाते हैं, आपस-मे माल की अदला-बदली करते हैं और इस तरह व्यापार की उन्नति करते हैं। हम यह भी देखते है कि आवागमन के नये और बेहतर साधनो का विकास हुआ, खासकर पिछले सौ वर्षों मे, भाप के इंजन की ईजाद के बाद। ज्यो-ज्यो पैदावार बढी, दुनिया की सम्पत्ति बढी और कम-से-कम कुछ आदमियो को ज्यादा फुरसत मिल गई। और इस तरह जिसे हम सभ्यता कहते हैं, उसका विकास होता है।

यह सब होता है और लोग आजकल के प्रबुद्ध और प्रगतिशील युग की, अपनी आधुनिक सभ्यता, महान् संस्कृति और विज्ञान के चमत्कारो की डीगें मारते हैं। लेकिन ग़रीब लोग अभी भी गरीब और दुखी बने हुए हैं, बडे-बडे राष्ट्र एक दूसरे से लडते हैं और लाखो आदमियो की हत्या करते हैं, और हमारे देश-जैसे बडे-बडे देशो पर विदेशी लोग हुकूमत करते हैं। ऐसी सभ्यता से क्या लाभ अगर हमें अपने ही घर मे आज़ादी नसीब नही है ? लेकिन अब हम जाग चुके हैं, और आगे बढने की कोशिश कर रहे हैं।

कितने सौभाग्य की बात है कि हम आज के इस हलचल के ज़माने मे रह रहे हैं, जबकि हरेक आदमी महान् साहसिक कार्यों मे हिस्सा ले सकता है और सिर्फ भारत को ही नही बल्कि सारी दुनिया को बदलती हुई देख सकता है। तुम बडी खुशकिस्मत लडकी हो, कि तुम उसी साल और महीने मे पैदा हुईं जिसमे एक महान् क्रान्ति ने रूस मे नया युग शुरू किया। और आज तुम अपने ही देश मे एक क्रान्ति देख रही हो और बहुत सम्भव है कि जल्दी ही तुम इसमे हिस्सा भी लो। सारी दुनिया मे मुसीबत फैली हुई है और परिवर्तन हो रहा है। सुदूर-पूर्व मे जापान चीन का गला घोट रहा है। पश्चिम मे ही नही बल्कि सारी दुनिया मे पुरानी प्रणाली लडखडा रही है और धडाम से गिरने ही वाली है। संसार के राष्ट्र बातें तो निरस्त्रीकरण की करते हैं, लेकिन एक-दूसरे से सन्देह को नज़र से देखते हैं और अपने को पूरी तरह हथियार-बन्द करते रहते हैं। पूंजीवाद की, जो इतने ज्यादा अर्से से दुनिया के ऊपर हावी रहा है, अब शाम होने आई है। जिस दिन यह खत्म होगा, और खत्म तो उसे ज़रूर ही होना पडेगा, वह अपने साथ बहुत-सी बुराइयो को भी लेता जायगा।

: २३ :

# सिंहावलोकन

२९ मार्च, १९३२

युगो की अपनी यात्रा मे हम कहाँ तक आ पहुँचे हैं ? हम मिस्र, भारत, चीन और नोसास के गुज़रे दिनो की कुछ चर्चा पहले ही कर चुके हैं। हमने यह देखा कि मिस्र की प्राचीन और अद्‌भुत सभ्यता, जिसने पिरेमिड बनाये, धीरे-धीरे जर्जर हो गई और एक छायामात्र रह गई, जिसमें सिवाय ऊपरी बातो और प्रतीको के जीवन-तत्व कुछ भी न बचा। हमने यह भी देखा कि नोसास को यूनान की मुख्य भूमि के निवासी उसी के जाति-भाइयो ने नष्ट कर दिया। भारत और चीन के धुंधले और प्राचीन प्रारम्भिक काल पर भी हमने एक नज़र डाली, हालाँकि जानकारी की काफी सामग्री न मिलने की वजह से हम ज्यादा नहीं जान सके, लेकिन इतना हमने ज़रूर पहचाना कि उस ज़माने मे भी इनकी सभ्यता कितनी सम्पन्न थी। हमने ताज्जुब के साथ यह भी देखा कि ये दोनो देश सास्कृतिक लिहाज़ से अपने हज़ारो वर्ष पुराने अतीत के साथ अटूट कड़ियो से जुडे हुए हैं। इराक़ मे हमे उन साम्राज्यो की ज़रा-सी झलक मिली, जो एक के बाद एक थोडे दिनो के लिए फूले-फले और बाद मे उनका वही हाल हुआ जो साम्राज्यो का हुआ करता है।

हमने जुदा-जुदा देशो के कई महान् विचारको का भी कुछ जिक्र किया है, जो ईसा से पाँच-छ सौ वर्ष पहले हुए थे—भारत मे बुद्ध और महावीर, चीन मे कनफ़्यूशस और लाओ-त्से, ईरान मे ज़रथुस्त और यूनान मे पाइथागोर। हमने देखा कि बुद्ध ने भारत के प्राचीन वैदिक धर्म के प्रचलित रूपो पर और पुरोहिताई पर वार किया था, क्योकि उन्होंने देखा कि तरह-तरह के अन्धविश्वास और पूजा-पाठ से साधारण जनता को ठगा और मूँडा जा रहा था। उन्होंने जाति-प्रथा के खिलाफ आवाज़ उठाई और समानता का उपदेश दिया।

इसके बाद फिर हम पश्चिम की ओर चले गए, जहाँ एशिया और यूरोप एक-दूसरे से मिलते हैं। ईरान और यूनान के उतार-चढावो पर नज़र डालते हुए हमने देखा कि ईरान मे कैसे एक बडा साम्राज्य कायम हुआ और किस तरह 'शहशाह' दारा ने, उसे ठेठ भारत मे सिन्ध तक बढा दिया, किस तरह इस साम्राज्य ने छोटे-से यूनान को निगल जाने की कोशिश की, लेकिन बडी हैरानी से देखा कि इस छोटे-से देश ने उलटकर टक्कर मारी और डटकर अपनी रक्षा की। इसके बाद यूनान के इतिहास का वह थोडे दिन का लेकिन शानदार ज़माना आया, जिसके बारे मे मैं तुम्हें कुछ बता चुका हूँ और जब वहाँ ढेरों प्रतिभाशाली

और महान् पुरुष हुए, जिन्होने साहित्य और कला की उच्चतम सौन्दर्यमयी रचनाएँ रची।

यूनान का यह स्वर्ण युग बहुत दिनो तक टिका नही रहा। मकदूनिया के सिकन्दर ने अपनी देश-विजयो से यूनान का नाम दूर-दूर मशहूर कर दिया; लेकिन उसके साथ ही यूनान की ऊँची सस्कृति धीरे-धीरे मुरझाने लगी। सिकन्दर ने ईरानी साम्राज्य को नष्ट कर दिया और विजेता बनकर भारत की सीमा को भी पार किया। इसमे शक नही कि वह बहुत बडा सेनापति था, लेकिन पुरानी परम्परा ने उसके नाम के साथ बेशुमार दन्तकथाएँ गूंथ दी हैं और उससे उसे इतनी शोहरत मिल गई है जितनी का कि वह किसी तरह पात्र नही था। सिर्फ अच्छे पढे-लिखे लोग ही सुकरात या अफलातून या फीदियस[1] या सोफोक्ले या यूनान के दूसरे महापुरुषो के बारे मे कुछ जानते हैं। लेकिन सिकन्दर का नाम किसने नही सुना?

सिकन्दर ने दूसरो के मुकाबले मे ज्यादा कुछ नही किया। ईरानी साम्राज्य पुराना हो गया था और डगमगा रहा था और उसके बहुत दिनो तक टिके रहने की कोई सम्भावना नही थी। भारत मे सिकन्दर का कदम रखना एक मामूली छापा था, जिसका कोई महत्व नही था। अगर सिकन्दर ज्यादा दिन ज़िन्दा रहता तो सम्भव है, कुछ अधिक ठोस काम कर जाता। लेकिन वह जवानी मे ही मर गया और तुरन्त ही उसका साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया। लेकिन उसका साम्राज्य भले ही क़ायम न रहा, उसका नाम अभी तक चला आता है।

सिकन्दर के पूर्वी धावे का एक बडा असर यह हुआ कि पूर्व और पश्चिम के बीच नये सम्पर्क कायम हो गये। बहुत-से यूनानी पूर्व की तरफ आये और पुराने शहरो मे या अपने बसाये हुए नये उपनिवेशों में बस गये। सिकन्दर से पहले भी पूर्व और पश्चिम के बीच आपसी सम्पर्क और व्यापार चलता था। लेकिन उसके बाद यह और भी ज्यादा बढ़ गया।

सिकन्दर के हमलो का शायद दूसरा असर, अगर यह ख़याल सही हो, तो यूनानियो के लिए बडी कम्बख्ती का हुआ। कुछ लोगो का मत है कि उसके सैनिक अपने साथ इराक के दलदलों से मलेरिया के मच्छर यूनान के निचले प्रान्तो मे ले गये। इससे मलेरिया फैला और उसने यूनानी कौम को कमज़ोर और क्षीण

[1] फीदियस—यूनान देश का एक मशहूर शिल्पकार। इसका समय ईसा से ५ सौ वर्ष पहले बताया जाता है। ओलिम्पस पहाड पर इसने यूनानी देवता जुपिटर की एक मूर्ति बनाई थी। यह मूर्ति सोने और हाथी दाँत की थी और उसकी गिनती दुनिया की सात अद्भुत चीज़ों मे की जाती थी।

बना दिया। यूनानियों के पतन के कारणों में एक कारण यह भी बताया जाता है। लेकिन यह सिर्फ कल्पना है और कोई नहीं जानता कि इसमें सचाई कितनी है।

सिकन्दर का थोड़े दिन की जिन्दगीवाला साम्राज्य खत्म हो गया। लेकिन उसकी जगह कई छोटे-छोटे साम्राज्य पैदा हो गये। उनमें से एक मिस्र का साम्राज्य था, जो तालमी के अधीन था और दूसरा पश्चिमी एशिया का सेलेउक के मातहत था। तालमी और सेलेउक दोनों सिकन्दर के सेनापति थे। सेलेउक ने भारत पर कब्जा करना चाहा लेकिन वह यह देखकर पछताया कि भारत भी ज़ोरदार जवाबी टक्कर दे सकता है। चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने सारे उत्तरी और मध्य भारत पर अपना शक्तिशाली राज्य कायम कर लिया था। चन्द्रगुप्त, उसके प्रसिद्ध ब्राह्मण मन्त्री चाणक्य, और उसकी लिखी हुई पुस्तक अर्थशास्त्र के बारे में मैं अपने पिछले पत्रों में कुछ हाल लिख चुका हूँ। सौभाग्य की बात है कि यह ग्रन्थ आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले के भारत की अच्छी तसवीर हमारे सामने रख देता है।

हमारा सिंहावलोकन पूरा हो गया और अब अगले पत्र में मौर्य्य-साम्राज्य और अशोक के बारे में आगे लिखा जायगा। चौदह महीने से ऊपर हुए २५ जनवरी, सन् १९३१ ई० को, नैनी-जेल से मैंने यह वादा किया था। उस वादे को मुझे अभी पूरा करना बाकी है।

: २४

## 'देवानां प्रिय' अशोक

३० मार्च, १९३२

मुझे लगता है कि शायद मैं राजा-महाराजाओं की बुराई करने का जरूरत से ज्यादा शौक़ीन हो गया हूँ। मुझे इस वर्ग में कोई ऐसा कुछ नहीं दिखाई देता जिसकी तारीफ या इज्ज़त करूँ। लेकिन अब हम एक ऐसे व्यक्ति का जिक्र करने-वाले हैं जो बादशाह और सम्राट् होते हुए भी महान् था और मानव-प्रशंसा के लायक था। वह था चन्द्रगुप्त मौर्य्य का पोता अशोक। एच० जी० वेल्स ने (जिनकी कुछ रोमानी रचनाएँ तुमने पढ़ी होंगी) अपनी 'इतिहास की रूप-रेखा'[1] में उसके बारे में लिखा है—"इतिहास के पृष्ठों में संसार के जिन तरह-तरह की उपाधियों-वाले लाखों राजाओं के नाम भरे पड़े हैं, उनमें अकेले अशोक का नाम ही सितारे की तरह चमकता है। वोल्गा नदी से जापान तक आज भी उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत ने भी—हालाँकि उसने उसके धर्म-

---

[1] Outline of History—H. G. Wells

सिद्धान्तो को छोड दिया है---उसकी महानता की परम्परा को कायम रक्खा है। आज अशोक का नाम श्रद्धा के साथ याद करनेवालो की सख्या उनसे कही ज्यादा है जिन्होंने कॉन्स्तेन्तीन[1] या शार्लमेन[2] के नाम कभी सुने हो।"

यह वास्तव मे बहुत ऊँचे दर्जे की प्रशसा है। लेकिन अशोक इसका पात्र था, और एक भारतवासी का हृदय तो भारत के इतिहास के इस काल का विचार करने मे आनन्द से भर जाता है।

चन्द्रगुप्त की मृत्यु ईसाई सन् के शुरु होने के करीब ३०० वर्ष पहले हुई। उसके बाद उसका पुत्र बिन्दुसार गद्दी पर बैठा जिसने पच्चीस वर्ष तक शान्ति के साथ शासन किया। यूनानी जगत् से उसने अपना सम्पर्क बनाये रक्खा। उसके दरबार मे पश्चिम एशिया के सेल्यूक के पुत्र अन्तीओक और मिस्र के तालमी की ओर से राजदूत आते थे। बाहरी दुनिया से व्यापार बराबर जारी था और कहा जाता है कि मिस्रवाले अपने कपडे भारत के नील से रँगा करते थे। कहते हैं कि ये लोग अपनी मोमियाईयाँ भारत की मलमल मे लपेटते थे। विहार मे कुछ पुराने अवशेष मिले हैं, जिनसे मालूम होता है कि मौर्य्य-युग के पहले भी वहाँ एक तरह का काँच बनाया जाता था।

तुम्हे यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि मैगस्थेने ने जो चन्द्रगुप्त के दरबार मे राजदूत होकर आया था, लिखा है कि भारतीय लोग सिंगार और सौन्दर्य के बडे प्रेमी थे। उसने इस बात का खासतौर से ज़िक्र किया है कि लोग अपना क़द ऊँचा करने के लिए जूते पहनते थे। इससे मालूम होता है कि ऊँची एडी का जूता कोई हाल की ईजाद नही है।

बिन्दुसार की मृत्यु होने पर ईसा से २६८ वर्ष पूर्व अशोक उस विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, जिसमे सारा उत्तर और मध्य भारत शामिल था और जो ठेठ मध्य एशिया तक फैला हुआ था। शायद भारत के बाकी दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी हिस्से को अपने साम्राज्य मे मिलाने की इच्छा से उसने अपने राज्य के नवें वर्ष मे कलिंग पर चढाई की। कलिंग भारत के पूर्वी समुद्रतट पर महानदी, गोदावरी और कृष्णा नदियो के बीच का देश था। कलिंगवाले बडी

---

[1] कॉन्स्तेन्तीन या कॉन्स्टेन्टाइन---बिजैंतीन साम्राज्य का पहला बादशाह जो 'महान्' कहलाता है। इसका समय २७३-३३७ ई० है। तुर्की का क़ुस्तुन्तुनिया नगर इसीका बसाया हुआ है। अब इस शहर का नाम इस्तम्बूल है और यह तुर्की की राजधानी है।

[2] शार्लमेन---पवित्र रोमन-सम्राट् और फ्रान्सीसी जाति का राजा था। इसका जन्म सन् ७४२ मे हुआ था। इसके साम्राज्य मे क़रीब सारा पश्चिमी यूरोप था। ८१४ ई० मे इसकी मृत्यु हुई।

बहादुरी से लडे, लेकिन आखिर मे बहुत भयकर मार-काट के बाद वे कुचल दिये गए। इस युद्ध और मार-काट का अशोक के दिल पर इतना गहरा असर हुआ कि उसे युद्ध और युद्ध की सब कारंवाइयो से घृणा हो गई। उसने यह तय कर लिया कि आगे वह कोई युद्ध नहीं करेगा। दक्षिण के एक छोटे-से सिरे को छोडकर करीब-क़रीब सारा भारत उसके क़ब्ज़े मे था। इस छोटे-से सिरे को जीतकर अपनी विजय पूर्ण कर लेना उसके लिए बहुत आसान बात थी, लेकिन उसने ऐसा नही किया। एच० जी० वेल्स के अनुसार इतिहास भर में अशोक ही एक ऐसा सैनिक राजा हुआ है, जिसने विजय के बाद युद्ध करना त्याग दिया हो।

सौभाग्य से हमारे पास खुद अशोक के ही शब्द हैं, जिनसे पता लगता है कि उसके क्या विचार थे और उसने क्या-क्या काम किये। पत्थरो या धातु-पत्रों पर खुदवाये हुए अनेक धर्मलेखो में अपनी प्रजा और भावी सन्तति के नाम उसके सन्देश आज भी मिलते हैं। तुम जानती ही हो कि इलाहाबाद के किले मे अशोक का एक ऐसा ही स्तम्भ है। हमारे प्रान्त मे इस तरह के और भी कई स्तम्भ हैं।

इन धर्मलेखो मे अशोक ने बताया है कि युद्ध और देश-विजय मे होनेवाली हत्याओ से उसके दिल मे कितनी घृणा और कितना अनुताप हुआ। उसका कहना है कि धर्म से अपने और मानव-हृदय के ऊपर विजय हासिल करना ही एकमात्र सच्ची विजय है। मैं तुम्हारे लिए इन धर्मलेखो मे से दो-एक यहाँ देता हूँ। उन्हें पढ़कर मन मोहित हो जाता है। उनसे तुम्हें अशोक को समझने मे मदद मिलेगी।

एक धर्मलेख मे कहा गया है—

> "देवाना प्रिय प्रियदर्शी महाराज ने अपने अभिषेक के आठ वर्ष बाद कलिंग को जीता। डेढ लाख आदमी वहाँ से कैद करके लाये गए, एक लाख वहाँ मारे गए और इससे कई गुना अधिक मर गये।
>
> "कलिंग-विजय के ठीक बाद ही देवाना प्रिय बडे उत्साह से धर्म की रक्षा, धर्म के पालन और धर्म के प्रचार मे जुट गये। उनके हृदय मे कलिंग-विजय के लिए पश्चात्ताप शुरू हुआ, क्योकि किसी अपराजित देश पर विजय प्राप्त करने मे लोगो की हत्या, मृत्यु और देश-निष्कासन जरूरी हो जाता है। देवाना प्रिय को इस बात पर बहुत गहरा दुःख और खेद होता है।"

आगे चलकर इसी धर्मलेख मे लिखा है कि कलिंग मे जितने आदमी मारे गए, या कैद हुए उसके सौवे या हजारवें हिस्से का भी मारा जाना या कैद किया जाना अब अशोक को सहन नहीं होगा।

> "इसके सिवा अगर कोई देवाना प्रिय का अपकार भी करेगा तो वह उसे, यदि वह क्षमा के योग्य है तो क्षमा कर देंगे। अपने साम्राज्य

अशोक का साम्राज्य
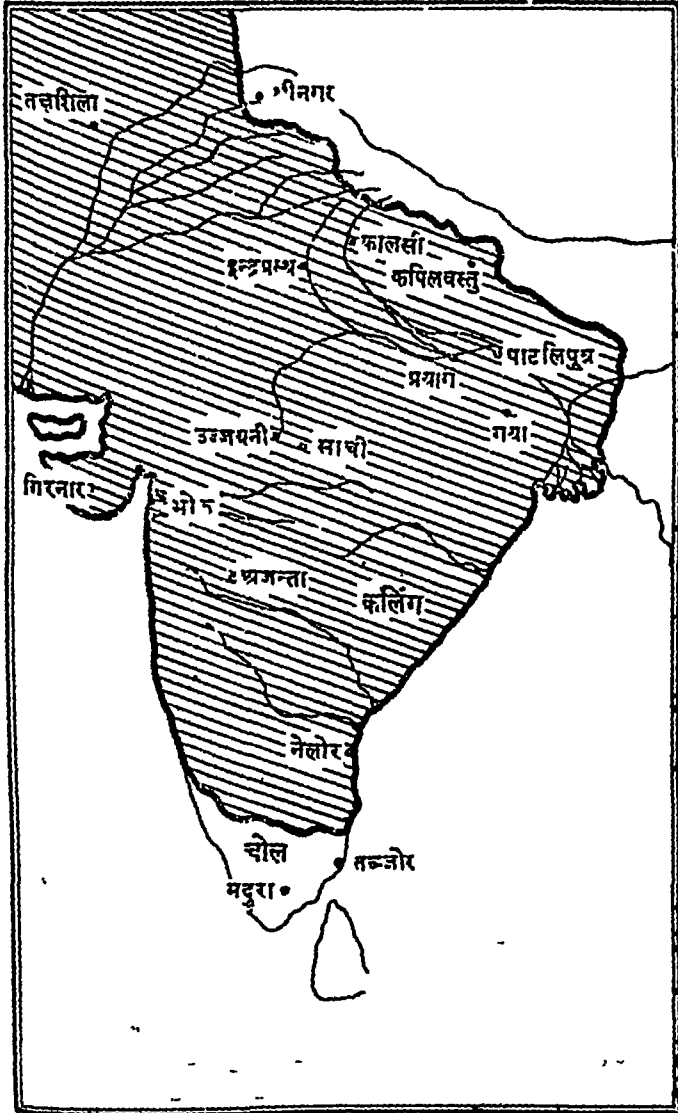
तक्षशिला
कालसी
इन्द्रप्रस्थ
कपिलवस्तु
पाटलिपुत्र
प्रयाग
गया
उज्जयनी
साची
गिरनार
अजन्ता
कलिंग
नेलोर
चोल
मदुरा

के वनवासियो को भी देवाना प्रिय सन्तुष्ट रखते हैं और उन्हे धर्म मे लाने का यत्न करते है, क्योंकि अगर वह ऐसा न करें तो उन्हें पश्चात्ताप होता है। देवाना प्रिय की इच्छा है कि समस्त प्राणियो के साथ अहिंसा, सयम, समानता और मृदुता का व्यवहार किया जाय।"

इसके आगे अशोक बताता है कि 'उपासना' और 'शील' से मनुष्यो का हृदय जीतना ही सच्ची विजय है और उसने हमे बताया है कि उसे ऐसी सच्ची विजय केवल अपने ही साम्राज्य मे नही, बल्कि दूर-दूर के राज्यो मे भी प्राप्त हुई।

जिस धर्म का इन धर्मलेखो मे बार-बार जिक्र आया है वह बौद्ध धर्म है। अशोक बडा उत्साही बौद्ध हो गया था और उसने इस धर्म के प्रचार की भरसक कोशिश की। लेकिन उसमे किसी तरह की जबर्दस्ती या दबाव का नाम-निशान भी नही था। वह लोगो के दिलो को जीतकर ही उन्हे बौद्ध-धर्म का अनुयायी बनाना चाहता था। धर्म-प्रचारको मे ऐसे बहुत कम क्या, बिलकुल ही कम हुए हैं जो अशोक की तरह दूसरे धर्मों के प्रति इतने उदार रहे हो। लोगो को अपने धर्म मे लाने के लिए धर्म-प्रचारको ने बल, आतक और धोखेबाजी काम मे लाने मे आनाकानी नही की है। सारा इतिहास मजहबी अत्याचारो और मजहबी युद्धो मे भरा पटा है और मजहब व ईश्वर के नाम पर जितना खून बहा है उतना शायद ही किसी दूसरे नाम पर बहा होगा। इसलिए यह याद करके खुशी होती है कि भारत के एक महान् सपूत ने, जो बहुत ही गहरा धार्मिक था और एक शक्तिशाली साम्राज्य का अध्यक्ष भी था, लोगो को अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए कैसा मार्ग अपनाया। ताज्जुब है कि कोई इतना बेवकूफ हो कि यह ख्याल करे कि धर्म और विश्वास तलवार या सगीन की नोक पर लोगो के गले उतारे जा सकते हैं।

इस प्रकार देवताओ के प्रिय, या धर्मलेखो के शब्दो मे 'देवाना प्रिय', अशोक ने पश्चिम मे एशिया, अफ्रीका और यूरोप के राज्यो मे अपने सन्देश-वाहक और राजदूत भेजे। तुम्हे याद होगा कि उसने अपने सगे भाई महेन्द्र और बहन सघमित्रा को लका भेजा था और कहा जाता है कि ये अपने साथ गया से पवित्र बोधि-वृक्ष की एक टहनी भी ले गये थे। तुम्हे याद है न कि अनुरुद्धपुर के मन्दिर मे हम लोगो ने एक पीपल का पेड देखा था? कहते हैं कि यह वही पेड है, जो उस प्राचीन टहनी से उगकर बडा हुआ है।

भारत मे बौद्ध-धर्म बहुत तेजी से फैल गया। और चूँकि अशोक के लिए कोरी प्रार्थनाओ और पूजा-पाठ और कर्मकाण्ड का नाम धर्म न था, बल्कि उसका अर्थ था नेक काम करना और समाज को ऊँचा उठाना, इसलिए सारे देश में सार्वजनिक बाग़-बग़ीचे, अस्पताल, कुएँ और सडकें बनाये जाने लगे। स्त्रियो की शिक्षा के लिए खास इन्तजाम किया गया था। चार बडे विश्वविद्यालयवाले नगर थे ठेठ

उत्तर मे पेशावर के पास तक्षशिला, मथुरा, मध्यभारत मे उज्जैन, और पटना के पास नालन्दा। यहाँ सिर्फ भारत के ही नही बल्कि चीन से लेकर पश्चिमी एशिया तक के दूर-दूर के देशो से विद्यार्थी पढने के लिए आते थे और लौटकर अपने देशो को बुद्ध के उपदेशो का सन्देश अपने साथ ले जाते थे। सारे देश मे बडे-बडे मठ बन गये थे, जो विहार कहलाते थे। मालूम होता है, पाटलिपुत्र या पटना के आसपास इतने ज्यादा विहार थे कि सारा प्रान्त ही विहार, या जैसा कि आजकल पुकारा जाता है, बिहार कहलाने लगा। लेकिन जैसा कि अक्सर होता है, ये विहार अध्ययन और विचार की साधना थोडे ही दिनो मे खो बैठे, और सिर्फ ऐसे स्थान बन गये जहाँ लोग एक ढर्रे पर चलते थे और पूजा-पाठ करते रहते थे।

जीव-रक्षा के लिए अशोक की लगन जानवरो तक के लिए बढ गई थी। जानवरो के लिए खासतौर से अस्पताल खोले गये थे, और पशु-बलि बन्द कर दी गई थी। इन दोनो बातो मे अशोक हमारे ज़माने मे भी कुछ आगे था। अफ़सोस की बात है कि पशुओ का बलिदान कुछ हद तक अभी भी जारी है और धर्म का एक जरूरी अग माना जाता है, और जानवरो के इलाज का कोई इन्तजाम नही है।

अशोक के उदाहरण से और बौद्ध-धर्म के प्रचार मे मांस न खाना बहुत अच्छा समझा जाने लगा। उस समय तक भारत के ब्राह्मण और क्षत्रिय आमतौर पर मांस खाते थे और शराब पीते थे। अशोक के ज़माने मे मांस खाना और मदिरा पीना दोनो ही बहुत कम हो गये।

इस तरह अशोक ने ३८ वर्ष राज किया और उसने शान्तिपूर्वक जनता की भलाई करने की भरसक कोशिश की। सार्वजनिक काम के लिए वह हमेशा तैयार रहता था

> "हर समय और हर जगह पर—चाहे मैं खाता होऊँ या रनिवास मे होऊँ, अपने सोने के कमरे मे होऊँ या टहलता होऊँ, या सवारी पर होऊँ या कूच कर रहा होऊँ, प्रतिवेदको का चाहिए कि वे प्रजा के हाल-चाल की मुझे बराबर सूचना देते रहे।" अगर कोई कठिनाई उठ खडी होती तो "चाहे जो समय या चाहे जो जगह हो" उसकी सूचना तुरन्त उसे दी जानी जरूरी थी, क्योंकि उसका कहना था कि "मैं प्रजा का काम सब जगह करता हूँ" और "सब लोगो का हित करना मैं अपना प्रधान कर्त्तव्य समझता हूँ।"

ईसा से २२६ वर्ष पूर्व अशोक की मृत्यु हो गई। मृत्यु के कुछ दिन पहले वह राजपाट छोडकर बौद्ध-भिक्षु हो गया था।

मौर्य्य-युग के बहुत कम अवशेष पाये जाते है। लेकिन जो मिलते हैं, वे हो,

अभी तक की खोज के अनुसार, भारत मे आर्य-सभ्यता के लगभग सबसे पहले अवशेष हैं। अभी हम मोहेन-जो-दडो के खण्डहरो का ज़िक्र नही कर रहे हैं। बनारस के पास सारनाथ मे तुम अशोक का सुन्दर स्तम्भ देख सकती हो, जिसकी चोटी पर शेर बने हु" हैं।

अशोक की राजधानी पाटलिपुत्र के विशाल नगर का अब कोई निशान बाकी नही है। पन्द्रह सौ वर्ष पहले, यानी अशोक के छ सौ वर्ष बाद, फाहियान[1] नामक एक चीनी यात्री ने पाटलिपुत्र वास्तव मे देखा था। उस समय यह नगर गुलजार था और मालदार और खुशहाल था, लेकिन तबतक अशोक का पत्थर का राजमहल खण्डहर हो चुका था। इन खण्डहरो ने ही फाहियान को बहुत प्रभावित किया और उसने अपनी यात्रा के विवरण मे लिखा है कि राजमहल मनुष्यो का बनाया हुआ नही मालूम होता था।

बडे भारी-भारी पत्थरो से बना हुआ राजमहल नष्ट हो गया और अपनी कोई निशानी नही छोड गया, लेकिन अशोक की कीर्ति एशिया के सारे महाद्वीप मे आज भी जीवित है और उसके धर्मलेख आज भी ऐसी भाषा बोलते हैं, जिसे हम समझ सकते है और जिसकी कीमत हम पहचान सकते हैं। आज भी हम उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं। यह पत्र बहुत लम्बा हो गया है और मुमकिन है तुम इससे उकता जाओ। अशोक के एक धर्मलेख से एक उद्धरण देकर मैं इसे खत्म करता हूँ—

> "हर अवस्था मे दूसरे सम्प्रदायो का आदर करना लोगो का कर्त्तव्य हैं। ऐसा करने से मनुष्य अपने सम्प्रदाय की अधिक उन्नति और दूसरे सम्प्रदायो का उपकार करता है।"

## : २५ :

## अशोक के ज़माने की दुनिया

३१ मार्च, १९३२

हम देख चुके हैं कि अशोक ने दूर-दूर के देशो मे धर्म-प्रचारक और राजदूत भेजे थे और इन देशो से भारत का सम्पर्क और व्यापार बराबर जारी था। हाँ, जब मैं उस ज़माने के सम्पर्क का या व्यापार का ज़िक्र करता हूँ तो तुम्हे यह बात जरूर ध्यान मे रखनी चाहिए कि वह आजकल जैसा बिलकुल नहीं था। अब तो रेल और

---

[1] फाहियान—एक चीनी बौद्ध यात्री था। मगध-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय मे भारत में आया था और ६ बरस तक यहाँ घूमता रहा। इसने उस ज़माने के भारतवर्ष का बहुत अच्छा वर्णन लिखा है। इसका समय ३७५ ई० है।

जहाज और हवाई-जहाज से माल और मुसाफिरो का एक जगह से दूसरी जगह आना-जाना बहुत आसान हो गया है। लेकिन दूर अतीत के उस जमाने मे हर सफ़र मे खतरा रहता था और दिन भी बहुत लग जाते थे। इसलिए सिर्फ साहसी और तगडे लोग ही सफर किया करते थे। इसलिए उस वक्त के और आज के व्यापार की किसी भी तरह तुलना नही हो सकती।

वे कौन-से 'दूर के देश' थे जिनका ज़िक्र अशोक ने किया ? उसके समय की दुनिया कैसी थी ? मिस्र और भूमध्यसागर के किनारे के देशो के सिवा हम उस वक्त के अफ्रीका के बारे मे कुछ नही जानते। हमे उत्तरी, मध्य और पूर्वी यूरोप, या उत्तरी और मध्य एशिया के बारे मे भी बहुत कम मालूम है। अमेरिका के बारे मे भी हम कुछ नही जानते, लेकिन बहुत-से लोग ऐसा समझते है कि अमेरिका के महाद्वीपो मे बहुत प्राचीन काल से काफी ऊँची सभ्यता पाई जाती थी। बहुत दिनो बाद, ईसा की १५वी सदी मे, कहते हैं कोलम्बस ने अमेरिका को 'खोज निकाला'। लेकिन हमे पता चलता है कि उस समय भी दक्षिण अमेरिका के पेरू मे और आस-पास के देशो मे बहुत ऊँचे दर्जे की सभ्यता मौजूद थी। इसलिए यह बहुत सम्भव है कि ईसा के तीन सौ वर्ष पहले, जब भारत मे अशोक हुआ, अमेरिका मे सुसस्कृत लोग रहते हो और उन्होंने अपने सुसगठित समाज बनाये हो। लेकिन इस बारे मे कोई तथ्य की बात नही मिलती, और अन्दाजा लगाने से कोई खास फायदा नही। मैं तो उनका जिक्र इसलिए कर रहा हूँ कि हम लोग अक्सर यही समझते हैं कि सभ्य लोग दुनिया के सिर्फ उन्ही हिस्सो मे रहते थे जिनके बारे मे हम सुन चुके हैं या पढ चुके हैं। बहुत दिनो तक यूरोपवालो का यह खयाल बना रहा कि प्राचीन इतिहास का मतलब है सिर्फ यूनान, रोम और यहूदियो का इतिहास। इनके पुराने ढग के खयालो के अनुसार बाकी की सारी दुनिया उस वक्त वीरान रही होगी। बाद मे जब उन्ही के विद्वानो और पुरातत्त्ववेत्ताओ ने उन्हें चीन, भारत और दूसरे देशो का हाल बताया, तब उन्हे पता चला कि उनका ज्ञान कितना सीमित था। इसलिए हमे सावधान रहना चाहिए और यह न समझ बैठना चाहिए कि जो कुछ हमारी इस दुनिया मे हुआ है, वह सब कुछ हमारे सीमित ज्ञान के दायरे मे आ जाता है।

इस समय तो हम इतना ही कह सकते हैं कि अशोक के जमाने के, यानी ईसा पूर्व तीसरी सदी के प्राचीन सभ्य ससार मे मुख्यतया यूरोप और अफ्रीका के भूमध्यसागर के तटवर्ती देश, पश्चिमी एशिया, चीन और भारत ही माने जाते थे। शायद पश्चिमी देशो और पश्चिमी एशिया तक से उस समय चीन का कोई सीधा सम्पर्क नही था और पश्चिम मे चीन या कैथे के बारे मे बे-सिर पैर की धारणाएं फैली हुई थी। मालूम होता है चीन और पश्चिम को मिलानेवाली कडी का काम भारत करता था।

हम देख चुके हैं कि सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य को उसके सेनापतियो ने आपस मे बॉट लिया था। उसके तीन बडे-बडे हिस्से हुए (१) सेलेउक के अधीन पश्चिम एशिया, ईरान और इराक़; (२) तालमी के अधीन मिस्र, और (३) अन्तीगोने के अधीन मकदूनिया। पहले दो राज्य बहुत दिनों तक कायम रहे। तुम्हे याद होगा कि सेलेउक भारत का पड़ौसी था और उसने लालच मे पडकर भारत का कुछ हिस्सा अपने साम्राज्य मे शामिल करना चाहा था। लेकिन उसका पाला चन्द्रगुप्त जैसे सवा-सेर से पडा, जिसने उसे पीछे खदेड़कर उससे वह हिस्सा भी छीन लिया जो आजकल अफ़ग़ानिस्तान कहलाता है।

मकदूनिया का भाग्य इनसे कुछ बुरा रहा। गॉल और दूसरी क़ौमो ने उस पर उत्तर से बार-बार हमला किया। उसका सिर्फ एक ही हिस्सा ऐसा था जो इन गॉल लोगो का मुकाबला कर सका और आज़ाद रह सका। यह हिस्सा एशिया-कोचक मे परगेमम था, जहाँ आज तुर्की है। यह छोटा-सा यूनानी राज्य था, लेकिन सौ वर्ष से ज्यादा तक वह यूनानी सस्कृति और कलाओ का केन्द्र बना रहा जहाँ सुन्दर-सुन्दर इमारतें, पुस्तकालय और अजायबघर बने। कुछ हद तक वह समुद्र के उस पार इस्कन्दरिया से होड करने लगा था।

इस्कन्दरिया मिस्र मे तालमी-वंश की राजधानी था। यह एक बडा शहर हो गया था और प्राचीन दुनिया मे मशहूर था। एथेन्स का गौरव बहुत घट चुका था और इस्कन्दरिया ने धीरे-धीरे यूनानियो के सस्कृति-केन्द्र की जगह ले ली। इसके विशाल पुस्तकालय और अजायबघर से आकर्षित होकर दूर देशों से बहुत-से विद्यार्थी यहाँ आते थे और दर्शन, गणित, धर्म और दूसरी समस्याओं पर, जिनमे प्राचीन दुनिया के विद्वानो की बहुत रुचि थी, चर्चाएँ करते थे। उकलेदस[1], जिसका नाम तुमको और स्कूल मे पढनेवाले हरेक लडके-लडकी को मालूम है, इस्कन्दरिया का रहनेवाला था और अशोक का समकालीन था।

तालमी-वश के लोग, जैसा कि तुम जानती हो, यूनानी थे। लेकिन उन्होंने मिस्र के बहुत-से रस्म-रिवाजो को अपना लिया था, यहाँतक कि मिस्र के कुछ पुराने देवताओ तक को वे पूजने लगे थे। पुराने यूनानियो के जुपिटर, अपोलो और दूसरे देवी-देवता, जिनका होमर की वीरगाथाओ मे बार-बार वैसा ही उल्लेख है जैसा महाभारत मे वैदिक देवी-देवताओ का, या तो छोड दिये गए या उनके नाम बदलकर उन्हे दूसरे जामे पहना दिये गए। आइसिस, ओसिरिस, होरस वग़ैरा पुराने मिस्र के देवी-देवताओ और पुराने यूनान के देवी-देवताओ को मिला दिया

[1] उकलेदस या यूक्लिड—इसने रेखागणित के बहुत-से नियम और सिद्धान्त निकाले और उनपर एक ग्रन्थ लिखा। इसका समय ईसा से ३०० वर्ष पूर्व है।

गया और एक कर दिया गया और जनता के सामने पूजा के लिए नये-नये देवी-देवता रख दिये गए। जबतक लोगो को कोई-न-कोई देवता पूजने के लिए मिल जाता था, तबतक इस बात से उन्हे क्या मतलब था कि वे किसके सामने सिर झुकाते है, किनकी पूजा करते हैं और जिसकी पूजा करते हैं उसका नाम क्या है। इन नये देवताओ मे सबसे मशहूर सिरेपिस कहलाता था।

इस्कन्दरिया तिजारत का भी बहुत बडा केन्द्र था और सभ्य ससार के दूसरे देशो के व्यापारी वहाँ आते रहते थे। कहते हैं कि इस्कन्दरिया मे भारतीय व्यापारियो की भी एक बस्ती थी। हमे यह भी मालूम है कि इस्कन्दरिया के व्यापारियो की एक बस्ती दक्षिण भारत मे मलाबार के समुद्री किनारे पर थी।

भूमध्यसागर के उस पार, मिस्र से कुछ ही दूर रोम था जो बहुत महानता को पहुँच चुका था और जो आगे जाकर इससे भी ज्यादा महान् और शक्तिशाली होनेवाला था। उसके बिलकुल सामने अफ्रीका के किनारे पर कार्थेज था जो रोम का प्रतिद्वन्द्वी और दुश्मन था। अगर हम प्राचीन दुनिया के बारे मे कुछ जानना चाहते हैं तो हमे इनके इतिहास पर कुछ ज्यादा गौर करना पडेगा।

पूर्व मे चीन महानता के उसी दर्जे को पहुँच रहा था, जैसा पश्चिम मे रोम, और अशोक के जमाने की दुनिया की सही तसवीर खीचने के लिए हमे इस देश पर भी नजर डालनी होगी।

· २६ ·

## चिन् और हन्

३ अप्रैल, १९३२

पिछले साल मैंने नैनी-जेल से जो पत्र तुम्हे लिखे थे, उनमे मैंने तुमको चीन के प्रारम्भ काल का, ह्वाङ-हो नदी के किनारेवाली बस्तियो का, और हिन्या, शँङ या इन और चाऊ नामक शुरू के राजवशो का कुछ हाल लिखा था कि उस लम्बे समय मे चीन राज्य धीरे-धीरे कैसे बढा और कैसे वहाँ एक केन्द्रीय शासन का विकास हुआ। उसके बाद एक ऐसा लम्बा जमाना आया, जिसमे नाम के लिए तो चाऊ राजवश का ही राज रहा, पर केन्द्रीकरण की यह प्रक्रिया रुक गई और बिखराहट शुरू हो गई। देश के मुकामी क्षेत्रो के छोटे-छोटे हाकिम एक तरह से स्वतन्त्र बन बैठे और आपस मे लडने लगे। यह बदकिस्मती की हालत कई सौ वर्ष तक जारी रही। मालूम होता है कि चीन की हरेक बात सैकडो या हजारो वर्षों ही चला करती है। आखिर मे एक स्थानीय हाकिम चिन् के सरदार ने प्राचीन और निकम्मे चाऊ-राजवश को निकाल बाहर किया। चिन् की सन्तान चिन्-

राजवंश कहलाती है और यह एक दिलचस्प बात है कि चीन का नाम इस चिन शब्द से ही निकला है।

इस तरह चीन मे चिन् लोगो का इतिहास, ईसा से २५५ वर्ष पूर्व शुरु हुआ। इससे १३ वर्ष पहले भारत मे अशोक का राज्य शुरू हो चुका था। यानी हम अब चीन मे अशोक के समकालीन लोगों का जिक्र कर रहे हैं। चिन्-राजवंश के पहले तीन सम्राटो ने बहुत थोडे-थोडे दिन राज किया। इसके बाद ईसा से २४६ वर्ष पूर्व चौथा सम्राट् हुआ, जो अपने ढग का एक निराला आदमी था। उसका नाम वाङ्-चेंङ था, लेकिन बाद मे इसने अपना नाम शीह ह्वाङ टी रख लिया और आमतौर पर वह इसी दूसरे नाम मे मशहूर है। इसका अर्थ है 'पहला सम्राट्'। जाहिर है कि उसे अपने ऊपर और अपने जमाने पर बडा घमण्ड था और उसके दिल मे पुराने जमाने की जरा भी इज्जत न थी। असल मे वह तो यह चाहता था कि लोग पुराने जमाने को भूल जायें और यह समझने लगें कि इतिहास उसी से शुरू होता है और वही महान् 'पहला सम्राट्' है। उसे इस बात से कुछ मतलब न था कि उससे पहले दो हजार वर्ष से ज्यादा समय मे चीन मे एक के बाद एक सम्राट् होते चले आये थे। वह तो देश से इन लोगो की याद तक मिटा देना चाहता था। सिर्फ पुराने सम्राटो के ही नही बल्कि पुराने जमाने के दूसरे सभी प्रसिद्ध पुरुषो तक के नाम वह भुलवा देना चाहता था। इसलिए यह हुक्म निकाला गया कि तमाम ऐसी पुस्तकें, जिनमे पुराने जमाने का हाल हो, खासकर इतिहास की पुस्तकें और कनफ्यूशस की महान् रचनाएँ, जलाकर बिलकुल नष्ट कर दी जायें। सिर्फ वैद्यक की और विज्ञान की कुछ पुस्तको पर यह हुक्म लागू नहीं था। उसने अपने फरमान मे यह कहा—

> "जो लोग प्राचीनता का उपयोग करके वर्तमान काल को नीचे दरजे का बतायेंगे वे अपने रिश्तेदारो समेत कत्ल कर दिये जायंगे।"

उसने अपने इस इरादे पर अमल भी किया। सैंकडो विद्वान्, जिन्होंने अपने प्रिय ग्रन्थो को छिपाने की कोशिश की, जिन्दा गाड दिये गए। यह 'प्रथम सम्राट्' कितना नेक, दयालु और खुश-मिजाज आदमी रहा होगा! जब मैं भारत के अतीत की जरूरत से ज्यादा तारीफ सुनता हूँ तो मुझे हमेशा उस सम्राट् की याद आ जाती है और वह भी कुछ हमदर्दी के साथ। हमारे देश के कुछ लोग हमेशा पीछे मुड़कर अतीत को ही देखा करते हैं, उसीकी महिमा गाते रहते हैं और उसीसे प्रेरणा पाने की उम्मीद करते रहते हैं। अगर अतीत हमे बडे-बडे कारनामो के लिए प्रेरणा देता है, तो हम जरूर उससे प्रेरणा लें। लेकिन मैं समझता हूँ कि अगर कोई आदमी या कोई राष्ट्र हमेशा पीछे की तरफ ही देखा करे तो मुझे यह बात उसके लिए लाभकारी नही मालूम देती। किसी ने सच कहा है कि अगर आदमी पीछे

चलने या हमेशा पीछे देखने के लिए बनाया गया होता तो उसकी आँखें उसके सिर के पीछे होती। हम अपने अतीत पर ज़रूर गौर करें और उसमे जो कुछ तारीफ के लायक हो उसकी तारीफ भी करें, लेकिन हमारी निगाह हमेशा सामने रहनी चाहिए और हमारे कदम हमेशा आगे बढने चाहिए।

इसमे कोई शक नही कि शीह ह्वाङ्ग टी ने पुराने ग्रन्थो को और उनके पढनेवालो को जलाकर या गडवाकर बर्बरता का काम किया। इसका यह नतीजा हुआ कि उसने जो कुछ किया था, वह सब उसीके साथ खत्म हो गया। उसका इरादा था कि वह सबसे 'पहला सम्राट्' माना जाय और उसके बाद उसका दूसरा उत्तराधिकारी हो, फिर तीसरा और इस तरह हमेशा तक उसके वश का सिलसिला बना रहे। लेकिन हुआ यह कि चीन के सब राजवशो मे चिन् का वश ही सबसे कम दिन कायम रहा। जैसा कि मैं तुम्हे बता चुका हूँ, इन राजवशो मे से बहुतो ने सैकडो वर्षों तक राज किया और इनमे से एक, जो चिन् के पहले हुआ, ८६७ साल तक कायम रहा। लेकिन चिन् का महान् राजवश बढकर, सफलता हासिल करके और शक्तिशाली साम्राज्य पर शासन करके गिरा और नष्ट हो गया और ये सारी बातें पचास वर्ष के थोडे-से समय मे हो गईं। शीह ह्वाङ्ग टी शक्तिशाली सम्राटो की परम्परा मे सबसे 'पहला सम्राट्' होना चाहता था। लेकिन ईसा से २०९ वर्ष पूर्व, उसकी मृत्यु के तीन वर्ष बाद ही, उसके वश का अन्त हो गया और इसके बाद तुरन्त ही कनफ्यूशस के ग्रन्थ जो छिपाकर रक्खे गये थे, खोदकर निकाल लिये गए और उनका फिर पहले की तरह आदर होने लगा।

शासन की हैसियत से शीह ह्वाङ्ग टी चीन के सबसे शक्तिशाली शासको मे हुआ। उसने तमाम स्थानीय राजाओ की हेकडी को ख म कर दिया, सामन्तशाही का अन्त कर डाला और एक मजबूत केन्द्रीय शासन का निर्माण किया। इसने सारे चीन और अनाम को जीत लिया। इसीने चीन की मशहूर दीवार का निर्माण शुरू किया। यह एक बडा खर्चीला काम था। लेकिन मालूम होता है कि चीनियो ने अपनी हिफाजत के लिए एक बडी सेना बराबर कायम रखने के बजाय इस बडी दीवार पर, जो बाहर के दुश्मनो से उसकी सुरक्षा के लिए बनाई जा रही थी, रुपया लगाना ज्यादा पसन्द किया। यह दीवार किसी बडे हमले को मुश्किल से रोक सकती थी, इसने सिर्फ इतना ही काम किया कि छोटे-छोटे छापो को रोक दिया। लेकिन इससे यह ज़ाहिर होता है कि चीनी लोग शान्ति चाहते थे और बलशाली होते हुए भी सैनिक कीर्ति के लोलुप नही थे।

'पहला सम्राट्' शीह ह्वाङ्ग टी मर गया और उस राजवश मे कोई दूसरा ऐसा नही निकला जो उसकी जगह लेता। लेकिन उसके ज़माने से चीन मे हमेशा के लिए एकता की परम्परा बन गई।

इसके बाद एक दूसरा राजवंश, हन्-वंश, सामने आया। यह वंश चार सौ वर्ष से ज्यादा बना रहा और इस वंश के शुरू के शासको मे एक सम्राज्ञी भी हुई। इसी वंश का छठा सम्राट् वू-ती था, जो कि चीन के बडे शक्तिशाली और मशहूर शासको मे गिना जाता है। इसने पचास वर्ष से ज्यादा राज किया। इसने तातारियो को हराया, जो उत्तर मे बराबर छापे मारा करते थे। पूर्व मे कोरिया से पश्चिम मे कैस्पियन सागर तक चीनी सम्राट का बोलबाला था और मध्य एशिया की सब जातियाँ उसे अपना अधिपति मानती थी। अगर तुम एशिया का नकशा देखो तो उसके प्रभाव के जबर्दस्त विस्तार का और ईसा पूर्व पहली और दूसरी सदी मे चीन की शक्ति का कुछ अन्दाज़ा लगा सकोगी। हम उस ज़माने के रोम की महानता के बारे मे बहुत-कुछ पढते-सुनते हैं और यह समझ बैठे हैं कि उस ज़माने के रोम ने सारी दुनिया को मात कर दिया था। रोम को 'संसार की स्वामिनी' कहा गया है। लेकिन, हालाँकि तब रोम महान् था और ज्यादा महान् होता जा रहा था, फिर भी चीन का साम्राज्य उससे कही ज्यादा फैला हुआ और शक्तिशाली था।

शायद वू-ती के ज़माने मे ही चीन और रोम का आपसी सम्पर्क कायम हुआ। पार्थव लोगो के ज़रिये इन दोनो देशो मे व्यापार हुआ करता था। ये लोग जिस प्रदेश मे रहा करते थे वह आज ईरान और इराक कहलाता है। लेकिन जब रोम और पार्थव मे लडाई छिडी तो यह व्यापार अटक गया। रोम ने तब समुद्र के रास्ते से चीन से सीधे व्यापार करने की कोशिश की और एक रोमन जहाज़ चीन पहुँच भी गया। लेकिन यह ईसा के बाद दूसरी सदी की बात है और अभी तो हम ईसा से पहले के ही ज़माने की बात कर रहे हैं।

हन्-वंश के शासनकाल मे ही चीन मे बौद्ध-धर्म आया। ईसाई सन् शुरू होने से पहले भी चीन मे उसकी कुछ चर्चा होने लगी थी। लेकिन यह फैला कुछ दिन बाद, जब उस समय के चीनी सम्राट् ने, कहते हैं, एक अद्भुत स्वप्न मे एक सोलह फुट लम्बा आदमी देखा, जिसके सिर के चारो ओर चमकदार प्रभा-मण्डल था। चूँकि उसे स्वप्न मे यह दृश्य पश्चिम की ओर दिखाई पडा था, इसलिए उसने उसी तरफ दूत भेजे। ये दूत बुद्ध की मूर्त्ति और बौद्ध ग्रन्थ लेकर वापस आये। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ भारतीय कला का प्रभाव भी चीन मे पहुँचा; वहाँ से वह कोरिया मे और कोरिया से जापान मे फैल गया।

हन्-काल मे दो महत्वपूर्ण बातें ऐसी हुई जिनका ज़िक्र जरूरी है। इस समय लकडी के ठप्पो से छपाई की कला का आविष्कार हुआ। लेकिन करीब एक हजार वर्ष तक उसका ज्यादा उपयोग नही हुआ। [illegible] चीन यूरोप से पाँच सौ बरस आगे था।

दूसरी महत्व की बात यह हुई कि इसी जमाने मे चीन मे सरकारी नौक-रियो के लिए इम्तिहानो की प्रणाली शुरू हुई। लडके और लडकियाँ इम्तिहानो से घबराते हैं और मैं उनकी इस बात से हमदर्दी भी रखता हूँ। लेकिन उस जमाने मे सरकारी अफसरो की नियुक्ति का यह तरीका एक मार्के की बात थी। दूसरे देशो मे अभी तक यह तरीका रहा है कि सरकारी अफसर या तो ज्यादातर सिफा-रिश से नियुक्त किये जाते थे या किसी खास वर्ग या जाति के लोगो मे से। चीन मे जो कोई इम्तिहान पास करता वही नियुक्त किया जा सकता था। यह प्रणाली आदर्श नही कही जा सकती, क्योकि हो सकता है कि कोई कनफ्यूशियन शास्त्रो के इम्तिहान में पास हो जाय, मगर फिर भी उसमे सरकारी अफसर बनने की योग्यता न हो। लेकिन रिआयती और सिफारिशी नियुक्ति से यह तरीका कहीं बेहतर था, और यह चीन मे दो हज़ार वर्ष तक जारी रहा। अभी हाल ही मे इसका अन्त हुआ है।

२७

# रोम बनाम कार्थेज

५ अप्रैल, १९३२

अब हम सुदूर पूर्व से पश्चिम की ओर चलें और रोम की तरक्की के सिल-सिले पर नज़र डालें। कहा जाता है कि रोम की बुनियाद ईसा पूर्व आठवी सदी मे पडी थी। शुरू ज़माने के रोमन लोग, जो शायद आर्यो के वंशज थे, तबरेज़ नदी के पास की सात पहाडियो पर कुछ बस्तियाँ बसाये हुए थे। ये बस्तियाँ धीरे-धीरे बढकर शहर बन गईं और यह नगर-राज्य बढते-बढते इटली भर मे फैल गया। यहाँतक कि यह सिसली के सामनेवाले दक्षिणी सिरे पर मेसीना तक पहुँच गया।

तुम शायद यूनान के नगर-राज्यो को न भूली होगी। जहाँ-जहाँ यूनानी गये, वहाँ-वहाँ वे नगर-राज्य का अपना यह खयाल भी साथ लेते गये और भूमध्य-सागर के किनारो पर जगह-जगह यूनानी उपनिवेश और नगर-राज्य बस गये। लेकिन इस समय हम रोम की इससे बिलकुल जुदी चीज़ का ज़िक्र कर रहे हैं। शुरू मे शायद रोम भी यूनान के नगर-राज्य की तरह का ही रहा हो, लेकिन बहुत जल्द वह अपने पडौसी कबीलो को हराकर फैल गया। इस तरह रोमन राज्य का क्षेत्र बढने लगा और इटली का ज्यादातर हिस्सा उसमे आ गया। इतना बडा क्षेत्र एक नगर-राज्य नही रह सकता था। इसका शासन रोम से होता था और खुद रोम मे एक अजीब किस्म की सरकार थी। वहाँ न तो कोई बडा सम्राट् या राजा था और न आजकल की तरह गणराज्य था। फिर भी वहाँ की सरकार एक तरह

का गणराज्य था, जिसपर जमींदार-वर्ग के कुछ अमीर कुटुम्बो का प्रभुत्व था। शासन का अधिकार सिनेट का माना जाता था—और इस सिनेट को दो चुने हुए आदमी नामजद करते थे, जो 'कौन्सल' कहलाते थे। बहुत दिनो तक तो सिर्फ अमीर लोग ही सिनेटर हो सकते थे। रोम की जनता दो वर्गों मे बँटी हुई थी; एक तो 'कुलपति' यानी मालदार अमीर, जो आमतौर पर जमींदार हुआ करते थे, दूसरे 'जन-वर्ग' जो मामूली नागरिक थे। रोमन राष्ट्र या गणराज्य के कई-सौ वर्षों का इतिहास इन दो वर्गों के आपसी संघर्ष का इतिहास है। कुल-पतियो के हाथ मे सारी हुकूमत थी और जहाँ हुकूमत रहती है वही रुपया भी जाता है। जन-वर्ग नीचे दबा हुआ वर्ग था, जिसके पास न ताकत थी, न पैसा। जन-वर्ग के लोग हुकूमत हासिल करने के लिए लडते और संघर्ष करते रहे, और धीरे-धीरे कुछ टुकडे उन्हें मिले भी। एक दिलचस्प बात यह है कि इस लम्बे संघर्ष मे जन-वर्ग के लोगो ने एक किस्म के असहयोग का कामयाबी के साथ प्रयोग किया। वे लोग दल बनाकर रोम शहर को छोडकर निकल गये और एक नया शहर बसाकर वहाँ रहने लगे। इससे कुलपति लोग डर गये, क्योंकि जन-वर्ग के बिना उनका काम ही नही चल सकता था। इसलिए उन्होंने उनके साथ समझौता कर लिया और उन्हें कुछ मामूली रिआयतें दे दी। धीरे-धीरे वे लोग ऊँचे ओहदो के भी हकदार समझे जाने लगे और सिनेट के मेम्बर तक होने लगे।

हम कुलपति-वर्ग और जन-वर्ग के संघर्ष की चर्चा करते हैं और यह समझ लेते हैं कि इनके सिवा रोम मे किसी दूसरे वर्ग की कोई गिनती ही नही थी। लेकिन इन दोनो वर्गों के अलावा वहाँ गुलामो की भी बहुत बडी संख्या थी, जिनको किसी तरह के अधिकार नही थे। ये लोग नागरिक नही माने जाते थे और इन्हें वोट देने का हक नही था। ये लोग तो गायो और कुत्तो की तरह अपने मालिको की व्यक्ति-गत और निजी सम्पत्ति समझे जाते थे। मालिक अपनी मरजी से इनको बेच सकता था और सजा दे सकता था। कुछ हालतो मे इन्हें मुक्त भी कर दिया जा सकता था। मुक्त हुए गुलामो ने अपना एक अलग वर्ग बना लिया, जो मुक्त लोगो का वर्ग कहलाता था। प्राचीन काल मे, पश्चिम मे, गुलामो की हमेशा बडी भारी माँग रहती थी और इस माँग को पूरा करने के लिए गुलामो की बडी-बडी मण्डियाँ बन गई थी। मर्दों, औरतो और बच्चो तक को पकडने और उन्हे गुलाम बनाकर बेचने के लिए लोग दूर-दूर के देशो मे धावे मारा करते थे। प्राचीन मिस्र की तरह पुराने यूनान और रोम के वैभव और बादशाही शान की बुनियाद चारो ओर फैली हुई इस गुलामी की प्रथा पर कायम थी।

क्या गुलामी की यह प्रथा उस समय भारत मे भी इसी तरह प्रचलित थी? बहुत करके नही थी। चीन मे भी यह प्रथा नही थी। इसका यह मतलब

नही कि प्राचीन भारत या चीन मे गुलामी थी ही नही। यहाँ जो कुछ गुलामी थी वह बहुत-कुछ घरेलू किस्म की थी। कुछ घरेलू नौकर गुलाम समझे जाते थे। मालूम होता है, भारत और चीन मे गुलाम मजदूर नही हुआ करते थे, यानी ऐसे गुलाम नही होते थे जिनके झुण्ड-के-झुण्ड खेतो मे या दूसरी जगहो मे काम पर लगाये जाते हो। इस तरह ये दोनो मुल्क गुलामी के, आदमी को सबसे ज्यादा नीचा गिरानेवाले पहलू से बचे रहे।

इस तरह रोम बढा। कुलपतियो ने उससे फायदा उठाया और वे अधिकाधिक धनवान और सम्पन्न होते गये। साथ ही जन-वर्ग के लोग गरीब बने रहे और कुलपति इनकी छाती पर सवार रहे, और ये दोनो कुलपति-वर्ग और जन-वर्ग मिलकर ग़रीब गुलामो की छाती पर सवार रहे।

जब रोम की तरक्की हुई तब उसके शासन का ढग कैसा था? मैं बता चुका हूँ कि हुकूमत सिनेट के हाथ मे थी, और दो चुने हुए कौन्सल सिनेट को नामजद किया करते थे। कौन्सलो को कौन चुनता था? उन्हे नागरिक वोटर चुनते थे। शुरू मे रोम जब छोटा-सा नगर-राज्य था, सब नागरिक रोम मे या उसके आसपास रहते थे। तब लोगों का एक जगह इकट्ठा होना और वोट देना कोई मुश्किल बात नही थी। लेकिन रोम के बढने पर बहुत-से नागरिक ऐसे भी थे जो रोम से दूर रहने लगे और उनके लिए वोट देने आना आसान काम नही था। उस वक्त आजकल जैसे 'प्रतिनिधि शासन' का विकास या उस पर अमल नही हुआ था। तुम जानती हो कि आजकल हरेक हल्का या निर्वाचन-क्षेत्र राष्ट्रीय असेम्बली या पार्लमेण्ट या काग्रेस के लिए अपना प्रतिनिधि चुनता है और इस तरह से एक छोटी-सी जमात के जरिये सारे राष्ट्र की नुमाइन्दगी हो जाती है। यह बात पुराने रोमन लोगो को नही सूझी थी, इसलिए वे लोग रोम मे ही वोट डलवाते रहे, हालाँकि दूर के वोटरो के लिए वहाँ आकर वोट देना करीब-करीब असम्भव था। सच तो यह है कि दूर के वोटरो को पता ही नही रहता था कि कहाँ क्या हो रहा है। उस जमाने मे न अख़बार थे, न और छपी हुई पुस्तकें थी, और बहुत कम लोग पढ-लिख सकते थे। इसलिए जो लोग रोम से दूर रहते थे, उनके लिए वोट देने का अधिकार व्यवहार मे किसी काम का न था। उनको वोट देने का अधिकार जरूर था, लेकिन दूरी ने इस अधिकार को बेकार बना दिया था।

इसलिए तुम देखोगी कि चुनाव का और ख़ास-ख़ास बातो का फैसला करने का असली अधिकार वास्तव में रोम के ही वोटरो के हिस्से मे था। वे लोग बिना-छाये बाडो में जाकर वोट देते थे। इन वोटरो में बहुत-से ग़रीब जन-वर्ग के लोग होते थे। धनवान कुलपति जो ऊँचा ओहदा और हुकूमत चाहता था, इन ग़रीब लोगो को रिश्वत देकर उनके वोट ख़रीद लेता था। इस तरह रोम के चुनावो

मे उतनी ही रिश्वत और तिकड़म चला करती थी, जितनी कि कभी-कभी आजकल के चुनावो मे चलती है।

जब इधर रोम इटली मे बढ रहा था, तब उधर उत्तरी अफ्रीका मे कार्थेज की ताकत बढ रही थी। कार्थेज निवासी फिनीशियन लोगो के वशज थे, और उनमे जहाज चलाने और व्यापार करने की पुश्तैनी परम्परा थी। उनके यहां भी गणराज्य था, लेकिन वह रोम से भी ज्यादा हद तक अमीरो का गणराज्य था। यह नगर-गणराज्य था, जिसमे गुलामो की आबादी बहुत अधिक थी।

शुरू के दिनो मे, रोम और कार्थेज के बीच, दक्षिण इटली और मेसीना मे यूनानी उपनिवेश थे। लेकिन रोम और कार्थेज यूनानियो को निकालने के लिए एक हो गये, और इस काम मे सफल होने पर कार्थेज ने सिसली ले लिया और रोम बूट की शकलवाले इटली की दक्षिणी नोक तक पहुँच गया। रोम और कार्थेज की दोस्ती और मेल बहुत दिनो तक कायम न रह सके। जल्दी ही इन दोनो मे टक्करें होने लगी और कट्टर प्रतिद्वन्द्विता बढने लगी। तग समुद्र के दोनो ओर आमने-सामने डटी हुई दो मजबूत शक्तियो के लिए भूमध्यसागर काफी बडा न था। दोनो ही के हौसले बढे हुए थे। इधर रोम बढ रहा था, और उसमे नौजवानी का हौसला और भरोसा था, उधर कार्थेज शुरू मे शायद कल के छोकरे रोम को कुछ हिकारत की नजर से देखता था और अपनी समुद्री ताकत पर पूरा भरोसा रखता था। सौ वर्ष से ज्यादा तक ये दोनो आपस मे लडते रहे, हालांकि बीच-बीच मे कुछ दिनो के लिए शान्ति भी हो जाती थी। लेकिन दोनो ही जगली जानवरो की तरह लडे, जिसमे दोनो के बेशुमार निवासी तबाह हो गये। इनमे तीन युद्ध हुए जो 'प्यूनिक युद्ध' कहलाते है। पहला प्यूनिक युद्ध तेईस वर्ष तक यानी २६४ ई० पूर्व से २४१ ई० पूर्व तक चला और इस युद्ध मे रोम की जीत हुई। बाईस वर्ष बाद दूसरा प्यूनिक युद्ध हुआ और कार्थेज ने हैनिबाल नामक एक सेनापति भेजा, जो इतिहास मे बहुत मशहूर है। पन्द्रह वर्ष तक हैनिबाल ने रोम को सताया और रोमन लोगो को आतकित किया। उसने भयकर मारकाट करके रोमन सेनाओ को हराया—खासकर कैनी की लडाई मे जो २१६ ई० पूर्व मे हुई। यह सब उसने कार्थेज की मदद मिले बिना ही कर दिखाया, क्योकि समुद्र पर रोमन लोगो का कब्जा होने की वजह से कार्थेज से उसका सम्बन्ध टूट-सा गया था। लेकिन हार और बर्बादी को सहते हुए और हैनिबाल का खतरा हमेशा सिर पर रहते हुए भी, रोमन कौम ने हिम्मत नहीं हारी और अपने अदावती दुश्मन से बराबर लोहा लेते रहे। वे हैनिबाल से खुले मैदान मे लडने से डरते थे, इसलिए वे खुली लडाइयो से बचते थे और सिर्फ उसे तग करने और कार्थेज से आने-जाने का मार्ग काटने की कोशिश मे ही रहते थे। फ्रेबी (फेबियस) नामक रोमन सेनापति खासतौर से खुली लडाइयो से बचना

पसन्द करता था। दस वर्ष तक वह इसी तरह खुली लडाइयो को टालता रहा। मैंने उसका ज़िक्र इसलिए नही किया है कि वह कोई बडा आदमी था और उसका नाम याद रखने के लायक है, बल्कि इसलिए कि अग्रेजी भाषा मे उसके नाम पर एक शब्द 'फेवियन' बन गया है। 'फेवियन' चालें वे होती हैं, जिनमे किसी मामले का दो-टूक फैसला टाला जाता है। इस नीति पर चलनेवाले लडाई या सकट को टालते रहते हैं और धीरे-धीरे घुला-घुलाकर अपना उद्देश्य हासिल करने की उम्मीद लगाये रहते हैं। इग्लैण्ड मे एक फेवियन सोसाइटी है, जो समाजवाद मे तो विश्वास करती है, लेकिन जल्दवाज़ी और एकदम परिवर्तन मे विश्वास नही रखती।

हैनिवाल ने इटली के बहुत बडे हिस्से को वीरान कर दिया, लेकिन रोम की अटल कोशिश और अडिग हठ ने अन्त मे विजय पाई। ई० पू० २०२ म जामा की लडाई मे हैनिवाल हार गया। वह जगह-जगह भागता फिरा, लेकिन जहा वह गया वही रोम की न वुझनेवाली नफरत उसका पीछा करती रही और अन्त मे वह जहर खाकर मर गया।

रोम और कार्थेज मे पचास वर्ष तक सुलह रही। कार्थेज को काफी नीचा दिखा दिया गया था और रोम को चुनौती देने की अव उसमे विलकुल हिम्मत नही रही थी। फिर भी रोम को सन्तोष नही हुआ और उसने कार्थेज को तीसरे प्यूनिक युद्ध के लिए मजवूर कर दिया। इस लडाई मे वहुत भारी मारकाट हुई और कार्थेज विलकुल नष्ट हो गया। सचमुच, जिस ज़माने पर किसी समय कार्थेज की अभिमानिनी नगरी—भूमध्यसागर की रानी—खडी थी, उसपर हल चलवा दिये गए।

## २८ :

# रोमन गणराज्य साम्राज्य बन गया

९ अप्रैल, १९३२

कार्थेज की आख़िरी हार और वर्वादी के वाद रोम पश्चिमी दुनिया मे सर्वोपरि हो गया और उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नही रहा। इससे पहले वह यूनानी राज्यो को जीत ही चुका था, अव उसने कार्थेज के प्रदेशो पर भी कब्ज़ा कर लिया। इस तरह दूसरे प्यूनिक युद्ध के वाद स्पेन रोम की अधीनता मे आ गया। फिर भी रोमन राज्य मे अभी तक सिर्फ भूमध्यसागर के तटवर्ती देश ही शामिल थे। सारा उत्तरी और मध्य-यूरोप रोम के अधीन नही था।

दूसरे देशो पर जीत का और लडाइयो मे विजय का नतीजा यह हुआ कि रोम मे धन और विलासिता बढ़ गई। जीते हुए प्रदेशो से सोने और गुलामो के ढेर-के-

रोम एक साम्राज्य बन जाता है
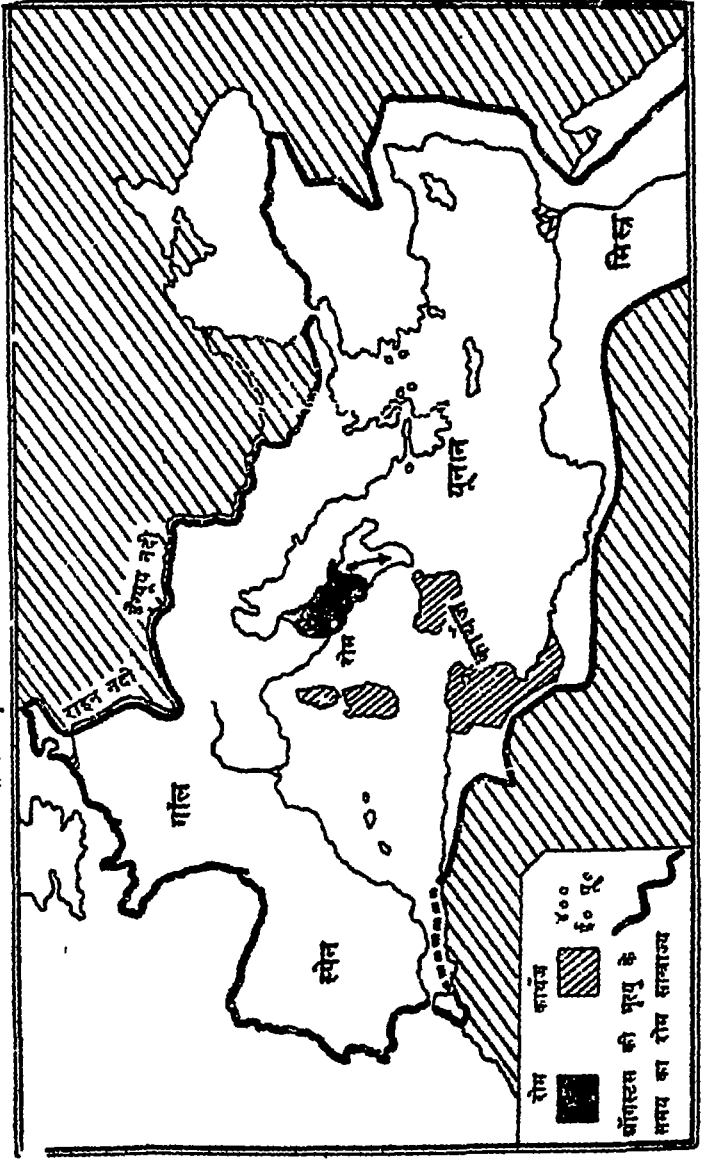
ढेर आने लगे। लेकिन ये चीजें आती कहाँ थी? मैं तुम्हे बतला चुका हूँ कि रोम का शासन सिनेट के हाथ मे था और उसमे धनी अमीर कुटुम्बो के लोग हुआ करते थे। धनवान लोगो की इस जमात के हाथ मे रोमन गणराज्य और उसके जीवन की बागडोर थी और रोम की शक्ति और विस्तार मे बढोतरी के साथ-साथ इन लोगो की दौलत भी बढती गई, इसलिए जो धनवान थे, वे और भी ज्यादा धनवान होते गये और गरीब लोग गरीब ही बने रहे, बल्कि वास्तव मे और भी ज्यादा ग़रीब हो गये। गुलामो की आबादी बढ गई और विलासिता और मुसीबत साथ-साथ बढने लगी। जब ऐसा होता है, तभी अक्सर गडबड हो जाया करती है। हैरानी की बात है कि इन्सान कहांतक बर्दाश्त कर लेता है, लेकिन इन्सानी बर्दाश्त की भी हद होती है, और जब हद हो जाती है, तब भडाके हो जाते हैं।

धनवान लोगो ने गरीबो को खेल-तमाशो और सरकसो के दगलो से बहलाने की कोशिश की। इनमे ग्लेडियेटर[1] लोग, सिर्फ दर्शको के मनोरजन के लिए एक-दूसरे से लडने और मरने-मारने के लिए मजबूर किये जाते थे। गुलामो और युद्ध-बन्दियो की बहुत बडी सख्या इस तरह मौत के घाट उतारी जाती थी और, मेरे खयाल से, इसे खेल कहा जाता था!

धीरे-धीरे रोम के राज्य मे उपद्रव बढने लगे। बलवे और हत्याकाण्ड होने लगे और चुनावो मे रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार होने लगे। ग़रीब और पददलित गुलामो तक ने स्पार्टक नामक एक ग्लेडियेटर के नेतृत्व मे विद्रोह कर दिया। लेकिन ये लोग बेरहमी के साथ कुचल दिये गए। कहा जाता है कि रोम मे ऐपियन सडक पर छ हजार गुलाम सूली पर चढा दिये गए।

धीरे-धीरे अवसरवादी और सेनापति लोग अधिक प्रभावशाली होते गये और सिनेट पर हावी होने लगे। घरेलू युद्ध छिड गया, तबाही होने लगी और प्रतिद्वन्द्वी सेनापति आपस मे लडने लगे। पूर्व मे, पार्थव (इराक) मे ई० पू० ५३ मे कैरे की लडाई मे, रोम के सेना-दलो ने बहुत बुरी हार खाई। पार्थवो से लडने के लिए भेजी गई रोमन सेना को उन्होंने नष्ट कर दिया।

रोमन-सेनापतियो की इस भीड मे दो नाम पाम्पी और जूलियस सीज़र, बहुत मशहूर हैं। तुम जानती हो कि सीज़र ने फ्रान्स को, जो उस समय गॉल कहलाता था, और ब्रिटेन को, जीत लिया था। पाम्पी पूर्व की तरफ गया और वहाँ उसे

[1] ग्लेडियेटर—प्राचीन रोम के उन पहलवानो का नाम, जो दूसरे योद्धाओं या जगली जानवरों से अखाडो में लडते थे और सारा रोम तमाशा देखता था। दूसरों का खून बहते हुए देखने के इच्छुक रोम-निवासियों को ये खेल बड़े प्रिय थे।

थोडी-बहुत कामयाबी भी मिली। लेकिन इन दोनो की आपस मे बडी गहरी प्रति-द्वन्द्विता थी। दोनो ही महत्वाकाक्षी थे और किसी दूसरे प्रतिद्वन्द्वी को बर्दाश्त नही कर सकते थे। बेचारे सिनेट की कोई पूछ नही रही, हालांकि दोनो ज़बानी तौर पर उसकी अधीनता स्वीकारते थे। सीज़र ने पाम्पी को हरा दिया और इस तरह वह रोमन ससार का प्रमुख नेता बन गया। लेकिन रोम गणराज्य था, इसलिए सरकारी तौर पर सीज़र हर मामले मे अपनी मनमानी नही कर सकता था। इस-लिए यह कोशिश की गई कि उसको ताज पहनाकर बादशाह या सम्राट् बना दिया जाय। सीज़र इसके लिए बहुत-कुछ राज़ी था। लेकिन रोम की पुरानी गणराज्य-परम्परा के कारण उसे कुछ झिझक हुई। सचमुच, यह परम्परा उसके लिए इतनी ज़ोरदार साबित हुई कि ब्रूत (ब्रूटस) और दूसरे लोगो ने उसे फोरम[1] की सीढियो पर ही छुरे भोककर मार डाला। तुमने शेक्सपियर का 'जूलियस सीज़र' नाटक पढा होगा, जिसमे यह दृश्य दिया हुआ है।

जूलियस सीज़र ई० पू० ४४ मे मारा गया, लेकिन उसकी मौत रोम के गणराज्य को न बचा सकी। सीज़र के दत्तक-पुत्र और भाई के पोते आक्तेवियन ने, और मित्र मार्क एन्थनी ने, सीज़र की हत्या का बदला चुका लिया। इसके बाद बादशाहत वापस आई और आक्तेवियन प्रिन्सेप्स यानी राज्य का प्रमुख बना और गणराज्य खत्म हो गया। सिनेट क़ायम रहा, लेकिन उसके हाथ मे कोई असली ताक़त नही रह गई।'

आक्तेवियन जब प्रिन्सेप्स या प्रमुख बना, तो उसने अपना नाम और पद आगस्त सीज़र रक्खा। उसके बाद उसके सब उत्तराधिकारी सीज़र कहलाते रहे। सीज़र शब्द का अर्थ ही वास्तव मे सम्राट् हो गया है। कैसर और ज़ार शब्द इसी 'सीज़र' शब्द से निकले हैं। बहुत दिनो से हिन्दुस्तानी भाषा मे भी क़ैसर शब्द इसी अर्थ मे चालू हो गया है, जैसे 'क़ैसरे-रूम', 'कैसरे-हिन्द'। इगलैण्ड के बादशाह जार्ज को 'कैसरे-हिन्द' की उपाधि पर नाज़ है।[2] जर्मन-कैसर खत्म हो गया, इसी तरह आस्ट्रियन-कैसर, तुर्की-कैसर और रूसी-ज़ार भी। और यह दिल-चस्प और अजीब बात है कि आज अकेला इग्लैण्ड का बादशाह ही रह गया है जो उस जूलियस सीज़र की उपाधि धारण कर रहा है, जिसने रोम के लिए ब्रिटेन को जीता था।

इस तरह जूलियस सीज़र का नाम बादशाही शान-शौकत का सूचक शब्द बन गया। अगर पाम्पी ने यूनान मे फारसैल की लडाई मे सीज़र को हरा दिया

---

[1] फोरम—वह इमारत जिसमे सिनेट की बैठकें हुआ करती थीं।
[2] अब इग्लैण्ड के बादशाह की भी 'क़ैसरे-हिन्द' की उपाधि हटा दी गई है।

होता तो क्या हुआ होता? शायद पाम्पी प्रिन्सेप्स या सम्राट् बना होता और पाम्पी का मतलब सम्राट् हो गया होता। तब विलियम द्वितीय अपनेको जर्मन पाम्पी कहते और किंग जार्ज भी शायद पाम्पी-ए-हिन्द कहलाते।

रोमन राज्य के इस परिवर्तन-काल में, जब गणराज्य साम्राज्य बन रहा था, मिस्र में एक ऐसी स्त्री हुई जो अपने सौन्दर्य के लिए इतिहास में मशहूर होनेवाली थी। उसका नाम क्लियोपेत्रा था। उसका चरित्र कुछ ज्यादा पसन्द करने लायक नहीं है, लेकिन यह उन इनी-गिनी स्त्रियों में से है, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने अपनी खूबसूरती से इतिहास का रुख बदल दिया। जब जूलियस सीजर मिस्र गया था, तब वह निरी लड़की ही थी। बाद में मार्क एन्थनी से इसकी गहरी दोस्ती हो गई, जिसका नतीजा अच्छा नहीं निकला। वास्तव में क्लियोपेत्रा ने उसके साथ दगा किया और एक बड़ी समुद्री लड़ाई के दौरान में यह उसे छोड़कर अपने जहाजों को लेकर भाग गई। एक मशहूर फ्रान्सीसी लेखक पैस्काल ने बहुत दिन हुए लिखा था

"अगर क्लियोपेत्रा की नाक जरा छोटी होती तो दुनिया की सूरत बिलकुल बदल गई होती।"

इस बात में कुछ अतिशयोक्ति है। क्लियोपेत्रा की नाक दूसरी तरह की होती तो भी उससे दुनिया की हालत में बहुत ज्यादा फ़र्क न पड़ा होता। लेकिन यह सम्भव है कि मिस्र पहुँचने के बाद सीजर अपनेको बादशाह या सम्राट् या एक देवता जैसा समझने लगा हो। मिस्र में गणराज्य नहीं था, बल्कि एकतन्त्री शासन था और राजा को सिर्फ़ सर्वोपरि ही नहीं बल्कि देवता की तरह माना जाता था। पुराने मिस्रियों की यही धारणा थी और यूनान के तालमी लोगों ने, जो सिकन्दर की मौत के बाद मिस्र के शासक हुए, मिस्र के बहुत-से आचार-विचारों को अपना लिया था। क्लियोपेत्रा इसी तालमी-वंश की थी और इसलिए यूनानी, या यों कहिये कि मकदूनिया की, राजकुमारी थी।

क्लियोपेत्रा का इस प्रक्रिया में कोई हाथ हो या न हो, लेकिन मिस्रियों की यह धारणा कि राजा देवता है, रोम तक पहुँच गई, और वहाँ घर कर गई। जूलियस सीजर की जिन्दगी में ही, जबकि गणराज्य अपनी तरक्की पर था, उसकी मूर्तियाँ बनने और पुजने लगी थी। आगे चलकर हम देखेंगे कि रोम सम्राटों ने अपनी पूजा बाकायदा कैसे चालू करवा दी।

अब हम रोम के इतिहास में एक महत्व के मोड़ पर, गणराज्य के अन्त तक, पहुँच गये हैं। सन् २७ ई० में आक्टेवियन, आगस्त सीजर की पदवी धारण कर प्रिन्सेप्स बना। रोम और उसके सम्राटों की इस कहानी की चर्चा हम आगे फिर

करेंगे। तबतक हम गणराज्य के आखिरी दिनो मे रोम के अधीन राज्यों पर एक नजर दौड़ा लें।

रोम इटली पर तो राज करता ही था, पश्चिम मे स्पेन और गॉल (फ्रान्स) पर भी उसका कब्जा था। पूर्व मे यूनान और एशिया-कोचक, जहाँ तुम्हे याद होगा कि परगैमम का यूनानी राज्य था, उसके कब्जे मे थे। उत्तरी अफ्रीका मे मिस्र रोम का मेलवाला और रक्षित राज्य समझा जाता था। कार्थेज और भूमध्य-सागर के तटवर्ती देशो के कुछ दूसरे हिस्से भी रोम के अधीन थे। इस तरह उत्तर मे राइन नदी के सहारे-सहारे रोमन साम्राज्य की सीमा थी। जर्मनी और रूस की और उत्तरी और मध्य-यूरोप की सारी कौमे, रोमन साम्राज्य से बाहर थी। इराक के पूर्व की भी सारी कौमे उसके अधीन नही थी।

उस जमाने मे रोम बहुत महान् था। लेकिन यूरोप के बहुत-से लोग, जो दूसरे देशो का इतिहास नही जानते थे, यह समझते है कि रोम ही सारी दुनिया का सिर-ताज था। यह बात असलियत से बहुत दूर थी। तुम्हे याद होगा कि इसी जमाने मे चीन मे महान् हन् वश राज करता था और वह एशिया के तट से लेकर ठेठ कैस्पियन सागर तक फैले हुए क्षेत्र का सर्वाधिपति था। इराक मे कैरे की लड़ाई मे, जिसमे रोमन लोग बुरी तरह हारे थे, मुमकिन है पार्थवो को चीन के मगोलियो ने मदद दी हो।

लेकिन रोमन इतिहास, खासकर रोमन गणराज्य का इतिहास, यूरोप-निवासी को बहुत प्यारा है, क्योकि वह रोम के पुराने राज्य को यूरोप के आज के राष्ट्रो का पूर्वज जैसा मानता है और यह बात किसी हद तक सही भी है। इसलिए इग्लैण्ड मे स्कूलो के विद्यार्थियो को, चाहे वे आधुनिक इतिहास जानें या न जानें, यूनान और रोम का इतिहास जरूर पढाया जाता था। मुझे अच्छी तरह याद है कि जूलियस सीजर का लिखा हुआ, उसकी गॉल की चढाई का हाल, मूल लातीनी भाषा मे मुझे पढाया गया था। सीजर सिर्फ योद्धा ही नही था, बल्कि एक सुन्दर और प्रभावशाली लेखक भी था और उसका लिखा हुआ गॉल के युद्ध का वर्णन[1] आज भी यूरोप के हजारो स्कूलो मे पढाया जाता है।

कुछ दिन हुए हमने अशोक के समय की दुनिया पर नजर डालनी शुरू की थी। हम इस सिहावलोकन को खत्म करके उससे बाहर चीन और यूरोप भी पहुँच गये। अब हम करीब-करीब ईसाई सन् की शुरुआत तक पहुँच गये हैं। इसलिए अब हमे फिर भारत लौटना पडेगा ताकि यहाँ के निवासियो के बारे मे अबतक की जानकारी पूरी हो जाय। क्योकि अशोक की मृत्यु के बाद वहाँ बडी-बड़ी तब्दीलियाँ हुई और उत्तर और दक्षिण मे नये-नये साम्राज्य पैदा हो गये।

---

[1] De Bello Gallico

मैंने कोशिश की है कि तुम सारी दुनिया के इतिहास को एक पूरी सिल-सिलेवार चीज़ समझो। लेकिन मुझे उम्मीद है, तुम्हे यह भी याद होगा कि शुरू के जमाने से दूर-दूर के देशो का आपसी सम्पर्क वहुत ही सीमित ढग पर था। रोम, जो कि कई वातो मे वहुत आगे वढा हुआ था, भूगोल और नक्शो के वारे मे कुछ भी नही जानता था, और न इन विषयो को जानने की उसने कोई खास कोशिश ही की। आजकल के स्कूलो के लडको और लडकियो को भूगोल का जितना ज्ञान है, उतना रोम के वडे-वडे सेनापतियो और सिनेट के वुद्धिमान् आदमियो को भी नही था, हालाँकि वे लोग अपने को दुनिया का स्वामी समझते थे। और जिस तरह ये लोग अपने को दुनिया का स्वामी समझते थे, उसी तरह उनसे कई हजार मील दूर, एशिया के विशाल महाद्वीप के दूसरे सिरे पर, चीन के शासक भी अपने को ससार का स्वामी समझते थे।

: २९ :

## दक्षिण भारत का उत्तर भारत पर छा जाना

१० अप्रैल, १९३२

सुदूर पूर्व मे चीन और पश्चिम मे रोम की लम्वी यात्रा के वाद हम फिर भारत वापस आते हैं।

अशोक की मृत्यु के वाद मौर्य्य-साम्राज्य वहुत दिनो तक नही टिका। थोडे ही वर्षों मे वह मुरझा गया। उत्तर के प्रान्त उससे अलग हो गये और दक्षिण मे आन्ध्र की एक नई शक्ति पैदा हुई। अशोक के वशज करीव पचास वर्ष तक अपने अस्त होते हुए साम्राज्य पर शासन करते रहे। आखिर मे पुष्यमित्र नामक उनके एक ब्राह्मण सेनापति ने वल से उनकी गद्दी छीन ली। यह व्यक्ति खुद सम्राट् वन वैठा और कहते हैं, उसके जमाने मे ब्राह्मण-धर्म[1] मे फिर जान पड गई। किसी हद तक वौद्ध भिक्षुओ पर अत्याचार भी हुए। लेकिन भारत का इतिहास पढने पर तुम देखोगी कि ब्राह्मण-धर्म ने वौद्ध-धर्म पर जिस ढग से आक्रमण किया वह वडा चतुराई भरा था। उसने वौद्ध-धर्म पर ज्यादा अत्याचार करने की कोई भोडी कार्रवाई नही की। वौद्धो पर कुछ अत्याचार जरूर हुआ, लेकिन वह वहुत करके राजनीतिक था, धार्मिक नही। वडे-वडे वौद्ध-सघ शक्तिशाली सगठन थे और वहुत-से शासक उनकी राजनीतिक शक्ति से डरते थे। इसलिए उन्होने उनको कम-जोर करने की कोशिश की। वौद्ध-धर्म को उसकी जन्मभूमि से निकाल वाहर करने में ब्राह्मण-धर्म आखिर मे कामयाव रहा, क्योकि उसने कुछ हद तक वौद्ध-धर्म

[1] ब्राह्मण-धर्म से मतलब हिन्दू-धर्म से है।

को पचा लिया, अपने मे मिला लिया, और उसे अपने घर मे जगह देने की कोशिश भी की।

इस तरह नये ब्राह्मण-धर्म ने, न तो सिर्फ़ पुरानी हालतो को ही फिर से लाने की कोशिश की और न जो कुछ बौद्ध-धर्म ने किया था उसको बिलकुल मटिया-मेट ही किया। ब्राह्मण-धर्म के पुराने नेता बहुत चतुर थे। बहुत पुराने ज़माने से उनका यह तरीका चला आया था कि वे दूसरे धर्मों को अपने मे मिला लेते और उसे पचा लेते थे। आर्य लोग जब पहले-पहल भारत मे आये, तब उन्होंने द्रविड़ो की संस्कृति और रस्म-रिवाजो को बहुत-कुछ पचा लिया और अपने सारे इतिहास में वे जान-बूझकर या बेजाने लगातार इसी नीति का पालन करते आये हैं। बौद्ध-धर्म के साथ भी उन्होंने यही किया और बुद्ध को अवतार[1] और देवता बना दिया; बहुत-से हिन्दू देवताओ मे उन्हे भी एक स्थान दे दिया। इस तरह बुद्ध तो क़ायम रहे, लोग उनकी पूजा और उपासना करते रहे, लेकिन उनके विशेष सन्देश को चुपचाप हटा दिया गया और ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म कुछ छोटी-मोटी तब्दीलियो के बाद अपने मामूली ढर्रे पर फिर चलने लगा। लेकिन बुद्ध को हिन्दू-धर्म का जामा पहनाने की क्रिया बहुत काल तक चलती रही। मगर अभी हम आगे की बातें करने लगे हैं, क्योंकि अशोक की मृत्यु के बाद कई सौ वर्ष तक बौद्ध-धर्म भारत मे क़ायम रहा।

हमें इस बात पर ध्यान देने की जरूरत नही कि मगध मे एक के बाद दूसरे कौन-कौन से राजा और राजवश आये और गये। अशोक के मरने के दो सौ वर्ष बाद तो मगध भारत का सर्वोपरि राज्य भी नहीं रहा। लेकिन तब भी वह बौद्ध-सस्कृति का बहुत बडा केन्द्र बना रहा।

इसी बीच उत्तर और दक्षिण दोनो में महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हो रही थीं। उत्तर में मध्य-एशिया की कई कौमें, जैसे बाख्त्री, शक, तुर्क और कुषाण, बराबर हमले कर रही थी। मेरा ख़याल है मैंने तुम्हे एक बार लिखा था कि कैसे मध्य-एशिया कई घुमक्कड कौमो के पैदा होने और पनपने की भूमि रहा है और इतिहास में ये लोग बार-बार बाहर निकलकर सारे एशिया मे और यूरोप तक में कैसे फैल गये। ईसा के पूर्व २०० वर्ष के समय मे भारत पर भी इस तरह के कई हमले हुए। लेकिन तुम्हे यह याद रखना चाहिए कि ये हमले कोरी देश-विजय या लूटमार के लिए नही हुआ करते थे, बल्कि बसने के लिए भूमि की तलाश मे हुआ

---

[1] निन्दसि यज्ञ विधे रह रह श्रुतिजात
सदय हृदय दर्शित पशुघातम्
केशव धृत शरीर
—गीतगोविन्द

करते थे। मध्य-एशिया के इन कबीलो मे बहुत-से घुमक्कड थे और जब उनकी संख्या बढ जाती थी, तो जिस भूमि पर वे बसे होते थे, वह उनके गुज़ारे के लिए नाकाफी हो जाती थी। इसलिये उन्हे नई भूमि की तलाश मे बाहर निकलना पड़ता था। इनके वहाँ से निकलने का इससे भी ज्यादा जबर्दस्त एक कारण यह था कि उन्हें पीछे से ढकेला जाता था। एक बड़ा कबीला या फिरका दूसरो पर हमला करके उन्हें वहाँ से निकाल बाहर करता था और इन निकाले हुओ को दूसरे देशो पर हमला करने के लिए मजबूर होना पड़ता था। इस तरह भारत मे जो लोग हमलावर बनकर आये, वे खुद अक्सर अपनी चरागाहो से भगाये हुए शरणार्थी थे। जब कभी चीनी साम्राज्य मे काफी ताक़त हो जाती थी, जैसा कि हन्-वंश के दिनो मे हुआ, तब वह भी इन घुमक्कडों को निकाल बाहर करता था और उन्हे नये घर तलाश करने के लिये मजबूर कर देता था।

तुम्हें यह भी याद रखना चाहिए कि मध्य-एशिया के घुमक्कड क़बीले भारत को बिलकुल ही शत्रु देश नही समझते थे। उन्हें 'म्लेच्छ' जरूर कहा गया है, और सचमुच उस समय के भारत के मुकाबले मे वे उतने सभ्य थे भी नही। लेकिन उनमे ज्यादातर कट्टर बौद्ध थे, जो भारत को, जहाँ उनके 'धर्म' का जन्म हुआ था, इज्जत की नजर से देखते थे।

पुष्यमित्र के ज़माने मे भी उत्तर-पश्चिम भारत पर बाख्त्रिया के मेनेन्द्र ने हमला किया था। मेनेन्द्र बौद्ध-धर्म का भक्त था। भारत की सीमा के ठीक उस पार बाख्त्रिया का देश था। यह सेलेउक के साम्राज्य का एक हिस्सा था, लेकिन बाद मे स्वाधीन हो गया था। मेनेन्द्र का हमला असफल कर दिया गया, लेकिन काबुल और सिन्ध पर उसने कब्ज़ा कर ही लिया।

इसके बाद शको का हमला हुआ, जो इस देश मे बहुत बडी संख्या मे आये और सारे उत्तर और पश्चिम भारत मे फैल गये। यह तुर्की घुमक्कडो का एक बडा कबीला था। एक दूसरे बडे कबीले कुषाण ने उन्हें अपनी चरागाहो से मार भगाया था। वहाँ से वे लोग बाख्त्रिया और पार्थव को रौंदते हुए धीरे-धीरे उत्तरी भारत मे, खासकर पजाब, राजपूताना और काठियावाड मे जम गये। भारत ने उन्हें सभ्य बनाया और उन लोगो ने अपनी घुमक्कडपन की आदतें छोड दीं।

यह एक दिलचस्प बात है कि भारत के कुछ भागो के इन बाख्त्री और तुर्की शासको का भारतीय-आर्य समाज पर कुछ खास असर नही पडा। खुद बौद्ध होने के कारण इन शासकों ने बौद्ध-सघ के सगठन का अनुकरण किया, जिसका आधार लोकतन्त्री ग्राम-समुदायो का पुराना भारतीय-आर्य नक़शा था। इस तरह इन शासको के अधीन होते हुए भी भारत केन्द्रीय शक्ति के अधीन ग्रामीण गणराज्यो का एक

समूह-सा बना रहा। इस ज़माने मे भी तक्षशिला और मथुरा बौद्ध-शिक्षा के केन्द्र रहे, जहाँ चीन और पश्चिम-एशिया से विद्यार्थी आते रहते थे।

लेकिन उत्तर-पश्चिम से लगातार हमलो का, और मौर्य्य-राज्य संगठन के धीरे-धीरे टूट जाने का एक असर ज़रूर हुआ। दक्षिण-भारत के राज्य पुरानी भारतीय आर्य-प्रणाली के ज्यादा सही प्रतिनिधि बन गये। इस तरह भारतीय-आर्य शक्ति का केन्द्र उत्तर से हटकर दक्षिण पहुँच गया। इन हमलो के कारण शायद उत्तर के बहुत-से काबिल आदमी दक्षिण मे जा बसे। आगे चलकर तुम देखोगो कि एक हज़ार वर्ष बाद जब मुसलमानो ने भारत पर हमला किया उस समय फिर यही प्रक्रिया हुई। आज भी दक्षिण भारत पर विदेशी हमलो और सम्पर्कों का उत्तर भारत के मुकाबले बहुत कम असर पड़ा है। उत्तर भारत के ज्यादातर निवासी एक ऐसी मिली-जुली संस्कृति मे पले है जो हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियो का मेल है और जिसमे पश्चिम का भी कुछ पुट है। हमारी भाषा भी, जिसे तुम हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी, चाहे जो कहो, एक मिली-जुली भाषा है। लेकिन जैसा कि तुमने खुद देखा है, दक्षिण के ज्यादातर निवासी आज भी कट्टर हिन्दू हैं।

दक्षिण भारत सैकड़ो वर्षों से पुरानी आर्य-परम्परा को बचाने और कायम रखने की कोशिश करता रहा है और इस कोशिश मे उसने अपना इतना कट्टर-पन्थी समाज बना लिया है कि आज भी उसकी असहिष्णुता पर हैरत होती है। दीवारो का साथ खतरनाक हुआ करता है। कभी-कभी वे बाहरी मुसीबत से भले ही बचा लें और उत्पाती लोगो को अन्दर आने से रोक दें; लेकिन वे आदमी को कैदी और गुलाम बना देती हैं और उसे नामधारी निर्मलता और हिफ़ाज़त की क़ीमत आज़ादी को बेचकर चुकानी पड़ती है। और सबसे भयंकर दीवारें वे हैं, जो आदमी के दिमाग मे पैदा हो जाती हैं, और जो हमे किसी बुरी परम्परा को सिर्फ़ इसलिए नही छोड़ने देती कि वह पुरानी है, और किसी नये विचार को इसलिये नही स्वीकारने देती कि वह नवीन है।

लेकिन दक्षिण भारत ने यह सेवा सचमुच की कि एक हज़ार वर्ष से भी ज्यादा समय तक भारतीय आर्यों की सिर्फ धार्मिक परम्परा को ही नही बल्कि कला और राजनीति की परम्पराओ को भी कायम रखा। अगर तुम्हे पुरानी भारतीय कला के नमूने देखने हो तो दक्षिण भारत जाना होगा। राजनीति के बारे मे यूनानी मेगस्थेनें ने लिखा है कि दक्षिण मे राजाओ के अधिकारो पर लोक-सभाओ का अंकुश रहता था।

जब मगध-देश का पतन हुआ तो सिर्फ विद्वान् लोग ही नही बल्कि कलाकार, शिल्पकार, कारीगर और दस्तकार लोग भी दक्षिण चले गए। यूरोप और दक्षिण भारत के बीच काफी व्यापार चलता था। मोती, हाथीदाँत, सोना, चावल, काली-

मिर्च, मोर और बन्दर तक भी बाबुल, मिस्र और यूनान को, और बाद मे रोम को भेजे जाया करते थे। इसके भी बहुत पहले सागवान की लकडी मलाबार के किनारे से खाल्दिया और बाबुल जाती थी। और यह सब व्यापार, या उसका ज्यादातर हिस्सा, भारतीय जहाजो के जरिये, जिन्हें द्रविड लोग खेते थे, हुआ करता था। इससे तुम्हें पता चल सकता है कि प्राचीन दुनिया मे दक्षिण भारत कितनी उन्नत स्थिति पर पहुँचा हुआ था। दक्षिण मे रोमन सिक्के काफी सख्या मे मिले हैं, और जैसा कि मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ, मलाबार के समुद्र-तट पर इस्कन्दरिया निवासियो की बस्तियाँ थी, और इस्कन्दरिया मे भारतीयो की।

अशोक की मृत्यु के बाद ही दक्षिण का आन्ध्र-राज्य स्वाधीन हो गया। जैसा कि शायद तुम जानती हो, आन्ध्र आजकल कांग्रेस का एक प्रान्त है, जो भारत के पूर्वी समुद्र-तट पर मद्रास के उत्तर मे है। आन्ध्र-देश की भाषा तेलगू है। आन्ध्र की शक्ति अशोक के बाद तेजी से बढती गई और दक्षिण मे समुद्र के एक तट से दूसरे तट तक फैल गई।

दक्षिण के लोगो ने नई बस्तियाँ बसाने के बडे-बडे प्रयत्न किये। लेकिन इनकी चर्चा बाद मे करेंगे।

मैं ऊपर शको और दूसरी जातियो का जिक्र कर आया हूँ, जिन्होंने भारत पर हमले किये और जो उत्तर मे बस गईं। ये लोग भारत के अग बन गये, और उत्तरी भारत मे रहनेवाले हम लोग उनके भी उतने ही वशज हैं, जितने कि आर्यों के। खासकर बहादुर और सुडौल राजपूत और काठियावाड के तगडे लोग तो उन्ही के वशज हैं।

: ३० :

## कुषाणों का सीमावर्ती साम्राज्य

११ अप्रैल, १९३२

मैंने पिछले पत्र मे भारत पर शको और तुर्कों के बार-बार के हमलो का जिक्र किया है। मैंने तुम्हे दक्षिण मे शक्तिशाली आन्ध्र-राज्य की बढ़ोतरी का भी हाल बताया है, जो बगाल की खाडी से अरब सागर तक फैला हुआ था। शको को कुषाणो ने आगे खदेड दिया था और कुछ दिन बाद कुषाण खुद ही सामने आ गये। ईसा के एक सदी पहले इन लोगो ने भारत की सीमा पर एक राज्य क़ायम किया और यही राज्य बढते-बढते एक बडा साम्राज्य हो गया। यह कुषाण साम्राज्य दक्षिण मे बनारस और विन्ध्याचल तक, उत्तर मे काशगर, यारकन्द और खुतन तक, और पश्चिम मे पार्थव और ईरान की सरहद तक फैला हुआ था। इस तरह उत्तर प्रदेश, पजाब और कश्मीर समेत सारा उत्तर भारत, मध्य-एशिया का काफ़ी

## कुषाण-साम्राज्य के समय का भारत
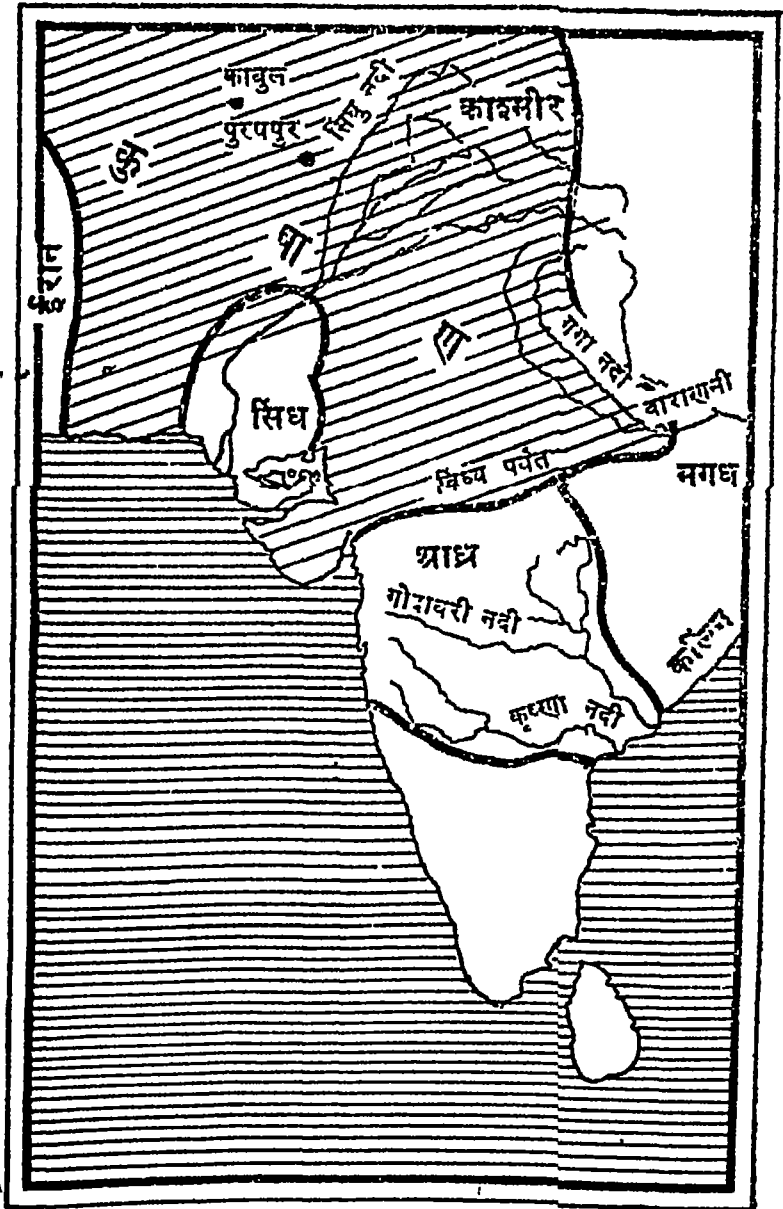
बड़ा हिस्सा कुषाण राजाओं के अधीन था। करीब तीन सौ वर्ष तक, ठीक उन्हीं दिनों जब कि आन्ध्र-राज्य दक्षिण भारत में फूल-फल रहा था, यह साम्राज्य कायम रहा। मालूम होता है कि पहले तो कुषाणों की राजधानी काबुल थी, लेकिन बाद में पेशावर ले जायी गई थी, जो उस वक्त पुरुषपुर कहलाता था, और फिर वहीं बनी रही।

इस कुषाण साम्राज्य की कई बातें बड़ी दिलचस्प हैं। यह बौद्ध-साम्राज्य था और उसके मशहूर शासकों में से एक शासक—सम्राट् कनिष्क बौद्ध-धर्म का कट्टर भक्त था। राजधानी पेशावर के पास तक्षशिला थी, जो बहुत समय पहले से बौद्ध-संस्कृति का केन्द्र थी। मैं शायद तुम्हें बता चुका हूँ कि कुषाण लोग मंगोली थे या मंगोलियों से मिलते-जुलते थे। कुषाण राजधानी से अपने वतन मंगोलिया को लोगों का आना-जाना बराबर होता रहा होगा और बौद्ध-शिक्षा और बौद्ध-संस्कृति चीन और मंगोलिया पहुँची होगी। इसी तरह पश्चिमी एशिया का भी बौद्ध विचारों से गहरा सम्पर्क हुआ होगा। सिकन्दर के जमाने से ही पश्चिमी एशिया यूनानियों की हुकूमत में था और बहुत-से यूनानी अपने साथ अपनी संस्कृति यहाँ लाये थे। यह यूनानी-एशियाई संस्कृति अब भारतीय-बौद्ध संस्कृति से मिल-जुल गई।

इस तरह चीन और पश्चिमी एशिया पर भारत का असर पड़ा। लेकिन उसी तरह भारत पर भी इन देशों का असर पड़ा। पश्चिम में यूनानी-रोमन दुनिया, पूर्व में चीनी दुनिया और दक्षिण में भारतीय दुनिया से घिरा हुआ कुषाण-साम्राज्य एशिया की पीठ पर एक देव की तरह सवारी गाँठे बैठा था। भारत और रोम, तथा भारत और चीन, दोनों के बीच यह अधबर की मंजिल बना हुआ था।

जैसी कि सम्भावना थी, इस बीच की स्थिति ने भारत और रोम के बीच गहरा आपसी सम्बन्ध पैदा करने में बहुत मदद पहुँचाई। कुषाण-काल रोमन गण-राज्य के आखिरी दिनों के साथ-साथ, जब जूलियस सीजर जिन्दा था, और रोमन साम्राज्य के शुरू के दो सौ साल के साथ-साथ चलता है। कहा जाता है कि कुषाण सम्राट् ने आगस्त सीजर के यहाँ बड़ा राजदूत-मण्डल भेजा था। इन दोनों देशों में खुश्की और समुद्री रास्ते खूब व्यापार होता था। भारत से रोम को इत्र, मसाले, रेशम, कमख्वाब, मलमल, जरी के कपड़े और जवाहरात भेजे जाते थे। प्लीनी नामक रोमन लेखक ने सचमुच कड़ी शिकायत की थी कि रोम से भारत को सोना खिंचा चला जाता था। उसने कहा था कि विलास की इन चीजों पर हर साल रोमन साम्राज्य के दस करोड़ सीस्तरसी[1] खर्च हो जाते हैं। यह रकम करीब डेढ़ करोड़ रुपयों के बराबर होगी।

---

[1] सीस्तरसी—एक रोमन सिक्का।

इस काल मे बौद्ध-विहारो मे और बौद्ध-सघो की सगीतियो मे बडे-बड वाद-विवाद और शास्त्रार्थ हुआ करते थे। दक्षिण और पश्चिम से नये विचार या नये जामे मे पुराने विचार आते रहते थे। और बौद्ध विचारो की सादगी के ऊपर इनका धीरे-धीरे असर पड रहा था। परिवर्तन का यह सिलसिला यहाँ तक पहुँचा कि इसके फलस्वरूप बौद्ध-धर्म दो सम्प्रदायो—महायान और हीनयान मे बँट गया। नई-नई व्याख्याओ और विचारो के साथ जब जीवन और धर्म से सम्बन्ध रखने-वाले नजरिये मे परिवर्तन हुआ, तब कला और शिल्प मे इन विचारो का प्रदर्शन भी बदल गया। यह कहना आसान नही है कि ये परिवर्तन कैसे आये। बौद्ध विचार-धारा को एक ही दिशा मे मोडनेवाले प्रभावो मे शायद दो मुख्य थे, एक ब्राह्मण-धर्म का और दूसरा यूनानी।

जैसा कि मैंने कई बार तुम्हें बताया है, बौद्ध-धर्म जात-पाँत, पुरोहिताई और कर्मकाण्ड के खिलाफ एक विद्रोह था। गौतम बुद्ध मूर्तिपूजा को अच्छा नहीं मानते थे। वह यह दावा नही करते थे कि वह ईश्वर हैं और उनकी पूजा की जाय। वह तो केवल 'बुद्ध'[1] थे। इस विचारधारा के मुताबिक उस ज़माने मे बुद्ध की मूर्तियाँ नही होती थी, और उस समय की इमारतो मे किसी तरह की मूर्तियाँ नही बनाई जाती थी। लेकिन ब्राह्मण लोग हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म के बीच का अन्तर मिटाना चाहते थे, और बौद्ध विचारो मे हिन्दू विचार और प्रतीकवाद दाखिल करने की बराबर कोशिश करते रहते थे। उधर यूनानी-रोमी दुनिया के कारीगर भी देवताओ की मूर्तियाँ बनाने के आदी थे। इसलिए धीरे-धीरे बौद्ध मन्दिरो में मूर्तियो का दखल हो गया। शुरू की मूर्तियाँ बुद्ध की नही बल्कि बोधि-सत्वो की थी, जो बौद्ध जातक-कथाओ के अनुसार बुद्ध के पूर्व-जन्म माने जाते हैं। यह सिल-सिला जारी रहा, यहाँतक कि अन्त मे बुद्ध की मूर्तियाँ भी बना ली गईं और उनकी पूजा होने लगी।

बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय ने इन परिवर्तनो का स्वागत किया। ब्राह्मण विचार-धारा के वह बहुत-कुछ निकट था। कुषाण सम्राटो ने महायान मत स्वीकार कर लिया और उसके प्रचार मे मदद की। लेकिन उन्हें हीनयान मत या दूसरे धर्मों से भी कोई द्वेष न था। कहते हैं कि कनिष्क ने जरथुस्त मजहब को भी बढावा दिया था।

महायान और हीनयान मे कौन-सा अच्छा है, इस विषय पर बडे-बडे विद्वानो मे जो शास्त्रार्थ हुआ करते थे, उनके बारे मे पढ़ने से बडा मनोरजन होता है। इसके लिए सघ की बडी-बडी सगीतियाँ हुआ करती थी। कनिष्क ने कश्मीर मे सघ की एक बहुत बडी सगीति बुलाई थी। कई सौ वर्ष तक इस सवाल पर शास्त्रार्थ और

---

[1] बुद्ध का अर्थ है जागा हुआ, यानी जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया हो।

मतभेद चलते रहे। महायान उत्तर भारत मे जीता और हीनयान दक्षिण मे, और आखिर मे इन दोनो ही को हिन्दू-धर्म ने हजम कर लिया। आजकल चीन, जापान और तिब्बत मे बौद्धधर्म का महायान मत पाया जाता है, और लका और वर्मा मे हीनयान।

किसी कौम की कला उसके भावो का सच्चा दर्पण हुआ करती है। इसलिए जब शुरू के बौद्ध विचारो की सरलता की जगह जटिल प्रतीको ने ले ली, तब भारतीय कला भी ज्यादा जटिल और अलकारपूर्ण होती गई। खासतौर से उत्तर-पश्चिम मे गान्धार की महायान मूर्तिकला मे मूर्तियो और अलकारो की भरमार हो गई। हीनयान शिल्प भी इस नई हवा से बिलकुल अछूता न रहा। वह भी धीरे-धीरे अपनी पुरानी शैली की सादगी और सयम खो बैठा और उसने अलकारपूर्ण खुदाई और प्रतीकवाद अपना लिया।

उस काल की कुछ यादगारे आज भी हमारे पास हैं। अजन्ता की गुफाओ की दीवारो पर बने हुए सुन्दर चित्र इनमे सबसे ज्यादा दिलचस्प हैं।

अब हम कुषाणो से विदा लेते हैं। लेकिन एक बात याद रखना। शको और दूसरी तुर्की कौमो की तरह कुषाणो का भारत मे आना या उसपर शासन करना ऐसा नही था जैसे कोई विदेशी एक हारे हुए देश पर हुकूमत कर रहे हो। ये लोग भारत से और भारत के निवासियो से धर्म के बन्धन मे बंधे हुए थे। इसके अलावा उन्होने भारत के आर्यों की शासन-प्रणाली को भी अपना लिया था। और चूंकि उन लोगो ने अपने को बहुत हद तक आर्य-प्रणाली के अनुकूल बना लिया था, इसलिए वे तीन सौ वर्षों तक उत्तर भारत पर राज करने मे सफल हुए।

: ३१ :

## ईसा और ईसाइयत

१२ अप्रैल, १९३२

उत्तर-पश्चिम भारत के कुषाण-साम्राज्य और चीन के हन्-वश की चर्चा करते-करते हम इतिहास की एक महत्वपूर्ण मजिल से आगे बढ आये। इसलिए उसपर वापस लौट चलना चाहिए। अभी तक हम जो तारीखें देते थे, वे ईसा के पूर्व की थी। अब हम ईसवी सन् मे पहुंच गये हैं। यह सन्, जैसा कि इसके नाम से जाहिर है, ईसा के जन्म से या ईसा के माने हुए जन्मदिन से, शुरू होता है। वास्तव मे ईसा का जन्म शायद इससे चार वर्ष पहले हुआ था, लेकिन उससे कोई ज्यादा फ़र्क़ नही पडता। ईसा के बाद होनेवाली घटनाओ की तारीखो के आगे ईसवी सन् लिखने का रिवाज हो गया है।[1] मैं भी ऐसा ही करूंगा।

---

[1] अंग्रेजी में ईसवी सन् के लिए A. D. या A. C. लिखा जाता है। A D का

ईसा, या जैसा कि उनका नाम था यीशु, की कथा बाइबिल के नये अहदनामे[1] मे दी हुई है और तुम्हे उसके बारे मे कुछ मालूम भी है। ईसा की जीवन-कथाओ[2] के विवरणो मे उनकी जवानी के दिनो का कोई हाल नही दिया गया है। वह नासरत मे पैदा हुए, गैलिली मे उन्होने प्रचार किया और तीस वर्ष से ऊपर की उम्र में वह यरुशलम आये। इसके थोडे ही दिन बाद रोमन गवर्नर पॉन्तियस पाइलेत की अदालत मे उनपर मुकदमा चला और उसने इनको सजा दी। यह साफ़ नही मालूम होता कि अपना प्रचार शुरू करने से पहले ईसा क्या करते थे या कहाँ गये थे। मध्य एशिया भर मे, कश्मीर मे, लद्दाख मे और तिब्बत मे और इससे और भी उत्तर के देशो मे अभी तक लोगो का यह पक्का विश्वास है कि यीशु या ईसा इन देशो मे घूमे थे। कुछ लोगो का यह विश्वास है कि वह भारत भी आये थे। पक्के तौर पर कुछ कहा नही जा सकता, लेकिन जिन विद्वानो ने ईसा की जीवनी का अध्ययन किया है, वे यह नही मानते कि ईसा भारत या मध्य एशिया मे आये थे। लेकिन अगर आये हो तो यह कोई असम्भव बात भी नही कही जा सकती। उस जमाने मे भारत के बडे-बडे विश्वविद्यालय, ख़ासकर उत्तर-पश्चिम का तक्ष-शिला का विश्वविद्यालय, दूर-दूर देशो के लगनवाले विद्यार्थियो को आकर्षित करते थे और मुमकिन है कि ईसा भी ज्ञान की तलाश मे यहाँ आये हो। बहुत-सी बातो मे ईसा के सिद्धान्त गौतम के सिद्धान्तो से इतने ज्यादा मिलते-जुलते हैं कि यह बहुत सम्भव मालूम होता है कि ईसा को गौतम के विचारो की पूरी-पूरी जान-कारी थी। लेकिन बौद्ध-धर्म दूसरे देशो मे काफी प्रचलित था, और इसलिए ईसा भारत आये बिना भी उसके बारे मे अच्छी तरह से जान सकते थे।

स्कूल का हरेक बच्चा जानता है कि मजहबो के नाम पर लडाई-झगडे और कडवे सघर्ष हुए हैं। लेकिन ससार के मजहबो की शुरुआत पर गौर करना और उनकी तुलना करना बहुत दिलचस्प है। सब मजहबो के नजरियो और उप-देशो मे इतनी समानता है कि यह देखकर हैरत होती है कि लोग छोटी-छोटी और गैर-जरूरी बातो के बारे मे झगडा करने की बेवकूफी क्यो करते हैं। लेकिन पुराने उपदेशो मे नई-नई बातें जोड दी जाती हैं, और उनको इस तरह तोड-मरोड़ दिया जाता है कि उनका पहचानना मुश्किल हो जाता है। सच्चे धर्म-प्रचारक की जगह तगदिल और कट्टर हठ-धर्मी लोग आ बैठते हैं। बहुत बार मज़हब ने

---

अर्थ है Anno Domini यानी ईश्वर का वर्ष, और A. C का अर्थ है After Christ यानी ईसा के बाद। पुस्तक के लेखक A. C. लिखना पसन्द करते हैं। हिन्दी मे सिर्फ ई० लिखा जाता है।

[1] New Testament

[2] Gospels

राजनीति और साम्राज्यवाद की दासी-जैसा काम किया है। पुराने रोमन लोगो की तो यह नीति थी कि जनता की भलाई के लिए, या यो कहो कि उसे लूटने के लिए, उसमे अन्ध-विश्वास पैदा किया जाय, क्योंकि अन्ध-विश्वासी लोगो को दबाये रखना ज्यादा आसान होता है। अमीर-वर्ग के रोमन लोग वैसे तो बडी ऊँची-ऊँची फिलॉसफी बघारते थे, लेकिन व्यवहार मे जिस चीज़ को वे अपने लिए अच्छी समझते थे, उसे जनता के लिए ठीक और हितकर नही मानते थे। बाद के जमाने के एक मशहूर इतालवी लेखक मेकियावेली ने राजनीति पर एक पुस्तक लिखी है। उसका कहना है कि शासन के लिए मजहब ज़रूरी चीज़ है, और कभी-कभी शासक का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसे मज़हब की हिमायत करे जिसे वह खुद झूठा समझता हो। इस जमाने मे भी हमारे सामने ऐसी बहुत-सी मिसालें हैं कि साम्राज्यवाद ने मजहब की आड मे शिकार खेला है। इसलिए कार्ल मार्क्स का यह लिखना ताज्जुब की बात नही है कि "मजहब जनता की अफ़ीम है"।

ईसा यहूदी थे। यहूदी एक निराली और अजीब-तौर पर उद्यमी क़ौम थी, और अब भी है। दाऊद और सुलेमान के ज़माने मे कुछ समय के वैभव के बाद उनके बुरे दिन आये। यह वैभव भी था तो बहुत थोडा, लेकिन अपनी कल्पना मे उन्होंने उसे यहाँतक बढा-चढा दिया कि उनके लिए वह अतीत का एक स्वर्णयुग बन गया, और वे विश्वास करने लगे कि वह युग एक निश्चित समय पर फिर लौटेगा और उस समय यहूदी कौम फिर महान् और शक्तिशाली हो जायगी। वे लोग सारे रोमन साम्राज्य मे और दूसरे देशो मे फैल गये, लेकिन अपने इस पक्के विश्वास के कारण वे आपस मे मज़बूती से बँधे रहे कि उनके वैभव का दिन आनेवाला है और एक मसीहा वह दिन दिखायेगा। बेघर और आश्रयहीन बेहद परेशानियो और अत्याचारो के शिकार और अक्सर मौत के घाट उतारे जानेवाले यहूदियो ने दो हज़ार वर्ष से ज्यादा तक अपनी हस्ती किस तरह बचाये रक्खी और किस तरह आपस मे बँधे रहे, यह इतिहास की एक अद्भुत घटना है।

यहूदी एक मसीहा का इन्तज़ार कर रहे थे, और शायद यीशु से उन्हें इसी तरह की उम्मीदें थी। लेकिन बहुत जल्द इनकी उम्मीदो पर पानी फिर गया, क्योंकि ईसा चालू तरीको और सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह की बिलकुल नई बातें करते थे। खास तौर से वह अमीरो और उन पाखण्डियो के खिलाफ थे, जिन्होंने धर्म को कुछ व्रत-उपवासो और कर्म-काण्डो का मामला बना दिया था। धन-दौलत और कीर्ति की आशा दिलाने के बजाय, वह एक अस्पष्ट और काल्पनिक स्वर्गीय राज्य की खातिर लोगो से अपना सब कुछ त्याग देने को कहते

थे। उनकी बातें रूपको और कहानियो के रूप मे होती थी, लेकिन यह बिलकुल स्पष्ट है कि वह जन्म से ही विद्रोही थे, और ज़माने की हालत को सह नही सकते थे, और उसे बदलने पर तुले हुए थे। यह वह बात न थी जो यहूदी चाहते थे। इसलिए बहुत-से यहूदी उनके खिलाफ हो गये और उन्होंने ईसा को पकड़कर रोमन अधिकारियो के सुपुर्द कर दिया।

मज़हबी मामलो मे रोमन लोग असहिष्णु नही थे, क्योंकि साम्राज्य मे सब मज़हबो को बर्दाश्त किया जाता था, यहाँ तक कि अगर कोई किसी देवी-देवता को बुरा कहता या गाली देता तो उसे सज़ा नही दी जाती थी। तबेरी नामक एक रोमन सम्राट् ने कहा था, "अगर देवताओ का अपमान किया जाता है तो उन्हें खुद ही निबट लेने दो"। इसलिए जब रोमन गवर्नर पॉन्तियस पाइलेत के सामने यीशु पेश किये गए तो इस मामले के मज़हबी पहलू की उसे ज़रा भी चिन्ता न हुई होगी। यीशु को लोग एक राजनीतिक विद्रोही, और यहूदी लोग सामाजिक विद्रोही समझते थे, और यही जुर्म लगाकर उनपर मुकदमा चलाया गया, सजा दी गई, और गोलगोथा मे उन्हें सूली पर लटका दिया गया। यातना की इस घडी मे उनके चुने हुए शिष्यो तक ने उनका साथ छोड दिया और उन्हे मानने से भी इन्कार कर दिया। इस विश्वासघात से उन्होंने ईसा की पीडा को इतना असह्य बना दिया कि मरने से पहले उनके मुँह से दिल को हिला देने-वाले ये शब्द निकल पडे—"मेरे ईश्वर! मेरे ईश्वर! तूने मुझे क्यो त्याग दिया है?"

मृत्यु के समय यीशु जवान ही थे, उनकी उम्र तीस वर्ष से कुछ ही ज्यादा थी। जब हम बाइबिल की सुन्दर भाषा मे उनकी मौत की करुण कहानी पढते हैं तो हमारा दिल पसीज जाता है। बाद के युगो मे ईसाई धर्म की जो तरक्की हुई, उसने करोडो के मन मे यीशु के नाम के लिए श्रद्धा पैदा कर दी, हालांकि उन लोगों ने उनके उपदेशो पर अमल बहुत कम किया है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि जब वह सूली पर चढाये गए थे तब उनका नाम फिलस्तीन से बाहर के लोग ज्यादा नही जानते थे। रोम के लोग तो उनके बारे मे कुछ भी नही जानते थे, और पॉन्तियस पाइलेत ने इस घटना को बिलकुल ही महत्व नही दिया होगा।

यीशु के नज़दीकी अनुयायियो और शिष्यो ने डर के मारे उन्हें अपना कहने से भी इन्कार कर दिया था। लेकिन यीशु की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद पॉल नामक एक नये अनुयायी ने, जिसने यीशु को खुद नही देखा था, अपनी समझ के अनुसार ईसाई मत का प्रचार शुरू कर दिया। बहुत-से लोगो का खयाल है कि जिस ईसाइयत का पॉल ने प्रचार किया, वह यीशु के उपदेशो से बहुत भिन्न है। पॉल एक योग्य और विद्वान् आदमी था, लेकिन वह यीशु की तरह सामाजिक विद्रोही नही था।

बहरहाल पॉल कामयाब हुआ और ईसाई मत धीरे-धीरे फैलने लगा। रोमन लोगो ने शुरू मे इसे कोई महत्व नही दिया। उन्होंने समझा कि ईसाई भी यहूदियो का ही कोई सम्प्रदाय होगा। लेकिन ईसाइयो का साहस बढने लगा। वे दूसरे तमाम मतो के कट्टर विरोधी बन गये और उन्होंने सम्राट् की मूर्ति की पूजा करने से बिलकुल इन्कार कर दिया। रोमन लोग उनकी इस मनोवृत्ति को, और उनकी निगाह मे ईसाइयो की इस तग-खयाली को, समझ नही सके। इसलिए वे ईसाइयो को सनकी, लडाकू, असभ्य और मानव-प्रगति का विरोधी समझने लगे। ईसाइयत को वे लोग शायद एक मजहब की हैसियत से बर्दाश्त करने को तैयार हो जाते, लेकिन सम्राट् की मूर्ति के सामने सर झुकाने से उनका इन्कार करना, राजद्रोह समझा गया, और उसकी सजा मौत करार दी गई। ईसाई लोग आदमी और जानवर की कुश्तियो की भी बडी आलोचना करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि ईसाई सताये जाने लगे। उनकी जायदादें जब्त की जाने लगी और उन्हें शेरो का भोजन बनाया जाने लगा। तुमने इन ईसाई शहीदो के किस्से पढे होंगे और शायद तुमने इनके सिनेमा-फिल्म भी देखे होंगे। लेकिन जब कोई व्यक्ति किसी उसूल के लिए मरने को तैयार हो जाता है और ऐसी मौत को वास्तव मे गौरव समझने लगता है, तो उसे या उसके उसूल को दबाना असम्भव होता है। इसलिए रोमन साम्राज्य ईसाइयो को दबाने मे बिलकुल असफल रहा। उलटे इस लडाई मे ईसाइयत की जीत हुई और ईसा की चौथी सदी के शुरू मे एक रोमन सम्राट् खुद ईसाई हो गया और ईसाई मत रोमन-साम्राज्य का राज्य-धर्म बन गया। इस सम्राट् का नाम कॉन्स्तेन्तीन था, जिसने कुस्तुन्तुनिया नगर बसाया। इसका जिक्र हम आगे करेंगे।

ज्यों-ज्यो ईसाई मजहब फैला, त्यो-त्यो ईसा के देवत्व के बारे मे जबर्दस्त लडाई-झगडे पैदा हो गये। तुम्हें याद होगा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि गौतम बुद्ध ने कभी देवत्व का दावा नही किया था, लेकिन फिर भी वह एक देवता और अवतार की तरह पूजे जाने लगे। इसी तरह यीशु ने भी खुदाई का कोई दावा नही किया था। यीशु ने जो बार-बार कहा है कि वह ईश्वर के पुत्र और मनुष्य के पुत्र हैं, उसका अर्थ यह कभी नही है कि उन्होंने खुदाई का या मनुष्यो से ऊपर होने का दावा किया था। लेकिन अपने महान् पुरुषो को देवता का रूप दे देना और देवता के आसन पर बिठाने के बाद उनके उपदेशो को छोड देना, मनुष्य-जाति को ज्यादा पसन्द है। छः सौ साल बाद पैगम्बर मुहम्मद ने एक और बडा मजहब चलाया, लेकिन शायद इन उदाहरणो से फायदा उठाकर उन्होंने साफ-साफ और बार-बार यह कहा कि वह इन्सान हैं, खुदा नही।

इस तरह यीशु के उपदेशो को समझने और उनपर अमल करने के बजाय,

ईसाई लोग यीशु के देवत्व और ईसाई त्रिपुटी[1] के रूप के बारे मे तर्क-वितर्क और झगडे करने लगे। वे एक-दूसरे को काफिर कहने लगे, एक-दूसरे पर अत्याचार करने लगे और एक-दूसरे का गला काटने लगे। एक बार ईसाइयो के अलग-अलग सम्प्रदायो मे एक सयुक्त शब्द के ऊपर बहुत ज़ोरदार और भयकर मतभेद हुआ। एक दल कहता था कि प्रार्थना मे होमो-आउज़न[2] शब्द इस्तेमाल किया जाना चाहिए, दूसरा होमोइ-आउज़न[3] इस्तेमाल करना चाहता था। इस मतभेद का यीशु के देवत्व से सम्बन्ध था। इस सयुक्त शब्द के पीछे भयकर युद्ध हुआ और बहुत-से आदमी मारे गये।

ज्यो-ज्यो ईसाई-सघ की ताक़त बढती गई, त्यो-त्यो ये घरेलू झगडे बढ़ते गये। ईसाई मज़हब के विभिन्न सम्प्रदायो मे इसी तरह के झगडे पश्चिमी देशों में कुछ अर्से पहले तक होते रहे हैं।

तुम्हें यह जानकर ताज्जुब होगा कि इंग्लैण्ड मे या पश्चिमी यूरोप में पहुँचने के बहुत पहले, और उस समय जबकि रोम तक मे उसे नफ़रत से देखा जाता था और उसपर पाबन्दी लगी हुई थी, ईसाई मज़हब भारत में आ पहुँचा था। यीशु के मरने के बाद करीब सौ साल के अन्दर ही ईसाई धर्म-प्रचारक समुद्र के रास्ते दक्षिण भारत आये थे। उनके साथ शिष्ट बर्त्ताव किया गया, और उन्हें अपने नये मज़हब के प्रचार करने की छूट दे दी गई। उन्होंने बहुत-से लोगो को अपने मत का अनुयायी बनाया और ये लोग तबसे आज तक दक्षिण भारत मे उतार-चढ़ाव के दिन देखते हुए रहते आये हैं। उनमें से बहुत लोग ईसाई मज़हब के पुराने सम्प्रदायो के अनुयायी हैं, जिनकी अब यूरोप मे हस्ती तक नही है। आजकल इनमे से कुछ के मुख्य स्थान एशिया-कोचक मे है।

राजनीतिक दृष्टि से, आजकल ईसाइयत का बोलबाला है, क्योकि वह यूरोप की प्रमुख कौमो का मज़हब है। लेकिन जब हम अहिंसा और सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह का प्रचार करनेवाले विद्रोही यीशु की तुलना उनके आजकल के बकवादी अनुयायियो से करते हैं, जो साम्राज्यवाद, शस्त्रास्त्रो, युद्धो और धन की पूजा मे विश्वास करते हैं, तो यह खयाल हमें हैरत मे डाल देता है। यीशु का 'पर्वत का उपदेश'[4] और आजकल की यूरोप व अमेरिका की ईसाइयत, इन दोनो मे कितनी हैरतभरी असमानता है! इसलिए कोई ताज्जुब की बात

---

[1] ईसाई त्रिपुटी (Christian Trinity)—पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा (Father, Son and Holy Ghost)

[2] Homo-ousian

[3] Homoi-ousian

[4] Sermon on the Mount

नहीं इधर बहुत-से लोग यह सोचने लगे कि आजकल पश्चिम के अपनेको ईसा के अनुयायी कहलानेवाले ज्यादातर लोगों के मुकाबले में बापू ईसा के उपदेशों के बहुत ज्यादा निकट हैं।

## : ३२ :

## रोमन साम्राज्य

२३ अप्रैल, १९३२

प्यारी बेटी, मैंने बहुत दिनों से तुम्हें पत्र नहीं लिखा। इलाहाबाद से आनेवाली खबरों ने मुझे बेचैन और रोमांचित कर दिया है। खासतौर से तुम्हारी बूढ़ी दादी-अम्मा की खबर ने। जब दुबली और कमजोर माँ को पुलिस की लाठियों का सामना करना पड़ रहा है और उनकी चोट सहनी पड़ रही है तो चैन की अपनी इस कम तकलीफ की जिन्दगी पर झुंझलाहट होती है। लेकिन मैं नहीं चाहता कि मेरे विचार भावना में बह जायँ और मेरी कहानी के सिलसिले में बाधा डालें।

अब हमें फिर रोम लौट चलना चाहिए, जिसे पुराने संस्कृत ग्रन्थों में रोमक कहा गया है। तुम्हें याद होगा कि हम रोमन गणराज्य के अन्त की और रोमन साम्राज्य के बनने की चर्चा कर रहे थे। जूलियस सीज़र का गोद लिया हुआ पुत्र आक्टेवियन, आगस्टस सीज़र के नाम से पहला राजा बन चुका था। वह अपने को बादशाह नहीं कहता था। इसकी वजह कुछ तो यह थी कि वह बादशाह की उपाधि को अपने रुतबे की शान के माफिक नहीं समझता था, और दूसरे वह गणराज्य के जाहिरी रूपों को जारी रखना चाहता था। इसलिए उसने अपनी उपाधि 'इम्परेटर', यानी हुक्म देनेवाला रखी थी। इस तरह 'इम्परेटर' की उपाधि सबसे ऊँची समझी जाने लगी, और तुम शायद जानती हो कि अंग्रेजी का 'एम्परर' शब्द इसीसे निकला है। इस तरह रोम के पुराने साम्राज्य ने दो शब्द ऐसे दिये जिनकी लालसा और जिनका उपयोग करीब-करीब सारी दुनिया के बादशाह बहुत दिनों तक करते रहे। ये दो शब्द हैं—'एम्परर' और 'सीज़र' या 'कैसर' या 'ज़ार'। पहले यह समझा जाता था कि एक वक्त में एक ही सम्राट् हो सकता है, जो कि एक तरह से सारी दुनिया का मालिक हो। रोम 'संसार की स्वामिनी' कहलाता था और पश्चिम के लोग समझते थे कि सारी दुनिया रोम की छाया में बसती है। यह बात वास्तव में ग़लत थी और भूगोल और इतिहास के बारे में अज्ञान ही जाहिर करती थी। रोमन साम्राज्य ज्यादातर भूमध्यसागर के किनारों के देशों का साम्राज्य था, और इसकी सीमा पूर्व में इराक से आगे कभी नहीं बढ़ी। समय-समय पर चीन और भारत में इससे कहीं ज्यादा शक्तिशाली, बड़े और सुसंस्कृत

राज्य हुए हैं। फिर भी जहांतक पश्चिमी दुनिया से ताल्लुक था, उनके लिए रोम ही अकेला साम्राज्य था, और इसी खयाल से प्राचीन काल के लोगो की नजरो मे वह सार्वभौम साम्राज्य था। उस समय उसका जबर्दस्त दबदबा था।

रोम के बारे मे सबसे ज्यादा दिलचस्प बात यह है कि उसके पीछे दुनिया के ऊपर राज्य करने और दुनिया का सिरताज बनने का भाव था। जब रोम का पतन हुआ तब भी इसी खयाल ने उसकी रक्षा की और उसे बल दिया। और यह भाव तब भी कायम रहा जब रोम से उसका सम्बन्ध बिलकुल टूट गया। यहांतक कि खुद साम्राज्य भी विलीन हो गया और उसकी छाया भर रह गई, मगर यह भाव तब भी बना ही रहा।

मुझे रोम के बारे मे या उसके उत्तराधिकारियो के बारे मे लिखते हुए कुछ दिक्कत मालूम होती है। क्या-क्या बातें तुम्हें बतलाई जायें, उनका छांटना और पसन्द करना आसान नहीं है। मुझे डर है कि इस बारे मे जो पुरानी किताबें मैंने ज्यादातर जेल मे पढी हैं, उनसे मेरे दिमाग में इधर-उधर की तसवीरों का बेतरतीब ढेर बन गया है। सच तो यह है कि अगर मैं जेल न आया होता तो रोम के इतिहास की एक मशहूर पुस्तक शायद कभी न पढ़ पाता। यह पुस्तक इतनी बडी है कि दूसरे कामो के होते हुए इसे पूरी पढ जाने के लिए वक्त निकाल सकना, मुश्किल हैं। इस पुस्तक का नाम 'डिक्लाइन एण्ड फॉल ऑफ दि रोमन ऐम्पायर', यानी रोमन साम्राज्य का पतन और अन्त है, और इसका लेखक गिबन नामक एक अंग्रेज है। यह पुस्तक करीब डेढ सौ वर्ष हुए स्वीजरलैण्ड मे लेमन झील के किनारे बैठकर लिखी गई थी। लेकिन आज भी इसके पढने मे रस आता है और मुझे तो इसका वर्णन, जो बडी लच्छेदार पर सुरीली भाषा मे लिखा हुआ है, उपन्यास से भी ज्यादा मनोरजक लगा। करीब दस वर्ष हुए मैंने इसे लखनऊ जिला-जेल मे पढा था और करीब एक महीने तक गिबन मेरा बडा नजदीकी साथी रहा, और उसकी भाषा ने पुराने जमाने की जो तसवीरें मेरे सामने खीची, उनमे मैं लीन हो गया। लेकिन पुस्तक खत्म होने के कुछ ही दिन पहले मुझे अचानक रिहा कर दिया गया। जादू टूट गया और फिर बचे हुए सौ पृष्ठो को पढने और प्राचीन रोम और कुस्तुन्तुनिया को लौटने का समय निकालने और दुबारा चित्त लगाने मे मुझे कुछ दिक्कत हुई।

लेकिन यह बात दस वर्ष पुरानी है और वास्तव मे मैंने जो कुछ पढा था उसका बहुत कुछ हिस्सा मैं भूल गया हूँ। फिर भी दिमाग को भरने और उलझाने के लिए बहुत-कुछ मौजूद है और इस उलझन को तुम्हारे ऊपर नही डालना चाहता।

पहले हम युग-युगों के रोमन साम्राज्य या साम्राज्यो पर एक नजर डाल लें। बाद में शायद इन तसवीरो मे कुछ रग भरने की कोशिश की जायगी।

प्राप्त करने के लिए होड होने लगी और उसे रिश्वत देने के लिए जनता से या हराये हुए देशो से जबर्दस्ती रुपया वसूल किया जाने लगा। आमदनी का एक बहुत बडा साधन गुलामो का व्यापार था और रोम की फौजें पूर्व मे बाकायदा गुलामो को पकडने जाया करती थी। फौज के साथ गुलामो के व्यापारी भी जाते थे, ताकि मौके पर गुलामो को खरीद सकें। देलोस का टापू, जिसे प्राचीन यूनानी पवित्र मानते थे, गुलामो की एक बडी मण्डी बन गया था, जहाँ कभी-कभी दस-दस हजार गुलाम एक दिन मे बिक जाते थे! रोम के विशाल कोलोजियम[1] मे एक लोकप्रिय सम्राट् बारह-बारह सौ ग्लेडियेटरो का एक साथ प्रदर्शन किया करता था। इन अभागे गुलामो का काम था सम्राट् और उसकी प्रजा के मनोरजन के लिए मरना।

साम्राज्य के दिनो मे रोमन सभ्यता इस तरह की थी। फिर भी हमारे मित्र गिबन ने लिखा है—"अगर किसीसे कहा जाय कि तुम दुनिया के इतिहास का वह काल बताओ जब मनुष्य-समाज सबसे ज्यादा सुखी और खुशहाल रहा हो, तो बिना सकोच के वह उस काल का नाम लेगा जो दोमिशियन की मृत्यु से कोमोद के गद्दी पर बैठने तक गुजरा था"—यानी सन् ९६ ई० से १८० ई० तक का चौरासी वर्ष का जमाना। गिबन कितना ही बडा विद्वान् रहा हो, पर मेरा खयाल है कि जो कुछ उसने कहा है, उससे सहमत होने मे बहुत लोग जरूर सकोच करेंगे। गिबन जब मनुष्य-जाति की बात करता है, तब उसका मतलब भूमध्यसागर के आसपास बसी दुनिया से ही है, क्योकि भारत या चीन या प्राचीन मिस्र के बारे मे उसकी जानकारी नही के बराबर थी।

लेकिन शायद मैं रोम के साथ कुछ ज्यादती कर रहा हूँ। रोम राज्यो मे थोडा-बहुत अन्दरूनी अमन-चैन होने की वजह से जरूर एक सुखदायी परिवर्तन हुआ होगा। सरहदो पर अक्सर लडाइयाँ हुआ करती थी। लेकिन कम-से-कम शुरू के दिनो मे साम्राज्य के भीतर 'रोमन शान्ति'[2] विराजती थी। जानमाल एक हद तक सुरक्षित थे, इसलिए व्यापार मे तरक्की हुई। रोमन नागरिकता के अधिकार सारी रोमन दुनिया को दे दिये गए थे, लेकिन यह याद रखो कि बेचारे गुलामो को इस अधिकार से कोई सरोकार नही था। यह भी याद रखने की बात है कि सारी शक्ति सम्राट् के हाथो मे थी और नागरिको को कोई अधिकार नही थे। राजनीति पर किसी तरह की चर्चा सम्राट् के खिलाफ गद्दारी समझी जाती थी। ऊँचे वर्ग के लोगो के लिए किसी हद तक एक-सी सरकार थी और एक कानून था। यह बात

---

[1] कोलोजियम—रोम का बहुत बड़ा अखाड़ा, जो उस समय दुनिया में सबसे बड़ा माना जाता था। इसके खण्डहर अब तक मौजूद हैं।

[2] Pax Romana

उन लोगो के लिए बहुत बडे फायदे की रही होगी, जो पहले इससे भी ज्यादा जुल्मी हुकूमतो के मातहत मुसीबतें झेल चुके थे।

धीरे-धीरे रोमन लोग इतने आलसी या दूसरी तरह से इतने अयोग्य हो गये कि खुद अपनी फौजो मे लडने लायक भी न रहे। गांव के किसान अपने ऊपर लदे हुए बोझो की वजह से ज्यादा गरीब होते गये और यही हाल शहर के लोगो का भी हुआ। लेकिन सम्राट् शहर के लोगो को राज़ी रखना चाहते थे, जिससे कि वे कोई झगडा-बखेडा खडा न करें। इसके लिए रोम के लोगो को मुफ्त रोटियाँ दी जाती थी, और उनके मनोरजन के लिए सरकसो मे खेल-तमाशे भी मुफ्त में दिखाये जाते थे। इस तरह उनका मिज़ाज खुश रक्खा जाता था। लेकिन ये मुफ्त की रोटियाँ सिर्फ कुछ ही जगहो मे बाँटी जा सकती थी, और इसके लिए भी मिस्र वगैरा दूसरे मुल्को मे गुलामो को तबाही और मुसीबत उठानी पडती थी; क्योकि उनसे मुफ्त का आटा वसूल किया जाता था।

चूंकि रोमन लोग आसानी से फौज मे भरती नही होते थे, इसलिए साम्राज्य के बाहर के लोग, जिन्हें 'बर्बर' कहा जाता था, सेना मे भरती किये जाते थे। इस तरह रोम की सेनाओ मे ज्यादातर वे लोग भर गये जो रोम के 'बर्बर' दुश्मनो के साथी या रिश्तेदार थे। सरहदो पर ये 'बर्बर' जातियाँ बराबर रोमनो को दबाती और घेरती जाती थी। ज्यो-ज्यो रोम कमज़ोर होता गया, 'बर्बर' लोग ज्यादा ताकतवर और साहसी होते नज़र आने लगे। पूर्व की तरफ से खास खतरा था। और चूंकि यह सरहद रोम से दूर थी, इसलिए इसकी रक्षा करना आसान नही था। आगस्त सीज़र के तीन सौ वर्ष बाद, कॉन्स्तेन्तीन नामक सम्राट् ने ऐसा महत्वपूर्ण कदम उठाया, जिसका आगे चलकर बहुत ही दूरवर्ती नतीजा निकलनेवाला था। वह साम्राज्य की राजधानी रोम से हटाकर पूर्व को ले गया। काला सागर और भूमध्यसागर के बीच, दर्रे-दानियाल के किनारे पर बसे हुए बिज़ैन्तिया नामक पुराने शहर के पास, उसने एक नया शहर बसाया, जिसका नाम उसने अपने नाम पर कुस्तुन्तुनिया[1] रक्खा। कुस्तुन्तुनिया, जिसे नया रोम भी कहते थे, रोमन साम्राज्य की राजधानी बन गया। आज भी एशिया के कई हिस्सो मे कुस्तुन्तुनिया को रूम कहते हैं।

· ३३ ·

## रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर छायामात्र रह जाता है

२४ अप्रैल, १९३२

आज भी हम रोमन साम्राज्य का सिंहावलोकन जारी रक्खेंगे। ईसवी

[1] अंग्रेज़ी में यह कॉन्स्टेन्टिनोपल कहलाता है।

सन् की चौथी सदी के शुरू मे, यानी ३२६ ई० मे, कॉन्स्तेन्तीन ने पुराने बिज़ैन्तिया के नजदीक कुस्तुन्तुनिया[1] शहर बसाया। और वह अपने साम्राज्य की राजधानी को पुराने रोम से बहुत दूर दर्रे-दानियाल के किनारे पर बसे हुए इस नये रोम मे ले आया। नकशे पर एक नज़र डालो। तुम देखोगी कि कुस्तुन्तुनिया का यह नया शहर यूरोप के किनारे खडा महान् शक्तिशाली एशिया की ओर झॉंक रहा है। यह दो महाद्वीपो को जोडनेवाली एक कडी के समान है। खुश्की के और समुद्र के बहुत-से बडे-बडे तिजारती रास्ते इसीसे होकर गुज़रते थे। राजधानी या नगर के लिए यह बहुत अच्छे मौके की जगह है। कॉन्स्तेन्तीन ने चुनाव तो अच्छा किया लेकिन इस राजधानी के परिवर्तन की उसे या उसके वारिसो को काफी कीमत चुकानी पडी। जिस तरह पुराना रोम एशिया-कोचक और पूर्वी हिस्सो से काफी दूर पडता था, उसी तरह यह नई पूर्वी राजधानी भी ब्रिटेन और गॉल जैसे पश्चिमी देशो से बहुत दूर पडती थी।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ समय तक तो दो संयुक्त सम्राट् हुआ करते थे, एक रोम मे रहता था और दूसरा कुस्तुन्तुनिया मे। इसका नतीजा यह हुआ कि साम्राज्य के दो हिस्से हो गये—एक पश्चिमी, दूसरा पूर्वी। लेकिन पश्चिमी साम्राज्य, जिसकी राजधानी रोम थी, बहुत दिनो तक इस धक्के को बर्दाश्त न कर सका। जिन लोगो को वह 'बर्बर' कहता था, उनसे वह अपनी रक्षा न कर सका। गोथ नाम का एक जर्मन कबीला आया और उसने रोम को लूट लिया। इसके बाद वाण्डाल और हूण आये और पश्चिमी साम्राज्य ढह गया तुमने हूण शब्द का प्रयोग सुना होगा। यह बतलाने के लिए कि जर्मन लोग बहु ज़ालिम और जगली है, पिछले महायुद्ध मे अंग्रेज़ लोग जर्मनो के लिए इस शब्द का आमतौर पर इस्तेमाल करते थे। पर सच्ची बात तो यह है कि लडाई के ज़मा मे हर आदमी का, या कुछके सिवा हर आदमी का, दिमाग फिर जाता है। सभ्यत और शराफ़त के बारे मे उसने जो कुछ सीखा होता है, वह सब भूल जाता है औ निर्दयता व जगलीपन का व्यवहार करने लगता है। जर्मनो ने इसी तरह का व्यवहा किया और अंग्रेज़ो व फ्रान्सीसियो ने भी। इस मामले मे दोनो मे कोई फर्क नही था

हूण शब्द लानत का एक भयंकर शब्द बन गया है। यही हाल वाण्डाल शब्द का भी है। शायद ये हूण और वाण्डाल बहुत असभ्य और निर्दयी थे औ इन्होने बहुत नुकसान पहुँचाया। लेकिन यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि इनके बारे मे जो-कुछ हाल हमे मालूम होते हैं, वह इनके दुश्मन रोमन लोगो के लिखे हु हैं और उनसे निष्पक्षता की उम्मीद नही की जा सकती। कुछ भी हो, गोथ, वाण्डाल और हूण लोगो ने पश्चिमी रोमन साम्राज्य को बालू की दीवार की तरह ढहा दिया

[1] अब इसका नाम इस्तम्बूल है और यह टर्की की राजधानी है।

इन लोगों के इतनी आसानी से कामयाब हो जाने की एक वजह शायद यह थी कि रोमन साम्राज्य का किसान-वर्ग उसकी मातहती में इतना ज्यादा तबाह था और उस पर टैक्सों व कर्जों का इतना भारी बोझ था, कि वह किसी भी परिवर्तन का स्वागत करने को तैयार था। जैसे आज का ग़रीब भारतीय किसान अपनी नयकर गरीबी और तबाही में होनेवाला कोई भी परिवर्तन खुशी से कबूल कर लेगा।

इस तरह रोम का पश्चिमी साम्राज्य बह गया पर कुछ सदियों के बाद यह फिर दूसरी शक्ल में उठा। पूर्वी साम्राज्य किसी तरह क़ायम रहा, हालांकि हूण और दूसरी क़ौमों के हमलों का मुकाबला करने में इसे बहुत मुश्किलें उठानी पड़ीं। इन हमलों से अपनी रक्षा करने के अलावा, अरबों और बाद को तुर्कों से बराबर लड़ाइयाँ लड़ते हुए भी यह साम्राज्य सदियों तक चलता रहा। ग्यारह सौ वर्षों के आश्चर्यजनक काल तक यह बचा रहा। आखिरकार १४५३ ई० में इसका पतन हो गया और कुस्तुन्तुनिया पर उस्मानिया तुर्कों ने कब्ज़ा कर लिया। उस वक्त से आज तक करीब पाँच सौ वर्षों से कुस्तुन्तुनिया या इस्तम्बूल तुर्कों के कब्ज़े में है। यहाँ से तुर्कों ने यूरोप पर बार-बार धावे किये और वे ठेठ वियेना की दीवारों तक जा पहुँचे। बाद की सदियों में ये लोग धीरे-धीरे पीछे हटा दिये गए, और बारह वर्ष हुए, महायुद्ध में हारने के बाद, कुस्तुन्तुनिया का शहर भी क़रीब-क़रीब तुर्कों के हाथ से निकल गया था। इस शहर पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा था और तुर्की सुल्तान उनके हाथ की कठपुतली बन गया था। लेकिन एक महान् नेता, मुस्तफा कमालपाशा अपनी क़ौम को बचाने के लिए आगे आया और एक बहादुराना संघर्ष के बाद यह सफल हुआ। आज तुर्की एक गणराज्य है और सुल्तान का पद हमेशा के लिए खत्म हो गया है। कमालपाशा इस गणराज्य का राष्ट्रपति है।[1] कुस्तुन्तुनिया, जो पन्द्रह सौ वर्षों तक पूर्वी रोमन साम्राज्य की और बाद में तुर्की साम्राज्य की राजधानी रहा है, अब भी तुर्की राज्य का एक हिस्सा है, लेकिन उसकी राजधानी नहीं है। तुर्कों ने इस शहर की साम्राज्य-सम्बन्धी यादगारों से दूर रहना और यहाँ से बहुत दूर एशिया-कोचक में अंगोरा या अंकारा को अपनी राजधानी बनाना ज्यादा मुनासिब समझा।

हमने करीब दो हज़ार वर्षों का ज़माना तेज़ी के साथ पार कर लिया है और कुस्तुन्तुनिया की स्थापना, इस नये शहर में रोमन साम्राज्य की राजधानी का जाना, वग़ैरा, एक के बाद एक होनेवाले परिवर्तनों पर सरसरी नज़र डाली है। लेकिन कान्स्टेन्टीन ने एक नई बात और भी की। वह ईसाई हो गया, और चूंकि वह सम्राट् था, इसलिए इसका मतलब यह हुआ कि ईसाई मज़हब साम्राज्य का राज-धर्म बन गया। ईसाइयत की हैसियत में यह अचानक परिवर्तन होना और

---

[1] कमालपाशा की मृत्यु १९३९ ई० में हो गई।

एक त्रस्त सम्प्रदाय का साम्राज्य का धर्म बन जाना, अजीव बात हुई होगी। लेकिन इस परिवर्तन से ईसाइयत को उस समय ज्यादा फायदा नही हुआ। ईसाइयो के जुदा-जुदा सम्प्रदायो में आपसी झगडे शुरू हो गये। आखिर मे लातीनी और यूनानी दो सम्प्रदाय टूट कर अलग हो गये। लातीनी सम्प्रदाय का केन्द्र रोम था और रोम का विशप इसका प्रमुख समझा जाता था। वाद मे यही रोम का पोप हो गया। यूनानी सम्प्रदाय का केन्द्र कुस्तुन्तुनिया था। लातीनी चर्च उत्तर और पश्चिम यूरोप में फैल गया और रोमन कैथोलिक चर्च के नाम से मशहूर हुआ। यूनानी चर्च का नाम कट्टर चर्च[1] पड गया। पूर्वी रोमन साम्राज्य के नष्ट होने के बाद रूस ही ऐसा मुल्क था, जिसमे कट्टर चर्च खासतौर पर फूला-फला। अब रूस मे बोलशेवि.म के कारण इस चर्च की, या किसी भी चर्च की, कोई सरकारी हैसियत नही है।

मैंने पूर्वी रोमन साम्राज्य का ज़िक्र किया है, लेकिन इसका रोम से कोई सम्बन्ध नही था। इस साम्राज्य की भाषा भी लातीनी नही बल्कि यूनानी थी। एक अर्थ मे इसे बहुत-कुछ सिकन्दर के यूनानी साम्राज्य का सिलसिला समझ सकते हैं। इस साम्राज्य का पश्चिमी यूरोप से भी कोई सम्पर्क नही था; हालाँकि बहुत दिनो तक इसने पश्चिमी देशो के इस हक को मजूर नही किया कि वे इससे स्वाधीन रहे। फिर भी पूर्वी साम्राज्य ने रोमन शब्द को नही छोडा, और यहाँ के लोग रोमन कहलाते रहे, मानो इस शब्द मे कोई जादू हो। इससे ज्यादा ताज्जुब की बात यह हुई कि रोम नगर ने, साम्राज्य की राजधानी के पद से गिर जाने पर भी, अपना रौब नही खोया, यहाँ तक कि जो बर्बर लोग इसे जीतने के लिए आये, उन्हें भी इस पर हाथ उठाने मे झिझक-सी हुई और उन्होंने इसके साथ सम्मान का व्यवहार किया। वास्तव मे बडे नाम मे और भावनाओ मे ऐसी ही शक्ति होती है।

साम्राज्य खोकर रोम ने एक नया साम्राज्य बनाना शुरू किया, लेकिन यह बिलकुल दूसरी ही किस्म का था। कहा जाता था कि यीशु के शिष्य पीटर रोम आये थे और वह यहाँ के पहले बिशप हुए। इससे बहुत-से ईसाइयो की नजरो मे यह शहर पवित्र बन गया और रोम के बिशप का पद खास महत्व का हो गया। शुरू में रोम का बिशप दूसरे बिशपो की तरह ही होता था, लेकिन सम्राट् के कुस्तुन्तुनिया चले जाने के बाद इस पद का महत्व बढ़ता गया। अब रोम मे बिशप के ऊपर कोई न रहा और पीटर की गद्दी पर बैठनेवाले की हैसियत से रोम के बिशप का ओहदा सबसे ऊँचा माना जाने लगा। बाद को ये पोप कहलाने लगे, और तुम जानती हो कि पोप आज भी बने हुए हैं और रोमन कैथोलिक चर्च के प्रमुख होते हैं।

यह अजीब बात है कि रोमन चर्च और यूनानी कट्टर चर्च के अलग होने

[1] Orthodox Church

की एक वजह मूर्ति-पूजा थी। रोमन चर्च ईसाई सन्तो की और खासकर ईसा की माता मेरी की मूर्तियो की पूजा को बढावा देता था, लेकिन कट्टर चर्च इसका घोर विरोधी था।

रोम पर उत्तरी कवीलो के सरदारो का कई पीढियो तक कब्जा और शासन रहा, लेकिन वे भी अक्सर कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् को अपना स्वामी मानते रहे। इस बीच रोम के बिशप की ताकत धर्माध्यक्ष के रूप मे बढती गई। यहाँतक कि वह अपनेको इतना ताकतवर महसूस करने लगा कि कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् को चुनौती देने लगा। जब मूर्ति-पूजा के सवाल पर झगडा हुआ तब पोप ने रोम को पूर्व से बिलकुल अलग कर लिया। इस अर्से मे बहुत-सी ऐसी बातें हो गई थी, जिनका हम आगे ज़िक्र करेंगे। अरब मे एक नया मज़हब इस्लाम पैदा हो गया था और अरब लोग सारे उत्तरी अफ्रीका और स्पेन को रौंदकर यूरोप के बीच के भाग पर हमला कर रहे थे। उत्तर-पश्चिमी यूरोप में नये राज्य कायम हो रहे थे और पूर्वी रोमन साम्राज्य पर अरबो के भयकर आक्रमण हो रहे थे।

पोप ने फ्रैंक लोगो के एक बडे नेता से मदद माँगी। फ्रैंक उत्तर का एक जर्मन कबीला था। बाद को फ्रैंको के सरदार कार्ल या चार्ल्स को रोम मे सम्राट् की गद्दी पर बिठाया गया। यह एक बिलकुल ही नया साम्राज्य या राज्य था, लेकिन उन लोगो ने इसे रोमन साम्राज्य और बाद में 'पवित्र रोमन साम्राज्य' के नाम से पुकारा। वे रोमन के सिवाय किसी साम्राज्य की कल्पना ही नही कर सकते थे, और हालाँकि शार्लमेन या महान् चार्ल्स का रोम से कोई सम्बन्ध नही था, फिर भी वह इम्परेटर, सीज़र और आगस्त बन गया। इस नये साम्राज्य को पुराने साम्राज्य का एक सिलसिला समझा गया, लेकिन उसके नाम मे एक शब्द और जुड गया। अब वह 'पवित्र' हो गया। यह पवित्र इसलिए माना गया कि यह खासतौर से एक ईसाई साम्राज्य था और पोप इसका धर्म-पिता था।

इस जगह भावनाओ की अद्भुत शक्ति का एक और सबूत मिलता है। मध्य-यूरोप का रहनेवाला एक फ्रैंक या जर्मन, रोमन सम्राट् बन जाता है! इस 'पवित्र' साम्राज्य का अगला इतिहास और भी आश्चर्यजनक है। साम्राज्य की हैसियत से यह बिलकुल छाया जैसा रह गया था। पूर्व का रोमन साम्राज्य, जिसकी राजधानी कुस्तुन्तुनिया थी, राज्य की तरह चलता रहा, पर पश्चिमी साम्राज्य समय-समय पर बदलता रहा, गायब होता रहा और फिर प्रकट होता रहा। दरअसल यह साम्राज्य छाया और भूत की तरह था, जो सिर्फ ईसाई-चर्च और रोमन नाम की प्रतिष्ठा के बल पर ख़याली दुनिया मे चल रहा था। अब यह कल्पना का साम्राज्य रह गया था जिसमे असलियत कुछ नहीं थी। किसीने—मेरा ख़याल है शायद वाल्तेयर ने—इस 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की परिभाषा करते हुए कहा था कि

यह ऐसी चीज थी, जो न तो पवित्र थी, न रोमन थी और न साम्राज्य थी। जैसे किसी ने एक बार इण्डियन सिविल सर्विस के बारे में, जिससे हम लोग इस देश में दुर्भाग्य से अभी तक परेशान हैं, कहा था कि न तो यह इण्डियन (भारतीय) है, न सिविल (शिष्ट) है और न सर्विस (सेवा) है।

जो कुछ भी हो, पवित्र रोमन साम्राज्य का यह ढकोसला करीब एक हजार वर्ष तक नाम को चलता रहा और आज से करीब सौ वर्ष से कुछ ही ज्यादा हुए, नेपोलियन के जमाने में, इसका हमेशा के लिए अन्त हो गया। यह अन्त भी कुछ मार्के का या नाटकीय नहीं हुआ। इसके अन्त पर किसीका ध्यान ही नहीं गया, क्योंकि वास्तव में बहुत दिनों से इसकी हस्ती ही नहीं थी। अन्त में इस मृत को दफन कर दिया गया। लेकिन हमेशा के लिए नहीं, क्योंकि कैसर और जार वगैरा के रूपों में यह बार-बार प्रकट होता रहा। ये सब भी चौदह वर्ष हुए पिछले महायुद्ध में दफना दिये गए।

: ३४ :

## विश्व-राज्य की भावना

२५ अप्रैल, १९३२

मुझे लगता है कि मेरी इन चिट्ठियों से तुम बहुत बार उकता जाती होगी और उलझन में पड़ जाती होगी। खासकर रोमन-साम्राज्य सम्बन्धी पिछले दो पत्रों ने तो तुम्हारा इम्तिहान ले डाला होगा। हजारों वर्षों और हजारों मीलों को पार करते हुए कभी मैं पीछे चला गया हूँ और कभी आगे बढ़ गया हूँ। और इससे अगर तुम्हारे दिमाग में कुछ उलझन पैदा हो गई हो तो कसूर मेरा ही है। पर हिम्मत मत हारो और आगे बढ़ती चलो। अगर कहीं मेरी कोई बात तुम्हारी समझ में न आये तो तुम परेशान न होना बल्कि आगे बढ़ती चलना। इन पत्रों का उद्देश्य तुम्हें इतिहास पढ़ाना नहीं है बल्कि सिर्फ यह है कि तुम्हें उसकी झांकियां मिलती रहें और कुतूहल पैदा हो।

रोमन साम्राज्यों की चर्चा से तुम जरूर ऊब गई होगी। मैं मंजूर करता हूँ कि मैं भी थक तो गया हूँ, लेकिन आज थोड़ी देर के लिए हम उन्हें और बर्दाश्त कर लें, और फिर कुछ दिन के लिए इनसे छुट्टी ले लेंगे।

तुम जानती हो कि आजकल राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की बहुत चर्चा होती रहती है। भारत में आजकल हममें से करीब-करीब सभी गहरे राष्ट्रवादी हैं। इतिहास में यह राष्ट्रीयता एक बिलकुल नई चीज है और इन पत्रों में हम इस राष्ट्रीयता के जन्म और विकास का शायद कुछ अध्ययन कर सकें। रोमन साम्राज्यों

के जमाने मे इस किस्म की कोई भावना नही पाई जाती थी। रोमन साम्राज्य सारी दुनिया पर हुकूमत करनेवाला एक महान् राज्य माना जाता था। आज तक कोई साम्राज्य या राज्य ऐसा नही हुआ, जिसने सारी दुनिया पर हुकूमत की हो, लेकिन भूगोल के अज्ञान और दूर देशो के लिए सवारी के साधनो में और यात्रा मे भारी कठिनाइयां होने की वजह से लोग पुराने जमाने मे अक्सर यह समझ लेते थे कि ऐसा राज्य है। इसलिए रोमन राज्य के साम्राज्य बनने के पहले से ही यूरोप मे और भूमध्यसागर के आसपास के देशो मे, वह इसके सारे राज्यो पर हुकूमत करनेवाला एक सर्वोपरि राज्य माना जाता था। इसका रौब इतना ज्यादा था कि एशिया-कोचक, यूनानी राज्य के परगैमम और मिस्र को इन दोनो देशो के शासको ने खुद ही रोमन कौम को भेंट कर दिया। ये समझते थे कि रोम सबसे ज्यादा शक्तिशाली है और कोई उसका मुकाबला नही कर सकता। लेकिन जैसा कि मैं लिख चुका हूं, चाहे गणराज्य की तरह या साम्राज्य की तरह, रोम का राज भूमध्यसागर के तटवर्ती देशो के अलावा और कही नही था। उत्तरी यूरोप के 'वर्बर' लोगो ने इसके आगे सिर नही झुकाया, और रोम भी इनकी ज्यादा परवाह नही करता था। लेकिन रोम की सत्ता की हद जो भी रही हो, इसके पीछे एक विश्व-राज्य की भावना थी, और इस भावना को पश्चिम मे उस जमाने के अधिकांश लोगो ने स्वीकार कर लिया था। रोमन साम्राज्यो का इतने दिन जिन्दा रहने का यही कारण है। यहांतक कि उसकी असलियत निकल जाने पर भी उसका नाम और प्रताप बहुत बढा हुआ था।

एक बडे राज्य का सारी दुनिया पर हुकूमत करने का विचार रोम की ही खासियत नहीं थी। यह विचार पुराने जमाने मे चीन और भारत मे भी पाया जाता था। जैसा कि तुम्हें मालूम है, कैस्पियन समुद्र तक फैला हुआ चीनी राज्य बहुत बार रोमन साम्राज्य मे ज्यादा लम्बा-चौडा रहा है। चीन का सम्राट 'स्वर्ग-पुत्र' कहलाता था और चीनी लोग उसे 'विश्व-सम्राट्' समझते थे। यह सही है कि कुछ जंगली कौमें और कबीले ऐसे थे, जो उत्पात करते रहते थे और सम्राट् का हुक्म नही मानते थे। लेकिन वे 'वर्बर' समझे जाते थे, जिस तरह कि रोमन लोग उत्तर यूरोप के रहनेवालो को 'बर्बर' कहते थे।

इसी तरह भारत मे भी शुरू के जमाने से ही 'चक्रवर्ती' कहलानेवाले विश्व-सम्राटो का जिक्र मिलता है। दुनिया के बारे मे उनकी-कल्पना वास्तव मे बहुत सीमित थी। खुद भारत ही इतना बडा था कि वे सारी दुनिया इसीको समझते थे और यह खयाल करते थे कि भारत पर हुकूमत करनेवाला सारी दुनिया का स्वामी है। बाहर के दूसरे लोगो को वे म्लेच्छ कहते थे। पुराने ज़माने से चली आनेवाली कथाओ के अनुसार पौराणिक राजा भरत, जिसके नाम पर हमारा देश

भारतवर्ष कहलाता है, ऐसा ही एक चक्रवर्ती राजा माना गया है। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर और उसके भाइयों में इसी चक्रवर्ती-पद के लिए युद्ध हुआ था। अश्वमेध-यज्ञ संसार के प्रभुत्व के लिए एक चुनौती थी और उसका एक प्रतीक था। अशोक भी शायद शुरू में चक्रवर्ती राजा बनना चाहता था। लेकिन उसका दिल पश्चात्ताप से इतना भर गया कि उसने युद्ध करना ही छोड दिया। इसके बाद भी तुम्हें भारत में गुप्तवंश के राजाओं की तरह कई ऐसे साम्राज्यवादी राजा मिलेंगे जिनकी इच्छा चक्रवर्ती बनने की थी।

तुम देखोगी कि पुराने ज़माने में लोग विश्व-सम्राट् और विश्व-राज्य की बात अक्सर सोचा करते थे। इसके बहुत दिनों बाद राष्ट्रीयता आई और एक नये किस्म का साम्राज्यवाद पैदा हुआ और इन दोनों ने दुनिया में काफी तबाही मचा दी है। आजकल भी विश्व-राज्य की चर्चा होने लगी है। यह चर्चा किसी महान् साम्राज्य या चक्रवर्ती सम्राट् के बारे में नहीं है, बल्कि एक तरह के ऐसे विश्व गण-राज्य की है जिसमें कोई राष्ट्र या कौम या वर्ग किसी दूसरे राष्ट्र या कौम या वर्ग का शोषण न कर सके। यह कहना मुश्किल है कि निकट भविष्य में इस किस्म की कोई चीज़ बनेगी या नहीं, लेकिन दुनिया की हालत बुरी है और इसकी बुराइयों को मिटाने का कोई दूसरा तरीका दिखाई नहीं देता।

मैंने उत्तर यूरोप के 'बर्बरों' का बार-बार ज़िक्र किया है। यह शब्द मैंने इसलिए इस्तेमाल किया है कि रोमन लोगों ने इनका ज़िक्र इसी नाम से किया है। मध्य-एशिया के घुमक्कडों और दूसरे कबीलों की तरह ये लोग रोम या भारत में रहनेवाले अपने पडोसियों से अवश्य ही कम सभ्य थे। लेकिन ताकत का जोश इन लोगों में ज्यादा था, क्योंकि ये खुली हवा में रहनेवाले थे। बाद में ये ईसाई हो गये और जब इन्होंने रोम को जीत लिया तब भी ये वहाँ औरों की तरह खूँखार दुश्मन बनकर नहीं आये। उत्तरी यूरोप के आजकल के राष्ट्र—गोथ, फ्रैंक, वगैरा, इन्हीं 'बर्बर' जातियों की सन्तानें हैं।

मैंने तुम्हें रोमन सम्राटों के नाम नहीं बताये। वहाँ ढेरों सम्राट हुए, पर कुछको छोडकर बाकी सब बहुत बुरे थे। कुछ तो निरे राक्षस ही थे। तुमने नीरो का नाम तो सुना ही होगा। लेकिन बहुत-से तो नीरो से भी बहुत ज्यादा बुरे हुए हैं। आइरीन नाम की एक स्त्री ने सम्राज्ञी बनने के लिए खुद अपने पुत्र को, जो कि सम्राट् था, कत्ल कर दिया था। यह कुस्तुन्तुनिया की बात है।

रोम का एक सम्राट् दूसरों के मुकाबले बहुत ऊँचा था। उसका नाम मार्क ऑरेली एन्तोनिन था। कहा जाता है कि यह दार्शनिक था और उसकी एक पुस्तक[1],

---

[1] श्री च० राजगोपालाचार्य द्वारा किया गया इसका रूपान्तर 'आत्म-चिन्तन' के नाम से सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली से प्राप्य है।

जिसमे उसके विचार और मनन दिये हुए है, पढने लायक है। पर मार्क ऑरेली के पुत्र ने, जो उसके बाद गद्दी पर बैठा, अपने पिता का हिसाब बराबर कर दिया। यह रोम के सबसे बदमाश गुण्डो मे गिना जाता है।

रोमन साम्राज्य के शुरू के तीन सौ वर्षों तक रोम पश्चिमी दुनिया का केन्द्र रहा। जरूर ही यह आलीशान इमारतोवाला बहुत बडा शहर रहा होगा, जहाँ साम्राज्य के कोने-कोने से, और बाहर से भी, लोग आते रहे होगे। बहुत-से जहाज दूर-दूर के देशो से बढिया चीजे—खाने की दुर्लभ वस्तुएं और कीमती माल यहां लाते थे। कहते है, हर साल एक सौ बीस जहाजो का बेडा लाल समुद्र के एक मिस्री बन्दरगाह से भारत जाता था। ये लोग ठीक उसी वक्त चलते थे जब बरसात की पुरवैया हवाएं चलती थी, क्योंकि इनसे इनको बहुत सहारा मिलता था। ये ज्यादातर दक्षिण भारत जाते थे और कीमती माल लादकर फिर मौसमी हवाओ के सहारे मिस्र वापस आ जाते थे। मिस्र से यह माल खुश्की और समुद्र के रास्ते रोम भेज दिया जाता था।

लेकिन यह सारा व्यापार ज्यादातर अमीरो के फायदे के लिए ही था। थोडे-से आदमियो के ऐश-आराम के पीछे बहुतो की तबाही थी। तीन सौ से ज्यादा वर्षों तक रोम पश्चिम मे सब शहरो का सरताज बना रहा, और बाद मे जब कुस्तुन्तुनिया बसा, तो वह भी इसका साझीदार बन गया। अजीब बात यह है कि इस लम्बे काल मे भी, रोम ने विचार-जगत् मे कोई ऐसी महान् बात पैदा न की जैसी यूनान ने बहुत कम समय मे ही कर दिखाई थी। वास्तव मे बहुत-सी बातो मे रोमन सभ्यता यूनानी सभ्यता की एक हलकी छाया मालूम होती है। कहा जाता है कि एक बात मे रोमन लोगो ने बहुत बडी पहल की और वह है कानून। आज भी पश्चिम देशो मे वकीलो को रोमन कानून पढना पडता है, क्योंकि यह यूरोप मे क़ानून के बहुत बडे हिस्से की बुनियाद माना जाता है।

ब्रिटिश साम्राज्य की रोमन साम्राज्य से अक्सर तुलना की जाती है। आमतौर पर अंग्रेज़ लोग ऐसा करते हैं, और अपने मन मे खुश होते हैं। सारे साम्राज्य, थोडे या बहुत, एक ही तरह के होते हैं। ये जनता को चूसकर पनपते हैं। लेकिन रोमनो और अंग्रेज़ो मे एक बात मे बहुत ज्यादा समानता पाई जाती है, और वह यह कि दोनो मे सूझ-बूझ की बिलकुल कमी है। बन-ठनकर और अपने-आपमे मस्त होकर, और यह पक्का विश्वास करते हुए कि सारी दुनिया खासतौर से इन्हीके फायदे के लिए बनाई गई है, ये लोग शकाओ और कठिनाइयो से परेशान न होते हुए भी जिन्दगी गुज़ारते है।

: ३५ :

# पार्थव और सासानी

२६ अप्रैल, १९३२

अब हमें रोमन साम्राज्य और यूरोप को छोड़कर दुनिया के दूसरे हिस्सों को चलकर देखना चाहिए। हमें यह देखना है कि इस बीच एशिया में क्या हुआ और फिर भारत और चीन की कहानी का सिलसिला जारी रखना है। अब दूसरे देश भी जाते हुए इतिहास के क्षितिज पर नजर आने लगे हैं। उनके बारे में भी हमें कुछ कहना होगा। सच तो यह है कि जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, वैसे-वैसे इतनी ज्यादा जगहों के बारे में इतना ज्यादा कहना जरूरी होगा कि मैं कहीं घबराकर यह काम ही न छोड़ बैठूं।

मैंने अपने एक पत्र में रोमन गणराज्य की सेनाओं की पार्थव में कैरे की लड़ाई में करारी हार का जिक्र किया था। उस वक्त मैं यह बताने के लिए नहीं रुका था कि पार्थव लोग कौन थे और उन्होंने वहां, जहां आज ईरान और इराक बसे हुए हैं, कैसे एक राज्य कायम कर लिया था। तुम्हें याद होगा कि सिकन्दर के बाद उसके सेनापति सैल्युक और उसके वंशज एक साम्राज्य पर हुकूमत करते थे, जो भारत से पश्चिम में एशिया-कोचक तक फैला हुआ था। करीब तीन सौ वर्षों तक इनका बोलबाला रहा, जिसके बाद मध्य-एशिया के पार्थव नाम के एक कबीले ने इन्हें मार भगाया। फारस या पार्थव कहलानेवाले देश के इन्हीं पार्थवों ने गणराज्य के आखिरी दिनों में रोमनों को हराया था और गणराज्य के बाद क़ायम होनेवाला रोमन साम्राज्य इन पार्थवों को पूरी तरह कभी नहीं हरा सका। ये लोग ढाई सौ वर्षों तक पार्थव पर हुकूमत करते रहे, और फिर एक अन्दरूनी क्रान्ति ने इन्हें वहां से भगा दिया। ईरानी लोग खुद इन विदेशी शासकों के खिलाफ बगावत कर बैठे और उनकी जगह पर अपनी कौम और मजहब के एक बादशाह को बैठा दिया। इस बादशाह का नाम आर्दशेर प्रथम था और इसके वंश को सासानी वंश कहते हैं। आर्दशेर जरथुस्त धर्म का कट्टर अनुयायी था और दूसरे मजहबों को ज्यादा बर्दाश्त नहीं करता था। तुम्हें याद होगा कि जरथुस्त मत पारसियों का मजहब है। रोमन साम्राज्य और सासानियों में हमेशा युद्ध चलता रहता था। सासानियों ने एक रोमन सम्राट् को गिरफ्तार भी कर लिया था। कई बार ईरानी फौजें कुस्तुन्तुनिया के पास तक पहुँच गई थीं, और एक दफा उन्होंने मिस्र को भी जीत लिया था। सासानी साम्राज्य पारसी धर्म के पक्ष में धार्मिक जोश के लिए खासतौर पर मशहूर है। जब सातवीं सदी में इस्लाम आया, तब उसने सासानी साम्राज्य और उसके राज-धर्म दोनों को खत्म कर दिया। जरथुस्त मत को मानने-

वाले बहुत-से लोग इस परिवर्तन की वजह से और सताये जाने के डर से, अपना देश छोडकर भारत आ गये। भारत ने इनका स्वागत किया, क्योकि वह आश्रय की तलाश मे आनेवाले सब लोगो का इसी तरह स्वागत करता रहा है। भारत के पारसी इन्ही जरथुस्तियो के वशज हैं।

जुदे-जुदे घर्मों के साथ वर्ताव करने के मामले मे अगर हम भारत की दूसरे देशो से तुलना करते हैं तो एक निराली और अद्भुत बात नजर आती है। तुम देखोगी कि पुराने जमाने मे बहुत-सी जगहो पर, और खासकर यूरोप मे, जो लोग राजधर्म को नही मानते थे, उन्हें वर्दाश्त नही किया जाता था और सताया जाता था। करीब-करीब हर जगह ज़ोर-ज़बर्दस्ती हुआ करती थी। तुम यूरोप की भयकर 'इनक्विजिशन'[1] का और डायनें समझी जानेवाली स्त्रियो के जलाये जाने का हाल पढोगी। लेकिन भारत मे पुराने जमाने मे पूरी सहिष्णुता थी। हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म का मामूली झगडा पश्चिमी देशो के धार्मिक मत-मतान्तरो के खूनी झगडो के मुकाबले में कुछ भी नही है। यह बात याद रखने लायक है, क्योकि बदकिस्मती से हाल ही मे हमारे यहा मजहबी और साम्प्रदायिक दगे हो चुके हैं, और कुछ लोग, जिन्हे इतिहास का ठीक ज्ञान नही है, समझते हैं कि भारत मे यह दशा युगो से चली आ रही है। यह बात बिलकुल गलत है। ये दगे तो हाल के जमाने की उपज हैं। तुम्हे पता लगेगा कि इस्लाम शुरू होने के बाद सैकडो वर्षों तक मुसलमान लोग भारत के सभी हिस्सो मे अपने पडोसियो के साथ बिलकुल शान्ति के साथ मिल-जुलकर रहते थे। जब वे व्यापार के लिए आये तो इनका स्वागत किया गया और इनको यहाँ बसने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। लेकिन यह तो मैं आगे की बात कहने लगा।

इस तरह भारत ने पारसियो का स्वागत किया, जैसे कि कई सौ वर्ष पहले बहुत से यहूदियो का भी स्वागत किया था जो सताये जाने की वजह से ईसाई सन् की पहली सदी मे, रोम से भाग कर यहाँ आये थे।

ईरान मे सासानी राज के जमाने मे शाम[2] के पामीर मे एक छोटा-सा

---

[1] इनक्विजिशन—ईसाई धर्म के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के सरक्षण मे स्थापित धार्मिक अदालत। इसका काम धार्मिक अविश्वास को रोकना और धर्म के सम्बन्ध मे नये विचार फैलानेवालों को दण्ड देना था। पहले यह फ्रान्स में स्थापित हुई और बाद को इटली, स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी इत्यादि मे भी फैल गई। मामूली-से-मामूली स्वतन्त्र विचारो के लिए यह लोगो को जिन्दा जलवा देती थी। इसकी रोमाचकारी कथा 'सस्ता-साहित्य मण्डल' द्वारा प्रकाशित 'नर-मेध' नामक पुस्तक में पढ़िए। उन्नीसवीं सदी में इस प्रथा का अन्त हुआ।

[2] शाम—सीरिया का पुराना नाम।

रेगिस्तानी राज्य भी फूला-फला और कुछ दिन के लिए इसकी शान भी रही। शाम के रेगिस्तान के बीच मे पामीर व्यापार की एक मण्डी था। इसके विशाल खण्डहर, जो आज भी दिखाई देते हैं, इसकी आलीशान इमारतो की याद दिलाते हैं। एक बार ज़ेनब नाम की एक स्त्री भी इस राज्य की रानी हुई। लेकिन रोमन लोगो ने इसे हरा दिया और उसके साथ ऐसा सलूक किया जो वीरोचित नही था। वे उसे ज़ंजीरो मे बांधकर रोम ले गये।

ईसाई सन् के शुरू मे शाम एक हरा-भरा देश था। बाइबिल के नये अहदनामे से हमे इसके बारे मे कुछ बातें मालूम होती हैं। बुरा शासन और जुल्म होते हुए भी यहां बडे-बडे शहर थे और बहुत घनी आबादी थी, बडी-बडी नहरें थीं और व्यापार भी खूब फैला हुआ था। लेकिन लगातार लडाइयो ने और बुरे शासन ने छ सौ वर्षो के अन्दर ही इसे करीब-करीब वीरान कर दिया, बडे शहर उजड गये और पुरानी इमारतें खण्डहर हो गईं।

अगर तुम हवाई जहाज़ मे बैठकर भारत से यूरोप जाओ तो पामीर और बालबक के खण्डहर तुम्हे रास्ते मे पडेंगे। तुम्हे वह जगह भी दिखाई देगी जहां बाबुल बसा हुआ था, और बहुत-सी दूसरी वे जगहे भी देखोगी, जो इतिहास में मशहूर है लेकिन जिनका नामोनिशान भी अब नही पाया जाता।

: ३६

## दक्षिण भारत के उपनिवेश

२८ अप्रैल, १९३२

हम लोग दूर भटक गये। हमे अब फिर भारत की तरफ लौट चलना चाहिए और यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि उस समय इस मुल्क मे हमारे पूर्वज क्या कर रहे थे। कुषाणो के सरहदी साम्राज्य की तुम्हे याद होगी। यह एक बहुत बडा बौद्ध साम्राज्य था, जिसमे पूरा उत्तरी भारत और मध्य एशिया का एक बहुत बडा हिस्सा भी शामिल था। इसकी राजधानी पुरुषपुर या पेशावर थी। तुम्हें शायद यह भी याद होगा कि उस समय भारत के दक्षिण मे एक बहुत बडा राज्य और था जो समुद्र के एक तट से दूसरे तट तक फैला हुआ था। यह आन्ध्र-राज्य था। करीब तीन सौ साल तक कुषाण और आन्ध्र-राज्य खूब फूले-फले। लेकिन ईसा की तीसरी सदी के बीच मे ये दोनो साम्राज्य खत्म हो गये और कुछ समय के लिए भारत छोटे-छोटे राज्यो मे बंट गया। लेकिन सौ साल के अन्दर ही पाटलिपुत्र मे एक दूसरा चन्द्रगुप्त पैदा हुआ, जिसने उग्र हिन्दू साम्राज्यवाद के काल की बुनियाद डाली। पर इन गुप्तो की चर्चा करने के पहले यह उचित मालूम होता है कि हम दक्षिण भारत के उन महान् साहसपूर्ण कारनामो के आरम्भ पर नज़र डालें,

जिनकी वदौलत पूर्वी दुनिया के सुदूर टापुओ मे भारत की कला और सभ्यता जा पहुँची।

हिमालय और दो समुद्रो के बीच मे फैले हुए भारत की शक्ल तुम अच्छी तरह जानती हो। इसका उत्तरी हिस्सा समुद्र से बहुत दूर है। पुराने जमाने मे भारत के लोगो को सबसे ज्यादा चिन्ता अपनी उत्तरी सरहद की रही है, क्योकि इधर होकर दुश्मन और हमला करनेवाले यहाँ आया करते थे। लेकिन भारत के पूर्व, पश्चिम और दक्षिण मे समुद्र का बहुत लम्बा किनारा है। दक्षिण की ओर भारत सँकरा होता गया है, यहातक कि कन्याकुमारी पर जाकर पूर्व और पश्चिम के दोनो किनारे मिल जाते है। समुद्र के पास रहनेवाले ये लोग कुदरती तौर पर समुद्र से लगाव रखते थे और यह उम्मीद की जा सकती है कि उनमे से बहुत-से समुद्र यात्रा के अभ्यासी रहे होगे। मै तुम्हे पहले ही बता चुका हूँ कि बहुत ही प्राचीन जमाने मे दक्षिण भारत का पश्चिमी दुनिया से बडा भारी व्यापार होता चला आया था। इसलिए यह जानकर कोई ताज्जुब नही होना चाहिए कि भारत मे शुरू से ही जहाज तैयार होते थे और यहा के रहनेवाले व्यापार के लिए, या शायद साहसिक खोजो के लिए, समुद्र पार जाया करते थे। खयाल किया जाता है कि गौतम बुद्ध के जमाने मे विजय ने भारत से लका जाकर उसे जीत लिया। मेरा खयाल है कि अजन्ता की गुफाओ मे एक तसवीर है जिसमे विजय समुद्र पार करके लका जा रहा है और घोडे और हाथी जहाजो मे उस पार पहुँचाये जा रहे हैं। विजय ने लका को सिंहल-द्वीप का नाम दिया था। सिंहल शब्द सिंह से निकला है और लका मे सिंह की एक पुरानी कहानी भी प्रचलित है, लेकिन मै उसे भूल गया हूँ। मेरा खयाल है कि सीलोन नाम सिंहल से बिगडकर बना है।

दक्षिण भारत से लका जाने मे समुद्र का जो छोटा-सा टुकडा पडता है, उसे पार करना कोई बहुत जोखिम का काम नही था। लेकिन हमे इस बात के बहुत काफी सबूत मिलते है कि भारत मे जहाज बनते थे, और बहुत लोग बगाल से गुजरात तक के समुद्रतट पर छिटके हुए भारतीय बन्दरगाहो मे समुद्र पार जाया करते थे। नैनी-जेल से मैने चन्द्रगुप्त मौर्य्य के मशहूर मन्त्री चाणक्य के अर्थशास्त्र के बारे मे तुम्हे लिखा था। इस अर्थशास्त्र मे समुद्री सेना का कुछ वर्णन है। चन्द्र-गुप्त के दरबार मे यूनानी राजदूत मेगस्थेनेे ने भी इसका जिक्र किया है। इससे पता चलता है कि मौर्य्य-काल के शुरू मे भारत मे जहाज बनाने का उद्योग बहुत बढा-चढा था, और जाहिर है कि जहाज इस्तेमाल किये जाने के लिए ही बनाये जाते है। इसलिए बहुत लोग उनपर बैठकर समुद्रो को पार किया करते होगे। इन बातो को सोचकर और फिर यह सोचकर कि हमारे मुल्क मे आज भी कुछ लोग ऐसे है जो समुद्र-यात्रा से डरते हैं और उसे धर्म के विरुद्ध समझते हैं, तो आश्चर्य होता है।

ऐसे लोगो को हम प्राचीन के प्रतीक भी नही कह सकते, क्योकि तुम देखोगी कि पुराने ज़माने के लोग कही ज्यादा समझदार थे। खुशकिस्मती से अब ऐसी अजीब भावनाएँ बहुत-कुछ दूर हो गई हैं और इने-गिने लोगो पर ही अब उनका असर है।

दक्षिण भारत कुदरती तौर पर उत्तर भारत की बनिस्वत समुद्र पर ज्यादा निर्भर था। विदेशी व्यापार ज्यादातर दक्षिण के साथ ही होता था और तमिल भाषा की कविताओं मे यवन देश के सुरा, कलशों और दीपको के प्रसग भरे पडे हैं। 'यवन' शब्द खासतौर पर यूनान के रहनेवालो के लिए इस्तेमाल होता था, लेकिन मोटे तौर पर शायद यह सब विदेशियो पर लागू था। दूसरी और तीसरी सदियो के आन्ध्र देश के सिक्को पर दो मस्तूलवाले बडे जहाज़ की शक्ल है। इससे यह पता चलता है कि पुराने ज़माने के आन्ध्र लोग जहाज़ बनाने और समुद्री व्यापार मे कितनी दिलचस्पी रखते थे।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत ही ने उन साहसिक कारनामो मे सबसे आगे कदम बढाया, जिनके फलस्वरूप पूर्व के तमाम टापुओ मे भारतीय नई बस्तियाँ या उपनिवेश कायम हुए। इन उपनिवेशी यात्राओ की शुरुआत ईसवी सन् की पहली सदी मे हुई और कई सौ वर्षों तक उनका सिलसिला जारी रहा। मलय, जावा, सुमात्रा, कम्बोदिया, बोर्नियो, वगैरा सब जगह दक्षिण के लोग जाकर बस गये और अपने साथ भारतीय-कला और सस्कृति ले गये। बरमा, स्याम और हिन्द-चीन मे भी भारतीयो की बडी-बडी बस्तियाँ थी। इन नई बस्तियो और नगरो के बहुत से नाम भी भारत से लिये गए थे, जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, तक्षशिला और गान्धार। अजीब बात है कि इतिहास अपनेको किस तरह दोहराता है! अमेरिका मे जाकर बसनेवाले ऐंग्लो-सैक्सन लोगो ने भी ऐसा ही किया था और सयुक्त राज्य अमेरिका मे आज भी इग्लैण्ड के पुराने शहरो के नामवाले शहर है।

इसमे शक नही कि ये भारतीय उपनिवेशी जहाँ-जहा गये, वहाँ के पुराने निवासियो के साथ इन्होंने बुरा बर्ताव किया, जैसा कि सभी उपनिवेशी किया करते हैं। उन्होने इन टापुओ के निवासियो को ज़रूर चूसा होगा और उनपर प्रभुत्व जमाया होगा। लेकिन कुछ दिनो बाद उपनिवेशी और पुराने निवासी आपस मे मिल-जुल गये होगे, क्योकि भारत के साथ बराबर सम्पर्क रखना मुश्किल था। पूर्व के इन टापुओ मे हिन्दू राज्य और साम्राज्य कायम हुए। बाद मे वहाँ बौद्ध राजा पहुँचे और हिन्दुओ और बौद्धो मे प्रभुता के लिए रस्साकशी हुई। विशाल या बृहत्तर भारत के इतिहास की यह एक लम्बी और आकर्षक कहानी है। बडे-बडे खण्डहर हमे अभी तक उन आलीशान इमारतो और मन्दिरो की याद दिलाते हैं, जो इन भार-

तीय उपनिवेशों के भूषण थे। काम्बोज, श्रीविजय, अकोर और मज्जापहित जैसे बड़े-बड़े नगर भारतीय शिल्पियों और कारीगरों ने वहाँ बनाये।

ये हिन्दू और बौद्ध राज्य इन टापुओं में करीब चौदह सौ वर्षों तक कायम रहे और प्रभुता के लिए आपस में लड़ते रहे। कभी एक का अधिकार हो जाता तो कभी दूसरे का, और कभी-कभी वे एक दूसरे को नष्ट भी कर देते थे। पन्द्रहवीं सदी में मुसलमानों ने इन टापुओं पर कब्ज़ा जमा लिया और उनके थोड़े दिन बाद ही पुर्तगालवासी, स्पेनवासी, हालैण्डवासी और अंग्रेज आये। सबके आखिर में अमेरिकावासी पहुँचे। चीनवासी तो इन टापुओं के हमेशा से ही नज़दीकी पड़ोसी थे। ये कभी-कभी इनके मामलों में दखल देकर इन्हें जीत लेते, अक्सर उनके साथ दोस्तों की तरह रहते और भेंटों की अदला-बदली करते, साथ ही अपनी महान् संस्कृति और सभ्यता का असर भी उनपर बराबर डालते रहते।

पूर्व के इन हिन्दू उपनिवेशों में हमारी दिलचस्पी की कितनी ही बातें हैं। सबसे ज्यादा मार्के की बात यह है कि जाहिरा तौर पर इन उपनिवेशों को बसाने की संगठित कोशिश उस ज़माने की दक्षिण भारत की एक प्रमुख सरकार ने की थी। शुरू में बहुत-से खोज करनेवाले अलग-अलग वहाँ गये होंगे, फिर जब व्यापार बढ़ा होगा, तब कुटुम्ब-के-कुटुम्ब और लोगों के जत्थे अपने-अपने कामों में वहाँ गये होंगे। कहा जाता है कि शुरू-शुरू में जो लोग जाकर बसे वे कलिंग (उड़ीसा) और पूर्वी समुद्र-तट में गये थे। शायद कुछ लोग बंगाल से भी गये होंगे। एक कहावत यह चली आती है कि कुछ गुजराती अपने घर-बार से निकाले जाने पर इन टापुओं में जाकर बस गये। मगर यह सब अन्दाज़ा है। उपनिवेशियों की मुख्य धारा तमिल भूमि के दक्षिणी हिस्से पल्लव-प्रदेश से, जहाँ एक बड़े पल्लव वंश का शासन था, इन टापुओं में पहुँची। मालूम होता है, इसी पल्लव सरकार ने मलय में उपनिवेश बसाने की संगठित कोशिश की। शायद उत्तर भारत से लोगों के दक्षिण में घुस आने से यहाँ की आबादी पर दबाव पड़ा होगा। वजह कुछ भी हुई हो, भारत से बहुत दूर अलग-अलग बिखरे हुए टापुओं में बस्तियाँ बसाने की योजना समझ-बूझकर बनाई गई थी, और इन सब जगहों में एक साथ उपनिवेश बसने शुरू हुए थे। ये उपनिवेश हिन्द-चीन, मलय प्रायद्वीप, बोर्नियो, सुमात्रा, जावा, वग़ैरा में थे। ये सब भारतीय नामवाले पल्लव उपनिवेश थे। हिन्द-चीनवाली बस्ती का नाम काम्बोज (जो आजकल कम्बोडिया कहलाता है) था। यह नाम काबुल-कांठे में गान्धार के काम्बोज से चलकर, इतनी दूर पहुँचा था।

चार या पाँच सौ साल तक ये बस्तियाँ हिन्दू-धर्म को मानती रहीं, पर बाद में धीरे-धीरे सब जगह बौद्ध-धर्म फैल गया। बहुत दिन बाद इस्लाम पहुँचा और मलय के एक हिस्से में फैल गया, बाक़ी हिस्सा बौद्ध ही बना रहा।

मलय मे साम्राज्य और राज्य बनते-बिगडते रहे। लेकिन दक्षिण भारत के उपनिवेश बसाने के इन हौसलो का असली नतीजा यह हुआ कि दुनिया के इस हिस्से मे भारतीय आर्य-सभ्यता की नीव पड गई और कुछ हद तक मलय के निवासी आज भी हम लोगो की तरह इसी सभ्यता मे पले हुए हैं। उनपर दूसरे असर भी पडे, जिनमे मे चीन का असर उल्लेखनीय है। मलेशिया[1] के जुदा-जुदा देशो पर भारत और चीन के दो शक्तिशाली प्रभावो की मिलावट पर गौर करना बडा दिलचस्प है। कुछ पर तो भारतीय सभ्यता का ज्यादा असर है और कुछ मे चीनी असर ज्यादा दिखाई देता है। मुख्य भूमि पर, जिसमे बरमा, स्याम, हिन्द-चीन वगैरा हैं, चीनी असर बहुत ज्यादा है, लेकिन मलय मे नही है। जावा, सुमात्रा और दूसरे टापुओ मे भारतीय असर ज्यादा दिखाई देता है, जिसपर इस्लाम की नई क़लई चढी हुई है।

लेकिन चीनी और भारतीय प्रभावो मे कोई टक्कर नही थी। इन दोनों मे बहुत फर्क था, फिर भी दोनो ही बिना किसी दिक्कत के बराबर-बराबर अपना काम करते रहे। हाँ, धर्म के मामले मे तो भारत हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म दोनो का ही स्रोत था। धर्म के लिए चीन भी भारत का कर्जदार था। मलेशिया की कला में भी भारत का असर सबसे ज्यादा था। हिन्द-चीन मे भी, जहाँ चीनी असर ज्यादा था, इमारतें बनाने की कला बिलकुल भारतीय ही थी। चीन ने बरमा वगैरा बडे देशो की शासन-प्रणाली पर और लोगो के साधारण जीवन-दर्शन पर ज्यादा असर डाला। इसीलिए इण्डो-चीन, बरमा, और स्याम के निवासी आज भारतीयो की बनिस्बत चीनियो के ज्यादा नज़दीकी रिश्तेदार मालूम देते है। इसमे शक नही कि नस्ल के लिहाज़ से इनमे मगोली खून ज्यादा है और इसी वजह से, कुछ हद तक, वे चीनियो से अधिक मिलते हैं।

जावा के बोरोबुदुर मे भारतीय कारीगरो के बनाये हुए बडे-बडे बौद्ध-मन्दिरो के खण्डहर अब भी पाये जाते हैं। इन मन्दिरो की दीवारो पर बुद्ध के जीवन की पूरी कहानी खुदी हुई है और ये सिर्फ बुद्ध की ही नही, बल्कि उस ज़माने की भारतीय कला की अनोखी यादगारें हैं।

भारतीय प्रभाव इससे भी और आगे फैला। वह फिलीपाइन और फारमूसा तक जा पहुँचा। ये दोनो कुछ समय तक श्रीविजय के हिन्दू-राज्य सुमात्रा के अग थे। बहुत समय बाद फिलीपाइन पर स्पेन-वासियो की हुकूमत रही, और अब वह अमेरिका के कब्ज़े मे हैं।[2] फिलीपाइन की राजधानी मनीला है। कुछ दिन हुए

---

[1] मलेशिया—एशिया के दक्षिण-पूर्व भाग से आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ द्वीप-समूह जिसे ईस्ट इण्डीज या मलय-द्वीप-समूह कहते हैं।

[2] १९४६ ई० में अमेरिका ने फिलीपाइन द्वीपो को आज़ाद कर दिया।

वहाँ विधान मण्डल की एक नई इमारत बनी थी। इसके मुखडे पर चार शक्लें खुदी हैं, जो फिलीपाइन की सस्कृति के चार स्रोतो को दरसाती हैं। दो मूर्तियाँ प्राचीन भारत के महान् नीतिकार मनु और चीन के फिलॉसफर लाओ-त्से की हैं, और दो मूर्त्तियाँ ऐंग्लो-सैक्सन क़ानून व न्याय को और स्पेन को अकित करती हैं।

: ३७ :

## गुप्त सम्राटों का हिन्दू साम्राज्यवाद

२९ अप्रैल, १९३२

इधर जब दक्षिण भारत के लोग विशाल समुद्रो को पार करके दूर-दूर जगहो पर बस्तियाँ और शहर बसा रहे थे, तब उधर उत्तर भारत मे अजीब हल-चल हो रही थी। कुषाण साम्राज्य अपनी शक्ति और महानता खो चुका था और दिन-दिन छोटा होते-होते मिटता जा रहा था। सारे उत्तर मे छोटे-छोटे राज्य बन गये थे, जिनमे अक्सर शक या तुर्की वश के लोग राज करते थे। ये लोग भारत की उत्तर-पश्चिमी सरहद पार करके यहाँ आये थे। मैंने तुम्हे बताया है कि ये लोग बौद्ध थे और भारत मे शत्रु के रूप मे हमला करने नही बल्कि बसने आये थे। मध्य-एशिया के दूसरे कबीले, जिन्हें चीनी राज्य आगे धकेल रहा था, पीछे से इनको जबर्दस्ती खदेड रहे थे। भारत आकर इन लोगो ने भारतीय आर्यों के आचार-विचार और रग-ढग को बहुत-कुछ अपना लिया। ये लोग भारत को अपनी सभ्यता, सस्कृति और धर्म की जननी मानते थे। कुषाणो ने भी बहुत हद तक भारतीय-आर्य-परम्परा का अनुसरण किया था। यही वजह थी कि वे बहुत दिनो तक भारत मे ठहर सके और उसके बडे-बडे हिस्सो पर शासन कर सके। वे भारतीय-आर्यों की तरह व्यवहार करने की कोशिश करते थे और चाहते थे कि इस देश के निवासी यह भूल जायँ कि वे विदेशी हैं। कुछ हद तक उनको इसमे कामयाबी भी हुई, लेकिन पूरे तौर पर नही, क्योकि क्षत्रियो के दिल मे यह बात खासतौर पर खटकती थी कि विदेशी लोग उनके ऊपर हुकूमत कर रहे हैं। वे इस विदेशी राज्य की मातहती मे तिलमिलाते थे, जिससे असन्तोष बढ़ता गया और लोगो के मन मे क्षोभ पैदा होने लगा। अन्त मे इन असन्तुष्ट लोगो को एक सुयोग्य नेता मिल गया और उसके झण्डे के नीचे इन्होंने आर्यावर्त को आज़ाद करने के लिए एक 'धर्मयुद्ध' शुरू कर दिया।

इस नेता का नाम चन्द्रगुप्त था। इस चन्द्रगुप्त को वह पहला चन्द्रगुप्त न समझना, जो अशोक का दादा था। इस व्यक्ति का मौर्य्य वश से कोई ताल्लुक नही था। यह पाटलिपुत्र का एक छोटा राजा था, लेकिन उस समय तक अशोक के

वंश का नाम मिट चुका था। याद रक्खो कि इस समय हम ईसा के बाद चौथी सदी की शुरुआत मे, यानी ३०८ ई० मे, पहुँच गये हैं। यह अशोक की मृत्यु के ५३४ वर्ष बाद की बात है।

चन्द्रगुप्त एक महत्वाकाक्षी और सुयोग्य व्यक्ति था। वह उत्तर के दूसरे आर्य राजाओ को अपनी तरफ मिलाने मे और उन सबका एक सघ कायम करने मे लग गया। उसने मशहूर और शक्तिशाली लिच्छवी वश की कुमारदेवी से विवाह किया, और इस प्रकार इस जाति की सहायता हासिल कर ली। इस तरह होशियारी के साथ ज़मीन तैयार कर लेने के बाद चन्द्रगुप्त ने भारत के सारे विदेशी शासको के खिलाफ 'धर्मयुद्ध' की घोषणा कर दी। क्षत्रिय और आर्य-जाति के ऊँचे वर्ग के लोग, जिनके अधिकार और पद विदेशियो ने छीन लिये थे, इस लडाई के समर्थक थे। बारह वर्ष की लडाई के बाद चन्द्रगुप्त उत्तर भारत के कुछ हिस्से पर कब्जा करने मे कामयाब हुआ, जिसमे वह हिस्सा भी शामिल था, जो आजकल उत्तरप्रदेश कहलाता है। इसके बाद वह राजराजेश्वर की पदवी धारण करके सिंहासन पर बैठ गया।

इस तरह गुप्त-राजवश की शुरुआत हुई। यह वश करीब दो सौ वर्षों तक चलता रहा, जबकि हूणो ने आकर इसे परेशान करना शुरू किया। कुछ हद तक यह ज़माना ज़बर्दस्त हिन्दुत्व और राष्ट्रवाद का था। तुर्को, पार्थव वगैरा अनार्य विदेशी शासक जड से उखाड फेंके गये और ज़बर्दस्ती निकाल बाहर किये गए। इस प्रकार यहाँ हम जातीय विद्वेष को काम करता हुआ देखते हैं। उच्चवर्ग के भारतीय-आर्य लोग अपनी कौम पर अभिमान करते थे और इन बर्बरों और म्लेच्छो को नफरत की निगाह से देखते थे। गुप्तो ने जिन भारतीय आर्य राज्यो और राजाओ को जीता, उनके साथ नरमी का बर्ताव किया, लेकिन अनार्यों के साथ कोई रिआयत नही की गई।

चन्द्रगुप्त का पुत्र समुद्रगुप्त अपने पिता से भी ज्यादा ज़बर्दस्त लडाका था। वह बहुत बडा सेनापति था, और जब वह सम्राट् हुआ तो उसने सारे देश मे, यहाँतक कि दक्षिण मे भी, सबको जीतकर अपनी विजय-पताका फहराई। इसने गुप्त साम्राज्य को इतना बढाया कि वह भारत के बहुत बडे हिस्से मे फैल गया। लेकिन दक्षिण मे इसकी हुकूमत नाम-मात्र की थी। उत्तर मे उसने कुषाणो को हटाकर सिन्ध नदी के उस पार खदेड दिया था।

समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय भी एक योद्धा राजा था। उसने काठियावाड और गुजरात को जीत लिया, जो बहुत दिनो से एक शक या तुर्की राजवश के शासन मे चले आ रहे थे। इसने अपना नाम विक्रमादित्य रक्खा और इसी नाम से वह मशहूर है। लेकिन यह नाम भी, सीज़र की तरह, बहुत-से राजाओ की उपाधि बन गया, इसलिए बहुत भ्रम पैदा करता है।

दिल्ली में कुतुबमीनार के पास एक बहुत भारी लोहे की लाट तुमने देखी थी। क्या उसकी तुम्हें याद है? कहते हैं कि विक्रमादित्य ने यह लाट विजय-स्तम्भ के रूप में बनवाई थी। यह लाट कारीगरी का एक बढ़िया नमूना है। इसकी चोटी पर कमल का फूल है, जो गुप्त साम्राज्य का चिह्न था।

गुप्त-काल भारत में हिन्दू साम्राज्यवाद का जमाना था। इस काल में पुरानी आर्य-संस्कृति और संस्कृत विद्या का खूब पुनरुत्थान हुआ। यूनानी और मंगोलियन संस्कारों को, जो भारतीय जीवन और संस्कृति में यूनानियों, कुशाणों, वगैरा के ज़रिये आ गये थे, प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। बल्कि, असलियत तो यह है कि भारतीय आर्य परम्पराओं पर ज़ोर देकर इन्हें हर तरह नीचे गिराया जाता था। संस्कृत राज-भाषा थी; लेकिन उन दिनों भी यह जनता की आम भाषा नहीं थी। बोलने की भाषा प्राकृत का एक रूप थी, जो संस्कृत से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। मगर हालांकि संस्कृत उस ज़माने की लोकभाषा नहीं थी, फिर भी काफी प्रचलित थी। इस काल में संस्कृत कविता, नाटक और भारतीय आर्य कलाएँ खूब खिलीं। जिस महान् युग में वेद और महाकाव्य लिखे गये, उसके बाद, संस्कृत साहित्य के इतिहास में, शायद इसी ज़माने में सबसे ज़्यादा और सबसे सुन्दर साहित्य लिखा गया। संस्कृत का अद्भुत कवि कालिदास इसी ज़माने में हुआ। कहते हैं, विक्रमादित्य का दरबार बड़ी चमक-दमकवाला था, जिसमें उसने उस समय के सबसे श्रेष्ठ लेखकों और कलाकारों को जमा किया था। क्या तुमने उसके दरबार के नवरत्नों के बारे में नहीं सुना है? कालिदास उन नवरत्नों में से एक था।

समुद्रगुप्त अपने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से अयोध्या ले गया। शायद उनका यह खयाल था कि उसके कट्टर भारतीय आर्य दृष्टिकोण के लिए अयोध्या, जिसे महाकवि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में रामचन्द्र की कथा के साथ अमर बना दिया है, ज़्यादा उपयुक्त जगह बन सकती है।

गुप्त सम्राटों ने आर्य-सभ्यता और हिन्दू-धर्म का जो पुनरुत्थान किया उसका रुख कुदरती तौर पर बौद्ध-धर्म के लिए बहुत अच्छा नहीं था। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि यह आन्दोलन अमीर वर्ग का था और उसकी पीठ पर क्षत्रिय सरदार थे, और बौद्ध-धर्म में लोकतन्त्र की भावना ज़्यादा थी। कुछ वजह यह थी कि बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय का कुषाणों और उत्तर भारत के दूसरे विदेशी राजाओं से गहरा सम्बन्ध था। लेकिन फिर भी बौद्ध-धर्म पर कोई जुल्म किया गया हो ऐसा नहीं मालूम होता। बौद्ध विहार क़ायम थे और तब भी बड़ी-बड़ी शिक्षा-संस्थाएँ थीं। गुप्त सम्राटों का लंका के राजाओं के साथ मित्रता का सम्बन्ध था और लंका में बौद्ध-धर्म खूब फैला हुआ था। लंका के राजा मेघवर्ण ने समुद्र-

गुप्त के पास कीमती उपहार भेजे थे और उसने सिंहली विद्यार्थियो के लिए गया मे एक विहार भी बनवाया था।

लेकिन भारत मे बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे गिरने लगा। जैसा कि मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ, यह हालत इसलिए नही पैदा हुई कि ब्राह्मणो ने या उस जमाने की सरकार ने उसके ऊपर कोई बाहरी दबाव डाला, बल्कि इसलिए कि हिन्दू-धर्म मे उसे धीरे-धीरे हजम कर लेने की ताकत थी।

इसी जमाने मे चीन का एक मशहूर यात्री भारत मे आया। यह ह्यू एनत्साङ्ग नही था, जिसके बारे मे मैं तुम्हें लिख चुका हूँ, बल्कि फ़ा-ह्यान था। बौद्ध होने के नाते यह बौद्ध-धर्म के पवित्र ग्रन्थो की तलाश मे यहाँ आया था। उसने लिखा है कि मगध के लोग खुशहाल और सुखी थे; न्याय का पालन उदारता से किया जाता था और मौत की सजा नही थी। गया वीरान और उजडा हुआ था, कपिलवस्तु जगल हो चुका था; लेकिन पाटलिपुत्र के लोग "धनवान, खुशहाल और सदाचारी" थे। सम्पन्न और शानदार बौद्ध विहार बहुत थे। मुख्य सडको पर धर्मशालाएँ थी, जहाँ मुसाफिर ठहर सकते थे और जहाँ सरकारी खर्च मे खाना दिया जाता था। बडे-बडे नगरो मे खैराती अस्पताल थे।

भारत मे घूमने के बाद फा-ह्यान लका गया और वहाँ उसने दो वर्ष बिताये। लेकिन उसके एक साथी ताओ-चिग को भारत इतना पसन्द आया और बौद्ध भिक्खुओ की धर्म-परायणता का उसपर इतना असर पडा कि उसने यहीं रहने का निश्चय कर लिया। फा-ह्यान समुद्री रास्ते लका से चीन चला गया और रास्ते मे बहुत-से खतरे उठाकर वर्षों बाद अपने घर पहुँचा।

चन्द्रगुप्त द्वितीय या विक्रमादित्य ने तेईस वर्ष राज किया। उसके बाद उसके पुत्र कुमारगुप्त ने चालीस वर्ष तक राज किया। फिर ४५३ ई० मे स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा। इसे एक नये खतरे का सामना करना पडा, जिसने अन्त मे महान् गुप्त साम्राज्य की कमर ही तोड दी। लेकिन इसके बारे मे मैं अपने अगले पत्र मे लिखूँगा।

अजन्ता की गुफाओ की दीवारो पर बने हुए कई सबसे बढ़िया चित्र और उनके बडे-बडे कमरे व उपासना-गृह गुप्त-काल की कला के नमूने हैं। जब तुम उन्हें देखोगी तो तुम्हें पता चलेगा कि ये कितने अद्भुत हैं। बदकिस्मती से वहाँ के चित्र धीरे-धीरे मिटते जा रहे हैं, क्योकि मौसमो के असर से वे बहुत वर्षों तक नहीं टिक सकते।

अब हमें यह देखना है कि जिस समय भारत मे गुप्त सम्राटो का राज था उस वक्त दुनिया के दूसरे हिस्सो मे क्या हो रहा था। चन्द्रगुप्त प्रथम कुस्तुन्तुनिया को बसानेवाले रोमन सम्राट् कॉन्स्तेन्तीन महान् का समकालीन था। बाद के गुप्त

सम्राटो के समय मे रोमन साम्राज्य पूर्वी और पश्चिमी दो हिस्सो मे बँट चुका था और पश्चिमी साम्राज्य को अन्त मे उत्तर के 'बर्बरो' ने उखाड फेंका था। यानी जिस वक्त रोमन साम्राज्य कमजोर पड रहा था, तभी भारत मे एक बहुत शक्तिशाली राज्य था, जिसमे बडे-बडे सेनापति और जबर्दस्त सेनाएँ थी। समुद्रगुप्त को कुछ लोग भारत का 'नेपोलियन' कहते हैं। लेकिन महत्वाकाक्षी होते हुए भी उसने भारत की सीमाओ के बाहर के देशो को जीतने का विचार नही किया था।

गुप्त-काल हमला करनेवाले साम्राज्यवाद और देश-विजयो का जमाना था। लेकिन हरेक मुल्क के इतिहास मे इस तरह के साम्राज्यी काल बहुत बार आते हैं, और अन्त मे जाकर इनका कुछ महत्व नहीं रहता। फिर भी गुप्त-काल की विशेषता, जिसकी वजह से वह भारत मे कुछ गौरव के साथ याद किया जाता है, इस बात मे है कि उसमे कला और साहित्य का चमत्कारी पुनर्जागरण हुआ।

: ३८ :

## हूणों का भारत में आना

४ मई, १९३२

उत्तर-पश्चिम के पहाडो के उस पार से भारत पर आनेवाला नया आतक हूणो का था। मैंने अपने पिछले पत्र मे रोमन साम्राज्य का जिक्र करते हुए हूणो के बारे मे लिखा था। यूरोप मे उनका सबसे बडा नेता अतिला था, जो बहुत वर्षो तक रोम और कुस्तुन्तुनिया को आतकित करता रहा। इन्ही कबीलो के सजातीय हूण, जो सफेद हूण के नाम से मशहूर थे, करीब-करीब उसी समय भारत मे आये थे। ये लोग भी मध्य-एशिया के घुमक्कड थे। बहुत दिनो से वे भारत की सरहदो पर मँडरा रहे थे और वहाँ के लोगो को बुरी तरह परेशान कर रहे थे। जैसे-जैसे उनकी सख्या बढती गई, और शायद इसलिए भी कि पीछे से दूसरे कबीले उन्हें खदेड रहे थे, उन्होने बाकायदा धावा शुरू कर दिया।

स्कन्दगुप्त को, जो गुप्त-वश का पांचवां राजा था, हूणो के इस धावे का सामना करना पडा। उसने उन्हे हराकर पीछे धकेल दिया। लेकिन बारह वर्ष बाद वे फिर आ धमके। धीरे-धीरे वे गान्धार और उत्तर भारत मे फैल गये। उन्होने बौद्धो पर बडे अत्याचार किये और हर तरह का आतक फैलाया।

उनके खिलाफ लगातार लडाइयाँ होती रही होगी, लेकिन गुप्त-राजा उन्हें देश से निकाल न सके। हूणो के दल-के-दल भारत मे आते रहे और वे मध्य भारत तक फैल गये। उनका मुखिया तोरमाण राजा बन बैठा। यह तो काफी बुरा था ही, लेकिन उसका उत्तराधिकारी, उसका पुत्र मिहिरगुल, तो बिलकुल ही जगली

और शैतान की तरह बेरहम था। कल्हण ने अपने कश्मीर के इतिहास 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि मिहिरगुल का एक दिल-बहलाव यह था कि वह ऊँचे कगारों से हाथियों को खड्ड में ढकेलवाया करता था। अन्त में उसके अत्याचारों से आर्यावर्त भड़क उठा। गुप्त-वंश के बालादित्य और मध्य भारत के राजा यशोवर्मन के नेतृत्व में आर्यों ने हूणों को हरा दिया और मिहिरगुल को गिरफ्तार कर लिया। लेकिन बालादित्य हूणों की तरह निर्दयी नहीं था, बल्कि वीर था। उसने दया करके मिहिरगुल की जान बख्श दी और उसे देश से निकल जाने का आदेश दिया। मिहिरगुल जाकर कश्मीर में छिपा रहा और कुछ दिन बाद उसने दगाबाजी करके बालादित्य पर, जिसने उसके साथ इतनी उदारता दिखाई थी, हमला कर दिया।

लेकिन भारत मे हूणों की शक्ति बहुत जल्द कमजोर हो गई। फिर भी हूणों की बहुत-सी सन्तति भारत मे रह गई और धीरे-धीरे आर्यों की आबादी में घुल-मिल गई। यह मुमकिन है कि मध्य भारत और राजस्थान की कुछ राजपूत जातियों मे इन सफेद हूणों के खून का कुछ अश हो।

हूणों ने उत्तर भारत मे बहुत थोडे समय, यानी पचास साल से भी कम, राज किया। इसके बाद वे शान्ति के साथ बस गये। लेकिन हूण-युद्धो और उनकी भयकरता का भारत के आर्यों पर बहुत असर पडा। हूणों की जिन्दगी और शासन के तरीके आर्यों से बिलकुल जुदे थे। आर्य-जाति उस समय तक भी बहुत कुछ स्वतन्त्रता-प्रेमी थी। उनके राजाओ तक को लोकमत के सामने झुकना पडता था और उनकी ग्राम-पचायतो के हाथो मे बडी शक्ति थी। लेकिन हूणो के आने से, और यहाँ बसकर भारतीयो के साथ घुल-मिल जाने से, आर्य-आदर्शों मे कुछ फर्क आ गया और वे नीचे गिर गये।

महान् गुप्तवश के अन्तिम सम्राट् बालादित्य की ५३० ई० मे मृत्यु हुई। यह एक दिलचस्प बात है कि शुद्ध हिन्दू-वश का यह सम्राट् खुद बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित हुआ और उसने एक बौद्ध भिक्षु को अपना गुरु बनाया। गुप्त-काल कृष्ण-भक्ति के फिर से प्रचलित होने के लिए खासतौर पर मशहूर है। लेकिन इतने पर भी बौद्ध-धर्म के साथ हिन्दुओ का कोई खास झगडा नही था।

हम फिर देखते हैं कि गुप्त-राज्य के २०० वर्षों बाद उत्तर भारत मे कई राज्य बन गये, जो किसी एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन न थे। हाँ, दक्षिण भारत में एक बहुत बडे राज्य का विकास होने लगा। पुलिकेशी नामक एक राजा ने, जो रामचन्द्र का वशज होने का दावा करता था, दक्षिण मे एक साम्राज्य कायम किया जो चालुक्य साम्राज्य के नाम से मशहूर है। दक्षिण के इन लोगो का पूर्वी द्वीप-समूहों के भारतीय उपनिवेशो के साथ जरूर ही गहरा सम्बन्ध रहा होगा और भारत और इन टापुओ के बीच बराबर आवागमन होता रहा होगा। हमे यह भी पता

चलता है कि भारतीय जहाज अक्सर माल भरकर ईरान में जाया करते थे। चालुक्य राज्य ईरान में सासानी राज्य को राजदूत भेजा करते थे और वहाँ के राजदूत यहाँ आते थे। राजदूतों का इस तरह आना-जाना ईरान के मशहूर बादशाह खुसरो द्वितीय के जमाने में खासतौर पर हुआ।

· ३९ ·

## विदेशी मण्डियों पर भारत का कब्जा

५ मई, १९३२

हम देखते हैं कि इतिहास के जिस पुराने काल की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें एक हजार से भी ज्यादा वर्षों तक, पश्चिम में यूरोप और पश्चिमी एशिया तक, और पूर्व में ठेठ चीन तक, भारत का व्यापार बराबर जोरों के साथ चलता रहा। इसके क्या कारण थे? सिर्फ यह नहीं कि उस जमाने के भारतीय बड़े अच्छे जहाजी और व्यापारी थे, जिसमें कि कोई शक नहीं; न यह कि वे बड़े कुशल कारीगर थे और उनकी कारीगरी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इन सब कारणों ने मदद जरूर दी, लेकिन मालूम होता है कि भारत ने दूर-दूर की मण्डियों पर जो कब्जा जमाया था, उसकी खास वजह यह थी कि उसने रसायन में, खासकर रंगसाजी में, बड़ी तरक्की कर ली थी। मालूम होता है, उस जमाने के भारतवासियों ने कपड़ा रंगने के पक्के रंग तैयार करने के विशेष तरीके खोज निकाले थे। ये नील के पौधे से नीला रंग बनाने का विशेष तरीका भी जानते थे। तुम देखोगी कि नील का 'इण्डिगो' नाम ही 'इण्डिया' से निकला है। यह भी मुमकिन है कि फौलाद पर अच्छा पानी चढ़ाने और फौलाद के बढ़िया औजार बनाने का तरीका भी पुराने भारतवासियों को मालूम था। तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें बताया था कि सिकन्दर के हमलों की पुरानी ईरानी कहानियों में जहाँ-कहीं अच्छी तलवार या कटार का जिक्र आया है, वहाँ यह भी कहा गया है कि वह भारत से आई थी।

चूँकि भारत दूसरे देशों के मुकाबले में इन रंगों और दूसरी चीजों को ज्यादा अच्छी तरह बना सकता था, इसलिए यह कुदरती बात थी कि वह दुनिया की मण्डियों पर कब्जा कर ले। जिस आदमी या मुल्क को दूसरे आदमी या मुल्क की बनिस्बत बढ़िया औजार या किसी चीज को बनाने का अच्छा और सस्ता तरीका मालूम है, वह आखिर में दूसरे आदमी या मुल्क का धन्धा छीन लेगा, जिसके पास न उतने अच्छे औजार हैं, और न उतना अच्छा तरीका। और यही वजह है कि पिछले दो सौ वर्षों में यूरोप एशिया के मुकाबले में उतना आगे बढ़ गया है। नई खोजों और आविष्कारों ने यूरोप को नये-नये और बलशाली औजार दिये और चीजों के बनाने के नये-नये तरीके बतलाये। इनकी मदद से उसने दुनिया की मण्डियों पर कब्जा

कर लिया और मालदार व बलशाली हो गया। और भी दूसरे कारण थे जिन्होंने उसे मदद पहुँचाई। लेकिन फिलहाल तो मैं इतना ही चाहता हूँ कि तुम यह विचार करो कि औज़ार कितने महत्व की चीज़ है। एक बार एक बड़े आदमी ने कहा था कि मनुष्य औज़ार बनानेवाला प्राणी है। और शुरू के ज़माने से आज तक का मनुष्य-जाति का इतिहास ज्यादा-से-ज्यादा कारगर औज़ार बनाने का इतिहास है। प्रस्तर-युग के प्राचीन पत्थर के तीरो और हथौडो से लेकर आज की रेलें, भाप के इजन और भारी मशीनें यही बतलाती हैं। सच तो यह है कि हमारे लगभग सभी कामों में औज़ारो की ज़रूरत पडती है। औज़ारो के बिना हमारी हालत क्या हो?

औज़ार एक अच्छी चीज है। इससे काम हलका हो जाता है। लेकिन औज़ार का बुरा इस्तेमाल भी किया जा सकता है। आरी एक काम की चीज़ है, लेकिन एक बच्चा उससे अपने को चोट पहुँचा सकता है। हमारे उपयोग की चीज़ो में चाकू एक सबसे ज्यादा काम की चीज़ है। हर स्काउट को चाकू रखना चाहिए। लेकिन एक नादान आदमी इसी चाकू से दूसरे की जान ले सकता है। इसमे बेचारे चाकू का कोई दोष नही है। कसूर तो उस आदमी का है, जो इस औज़ार का दुरुप-योग करता है।

इसी तरह, खुद अच्छी होते हुए भी, आधुनिकतम मशीनो का तरह-तरह से दुरुपयोग किया गया है, और आज भी किया जा रहा है। लोगो के काम के बोझ को हलका करने के बजाय मशीनों ने बहुत करके उनकी ज़िन्दगी पहले से भी ज्यादा बुरी बना दी हैं। करोडो आदमियों को सुख और आराम पहुँचाने के बजाय, जैसाकि उसे अमल मे करना चाहिए, उसने बहुतो को मुसीबत में डाल दिया है। उसने सरकारो के हाथ मे इतनी ज्यादा ताकत दे दी है कि वे अपने युद्धो मे लाखो की हत्या कर सकती है।

लेकिन इसमे मशीन का कसूर नही, बल्कि उसके दुरुपयोग का है। अगर बडी-बडी मशीनो का नियन्त्रण ऐसे गैर-ज़िम्मेदार लोगो के हाथों मे न रहे, जो उससे सिर्फ अपने लिए रुपया पैदा करना चाहते हैं, बल्कि उनका नियन्त्रण जनता की ओर से और उसकी भलाई के लिए किया जाय, तो बहुत फर्क पड जाय।

इसलिए उन दिनो, आजकल की दशा के विपरीत, भारत माल तैयार करने के तरीको मे सारी दुनिया से आगे था। इसीलिए भारतीय कपडे, भारतीय रग और दूसरी चीजें दूर-दूर के मुल्को मे जाती थी और वहाँ उनकी बडी चाह के साथ माँग थी। इस व्यापार से भारत मे बाहर का धन आता था। इस व्यापार के अलावा दक्षिण भारत काली मिर्च और दूसरे मसाले बाहर भेजता था। ये मसाले पूर्व के टापुओं से भी आते थे और भारत के रास्ते पश्चिम के देशो को जाते थे। रोम और पश्चिम के देशो मे काली मिर्च की बडी क़ीमत थी। कहा जाता है कि

गोथो का एक सरदार एलैरिक, जिसने ४१० ई० मे रोम पर अधिकार किया था, ३०० पौण्ड काली मिर्च वहाँ से ले गया था। यह सब काली मिर्च या तो भारत से या भारत के रास्ते गई होगी।

. ४०

## देशों और सभ्यताओं के चढ़ाव-उतार

६ मई, १९३२

चीन का ज़िक्र किये हुए अब हमे बहुत दिन हो गये। आओ, अब फिर उधर लौट चलें, और चीन का हाल फिर शुरू करें और यह देखें कि जिस समय पश्चिम में रोम का पतन हो रहा था और भारत मे, गुप्त सम्राटो के शासन मे, राष्ट्रीय पुनरुत्थान हो रहा था, उस वक्त चीन मे क्या घटनाएँ घट रही थी। रोम के उत्थान या पतन का असर चीन पर बहुत कम पडा। वे एक-दूसरे से बहुत ही दूर थे। लेकिन मैं तुम्हे पहले ही बता चुका हूँ कि चीनी राज्य द्वारा मध्य एशिया के क़बीलो को पीछे ढकेलने का नतीजा कभी-कभी यूरोप और भारत के लिए बहुत बुरा होता था। ये कबीले और इनके खदेडे हुए दूसरे कबीले पश्चिम और दक्षिण की ओर बढते जाते थे, सल्तनतो और राज्यो को उलट-पलट देते थे और वहाँ गडबडी फला देते थे। इनमे से बहुत से कबीले पूर्वी यूरोप और भारत मे बस भी गये।

लेकिन रोम और चीन मे सीधा सम्बन्ध भी था। दोनो एक-दूसरे के यहाँ अपने राजदूत भेजते थे। चीनी किताबो से पता चलता है कि पहले-पहल १६६ ई० मे रोम के सम्राट् आन-तून ने चीन को अपना राजदूत-मण्डल भेजा था। यह आन-तून वही मार्क ऑरेली अन्तोनी है, जिसका ज़िक्र मैं अपने एक पत्र मे कर चुका हूँ।

यूरोप मे रोम का पतन एक ज़बर्दस्त घटना थी। यह सिर्फ एक शहर या एक साम्राज्य का पतन नहीं था। एक तरह से रोमन साम्राज्य तो कुस्तुन्तुनिया मे बाद में भी बहुत दिनो तक चलता रहा और इस साम्राज्य का भूत यूरोप के सिर पर क़रीब-क़रीब चौदह सौ वर्ष तक मँडराता रहा। लेकिन रोम का पतन एक महान् युग का अन्त था। इससे यूनान और रोम की पुरानी दुनिया का खात्मा हो गया। पश्चिम मे रोम के खण्डहरो पर एक नई दुनिया, एक नई सभ्यता और एक नई संस्कृति जन्म ले रही थी। शब्द और वाक्य हमे भुलावे मे डाल देते हैं और जब हम उन्हीं शब्दो का इस्तेमाल दूसरी जगह देखते हैं तो हम समझने लगते हैं कि उनके अर्थ भी वही होंगे। रोम के पतन के बाद भी यूरोप रोम की ही भाषा मे बोलता था, लेकिन उसके पीछे जो भाव थे और जो अर्थ थे वे बदल गये थे। लोग कहते

हैं कि आज के यूरोप के मुल्क यूनान और रोम के बच्चे हैं और यह किसी हद तक ठीक भी है। लेकिन फिर भी यह एक भ्रम मे डाल देनेवाली बात है। क्योंकि यूरोप के देश एक ऐसे आदर्श के नमूने हैं जो यूनान और रोम के आदर्शों से बिलकुल जुदा है। रोम और यूनान की पुरानी दुनिया बिलकुल ही मिट गई। जो सभ्यता हजार वर्ष से भी ज्यादा समय मे बन पाई थी, वह पककर मुरझा गई। इसके बाद ही पश्चिमी यूरोप के आधे सभ्य, आधे-बर्बर देश इतिहास में कदम रखते हैं और धीरे-धीरे एक नई सभ्यता और एक नई संस्कृति का निर्माण करते हैं। उन्होंने रोम से बहुत-कुछ सीखा, बहुत-सी बातें उन्होंने पुरानी दुनिया से ली, लेकिन सीखने का यह सिलसिला मुश्किल और मेहनत का था। सैकडो वर्षों तक मालूम होता था कि यूरोप मे सभ्यता और संस्कृति नींद ले रही है। अज्ञान और कट्टरपथ का अँधेरा छा गया था। इसलिए इन सदियो को 'अन्धकार का युग' कहते हैं।

इसकी वजह क्या थी? दुनिया पीछे की तरफ क्यो लौटे, और सदियो की मेहनत से इकट्ठा किया हुआ ज्ञान क्यो गायब हो जाय या भुला दिया जाय? ये बडे सवाल हमारे बडे-बडे बुद्धिमानो को भी चक्कर मे डाल देते हैं। मैं उनका जवाब देने की कोशिश नही करूँगा। क्या यह ताज्जुब की बात नही है कि भारत, जो कभी विचार और कर्म मे इतना महान् था, इतनी बुरी तरह नीचे गिर जाय, और लम्बे युगो तक गुलाम देश बना रहे? या चीन, जिसका पुराना इतिहास इतना गौरवपूर्ण है, कभी खत्म न होनेवाले लडाई-झगडो का शिकार हो जाय? शायद युगो का ज्ञान और युगो की वृद्धि जिन्हे आदमी बूँद-बूँद करके इकट्ठा कर पाता है, मिट नही जाते। लेकिन किसी वजह से हमारी आँखें बन्द हो जाती हैं, और कभी-कभी हम कुछ भी नही देख पाते। खिडकी बन्द हो जाती है और अँधेरा छा जाता है। लेकिन बाहर और चारो तरफ रोशनी तब भी रहती है और अगर हम अपनी आँखो को या खिडकियो को बन्द रक्खें तो इसका मतलब यह नही कि रोशनी ही गायब हो गई।

कुछ लोगो का कहना है कि यूरोप के अन्धकार-युग का कारण ईसाई मजहब था—वह धर्म नही जिसका ईसा ने प्रचार किया, बल्कि वह राजकीय ईसाइयत जो रोमन सम्राट् कॅन्स्तेन्तीन के ईसाई हो जाने पर पश्चिम मे फैली। इन लोगों कहना है कि चौथी सदी मे कॉन्स्तेन्तीन के ईसाइयत इख्तियार कर लेने से ? वर्ष का एक नया युग शुरू हुआ, "जिसमे विवेक जजीरो मे जकड दिया गया, विचार को गुलाम बना दिया गया और ज्ञान ने कोई तरक्की नही की।" इनकी वजह से न सिर्फ जुल्म, कट्टरपन और असहिष्णुता ने ही जोर पकडा, बल्कि इससे लोगो के लिए विज्ञान या और बहुत-सी बातो मे आगे बढना मुश्किल

हो गया। धर्म-पुस्तकें अक्सर आगे बढने मे रुकावट बन जाती हैं। वे हमें बताती हैं कि जिस ज़माने मे वे लिखी गई थी तब दुनिया कैसी थी। वे हमे उस ज़माने के विचारो और रस्म-रिवाजो के बारे मे बताती हैं। उन विचारो और रस्म-रिवाजो के खिलाफ आवाज़ उठाने की किसी की हिम्मत नही होती, क्योंकि वे बातें "पवित्र" पुस्तक मे लिखी होती है। इसलिए, हालांकि दुनिया बिलकुल बदल जाती है, लेकिन हमे उन विचारो और रस्म-रिवाजो को बदली हुई हालतो के मुताबिक बनाने की छूट नही होती। नतीजा यह होता है कि हम ज़माने के साथ बेमेल हो जाते हैं, और फिर गड़बड़ पैदा हो जाती है।

इसलिए कुछ लोग यूरोप मे अन्धकार-युग लाने के लिए ईसाइयत को दोषी ठहराते हैं। दूसरे लोग यह कहते हैं कि उस अन्धकार-युग मे ज्ञान के दीपक को जलाये रखनेवाले ईसाइयत और ईसाई पादरी और पुजारी ही थे। उन्होंने कला और चित्रकारी को जीवित रखा, बेशकीमती पुस्तको की सावधानी से हिफाज़त की और उनकी नकलें उतारी।

लोग इस तरह का तर्क करते है। शायद दोनो ही ठीक हैं। लेकिन यह कहना कि रोम के पतन के बाद आनेवाली सारी मुसीबतो की जिम्मेदारी ईसाइयत पर है, एक बेहूदा-सी बात है। सच तो यह है कि रोम खुद उन बुराइयो की वजह से गिरा।

लेकिन मैं बहुत दूर चला गया। मैं तो तुम्हे यह बताना चाहता था कि जहाँ यूरोप मे समाजी सगठन एकदम टूट गया और एकदम परिवर्तन हो गया, वहाँ चीन मे या भारत तक मे इस तरह का कोई अचानक परिवर्तन नही हुआ। यूरोप मे हम एक सभ्यता का अन्त और उस दूसरी सभ्यता की शुरुआत देखते है, जो धीरे-धीरे विकास करके आज की सभ्यता बन गई है। चीन मे हम ऐसी ही ऊंचे दर्जे की सभ्यता और सस्कृति को इस तरह सिलसिला टूटे बिना जारी रहता पाते है। उतार-चढाव तो आया ही करते हैं। अच्छे काल और बुरे राजे-महाराजे आते और जाते रहते हैं और राजवश बदलते रहते हैं। लेकिन जो सस्कृति परम्परा से चली आती है, वह नही टूटती। जब चीन कई राज्यो मे छिन्न-भिन्न हो गया और आपसी झगडो मे फँस गया, उस समय भी वहां कला और साहित्य फूलते-फलते रहे, मनोरम चित्रकारी होती रही, सुन्दर चीनी के बर्तन और बढिया इमारतें बनती रही। छपाई का उपयोग होने लगा। चाय पीने का फैशन शुरू हुआ और कविता मे उसका गुणगान किया जाने लगा। इस प्रकार चीन मे हमे सौन्दर्य और कला-प्रेम की एक अटूट धारा दिखाई देती है, जो किसी ऊँची सभ्यता से ही पैदा हो सकती है।

यही हालत भारत मे थी। यहाँ भी रोम की तरह कोई अचानक परिवर्तन

नही हुआ। यह ठीक है कि यहाँ भी अच्छे और बुरे दिन आये। सुन्दर साहित्यिक और कलामय रचनाओं के जमाने आये और विनाश और पतन के भी। लेकिन सभ्यता का सिलसिला एक तरह से जारी रहा। भारत की यह सभ्यता पूर्व के दूसरे देशों में भी फैल गई। उसने उन बर्बरों को भी हजम कर लिया और ज्ञान सिखाया, जो इसे लूटने आये थे।

यह न समझना कि मैं पश्चिम को नीचा गिराकर भारत या चीन की बड़ाई कर रहा हूँ। आज भारत या चीन की हालत मे कोई ऐसी बात नही है, जिसको लेकर कोई शान बघारता फिरे। अन्धे भी यह देख सकते हैं कि अपने प्राचीन गौरव के होते हुए भी आज ये दोनो देश दुनिया के राष्ट्रो के मुक़ाबले मे बहुत नीचे दर्जे को पहुंच गये हैं। अगर उनकी पुरानी संस्कृति की धारा यकायक टूटी नही तो इसका यह अर्थ नही है कि इसमे कोई बुरे परिवर्तन भी नही हुए। अगर हम पहले ऊपर थे और आज नीचे गिरे हुए है, तो यह साफ है कि हम दुनिया मे नीची हालत पर आ गये हैं। हम अपनी सभ्यता की अटूट धारा पर खुश हो लें, लेकिन जब वह सभ्यता ही पककर खत्म हो गई, तो इसमें सन्तोष की कोई बात नहीं रहती। इससे तो शायद यही अच्छा होता कि प्राचीनता से हमारे सम्बन्ध यकायक टूटते रहते। ऐसे अचानक परिवर्तन हमें झकझोर डालते और हमारे मे नया जीवन और नई जीवनशक्ति फूंक देते। सम्भव है कि आज भारत मे और दुनिया मे जो घटनाएं घट रही हैं, वे हमारे पुराने देश को आगे की ओर धक्का दे रही हो और उसे फिर जवानी और नई जिन्दगी से भर रही हो।

मालूम होता है कि पुराने जमाने मे भारत मे जो मजबूती और काम की धुन थी, उसकी बुनियाद ग्राम-गणराज्यो या स्वशासित पचायतो के व्यापक सगठन मे थी। आजकल की तरह उन दिनो बडे-बडे भू-स्वामी और बडे-बडे जमींदार नही थे। जमीन या तो देहाती समुदाय या पंचायतो की या उसपर काम करनेवाले किसानो की हुआ करती थी, और इन पचायतो के हाथ मे बहुत ताकत और अधिकार होते थे। इन पचायतो को गाँव के लोग चुनते थे और इस तरह यह व्यवस्था लोकतन्त्री आधार पर बनी हुई थी। राजा बदलते रहते थे और आपस मे लडते भी रहते थे, लेकिन उन्होंने इन ग्राम-सस्थाओ पर न तो कभी हाथ डाला, न उनके काम मे कभी दखल दिया और न इन पचायतो की आज़ादी छीनने की हिम्मत की। और इस तरह जब साम्राज्यो का उलट-फेर होता रहा, तब भी इस ग्राम-सस्था पर खडी हुई समाज-व्यवस्था बिना ज्यादा परिवर्तन के जारी रही। सम्भव है, हमलो, लडाइयो और राजाओ के बदलने की कहानियाँ हमे भ्रम मे डाल दें, और हम यह सोचने लगें कि इन घटनाओ का असर तमाम जनता पर पडता रहा होगा। इसमे कोई शक नही कि जनता पर, खासकर उत्तर भारत मे, कभी-

कभी इनका असर पडा, लेकिन आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि वे लोग इन बातो की परवाह नही करते थे और राजाओ मे हेर-फेर होते हुए भी, वे अपने कामो मे लगे रहते थे।

भारत के समाज-सगठन को बहुत दिन तक मज़बूत बनाये रखनेवाला दूसरा कारण वह वर्ण-व्यवस्था थी जो अपने मूलरूप मे चली आ रही थी। उन दिनो जात-पाँत के नियम इतने सख्त नही थे, जितने कि वे बाद मे हो गये, और न जाति सिर्फ जन्म पर निर्भर करती थी। इसने हज़ारो साल तक भारत की सामाजिक ज़िन्दगी को सगठित रक्खा, और इसका सिर्फ यही कारण था कि उसने परिवर्तन और विकास की गति को रोका नही बल्कि उसे आगे बढाया। धर्म और जीवन के मामले मे पुराना भारतीय दृष्टिकोण हमेशा उदारता, प्रयोग और परिवर्तन का स्वागत करता था। इसीसे उसे बल मिलता था। लेकिन बार-बार के हमलो और दूसरी मुसीबतो ने जाति-प्रथा को धीरे-धीरे कडा बना दिया, और इसके साथ-साथ भारत का सारा दृष्टिकोण भी कडा और बेलोच हो गया। यह सिलसिला जारी रहा, यहाँतक कि भारत के लोग आज की दु खदायी हालत को पहुँच गये और जाति-प्रथा हर तरह की तरक्की की दुश्मन बन बैठी। समाज के ढाँचे को बाँधे रखने के बजाय जाति-प्रथा ने उसके सैकडो टुकडे कर दिये हैं और हमे कमज़ोर बना दिया है, और भाई को भाई के खिलाफ कर दिया है।

इस तरह वर्ण-व्यवस्था ने, पुराने ज़माने मे, भारत के समाज-सगठन को मज़बूत बनाने मे मदद दी। लेकिन ऐसा होते हुए भी इसमे गिरावट के बीज मौजूद थे। उसका आधार था असमानता और अन्याय को हमेशा क़ायम रखना, और ऐसी किसी भी कोशिश का अन्त मे विफल हो जाना लाज़िमी था। असमानता और अन्याय के आधार पर या एक वर्ग या जमात द्वारा दूसरे वर्ग या जमात से बेजा फ़ायदा उठाने की नीति पर कोई अच्छा या मज़बूत समाज नही बन सकता। चूँकि आज भी यह अनुचित शोषण मौजूद है, इसलिए हमे तमाम दुनिया मे इतने ज़्यादा झगडे और दु ख दिखाई देते हैं। लेकिन अब सब जगह के लोग इसे महसूस करने लग हैं और इससे छुटकारा पाने की भरपूर कोशिश कर रहे हैं।

भारत की तरह चीन मे भी समाज-व्यवस्था की मज़बूती गाँवो पर और उन लाखो किसानो पर निर्भर थी, जो ज़मीन के मालिक थे और उसे जोतते थे। वहाँ भी बडे-बडे ज़मीदार नही थे। धर्म मे कभी रूढिवाद या असहिष्णुता नही आने दी गई। दुनिया की तमाम कौमो मे चीनी लोग धर्म के मामले मे शायद सबसे कम कट्टर-पन्थी रहे हैं और अब भी वैसे ही हैं।

फिर तुम्हें यह भी याद होगा कि भारत और चीन दोनो ही मे मज़दूरो की गुलामी की कोई प्रथा नही थी, जैसी यूनान मे या रोम मे या उससे भी पहले

भारत का उपनिवेशीकरण तथा चीन का तांग साम्राज्य
जापान
कोरिया
फार्मोसा
फिलिपाइन
चीन
स्याम
कम्बोज
बर्मा
तिब्बत
हिमालय
भारतवर्ष
तुर्किस्तान
ईरान
अरब
लंका
सुमात्रा
सिंगापुर
बोर्नियो
जावा
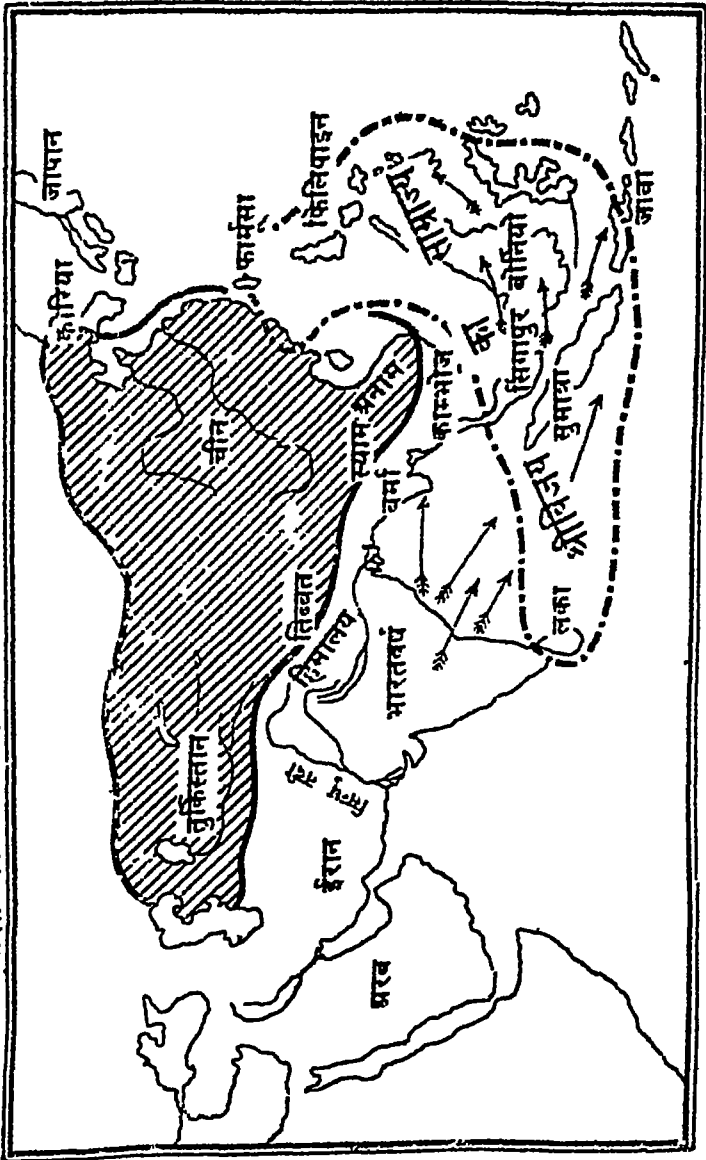
मिस्र मे थी। कुछ घरेलू नौकर होते थे, जिनकी हालत गुलामो जैसी होती थी, लेकिन समाज-व्यवस्था मे इससे कोई फर्क नही पडता था। यह व्यवस्था बग़ैर उनके भी वैसी ही चलती रहती थी। लेकिन पुराने यूनान और रोम मे ऐसा नही था। वहाँ तो गुलामो की वडी सख्या समाजी व्यवस्था का एक जरूरी अग थी और सारे काम का असली वोझ इन्ही के कन्धो पर था। और मिस्र मे विना इन गुलामो के ये वडे-वडे पिरेमिड कैसे वन पाते?

मैंने इस पत्र को चीन से शुरू किया था और इरादा किया था कि उसकी कहानी को जारी रक्खूं। लेकिन मैं दूसरे विषयो की ओर वहक गया, जो कि मेरे लिए कोई ग़ैर-मामूली बात नही है। शायद अवकी वार हम चीन को इस तरह नही छोडें।

## : ४१ :

## तांङ्-वंश के शासन में चीन की उन्नति

७ मई, १९३२

मैं चीन के हन्-वश के वारे में तुम्हे वता चुका हूँ और यह भी वता चुका हूँ कि चीन मे बौद्ध-धर्म कैसे आया, छपाई की कला कव ईजाद हुई, और सरकारी अफसरो को चुनने के लिए इम्तिहान लेने का तरीका कैसे शुरू हुआ। ईसा के बाद तीसरी सदी में हन्-राजवश खत्म हो गया, और साम्राज्य तीन राज्यो मे बँट गया, जिन्हें तीन महान् सल्तनतें कहा जाता है। विभाजन का यह युग कई सौ वर्षो तक कायम रहा। अन्त मे एक नये राजवश ने, जिसे ताङ-वश कहते हैं, चीन को फिर एक कर दिया और उसे शक्तिशाली और एक राज्य बना दिया। यह सातवी सदी के शुरू की वात है।

लेकिन बँटवारे के इस काल मे भी चीनी सस्कृति और कला उत्तर के तातारियो के हमलो के वावजूद कायम रही। वडे-वडे पुस्तकालयो और सुन्दर चित्रो का वयान हमे मिलता है। भारत सिर्फ अपने सुन्दर कपडे और दूसरे माल ही नही, वल्कि अपने विचार, अपना धर्म और अपनी कला भी चीन को भेजता रहा। भारत से वौद्ध प्रचारक चीन गये और वे अपने साथ भारतीय कला की परम्परा भी लेते गये। यह भी हो सकता है कि भारतीय कलाकार और कुशल कारीगर भी वहाँ गये हो। भारत से पहुँचनेवाले वौद्ध-धर्म और नये विचारो का चीन पर बहुत असर पडा। वेशक चीन उस समय, और उसके पहले भी, एक बहुत ही सभ्य देश था। यह बात नही थी कि भारत के धर्म, विचार और कला किसी पिछडे देश में पहुँचे हों, और उस पर काविज हो गये हो। चीन मे पहुँचकर इनको चीन की अपनी प्राचीन कला और विचार-धारा का सामना करना पडा था। दोनों की

टक्कर का यह नतीजा हुआ कि एक नई चीज़ पैदा हुई, जो इन दोनो से जुदा थी। इसमे वहुत-कुछ भारत का हाथ था, लेकिन फिर भी उसका आधार चीनी था और वह चीनी साँचे मे ढली हुई थी। इस तरह भारत से पहुँचनेवाली विचार-धाराओ ने चीन के मानसिक और कला-सम्वन्धी जीवन को एक नई प्रेरणा और ठोकर दी।

इसी तरह बौद्ध-धर्म और भारतीय कला का सन्देश पूर्व मे वहुत दूर तक यानी कोरिया और जापान तक कैसे पहुँचा, और इन देशो पर इसका क्या असर हुआ, यह भी दिलचस्प कहानी है। हरेक देश ने इसको अपने स्वभाव और प्रकृति के अनुकूल वना लिया। इस तरह, हालांकि बौद्ध-धर्म चीन और जापान मे फूला-फला, लेकिन हर मुल्क़ मे इसका पहलू जुदा है और इन दोनो देशों का बौद्ध-धर्म शायद उस बौद्ध-धर्म से वहुत कुछ अलग तरह का है, जो भारत से गया था। कला भी देश की हवा और कौम के मुताविक अलग होती है और बदलती रहती है। भारत मे हम लोग कौमी हैसियत से कला और सौन्दर्य दोनो को भूल गये हैं। यही नही कि वहुत दिनो से हमने सौन्दर्य की कोई वढिया चीज़ पैदा नही की, बल्कि हममे से वहुत-से लोग सुन्दर वस्तुओ की कद्र करना भी भूल गये हैं। किसी गुलाम देश मे कला और सौन्दर्य पनप ही कैसे सकते हैं? गुलामी और वन्धन के अँधेरे मे ये मुरझा जाते हैं। लेकिन अव, जवकि आजादी की झलक हमारी आँख के सामने है, हमारी सौन्दर्य की भावना धीरे-धीरे जगने लगी है। जव आजादी आ जायगी तव तुम इस देश मे कला और सौन्दर्य का जवर्दस्त पुनर्जीवन देखोगी और मुझे उम्मीद है कि तव हमारे घरो, हमारे नगरो और हमारे जीवन की वद-सूरती एकदम हट जायगी। चीन और जापान भारत से ज्यादा भाग्यशाली रहे हैं और इन्होंने अवतक कला और सौन्दर्य की अपनी भावना को वहुत-कुछ कायम रक्खा है।

ज्यो-ज्यो चीन मे बौद्ध-धर्म फैला, भारतीय बौद्ध और भिक्षु वहाँ अधिक सख्या मे जाने लगे, और चीनी भिक्षु भारत और दूसरे देशो की यात्राएँ करने लगे। मैंने तुमसे फा-ह्यान का ज़िक्र किया है, और तुम ह्यू एनत्साङ को जानती ही हो। ये दोनो भारत आये थे। एक दूसरे चीनी भिक्षु ने, जिसका नाम हुई-शेंङ था, अपनी पूर्वी समुद्रो की यात्रा का वहुत दिलचस्प हाल लिखा है। यह ४९९ ई० मे चीन की राजधानी मे पहुँचा और इसने वताया कि वह फू-सङ नामक ऐसे मुल्क मे गया था, जो चीन के पूर्व मे कई हजार मील की दूरी पर है। चीन और जापान के पूर्व में प्रशान्त महासागर है, और सम्भव है कि हुई-शेंङ ने इस महासागर को पार किया हो। शायद वह मैक्सिको पहुँचा हो, क्योंकि मैक्सिको मे उस वक्त भी एक पुरानी सभ्यता पाई जाती थी।

चीन मे बौद्ध-धर्म के प्रसार से आकर्षित होकर भारत के बौद्ध-धर्म के धर्माध्यक्ष या कुलपति जिनका नाम या उपाधि बोधि-धर्म थी, दक्षिण भारत से चीन मे कैण्टन के लिए रवाना हुए। शायद भारत मे बौद्ध-धर्म के धीरे-धीरे कमजोर हो जाने की वजह से उनका चीन जाने का इरादा हुआ हो। ५२६ ई० में जब उन्होंने यह यात्रा की, वह बूढे हो चुके थे। इनके साथ, और इनके बाद, और बहुत-से भिक्षु भी चीन गये। कहते हैं कि उस समय चीन के सिर्फ एक सूबे लोयाङ मे तीन हज़ार से भी ज्यादा भारतीय भिक्षु और दस हज़ार भारतीय कुटुम्ब रहते थे।

इसके बाद ही बौद्ध-धर्म भारत मे एक बार फिर चमका, और बुद्ध की जन्म-भूमि होने के कारण, और इस कारण भी कि यहाँ उनके पवित्र धर्म-ग्रन्थ थे, यह देश धर्मपरायण बौद्धो को अपनी ओर खीचता रहा। लेकिन जान पडता है कि भारत मे बौद्ध-धर्म की शान जाती रही थी, और अब चीन प्रमुख बौद्ध देश हो गया था।

सम्राट् काओ-त्सू ने ६१८ ई० मे ताङ-राजवंश की नीव डाली। इसने न सिर्फ सारे चीन को ही एक किया बल्कि अपना अधिकार दक्षिण मे अनाम और कम्बोदिया तक के, और पश्चिम मे ईरान तथा कैस्पियन सागर तक के, लम्बे-चौड़े क्षेत्र मे फैलाया। कोरिया का भी एक हिस्सा इस शक्तिशाली साम्राज्य मे शामिल था। साम्राज्य की राजधानी सी-आन-फू नामक शहर था, जो पूर्वी एशिया मे अपनी शान और सस्कृति के लिए मशहूर था। जापान मे और दक्षिण कोरिया से, जो अभी तक आज़ाद था, राजदूत और आयोग-मण्डल इसकी कला, तत्वज्ञान और सभ्यता का अध्ययन करने के लिए आया करते थे।

ताङ-सम्राट विदेशी व्यापार और विदेशी यात्रियो को उत्साहित करते थे। चीन आनेवाले या वहाँ आकर बसनेवाले विदेशियो के लिए खास क़ानून बनाये जाते थे, ताकि वे, जहाँ तक सम्भव हो, अपने ही देशो के रस्म-रिवाजो के अनुसार न्याय पा सकें। हमे पता चलता है कि ३०० ई० के करीब दक्षिण चीन मे कैण्टन के पास अरब लोग खासतौर से आकर बसे थे। यह इस्लाम की शुरुआत से, यानी पैगम्बर हज़रत मोहम्मद के जन्म से, पहले की बात है। इन अरबो की मदद से समुद्र-पार के देशो के साथ व्यापार मे तरक्की हुई। तिजारती माल लाने ले जाने का काम अरबी और चीनी जहाज किया करते थे।

तुमको यह जानकर ताज्जुब होगा कि मर्दुमशुमारी, यानी आबादी जानने के लिए किसी देश के निवासियो की गिनती की प्रथा, चीन मे बहुत पुराने ज़माने मे चली आई है। कहते है कि बहुत पहले, १५६ ई० मे, चीन मे एक मर्दुमशुमारी हुई थी। यह हन्-वंश के समय मे हुई होगी। गिनती एक-एक आदमी की नही, बल्कि कुटुम्बो की की जाती थी। यह माना जाता था कि हरेक कुटुम्ब मे मोटे तौर से पाँच

व्यक्ति होते हैं। इस हिसाब के मुताबिक १५६ ई० मे चीन की आबादी क़रीब पॅच करोड थी। मैं जानता हूँ कि यह कोई बहुत ठीक तरीका नही है, लेकिन खयाल करने की बात यह है कि पश्चिम के लिए यह मर्दुमशुमारी एक नई चीज है। मेरा खयाल है कि करीब १५० वर्ष हुए जब सयुक्त राज्य अमेरिका मे पहली मर्दुमशुमारी हुई थी।

ताङ-वश के शुरू ज़माने मे चीन मे दो और धर्म आये—एक ईसाइयत और दूसरा इस्लाम। ईसाइयत को वह सम्प्रदाय इस देश मे लाया जिसे काफिर करार देकर पश्चिम से निकाल दिया गया था। ये लोग नेस्तोरियन कहलाते थे। मैंने तुम्हे कुछ दिन हुए ईसाई सम्प्रदायो के आपसी झगडो और लडाइयों का कुछ हाल लिखा था। इसी तरह के एक झगडे का नतीजा यह हुआ कि रोम ने नेस्तोरियनो को निकाल बाहर किया। लेकिन ये लोग चीन, ईरान और एशिया के कई दूसरे हिस्सो मे फैल गये। ये लोग भारत भी आये थे और इन्हें कुछ कामयाबी भी मिली, लेकिन बाद में ईसाई मजहब की दूसरी शाखाओ ने और मुसलमानो ने इन्हें हज़म कर लिया, और अब उनका नाम-निशान भी बाक़ी नही है। लेकिन पार-साल जब हम दक्षिण भारत गये थे तो वहाँ एक जगह इन लोगो की छोटी-सी बस्ती देखकर मुझे बहुत ताज्जुब हुआ था। तुम्हें याद है न? इनके बिशप ने हम लोगो को चाय पिलाई थी। वह बूढा आदमी बहुत खुश-मिजाज था।

ईसाइयत को चीन पहुँचने मे कुछ दिन लगे। लेकिन इस्लाम ज्यादा तेजी से आया। वास्तव मे इस्लाम नेस्तोरियनो के आने के कुछ साल पहले और अपने पैगम्बर की ज़िन्दगी मे ही वहाँ पहुँच गया था। चीन के सम्राट् ने मुसलमानो और नेस्तोरियनो दोनो के राजदूत-मण्डलो का बडी विनय के साथ स्वागत किया था, और उनकी बातो को ध्यान से सुना था। उसने उनके विचारो की कद्र की और दोनो के साथ एक-सी उदारता का व्यवहार किया। अरबो को कैंटन मे मस्जिद बनाने की इजाज़त दी गई। यह मस्जिद अभी तक मौजूद है, हालांकि इसे बने तेरह सौ वर्ष हो गये। यह दुनिया की सबसे पुरानी मस्जिदो मे है।

इसी तरह ताङ-सम्राट् ने गिरजाघर और ईसाई मठ बनाने की इजाजत दी। चीन के इस उदार बर्ताव मे और उस जमाने के यूरोप की असहिष्णुता मे कितना बडा फर्क नजर आता है!

कहते हैं कि अरबो ने कागज़ बनाने का हुनर चीनियो से सीखा और फिर यूरोप को सिखाया। ७५१ ई० मे मध्य एशिया के तुर्किस्तान मे चीनियो और मुसलमान अरबो के बीच एक लडाई हुई। अरबो ने कुछ चीनियो को कैद कर लिया और इन कैदियो ने अरबो को कागज़ बनाना सिखाया।

ताङ-वश तीन सौ वर्ष यानी ९०७ ई० तक रहा। कुछ लोगो का खयाल है

कि ये तीन सौ वर्ष चीन का सबसे महान् युग है, जब केवल संस्कृति ही ऊँचे दर्जे पर नही थी, बल्कि जनता भी सब तरह से बहुत सुखी थी। बहुत-सी बातें जो पश्चिम को बहुत दिनो बाद मालूम हुई, चीनियो को उस समय मालूम थी। कागज़ का ज़िक्र तो मैं कर ही चुका हूँ। दूसरी ऐसी ही चीज बारूद थी। चीनी बडे अच्छे इजीनियर भी हुआ करते थे। आम-तौर से, और करीब-करीब हरेक बातो मे, ये लोग यूरोप से बहुत आगे बढे हुए थे। अगर ये लोग इतने आगे बढे हुए थे तो बाद मे ये अगुआ क्यो नही बने रह सके, और विज्ञान के नये-नये आविष्कारो मे उन्होंने यूरोप को राह क्यो नही दिखाई? यूरोप ने धीरे-धीरे इन्हे पकड लिया—जैसे कोई जवान किसी बुड्ढे को जा पकडता है—और कम-से-कम कुछ बातो मे तो उनसे आगे बढ ही गया। राष्ट्रो के इतिहास मे इस तरह की बातें क्यो हो जाती हैं, यह दार्शनिको के विचार के लिए एक कठिन सवाल है। चूंकि अभी तक तुम इस सवाल से परेशान होनेवाले दार्शनिको की तरह नही हो, इसलिए मुझे भी परेशान होने की कोई ज़रूरत नही है।

इस काल मे चीन की महानता का कुदरती तौर पर एशिया के बाकी हिस्सो पर बहुत असर पडा, जो कला और सभ्यता के मामले में रास्ता दिखाने के लिए चीन की तरफ देखते रहते थे। गुप्त साम्राज्य के बाद भारत का सितारा बहुत तेजी से नहीं चमक रहा था। जैसा हमेशा होता है, चीन मे उन्नति और सभ्यता ने लोगो को बहुत ज्यादा विलासी और आराम-पसन्द बना दिया। राज्य मे भ्रष्टाचार घुस गया और इसकी वजह से भारी टैक्स लगाना ज़रूरी हो गया। नतीजा यह हुआ कि लोगो ने ताङ-वश से तग आकर उसे खत्म कर दिया।

## ४२ :

# चोसेन और दाई निप्पौन

८ मई, १९३२

ज्यो-ज्यो हमारी दुनिया की कहानी आगे बढती जायगी, नये-नये देश हमारी निगाह मे आते जायेंगे। इसलिए हमे कोरिया और जापान पर एक नजर डाल लेनी चाहिए, जो चीन के नज़दीकी पडौसी है और बहुत-सी बातो मे चीनी सभ्यता की सन्ताने है। ये देश एशिया के बिलकुल सिरे पर, सुदूरपूर्व मे हैं, और इनके पार प्रशान्त महासागर फैला हुआ है। कुछ दिनो पहले तक अमेरिका महाद्वीप से इनका कोई सम्पर्क नही था, इनका सम्पर्क सिर्फ एशिया के महान् राष्ट्र चीन से ही था। उन्होंने चीन से या चीन के मार्फत ही धर्म, कला और सभ्यता हासिल की। कोरिया और जापान को चीन की बहुत बडी देन है, और कुछ हद तक वे भारत

के भी देनदार हैं। लेकिन भारत से इन्होने जो कुछ पाया वह चीन के माफ़ंत और चीनी भावनाओ मे रँगा हुआ ही पाया।

कोरिया और जापान दोनो की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि एशिया मे या और जगह होनेवाली बडी-बडी घटनाओं से इनका कोई सम्बन्ध नही रहा। घटनाओ के केन्द्र मे ये दूर थे—कुछ हद तक दोनो, खासकर जापान, खुशकिस्मत थे। इसलिए मौजूदा ज़माने से पहले तक के इनके इतिहास की हम बगैर किसी कठिनाई के उपेक्षा कर सकते हैं। ऐसा करने मे एशिया के बाकी हिस्सो की घटनाओ को समझने मे कोई ज्यादा फर्क नही आयेगा। लेकिन यह जरूरी नही कि हम इन्हें बिलकुल ही छोड दें जिस तरह कि हमने मलेशिया और पूर्वी टापुओं के पुराने इतिहास को नही छोडा। बेचारा छोटा-सा देश कोरिया आज बिल्कुल भूला दिया गया है। जापान ने इसे हडप लिया है और अपने साम्राज्य का एक हिस्सा बना लिया है। लेकिन कोरिया अब आज़ादी के सपने देखता है और स्वाधीनता के लिए छटपटाता है। आजकल जापान की बहुत चर्चा है और चीन पर उसके हमलो के समाचारो से अख़बार भरे रहते हैं। इस वक्त भी, जब तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूँ, मचूरिया मे एक तरह का युद्ध छिडा हुआ है। इसलिए अगर हम कोरिया और जापान का कुछ पिछला इतिहास जान लें तो अच्छा ही है। इससे हाल की बातें समझने मे मदद मिलेगी।

पहली बात, जो हमे याद रखनी चाहिए, वह यह है, कि ये दोनो देश लम्बे ज़मानो तक दुनिया से अलग-थलग रहे है। वास्तव मे जापान का सबसे अलग-थलग रहना और हमलो से बरी रहना उसके इतिहास की एक खास बात है। इसके सारे इतिहास मे इसपर हमला करने की बहुत ही कम कोशिशें हुई और उनमे से एक भी कामयाब नही हुई। अभी तक इसकी सारी परेशानियाँ अन्दरूनी झगडो के कारण ही रही हैं। कुछ दिनो के लिए तो जापान ने अपने-आपको सारी दुनिया से बिलकुल ही अलग कर लिया था। किसी जापानी का देश से बाहर जाना या किसी विदेशी का, यहाँतक कि चीनी का भी, जापान मे पैर रखना बहुत मुश्किल बात थी। यह रोक इसलिए लगाई गई थी कि जापानी लोग अपने को यूरोप के विदेशियो से और ईसाई प्रचारको से बचाना चाहते थे। यह एक खतरनाक और बेवकूफी का काम था, क्योंकि इसका अर्थ था सारी कौम को कैदखाने मे बन्द कर देना और बाहर के अच्छे या बुरे प्रभावो से उसे दूर रखना। लेकिन फिर जापान ने एकदम दरवाजे और खिडकियाँ खोल दी, और यूरोप जो-कुछ सिखा सकता था, उस सबको सीखने के लिए बाहर दौड पडा। और उसने यह सब इतनी अच्छी तरह सीखा कि एक या दो पीढियो मे ही वह ऊपर से एक यूरोपीय देश के समान बन गया, और उसने उनकी बुरी आदतो की भी नकल कर ली। ये सब बातें पिछले सत्तर-अस्सी वर्षों मे हुई हैं।

—

कोरिया का इतिहास चीन के इतिहास से बहुत पीछे शुरू होता है और जापान का इतिहास कोरिया के भी बहुत दिन बाद। मैंने तुम्हें पार-साल अपने एक पत्र मे लिखा था कि की-त्से नामक एक निर्वासित चीनी ने, जिसे चीन मे राज-वश का बदल जाना नापसन्द था, अपने पाँच हज़ार साथियो के साथ पूर्व की तरफ कूच कर दिया था। वह कोरिया मे जा बसा और इस देश का नाम उसने 'चोसेन' यानी 'सुबह की शान्ति का देश' रख दिया। यह ई० पू० ११२२ की बात है। की-त्से अपने साथ चीनी कला और कारीगरी, खेती के तरीके और रेशम बनाने का हुनर वहाँ ले गया, नौ सौ से भी अधिक वर्षों तक की-त्से के वशज चोसेन मे राज करते रहे। चीन से निकले हुए लोग समय-समय पर चोसेन मे बसने के लिए आते रहे और चीन के साथ इसका अच्छा-खासा सम्पर्क बना रहा।

जब शी-ह्वाङ-ती चीन का सम्राट् था, तब चीनियो का एक बडा जत्था कोरिया आया था। तुम्हे शायद इस चीनी सम्राट् का नाम याद होगा, जो अशोक का समकालीन था। यह वही व्यक्ति है, जिसने 'प्रथम सम्राट्' की उपाधि धारण की थी और सब पुराने ग्रन्थ जलवा दिये थे। शी-ह्वाङ-ती के अत्याचारी तरीको से तग आकर बहुत-से चीनियो ने कोरिया मे आश्रय लिया और की-त्से के कमजोर वशजो को मार भगाया। इसके बाद चोसेन कई छोटे राज्यो मे बँट गया, और आठ सौ वर्षों से ज्यादा तक यही हालत बनी रही। ये राज्य अक्सर आपस मे लडा करते थे। एक दफा इन राज्यो मे से एक ने चीन की मदद माँगी। इस तरह की मदद माँगना खतरनाक ही हुआ करता है। मदद आई जरूर, लेकिन उसने वापस जाने से इन्कार कर दिया। ताकतवर मुल्को का यही ढग होता है। चीन वहाँ डट गया और उसने चोसेन के कुछ हिस्से को अपने साम्राज्य मे मिला लिया। चोसेन का बाकी हिस्सा भी कई सौ वर्षों तक चीन के ताङ-सम्राटो की प्रभुता कबूल करता रहा।

९३५ ई० मे चोसेन एक स्वाधीन सयुक्त राज्य बन गया। इस सयुक्त राज्य की स्थापना मे सफल होनेवाला व्यक्ति वाङ-कीयन था और इसके उत्तराधिकारियो ने ४५० वर्ष तक इस राज्य पर शासन किया।

मैंने दो तीन पैरो मे तुम्हे कोरिया के इतिहास के दो हजार वर्षों का हाल बता दिया। याद रखने की बात यह है कि कोरिया को चीन की बहुत बडी देन है। लिखने की कला यहाँ चीन से आई। एक हज़ार वर्ष तक कोरियावालो ने चीनी लिपि काम मे ली। तुम जानती हो कि चीन की लिपि मे अक्षर नही, बल्कि विचारो, शब्दो और पदो के चिह्न होते हैं। इसके बाद कोरियावालो ने इस लिपि से एक खास लिपि निकाली, जो उनकी भाषा के लिए ज्यादा उपयुक्त थी।

बौद्ध-धर्म चीन होकर यहाँ आया और कनफ्यूशियस की दार्शनिक विचार-

धारा भी चीन से ही आई। भारतीय कला का प्रभाव चीन होकर कोरिया और जापान पहुँचा। कोरिया मे कला की, खासकर मूर्ति-कला की, बहुत सुन्दर कृतियाँ बनी। इनकी इमारतें बनाने की कला चीनियों से मिलती-जुलती थी। जहाज़ बनाने के काम मे भी बडी तरक्की हुई। यहाँतक कि एक बार कोरियावालो के पास एक शक्तिशाली जलसेना हो गई, जिससे उन्होंने जापान पर हमला कर दिया।

शायद मौजूदा जापानियो के पुरखे कोरिया या चोमेन से ही आये थे। सम्भव है, इनमे से कुछ लोग दक्षिण से यानी मलेशिया से आये हो। तुम जानती हो कि जापानी लोग मगोली नस्ल के है। जापान मे अब भी कुछ लोग हैं, जिन्हे आइनस कहते हैं और जो जापान के आदिम निवासी समझे जाते हैं। ये लोग गोरे हैं, और इनके शरीर पर बाल भी ज्यादा होते हैं। साधारण जापानियो से ये बिलकुल जुदे हैं। ये आइनस लोग टापू के उत्तरी हिस्से मे धकेल दिये गए हैं।

हम देखते हैं कि २०० ई० के करीब जिगो नाम की एक सम्राज्ञी यामातो राज्य की शासक थी। यामातो जापान का या उसके उस हिस्से का असली नाम है, जहाँ ये प्रवासी आकर बसे थे। इस रानी का जिगो नाम याद रखने की चीज है। जापान के एक सबसे पहले शासक का यह नाम होना एक अनोखा सयोग है। अग्रेजी भाषा मे जिगो शब्द का एक खास अर्थ हो गया है। इसका अर्थ है डीग मारने और शेखी बघारनेवाला साम्राज्यवादी। इसे सिर्फ साम्राज्यवादी भी कह सकते हैं, क्योकि हरेक साम्राज्यवादी थोडा-बहुत डीगी और शेखीबाज होता ही है। जापान भी आज साम्राज्यवाद या जिगोवाद के इस रोग मे फँसा हुआ है और हाल ही मे इसने चीन और कोरिया के साथ बहुत बुरा बर्ताव किया है। इसलिए जापान के पहले ऐतिहासिक राजा का नाम जिगो होना एक अनोखी बात है।

यामातो ने कोरिया के साथ अपना गहरा सम्बन्ध बनाये रक्खा और कोरिया के मार्फत ही यामातो मे चीनी सभ्यता पहुँची। चीन की भाषा और लिपि भी ४०० ई० के करीब कोरिया होकर वह पहुँची थी, और इसी तरह बौद्ध-धर्म भी कोरिया से ही यहाँ आया था। ५५२ ई० मे पाकचे (कोरिया के तीन राज्यो मे से एक राज्य) के राजा ने यामातो के राजा के पास बुद्ध की एक सोने की मूर्ति और कुछ धर्म-ग्रन्थो के साथ बौद्ध धर्म-प्रचारक भेजे थे।

जापान का पुराना मजहब शिन्तो था। शिन्तो चीनी शब्द है। इसका अर्थ है, 'देवताओ का मार्ग'। यह मजहब प्रकृति-पूजा और पुरखो की पूजा का मेल था। यह परलोक का या रहस्यो और समस्याओ की बातों से दूर है। यह योद्धाओ की जाति का मजहब था। जापानी लोग चीनियो के इतने नजदीक, और अपनी सभ्यता के लिए चीन के इतने देनदार होते हुए भी चीनियो से बिलकुल भिन्न हैं। [illegible]नी लोग स्वभाव से [illegible] [illegible]न्त। रहे हैं, और आज भी हैं। उनकी सारी सभ्यता

और जीवन-दर्शन शान्तिमय हैं। इसके खिलाफ जापानी एक लड़ाकू कौम रहे हैं, और आज भी हैं। वहां सिपाही का असली गुण यह माना जाता है कि वह अपने नेता और अपने साथियो के प्रति वफादार हो। जापानी लोगो मे यह गुण बराबर रहा है, और उसके बल का बहुत कुछ यही कारण है। शिन्तो इसी गुण पर जोर देता था—"देवताओ का सम्मान करो, और उनके वशजो के प्रति वफादार रहो"—और इसीलिए शिन्तो आज तक जापान मे जीवित है, और बौद्ध-धर्म के साथ-साथ मौजूद है।

लेकिन क्या यह गुण है? साथी या किसी उद्देश्य के प्रति वफादार होना जरूर एक गुण है। लेकिन शिन्तो या दूसरे मजहबो ने अक्सर लोगो की वफादारी से बेजा फायदा उठाने की कोशिश की है, जिससे उनपर शासन करनेवाले एक खास गिरोह के लोगों को फायदा पहुँचे। जापान मे और रोम वगैरा मे यही सिखाया गया कि सत्ता की पूजा करो। और तुम आगे चलकर देखोगी कि इससे सबको कितना नुकसान पहुंचा है।

नया बौद्ध-धर्म जब जापान मे पहुंचा, तो पुराने शिन्तो से उसकी कुछ टक्कर हुई। लेकिन जल्दी ही दोनो साथ-साथ रहने लग गये और आज तक रह रहे हैं। शिन्तो अब भी बौद्ध-धर्म से ज्यादा लोकप्रिय है, और शासक-वर्ग इसे प्रोत्साहन भी देता है, क्योकि वह वफादारी और फरमाबरदारी सिखाता है। बौद्ध-धर्म इससे कुछ खतरनाक है, क्योकि उसका सस्थापक खुद विद्रोही था।

जापान की कला का इतिहास बौद्ध-धर्म के साथ शुरू होता है। तभी जापान या यामातो ने चीन के साथ सीधे सम्पर्क बढाना शुरू किया था। जापान से चीन को बराबर राजदूत-मण्डल जाते रहते थे, खासकर ताङ-काल मे, जबकि चीन की राजधानी सी-आन-फू सारे पूर्वी एशिया मे मशहूर थी। जापानियो यानी यामातो-वालो ने खुद एक नई राजधानी नारा के नाम से कायम की और इसे सी-आन-फू की हू-ब-हू नकल बनाने का प्रयत्न किया। मालूम होता है जापानियो मे दूसरो की नकल उतारने और अनुकरण करने की अजीब क्षमता हमेशा से रही है।

सारे जापानी इतिहास मे हम बडे-बडे परिवारो को एक-दूसरे का विरोध करते और अधिकार के लिए झगडते देखते हैं। दूसरी जगहो पर भी पुराने जमाने मे तुम्हें ऐसी ही बाते मिलेगी। इन परिवारो मे पुरानी कुल-भावना जमी हुई थी, इसलिए जापान का इतिहास खासतौर पर परिवारो की आपसी होड की कहानी है। इनका सम्राट् मिकादो सर्वशक्तिमान, निरकुश, आधा दैवी और सूर्य का वशज माना जाता है। शिन्तो ने और पुरखो की पूजा ने जनता से सम्राट् की निर-कुशता कबूल कराने मे बहुत मदद दी और उसे देश के शक्तिशाली लोगो को आज्ञाकारी बना दिया। लेकिन जापान मे सम्राट् खुद बहुत करके कठपुतली की

तरह रहा है और उसके हाथ मे कोई असली ताकत नही रही है। सारी शक्ति और सत्ता किसी बडे परिवार या कुल के हाथ मे रही है, जो राजाओ के विधाता थे और अपनी मरजी के राजा और सम्राट् बनाया करते थे।

जापान के इतिहास मे जो बडा परिवार सबसे पहले राज्य की बागडोर सभालना दिखाई देता है, वह सोगा-परिवार है। जब इन लोगो ने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया, तभी वह दरबारी और सरकारी धर्म बन गया। इस परिवार का एक नेता शोतूकू ताइशी जापानी इतिहास का एक महान् व्यक्ति हुआ है। यह एक सच्चा बौद्ध और प्रतिभाशाली कलाकार था। चीन के कनफ्यूशियन ग्रन्थो से इसने अपने विचार लिये थे और ऐसी सरकार बनाने की कोशिश की जिसकी बुनियाद सिर्फ बल पर नही, बल्कि नैतिकता पर रक्खी गई हो। जापान में उन दिनो ऐसे कुलो की भरमार थी, जिनके सरदार बिलकुल स्वाधीन थे। ये लोग आपस मे लडते थे और किसी की हुकूमत नही मानते थे। सम्राट् अपनी लच्छेदार उपाधि के होते हुए भी सिर्फ किसी बडे कुल का सरदार होता था। शोतूकू ताइशी ने इस हालत को बदलने और केन्द्रीय सरकार को मजबूत बनाने की कोशिश शुरू कर दी। इसने बहुत-से कुलीन सरदारो और अमीरो को 'ताबेदार' या सम्राट् के मातहती बना दिया। यह ६०० ई० के लगभग की बात है।

लेकिन शोतूकू ताइशी की मृत्यु के बाद सोगा-परिवार हटा दिया गया। थोडे दिन बाद एक दूसरा व्यक्ति, जो जापानी इतिहास में बहुत मशहूर है, सामने आता है। इसका नाम काकातोमी-नो-कामातोरी था। इसने शासन-व्यवस्था मे हर तरह के परिवर्तन किये और बहुत-से चीनी तौर-तरीके वैसे-के-वैसे अपना-लिये। लेकिन उसने चीन की निराली बात की, यानी सरकारी कर्मचारियो को नियुक्त करने की परीक्षा-प्रणाली की नकल नही की। सम्राट् की हैसियत अब एक कुल के सरदार से बहुत ऊँची हो गई और केन्द्रीय सरकार बहुत मजबूत हो गई।

इसी काल मे नारा राजधानी बनी। लेकिन यह राजधानी थोडे ही दिन रही। ७९४ ई० मे क्योतो राजधानी बनी और करीब ग्यारह सौ वर्षों तक रही। अब कुछ ही वर्ष हुए तोक्यो (टोकियो) ने उसकी जगह ले ली है। तोक्यो एक बहुत बडा आधुनिक शहर है, लेकिन वह क्योतो ही है, जो हमे जापान की आत्मा का कुछ परिचय कराती है, क्योंकि उसके साथ एक हजार वर्षों की यादगारे जुडी हुई हैं।

काकातोमी-नो-कामातोरी फूजीवारा वश का सस्थापक हुआ। इस वश ने आगे चलकर जापानी इतिहास मे बहुत बडा भाग लिया। इस वश के लोगो ने दो सौ वर्ष राज किया, और सम्राटो को अपने हाथ की कठपुतली बनाये रक्खा और बहुत बार अपने कुल [illegible] से शादी करने के लिए उन्हें मजबूर किया।

इन्हें दूसरे परिवारो के योग्य आदमियो का इतना डर रहता था कि उन्हे जबर्दस्ती मठो मे दाखिल करा दिया जाता था।

जब राजधानी नारा मे थी तब चीन के सम्राट् ने जापानी शासक के पास एक सन्देश भेजा, जिसमे उसे 'ताई-नीह-पुङ कोक' यानी 'महान् सूर्योदय राज्य' का सम्राट् कहकर सम्बोधित किया गया था। जापानियो को यह नाम बहुत पसन्द आया। यामातो के मुकाबले मे यह कही ज्यादा शानदार था, इसलिए ये लोग अपने देश को 'दाई निप्पौन', यानी 'सूर्योदय का देश' कहने लगे और अभी तक अपने देश के लिए उनका यही नाम है। जापान शब्द 'निप्पौन' से अजीब तरीके पर बिगडकर बना है। छ सौ वर्ष बाद एक महान् इतालवी यात्री, मार्को पोलो, चीन गया। यह जापान तो नही गया, लेकिन इसने अपनी यात्रा-पुस्तक मे जापान का हाल लिखा है। इससे चीन मे नीह-पुङ-कोक नाम सुना था। इसने अपनी पुस्तक मे इसे 'चिपङ्गो' लिखा और इसीसे जापान शब्द निकला।

क्या मैंने तुम्हे बताया है, या तुम्हे मालूम है, कि हमारा देश इण्डिया और हिन्दुस्तान क्यो कहलाने लगा ? ये दोनो नाम इन्दु या सिन्धु नदी के नाम से निकले हैं, जो इस तरह 'हिन्दुस्तान की नदी' बन गई। सिन्धु से यूनानी लोगो ने हमारे देश को 'इन्दो' कहा और इसीसे 'इण्डिया' बना। सिन्धु मे ही ईरानियो ने हिन्दू शब्द बनाया और उसीसे हिन्दुस्तान बना।

## ४३ .

## हर्षवर्धन और ह्यूएनत्सांङ

११ मई, १९३२

अब हम फिर भारत वापस चलेंगे। हूणो की हार हो चुकी थी और वे पीछे हटा दिये गए थे। लेकिन बहुत-से हूण इधर-उधर कोनो मे बचे रह गये थे। बालादित्य के बाद महान् गुप्त राज-वश खत्म हो गया और उत्तर भारत मे बहुत-से रजवाडे और राज्य बन गये। दक्षिण मे पुलिकेशी ने चालुक्य-साम्राज्य कायम कर लिया था।

कानपुर से थोडी दूर कन्नौज का छोटा-सा कस्बा है। कानपुर आजकल एक बडा शहर है। लेकिन अपने कारखानो और चिमनियो की वजह से बदसूरत हो गया है। कन्नौज एक मामूली जगह है, जो गाँव से कुछ ही बडा होगा। लेकिन जिस जमाने का जिक्र मैं कर रहा हूँ, उस जमाने मे कन्नौज एक बडी राजधानी था, और अपने कवियो, कलाकारो और दार्शनिको के लिए मशहूर था। कानपुर तब पैदा ही नही हुआ था और न कई सौ वर्षों बाद तक पैदा होनेवाला था।

कन्नौज आजकल का नाम है। पर इसका असली नाम कान्यकुब्ज यानी 'कुबडी कन्या' है। कथा है कि किसी प्राचीन ऋषि ने अपना अपमान हुआ जानकर गुस्से मे एक राजा की सौ कन्याओ को शाप दे दिया था, जिससे वे कुबडी हो गई थी। उस समय से यह शहर, जहां ये कन्याएं रहती थी, 'कुबडी कन्याओ का नगर' यानी कान्यकुब्ज कहलाने लगा।

लेकिन सक्षेप मे हम इसे कन्नौज ही कहेगे। हूणो ने कन्नौज के राजा को मार डाला और उसकी रानी राज्यश्री को कैद कर लिया। राज्यश्री का भाई राजवर्धन अपनी बहन को छुडाने के लिये हूणो से लडने आया। उसने हूणो को तो हरा दिया, लेकिन खुद धोखे से मारा गया। इस पर उसका छोटा भाई हर्ष-वर्धन अपनी बहन राज्यश्री की तलाश मे निकला। यह बेचारी किसी तरह से निकल कर पहाडो मे जा छिपी थी, और अपनी मुसीबतो से परेशान होकर उसने आत्म-हत्या का निश्चय कर लिया था। कहते हैं कि वह जलने जा ही रही थी कि हर्ष ने उसे ढूंढ लिया और बचा लिया।

अपनी बहन को पाने और बचाने के बाद हर्ष ने पहला काम यह किया कि उस नीच राजा को, जिसने उसके भाई को धोखे से मार डाला था, सजा दी। उसने सिर्फ इस नीच राजा को ही सजा नही दी, बल्कि सारे उत्तर भारत को, बगाल की खाडी से अरब समुद्र तक, और दक्षिण मे विन्ध्याचल तक, जीत लिया। विन्ध्याचल के बाद चालुक्य साम्राज्य था और हर्ष को यहाँ रुकना पडा।

हर्षवर्धन ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। वह खुद कवि और नाटक-कार था, इसलिए उसके दरबार मे कवि और कलाकार जमा हो गये और कन्नौज एक मशहूर शहर हो गया। हर्ष पक्का बौद्ध था। इस समय बौद्ध-धर्म, एक अलग धर्म की हैसियत से, भारत मे बहुत कमजोर पड चुका था। ब्राह्मण इसे हजम करते जा रहे थे। हर्ष भारत का आखिरी महान् बौद्ध-सम्राट् हुआ है।

हर्ष के राज-काल मे हमारा पुराना मित्र ह्यूएनत्साङ[1] भारत आया था और उसकी यात्रा-पुस्तक मे, जो उसने भारत से लौटकर लिखी थी, भारत का और मध्य-एशिया के उन देशो का, जिनमे होकर वह भारत आया था, बहुत-कुछ हाल मिलता है। ह्यूएनत्साङ एक धर्मपरायण बौद्ध था और वह बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानो की यात्रा करने और इस धर्म की पुस्तकें अपने साथ ले जाने के लिए भारत आया था। यह गोबी के रेगिस्तान को पार करके आया था, और रास्ते मे उसने ताश-कन्द, समरकन्द, बल्ख, खुतन, यारकन्द, वगैरा कई मशहूर शहरो को देखा था। वह सारे भारत मे घूमा और शायद लका भी गया था। इसकी पुस्तक एक अजीब

---

[1] ह्यूएनत्सांङ—इसे लोग युयेन-चॅङ, युआङ-च्वांग या ह्वान-त्सांङ के नाम से भी पुकारते हैं।

और विस्तारपूर्ण कहलाता है, जिसमें उन देशों का सही-सही चित्रण है, जहां-जहां वह गया था, भारत के अलग-अलग भागों के निवासियों के विस्मय-जनक चरित्र-चित्र हैं, जो आज भी सही मालूम होते हैं; अद्भुत कहानियां हैं, जो उसने वहां सुनी थीं, और बुद्ध तथा बोधिसत्वों के चमत्कारों की अनेक कथाएं हैं। ह्यूएनत्सांग की लिखी उस बड़े अक्लमन्द आदमी की मजेदार कहानी, जो अपने पेट के चारों तरफ तांबे के पत्तर कसे फिरता था, मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूं।

ह्यूएनत्सांग ने बहुत वर्ष भारत में बिताये, खासकर नालन्दा के विश्व-विद्यालय में, जो पाटलिपुत्र के पास था। कहते हैं कि नालन्दा में, जो मठ और विश्वविद्यालय दोनों था, दस हजार विद्यार्थी और भिक्षु रहा करते थे। यह बौद्ध शिक्षा का बड़ा केन्द्र था और ब्राह्मण-शिक्षा के गढ़ बनारस का प्रतिस्पर्धी था।

मैंने एक बार तुमसे कहा था कि पुराना भारत 'इन्दु-देश' यानी चन्द्रमा का देश कहलाता था। ह्यूएनत्सांग भी इस बात का जिक्र करता है और बतलाता है कि यह नाम कितना उपयुक्त है। चीनी भाषा में भी चन्द्रमा को 'इन-तू' कहते हैं। इसलिए अगर तुम चाहो तो अपना चीनी नाम[1] भी रख सकती हो।

ह्यूएनत्सांग ६२९ ई० में भारत आया। चीन से जब उसने अपनी यात्रा शुरू की तो उसकी उम्र २६ साल की थी। एक पुरानी चीनी पुस्तक में लिखा है कि ह्यूएनत्सांग रूपवान और लम्बे कद का था। "उसका रंग मनोहर और आंखें चमकदार थीं; चाल-ढाल गम्भीर और राजसी थी और उसके चेहरे से आकर्षण और तेज बरसता था। ...उसमें पृथ्वी को घेरनेवाले विशाल समुद्र जैसी शान थी, और जल में पैदा होनेवाले कमल-जैसी गम्भीरता और चमक थी।"

बौद्ध-भिक्षु का गेरुआ बाना पहनकर यह अकेला अपनी जबर्दस्त यात्रा पर चल पड़ा, हालांकि चीनी सम्राट् ने उसे इजाजत नहीं दी थी। उसने गोबी का रेगिस्तान पार किया और जब यह सब कठिनाइयां झेलकर तुर्फान के राज्य में पहुंचा, जो इस रेगिस्तान के किनारे पर ही था, तो सिर्फ उसकी जान ही बाकी थी। तुर्फान का रेगिस्तानी राज्य संस्कृति का छोटा-सा अजीब नखलिस्तान[2] था। आज यह एक वीरान जगह है, जहां पुरातत्त्ववेत्ता और प्राचीन इतिहास-वेत्ता पुराने खण्डहरों की तलाश में जमीन खोदते फिरते हैं। लेकिन सातवीं सदी में जब ह्यूएनत्सांग यहां से गुजरा था, तब तुर्फान जीवन और ऊंचे दर्जे की संस्कृति से भरपूर था। इसकी संस्कृति में भारत, चीन, ईरान और कुछ अंशों में यूरोप की संस्कृतियों का निराला मेल पाया जाता था। यहां बौद्ध-धर्म का प्रचार था

---

[1] इन्दिरा का प्यार का नाम 'इन्दु' है।

[2] नखलिस्तान—रेगिस्तान में हरी-भरी जगह।

और सस्कृत के मार्फत भारतीय प्रभाव भी साफ दिखाई देता था। फिर भी लोगो का रहन-सहन ज्यादातर चीन और ईरान से लिया हुआ था। ख़याल हो सकता है कि यहा के निवासियो की भाषा मगोली होगी, लेकिन यह मगोली न होकर भारोपीय[1] थी, और यूरोप की केल्टिक[2] भाषाओ से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। इससे भी ज्यादा अचम्भे की बात यह है कि यहाँ पत्थर की दीवारो पर जो चित्र खुदे हैं, उनकी आकृतियाँ यूरोपीय लोगो जैसी हैं। दीवारो पर खुदे हुए बुद्ध और बोधिसत्वो, देवियो और देवताओ के ये चित्र बडे ही सुन्दर है। देवियो की मूर्तियाँ या तो भारतीय पोशाक मे हैं, या उनके मुकुट और पोशाक यूनानी है। फ्रान्स के कला-मर्मज्ञ एम० ग्राउज़े का कहना है कि "इन चित्रो मे हिन्दू सुकुमारता, यूनानी अभिव्यजना और चीनी कमनीयता का बहुत ही सुन्दर मेल पाया जाता है।"

तुरफान अब भी है और तुम इसे नकशे मे देख सकती हो। लेकिन अब यह कोई महत्त्व की जगह नही है। कितने ताज्जुब की बात है कि इतने दिन पहले, सातवी सदी मे, सस्कृति की भरपूर धाराएँ दूर-दूर के देशो से आकर इस जगह मिली, और मिलकर एकरस हो गई।

तुरफ़ान से ह्यूएनत्साङ कूचा गया। यह उस जमाने मे मध्य-एशिया का एक दूसरा मशहूर केन्द्र था, जिसकी सभ्यता शानदार व चमक-दमकवाली थी। और जो अपने प्रसिद्ध गायको और स्त्रियो की सुन्दरता के लिए खासतौर पर मशहूर था। इस देश के धर्म और कला भारत की देन थी। ईरान इसे सस्कृति और व्यापारी माल देता था और इसकी भाषा सस्कृत, पुरानी फारसी, लातीनी और केल्टिक से मिलती-जुलती थी। यह भी एक दिल लुभानेवाली मिलावट थी।

इसके बाद ह्यूएनत्साङ तुर्कों के मुल्क से होकर गुजरा, जहाँ का 'महान खान' जो बौद्ध था, मध्य-एशिया के ज्यादातर हिस्से पर शासन करता था। इसके बाद वह समरकन्द पहुँचा, जो उस समय भी एक प्राचीन शहर माना जाता था और जिसके साथ सिकन्दर की यादगार जुडी हुई थी, क्योकि करीब एक हजार वर्ष पहले सिकन्दर यहाँ से होकर गुजरा था। फिर वह बलख गया और वहाँ से काबुल नदी का काँठा पार कर कश्मीर होता हुआ भारत आया।

---

[1] भारोपीय—Indo-European अर्थात् भारतीय-यूरोपीय का सयुक्त-पद।

[2] केल्टिक (Celtic)—कई भाषाओं का एक समूह, जो इण्डो-यूरोपियन समूह से सम्बन्ध रखती है और अब प्रधानत ब्रिटनी वेल्स, पश्चिमी आयर्लेण्ड तथा स्काटलैण्ड के ऊंचे इलाक़ों मे बोली जाती हैं। सिमरिक और गेयलिक नामक इसकी दो शाखाएँ हैं। यह मध्यकाल मे गद्य पद्य के प्रचुर साहित्य से समृद्ध थी। रूप और भावों मे आरम्भिक केल्टिक बहुत-कुछ लेटिन और ग्रीक से मिलती-जुलती थी।

यह चीन के तांग-राजवंश के शुरू का जमाना था जब चीन की राजधानी सी-आन-फू कला और शिक्षा का केन्द्र थी और सभ्यता में चीन दुनिया के सब देशों के आगे था। इसलिए तुम्हें याद रखना चाहिए कि ह्यु एन-त्सांग बहुत ऊंची सभ्यता के देश से आया था, और तुलना करने के लिए उसके पैमाने काफी ऊंचे रहे होंगे। इसीलिए भारत की हालतों के बारे में उसका बयान बहुत महत्वपूर्ण और कीमती है। उसने भारतवासियों की और भारत के शासन की बहुत तारीफ की है। वह कहता है—

> "हालांकि भारत के साधारण लोग स्वभाव से तेज-मिजाज होते हैं, फिर भी वे ईमानदार और इज्जतदार हैं। रुपये-पैसे के मामलों में वे मक्कार नहीं हैं और न्याय करने में दयाशील हैं। उनके आचरण में न धोखेबाजी है, न विश्वासघात, और ये लोग अपनी कसमों और वादों के पक्के हैं। शासन के नियमों में सिद्धान्तों पर आग्रह विशेषता रखता है, जबकि इसके व्यवहार में सज्जनता और मिठास ज्यादा रहती है। अपराधियों और विद्रोहियों की संख्या यहां बहुत ही कम है और कभी-कभी ही परेशान करती है।"

> वह आगे लिखता है—"चूंकि सरकारी शासन का आधार उदार सिद्धान्तों पर है, इसलिए शासन का ढांचा पेचीदा नहीं है। . लोगों से बेगार नहीं ली जा सकती।" "इस तरह लोगों पर करों का बोझ हल्का है और हरेक व्यक्ति से मामूली काम लिया जाता है। हरेक आदमी अपनी सांसारिक सम्पत्ति का शान्ति से उपभोग करता है, और सभी लोग अपनी रोजी के लिए जमीन जोतते हैं। जो लोग राजा की जमीनों पर खेती करते हैं, उन्हें उपज का छठा हिस्सा लगान में देना पड़ता है। वाणिज्य करनेवाले व्यापारी अपने काम-धन्धों के लिए इधर-उधर आते-जाते हैं, और इस तरह सब काम चलते रहते हैं।"

ह्यु एनत्सांग ने देखा कि जनता के लिए शिक्षा की अच्छी व्यवस्था थी और बच्चों की शिक्षा जल्दी शुरू कर दी जाती थी। पहली पोथी खतम करने के बाद लड़के या लड़की को सात वर्ष की उम्र में ही पांच शास्त्रों की पढ़ाई शुरू कर दी जाती थी। आजकल शास्त्र का मतलब सिर्फ धर्म-पुस्तक समझा जाता है। लेकिन उस समय शास्त्र का मतलब सब तरह का ज्ञान था। वे पांच शास्त्र ये थे—(१) व्याकरण, (२) कला-कौशल का शास्त्र, (३) आयुर्वेद, (४) न्याय (तर्कशास्त्र) और (५) दर्शन। इन विषयों की पढ़ाई विश्वविद्यालय में होती थी और साधारण तौर पर तीस साल की उम्र में पूरी हो जाती थी। मेरा खयाल है कि बहुत-से लोग

इस उम्र तक न पढ सकते होगे। लेकिन यह मालूम होता है कि प्राइमरी शिक्षा काफी फैली हुई थी, क्योकि सारे भिक्खु और पुजारी शिक्षक हुआ करते थे और इनकी कोई कमी नही थी। ह्यू एनत्साङ पर भारतवासियो के विद्या-प्रेम का बहुत असर पडा था और अपनी सारी पुस्तक मे वह इस बात का जिक्र करता है।

उसने प्रयाग के वडे कुम्भ-मेले का भी वर्णन किया है। जब तुम इस मेले को कभी फिर देखो तो तेरह सौ वर्ष पहले की ह्यू एनत्साङ की इस यात्रा का खयाल करना और यह याद करना कि उस समय भी यह मेला वहुत प्राचीन था और ठेठ वैदिक काल से चला आ रहा था। अतीत परम्परा के इस प्राचीन मेले के मुक़ाविले मे हमारा शहर इलाहाबाद अभी कल का शहर है। इस शहर को ४०० वर्ष मे कम हुए, अकबर ने बसाया था। प्रयाग इससे वहुत ज्यादा पुराना है। लेकिन प्रयाग से भी पुराना वह आकर्षण है, जो हजारो वर्षों से लाखो यात्रियो को हर वर्ष गगा और यमुना के सगम पर खीच लाता है।

ह्यू एनत्साङ लिखता है कि बौद्ध होते हुए भी हर्ष इस खास हिन्दू मेले मे जाया करता था। उसकी तरफ़ से एक शाही आज्ञा-पत्र जारी किया जाता था, जिसमें 'पच हिन्द' के सव गरीवो और मुहताजो को मेले मे आकर उसका मेहमान होने की दावत दी जाती थी। किसी सम्राट् के लिए भी इस तरह का निमन्त्रण देना वडे हौसले का काम था। कहने की जरूरत नही कि वहुत-से आदमी आते थे और रोज करीब एक लाख आदमी हर्ष के मेहमान वनकर भोजन करते थे। इस मेले मे हर पंचवें वर्ष हर्ष अपने खजाने की सारी वचत,—सोना, ज़ेवर, रेशम, वगैरा जो कुछ उसके पास होता था, सव बाँट देता था। एक बार उसने अपना राज-मुकुट और कीमती पोशाक भी दे डाली थी और अपनी वहन राज्यश्री से, एक पुराना मामूली कपडा, जो पहले पहना जा चुका था, लेकर पहना था।

श्रद्धालु बौद्ध होने के नाते हर्ष ने खाने के लिए जानवरो की हत्या बन्द करवा दी थी। ब्राह्मणो ने इस पर शायद ज्यादा ऐतराज़ नही किया, क्योंकि वुद्ध के वाद से ये लोग दिन-पर-दिन ज्यादा शाकाहारी होने लगे थे।

ह्यू एनत्साङ की पुस्तक मे एक वडी मजेदार वात है, जो शायद तुम्हें दि- चस्प मालूम हो। वह लिखता है कि भारत मे जव कोई आदमी वीमार प- था, तो वह फौरन सात दिन का उपवास कर डालता था। वहुत लोग तो उप- के दौरान मे ही अच्छे हो जाते थे। लेकिन अगर वीमारी फिर भी रहती तो लेते थे। उस ज़माने मे वीमार पडना अच्छी वात नही समझी जाती होगी, न डॉक्टरो की ही ज्यादा माँग रही होगी।

उस ज़माने मे भारत मे मार्के का एक पहलू यह था कि राजा और सेनापि- विद्वानो और सत्- लोगो की बहुत इज्जत करते थे। भारत मे औ-

से सोच-विचारकर इस बात की कोशिश की गई, और इसमें खूब सफलता भी हुई, कि विद्या और संस्कृति को इज्जत की जगह मिले, पाशविक बल या धन-दौलत को नहीं।

भारत में बहुत वर्ष बीतने के बाद ह्यूएनत्साङ फिर उत्तरी पहाड़ों को लांघता हुआ अपने देश लौट गया। सिन्ध नदी में वह डूबते-डूबते बचा और इसके साथ की बहुत-सी कीमती पुस्तकें बह गईं। फिर भी वह हाथ से लिखी बहुत-सी पुस्तकें अपने साथ ले गया था और बहुत वर्षों तक इन पुस्तकों के चीनी भाषा में अनुवाद करने में लगा रहा। ताङ-सम्राट् ने सि-अन-फू में उसका हृदय से स्वागत किया और इसी सम्राट् के कहने पर इसने अपनी यात्रा का हाल लिखा था।

इसने तुर्कों का भी हाल लिखा है, जिन्हें इसने मध्य-एशिया में देखा था। यह वह नया कबीला था, जो आगे चलकर पश्चिम की तरफ बढ़कर बहुत-सी सल्तनतों को उलटनेवाला था। इसने यह भी लिखा है कि सारे मध्य-एशिया में बौद्ध विहार पाये जाते थे। सच तो यह है कि बौद्ध विहार ईरान, इराक, खुरासान, मोसल और ठेठ सीरिया की सरहद तक फैले हुए थे। ईरानियों के बारे में ह्यूएनत्साङ लिखता है—"ईरानी लोग विद्या पढ़ने की परवा नहीं करते, बल्कि अपना सारा वक्त कला की चीजें बनाने में लगाते हैं। जो चीजें ये बनाते हैं, आस-पास के देश उनकी बड़ी कद्र करते हैं।"

उस जमाने के यात्री कितने अद्भुत होते थे! आजकल की अफ्रीका के भीतरी भागों की या उत्तरी ध्रुव या दक्षिणी ध्रुव की यात्राएं तक भी पुराने जमाने की इन लम्बी-चौड़ी यात्राओं के मुकाबले में तुच्छ नजर आती हैं। पहाड़ों और रेगिस्तानों को पार करते हुए और वर्षों अपने मित्रों और परिवार से बिछुड़े हुए ये लोग मंजिल-दर-मंजिल आगे बढ़ते जाते थे। शायद कभी-कभी इन्हें अपने घर की याद भी आती थी। लेकिन उनमें इतना आत्म-गौरव था कि इस बात को जबान पर भी नहीं लाते थे। फिर भी एक यात्री ने अपने मन की हल्की-सी झलक हमें दी है। उसने लिखा है कि जब वह एक दूर देश में खड़ा था, उसे अपने घर की याद आई, और वह व्याकुल हो गया। इस यात्री का नाम सुङयुन था और यह भारत में ह्यूएनत्साङ से सौ वर्ष पहले आया था। वह गान्धार के पहाड़ी देश में था, जो भारत के उत्तर-पश्चिम में है। वह लिखता है—'शीतल मन्द समीर, चिड़ियों के गीत, वसन्त ऋतु के सौन्दर्य से सजे हुए पेड़, बहुत-से फूलों पर फुदकती हुई तितलियां'—इस दूर देश में इस मनोहर दृश्य को देखकर सुङयुन के मन में घर की याद लौट आई और इन विचारों ने उसे इतना उदास कर दिया कि वह बुरी तरह बीमार पड़ गया।

: ४४ :

# दक्षिण भारत के अनेक राजा और योद्धा और एक महापुरुष

१३ मई, १९३२

सम्राट् हर्ष की ६४८ ई० मे मृत्यु हुई। लेकिन उसकी मौत से पहले ही भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर बिलोचिस्तान मे एक छोटा-सा बादल दिखाई देने लगा था। यह छोटा-सा बादल उस भारी तूफान का हरकारा था, जो पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी यूरोप पर चढा आ रहा था। अरब मे एक नया पैगम्बर हो गया था। उसका नाम मुहम्मद था। उसने एक नये मजहब का प्रचार किया, जिसे इस्लाम कहते हैं। अपने इस नये मजहबी जोश से भरे हुए और अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा रखते हुए, ये अरब-निवासी मुल्को को जीतते हुए तेजी के साथ महाद्वीपो को पार करते चले आ रहे थे। यह एक अद्भुत साहस का काम था और हमें इस नये बल पर गौर करना चाहिए, जिसने आकर इस दुनिया पर इतना असर डाला। लेकिन इस पर विचार करने से पहले हमे दक्षिण भारत का दौरा करना चाहिए, और यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि उन दिनो वहाँ की क्या हालत थी। हर्ष के समय मे अरबी मुसलमान बिलोचिस्तान पहुँचे, और उन्होंने थोडे ही दिन बाद सिन्ध पर कब्जा कर लिया। लेकिन वे वही रुक गये और अगले तीन सौ वर्षों तक भारत पर मुसलमानो का कोई नया हमला नही हुआ। और फिर जो हमला हुआ भी वह अरबो का काम नही था, बल्कि मध्य-एशिया के कुछ कबीलो का काम था, जो मुसलमान हो गये थे।

इसलिए हम दक्षिण की ओर चलते हैं। भारत के पश्चिम मे और मध्य मे चालुक्य-साम्राज्य था। इसमे ज्यादातर महाराष्ट्र के प्रदेश थे और इसकी राजधानी बदामी था। ह्यएनत्साङ्ग महाराष्ट्रियो की और उनकी दिलेरी की बहुत तारीफ करता है। वह लिखता है कि ये लोग "युद्ध-प्रिय और अभिमानी प्रकृति-वाले, उपकार के लिए एहसानमन्द और अपकार का बदला लेनेवाले होते हैं।" चालुक्यो को उत्तर मे हर्ष की, दक्षिण मे पल्लवो की, और पूर्व मे कलिंग की रोक-थाम करनी पडती थी। पर इनकी शक्ति बढ़ती गई और ये समुद्र के एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैल गये। लेकिन बाद मे राष्ट्रकूटो ने उन्हें पीछे ढकेल दिया।

इस तरह दक्षिण भारत मे बडे-बडे साम्राज्य और राज्य फूलते-फलते रहे। कभी इनके पलडे बराबर हो जाते, और कभी उनमे से कोई एक बढ़कर दूसरे को दबा देता। पाण्डय राजाओ के समय मे मदुरा सस्कृति का एक बडा केन्द्र था। यहाँ तमिल भाषा के कितने ही कवि और लेखक जमा हो गये थे। तमिल भाषा

की कई प्राचीन पुस्तकें ईसवी सन् के शुरू की लिखी हुई हैं। पल्लवों के भी कभी शान के दिन थे। इनकी राजधानी कांचीपुर थी, जिसे आजकल कांजीवरम् कहते हैं। मलेशिया में नया उपनिवेश बसाने में बहुत-कुछ इन्हीं का हाथ था।

इसके बाद चोल-साम्राज्य शक्तिशाली हो गया और नवीं सदी के बीच के लगभग इसने दक्षिण भारत पर प्रभुत्व जमा लिया। यह एक समुद्री शक्ति था, और इसके पास बहुत बड़ी जल-सेना थी, जिससे इसने बंगाल की खाड़ी और अरब सागर पर प्रभुत्व कायम कर लिया था। इसका मुख्य बन्दरगाह कावेरी-पड्डिनम् कावेरी नदी के मुहाने पर बसा था। वि यालय चोल-साम्राज्य का पहला महान् राजा था। चोल उत्तर की ओर फैलते ग ।, पर अन्त में राष्ट्रकूटों ने उन्हें अचानक हरा दिया। लेकिन राजराजा ने चोल राज-वंश को फिर से ताकतवर बनाकर उसकी खोई हुई शान फिर कायम कर दी। यह दसवीं सदी के अन्त की बात है, जब उत्तर भारत में मुसलमानों के हमले हो रहे थे। सुदूर उत्तर में जो घटनाएँ हो रही थीं, उनका प्रभाव राजराजा पर कुछ नहीं पड़ा, और वह अपने साम्राज्य को बढ़ाने की कोशिश में बराबर लगा रहा। उसने लंका को जीता, और चोलों ने वहाँ सत्तर वर्ष राज्य किया। राजराजा का पुत्र राजेन्द्र भी उसी की तरह जबर्दस्त और लड़ाकू था। उसने दक्षिण बर्मा को जीता। इसके लिए वह अपने साथ लड़ाई के हाथियों को जहाजों में लादकर ले गया था। उसने उत्तर भारत पर भी धावा मारा और बंगाल के राजा को हरा दिया। इस प्रकार चोल-साम्राज्य का विस्तार बहुत फैल गया। गुप्त-साम्राज्य के बाद सबसे बड़ा साम्राज्य यही था। लेकिन यह बहुत दिन तक टिक नहीं सका। राजेन्द्र एक महान् योद्धा था, लेकिन मालूम होता है कि वह बड़ा जालिम भी था, और जिन राज्यों को उसने जीता, उनके दिलों को जीतने की उसने कोशिश नहीं की। राजेन्द्र ने १०१३ ई० से १०४४ ई० तक राज किया। उसकी मृत्यु के बाद बहुत-से अधीन राजाओं के विद्रोह ने चोल-साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

अपनी इन सैनिक सफलताओं के अलावा चोल लोग बहुत दिनों तक अपने समुद्री व्यापार के लिए मशहूर थे। उनके बनाये हुए सुन्दर सूती कपड़ों की बड़ी माँग थी। उनका बन्दरगाह कावेरीपड्डिनम् बड़े चहल-पहल की जगह था। यहाँ दूर-दूर देशों से माल लेकर जहाज आते थे और यहाँ से माल ले जाते थे। वहाँ पर यवनों यानी यूनानियों की भी एक बस्ती थी। महाभारत में भी चोलों का जिक्र पाया जाता है।

मैंने दक्षिण भारत के कई सौ वर्षों का हाल, जहाँ तक हो सका संक्षेप में, तुम्हें बताने की कोशिश की है। थोड़े शब्दों में कहने की इस कोशिश से शायद तुम घपले में पड़ जाओगी। लेकिन हमारे पास इतना समय नहीं है कि हम अलग-अलग

राज्यों और राजवंशों की भूल-भुलैया में खो जायें। हमें तो संसार पर विचार करना है और अगर उसके एक छोटे-से हिस्से में ही ज्यादा वक्त गँवा दें, फिर चाहे वह हिस्सा वही क्यों न हो जहाँ हम रहते हैं, तो हम बाकी हिस्सों का वर्णन कभी पूरा ही न कर सकेंगे।

लेकिन राजाओं और उनकी विजयों से भी ज्यादा महत्वपूर्ण उस समय की संस्कृति और कला का लेखा है। उत्तर भारत की बनिस्बत दक्षिण में कला से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत ज्यादा अवशेष पाये जाते हैं। उत्तर की बहुत-सी यादगारें, इमारतें और पत्थर की मूर्तियाँ युद्धों और मुसलमानी हमलों में नष्ट हो गईं। दक्षिण भारत में ये चीजें मुसलमानों के पहुँचने के बाद भी बच गईं। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि उत्तर भारत की बहुत-सी सुन्दर यादगारें नष्ट कर दी गईं। जो मुसलमान उत्तर भारत में आये—और याद रखो कि वे मध्य एशिया के निवासी थे न कि अरब के—उनमें अपने मजहब के लिये जोश भरा था और वे मूर्तियों को नष्ट कर देना चाहते थे। लेकिन इन मूर्तियों के नष्ट हो जाने की शायद यह भी एक वजह थी कि पुराने मन्दिरों में किलों और गढ़ों का काम लिया जाता था। दक्षिण के बहुत-से मन्दिर अब भी किलों की तरह मालूम होते हैं, जहाँ लोग हमला होने पर अपना बचाव कर सकते हैं। इस तरह, ये मन्दिर पूजा के अलावा और भी बहुत-से कामों में आते थे। मन्दिरों में ही गाँव के स्कूल होते थे, गाँव की चौपाल होती थी, पंचायतघर होता था, और अन्त में अगर जरूरत होती तो दुश्मनों से रक्षा के लिए ये ही किले हो जाते थे। इस तरह गाँव की सारी जिन्दगी मन्दिर के चारों ओर घूमा करती थी और ऐसी हालत में इन मन्दिरों के पुजारी और ब्राह्मण ही कुदरती तौर पर सबके ऊपर रौब जमाते थे। लेकिन इस बात से कि इन मन्दिरों से कभी-कभी किलों का काम भी लिया जाता था, तो हम समझ सकते हैं कि मुसलमान हमलावर मन्दिरों को क्यों नष्ट कर देते थे।

इसी जमाने का बना हुआ एक सुन्दर मन्दिर तंजौर में है, जिसे चोल-सम्राट् राजराजा ने बनवाया था। बदामी में भी बहुत सुन्दर मन्दिर हैं, और कांजीवरम् में भी। लेकिन उस जमाने की सबसे अद्भुत इमारत वेरूळ (एलोरा) का कैलाश मन्दिर है, जो चट्टान काटकर बनाने की कारीगरी का चमत्कार है। इस मन्दिर को बनाने का काम आठवीं सदी के आखिरी हिस्से में शुरू हुआ था। काँसे की मूर्तियों के भी बहुत-से सुन्दर नमूने मिलते हैं। इनमें नटराज यानी शिव के ताण्डव-नृत्य की मूर्ति बहुत मशहूर है।

चोल-सम्राट् राजेन्द्र प्रथम ने चोलापुर में सिंचाई के लिए एक जबर्दस्त बाँध बनवाया जो ठोस चूने का था और सोलह मील लम्बा था। बाँध और नहरों के बनने के सौ वर्ष बाद एक अरब यात्री अलबेरूनी वहाँ गया और इन्हें देखकर

चकित हो गया। वह लिखता है—"हमारे देशवासी इन्हें देखकर ताज्जुब करते हैं और उनका बयान नही कर पाते, इनके समान कोई चीज बनाना तो दूर रहा।"

मैंने इस पत्र मे कई राजाओ और राजवशो का जिक्र किया है, जिन्होंने कुछ दिन तक शान का जीवन विताया और फिर ग़ायब और विस्मृत हो गये। लेकिन इसी समय दक्षिण भारत मे इससे भी ज्यादा निराले व्यक्ति ने जन्म लिया, जिसने भारत की ज़िन्दगी मे सारे राजाओ व सम्राटो से भी ज्यादा महत्व का हिस्सा लिया है। वह नवयुवक शकराचार्य के नाम से मशहूर है। शायद वह आठवी सदी के अन्त मे पैदा हुआ था। मालूम होता है कि वह एक अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति था। वह हिन्दू-धर्म के, या हिन्दू-धर्म के एक विशेष बुद्धिवादी रूप के, जिसे शैव मत कहते हैं, पुनरुद्धार मे लग गया। वह अपनी बुद्धि और तर्क के बल पर बौद्ध-धर्म के खिलाफ लडा। बौद्ध-सघ की तरह इसने भी सन्यासियो का सघ बनाया, जिसमे सब जातियो के लोग शामिल हो सकते थे। उसने सन्यासियो के सघ के चार केन्द्र भारत के उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व के चारो कोनो मे स्थापित किये। उसने सारे भारत की यात्रा की, और जहाँ-कही भी वह गया, सफल हुआ। वह एक विजेता के रूप मे बनारस आया। पर वह बुद्धि को जीतनेवाला और तर्क मे जीतनेवाला विजेता था। अन्त मे वह हिमालय पर केदारनाथ गया, जहाँ सदा जमी रहनेवाली बर्फ की शुरूआत होती है, और वही उसकी मृत्यु हुई। जब वह मरा उसकी उम्र केवल बत्तीस वर्ष या शायद इससे कुछ ही ज्यादा थी।

शकराचार्य के कामो का लेखा अद्भुत है। बौद्ध-धर्म, जो उत्तर भारत से दक्षिण भगा दिया गया था, अब भारत से करीब-करीब गायब हो गया। हिन्दू-धर्म और शैव-मत कहलानेवाला उसका एक रूप सारे देश मे फैल गया। शकर के ग्रन्थो, भाष्यो और तर्कों से सारे देश मे बौद्धिक हलचल मच गई। शकर सिर्फ ब्राह्मणो ही का महान् नेता नही बन गया, बल्कि मालूम होता है, उसने जन-साधारण के चित्त को भी मोह लिया। यह एक असाधारण बात मालूम होती है कि कोई आदमी सिर्फ अपनी बुद्धि के बल पर एक महान् नेता बन जाय, और फिर करोडो आदमियो पर और इतिहास पर अपनी छाप डाल दे। बडे योद्धा और विजेता इतिहास मे नाम कर जाते हैं। वे या तो लोकप्रिय हो जाते हैं या नफरत के पात्र, और कभी-कभी वे इतिहास को भी ढालते हैं। महान् धार्मिक नेताओ ने करोडो के दिलो को हिला दिया है और उनमे जोश की आग भर दी है। लेकिन यह सब कुछ हमेशा श्रद्धा के आधार पर हुआ है। उन्होंने भावनाओ को अपील की है और उनपर असर डाला है।

मन और बुद्धि को जो अपील की जाती है, उसका असर बहुत ज्यादा नही होता। बदकिस्मती से ज्यादातर लोग विचार नहीं करते, वे तो सिर्फ महसूस

करते हैं और अपनी भावनाओ के मुताविक वर्ताव करते हैं। लेकिन शकर की अपील मन और वुद्धि को और विवेक को ही होती थी। यह किसी पुरानी पुस्तक मे लिखे रूढ़ मत का दोहराना नही था। उसका तर्क ठीक था या गलत, इसका विचार इस समय फिजूल है। दिलचस्पी की वात तो यह है कि उसने धार्मिक समस्याओ पर वुद्धिवादी तरीके से विचार किया। और इससे भी ज्यादा दिलचस्प वात यह है कि इस तरीके के वावजूद भी उसने सफलता पाई। इससे हमे उस समय के शासक-वर्गों की मनोदशा की एक झलक मिलती है।

शायद तुम्हें यह वात दिलचस्प मालूम हो कि हिन्दू दार्शनिको मे एक व्यक्ति चार्वाक नाम का भी हुआ है, जिसने अनीश्वरवाद का प्रचार किया है, यानी जो कहा करता था कि ईश्वर नही है। आज वहुत-से ऐसे आदमी हैं, खासकर रूस मे, जो ईश्वर मे विश्वास नही करते। लेकिन यहाँ हमें इस सवाल की गहराई मे जाने की जरूरत नही है। मतलव की वात यह है कि पुराने जमाने मे भारत मे विचार और प्रचार की कितनी आजादी थी। उस वक़्त वह आजादी थी जिसे ईमान की आजादी कहा जाता है। यह वात यूरोप मे अभी तक नहीं थी, और आज भी इस मामले में कुछ पावन्दियाँ हैं।

शकर की थोडी लेकिन सरगर्म जिन्दगी से दूसरी सचाई यह जाहिर होती है कि सारे भारत मे सास्कृतिक एकता थी। यह एकता प्राचीन इतिहास मे लगातार मानी गई है। भूगोल के लिहाज से, तुम जानती हो, भारत करीव-करीव एक इकाई है। राजनीतिक लिहाज मे भारत अक्सर टुकडो मे वँटा रहा है, हालाँकि कभी-कभी सारा देश एक ही केन्द्रीय सत्ता के अधीन भी रहा। लेकिन सस्कृति के लिहाज से यह देश हमेशा से एक रहा, क्योकि इसकी पृष्ठभूमि, इसकी परम्पराएँ, इसके मजहव, इसके वीर और वीरागनाएँ, इसकी पौराणिक गाथाएँ, इसकी विद्वत्ता से भरी भाषा (सस्कृत), देशभर मे विखरे हुए इसके तीर्थस्थान, इसकी ग्राम-पचायतें, इसकी विचारधारा, और इसकी शासन-प्रणाली, शुरू से एक-से चले आ रहे हैं। औसत भारतवासी की नजर मे सारा भारत 'पुण्यभूमि' था और वाकी की दुनिया मे ज्यादातर म्लेच्छ और वर्वर लोग रहते थे। इस तरह भारतीयता की एक आम भावना पैदा हुई है, जिसने देश के राजनीतिक विभाजनो की ज्यादा परवा नही की; वल्कि उनपर विजय हासिल की। यह वात खासतौर से इसलिए हो सकी कि गाँवो मे पचायती राज की प्रथा कायम रही, ऊपर चाहे जो भी परिवर्तन क्यो न होते रहे हो।

शकर का अपने मठो यानी सन्यासियो के सघ के आश्रमो के लिए भारत के चारो कोनो को चुनना, इस बात का सवूत है कि वह भारत को सास्कृतिक इकाई समझता था। और उसके आन्दोलन की थोडे ही समय मे सारे देश मे महान्

सफलता यह भी जाहिर करती है कि वुद्धिवादी और सस्कृति की धाराएँ कितनी तेजी से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँच जाती थी।

शकर ने शैवमत का प्रचार किया। यह मत दक्षिण मे खासतौर से फैला, जहाँ ज्यादातर पुराने मन्दिर शिव के हैं। उत्तर मे गुप्तो के जमाने मे वैष्णवधर्म का और कृष्ण-भक्ति का फिर से भारी प्रचार हुआ। हिन्दू-धर्म के इन दोनो सम्प्रदायो के मन्दिर एक दूसरे से विलकुल जुदे हैं।

यह पत्र वहुत वडा हो गया। लेकिन मुझे अब भी मध्यकालीन भारत के वारे मे वहुत-कुछ कहना वाकी है। इसलिए यह काम दूसरे पत्र के लिए मुल्तवी कर देना ठीक होगा।

४५

## मध्य युगों का भारत

१४ मई, १९३२

तुम्हे याद होगा मैंने तुमसे अशोक के दादा चन्द्रगुप्त मौर्य्य के प्रधान मन्त्री चाणक्य या कौटिल्य के लिखे हुए अर्थशास्त्र का जिक्र किया था। इस ग्रन्थ मे उस जमाने की शासन-प्रणाली और उस जमाने के लोगो के वारे मे सव तरह की वातें लिखी हैं, मानो एक खिडकी खुल गई हो, जिसमे मे हम ईसा पूर्व की चौथी सदी के भारत की एक झाँकी देख सकते हैं। ऐसी पुस्तकें, जिनमे प्रशासन की अन्दरूनी बातो का ब्योरेवार हाल हो, वादशाहो और उनकी देश-विजयो के वहुत वढ़ा-चढाकर किये गए वयानो से कही ज्यादा उपयोगी होती हैं।

एक दूसरी भी पुस्तक है, जिससे मध्य युगो के भारत के वारे मे हम कुछ अन्दाजा लगा सकते हैं। यह शुक्राचार्य का नीतिसार है। वैसे यह पुस्तक इतनी अच्छी और सहायक नही, जितना कि अर्थशास्त्र है, लेकिन कुछ इसकी मदद से और कुछ शिलालेखो और दूसरे विवरणो की मदद से, हम ईसा के वाद की नवी और दसवी सदी की एक झाँकी देखने की कोशिश करेंगे।

नीतिसार मे लिखा है कि "न तो वर्ण से, और न कुलीनता से ब्राह्मणोचित गुण उत्पन्न होते हैं।" इसलिए इस ग्रन्थ के अनुसार जाति-भेद जन्म से नही, वल्कि गुण से होना चाहिए। एक दूसरी जगह इसमे लिखा है—"राजकीय नियुक्तियाँ करते समय जाति या कुल का नही वल्कि कर्म, चरित्र और योग्यता का विचार करना चाहिए।" राजा को चाहिए कि वह खुद अपने मत के अनुसार नही वल्कि जनता के वहुमत के अनुसार काम करे। "लोकमत राजा से भी ज्यादा शक्तिशाली

है, जैसे बहुत-से रेशो की बनी हुई रस्सी शेर को भी घसीटने की सामर्थ्य रखती है।"

ये सब बडे बढिया सूत्र हैं और कोरे सिद्धान्तो की तरह आज भी अच्छे हैं। लेकिन सचाई यह है कि व्यवहार मे ये हमारे बहुत ज्यादा काम नही आ सकते। माना कि गुण और योग्यता से आदमी ऊंचा उठ सकता है, लेकिन वह गुण और योग्यता हासिल कैसे करे ? कोई लडका या लडकी भले ही काफी तेज हो और उचित शिक्षा व प्रशिक्षण से चतुर और कुशल भी शायद बन जाय, लेकिन अगर पढने-लिखने या सिखाने का कोई इन्तजाम ही न किया जाय तो बेचारा लडका या लडकी क्या करे ?

इसी तरह लोकमत क्या है ? किसका मत लोकमत समझा जाय ? शायद 'नीतिसार' का लेखक शूद्रो की बडी संख्या को मत देने का हकदार नही समझता था। इन लोगो की कोई गिनती नही थी। शायद सिर्फ ऊंचे और शासक वर्गों का मत ही लोकमत समझा जाता था।

फिर भी यह बात ध्यान देने लायक है कि पहले की तरह ही मध्य युगो की भारतीय शासन-प्रणाली मे राजाओ की निरकुशता या उनके दैवी अधिकार के लिए कोई जगह नहीं थी।

इस पुस्तक मे राजा की राज्य-परिषद् का, सार्वजनिक निर्माण और पार्कों व जगलो के अधिकारियो का, कस्बो व गांवो के सगठित जीवन का, पुलो, घाटो, धर्मशालाओ, सडको और शहर या गांव के लिए सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण नालियो का भी ज़िक्र है।

गांव के मामलो मे गांव की पचायत को पूरा अधिकार था और राजा के कर्मचारी पचो की बडी इज्जत करते थे। पचायत ही खेती के लिए जमीनें देती थी, लगान वसूल करती थी और गांव की तरफ से सरकार को मालगुजारी अदा करती थी। इन सबके ऊपर शायद एक बडी पचायत या महासभा होती थी जो इन छोटी पचायतो की निगरानी करती थी और जरूरत पडने पर उनके मामलो मे दखल भी देती थी। इन पचायतो को अदालती अधिकार भी हासिल थे। ये अदालतो की हैसियत से काम कर सकती थी और लोगो के मुकदमो का फैसला कर सकती थी।

दक्षिण भारत के पुराने शिलालेखो से पता लगता है कि पचो का चुनाव कैसे होता था, कौन-कौन लोग पच बन सकते थे और कौन-कौन नही। अगर कोई पच सार्वजनिक धन का हिसाब नही देता था, तो वह पच होने का हक खो बैठता था। दूसरा एक बहुत दिलचस्प क़ायदा शायद यह था कि पचो के नज़दीकी रिश्तेदार नौकरियां नही पा सकते थे। अगर यही कायदा आज हमारी कौंसिलो,

असेम्बिलियो और म्युनसिपैलिटियो मे लागू कर दिया जाय तो कितना अच्छा हो! एक समिति के सदस्यो मे एक स्त्री का नाम भी आया है। इससे ज़ाहिर होता है कि स्त्रियाँ भी पचायतो और उनकी समितियो की सदस्य बन सकती थी।

पंचायतों के चुने हुए सदस्यो मे से समितियां बनाई जाती थी और हरेक समिति साल भर के लिए होती थी। अगर कोई सदस्य बेजा हरकत करता था तो वह फौरन हटा दिया जाता था।

ग्रामीण स्वराज्य की यह प्रणाली आर्य-शासन-व्यवस्था की बुनियाद थी। इसीकी वजह से उसमे इतनी मज़बूती थी। गाँव की ये पचायतें अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए इतनी जागरूक थी कि यह कायदा बना दिया गया था कि बिना राजाज्ञा के कोई भी सिपाही किसी गाँव मे घुस नही सकता था। नीतिसार में लिखा है कि अगर प्रजा राजा से किसी कर्मचारी की शिकायत करे, तो राजा को "चाहिए कि वह अपनी प्रजा का पक्ष ले, न कि अपने कर्मचारी का।" और अगर बहुत-से लोग किसी कर्मचारी की शिकायत करें तो उसे बरखास्त कर देना चाहिए, क्योंकि नीतिसार मे लिखा है, "अधिकार का मद पीकर किसको नशा नही होता?" बुद्धिमानी की ये बातें खासकर आज हमारे देश के उन ढेरो अफसरो पर लागू होती दिखाई देती हैं, जो ईमानदारी से काम नही करते और हमारे ऊपर बुरी हुकूमत करते हैं।

बडे शहरो मे, जहाँ बहुत-से दस्तकार और व्यापारी रहते थे, व्यापारियो और दस्तकारो के सघ या निकाय होते थे। यानी दस्तकारो और साहूकारों की श्रेणियाँ होती थी और व्यापारियो के निगम होते थे। धार्मिक सस्थाएँ तो थी ही। इन सब सस्थाओ का अपने अन्दरूनी मामलो पर बहुत काफी नियन्त्रण रहता था।

राजा के लिए यह हिदायत थी कि जनता पर हलके कर लगावे, जिससे उसे नुकसान न पहुँचे और उसपर भारी बोझ न पड जाय। राजा को टैक्स उस तरह वसूल करने चाहिए जैसे माला बनानेवाला जगल के पेडो से फूल और पत्तियाँ चुनता है, जलाकर कोयला बनानेवाले की तरह नही।

ऐसा बिखरा हुआ हाल हमे भारत के मध्य युगो के बारे मे मिलता है। यह पता लगाना ज़रा मुश्किल है कि पुस्तको में नीति की जो बातें लिखी हुई हैं, उनपर किस हद तक अमल होता था। पुस्तकों मे ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तो और आदर्शों की बातें लिखना बहुत आसान होता है, लेकिन जिन्दगी मे उनपर अमल करना मुश्किल होता है। पर इन पुस्तको मे हमे उस ज़माने के लोगो के आदर्शों और विचारो को समझने मे मदद मिलती है, चाहे वे इन पर पूरी तरह अमल न

कर पा सके हो। हमे यह पता चलता है कि राजा और शासक निरकुश नही होते थे, चुनी हुई पचायतें उनके अधिकारो पर नियन्त्रण रखती थी। हमे यह भी पता चलता है कि गाँवो और शहरो मे स्वशासन की प्रणाली काफी उन्नत थी और केन्द्रीय सरकार उसमे कोई दखल नही देती थी।

लेकिन जब मैं जनता की विचारधारा की या स्वशासन की बात करता हूं, तब इसका मतलब क्या है ? भारत का सारा समाजी ढाँचा जाति-प्रथा पर बना हुआ था। सिद्धान्त मे, सम्भव है, जाति-व्यवस्था कठोर न रही हो और, जैसा कि नीतिसार मे लिखा है, गुण और कर्म के अनुसार मानी जाती रही हो, लेकिन अमल मे इस सिद्धान्त के कुछ अर्थ नही रह गये थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही शासक-वर्ग या शासक जातियाँ थी। कभी-कभी इनमे आपस मे प्रभुता के लिए झगडे होते थे। लेकिन ज्यादातर ये लोग मिल-जुलकर शासन करते थे और एक-दूसरे का लिहाज़ रखते थे। पर दूसरी जातियो को ये दबाये रहते थे। धीरे-धीरे जब व्यापार-वाणिज्य बढे, व्यापारी वर्ग धनवान और महत्त्वपूर्ण हो गया, और जब इसका महत्व बढा तो इसे कुछ रियायतें मिल गईं और अपनी श्रेणियो के अन्दरूनी मामलो को निबटाने के अधिकार मिल गये। लेकिन फिर भी इस वर्ग को राज्य-सत्ता का कोई असली हिस्सा नही मिला। और बेचारे शूद्र तो बराबर सबसे नीचे बने रहे। कुछ लोग इनमे से भी ज्यादा नीच समझे जाते थे।

कभी-कभी नीची जातियो के लोग भी ऊँचाई पर पहुँच जाते थे। शूद्र राजा तक भी हुए हैं। लेकिन ऐसा बहुत ही कम होता था। समाजी जीने पर ऊंचा उठने का तरीका अक्सर यह था कि कोई उपजाति सारी-की-सारी एक सीढ़ी ऊपर उठ जाती थी। नये कबीले पहले नीची जातियो मे शामिल होकर हिन्दू धर्म मे घुल-मिल जाते थे और फिर धीरे-धीरे ऊँचे उठते जाते थे।

इस तरह तुम देखोगी कि भारत मे हालाँकि पश्चिम की तरह मजदूरो की गुलामी न थी, फिर भी हमारा सारा समाजी ढाँचा दर्जों मे बँटा हुआ था, यानी एक के ऊपर एक वर्ग बने हुए थे। ऊपर के सब लोग नीचे दर्जे के लोगो का शोषण करते थे और उसका सारा बोझ इन्हे सहना पडता था। और ऊपर के लोग इन बेचारे नीचे के लोगो की शिक्षा का या कोई काम सीखने का मौका ही नही आने देते थे ताकि यह व्यवस्था हमेशा बनी रहे और सारे अधिकार उन्हीके हाथ मे कायम रहें। गाँव की पचायतो मे शायद किसानो की कुछ चलती थी और इनकी उपेक्षा नही की जा सकती थी, लेकिन यह बहुत सम्भव है कि कुछ होशियार ब्राह्मण इन पचायतो पर भी हावी रहे हो।

आर्यों की यह पुरानी शासन-प्रणाली तबसे चली आती थी, जबसे उन्होंने भारत मे कदम रक्खा और द्रविडो के सम्पर्क मे आये और यह उन मध्य युगो तक

कायम रही, जिनका हम जिक्र कर रहे हैं। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि गिरावट और कमजोरी का सिलसिला बराबर जारी था। शायद यह व्यवस्था जर्जर हो रही थी, और बाहर से होनेवाले विदेशी हमलों ने इसे धीरे-धीरे घिस डाला।

तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि पुराने जमाने में भारत ने गणित में बड़ी उन्नति की थी और उस समय के बड़े गणितज्ञों में एक स्त्री—लीलावती का भी नाम लिया जाता है। कहते हैं कि लीलावती और उसके पिता भास्कराचार्य ने, और शायद एक दूसरे व्यक्ति ब्रह्मगुप्त ने, सबसे पहले दाशमिक प्रणाली निकाली थी। बीजगणित भी भारत में ही निकला बताया जाता है। भारत से यह अरब गया, और अरब से यूरोप पहुँचा। बीजगणित का अंग्रेजी नाम 'एलजब्रा' अरबी शब्द है।

## : ४६ :

# शानदार अंकोर और श्रीविजय

१७ मई, १९३२

अब थोड़ी देर के लिए सुदूर भारत की सैर करें। सुदूर भारत उन उपनिवेशों और बस्तियों को कहते हैं जो दक्षिण भारत के लोगों ने मलेशिया और हिन्द-चीन में जाकर कायम की थीं। मैं पहले बता चुका हूँ कि ये बस्तियाँ किस तरह इरादा करके व्यवस्थित ढंग से बसाई गई थीं। ये कोई आप-ही-आप नहीं बन गई थीं। इरादा करके कई जगह एक साथ उपनिवेशों का बसाया जाना जाहिर करता है कि उस जमाने में समुद्र-यात्राएँ खूब होती होंगी और समुद्री रास्तों पर काफी अधिकार रहा होगा। मैंने तुम्हें बताया है कि ये उपनिवेश ईसवी सन् की पहली और दूसरी सदी में शुरू हुए थे। ये सब हिन्दू उपनिवेश थे और इनके नाम दक्षिण भारतीय थे। कई सदियों के बाद यहाँ बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे फैला और सारा मलेशिया हिन्दू से बौद्ध हो गया।

पहले हम हिन्द-चीन को लें। सबसे पुराने उपनिवेश का नाम चम्पा था, और यह अनाम में था। हमें पता चलता है कि ईसा की तीसरी सदी में अनाम में पाण्डुरंगम् शहर बढ़ रहा था और यहीं दो सौ वर्ष बाद कम्बोज का भी एक बड़ा शहर बसाया गया। इसमें पत्थर की आलीशान इमारतें और मन्दिर थे। इन भारतीय उपनिवेशों में सब जगहों पर आलीशान इमारतें बन रही थीं। इमारतें बनानेवाले शिल्पकार और कारीगर भारत से समुद्र पार से लाये गए होंगे और इन लोगों ने यहाँ इमारतें बनाने में भारत की कल्पनाओं को जारी रक्खा। अलग-अलग बस्तियों और टापुओं में इमारतें बनाने के मामले में खूब होड़ चली और इस होड़ के नतीजे से ऊँचे दर्जे की कला का विकास हुआ।

इन उपनिवेशो मे रहनेवाले लोग स्वभाव से ही समुद्र-यात्री थे। इन लोगो ने या इनके पुरखो ने, यहाँ पहुँचने के लिए समुद्र तो पार किया ही था और अब इनके चारो ओर समुद्र-ही-समुद्र था। समुद्र-यात्री लोग बहुत आसानी से व्यापार करने लगते हैं, इसलिए ये लोग भी व्यापारी और सौदागर हो गये और अपना सौदा बहुत-से टापुओं को, पश्चिम मे भारत को और पूर्व मे चीन को, ले जाते थे। इसलिए मलेशिया के बहुत-से राज्यों पर ज्यादातर व्यापारी-वर्गों का कब्जा था। इन राज्यो मे आपस में अक्सर संघर्ष होते रहते थे। बड़े-बड़े युद्ध और हत्याकाण्ड भी होते थे। कभी कोई हिन्दू-राज्य, किसी बौद्ध-राज्य के खिलाफ युद्ध छेड देता था। लेकिन मालूम होता है कि उस जमाने के इन बहुत-से युद्धो की असली वजह व्यापारिक होड रही होगी। जैसे आजकल बडी-बडी शक्तियो मे अपने-अपने देश के बने माल को खपाने के लिए मण्डियो के लिए युद्ध होते हैं।

लगभग तीन सौ वर्षो तक, यानी आठवी सदी तक, हिन्द-चीन मे तीन अलग-अलग हिन्दू राज्य थे। नवी सदी मे एक बहुत बडा राजा हुआ, जिसका नाम जयवर्मन था। इसने इन राज्यो को एक कर दिया और एक बहुत बड़ा साम्राज्य कायम किया। यह शायद बौद्ध था। इसने अपनी राजधानी अकोर को बनाना शुरू किया और इसके उत्तराधिकारी यशोवर्मन ने उसे पूरा किया। यह काम्बोजी साम्राज्य करीब ४०० वर्ष तक कायम रहा। जैसा सब साम्राज्यो के बारे मे कहा जाता है, यह भी बडा ताकतवर और शानदार साम्राज्य समझा जाता था। 'अकोर थोम' का राजनगर सारे पूर्व मे 'शानदार अकोर' के नाम से मशहूर था। इसकी आबादी दस लाख से ऊपर थी, जो सीज़रो के रोम से ज्यादा थी। इसके पास ही 'अकोर वात' का अद्भुत मन्दिर था। तेरहवी सदी मे काम्बोज पर कई दिशाओ से हमला हुआ। अनामी लोगो ने पूर्व की ओर से हमला किया और पश्चिम की ओर से यही के कबीलो ने। उत्तर मे शान लोगो को मगोलो ने दक्षिण की ओर खदेड दिया था और भागने का कोई दूसरा रास्ता न देखकर इन्होंने काम्बोज पर हमला कर दिया। यह राज्य इस तरह, बराबर लडाई करते-करते और अपनी हिफ़ाजत करते-करते, बिलकुल पस्त हो गया। फिर भी अकोर पूर्व का एक सबसे ज्यादा शानदार शहर बना रहा। १२९७ ई० मे, एक चीनी दूत ने, जो काम्बोज के राजा के दरबार मे भेजा गया था, अकोर की अद्भुत इमारतों की बड़ी तारीफ की है।

लेकिन अचानक अकोर पर भयकर आफत आ गई। १३०० ई० के क़रीब दलदल जमा हो जाने से मीकांग नदी का मुहाना बन्द हो गया। नदी के पानी को बहने का रास्ता न मिलने से वह पीछे लौटकर इस विशाल शहर के चारो तरफ की ज़मीन मे भर गया, जिससे सारे उपजाऊ खेत दलदल बनकर बेकार हो गये।

शहर की बडी आवादी भूखो मरने लगी और शहर छोडकर दूसरी जगहो पर जाने के लिए मजबूर हो गई। इस तरह शानदार अकोर उजड गया और उस पर जगल छा गया। उसकी अद्‌भुत इमारतो मे कुछ दिनो तक तो जगली जानवरो का वास रहा, लेकिन अन्त मे जगलो ने महलो को मिट्टी मे मिलाकर निष्कण्टक राज्य कायम कर लिया।

काम्वोज राज्य इस आफत के वाद वहुत दिनो तक जिन्दा नही रह सका। वह धीरे-धीरे नष्ट होते-होते एक प्रान्त रह गया जिस पर कभी अनाम हुकूमत करता था और कभी स्याम। लेकिन आज भी अकोरवात के विशाल मन्दिर के खण्डहर हमे वताते हैं कि कभी इस मन्दिर के पास एक बाँका और आलीशान शहर बसा हुआ था, जहाँ दूर देशो के सौदागर अपना माल लेकर आते थे और जहाँ के निवासियो और कारीगरो की वनाई हुई वढिया चीजें दूसरे देशो को जाया करती थी।

हिन्द-चीन से थोडी ही दूर समुद्र के उस पार सुमात्रा का टापू था। यहाँ भी दक्षिण भारत के पल्लवो ने ईसा की पहली और दूसरी सदी मे अपने नये उप-निवेश वसाये थे। ये उपनिवेश धीरे-धीरे वढ गये। मलाया का प्रायद्वीप वहुत पहले ही सुमात्रा राज्य का हिस्सा वन गया था और उसके वाद वहुत दिनो तक सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप के इतिहास आपस मे मिले-जुले रहे। श्रीविजय नामक वडा शहर, जो सुमात्रा के भीतर पहाडो मे वसा हुआ है, इस राज्य की राजधानी था। पालेमवाग नदी के मुहाने पर इसका एक वन्दरगाह था। पाँचवी या छठी सदी मे वौद्धधर्म सुमात्रा का प्रमुख धर्म वन गया। वास्तव मे सुमात्रा ने वौद्धधर्म के प्रचार मे वडे उत्साह से अगुवाई की और आखिर मे यह हिन्दू मलेशिया के ज्यादातर हिस्से को वौद्ध वनाने मे सफल भी हुआ। इसीलिए सुमात्रा का यह साम्राज्य 'श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य' कहलाता है।

श्रीविजय दिन-पर-दिन वढता ही गया, यहाँ तक कि उसके दायरे मे सुमात्रा और मलाया ही नही, वल्कि फिलीपाइन, वोर्नियो, सेलेवीज, जावा का आधा हिस्सा, फारमोसा टापू का आधा हिस्सा (जो अव जापान के कब्जे मे हैं),[1] लका और कैन्टन के पास दक्षिण चीन का एक वन्दरगाह भी आ गया। शायद इस साम्राज्य मे भारत के दक्षिणी सिरे पर लका के सामने का एक वन्दरगाह भी शामिल था। तुम देखोगी कि श्रीविजय का साम्राज्य एक लम्वा-चौडा साम्राज्य था, जिसमे सारा मलेशिया शामिल था। इन भारतीय उपनिवेशो के मुख्य धन्धे थे वाणिज्य, व्यापार और जहाज वनाना। उन जमाने के चीनी और अरवी लेखको

---

[1] फारमोसा—इसे ताइवान भी कहते हैं। यहाँ की सरकार अपने-आपको असली चीनी गणराज्य मानती है।

ने उन बन्दरगाहो और उपनिवेशो की लम्बी सूचियाँ दी हैं जो सुमात्रा राज्य की मातहती मे थे। ये सूचियाँ बढ़ती चली गईं।

ब्रिटिश साम्राज्य आज सारी दुनिया मे फैला हुआ है। हर जगह उसके बन्दरगाह हैं और जहाजो के लिए कोयला भरने के अच्छे स्टेशन हैं, जैसे जिब्राल्टर, स्वेज नहर, जिस पर ज्यादातर अंग्रेजो का कब्जा है,[1] अदन, कोलम्बो,[2] सिंगापुर[3] हांगकांग, वगैरा। अंग्रेज लोग पिछले तीन सौ वर्षो मे एक व्यापारी क़ौम रहे हैं और इनका व्यापार और मजबूती समुद्री शक्ति पर निर्भर रही है। इसलिए इन लोगो को दुनिया भर मे सुविधा के फासलो पर बन्दरगाहो और कोयला भरने के स्टेशनो की जरूरत रही है। श्रीविजय साम्राज्य भी व्यापार की बुनियाद पर एक समुद्री शक्ति था। इसलिए जहाँ उसे क़दम रखने के लिए छोटी-सी भी जगह मिल गई वही उसने बन्दरगाह बना लिया। वास्तव में सुमात्रा-राज्य की बस्तियो की निराली बात यह थी कि वे सामरिक महत्व रखती थी, यानी वे होशियारी के साथ ऐसी जगहो पर बसाई गई थी जहाँ से आस-पास के समुद्रो पर काबू रखा जा सके। कही-कही ये बस्तियाँ जोडे से बसाई गई थी, ताकि समुद्रो पर काबू रखने मे एक दूसरी की मदद कर सकें।

इस तरह सिंगापुर, जो आज बहुत बडा शहर है, शुरू मे सुमात्रा के उपनिवेशियो की एक बस्ती था। 'सिंहपुर' . यह नाम ठेठ भारतीय है। जलडमरूमध्य के उस पार सिंगापुर के सामने सुमात्रा के लोगो की एक दूसरी बस्ती भी थी। कभी-कभी ये लोग इस जलडमरूमध्य के आर-पार लोहे की जजीर डाल देते थे और सब जहाजो का आना-जाना रोक देते थे, जब तक कि वे भारी चुगी अदा न कर देते।

इस तरह श्रीविजय का साम्राज्य ब्रिटिश साम्राज्य से कुछ मिलता-जुलता था, हालाँकि यह इससे बहुत छोटा जरूर था। लेकिन यह जितने दिनो तक कायम रहा उतने दिनो तक ब्रिटिश साम्राज्य के बने रहने की सम्भावना नहीं है। ग्यारहवीं सदी मे यह साम्राज्य अपनी उन्नति की आखिरी सीढी पर था। यह करीब-करीब वही जमाना था जब दक्षिण भारत मे चोल-साम्राज्य का बोलबाला था। लेकिन श्रीविजय का साम्राज्य चोल-साम्राज्य के बहुत समय बाद तक भी बना रहा। इन दोनो मे बहुत दिनो तक दोस्ती रही। दोनो ही लडाकू समुद्र-यात्री लोगो के राज्य थें। दोनो की ही साम्राज्यवादी आकाक्षाएँ थी और ताकतवर जल-सेनाएँ

---

[1] अब स्वेज नहर पर संयुक्त अरब गण-राज्य का अधिकार हो गया है।

[2] लंका के स्वतन्त्र हो जाने के कारण कोलम्बो पर से भी अंग्रेजों का अधिकार खत्म हो गया है।

[3] सिंगापुर को भी १९५९ में औपनिवेशिक स्वराज्य दिया गया है। इसका असली नाम सिंहपुर है।

थी। दूर-दूर के देशों के साथ उनके व्यापारिक सम्बन्ध थे। इसलिए ग्यारहवीं सदी के शुरू में इन दोनों में संघर्ष हुआ और युद्ध ठन गया। चोल राजा राजेन्द्र प्रथम ने एक जहाजी बेड़ा भेजा, जिसने श्रीविजय को नीचा दिखाया। लेकिन श्रीविजय ने जल्दी ही इस धक्के से गिरी हुई हालत को सुधार लिया।

ग्यारहवीं सदी के शुरू में चीनी सम्राट् ने सुमात्रा के राजा के लिए काँसे के कई घण्टे उपहार में भेजे थे। इसके बदले में सुमात्रा के राजा ने मोती, हाथीदाँत और संस्कृत की पुस्तकें भेजी थीं। एक पत्र भी भेजा था जो, कहते हैं, सोने की चादर पर 'भारतीय लिपि' में लिखा गया था।

दूसरी सदी में अपनी शुरुआत से लगाकर पाँचवीं या छठवीं सदी तक श्रीविजय लम्बे काल तक फूला-फला। फिर यह बौद्ध हो गया और फिर ग्यारहवीं सदी तक धीरे-धीरे बराबर तरक्की करता गया। इसके बाद भी तीन सौ वर्षों तक यह एक महान् साम्राज्य बना रहा और मलेशिया के व्यापार-वाणिज्य पर इसका अधिकार बना रहा। अन्त में १३७७ ई० में एक पुराने पल्लव उपनिवेश ने इसका तख्ता उलट दिया।

मैं बता चुका हूँ कि श्रीविजय-साम्राज्य लंका से लगाकर चीन के कैन्टन नगर तक फैला हुआ था। इन दोनों के बीच के ज्यादातर टापू इस साम्राज्य में शामिल थे। लेकिन यह एक छोटे-से टुकड़े को क़ाबू में नहीं ला सका। यह जावा का पूर्वी हिस्सा था, जो एक स्वाधीन राज्य बना रहा। इसने हिन्दू-धर्म को भी नहीं छोड़ा और बौद्ध बनने से इन्कार कर दिया। इस तरह जहाँ पश्चिमी जावा श्रीविजय के अधीन था वहाँ पूर्वी जावा स्वाधीन था। पूर्वी जावा का यह हिन्दू-राज्य भी व्यापारी राज्य था और अपनी खुशहाली के लिए व्यापार पर निर्भर था। वह सिंगापुर को ईर्ष्या की नजर से देखता रहा होगा, क्योंकि मौके की जगह पर बसा होने से वह एक बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र हो गया था। इस तरह श्रीविजय और पूर्वी जावा में लाग-डाँट पैदा हुई और बढ़कर कट्टर दुश्मनी बन गई। बारहवीं सदी से आगे जावा राज्य धीरे-धीरे श्रीविजय को दबाकर बढ़ता रहा, यहाँ तक कि, जैसा मैं लिख चुका हूँ, चौदहवीं सदी में, यानी १३७७ ई० में, इसने श्रीविजय को पूरी तरह हरा दिया। यह युद्ध बड़ी बेरहमी से लड़ा गया, और इसमें बड़ा विनाश हुआ। श्रीविजय और सिंगापुर, दोनों नगर नहस-नहस हो गये। इस तरह मलेशिया के दूसरे महान् साम्राज्य—श्रीविजय साम्राज्य का अन्त हुआ, और इसके खंडहरों पर मज्जापहित का तीसरा साम्राज्य कायम हुआ।

हालाँकि पूर्वी जावा के निवासियों ने श्रीविजय के साथ युद्ध में बहुत बेरहमी और क्रूरता दिखाई, फिर भी जावा में पाई गई उस जमाने की [illegible] से मालूम होता है कि यह हिन्दू-राज्य सभ्यता में बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँच चुका था। जिस बात में वह सबसे बढ़ा-चढ़ा था वह इमारतें बनाने की, खासकर मन्दिर बनाने

की, कला थी। जावा मे पांच सौ से ज्यादा मन्दिर थे, और कहा जाता है कि इन मन्दिरो मे कुछ ऐसे थे, जो पत्थर के काम के दुनिया भर में सबसे ज्यादा सुन्दर और कलापूर्ण नमूने थे। इन बड़े-बड़े मन्दिरो मे से ज्यादातर सातवी सदी से दसवीं सदी, यानी ६५० से ९५० ई० के बीच के समय मे बने थे। इन विशाल मन्दिरो को बनवाने के लिए जावा के लोगो ने भारत और आस-पास के देशो से बहुत काफ़ी सख्या मे होशियार राजगीर और मिस्त्री बुलाये होंगे। जावा और मज्जापहित के उतार-चढाव का ज़िक्र मैं अगले पत्र में करूँगा।

यहाँ मैं यह भी बता दूं कि बोर्नियो और फिलीपाइन दोनो ने लिखने की कला शुरू के पल्लव उपनिवेशियो के मार्फ़त भारत से सीखी थी। बदकिस्मती से फ़िलीपाइन की बहुत-सी पुरानी हस्त-लिखित पुस्तकें स्पेनवालो ने नष्ट कर डाली।

यह भी याद रक्खो कि इन टापुओ मे बहुत पुराने ज़माने से, इस्लाम से भी बहुत पहले, अरबो की बस्तियाँ थी। ये लोग बडे व्यापारी होते थे, और जहाँ कही व्यापार की गुजाइश होती वहाँ अरब लोग ज़रूर पहुँच जाते थे।

: ४७ :

## रोम फिर अन्धकार में गिरता है

१९ मई, १९३२

मैं कई बार महसूस करता हूँ कि पुराने इतिहास की भूल-भुलैया मे तुम्हें अच्छी तरह रास्ता नही दिखा सकता। मैं खुद ही भटक जाता हूँ, फिर तुम्हें ठीक राह कैसे दिखा सकता हूँ? लेकिन, फिर मैं यह सोचता हूँ कि शायद मैं तुम्हें कुछ फायदा पहुँचा सकूं, इसलिए इन पत्रो को जारी रखता हूँ। इसमे शक नही कि ये पत्र मेरी तो बहुत मदद करते हैं। प्यारी बेटी, जब मैं इन्हें लिखने बैठता हूँ, और तुम्हारा खयाल करता हूँ, तो मैं भूल जाता हूँ कि जहाँ मैं बैठा हूँ, वहाँ छाया मे भी तापमान ११२ डिग्री है और गर्म लू चल रही है। और कभी-कभी तो मैं यह भी भूल जाता हूँ कि मैं बरेली की ज़िला जेल मे हूँ।

मेरे आखिरी पत्र ने तुम्हे मलेशिया मे चौदहवीं सदी के ठेठ अन्त तक पहुँचा दिया था। लेकिन उत्तर भारत मे अभी हम राजा हर्ष के ज़माने यानी सातवीं सदी से आगे नही बढ सके हैं। और यूरोप मे तो हमे अभी बहुत दिनो की कमी पूरी करनी है। सब जगहो पर वक्त का एक ही पैमाना रखना बहुत मुश्किल है। मैं ऐसा करने की कोशिश तो करता हूँ, लेकिन कभी-कभी, जैसे अंकोर और श्रीविजय के मामले मे हुआ, मैं सैकडो वर्ष आगे बढ जाता हूँ, ताकि मैं उनकी कहानी को पूरा कर सकूँ। लेकिन याद रक्खो कि जब काम्बोज के और श्रीविजय के साम्राज्य पूर्व मे फल-फूल रहे थे तब भारत, चीन और यूरोप मे तरह-तरह के परिवर्तन हो रहे थे। यह भी याद रक्खो कि मेरे पिछले पत्र मे कुछ ही पन्नो में

हिन्द-चीन और मलेशिया का एक हज़ार वर्ष का इतिहास समाया हुआ है। एशिया और यूरोप के इतिहास की मुख्य धाराओ से ये दूर पड जाते है, इसलिए इनपर ज्यादा ध्यान नही दिया जाता। लेकिन इनका इतिहास लम्बा और शानदार है। इनकी शान नई सफलताओ मे, व्यापार मे, कला मे, खासकर मकान बनाने की कला मे, रही है। इसलिए इनका इतिहास अध्ययन करने के काबिल है। भारत-वासियों के लिए तो इनकी कहानी खास दिलचस्पी की चीज होनी चाहिए, क्योंकि उस ज़माने मे ये करीव-करीव भारत के ही हिस्से थे। भारत के स्त्री-पुरुष समुद्र पार करके अपने साथ भारतीय सस्कृति, सभ्यता, कला और धर्म वहाँ ले गये थे।

इस तरह, हालाँकि, हम मलेशिया मे आगे बढ गये, पर असल मे हम अभी तक सातवी सदी मे ही है। हमे अभी अरव पहुँचना है और इस्लाम के आगमन पर, और उसकी वजह से यूरोप और एशिया मे होनेवाले बडे-बडे परिवर्तनो पर, गौर करना है। इसके अलावा यूरोप की घटनाओ के सिलसिले पर भी हमे नजर डालनी है।

अब हमे ज़रा लौटकर यूरोप पर फिर एक नज़र डाल लेनी चाहिए। तुम्हें याद होगा कि रोमन सम्राट् कॉन्स्तेन्तीन ने कुस्तुन्तुनिया शहर दर्रे-दानियाल (वास्फोरस) के किनारे उस जगह बसाया था, जहाँ बिज़ेन्तियम था। साम्राज्य की राजधानी पुराने रोम से हटा कर, वह इस शहर मे, यानी नये रोम मे, ले आया था। इसके बाद ही रोमन साम्राज्य दो हिस्सो में बँट गया। पश्चिमी साम्राज्य की राजधानी रोम और पूर्वी की कुस्तुन्तुनिया हुई। पूर्वी साम्राज्य को बडी परेशानियाँ उठानी पडी और बहुत-से दुश्मनो का मुकाबला करना पडा। फिर भी ताज्जुब है कि यह सदियो तक, यानी ११०० वर्षों तक चलता रह सका, जबतक कि तुर्कों ने आकर इसका खात्मा नही कर दिया।

पश्चिमी साम्राज्य की ज़िन्दगी ऐसी नही रही। बहुत दिनो तक पश्चिमी दुनिया पर हावी रह चुकनेवाले शाही नगर रोम का और रोम के नाम का इतना ज्यादा रौव होते हुए भी यह साम्राज्य अजीव तेज़ी के साथ ढह गया। यह किसी भी उत्तरी कबीले के हमलो को बर्दाश्त नही कर सका। एलरिक, जो गौथ जाति का था, इटली मे घुस गया, और इसने ४१० ई० मे रोम पर कब्ज़ा कर लिया। इसके बाद वाण्डाल आये और उन्होंने भी रोम को लूटा। वाण्डाल जर्मन जाति के थे। इन्होंने फ्रान्स और स्पेन को पार किया और फिर अफ्रीका मे घुसकर कार्थेज के खण्डहरो पर अपना राज्य कायम किया। पुराने कार्थेज से इन लोगो ने समुद्र पार करके रोम पर कब्ज़ा कर लिया। ऐसा मालूम होता है, मानो प्यूनिक लडाइयो मे रोम की विजय का इतने दिन बाद बदला लिया गया हो।

इसी ज़माने के लगभग हूण लोग, जो असल मे मध्य एशिया या मगोलिया से आये थे, बडे शक्तिशाली हो गये थे। ये लोग घुमक्कड थे और डैन्यूब नदी के

पूर्व की तरफ और पूर्वी रोमन साम्राज्य के उत्तर व पश्चिम में बस गये थे। अपने सरदार अतिला की मातहती में इन्होंने बड़ा ज़ोर बांधा और कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् और वहां की सरकार पर इनका आतंक बराबर छाया रहता था। अतिला इनको धमकियां देता रहता था और इनसे बड़ी-बड़ी रकमें ऐंठता रहता था। पूर्वी साम्राज्य को काफी नीचा दिखाने के बाद अतिला ने पश्चिमी साम्राज्य पर हमला करने का इरादा किया। उसने गाल प्रदेश पर हमला किया और दक्षिणी फ्रान्स के बहुत-से शहर बरबाद कर दिये। शाही फौज तो उसके मुकाबले में ठहरती ही नहीं थी। लेकिन वे जर्मन कबीले जिन्हें रोमन लोग बर्बर कहते थे, हूणों के इस हमले से डर गये। इसलिए फ्रैंको और गोथों ने रोम की शाही फौज का साथ दिया और इन सबने मिलकर त्राय की बड़ी लड़ाई में हूणों का, जिनका सेनापति अतिला था, मुकाबला किया। कहते हैं, इस लड़ाई में डेढ़ लाख आदमी काम आये। अतिला हार गया और मंगोली हूण पीछे हटा दिये गए। यह ४५१ ई० की बात है। लेकिन हार जाने पर भी अतिला में लड़ाई का जोश बाकी रह गया था। वह इटली पहुंचा और वहां उसने उत्तर के बहुत-से शहर लूटे और जला दिये। कुछ दिनों बाद ही वह मर गया, लेकिन हमेशा के लिए बेरहमी और क्रूरता की बदनामी छोड़ गया। आज भी अतिला हूण क्रूरताभरे, सत्यानाश का अवतार समझा जाता है। उसकी मृत्यु के बाद हूण ठण्डे पड़ गये। वे खेतीबाड़ी करने लगे, और दूसरी बहुत-सी आबादियों में मिल-जुल गये। तुम्हें खयाल होगा कि यह करीब-करीब वह ज़माना है, जब सफेद हूण भारत में आये थे।

इसके ४० वर्ष बाद थियोदोरिक, जो गोथ था, रोम का बादशाह हुआ और यही एक तरह से रोम के पश्चिमी साम्राज्य का अन्त था। थोड़े दिनों बाद पूर्वी रोमन साम्राज्य के एक बादशाह ने, जिसका नाम जस्तीनियन था, इटली को अपने साम्राज्य में मिलाने की कोशिश की। इस कोशिश में वह सफल भी हुआ। उसने सिसली और इटली दोनों को जीत लिया। लेकिन कुछ ही समय बाद ये दोनों उसके हाथ से निकल गये, और पूर्वी साम्राज्य को अपनी ही जिन्दगी के लाले पड़ गये।

क्या शाही रोम और उसके साम्राज्य का इतनी जल्दी और इतनी आसानी से हरेक हमलावर कबीले के सामने पस्त हो जाना ताज्जुब की बात नहीं है? इससे कोई यही नतीजा निकालेगा कि रोम के अंजर-पंजर ढीले पड़ गये थे, या वह बिलकुल खोखला था। शायद यह बात सही है। बहुत लम्बे ज़माने तक रोम का रौब ही उसकी ताकत थी। उसके पुराने इतिहास से प्रभावित होकर लोग उसे सारी दुनिया का नेता समझने लगे थे और उसकी इज्ज़त करते थे। रोम का डर करीब-करीब अन्ध-विश्वास बन गया था। इस तरह रोम ज़ाहिरा तौर पर साम्राज्य का शक्तिशाली स्वामी बना रहा, लेकिन असलियत में उसके पीछे

कोई ताकत नही थी। बाहर से शान्ति थी और उसके नाटकघरो मे, बाजारो मे और अखाडो मे आदमियो की भीडें लगी रहती थी। लेकिन वह लाजिमी तौर पर पतन की तरफ जा रहा था, सिर्फ इसलिए नही कि वह कमजोर था, बल्कि इसलिए भी कि उसने जनता की गुलामी और मुसीबतो की बुनियाद पर अमीरो की सभ्यता का महल खडा किया था। मैंने अपने एक पत्र मे रोम के गरीबो के विद्रोह और बलवे का, और गुलामो के उस विद्रोह का, जो बडी क्रूरता से दबा दिया गया था, हाल लिखा था। इन विद्रोहो से जाहिर होता है कि रोम का समाजी ढाँचा कितना सडा हुआ था। वह अन्दर-ही-अन्दर टूक-टूक हो रहा था। गोथ और दूसरे उत्तरी कबीलो के हमलो ने इस क्रिया को मदद पहुँचाई और इसीलिए उनका कोई विरोध नही किया गया। रोमन किसान अपनी मुसीबतो से तग आ गये थे और वे किसी भी तरह के परिवर्तन का स्वागत करने के लिए तैयार थे। गरीब मजदूर और गुलाम तो और भी बदतर हालत मे थे।

पश्चिम के रोमन साम्राज्य के खत्म होते ही, हम देखते हैं कि पश्चिम की कई कौमे गोथ, फ्रैंक, वगैरा आगे आईं, जिनके नाम गिनाकर मैं तुम्हें परेशान न करूँगा। ये लोग आजकल की पश्चिमी यूरोपीय जातियो यानी जर्मन, फ्रान्सीसी, वगैरा के पूर्वज थे। हम इन देशो को यूरोप मे धीरे-धीरे शक्ल लेता हुआ देखते है। साथ ही हम उस समय वहाँ एक बहुत नीचे दर्जे की सभ्यता पाते हैं। शाही रोम के अन्त के साथ-साथ रोम की तडक-भडक और विलासिता का भी अन्त हो गया, और रोम की छिछली सभ्यता, जो घिसटती आ रही थी, एक दिन मे गायब हो गई; क्योंकि इसकी जडें तो पहले ही सूख चुकी थी। इस तरह हम सचमुच मनुष्य जाति के पीछे हटने की एक विचित्र मिसाल देखते हैं। यही चीज हमे भारत, मिस्र चीन, यूनान, रोम और दूसरी जगहो पर देखने को मिलती है। मेहनत के साथ ज्ञान और अनुभव इकट्ठे किये जाते हैं और सस्कृति और सभ्यता बनती है और उसके बाद एकदम गति रुक जाती है। सिर्फ गति ही नही रुक जाती बल्कि पीछे लौटना शुरू हो जाता है। अतीत के ऊपर एक परदा-सा पड जाता है और हालाँकि कभी-कभी हमे उसकी झलक मिल जाती है, लेकिन ज्ञान और अनुभव के पहाड पर फिर से चढना जरूरी हो जाता है। शायद हर बार लोग कुछ ऊपर चढ जाते हैं और आगे की चढाई आसान कर देते हैं, ठीक वैसे ही जैसे हिमालय की सबसे ऊँची चोटी एवरेस्ट पर चढाई करने के लिए टोली के बाद टोली आती है, और हर टोली अपने पहलेवाली टोली की बनिस्बत चोटी के ज्यादा नजदीक पहुँचने मे सफल होती है, और हो सकता है कि एक दिन इस चोटी पर विजय हासिल कर ली जाय।

मतलब यह है कि यूरोप में हमे अँधेरा दिखाई देता है। 'अन्धकार का युग' शुरू होता है और लोगो की जिन्दगी असभ्य और बेढगी हो जाती है। शिक्षा

करीब-करीब गायब हो जाती है और लड़ाई के सिवा लोगों का कोई धन्धा या मनोरंजन नहीं रह जाता। सुक़रात और अफ़लातून का जमाना वास्तव में बहुत दूर नजर आता है।

यह तो पश्चिमी साम्राज्य की बात हुई। आओ, अब पूर्वी साम्राज्य पर भी नजर दौड़ायें। तुम्हें याद होगा कि कान्स्टेन्टीन ने ईसाइयत को राज-धर्म बना दिया था। इसके एक उत्तराधिकारी सम्राट् जूलियन ने ईसाइयत को मानने से इन्कार कर दिया। वह पुराने देवी-देवताओं की पूजा के रास्ते पर वापस जाना चाहता था। लेकिन वह सफल न हो सका क्योंकि पुराने देवी-देवताओं के दिन बीत चुके थे और ईसाइयत उनके मुकाबले में बहुत ज्यादा ताक़तवर थी। जूलियन को ईसाई लोग 'काफ़िर जूलियन' कहने लगे और इसी नाम से वह इतिहास में मशहूर है।

जूलियन के बाद एक दूसरा सम्राट् हुआ, जो उससे बिलकुल दूसरी क़िस्म का था। उसका नाम थियोदोसी था और उसे 'महान्' कहा गया है। मेरे खयाल से उसे महान् इसलिए कहा गया है कि वह देवी-देवताओं की पुरानी मूर्तियां और पुराने मन्दिरों को तोड़ने में महान् था। वह सिर्फ़ ग़ैर-ईसाइयों के ही खिलाफ़ नहीं था, बल्कि उन ईसाइयों का भी दुश्मन था, जो इसके खयाल में कट्टर नहीं थे। वह कोई भी विचार या धर्म, जो उसे पसन्द न होता था, उसे सहन करने को तैयार नहीं था। थियोदोसी ने थोड़े दिनों के लिए पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्य को जोड़ दिया और वह दोनों का सम्राट् बन गया। यह ३९२ ई० की बात है, जबतक रोम पर बर्बरों का हमला नहीं हुआ था।

ईसाई मजहब बराबर फैलता गया। इसकी लड़ाइयां अब ग़ैर-ईसाइयों से नहीं थीं। जो कुछ लड़ाई-झगड़े होते थे, वे सब ईसाई फ़िरक़ों में आपस में ही हुआ करते थे और इन लोगों की असहिष्णुता की मात्रा को देखकर ताज्जुब होता है। सारे उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी एशिया, और यूरोप में भी, बहुत-से लड़ाई के मैदानों में ईसाइयों ने, अपने ईसाई भाइयों को घूंसों, डण्डों और समझाने के इसी तरह के दूसरे 'नर्म' उपायों के जरिये सच्चा धर्म सिखाने की कोशिश की।

५२७ से ५६५ ई० तक जस्तीनियन कुस्तुन्तुनिया में सम्राट् रहा। मैं पह
बता चुका हूं कि उसने गोथों को इताली (इटली) से निकाल दिया था और कु
दिनों के लिए इताली और सिसली पूर्वी साम्राज्य के हिस्से बन गये थे। पर बा
में गोथों ने इताली पर कब्जा कर लिया।

जस्तीनियन ने कुस्तुन्तुनिया में सान्ता सोफ़िया का खूबसूरत गिरजा बनाय
जो आज तक सबसे बढ़िया बिजंन्तीन गिरजों में गिना जाता है। इसने उस वक्
के तमाम कानूनों को एक जगह इकट्ठा कराया और योग्य वकीलों से उन

तरतीबवार जमवाया। पूर्वी रोमन साम्राज्य और उसके सम्राटो के बारे मे कुछ भी जानने से बहुत पहले मुझे इस क़ानूनी किताब से जस्तीनियन का नाम मालूम हुआ। इस किताब का नाम 'इन्स्टीटयूट आफ जस्तीनियन' है और मुझे यह पढनी पडी थी। हालांकि जस्तीनियन ने कुस्तुन्तुनिया मे एक विश्वविद्यालय कायम किया था, लेकिन उसने एथेन्स की अकादमी यानी दर्शनशास्त्र के पुराने स्कूल बन्द करा दिये थे, जो अफलातून ने कायम किये थे, और जो करीब एक हज़ार वर्ष से चले आ रहे थे। किसी भी रूढ़िवादी मज़हब के लिए दर्शनशास्त्र खतरनाक चीज़ होती है, क्योंकि इसकी वजह से लोग सोचने-विचारने लगते हैं।

अब हम छठी सदी तक आ पहुँचे हैं। हम देखते हैं कि रोम और कुस्तुन्तुनिया धीरे-धीरे एक-दूसरे से दूर होते जाते हैं। रोम पर तो उत्तर के जर्मन कबीलो का कब्ज़ा हो जाता है, और कुस्तुन्तुनिया रोमन साम्राज्य कहलानेवाले यूनानी साम्राज्य का केन्द्र हो जाता है। रोम टूक-टूक होकर अपने उन विजेताओ की सभ्यता के नीचे दर्जे को पहुँच जाता है, जिन्हें वह अपनी शान के ज़माने मे 'बर्बर' कहा करता था। कुस्तुन्तुनिया ने एक तरह से अपनी पुरानी परम्परा जारी रक्खी, लेकिन वह भी सभ्यता के दर्जे मे नीचे गिर जाता है। ईसाई फिरके प्रभुत्व के लिए आपस मे लडते हैं, और पूर्वी ईसाइयत, जो तुर्किस्तान, चीन और हब्श[1] तक फैल गई थी, कुस्तुन्तुनिया और रोम दोनो से अलग कट जाती है। 'अन्धकार का युग' शुरू होता है। इस समय तक अगर कोई शिक्षा थी तो प्राचीन भाषाओ की, यानी यूनानी या पुरानी लातीनी की जिसे यूनानी से प्रेरणा मिली। लेकिन ये पुरानी यूनानी किताबें, जिनमे देवी-देवताओ का हाल था और दर्शन की बातें थी, उस शुरू के ज़माने के नेक, श्रद्धालु और अनुदार ईसाइयो के लिए ठीक साहित्य नही समझी जाती थी। इसलिए इनको पढने के लिए कोई बढावा नही दिया जाता था। इस तरह विद्या को और कला के भी कई रूपो को नुकसान उठाना पडा।

लेकिन ईसाइयत ने विद्या और कला की रक्षा करने की भी कुछ कोशिश की। बौद्ध सघो की तरह ईसाई मठ कायम हुए और तेजी से फैल गये। इन मठो मे कभी-कभी पुरानी विद्या को ठिकाना मिल जाता था। इन्ही मठो मे नई कला का भी बीज बोया गया, जो सदियो बाद अपने पूरे सौन्दर्य से खिली। इन मठो के पादरियो ने विद्या और कला के दीपक की टिमटिमाहट को बुझने नहीं दिया। यह बुझने न देना ही इनकी सेवा है। लेकिन यह रोशनी एक छोटे दायरे मे ही बन्द थी, बाहर तो बिलकुल अँधेरा था।

ईसाइयत के इस शुरू ज़माने मे हमे एक और अजीब झुकाव दिखाई देता है। बहुत-से लोग मज़हबी जोश मे आकर आदमी की आबादियो से दूर, रेगिस्तानो

[1] हब्श—एबीसीनिया।

मे या सुनसान जगहो मे चले जाते थे, और वहाँ जगली हालत मे रहते थे। ये लोग अपने-आपको पीडा पहुँचाते थे, नहाते-धोते नहीं थे और ज्यादा-से-ज्यादा पीडा सहने की कोशिश करते थे। यह बात मिस्र मे खासतौर से पाई जाती थी, जहाँ इस किस्म के बहुत-से दरवेश रेगिस्तान मे रहा करते थे। इनका शायद यह खयाल था कि वे जितनी ही ज्यादा पीडा सहेगे और जितना ही कम नहायें-धोयेंगे, उतने ही ज्यादा पवित्र हो जायेंगे। एक दरवेश तो कई वर्षों तक एक खम्भे के ऊपर बैठा रहा। धीरे-धीरे इस तरह के दरवेशो का सिलसिला खत्म हो गया, लेकिन बहुत दिनो तक बहुत-से श्रद्धालु ईसाइयो का विश्वास बना रहा कि किसी भी तरह का आनन्द मनाना पाप है। कष्ट-सहन के इस सिद्धान्त ने ईसाइयो की विचारधारा को रँग दिया था। यूरोप मे आज इस तरह की कोई बात नही दिखाई देती। आज तो वहाँ यह हाल है कि हरेक आदमी पागल की तरह इधर-उधर दौडने और मौज-बहार की जिन्दगी गुजारने पर उतारू है। अक्सर इस दौड-धूप से आखिर मे थकावट और उचाट पैदा हो जाती है, मजा नही हासिल होता।

पर भारत मे आज भी हम कभी-कभी लोगो को वैसा ही बर्ताव करते देखते हैं, जैसाकि मिस्र मे ये ईसाई दरवेश किया करते थे। ये लोग अपना एक हाथ ऊपर उठाये रहते हैं, यहाँतक कि वह सूखकर बेकार हो जाता है, या लोहे की कीलो पर बैठे रहते हैं, या इसी तरह के बहुत-से बेहूदा और बेवकूफी के काम करते हैं। मेरा खयाल यह है कि कुछ तो ऐसा इसलिए करते हैं कि नासमझ लोगो पर धाक जमाकर उनसे पैसे वसूल करें, और कुछ लोगो की शायद यह भावना रहती है कि ऐसा करने से वे पवित्र हो जायेंगे। मानो अपने शरीर को किसी भले काम के नाकाबिल बना लेना भी कोई अच्छी बात हो सकती है।

यहाँ मुझे बुद्ध की एक कथा याद आती है, जिसके लिए मुझे फिर अपने पुराने मित्र ह्युएनत्साङ का सहारा लेना पडता है। बुद्ध का एक नौजवान शिष्य तपस्या कर रहा था। बुद्ध ने उससे पूछा, "प्रिय युवक जब तुम दुनियादार थे, तब क्या वीणा बजाना जानते थे?" उसने कहा, "जी हाँ।" तब बुद्ध ने कहा—

"अच्छा मैं इससे एक उपमा देता हूँ। जिस वीणा के तार बहुत कसे होते हैं, उसमे स्वरो का उतार-चढाव ठीक नही होता। जब तार ढीले होते हैं तो स्वरो मे न सगति होती है, न मधुरता। लेकिन जब वीणा के तार न तो ज्यादा कसे होते हैं और न ज्यादा ढीले तब उनसे मधुर स्वर निकलते हैं। यही हाल शरीर का भी है। अगर इसके साथ कठोरता का व्यवहार किया जाता है, तो यह थक जाता है, और चित्त अस्थिर हो जाता है। अगर इसे बहुत अधिक आराम दिया जाता है तो वासनाएँ बढने लगती हैं और इच्छाशक्ति कमजोर पड जाती है।"

४८

# इस्लाम का उदय

२१ मई, १९३२

हमने कई देशो के इतिहास पर और कई राज्यो व साम्राज्यो के उत्थान व पतन पर विचार किया। लेकिन अरब देश का किस्सा अभी तक हमने नही छेडा, सिवाय इस ज़िक्र के कि इस देश के व्यापारी और नाविक दुनिया के दूर-दूर हिस्सो मे जाया करते थे। नकशे को देखो। अरब के पश्चिम मे मिस्र है, उत्तर मे सीरिया (शाम) और इराक हैं, पूर्व से कुछ दूरी पर ईरान है और उत्तर-पश्चिम मे कुछ दूर हटकर एशिया-कोचक और कुस्तुन्तुनिया है। यूनान भी दूर नही है और भारत भी बस समुद्र के उस पार दूसरी तरफ है। चीन और सुदूर पूर्व के मुल्को का अगर हम खयाल न करें, तो अरब देश पुरानी सभ्यताओ के लिहाज़ से बिलकुल बीचो-बीच था। इराक मे दजला और फुरात नदियो के किनारे बडे-बडे शहर बस गये। मिस्र मे इस्कन्दरिया, सीरिया मे दमिश्क और एशिया-कोचक मे अन्तिओक जैसे बडे-बडे शहर बसे। अरब लोग यात्रा-पसन्द और व्यापारी थे, इसलिए वे इन शहरो को अक्सर जाया करते होंगे। फिर भी इतिहास मे अरब का कोई नामी भाग नही रहा। मालूम होता है कि इस देश की सभ्यता भी उतनी ऊँचे दर्जे की नही रही जितनी कि उसके आस-पास के देशो की। अरब ने न तो दूसरे देशो को जीतने की कोशिश की, और न उसको ही जीतना किसीके लिए आसान था।

अरब एक रेगिस्तानी मुल्क है, और रेगिस्तानो और पहाडो मे पलनेवाले लोग मज़बूत होते हैं, जिन्हे अपनी आज़ादी प्यारी होती है और जिन्हे आसानी से दबाया नही जा सकता। फिर अरब कोई उपजाऊ देश नही था, और इसमे कोई ऐसी चीज भी नही थी, जो विदेशी विजेताओ या साम्राज्यवादियो को खीचती। इसमे बस सिर्फ दो छोटे-छोटे नगर थे, मक्का और यथरीब, जो समुद्र के किनारे बसे हुए थे। बाकी रेगिस्तान के भीतर सिर्फ वास-स्थान थे और इस देश के लोग ज्यादातर बद्दू, 'रेगिस्तान के बाशिन्दे' थे। तेज़ ऊँट और खूबसूरत घोडे इनके आठो पहर के साथी थे और अद्भुत सहनशक्तिवाला गधा भी एक कीमती चीज़ और वफादार दोस्त समझा जाता था। किसी को गधे की उपमा देना तारीफ समझा जाता था, दूसरे देशो की तरह कोई गाली नही। क्योकि किसी रेगिस्तानी मुल्क मे जिन्दगी बडी सख्त होती है और दूसरी जगहो की बनिस्बत वहाँ मज़बूती और सहन-शक्ति कही ज्यादा कीमती गुण समझे जाते है।

रेगिस्तान के ये बाशिन्दे आत्माभिमानी, भावुक और झगडालू होते थे। ये अपने-अपने वंशो और खानदानो मे रहते थे, और दूसरे वंशो और खानदानो से

झगडा करते थे। साल मे एक बार ये लोग आपस मे सुलह कर लेते थे और जियारत के लिए मक्का जाया करते थे, जहाँ इनके देवताओं की बहुत-सी मूर्तियाँ रहती थी। सबसे ज्यादा वे एक बडे भारी काले पत्थर[1] की पूजा करते थे, जिसका नाम 'कावा' था।

इन लोगो की जिन्दगी घुमक्कडो की जिन्दगी थी, जिसमे हर खानदान का सबसे बूढा आदमी सरदार होता था। इनकी जिन्दगी उसी किस्म की थी, जैसी कि शहरी जीवन और सभ्यता अपनाने के पहले मध्य एशिया या दूसरी जगहो के आदिम कबीले बसर किया करते थे। अरब के चारो तरफ जितने बडे-बडे साम्राज्य बने, उन सबकी सल्तनत मे अक्सर अरब देश भी शामिल होता था। लेकिन यह अधीनता असली न होकर सिर्फ नाम के लिए होती थी। क्योकि घुमक्कड रेगिस्तानी कबीलो को दबाकर रखना या उनपर हुकूमत करना कोई आसान बात नही थी।

तुम्हे शायद याद होगा कि एक बार सीरिया मे पालमीरा मे एक छोटी-सी अरब सल्तनत कायम हुई थी, और ईसवी सन् की तीसरी सदी मे, थोडे दिनो के लिए इसका एक शानदार जमाना रहा था। लेकिन यह भी मुख्य अरब के बाहर थी। मतलब यह कि बद्दू लोग पीढी-दर-पीढी अपनी रेगिस्तानी जिन्दगी बिताते रहते थे, अरबी जहाज व्यापार के लिए बाहर जाते थे, और देश का जीवन बिना किसी परिवर्तन के चलता रहता था। कुछ लोग ईसाई हो गये थे, और कुछ यहूदी, लेकिन ज्यादातर लोग ३६० मूर्तियो के, और मक्का के सगे-असवद के पूजनेवाले ही बने रहे।

यह अजीब बात है कि वह अरब-नस्ल जो युगो से सोते हुओ की तरह जीवन बिता रही थी और जाहिरा तौर पर दूसरी जगहो की घटनाओ से बिलकुल अलग थी, अचानक जाग पडी, और उसने इतनी जबर्दस्त जीवट दिखाई कि सारी दुनिया को चौंका दिया और उसमे उथल-पुथल मचा दी। अरब लोग एशिया, यूरोप और अफ्रीका मे तेजी के साथ फल गये, और उन्होंने ऊँचे दर्जे की सस्कृति और सभ्यता का किस तरह विकास किया, यह इतिहास मे एक चमत्कार की बात है।

जिस नये बल या भावना ने अरबो को जगाया और उनमे आत्म-विश्वास और जोश भर दिया, वह इस्लाम था। इस मजहब को एक नये पैगम्बर, मोहम्मद ने, जो मक्का मे ५७० ई० मे पैदा हुए थे, चलाया था। उन्हें इस मजहब को शुरू करने की कोई जल्दी नही थी। वह शान्ति की जिन्दगी गुजारते थे, और मक्का के लोग उनको चाहते थे और उनपर भरोसा करते थे। वास्तव मे लोग उन्हें 'अल् अमीन' या अमानतदार कहा करते थे। लेकिन जब उन्होंने अपने नये मजहब का प्रचार शुरू किया, और खासकर जब मक्का की मूर्तियो की पूजा का विरोध

---

[1] सगे असवद।

किया तो उनके खिलाफ़ बडा हल्ला मचा और आखिर उनको अपनी जान बचाकर मक्का से भागना पडा। सबसे ज्यादा वह इस दावे पर ज़ोर देते थे, कि खुदा सिर्फ़ एक है, और वह, मोहम्मद, उसका रसूल है।

जब मक्का से अपने ही लोगो ने उन्हे भगा दिया, तो उन्होने यथरीव मे अपने कुछ दोस्तो और मददगारो के यहाँ पनाह ली। मक्का से उनके इस कूच को अरबी ज़बान मे 'हिजरत' कहते हैं, और मुसलमानी सन् उसी वक्त से यानी ६२२ ई० से शुरू होता है। यह हिजरी सन् चान्द्र है, यानी इसमे चन्द्रमा के अनुसार तारीखो का हिसाब लगाया जाता है। इसलिए सौर-वर्ष से, जिसका आजकल आम-तौर पर प्रचार है, हिजरी साल ५-६ दिन कम का होता है। हिजरी सन् के महीने हर साल एक ही मौसम मे नही पडते। हिजरी सन् का एक महीना अगर इस साल जाडे मे है तो कुछ वर्षों के बाद वही महीना बीच गर्मी मे पड सकता है।

ऐसा कह सकते हैं कि इस्लाम, हिजरत मे, यानी ६२२ ई० से शुरू हुआ, हालांकि एक लिहाज से वह इसके कुछ पहले ही शुरू हो चुका था। यथरीब शहर ने मोहम्मद का स्वागत किया और उनके आने की ताज़ीम मे इस शहर का नाम बदलकर 'मदीनत-उन-नबी' यानी 'नबी का शहर' कर दिया गया। आजकल सक्षेप मे इसे सिर्फ मदीना कहते हैं। मदीना के जिन लोगो ने मोहम्मद की मदद की थी वे 'अंसार' यानी मददगार कहलाये। इन अंसारो के वशज अपने इस खिताब पर अभिमान करते थे और अभी तक इसका इस्तेमाल करते हैं।

इस्लाम और अरबो की विजयी ज़िन्दगी के दौर पर विचार करने से पहले ज़रा चारो तरफ सरसरी नज़र डाल लें। हम अभी देख चुके हैं कि रोम खत्म हो चुका था। पुरानी यूनानी-रोमन सभ्यता का अन्त हो गया था और इसका रचा हुआ सारा समाजी ढाँचा भी बिखर गया था। उत्तरी यूरोप के कबीले और वश कुछ आगे आ रहे थे। रोम से कुछ सीखने की कोशिश करते हुए ये लोग वास्तव मे बिलकुल नई किस्म की सभ्यता बना रहे थे। लेकिन अभी इसकी शुरुआत ही थी और ज़ाहिरा तौर पर दिखाई नही देती थी। इस तरह पुराने ज़माने का तो अन्त हो चुका था, लेकिन उसकी जगह नया ज़माना नही आया था। इसलिए यूरोप मे अंधेरा था। यह सही है कि यूरोप के पूर्वी सिरे पर पूर्वी रोमन साम्राज्य था, जो अभी तक फूल-फल रहा था। कुस्तुन्तुनिया का शहर उस वक्त भी बडा और शानदार शहर था और यूरोप मे सबसे बडा माना जाता था। उसके खेल-घरो में खेल-तमाशे और सरकस हुआ करते थे और वहाँ खूब तडक-भडक व दिखावट थी। फिर भी साम्राज्य कमज़ोर होता जा रहा था। ईरान के सासानियो से इसके युद्ध बराबर चलते रहते थे। ईरान के खुसरो द्वितीय ने कुस्तुन्तुनिया से उसकी सल्तनत का कुछ हिस्सा छीन भी लिया था, और नाम को वह अरब पर भी प्रभुत्व

का दावा करता था। खुसरो ने मिस्र भी जीत लिया था, और ठेठ कुस्तुन्तुनिया तक पहुँच गया था। लेकिन यूनानी सम्राट् हीरेक्ली ने इसे वहाँ हरा दिया। बाद मे खुसरो को उसके ही बेटे कवाद ने मार डाला।

इस तरह तुम देखोगी कि पश्चिम मे यूरोप और पूर्व मे ईरान, दोनो ही की हालत खराब थी। इसके अलावा ईसाई फिरको मे होनेवाले आपसी झगडो का कोई अन्त नही था। अफ्रीका मे और पश्चिम मे बहुत भ्रष्ट और झगडालू ईसाइयत फैल रही थी। ईरान मे ज़रथुस्त मजहब राजधर्म था और लोगो पर जबर्दस्ती लादा जाता था। इसलिए यूरोप, अफ्रीका और ईरान के ज्यादातर लोगो की आँखें उस समय के मजहबो के बारे मे खुल गई थी। उन्ही दिनो, सातवी सदी की शुरुआत मे, सारे यूरोप मे भयकर महामारियाँ फैल रही थी, जिनमे लाखो आदमी मर रहे थे।

भारत मे इस समय हर्षवर्धन राज्य कर रहा था और ह्यूएनत्साङ भारत आया हुआ था। हर्ष के राजकाल मे भारत एक बलशाली देश था। लेकिन थोडे ही दिन बाद उत्तर भारत के टुकडे-टुकडे हो गये और वह कमजोर पड गया। दूर पूर्व के देश चीन मे इसी समय तङ-राजवश का दौर शुरू हुआ था। ६२७ ई० मे 'ताई-त्सुङ' जो चीन के सबमे बडे सम्राटो मे गिना जाता है, राजगद्दी पर बैठा और उसके जमाने मे चीनी साम्राज्य पश्चिम मे ठेठ कैस्पियन सागर तक फैल गया था। मध्य एशिया के ज्यादातर देशो ने उसकी प्रभुता स्वीकार कर ली थी और उसे खिराज देते थे। पर शायद इस सारे विशाल साम्राज्य की कोई केन्द्रीय सरकार नही थी।

इस्लाम के उदय के समय एशियाई और यूरोपीय दुनिया की यह हालत थी। चीन शक्तिशाली और मज़बूत था, लेकिन वह बहुत दूर था। भारत भी, कम-से-कम कुछ दिनो तक तो, काफी मजबूत था। लेकिन, हम आगे देखेंगे कि भारत के साथ इस्लाम का बहुत दिनो तक कोई सघर्ष नही हुआ। यूरोप और अफ्रीका कमज़ोर और पस्त हो चुके थे।

हिजरत के बाद सात वर्ष के अन्दर ही मोहम्मद मक्का के स्वामी बनकर ही वहाँ लौटे। इसके पहले ही वह मदीना से दुनिया के बादशाहो और शासकों के पास परवाना भेज चुके थे कि वे एक अल्लाह और उसके रसूल पर ईमान लायें। कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् हीरेक्ली के पास यह परवाना उस वक्त पहुँचा था, जब वह सीरिया मे ईरानियो के खिलाफ लडाई मे मशगूल था। ईरान के बादशाह के पास, और कहते हैं कि चीन के ताई-त्सुङ तक भी यह परवाना पहुँचा था, इन बादशाहो और शासको को बडा ताज्जुब हुआ होगा कि आखिर यह अनजान आदमी कौन है, जो उनके ऊपर हुक्म चलाने की जुर्रत करता है! इन पैग़ामो के

भेजने से ही हम कुछ अन्दाज़ा लगा सकते है कि मोहम्मद को अपने मे और अपने मिशन मे कितना बडा भरोसा था। यही भरोसा और ऐतकाद उसने अपनी कौम मे भर दिया, और इसीसे प्रेरणा और तसल्ली हासिल करके रेगिस्तान के ये लोग, जिनकी पहले कोई बडी हैसियत नही थी, उस समय तक मालूम दुनिया के आधे हिस्से को जीतने मे सफल हुए।

भरोसा और ऐतकाद खुद तो बडी चीज़े थी ही। साथ ही इस्लाम ने भाईचारे का, यानी सब मुसलमान बराबर हैं, इस बात का भी सन्देश दिया। इस तरह कुछ हद तक लोकतन्त्र लोगो के सामने आया। उस ज़माने की भ्रष्ट ईसाइयत के मुकाबले मे भाईचारे के इस सन्देश ने सिर्फ अरबो पर ही नही, बल्कि जहाँ-जहाँ वे गये, उन सभी देशो के निवासियो पर भी, बडा भारी असर डाला होगा।

मोहम्मद ६३२ ई० मे, हिजरत के दस साल बाद, मरे। उन्होंने अरब के आपस मे लडनेवाले कई कबीलो को सगठित करके एक राष्ट्र बनाया और उनमे एक उद्देश्य के लिए ज़बर्दस्त जोश भर दिया। इसके बाद इनके खानदान के एक व्यक्ति अबूबकर खलीफा हुए। खलीफा चुनने का यह काम आम सभा मे गैर-रस्मी चुनाव मे होता था। दो साल बाद अबूबकर मर गये, और उमर उनकी जगह खलीफा बनाये गये। यह दस साल तक खलीफा रहे।

अबूबकर और उमर महान् व्यक्ति थे, जिन्होंने अरबी और इस्लामी महानता की बुनियाद डाली। खलीफ़ा की हैसियत से वे धर्माध्यक्ष और राजनीतिक सरदार, यानी बादशाह और पोप दोनो थे। अपने ऊँचे ओहदे और अपने राज्य की बढती हुई शक्ति के बावजूद उन्होंने अपने रहन-सहन की सादगी नही छोडी, और ऐश-आराम व ऊपरी शान-शौकत से कतई इन्कार कर दिया। इस्लाम का लोकतन्त्र इनके लिए एक ज़िन्दा चीज़ थी। लेकिन इनके मातहती हाकिम और अमीर बहुत जल्द रेशमी लिबास और ऐश-आराम मे डूब गये। अबूबकर और उमर ने किस तरह बार-बार इन अफसरो की लानत-मलामत की, और उन्हे सज़ा दी, यहाँ तक कि इनकी फिजूलखर्ची पर आँसू भी बहाये, इसके बहुत-से किस्से बयान किये जाते हैं। ये महसूस करते थे कि सीधे-सादे और कठोर रहन-सहन मे ही इनकी ताकत है, और अगर उन्होंने कुस्तुन्तुनिया और ईरान के दरबारो जैसा ऐश-आराम अपना लिया, तो अरब लोग भ्रष्ट हो जायँगे और नीचे गिर जायँगे।

अबूबकर और उमर का शासन बारह साल रहा। लेकिन इस थोडे से समय मे ही अरबो ने पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरान के सासानी बादशाह, दोनो को हरा दिया था। यहूदियो और ईसाइयो के पवित्र शहर यरूशलम पर अरबो ने कब्ज़ा कर लिया था, और सारे सीरिया, इराक और ईरान इस नये अरबी साम्राज्य के हिस्से बन चुके थे।

: ४९ .

# स्पेन से मंगोलिया तक अरबों की विजय

२३ मई, १९३२

दूसरे कुछ मजहबो के सस्थापको की तरह मोहम्मद भी उस समय के बहुत से समाजी रस्म-रिवाजो के विद्रोही थे। जिस मजहव का उन्होंने प्रचार किया, उसकी सादगी, सफाई और लोकतन्त्र व समता की सुगन्ध ने आस-पास के देशो की जनता के दिलो को खीच लिया, क्योकि निरकुश राजाओ ने और राजाओ की ही तरह निरकुश और ज़ालिम पुजारियो ने जनता को वहुत दिनो से कुचल रक्खा था। लोग पुराने ढगो से तग आ गये थे और परिवर्तन के लिए तैयार बैठे थे। इस्लाम ने यह परिवर्तन उनके सामने रक्खा और इसका उन्होंने स्वागत किया, क्योकि इसकी वजह से उनकी हालत बहुत-सी बातो मे वेहतर हो गई, और वहुत-सी पुरानी बुराइयाँ खत्म हो गईं। इस्लाम के साथ कोई ऐसी बडी समाजी क्रान्ति नही आई, जिससे जनता का शोषण खत्म हो गया होता। लेकिन जहाँतक मुसलमानो का ताल्लुक था, यह शोषण वास्तव मे कम हुआ और वे महसूस करने लगे कि वे सब एक ही बडी बिरादरी के लोग हैं।

इस तरह अरब लोग जीत-पर-जीत हासिल करते हुए आगे बढने लगे। अक्सर ये लोग बिना युद्ध किये ही जीत जाते थे। अपने रसूल की मृत्यु के पच्चीस वर्ष के अन्दर ही अरबो ने एक तरफ सारा ईरान, सीरिया, आरमीनिया और मध्य-एशिया का कुछ टुकडा और पश्चिम की तरफ मिस्र, और उत्तरी अफ्रीका का छोटा-सा टुकडा जीत लिया। मिस्र इन लोगो को सबसे ज्यादा आसानी से मिल गया, क्योकि यह देश रोमन साम्राज्य के शोषण से और ईसाई सम्प्रदायो की आपसी लाग-डॉट से सबसे ज्यादा तकलीफें उठा चुका था। कहते हैं कि अरबो ने इस्कन्दरिया का मशहूर पुस्तकालय जला दिया था, लेकिन अब यह बात ग़लत समझी जाती है। अरब लोग पुस्तको के इतने शौकीन थे कि ऐसा जगलीपन नही कर सकते थे। सम्भव है कि कुस्तुन्तुनिया का सम्राट् थियोदोसी, जिसका कुछ ज़िक्र मैं पहले कर चुका हूँ, पुस्तकालय को या उसके कुछ हिस्से को बर्बाद करने का अपराधी रहा हो। पुस्तकालय का एक हिस्सा तो बहुत पहले जूलियस सीज़र के ज़माने मे, एक घेरे के समय, बर्बाद हो चुका था। थियोदोसी पुरानी गैर-मसीही यूनानी किताबो को, जिनमे पुरानी यूनानी गाथाएँ और दर्शन की बाते होती थीं, पसन्द नही करता था। वह बडा श्रद्धालु ईसाई था। कहा जाता है कि वह अपने नहाने का पानी इन किताबो को जलाकर गर्म किया करता था।

अरब लोग पूर्व और पश्चिम दोनो तरफ बढते ही चले गये। पूर्व में हेरात,

स्पेन से मगोलिया तक अरबो की विजय
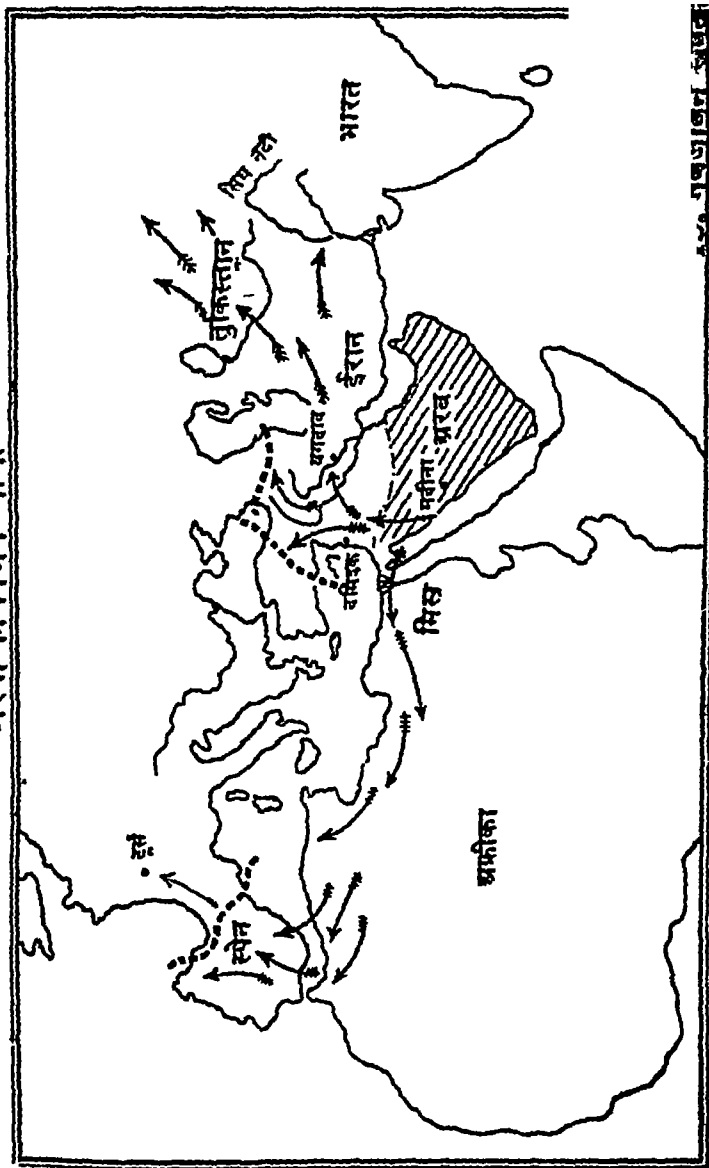
काबुल और बल्ख इनके कब्ज़े मे आ गये और वे सिन्ध नदी और सिन्ध तक जा पहुँचे। लेकिन इसके आगे वे भारत मे दाखिल नही हुए और कई सौ वर्षों तक भारत के राजाओ के साथ इनका बहुत दोस्ती का सम्बन्ध रहा। पश्चिम मे ये लोग आगे बढ़ते ही गये। कहते है कि इनका सेनापति उकबा उत्तरी अफ्रीका को पार करता हुआ अतलान्तिक समुद्र तक, यानी उस देश के पश्चिमी किनारे पर पहुँच गया था, जिसे आज मरक्कश (मोरक्को) कहते हैं। यह रुकावट सामने आ जाने से उसे बडी निराशा हुई और वह घोडे पर सवार होकर समुद्र मे जितनी दूर जा सकता था गया, और फिर उसने अल्लाह के सामने अफसोस ज़ाहिर किया कि अब उस दिशा मे कोई देश नही रहा, जिसे वह अल्लाह के नाम पर फतह करता।

मोरक्को और अफ्रीका से समुद्र के तग मुहाने को पार करके अरब लोग स्पेन और यूरोप मे दाखिल हुए। इस तग जलडमरूमध्य को पुराने यूनानी लोग 'हरकुल के स्तम्भ' कहते थे। अरब-सेनापति ने समुद्र को पार करके जिब्राल्टर मे लगर डाला था और यह नाम ही उस सेनापति की याद दिलाता है,। उसका नाम तारिक था और जिब्राल्टर का असली नाम 'जबल-उत-तारिक' यानी तारिक की चट्टान है।

स्पेन को अरबो ने बहुत जल्द फतह कर लिया और उसके बाद वे दक्षिण फ्रान्स मे घुस पडे। इस तरह मोहम्मद के मरने के बाद सौ वर्षों के अन्दर ही अरब का साम्राज्य दक्षिण फ्रान्स और स्पेन से लेकर उत्तर अफ्रीका को पार करके स्वेज़ तक, और आगे अरब, ईरान और मध्य एशिया को पार करके मगोलिया की सरहद तक फैल गया था। सिन्ध को छोडकर भारत इस साम्राज्य से बाहर था। यूरोप पर अरब लोग दो तरफ से हमले कर रहे थे। एक तो कुस्तुन्तुनिया पर बिलकुल सीधा हमला था, और दूसरा अफ्रीका होकर फ्रान्स पर। दक्षिण फ्रान्स मे अरबो की सख्या कम थी और वे अपने वतन से बहुत दूर थे। इसलिए उनको अरब से ज्यादा मदद नही मिल सकती थी, क्योंकि वह मध्य एशिया को फतह करने मे उलझा हुआ था। फिर भी फ्रान्स पहुँचे हुए इन अरबो ने पश्चिमी यूरोप के लोगो को इतना डरा दिया कि इनका मुकाबला करने के लिए यूरोप मे एक बहुत बडा शामिल-गुट बनाया गया। इस गुट का नेता चार्ल्स मार्तें था और इसने फ्रान्स मे तूर की लडाई मे ७३२ ई० मे अरबो को हरा दिया। इस हार ने यूरोप को अरबो से बचा लिया। एक इतिहास-लेखक ने लिखा है—"तूर के मैदान मे अरबो ने सारी दुनिया का साम्राज्य ऐसे समय खो दिया, जबकि वह करीब-करीब इनकी मुट्ठी मे आ चुका था।" इसमे शक नही कि अगर अरब लोग तूर की लडाई मे जीत गये होते तो यूरोप का इतिहास बिलकुल ही बदल गया होता। यूरोप मे इनकी गति को रोकने-वाला और कोई भी नही था। ये लोग कुस्तुन्तुनिया तक आसानी से बढे चले गए

होते, और इन्होंने पूर्वी रोमन साम्राज्य को और बीच के दूसरे राज्यो को खत्म कर दिया होता। तब ईसाइयत के बजाय इस्लाम यूरोप का मजहब हो गया होता, और दूसरी तरह के भी बहुत-से परिवर्तन हो गये होते। लेकिन यह सब तो कल्पना की उडान है। हुआ यह कि अरब लोग फ्रान्स मे रोक दिये गए, और इसके बाद कई सौ वर्षों तक वे स्पेन मे रहे, और वहाँ राज करते रहे।

स्पेन से मगोलिया तक के सारे देशो पर अरबो ने फतह पाई और रेगिस्तान के ये घुमक्कड एक ज़बर्दस्त साम्राज्य के अभिमानी शासक बन गये। लोग इन्हे सरासीन कहते थे। शायद यह शब्द 'सहरा नशीन' से बना हो, जिसका अर्थ 'रेगिस्तान के बाशिन्दे' होता है। लेकिन इन सहरानशीनो ने बहुत जल्द विलासिता और शहर की जिन्दगी इख्तियार कर ली और इनके शहरो मे बडे-बडे महल 'खडे हो गये। दूर-दूर देशो मे विजय हासिल कर लेने पर भी, इनकी आपस मे झगडने की पुरानी आदत नही गई। अब तो वास्तव मे झगडने के लिए कुछ सामान भी हो गया था, क्योकि अरब की प्रभुता का मतलब था एक बडे साम्राज्य की बागडोर हाथ मे आ जाना। इसलिए खलीफा की गद्दी के लिए अक्सर झगडे होते थे। इन छोटे-छोटे झगडो और खानदानी झगडो से गृह-युद्ध हो गया। इन्ही झगडो की वजह से इस्लाम दो हिस्सो मे बँट गया और दो सम्प्रदाय बन गये जो सुन्नी और शिया के नाम से आज तक मौजूद हैं।

पहले दो महान् खलीफाओ—अबूबकर और उमर—के शासनकाल के कुछ दिनो बाद ही गडबड पैदा हो गई। मोहम्मद की बेटी फातिमा के पति अली कुछ दिनो के लिए खलीफा हुए। लेकिन झगडा बराबर जारी रहा। अली कत्ल कर दिये गए और कुछ दिनो बाद उनके बेटे हुसेन सारे कुटुम्ब के साथ कर्बला के मैदान मे मार डाले गए। कर्बला की इस दुखान्त घटना की याद मे मुसलमान और खासकर शिया लोग, हर साल मुहर्रम के महीने मे मातम मनाया करते हैं।

खलीफा अब बिलकुल निरकुश बादशाह बन बैठे थे। खलीफा के ओहदे का लोकतन्त्र या चुनाव से कोई सरोकार नही रहा था। उस ज़माने के और निरकुश राजाओ की तरह खलीफा भी था। कहने को खलीफा इस्लाम का प्रमुख यानी 'अमीरुल-मोमिनीन'[1] भी माना जाता था। लेकिन कुछ खलीफा ऐसे भी हुए जिन्होंने इस्लाम का, जिसके कि वे मुख्य रक्षक समझे जाते थे, वास्तव मे अपमान किया।

लगभग सौ वर्षों तक खलीफा मोहम्मद के वश की एक शाखा मे से होते रहे जो उम्मैया कहलाती थी। दमिश्क इनकी राजधानी थी और महलो, मस्जिदो,

---

[1] ईमानवालों का सरदार।

फव्वारों और कुश्कों[1] की वजह से यह पुराना शहर बड़ा खूबसूरत बन गया था। दमिश्क की पानी की व्यवस्था बड़ी मशहूर थी। इस जमाने में अरबों ने इमारतें बनाने की कला की एक खास शैली निकाली, जो सरासीनी शिल्प के नाम से मशहूर हुई। इस शैली में ज्यादा सजावट नहीं होती। यह सादा, शानदार और सुन्दर होती है। इस शैली के पीछे अरब और सीरिया के मनोहर खजूरों की भावना थी। मेहराबें व खम्भे और मीनारें व गुम्बदें खजूर के कुंजों की मेहराबनुमा और गुम्बदनुमा शाखों की याद दिलाते हैं।

यह शैली भारत में भी आई। लेकिन उसपर भारत के संस्कारों का असर पड़ा और एक मिलवाँ शैली पैदा हो गई। सरासीनी इमारतों के कुछ सबसे सुन्दर नमूने स्पेन में अबतक पाये जाते हैं।

धन और साम्राज्य की वजह से विलास का और विलासिता के खेल-तमाशा और कलाओं का उदय हुआ। घुड़दौड़ अरबों के मनोरंजन का प्यारा साधन था। पोलो, शिकार और शतरंज भी इन्हें बहुत पसन्द थे। संगीत और खासकर गाना एक फैशन बन गया था, जिसकी धुन सबपर सवार थी। दमिश्क की राजधानी गवैयों से और उनके संगीतियों और पिछलग्गुओं से भरी पड़ी थी।

एक और बड़ा लेकिन अभागा परिवर्तन धीरे-धीरे आ गया। यह परिवर्तन स्त्रियों की हालत में हुआ। अरबों में औरतें बिलकुल परदा नहीं करती थी। इन्हें न तो अलहदा रक्खा जाता था, न छिपाया जाता था। वे बाहर निकलती थीं, मस्जिदों और तकरीरों में जाया करती थीं, और खुद भी तकरीरें देती थीं। लेकिन सफलता के नशे में अरब लोग उन दोनों पुराने साम्राज्यों, यानी पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरानी साम्राज्य के रिवाजों की नकल करने लगे, जो इनके दो तरफ थे। अरबों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य को हरा दिया था, और ईरानी साम्राज्य को खत्म कर डाला था, लेकिन ये खुद इन साम्राज्यों की बहुत-सी बुरी आदतों के शिकार हो गये। कहा जाता है कि खासकर कुस्तुन्तुनिया और ईरान के असर से अरबों ने स्त्रियों को परदे में रखना शुरू किया। धीरे-धीरे हरम[2] का रिवाज शुरू हुआ, और समाज में मर्दों और औरतों का मिलना-जुलना कम होने लगा। दुर्भाग्य से स्त्रियों का यह परदा इस्लामी समाज का अंग बन गया, और जब मुसलमान भारत में आये तो भारत ने भी यह बात उनसे सीख ली। यह सोचकर कि आज भी कुछ लोग इस जंगलीपन को बर्दाश्त कर रहे हैं, मुझे हैरत होती है। जब कभी मैं बाहर की दुनिया

---

[1] कुश्क—ईरान और तुर्की में बाग-बगीचों में बैठने के छोटे शामियाने। अंग्रेजी का kiosk शब्द इसीसे बना है।

[2] हरम—अन्तःपुर, यानी घर के भीतर स्त्रियों को परदे में रखने की जगह।

से अलग की हुई परदे मे रहनेवाली स्त्रियो का खयाल करता हूँ तो मुझे हमेशा कैदखाना या चिडियाघर याद आ जाता है। कोई राष्ट्र, जिसकी आधी आबादी एक किस्म के कैदखाने मे छिपाकर रक्खी जाती हो, कैसे तरक्की कर सकती है?

सौभाग्य की बात है कि भारत तेज़ी से परदे को फाडकर फेंक रहा है। बहुत हद तक मुसलमान समाज ने भी इस भारी बोझ से छुटकारा पा लिया है। तुर्की मे कमाल पाशा ने इसे बिलकुल खत्म कर दिया है और मिस्र मे यह बहुत तेज़ी के साथ ग़ायब हो रहा है।

एक बात और कहकर मैं इस पत्र को खत्म करूँगा। अरबो मे, खासकर अपनी जागृति की शुरुआत के दिनो मे, अपने दीन के लिए बहुत जोश भरा हुआ था। फिर भी ये लोग उदार थे और उनकी इस धार्मिक उदारता की बहुत-सी मिसालें मिलती हैं। यरूशलम मे खलीफा उमर ने इस बात पर काफी ज़ोर दिया था। स्पेन मे ईसाइयो की काफी आबादी थी, और उन लोगो को मजहब के मामले मे पूरी-पूरी आज़ादी थी। भारत मे, सिन्ध के अलावा अरबो का शासन कहीं नही रहा। लेकिन इस देश के साथ उनका काफी सम्पर्क रहा और आपसी सम्बन्ध मित्रता के रहे। सच तो यह है कि इतिहास के इस युग की सबसे उल्लेखनीय बात है अरबी मुसलमानो की उदारता और उससे उलटी यूरोप के ईसाइयो की धार्मिक असहिष्णुता।

५०

## बग़दाद और हारूं-अल-रशीद

२७ मई, १९३२

दूसरे देशो की चर्चा करने से पहले अरबो की कहानी जारी रक्खेंगे। जैसा कि मैंने अपने पिछले पत्र मे बताया है, करीब सौ वर्षों तक खलीफा लोग हज़रत मोहम्मद के वश की उम्मैया शाखा के हुआ करते थे। उनकी राजधानी दमिश्क थी, और उनकी हुकूमत में मुसलमान अरबो ने इस्लाम का झण्डा दूर-दूर देशो तक पहुँचा दिया। एक तरफ तो अरब लोग दूर-दूर के देशो को जीतते थे, दूसरी तरफ अपने घर मे ही लडते-झगडते रहते थे और अक्सर गृह-युद्ध हुआ करते थे। आखिरकार मोहम्मद के वश के एक दूसरे घराने ने, जो चचा अब्बास की सन्तान था और अब्बासी कहलाता था, उम्मैया खानदान को गद्दी से उतार दिया। अब्बासी लोग उम्मैयों के जुल्म का बदला लेने के लिए आये थे, लेकिन फतह हासिल करने के बाद उन्होंने जुल्म और हत्या मे उम्मैयो को भी मात कर दिया। उन्होंने उम्मैया लोगो को जहाँ भी पाया, पकड लिया और उन्हे बेरहमी से मार डाला।

यहीं से ७५० ई० मे अब्बासी खलीफाओ के शासन का लम्बा समय शुरू होता है। यह शुरुआत कुछ शुभ या मगलमय नही थी, फिर भी अरब इतिहास मे

अब्बासी काल काफी चमकदार समझा जाता है। इस जमाने मे उम्मैय्ो के समय के मुकाबले मे बहुत बडे परिवर्तन होने लगे थे। अरब के गृह-युद्ध ने सारे अरब साम्राज्य को हिला दिया था। अब्बासी लोग अपने देश मे तो जीत गये, लेकिन सुदूर स्पेन मे अरब हाकिम ने, जो उम्मैया था, अब्बासी खलीफा को मानने से इन्कार कर दिया। उत्तर अफ्रीका या इफरीकिया की सूबेदारी बहुत जल्दी स्वाधीन हो गई। मिस्र ने भी यही किया, बल्कि उसने तो अपना दूसरा खलीफा ही घोषित कर दिया। मिस्र तो इतना नजदीक था, कि इसे भी धमकाया जा सकता था और मातहती कबूल करने को मजबूर किया जा सकता था। और समय-समय पर ऐसा होता भी रहा। लेकिन इफरीकिया मे कोई दखल नहीं दिया गया, और स्पेन तो इतनी दूर था कि उसके खिलाफ कोई कार्रवाई की ही नही जा सकती थी। इस तरह अब्बासियो के खलीफा होने पर अरब साम्राज्य के टुकडे हो गये। अब खलीफा सारी दुनिया का प्रमुख नही रहा, और न 'अमीरुल मोमिनीन' ही रह गया। मुसलमानो मे एकता नही रही और स्पेन के अरब और अब्बासी एक दूसरे से इतनी नफरत करते थे कि जब एक पर आफत आती थी, तो दूसरा खुशी मनाता था।

इन सब बातो के होते हुए भी अब्बासी खलीफा बहुत बडे बादशाह थे, और साम्राज्यो के लिहाज से उनका साम्राज्य बहुत बडा था। वह पुराना अकीदा और जोश, जिन्होने पहाडो को जीता था और जो जगल की आग की तरह फैल गये थे, अब नजर नही आते थे। सादगी नही रही थी, और न लोकतन्त्र ही बाकी रह गया था। 'अमीरुल मोमिनीन' और ईरानी शहशाहो मे, जिन्हे पहले के अरबो ने हराया था, या कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् मे, कोई खास फर्क नही रह गया था। पैगम्बर मोहम्मद के जमाने के अरबो मे एक अजीब जिन्दगी और ताकत थी, जो बादशाहो की सेनाओ की ताकत से बिलकुल जुदा चीज थी। अपने जमाने की दुनिया मे उन्होने अपना सिक्का जमाया था और उनकी दुर्निवार विजय-यात्राओ के सामने सेनाएँ और बादशाह धूल मे मिलते गये। जनता इन बादशाहो से तग आ गई थी, और अरबो के आने से उसके दिल मे बेहतर दिनो की और समाजी क्रान्ति की उम्मीद पैदा हो गई थी।

लेकिन अब हालत बदल गई थी। रेगिस्तान के लोग अब महलो मे रहते और खजूरो की जगह बढिया-से-बढिया पकवान खाते थे। वे सोचते थे कि हम तो काफी आराम मे हैं, फिर समाजी क्रान्ति या किसी परिवर्तन की झझट मे क्यो फँसे ? शान-शौकत मे वे पुराने साम्राज्यो की होड करने की कोशिश करते थे, और उनके कई बुरे रस्म-रिवाज उन्होने अपना लिये। जैसा कि मै तुम्हे बता चुका हूँ, इनमे से एक बुरा रिवाज स्त्रियो का परदा था।

राजधानी दमिश्क से हटकर इराक मे बगदाद चली गई। राजधानी की यह बदली भी महत्वपूर्ण थी, क्योकि बगदाद ईरानी बादशाहो का गर्मी के मौसम मे रहने की जगह था। और चूंकि दमिश्क की बनिस्बत वह यूरोप से दूर था, इस-लिए अब अब्बासियो की नजर यूरोप के बनिस्बत एशिया की तरफ ज्यादा रहने लगी। कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा करने की कोशिशें तो होती रही और यूरोपीय राष्ट्रो से कई युद्ध भी हुए, लेकिन ज्यादातर युद्ध बचाव के लिए होते थे। देशो की विजय के दिन लद चुके थे और अब्बासी खलीफा अपने बचे हुए साम्राज्य को ही मजबूत करने की कोशिश मे लग गये थे। स्पेन और अफ्रीका के बिना भी यह साम्राज्य काफी बडा था।

बगदाद! तुम इसे भूल तो नही गई? और क्या अलिफलैला मे हारूँ-अल-रशीद और शहज़ादी की अद्भुत कहानियाँ तुम्हें याद है? अब्बासी खलीफाओं के राज मे जो शहर बढा वह अलिफलैला का ही शहर था। बगदाद एक लम्बा-चौडा शहर था, जिसमे महल, सरकारी दफ्तर, स्कूल, कॉलिज, बडी-बडी दूकानें, पार्क और बगीचे थे। यहाँ के सौदागर पूर्व और पश्चिम के देशो से बडा भारी व्यापार करते थे। ढेरो सरकारी अफसर साम्राज्य के दूर-दूर के हिस्सो से, बराबर सम्पर्क बनाये रखते थे। सरकार दिन-पर-दिन पेचीदा होती जाती थी और उसके बहुत-से महकमे बन गये थे। साम्राज्य के कोने-कोने से राजधानी तक चिट्ठी-पत्री लाने-ले जाने का बहुत अच्छा इन्तजाम था। शफाखाने काफी सख्या मे थे। सारी दुनिया के लोग बगदाद आया करते थे। विद्वान् विद्यार्थी और कलाकार खास-तौर पर आते थे, क्योंकि यह मशहूर था कि खलीफा सब विद्वानो और कुशल कलाकारो का स्वागत करता है।

खलीफा खुद खूब ऐश-आराम की जिन्दगी गुजारता था और गुलामो से घिरा रहता था। उसकी बेगमे हरम मे रहती थीं। हारूँ-अल-रशीद के ज़माने मे, यानी ७८६ से ८०९ ई० तक, अब्बासी साम्राज्य अपनी जाहिरा शान-शौकत की चोटी पर था। हारूँ के दरबार मे चीनी सम्राट् के और पश्चिम मे सम्राट् शार्लमैन के राजदूत आये थे। स्पेन के अरबो को छोडकर, बगदाद और अब्बासी साम्राज्य शासन की सारी कलाओ मे, व्यापार मे और विद्या के विकास मे, यूरोप से बहुत आगे बढे हुए थे।

अब्बासी काल हमारे लिए खासतौर से दिलचस्प है, क्योकि इसी जमाने में विज्ञान मे नई दिलचस्पी पैदा हुई थी। तुम जानती हो कि विज्ञान आजकल की दुनिया मे बहुत बडी चीज है और बहुत-सी बातो के लिए हम विज्ञान के देनदार हैं। विज्ञान का काम यह नही है कि सिर्फ हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ जाय और मनाता रहे कि घटनाएँ होती रहें। वह तो इस तलाश मे रहता है कि घटनाएँ क्यो

होती है ? विज्ञान प्रयोग करता रहता है और बार-बार कोशिश करता है—कभी असफल होता है और कभी सफल—और इस तरह धीरे-धीरे मनुष्य-जाति के ज्ञान को बढाता रहता है। आजकल की हमारी दुनिया प्राचीन या मध्यकालीन दुनिया से बिलकुल अलग तरह की है। यह बडा फर्क ज्यादातर विज्ञान की वजह से ही है, क्योंकि आज का ससार विज्ञान का ही बनाया हुआ है।

प्राचीन देश मे हमको मिस्र, चीन या भारत मे वैज्ञानिक तरीका नही दिखाई देता। पुराने यूनान मे जरूर कुछ अश मे पाया जाता है। रोम मे भी इसका अभाव था। लेकिन अरब मे खोज की वैज्ञानिक भावना पाई जाती थी, इसलिए अरबो को आजकल के विज्ञान का जन्मदाता कह सकते हैं। आयुर्वेद और गणित जैसे कुछ विषयो मे इन्होंने भारत से बहुत-कुछ सीखा था। भारतीय विद्वान् और गणितज्ञ बडी सख्या मे बगदाद जाते थे। बहुत-से अरबी विद्यार्थी उत्तर भारत में तक्षशिला आया करते थे, जो उस समय तक एक बहुत बड़ा विश्वविद्यालय था और आयुर्वेद की शिक्षा के लिए खास मशहूर था। आयुर्वेद की और दूसरे विषयों की सस्कृत पुस्तकें अरबी जबान मे खासतौर से अनुवाद की गई थी। बहुत-सी चीजें अरबो ने चीन मे सीखी—जैसे कागज़ बनाना। लेकिन जो कुछ उन्होंने दूसरों से सीखा उसकी बुनियाद पर अपनी खोजें करके उन्होंने और बहुत-सी महत्वपूर्ण ईजादें की। सबसे पहले उन्होंने ही दूरबीन और कुतुबनुमा बनाये। चिकित्सा में अरब के हकीम और जर्राह सारे यूरोप मे मशहूर थे।

इन तमाम दिमागी हलचलो का मुख्य केन्द्र बगदाद ही था। पश्चिम में अरबी स्पेन की राजधानी कुरतुबा भी ऐसा ही केन्द्र था। अरबी दुनिया मे इसी तरह के और भी कई विश्वविद्यालयो के केन्द्र थे, जहाँ दिमागी जीवन खूब उन्नति पर था, जैसे 'विजयी' अल-काहिरा, बसरा, और कूफा। लेकिन एक अरबी इतिहासकार के अनुसार "इस्लाम की राजधानी, इराक़ की आँख, साम्राज्य की गद्दी और कला, सस्कृति और सौन्दर्य का केन्द्र" बगदाद इन सब मशहूर शहरों से बढा-चढा था। इसकी आबादी बीस लाख से ज्यादा थी और यह आजकल के कलकत्ता या बम्बई से बहुत बडा था।

तुम्हे यह जानकर दिलचस्पी होगी कि मोजा और जुर्राब पहनने की आदत सबसे पहले बगदाद के अमीरो से ही शुरू हुई बतलाई जाती है। इन्हे 'मोज़ा' कहा जाता था और इनका भारतीय नाम इसी शब्द से निकला होगा। इसी तरह फ्रान्सीसी शब्द 'शेमीज़' यानी कुर्त्ता 'कमीज़' से निकला है। 'कमीज़' और 'मोज़ा' दोनो चीजें अरबो से कुस्तुन्तुनिया के बिजैन्तीनो ने ली और फिर वहाँ से यूरोप पहुँची।

अरब लोग हमेशा से दूर-दूर की यात्रा करनेवाले रहे हैं। इन्होंने अपनी

लम्बी-लम्बी समुद्र-यात्राएं जारी रक्खी और अफ्रीका मे, भारत के किनारो पर, मलेशिया मे, और चीन तक मे अपने उपनिवेश कायम किये। अलबेरूनी एक मशहूर अरब यात्री हो गया है, जो भारत आया था, और वह भी ह्यूएनत्साङ की तरह अपने सफर का लिखा हुआ हाल छोड गया है।

अरब लोग इतिहास-लेखक भी थे, और इनकी ही किताबो और इतिहासो से हमे इनके बारे मे बहुत-सी बाते मालूम होती हैं। हम सभी जानते हैं कि वे कितने सुन्दर किस्से और फसाने लिख सकते थे। हजारो-लाखो आदमियो ने अब्बासी खलीफाओ का और उनके साम्राज्य का नाम तक नही सुना है, लेकिन 'अलिफ लैला' यानी 'एक हजार एक रातो' मे बयान किये हुए रहस्य और फसानो के नगर बगदाद को कौन नही जानता। कल्पना का साम्राज्य अक्सर सचमुच के साम्राज्य से ज्यादा असली और टिकाऊ होता है।

हारूँ-अल-रशीद की मृत्यु के कुछ दिनो बाद अरब साम्राज्य पर आफत आई। दंगे-फसाद होने लगे और साम्राज्य के कई हिस्से अलग हो गये। सूबो के हाकिम मौरूसी शासक बन बैठे। खलीफा बराबर कमजोर होते गये, यह तक कि एक ऐसा भी वक्त आया जब खलीफा का राज्य सिर्फ बगदाद शहर और आस-पास के कुछ गाँवो पर ही रह गया। एक खलीफा को तो उसीके सिपाहियो ने महल से बाहर घसीट कर कत्ल कर डाला था। फिर थोडे दिनो के लिए कुछ ऐसे जोरदार व्यक्ति पैदा हुए, जो बग़दाद से बैठे-बैठे हकूमत करने लगे, और जिन्होने खलीफाओ को अपना मातहत बना लिया।

इस समय इस्लाम की एकता दूर के बीते हुए जमाने की बात हो गई थी। मिस्र से लेकर मध्य एशिया के खुरासान तक, सभी जगह, अलग-अलग राज्य बन गये। दूर पूर्व से बहुत-से घुमक्कड कबीले पश्चिम की तरफ बढ़ने लगे। मध्य एशिया के पुराने तुर्क मुसलमान हो गये और उन्होने आकर बगदाद पर कब्जा कर लिया। इनको सेलजूक तुर्क कहते हैं। इन्होने कुस्तुन्तुनिया की बिजन्तीन सेना को पूरी तरह हराकर यूरोप को हैरत मे डाल दिया। क्योंकि यूरोप के लोगो का खयाल था कि अरबो और मुसल्मानो की ताकत खत्म हो चुकी है और वे लोग दिन-पर-दिन कमजोर होते जा रहे हैं। यह बात सच थी कि अरब लोग बहुत गिर चुके थे, लेकिन अब सेलजूक तुर्क इस्लाम का झण्डा ऊँचा रखने और यूरोप को चुनौती देने के लिए मैदान मे उतर आये थे।

हम आगे चलकर देखेंगे कि इस चुनौती का जल्दी जवाब दिया गया, और मुसलमानो से लडने के लिए और अपने पवित्र शहर यरूशलम को फिर से जीतने के लिए यूरोप के ईसाई राष्ट्रो ने कई बार सगठित होकर जिहाद (धर्म-युद्ध) का झण्डा उठाया। सौ वर्षों से ज्यादा तक सीरिया, फिलस्तीन और एशिया-कोचक

मे हुकूमत के लिए इस्लाम और ईसाइयत मे लडाइयाँ हुई। दोनो ने एक दूसरे को परास्त कर दिया और इन देशो की चप्पा-चप्पा ज़मीन मनुष्यो के खून से तर कर दी। इन हिस्सो के खुशहाल शहरो की महानता और तिजारत खत्म हो गई और हरे-भरे खेत अक्सर वीरान कर दिये गए।

इसी तरह ये एक दूसरे से लडते रहे। इनकी लडाइयाँ खत्म भी नही होने पाई थी कि एशिया के उस पार मगोलिया मे 'दुनिया को हिलानेवाला' कहलानेवाला मुगल चगेज़ खाँ पैदा हुआ। एशिया और यूरोप को तो इसने आगे चलकर वास्तव में हिला दिया। इसने और इसके वशजो ने बगदाद और उसके साम्राज्य को हमेशा के लिए खत्म कर दिया। जब मगोल लोग बगदाद के विशाल और मशहूर शहर का निपटारा कर चुके तो वहाँ सिर्फ़ मिट्टी और राख का ढेर रह गया था और उसके बीस लाख निवासियो मे से ज्यादातर मर चुके थे। यह १२५८ ई० की बात है।

बगदाद अब फिर एक खुशहाल शहर हो गया है और इराक की राजधानी है। लेकिन वह अपने पुराने रूप की सिर्फ छाया है, क्योकि मगोलो की ढायी हुई मौत और बरबादी के असर से यह कभी न पनप सका।

: ५१ :

## उत्तर-भारत में—हर्ष से महमूद तक

१ जून, १९३२

अब हमे अरबो या सरासीनो की कहानी के सिलसिले को तोडकर दूसरे देशो पर नज़र डालनी चाहिए। जिस अर्से मे अरब शक्तिशाली हुए, विजयी हुए, फैले और फिर गिर गए, उस बीच भारत मे, चीन मे और यूरोप के देशो मे क्या हो रहा था? इसकी कुछ झलक हम पहले ही देख चुके हैं—७३२ ई० मे चार्ल्स मार्तें की कमान मे यूरोप की शामिल सेनाओ का अरबो को फ्रान्स मे तूर की लडाई मे हराना, अरबो की मध्य-एशिया पर विजय और भारत मे सिन्ध तक उनका आना। पहले ज़रा भारत की ओर चलें।

कन्नौज का राजा हर्षवर्धन ६४८ ई० मे मर गया और उसके मरने के साथ ही उत्तर भारत का राजनीतिक पतन और भी साफ-साफ दिखाई देने लगा। पतन का यह सिलसिला कुछ समय पहले ही से चला आ रहा था और हिन्दू और बौद्धधर्म के सघर्ष ने इस गिरावट मे मदद पहुँचाई। हर्ष के समय मे खूब दिखावा था, लेकिन यह भी थोडे ही दिन रहा। हर्ष के मरने के बाद उत्तर भारत मे कई छोटे-छोटे राज्य पैदा हो गए, जो कभी-कभी कुछ दिनो के लिए शान दिखा देते

थे, और कभी-कभी आपस मे लडा करते थे। यह विचित्र बात है कि हर्ष के मरने के बाद तीन सौ से भी ज्यादा वर्षों तक देश मे साहित्य और कला फूलते-फलते रहे, और कई बढिया सार्वजनिक चीजें बनी। इसी जमाने मे भवभूति और राजशेखर जैसे कई प्रसिद्ध सस्कृत लेखक हुए और कई ऐसे राजा हुए, जो राजनीति के लिहाज से तो महत्व नही रखते, लेकिन इसलिए मशहूर हुए कि उनके राज मे कला और विद्या ने तरक्की की। इनमे से राजा भोज तो आदर्श राजा का ऐसा नमूना बन गया है, जिसका नाम कहानियो मे आता है।

लेकिन इन चमकदार घटनाओ के बावजूद उत्तर भारत का पतन होता जा रहा था। दक्षिण भारत फिर से आगे बढ रहा था और उत्तर भारत पर छाने लगा था। इस समय के दक्षिण भारत के बारे मे मैं तुम्हे अपने एक पिछले पत्र मे कुछ लिख चुका हूँ। उसमे मैंने चालुक्यों, पल्लवो, राष्ट्रकूटो और चोल साम्राज्य के बारे मे लिखा था। मैं शकराचार्य का भी जिक्र कर चुका हूँ, जिन्होंने थोडी-सी जिन्दगी मे ही सारे देश के विद्वानो और बेपढो, दोनो पर असर डालने मे सफलता पाई और जो भारत मे बौद्ध धर्म को करीब-करीब खत्म कर देने मे सफल हुए। कितनी विचित्र बात है कि जब शकराचार्य अपना काम कर रहे थे ठीक उसी समय एक नया मजहब भारत का दरवाजा खटखटा रहा था, जो बाद मे बाढ की तरह जीतता हुआ भारत मे घुसा और उस जमाने की व्यवस्था को चुनौती देने लगा।

अरब लोग बहुत जल्द, हर्ष की जिन्दगी में ही, भारत की सीमा पर आ पहुँचे थे। वे वहाँ कुछ समय के लिए रुक गए और फिर उन्होंने सिन्ध पर कब्जा कर लिया। ७१० ई० मे सत्रह साल के एक जवान लडके मोहम्मद इब्न कासिम ने अरबी सेना लेकर सिन्ध काँठे को पश्चिम पजाब मे मुलतान तक जीत लिया। भारत मे अरबो की फतह का यही पूरा फैलाव था। सम्भव है, अगर उन्होंने कडी कोशिश की होती वे इससे भी आगे बढ गए होते। यह काम कुछ मुश्किल भी न होता, क्योंकि उत्तर भारत बहुत कमजोर था। हालाँकि इन अरबों और आस-पास के राजाओ मे अक्सर लडाइयाँ हुआ करती थी, फिर भी देश जीतने के लिए कोई सगठित कोशिश नही की गई। इसलिए राजनीतिक पहलू से अरबो की सिन्ध पर यह विजय कोई खास महत्व का मामला नहीं था। मुसलमानो ने भारत को इसके कई सौ वर्षों बाद जीता, लेकिन अरबो और भारतवासियो के इस सम्पर्क का सस्कृति पर बहुत बडा असर हुआ।

अरबो का दक्षिण के भारतीय राजाओ, खासकर राष्ट्रकूटो, के साथ दोस्ती का व्यवहार रहता था। बहुत-से अरब भारत के पश्चिमी किनारे पर बस गये थे और अपनी बस्तियों में उन्होंने मस्जिदें बनवाई थी। अरब यात्री और व्यापारी भारत के कई हिस्सो मे जाया करते थे। अरब विद्यार्थी उत्तर भारत

के तक्षशिला विश्वविद्यालय मे काफी सख्या ", आते थे, जो खासकर आयुर्वेद की शिक्षा के लिए मशहूर था। कहते हैं कि हारूँ-अल-रशीद के ज़माने मे भारत के विद्वानो का बगदाद मे बडा आदर था और भारत के वैद्य शफ़ाखानो और चिकित्सा की पाठशालाओ की व्यवस्था करने के लिए बगदाद जाया करते थे। गणित और ज्योतिष के बहुत-से सस्कृत-ग्रन्थो का अरबी भाषा मे अनुवाद किया गया था।

इसी तरह अरबो ने पुरानी भारतीय-आर्य सस्कृति से बहुत-सी बातें ली। उन्होंने ईरान की आर्य-सस्कृति और यूनानी सस्कृति से भी बहुत-कुछ लिया था। अरब लोग करीब-करीब एक नई नस्ल की तरह थे, जो अपनी पूरी जवानी पर थी। उन्होंने अपने चारो ओर जितनी पुरानी सभ्यताएँ देखी, सबसे कुछ-न-कुछ सीखा और फ़ायदा उठाया, और इस बुनियाद पर उन्होने एक अपनी ही चीज बनाई, जिसे सरासीनी सस्कृति कहते हैं। सस्कृतियो के लिहाज से इस सस्कृति की ज़िन्दगी थोडे दिनो की ही रही, लेकिन यह एक रोशन ज़िन्दगी थी, जो यूरोप के मध्य युगो के अँधेरे परदे पर चमकती हुई दिखाई देती है।

यह अजीब बात है कि अरब लोगो ने तो भारतीय आर्य, ईरानी और यूनानी सस्कृतियो के सम्पर्क से फायदा उठाया, पर भारतीयो, ईरानियो और यूनानियो ने अरबो के सम्पर्क से ज्यादा फायदा नही उठाया। शायद इसकी वजह यह हो कि अरब जाति नई थी, और मर्दानगी व उत्साह से भरी हुई थी, लेकिन दूसरी जातियाँ पुरानी थी जो पुरानी लकीरो पर चली जाती थी, और परिवर्तन की ज्यादा परवाह नही करती थी। यह मज़ेदार बात है कि उम्र का जैसा असर व्यक्तियो पर पडता है, वैसा ही कौमो और नस्लो पर भी पडता है, उनकी गति धीमी पड जाती है, उनके मन और शरीर बेलोच हो जाते हैं, वे परिवर्तन से घबराने लगती हैं और रूढिवादी बन जाती हैं।

इसलिए अरबो के इस सम्पर्क से, जो कई सौ वर्षो तक रहा, भारत पर ज्यादा असर नही पडा, और न उसमे कोई खास परिवर्तन ही हुआ। लेकिन इस लम्बे समय मे नये मजहब इस्लाम के बारे मे भारत को कुछ-न-कुछ जानकारी जरूर हो गई होगी। अरब के मुसलमान आते और जाते रहे और मस्जिदें बनवाते रहे, कभी उन्होने अपने मज़हब का प्रचार किया और कभी कुछ लोगो को मुसलमान भी बनाया। मालूम होता है कि उस समय इन बातो पर कोई ऐतराज़ नही किया जाता था और न हिन्दू धर्म और इस्लाम मे कोई झगडा या सघर्ष हुआ। यह बात ध्यान देने लायक है, क्योंकि बाद मे इन दोनो मे सघर्ष और लडाई-झगडे हुए ही। ग्यारहवी सदी मे जब इस्लाम हाथ मे तलवार लेकर, विजेता की तरह, भारत मे दाखिल हुआ तभी ज़बर्दस्त प्रतिक्रिया शुरू हुई और पुरानी सहनशीलता की जगह नफरत और सघर्ष ने ले ली।

यह तलवार चलानेवाला, जो आग और मार-काट लेकर भारत मे आया, गजनी का महमूद था। गजनी अब अफगानिस्तान मे एक छोटा-सा कस्बा रह गया है। दसवी सदी मे गजनी के आस-पास एक राज्य बन गया था। मध्य एशिया के राज्य नाम के लिए बगदाद के खलीफा के अधीन थे, लेकिन, जैसा कि मै तुमको पहले ही बता चुका हूँ, हारूँ-अल-रशीद के मरने के बाद खलीफा कमजोर हो गये और एक समय आया जब खलीफाओ का साम्राज्य कई स्वाधीन राज्यो मे बँट गया। यह उसी समय की बात है, जिसका हम जिक्र कर रहे है। सुबुक्तगीन नामक एक तुर्की गुलाम ने ९७५ ई० के लगभग गजनी और कन्धार मे अपना एक राज्य कायम कर लिया था। उसने भारत पर भी हमला किया। उन दिनो लाहौर का राजा जयपाल था। साहसी जयपाल ने सुबुक्तगीन के खिलाफ काबुल नदी के कांठे पर चढाई कर दी, पर उसकी हार हो गई।

सुबुक्तगीन के बाद उसका बेटा महमूद गद्दी पर बैठा। वह एक तेजस्वी सेनापति और घुडसवारो का कुशल नायक था। हर साल वह भारत पर धावा बोलता, लूटता, मार-काट करता और अपने साथ बहुत-सा धन और बहुत-से क़ैदी ले जाता। कुल मिलाकर उसने भारत पर सत्रह हमले किये, जिनमे से सिर्फ एक कश्मीर का धावा असफल रहा। बाकी सब धावे सफल हुए, और सारे उत्तर भारत पर उसका आतंक छा गया। वह दक्षिण की तरफ पाटलिपुत्र मथुरा और सोमनाथ तक जा पहुँचा। कहा जाता है कि थानेश्वर मे वह दो लाख कैदी और बहुत-सा धन ले गया था। लेकिन उसे ज्यादा खज़ाना सोमनाथ मे मिला, क्योकि वहाँ पर एक बहुत बडा मन्दिर था और सदियो की भेंट-पूजा वहाँ जमा थी। कहते है कि जब महमूद सोमनाथ के पास पहुँचा, तो इस आशा मे कि कोई चमत्कार होगा, और उनका पूज्य देवता उनकी मदद करेगा, हजारो आदमियो ने उस मन्दिर मे शरण ली। लेकिन भक्तो की कल्पनाओ के बाहर चमत्कार शायद ही कभी होते हो। महमूद ने मन्दिर को तोड डाला और उसे लूट लिया। पचास हजार आदमी उस चमत्कार की, जो होनेवाला नही था, राह देखते-देखते मर गये।

महमूद १०३० ई० मे मर गया। उस समय सारा पजाब और सिन्ध उसके अधीन था। वह इस्लाम का एक बडा नेता माना जाता है, जो भारत मे इस्लाम फैलाने के लिए आया। बहुत-से मुसलमान उसकी इज्जत करते है, बहुत-से हिन्दू उससे नफरत करते है। लेकिन असल मे वह मजहबी आदमी नही था। वह मुसलमान जरूर था, लेकिन यह कोई खास बात नही थी। असली बात तो यह थी कि वह एक सिपाही था और बहुत होशियार सिपाही था। वह भारत को जीतने और लूटने आया था, जैसाकि बदकिस्मती से अक्सर सिपाही किया करते है, और वह किसी भी मजहब का माननेवाला होता तो भी यही करता। यह दिलचस्प बात

है कि महमूद ने सिन्ध के मुसलमान शासको को भी धमकी दी थी और जब उन्होने उसकी अधीनता मजूर कर ली और उसे खिराज दिया तभी उन्हे छोडा था। उसने बगदाद के खलीफा को भी मौत की धमकी दी थी और उससे समरकन्द माँगा था। इसलिए हमे महमूद को एक सफल सिपाही के अलावा और कोई दूसरी चीज समझने की आम गलतफहमी मे नही पडना चाहिए।

महमूद बहुत-से भारतीय शिल्पकारो और मेमारो को अपने साथ ग़ज़नी ले गया था, और वहाँ उसने एक सुन्दर मस्जिद बनाई थी, जिसका नाम उसने 'उरूमे जन्नत' यानी स्वर्ग-वधू रक्खा था। बगीचो का उसे बडा शौक था।

महमूद ने मथुरा की एक झलक हमे दिखाई है, जिससे पता लगता है कि मथुरा उस समय कितना बडा शहर था। महमूद ने गज़नी के अपने सूबेदार को एक खत मे लिखा था—"यहाँ एक हज़ार ऐसी इमारतें हैं, जो मोमिनो के ईमान की तरह मजबूत हैं। यह मुमकिन नही कि यह शहर अपनी मौजूदा हालत को बिना करोडो दीनार[1] खर्च किये पहुँचा हो, और न इस तरह का दूसरा शहर दो सौ साल से कम मे तैयार ही किया जा सकता है।"

महमूद का लिखा हुआ मथुरा का यह वर्णन हम फिरदौसी की किताब मे पढते है। फिरदौसी महाकवि था और महमूद का समकालीन था। मुझे खयाल आता है कि पिछले साल एक पत्र मे मैंने उसका और उसकी खास रचना 'शाहनामा' का जिक्र किया है। एक कथा है कि शाहनामा महमूद के कहने पर लिखा गया था और उसने फिरदौसी को एक-एक शेर पर सोने की एक-एक दीनार देने का वादा किया था। लेकिन मालूम होता है फिरदौसी सक्षेप मे और थोडे शब्दो मे लिखने का कायल नही था। उसने बहुत ही विस्तार के साथ लिखा, और जब वह महमूद के सामने अपने बनाये हज़ारो शेर ले गया, तो हालाँकि उसकी रचना की बहुत तारीफ की गई, लेकिन महमूद को जल्दबाजी मे किये गए अपने वादे पर अफसोस हुआ। उसने उसे वादे से बहुत कम देने की कोशिश की। इसपर फिरदौसी बडा नाराज हुआ और उसने कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया।

हर्ष से महमूद तक हमने एक लम्बी छलाँग मारी है और साढे तीन सौ वर्षों से ज्यादा समय का भारतीय इतिहास कुछ ही पैरो मे देख लिया है। मैं समझता हूँ कि इस लम्बे काल के बारे मे बहुत-कुछ दिलचस्प बातें लिखी जा सकती हैं। लेकिन मैं उनसे परिचित नही हूँ, इसलिए अक्लमन्दी की बात यही है कि मैं इस बारे मे चुप रह जाऊँ। मैं तुम्हें अलग-अलग राजाओ और शासको के बारे मे कुछ-न-कुछ बता सकता हूँ, जो एक-दूसरे से लडे और जिन्होने उत्तर भारत मे कभी-कभी पाचाल जैसे बडे-बडे राज्य भी कायम किये। कन्नौज के बडे शहर की

---

[1] दीनार—सोने का एक सिक्का।

मुसीबतो का भी हाल मैं बता सकता हूँ कि किस तरह उसपर पहले कश्मीर के राजाओ ने फिर बगाल के राजा ने और बाद मे दक्षिण के राष्ट्रकूटो ने हमले किये और थोडे-थोडे दिनो के लिए कब्ज़े किये, लेकिन इससे कोई फायदा न होगा, तुम सिर्फ उलझन मे फँस जाओगी।

यहाँ हम भारत के इतिहास के एक लम्बे अध्याय के अन्त तक आ पहुँचे हैं, और अब एक नया अध्याय शुरू होता है। इतिहास को अलग-अलग हिस्सो मे बाँटना मुश्किल होता है और अक्सर गलत भी। इतिहास बहती हुई नदी की तरह आगे बढता ही रहता है। फिर भी इसमे परिवर्तन होते रहते हैं, एक पहलू का अन्त और दूसरे की शुरुआत होती दिखाई देती है। ये परिवर्तन अचानक नही होते, एक परिवर्तन पूरा होने नही पाता कि दूसरा शुरू हो जाता है। इसलिए जहाँतक भारत का सम्बन्ध है, हम उसके इतिहास के अटूट नाटक के एक अक तक पहुँच गये है। जिस काल को हिन्दू-काल कहा जाता है वह अब धीरे-धीरे खत्म होता है। हिन्दू-आर्य सस्कृति, जो कई हज़ार वर्षों से फूलती-फलती आ रही थी, अब एक नई आनेवाली सस्कृति के सघर्ष मे आती है। लेकिन याद रखो कि यह परिवर्तन अचानक नही हुआ था, धीरे-धीरे आया था। इस्लाम उत्तर भारत मे महमूद के साथ आया। दक्षिण भारत बहुत दिनो तक इस्लाम से अछूता रहा, और इसके बाद बगाल भी करीब दो सौ वर्षों से ज्यादा तक इस्लाम के प्रभाव से बचा रहा। हम देखते हैं कि उत्तर मे चित्तौड, जो आगे के इतिहास मे अपनी जाँ-बाज बहादुरी के लिए मशहूर होनेवाला था, राजपूत घरानो के एक जगह इकट्ठा होने की जगह बनने लगा था। लेकिन मुसलमानो की विजय का ज्वार पक्के और न बदलनेवाले रूप से आगे बढता ही गया और व्यक्तिगत वीरता उसे ज़रा भी न रोक सकी। इसमे कोई शक नही कि पुराना हिन्दू-आर्य भारत गिरावट की तरफ जा रहा था।

विदेशियो और विजेताओ को रोकने मे असमर्थ होने पर हिन्दू-आर्य सस्कृति ने बचाव की नीति पकडी। अपने को बचाने की कोशिश मे वह एक कोठरी मे बन्द होकर बैठ गई। उसने अपनी जाति-प्रथा को, जिसमे अभी तक कुछ लोच बाकी था, ज्यादा कडी और जड बना दिया। उसने स्त्रियो की आज़ादी कम कर दी। ग्राम-पचायतो की हालत भी धीरे-धीरे बदलकर बुरी हो गई। लेकिन इस हालत मे भी, जबकि वह एक ज्यादा जीवटदार कौम के सामने गिर रही थी, उसने उन लोगो पर अपना असर डालने और उन्हे अपने साँचे मे ढालने की कोशिश की। और इस आर्य-सस्कृति मे दूसरो की बातो को अपनाने और हज़म करने की इतनी ताकत थी कि, एक हद तक, इसने अपने विजेताओ के ऊपर भी साँस्कृतिक विजय हासिल कर ली।

तुम्हे याद रखना चाहिए कि यह खीच-तान भारतीय-आर्य सभ्यता और

ऊँचे दर्जे की सभ्यतावाले अरबो के बीच नही थी। यह तो सभ्य, लेकिन गिरते हुए भारत और मध्य एशिया की उन आधी-सभ्य और अक्सर घुमक्कड कौमो के बीच थी जिन्होंने खुद ही उन्ही दिनो इस्लाम कबूल किया था। बदकिस्मती से भारत ने इस्लाम का सम्बन्ध इस असभ्यता और महमूद के हमलो की भयानकता के साथ जोड दिया, जिससे कडवाहट पैदा हो गई।

## ५२ .

## यूरोप के देशों का रूप लेना

३ जून, १९३२

प्यारी बेटी ! अब हम यूरोप की सैर करेंगे। पिछली बार जब हमने उसका जिक्र किया था तब उसकी हालत खराब थी। रोम का पतन, पश्चिमी यूरोप मे सभ्यता का पतन था। कुस्तुन्तुनिया की सरकार के अधीन हिस्से को छोडकर पूर्वी यूरोप मे भी खराब हालत थी। अतिला नामक हूण ने इस महाद्वीप के बहुत बडे हिस्से को जला डाला और तहस-नहस कर डाला था। लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य, गिरावट पर होते हुए भी, बना रहा। इतना ही नही, कभी-कभी उसमे हलचल के उफान भी आते रहते थे।

रोम के पतन ने पश्चिम को झँझोड दिया और उसके बाद वहाँ सब बातें नये तरीके से जमने लगी। इनके जमने मे बहुत दिन लग गये। फिर भी नया ढाँचा जैसे-जैसे बनता जाता है, वह हमे कुछ हद तक नज़र आने लगता है। कभी सन्तों और शान्ति-प्रिय लोगो की मदद पाकर, और कभी अपने योद्धा राजाओ की तलवार के ज़ोर पर, ईसाइयत फैलने लगी। नये-नये राज्य पैदा हो गये। फ्रान्स, बेलजियम और जर्मनी के एक भाग पर फ्रैंक लोगो ने, जिन्हें तुम फ्रैंच (फ्रान्स-निवासी) समझने की भूल न करना, क्लोविस नामक शासक के मातहत एक राज्य बनाया। इसने ४८१ से ५११ ई० तक राज किया। यह राजवश क्लोविस के दादा के नाम से मेरोविंजी वश कहलाता है। लेकिन इन राजाओ के ऊपर बहुत जल्दी उन्हीके दरबार का एक अफसर हावी हो गया। यह राजमहल का 'मेयर' था। ये मेयर सारी शक्तिवाले हो गये और इनका यह पद मौरूसी हो गया। असली शासक तो ये थे, राजा तो सिर्फ नाम के और कठपुतली थे।

चार्ल्स मार्ते भी इन्ही राजमहल के मेयरो मे से था, जिसने ७३२ ई० मे फ्रान्स मे तूर की बडी लडाई मे सरासीनो को हराया था। इस विजय से चार्ल्स मार्ते ने सरासीनो की उस लहर को रोक दिया जो मुल्को को जीतती चली आ रही थी, और ईसाइयो की निगाह मे उसने यूरोप को बचा लिया। इस जीत से उसकी इज्जत और शोहरत बहुत बढ गई। वह शत्रुओं से ईसाई सल्तनत की रक्षा करने

नवीं सदी का यूरोप
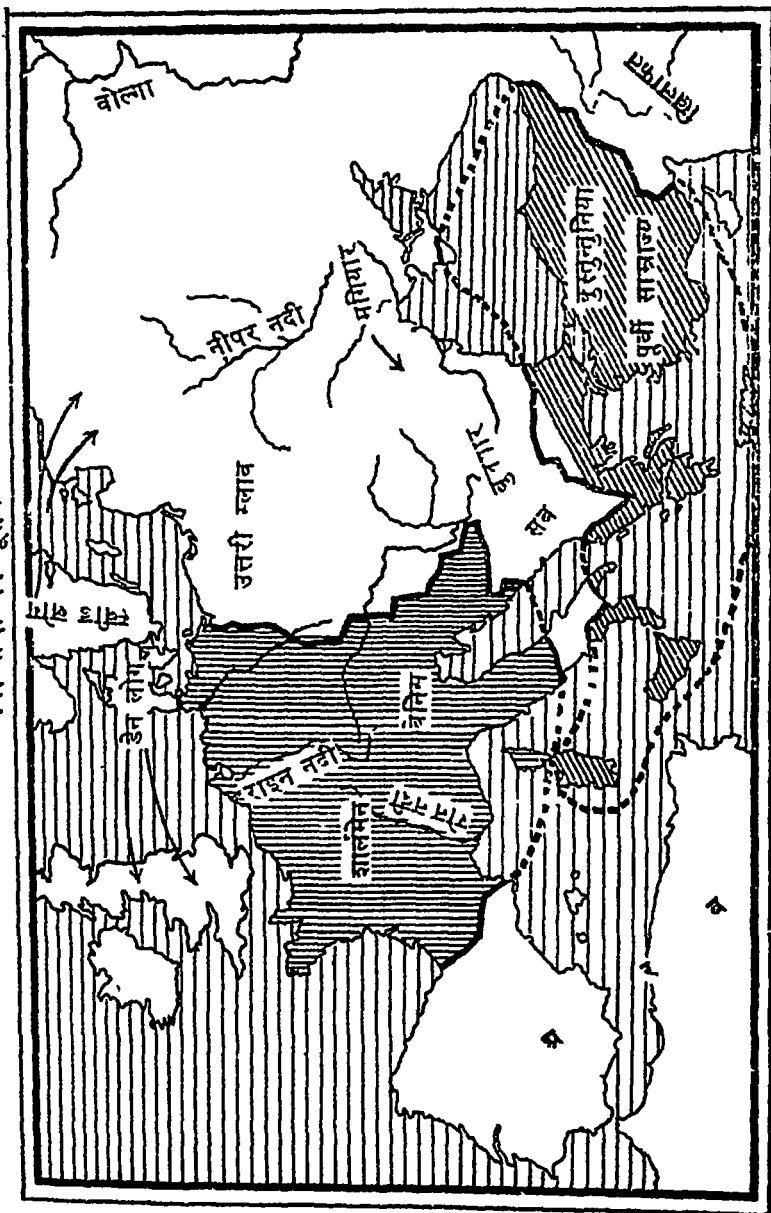
वाला वीर माना जाने लगा। इन दिनो रोम के पोपो और कुस्तुन्तुनिया के सम्राटो के आपसी सम्बन्ध अच्छे नही थे। इसलिए पोप सहायता के लिए चार्ल्स मार्ते का मुंह देखने लगा। चार्ल्स मार्ते के पुत्र पेपिन ने वहाँ के कठपुतली राजा को गद्दी से उतारकर अपने को बादशाह घोषित करना तय किया और पोप ने खुशी के साथ यह बात मान ली।

पेपिन का पुत्र शार्लमेन था। पोप के ऊपर फिर मुसीबत आई और उसने शार्लमेन को अपने बचाव के लिए बुलाया। शार्लमेन ने मदद की और पोप के दुश्मनो को भगा दिया और ८०० ई० के बडे दिन को गिरजे मे एक बडा उत्सव मनाया गया, जिसमे पोप ने शार्लमेन को रोमन सम्राट् का ताज पहना दिया। उसी दिन से पवित्र रोमन साम्राज्य शुरू हुआ, जिसकी बाबत मैं तुम्हे पहले एक बार लिख चुका हूँ।

यह एक विचित्र साम्राज्य था, और इसका आगे का इतिहास तो और भी विचित्र है, क्योकि वह धीरे-धीरे गायब हो जाता है, जैसे 'एलिस इन दि वण्डरलैण्ड'[1] की चेशायर बिल्ली गायब होकर सिर्फ अपनी मुस्कराहट छोड जाती है और उसके शरीर का कोई निशान नही रहता। लेकिन यह आगे की बात है और हमे अभी से भविष्य मे ताक-झाँक करने की जरूरत नही।

यह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' पुराने पश्चिमी रोमन साम्राज्य का सिलसिला नही था। यह एक अलग ही चीज़ थी। यह अपने साम्राज्य को ही साम्राज्य समझता था। इसका सम्राट्, शायद पोप को छोडकर अपने को दुनिया मे हरेक का स्वामी मानता था। सम्राट् और पोप के बीच कई सदियो तक इस बात की लाग-डाँट रही थी कि दोनो मे कौन बड है। लेकिन यह भी अभी आगे की बात है। मजे-दार बात यह है कि यह साम्राज्य उस पुराने साम्राज्य का पुनर्जीवन माना जाता था, जो किसी समय सर्वोपरि था और जब रोम दुनिया का स्वामी माना जाता था। लेकिन इसके साथ ईसाइयत और ईसाई-राज्य का एक नया विचार और जुड गया था। इसलिए यह साम्राज्य 'पवित्र' बन गया था। सम्राट् को इस पृथ्वी पर ईश्वर का नायब जैसा समझा जाता था और यही बात पोप के लिए भी थी। एक राजनीतिक मामलो को निपटाता था, दूसरा आध्यात्मिक मामलो को। बहरहाल

---

[1] 'एलिस इन दि वण्डरलैण्ड'—अंग्रेज़ी की एक पुस्तक का नाम। ऑक्स-फोर्ड विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर ने, लुई केरोल के नाम से, एक मित्र की लड-कियो के विनोद के लिए, सन् १८६५ मे इसे लिखा था। यह पुस्तक बडी रोचक है, और शायद ही कोई अंग्रेज़ी जाननेवाला बालक या बालिका ऐसी हो, जिसने इसे न पढा हो। इस पुस्तक मे एलिस नाम की एक लडकी की आश्चर्यमय लोक की स्वप्न-यात्रा का वर्णन है।

कुछ ऐसा ही विचार था, और मै समझता हूँ कि इसी विचार से यूरोप मे राजाओ के दैवी अधिकार'[1] का खयाल पैदा हुआ। सम्राट् 'धर्म का रक्षक' था। तुम्हे यह जानकर दिलचस्पी होगी कि इग्लैण्ड का बादशाह अभी तक 'धर्म का रक्षक' कहा जाता है।

इस सम्राट् का मुकाबला उस खलीफा से करो जो 'अमीरुल मोमिनीन' कहलाता था। शुरू मे खलीफा वास्तव मे सम्राट् और पोप दोनो ही होता था। लेकिन बाद मे, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, उसकी हैसियत नाम की रह गई थी।

कुस्तुन्तुनिया के सम्राटो ने पश्चिम के इस नये उठे हुए 'पवित्र रोमन साम्राज्य' को बिल्कुल पसन्द नही किया। जिस समय शार्लमेन गद्दी पर बैठा, कुस्तुन्तुनिया मे आइरीन नामक एक औरत सम्राज्ञी बन बैठी। आइरीन ऐसी स्त्री थी, जिसने सम्राज्ञी बनने के लिए खुद अपने ही पुत्र को मार डाला था और उसके समय मे राज्य की हालत खराब थी। यह भी एक वजह थी, जिससे पोप को यह साहस हुआ कि शार्लमेन को ताज पहनाकर कुस्तुन्तुनिया मे नाता तोड ले।

शार्लमेन इस समय पश्चिमी ईसाई सल्तनत का नायक था। वह पृथ्वी पर 'ईश्वर का नायब' था और एक पवित्र साम्राज्य का सम्राट् था। सुनने मे ये शब्द कितने शानदार मालूम पडते है। लेकिन इनसे जनता को चमका देने और उसे मन्त्रमुग्ध कर देने का काम सध ही जाता है। ईश्वर और धर्म को अपना मददगार बनाकर सत्ताधारियो ने बहुत बार दूसरो को बेवकूफ बनाने और अपनी ताकत बढाने की कोशिशें की हैं। राजा, सम्राट् और धर्माचार्य इस तरह औसत आदमी की नजरो मे धुंधले और छाया-जैसे प्राणी बन जाते हैं, जो लोगो की निगाह म देवताओ की तरह और साधारण जीवन से दूर हो जाते है। इस रहस्य की वजह से मनुष्य उनसे भय खाने लगता है। दरबारो के तकल्लुफी कायदो, शिष्टाचारो और ढकोसलो की तुलना मन्दिरो और गिरजो मे होने वाली पूजा के वैसे ही लम्बे-चौडे आडम्बरो से करो। दोनो मे वही एक-से सर झुकाना, कोर्निश करना और दण्डवत् करना—जिसे चीनी लोग 'को-तो' करना कहते हैं। सत्ता के विविध रूपो की यह पूजा बचपन मे ही हमे सिखाई जाती है। यह भय की उपासना है, प्रेम की नही।

शार्लमेन बगदाद के हारूँ-अल-रशीद का समकालीन था। वह उससे पत्र-व्यवहार करता था। और गौर करने की बात है कि उसने सचमुच यह सुझाव दिया था कि वे दोनो मिलकर पूर्वी रोमन साम्राज्य और स्पेन के सरासीनो का मुकाबला करें। मालूम होता है, इस सुझाव का कोई फल नही निकला, लेकिन फिर भी इससे राजाओ और राजनीतिको के दिमागो के रग-ढग पर काफी रोशनी पडती है। ईसाई-शक्ति और अरब-शक्ति के खिलाफ, 'पवित्र' सम्राट् ईसाई सल्तनत का

---

[1] Divine Right of Kings.

नायक, बगदाद के खलीफा से मेल करे, इसकी कल्पना तो करो! तुम्हे याद होगा कि स्पेन के सरासीनो ने बगदाद के अब्बासी खलीफाओ को मानने से इन्कार कर दि  ा था। वे आजाद हो गये थे और बगदाद उनसे जला-भुना बैठा था। लेकिन ये दोनो एक-दूसरे से इतने दूर थे कि लड नही सकते थे। कुस्तुन्तुनिया और शार्लमेन के आपसी सम्बन्ध भी कुछ अच्छे नही थे। लेकिन यहाँ भी फासले की वजह से लडाई नही हो पाई। बहरहाल यह सुझाव दिया गया था कि ईसाई और अरबी आपस मे मिलकर दूसरी ईसाई शक्ति और दूसरी अरबी शक्ति से लडे। राजाओ के मन मे असली नीयत यह होती थी कि किसी तरह शक्ति, सत्ता और दौलत हासिल करें—लेकिन मजहब को अक्सर इस नीयत का चोला बना दिया जाता था। हर जगह ऐसा ही होता रहा है। भारत मे हमने देखा है कि महमूद आया तो मजहब के नाम पर लेकिन उसने इस चीज से खूब फायदा उठाया। धर्म की दुहाई देकर लोगो ने बहुत कमाइयाँ की हैं।

लेकिन हरेक युग मे लोगो के विचार बदला करते हैं, और हमारे लिए बहुत दिन पहले के लोगो के बारे मे फैसला देना मुश्किल है। यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए। बहुत-सी बातें, जो आज हमे जाहिरा दिखाई देती हैं, उस समय के लोगो को बहुत विचित्र मालूम होती और उनके सोचने के ढग और उनकी आदतें हमको अजीब मालूम होती। एक तरफ जब लोग ऊँचे आदर्शो की, पवित्र साम्राज्य की, ईश्वर के नायब की, और ईसा की जगह लेनेवाले पोप की बातें करते थे, तब उधर पश्चिम मे हद से ज्यादा खराब हालत थी। शार्लमेन के राज के कुछ ही दिन बाद इटली और रोम बहुत ही शर्मनाक हालत मे थे। रोम मे कुछ स्त्रियो और पुरुषो का एक घृणा पैदा करनेवाला झुण्ड मनमानी करता था और पोपो को बनाता-बिगाडता रहता था।

वास्तव मे रोम के पतन के बाद पश्चिमी यूरोप मे फैली हुई आम अशान्ति से लोगो के दिलो मे यह खयाल पैदा हो गया था कि साम्राज्य अगर फिर जिन्दा हो जाय तो हालत सुधर जायगी। बहुतो के लिए यह इज्जत का सवाल हो गया कि उनका एक सम्राट् हो। उस समय का एक पुराना लेखक लिखता है कि चार्ल्स को इसलिए सम्राट् बनाया गया, कि "गैर-ईसाई यह समझकर ईसाइयो का अपमान न करें कि ईसाइयो मे सम्राट् का नाम बाकी नही रहा है।"

शार्लमेन के साम्राज्य मे फ्रान्स, बेलजियम, हालैण्ड, स्वीजरलैण्ड, आधा जर्मनी और आधा इटली शामिल थे। इसके दक्षिण-पश्चिम मे स्पेन था, जो अरबो के अधीन था। उत्तर-पूर्व मे स्लाव[1] और दूसरे कबीले थे। उत्तर मे डेन[2] और नार्थमेन[3]

---

[1] यूगोस्लाविया के निवासी, [2] डेनमार्क के निवासी, [3] उत्तर यूरोप के कबीले।

थे। दक्षिण-पूर्व मे बलगारी और सर्व[1] थे और उनके आगे कुस्तुन्तुनिया के अधीन पूर्वी रोमन साम्राज्य था।

८१४ ई० मे शार्लमेन की मृत्यु के थोडे ही दिनो बाद साम्राज्य की लूट के बँटवारे के लिए झगडे उठ खडे हुए। उसके वशज, जो कार्लोविजियन (केरोल चार्ल्स का लातीनी रूप है) कहलाते थे, किसी काम के नही थे, जैसाकि उनमे से कुछ की उपाधियो से मालूम होता है—एक 'मोटा' कहलाता था, एक 'गजा' और एक 'दीनदार'। शार्लमेन के साम्राज्य के बँटवारे से अब हम जर्मनी और फ्रान्स को अपना-अपना अलग रूप लेता हुआ देखते हैं। ८४३ ई० से जर्मनी का एक राष्ट्र के रूप मे जन्म माना जाता है, और कहा जाता है कि ९६२ से ९७३ ई० तक राज्य करनेवाले सम्राट् ओटो महान् ने जर्मनो को बहुत करके एक कौम बना दिया। फ्रान्स तो पहले से ही ओटो के साम्राज्य का हिस्सा नही था। ९८७ ई० मे ह्यू कैपे ने कमज़ोर कार्लोविजी राजाओ को निकाल दिया और फ्रान्स पर कब्ज़ा कर लिया। लेकिन कब्ज़ा पूरी तरह का नही था, क्योकि फ्रान्स बडे-बडे इलाको मे बँटा हुआ था, जो स्वाधीन सरदारो के मातहत थे और ये सरदार आपस मे अक्सर लडा करते थे। लेकिन वे एक-दूसरे से उतना नही डरते थे, जितना सम्राट् और पोप से, और इन दोनो का मुकाबला करने के लिए मिल जाते थे। ह्यू कैपे के समय से फ्रान्स की राष्ट्र के रूप मे शुरुआत हुई और इस शुरू के काल में भी हमे फ्रान्स और जर्मनी की लाग-डाँट दिखाई देती है, जो पिछले हज़ार वर्षों से ठेठ हमारे ज़माने तक चली आ रही है। अजीब बात है कि फ्रान्स और जर्मनी जैसे दो इतने सुसस्कृत और ऊँची दिमागी प्रतिभावाले पडोसी देश और राष्ट्र इस प्राचीन कलह को पीढी-दर-पीढी पालते रहे। लेकिन शायद इसमे उनका उतना कसूर नही है, जितना उन प्रणालियो का, जिनके अधीन वे रहते आये है।

करीब-करीब इसी समय रूस भी इतिहास के रंग-मच पर आता है। कहा जाता है कि उत्तर के रूरिक नामक एक व्यक्ति ने ८५० ई० के लगभग रूसी राज्य की नीव डाली थी। इसी समय यूरोप के दक्षिण-पूर्व में बलगारी लोग जमने लगे और वास्तव मे कुछ हमलावर भी होने लगे, इसी तरह सर्व लोग भी। मगयार या हगेरी और पोल[2] लोग भी पवित्र रोमन साम्राज्य के और नये रूस के बीच मे अपने राज्य बनाने लगे।

इसी बीच उत्तर यूरोप से कुछ लोग जहाजो मे पश्चिमी और दक्षिणी देशो मे आये और यहाँ उन्होंने आगें लगाईं, हत्याएँ की और लूट-मार की। तुमने डेनो और दूसरे नार्थमैनो के बारे मे पढा होगा, जो लूट-खसोट के लिए इग्लैण्ड पहुँचे थे। ये नार्थमैन या नार्समैन जो नार्मन कहलाये, भूमध्यसागर मे गये, अपने जहाजो

[1] सरबिया के निवासी। [2] पोलैण्ड के निवासी।

को बडी-बडी नदियो के रास्ते से अन्दर ले गये और जहाँ कही पहुँचे वहाँ डकैती, मारकाट और लूट-खसोट की। इटली मे अराजकता थी और रोम की हालत बहुत बुरी थी। इन लोगो ने रोम को लूट लिया और कुस्तुन्तुनिया पर भी जा धमके। इन लुटेरो और डाकुओ ने फ्रान्स के पश्चिमी हिस्से पर, जहाँ नारमण्डी है, और दक्षिण इटली और सिमली पर कब्जा जमाया और धीरे-धीरे वहाँ बस गये और सामन्त व जमीदार बन बैठे, जैसा कि लुटेरे खुशहाल होने पर अक्सर किया करते हैं। फ्रान्स के नारमण्डी प्रात मे बसे हुए इन्ही नार्मनो ने १०६६ ई० मे, विलियम की सेनानायकी मे, जो 'विजेता' के नाम से मशहूर है, इग्लैण्ड को जीत लिया। इस तरह हम इग्लैण्ड की भी शक्ल बनते देखते है।

अब हम मोटे तौर पर यूरोप मे ईसवी सन् के पहले हजार वर्षो के अन्त तक पहुँच गये है। इसी वक्त गजनी का महमूद भारत पर हमले कर रहा था और इसी समय के लगभग बगदाद के अब्बासी खलीफाओ की ताकत टूट रही थी और पश्चिमी एशिया मे सेल्जूक तुर्क इस्लाम को फिर से उठा रहे थे। स्पेन अब भी अरबो के मातहत था, लेकिन वे अपने वतन अरब से बिलकुल कट गये थे और दरअसल बगदाद के शासको के साथ उनके अच्छे ताल्लुक नही थे। उत्तरी अफ्रीका अमली तौर पर बगदाद की अधीनता से निकल चुका था। मिस्र मे एक स्वाधीन सरकार ही नही बल्कि एक अलग खिलाफत भी कायम हो गई थी और कुछ समय के लिए मिस्र के खलीफा ने उत्तरी अफ्रीका पर भी राज किया था।

## ५३

## सामन्त-प्रथा

४ जून, १९३२

अपने पिछले पत्र मे हमने आज के फ्रान्स, जर्मनी, रूस और इग्लैण्ड की शुरुआत की एक झलक देखी थी। लेकिन यह न समझ बैठना कि उस जमाने के लोग इन देशो को उसी रूप मे जानते थे, जिसमे हम इन्हे आज जानते हैं। हम आज अग्रेजो, फ्रान्सिसियो और जर्मनो के राष्ट्रो का अलग-अलग विचार करते है और इनमे से हरेक अपने देश को अपनी मातृभूमि या पितृ-भूमि की तरह मानता है। राष्ट्रीयता की यह भावना है, जो आजकल ससार मे इतनी जाहिर हो रही है। भारत मे हमारी आजादी की लडाई हमारी 'राष्ट्रीय' लडाई है। लेकिन उस जमाने मे राष्ट्रीयता की यह भावना मौजूद नही थी। ईसाई-जगत् की कुछ भावना जरूर थी—यानी काफिरो और मुसलमानो से अलग ईसाइयो के एक समुदाय या समाज के होने की भावना। इसी तरह मुसलमानो का भी खयाल था कि वे इस्लामी दुनिया के हैं और उनके अलावा बाकी जितने हैं वे सब काफिर हैं।

लेकिन ईसाई-जगत् और इस्लाम की ये भावनाएँ धुधली धारणाएँ थीं और जनता की रोजाना जिन्दगी पर इनका कोई असर नही था। खास-खास मौको पर इन भावनाओ को उभाडकर लोगो के दिलो मे इस्लाम या ईसाइयत दोनो मे से किसी के खिलाफ लडने का मजहबी जोश भरा जाता था। राष्ट्रीयता के बजाय, आदमी-आदमी के बीच एक अजीब तरह का सम्बन्ध था। यह सामन्ती सम्बन्ध था, जो सामन्त-प्रथा से पैदा हुआ था। रोम के पतन के बाद पश्चिम की पुरानी व्यवस्था तहस-नहस हो गई थी। हर जगह गडबड, अराजकता, हिंसा और जबरदस्ती का बोलबाला था। जबर्दस्त लोग जो कुछ छीन सकते थे छीन लेते थे, और जबतक कोई उनसे ज्यादा जबर्दस्त आदमी आकर उन्हे पछाड नही देता, तबतक उसपर कब्ज़ा जमाये रहते थे। मजबूत गढैयां बनाई जाती थी और इन गढैयो के सरदार छापे मारने के लिए अपने दलो के साथ बाहर निकलते थे। ये गांवो मे लूटमार करते थे, और कभी-कभी अपने ही जैसे सरदारो से लडते भी थे। नतीजा यह था कि ग़रीब किसानो और खेतिहर मजदूरो को ही सबसे ज्यादा मुसीबतें उठानी पडती थी। इसी गडबड मे सामन्त-प्रथा का जन्म हुआ था।

किसान सगठित नही थे और इन डकैत सरदारो से अपनी रक्षा नही कर सकते थे। इनकी रक्षा करने के लिए कोई ताकतवर केन्द्रीय सरकार नही थी। इसलिए इस बुराई से बचने का उन्होंने सबसे अच्छा उपाय यही देखा कि उन्हे लूटनेवाले इन गढ के सरदारो से समझौता कर लें। वे इस बात पर राजी हो गये कि उनके खेतो में जो कुछ पैदा हो उसका कुछ हिस्सा उन्हे दे दे और दूसरे रूप में भी उनकी कुछ सेवा करें, बशर्ते कि वे उन्हे लूटना और परेशान करना छोड दें और अपने वर्ग के दूसरे लोगो से भी इनकी रक्षा करें। इसी तरह छोटी गढैयो के सरदारो ने बडे गढो के सरदारो से समझौता कर लिया। लेकिन छोटा सरदार बडे सरदार को खेत की कोई उपज नही दे सकता था, क्योंकि वह खुद किसान या नाज पैदा करनेवाला नहीं होता था। इसलिए वह सैनिक सेवा का वादा करता था, यानी ज़रूरत पडने पर उसकी तरफ से लडने का वचन देता था। इसके एवज़ में बडा सरदार छोटे की रक्षा करता था और छोटा बडे का असामी हो जाता था। इसी तरह सीढी-दर-सीढी यह सिलसिला बडे सरदारो और सामन्तो तक चलता था और अन्त मे इस सामन्ती ढांचे के सिरमौर बादशाह तक पहुँच जाता था। लेकिन यह सिलसिला यहां भी खत्म नही होता। लोगो के लिए स्वर्ग मे भी त्रिदेव के रूप मे एक तरह की सामन्त-प्रथा थी, जिसका अध्यक्ष ईश्वर था।

यूरोप मे फैली हुई गडबड मे से यही सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे पैदा हुई। तुम्हे याद रखना चाहिए कि उस वक्त वास्तव मे कोई केन्द्रीय सरकार नही थी,

न तो पुलिस के सिपाही ही थे और न इस किस्म की कोई दूसरी चीज़ थी। ज़मीन के किसी टुकडे का मालिक, उसका शासक और सरदार तो था ही, लेकिन उस पर बसनेवाले तमाम लोगो का भी शासक और सरदार होता था। यह एक किस्म का छोटा राजा था, जो उनकी सेवाओ और खेतो की उपज के बदले मे उनकी रक्षा करनेवाला माना जाता था। यह उनकी सेवा का हकदार सरदार कहलाता था और वे उसकी रैयत या उसके तावेदार समझे जाते थे। माना यह जाता था कि इसकी ज़मीन उस बडे सामन्त की दी हुई होती थी, जिसका वह असामी होता था और जिसे वह सैनिक सेवा देता।

ईसाई-सघ के पादरी भी सामन्त-प्रथा के अग थे। वे धर्म-पुरोहित और सामन्ती सरदार दोनो थे। जर्मनी मे तो करीब आधी ज़मीन और सम्पत्ति बिशपो और ऐबटो[1] के हाथ मे थी। पोप खुद एक बडा सामन्ती सरदार था।

तुम देखोगी कि इस सारी प्रथा मे सीढियाँ और वर्ग थे। बराबरी का कोई सवाल ही न था। तावेदार असामी सबसे नीचे होते थे और उन्हे ही इस सामाजिक ढाँचे का—छोटे सरदारो, बडे सरदारो, उनसे बडे सरदारो और राजाओ का—सारा बोझ उठाना पडता था। ईसाई-सघ, यानी बिशपो, ऐबटो, कार्डिनलो और मामूली पादरियो का सारा खर्च भी इन्ही को बर्दाश्त करना पडता था। सामन्त लोग, चाहे छोटे हो या बडे, अन्न या और किसी किस्म की सम्पत्ति पैदा करने के लिए कोई मेहनत नही करते थे। ऐसा करना उनकी शान के खिलाफ समझा जाता था। लडाई इन लोगो का खास धन्धा था और जब कोई लडाई नही होती थी तो ये शिकार मे या नकली लडाइयो मे और टूर्नामेंटो मे वक्त गुज़ारते थे। यह अनपढ और अनगढ लोगो की एक ऐसी जमात थी, जो सिवाय खाने-पीने और लडने के कोई और मनोरजन के साधन नही जानती थी। इसलिए अन्न और जीवन की दूसरी ज़रूरतो को पैदा करने का सारा बोझ किसानो और दस्तकारो पर पडता था। इस सारी प्रणाली की चोटी पर बादशाह होता था, जो ईश्वर का जागीरदार माना जाता था।

सामन्त-प्रथा के पीछे यही विचार था। कहने को सरदारो का फर्ज था कि अपने असामियो और तावेदारो की रक्षा करें, पर व्यवहार मे ये अपनी मनमानी करते थे। बडे सरदारो का या बादशाह का इन पर कोई अकुश नही था, और किसानो मे इतनी ताकत नही थी कि इनकी माँगो को पूरा करने से इन्कार करते। चूँकि ये लोग ज्यादा ज़बर्दस्त होते थे, इसलिए अपने तावेदारो से ज्यादा-से-ज्यादा वसूल करते थे और उनके पास मुश्किल से इतना छोडते थे कि वे अपनी मुसीबत की जिन्दगी बिता सकें। ज़मीन के मालिको का यही ढग हमेशा से हर देश मे रहा

---

[1] बिशप और ऐबट पादरियों के दर्जे हैं।

है। जमीन की मिल्कियत ने लोगो को ऊँचा बना दिया। लुटेरा नाइट[1], जो जमीन दबा बैठता और गढैया बना लेता, अमीर-सरदार माना जाता था और सब उसकी इज्जत करते थे? मिल्कियत से इख्तियार भी आ जाता है। और मालिको ने इस इख्तियार का उपयोग करके, अन्न पैदा करनेवाले किसानो से, या मजदूरो से जो कुछ वसूल किया जा सका, किया है। कानून भी जमीन के मालिको की मदद करता रहा है, क्योकि कानून के बनानेवाले या तो वे खुद ही होते हैं या उनके यार-दोस्त। और यही वजह है कि आज कुछ लोगो का यह खयाल है कि जमीन किसी व्यक्ति की मिल्कियत नही होनी चाहिए, बल्कि समाज की मिल्कियत होनी चाहिए। अगर जमीन राज्य की या समाज की सम्पत्ति हो तो इसका मतलब यह होगा कि जमीन उन सबकी है जो उस पर बसते हैं। और ऐसी हालत मे न तो कोई उस जमीन पर दूसरो की कमाई खा सकेगा और न कोई बेजा फायदा ही उठा सकेगा।

लेकिन ये विचार तो अभी पैदा ही नही हुए थे। जिस जमाने की हम बात कर रहे हैं, उस जमाने के लोग इस ढग से नही सोचते थे। जनता मुसीबत मे थी, लेकिन उसे अपनी मुश्किलो से छुटकारा पाने का कोई रास्ता नही दिखाई देता था। इसलिए बेचारे इन सब बातो को बर्दाश्त करते थे और जिन्दगी बिताते थे। फरमाबरदारी की आदत उनमे कूट-कूटकर भर दी गई थी, और एक दफा जब ऐसा कर दिया जाता है तब लोग सब कुछ बर्दाश्त करने लगते हैं। इस तरह हम एक ऐसा समाज बनता देखते हैं, जिसमे एक तरफ तो सामन्ती सरदार और उनके पिछलग्गू थे और दूसरी तरफ दीन-हीन लोग थे। सरदार की पक्की गढैया के चारो तरफ असामियो के मिट्टी या लकडी के झोपडो का जमघट होता था। दो किस्म की दुनियाएँ थी, जो एक दूसरी से बहुत दूर थी। एक सरदारो की और दूसरी असामियो की। शायद सरदार अपने असामियो को अपने पालतू मवेशियो से कुछ ही दर्जे ऊँचे समझता था।

कभी-कभी छोटे पादरी असामियो को उनके सरदारो के अत्याचार से बचाने की कोशिश करते थे। लेकिन आमतौर पर पादरी लोग सरदारो का ही पक्ष लेते थे और सच तो यह है कि पादरी लोग खुद भी सामन्ती सरदार होते थे।

भारत मे इस किस्म की सामन्त-प्रथा तो नही रही, लेकिन यहाँ इससे कुछ मिलती-जुलती प्रथा पाई जाती है। हमारी देशी रियासतो मे राजाओ, सरदारो ठिकानेदारो और जागीरदारो ने बहुत-से सामन्ती रिवाज अबतक कायम रख

---

[1] नाइट (knight)—मध्यकालीन इंग्लैण्ड का योद्धा, जो सम्मानित समझा जाता था। नाइट को 'सर' की उपाधि दी जाती थी।

छोड़े हैं। हालांकि भारत की जाति-व्यवस्था सामन्त-प्रथा से बिल्कुल अलग है, पर इसने समाज को वर्गों में बांट दिया है। चीन में, जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, कभी कोई निरकुशता नहीं रही और न इस किस्म का कोई खास अधिकारवाला वर्ग ही रहा। इम्तहानों की इनकी प्राचीन प्रणाली ने हरेक व्यक्ति के लिए ऊँचे-से-ऊँचे ओहदों का दरवाजा खोल रखा था। लेकिन व्यवहार में अलबत्ता बहुत-सी बन्दिशें रही होंगी।

सामन्त-प्रथा में समानता या आजादी का कोई खयाल नहीं था। अधिकारों और कर्त्तव्यों का कुछ खयाल जरूर था, यानी सामन्त का यह अधिकार था कि वह अपने असामियों से सेवा और खेत की उपज का कुछ भाग वसूल करे, और उनकी रक्षा करना वह अपना कर्त्तव्य समझता था। लेकिन अधिकार हमेशा याद रहते हैं और कर्त्तव्यों की ओर से लोग अक्सर आंखें मूंद लेते हैं। आज भी कुछ यूरोपीय देशों में और भारत में बड़े-बड़े जमींदार पाये जाते हैं, जो बिना हाथ-पैर हिलाये अपने किसानों से बड़ी-बड़ी रकमें लगान में वसूल करते हैं। लेकिन किसी कर्त्तव्य का खयाल तो जमाना हुआ उन्होंने भुला दिया है।

ताज्जुब की बात है कि यूरोप की पुरानी बर्बर क़ौमों ने, जिन्हें अपनी आजादी इतनी प्यारी थी, धीरे-धीरे इस सामन्त-प्रथा को कबूल कर लिया, जिसमें आजादी के लिए कोई जगह ही नहीं थी। पहले ये कौमें अपने मुखिया चुना करती थीं और उस पर रोक-थाम रखती थीं। लेकिन अब चुनाव का कोई सवाल नहीं रह गया और सब जगह अत्याचारी और निरकुश शासन हो गया। मैं नहीं कह सकता कि यह परिवर्तन क्यों हुआ। मुमकिन है कि ईसाई-संघ के फैलाये हुए सिद्धान्तों ने लोकतन्त्र-विरोधी विचारों के फैलने में मदद दी हो। राजा को पृथ्वी पर परमेश्वर की छाया माना जाने लगा और सर्वशक्तिमान की छाया से भला कौन हुज्जत करे और कौन उसका हुक्म मानने से इन्कार करे? इस सामन्त-प्रथा में स्वर्ग और पृथ्वी दोनों शामिल हो गये थे।

भारत में भी हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता के प्राचीन आर्य-विचार धीरे-धीरे बदलने लगे। वे कमजोर होते गये और अन्त में लोग उन्हें बिलकुल भूल गये। लेकिन जैसा मैंने तुम्हें बताया है, मध्य युगों की शुरुआत में ये विचार कुछ हद तक पाये जाते थे। शुक्राचार्य के 'नीति-सार' से और दक्षिण भारत के शिलालेखों से यह बात मालूम होती है।

यूरोप में जो नई शक्लें बन रही थीं, उनके नतीजे से कुछ आजादी धीरे-धीरे फिर आने लगी। सामन्तों और असामियों, यानी जमीन के मालिकों और उस पर काम करनेवालों के अलावा, लोगों के और वर्ग भी थे, जैसे व्यापारी और कारीगर। अपना-अपना काम करनेवाले ये लोग सामन्त-प्रथा के अंग नहीं थे।

अशान्ति के दिनों में व्यापार बिलकुल कम होता था और कारीगरी को भी फूलने-फलने का मौका नहीं मिलता था। लेकिन धीरे-धीरे व्यापार बढ़ा और मिस्त्रियों और सौदागरों का महत्व बढ़ने लगा। वे धनवान हो गये और सामन्त व सरदार लोग इनके पास रुपया उधार लेने के लिए जाने लगे। ये लोग रुपया तो उधार देते थे, लेकिन बदले में सामन्तों को मजबूर करते थे कि वे इन्हें कुछ रियायतें दें। इन रियायतों से इनकी ताकत बढ़ गई। इस तरह अब हम देखते हैं कि सामन्त की गढ़ैया के चारों तरफ असामियों के झोपड़ों के झुंड के बजाय, छोटे-छोटे कस्बे पैदा होने लगे, जिनमें गिरजों या पंचायत-घरों (गिल्ड हॉल) के चारों तरफ मकान बनने लगे। सौदागर और दस्तकार अपने-अपने संघ या समितियाँ बनाने लगे और इन समितियों के दफ्तर पंचायत-घर बन गये। बाद में यही टाउन-हाल कहलाने लगे।

ये बढ़ते हुए शहर—कोलोन, फ्रैंकफुर्त, हैम्बुर्ग, वग़ैरा सामन्ती सरदारों की शक्ति की बराबरी का दावा करनेवाले बन गये। इन शहरों में एक नया वर्ग यानी व्यापारी-वर्ग पैदा हो रहा था, जो अपने धन की ताकत पर अमीर सरदारों से भी टक्कर लेने लगा था। दोनों में एक लम्बा संघर्ष चला। अक्सर बादशाह अपने अमीरों और सामन्तों के प्रभाव से डरकर शहरों का साथ देता था। लेकिन ये तो बहुत आगे की बातें हैं।

मैंने इस पत्र के शुरू में यह बताया था कि इस जमाने में राष्ट्रीयता की भावना नहीं थी। लोग अपने बड़े सामन्त के लिए अपने कर्त्तव्य और अपनी वफ़ादारी का ही खयाल करते थे। उसी की सेवा की प्रतिज्ञा करते थे, देश की नहीं। उनके लिए बादशाह भी एक धुंधला-सा व्यक्ति था, जो उनसे बहुत दूर था। अगर कोई सामन्त बादशाह के खिलाफ बगावत करता, तो यह बात उसी से सरोकार रखती थी। उसकी रैयत को तो उसके पीछे चलना पड़ता था। यह चीज राष्ट्रीय भावना से, जो बहुत दिन बाद पैदा हुई, बहुत अलग तरह की थी।

: ५४ :

## चीन घुमक्कड़ क़बीलों को पश्चिम में खदेड़ देता है

५ जून, १९३२

मैंने बहुत दिनों से, करीब एक महीने से, तुम्हें चीन के और सुदूर-पूर्वी देशों के बारे में कुछ नहीं लिखा। हम पश्चिमी एशिया, भारत और यूरोप के बहुत-से परिवर्तनों की चर्चा कर चुके हैं। हमने अरबों को बहुत-से देशों में फैलते और उन्हें जीतते देखा और यूरोप को फिर अन्धेरे में गिरते और उससे बाहर निकलने की

कोशिश करते भी देखा। इस बीच चीन अपने ढँग पर चलता रहा और वास्तव में बहुत अच्छी तरह चलता रहा। सातवीं और आठवीं सदियों में, ताङ राजाओं के शासन में, चीन शायद दुनिया का सबसे ज्यादा सभ्य, खुशहाल और सुशासित देश था। यूरोप की तो इस देश से तुलना ही नहीं की जा सकती थी, क्योंकि रोम के पतन के बाद यूरोप बहुत पिछड़ गया था। उत्तर भारत की हालत इस समय के ज्यादातर हिस्से में गिरावट की रही। इस बीच कभी-कभी शानदार जमाने भी आये—जैसे हर्ष के राज में, लेकिन कुल मिलाकर भारत गिरता ही जा रहा था। दक्षिण भारत अलबत्ता उत्तर से ज्यादा जोरदार था और समुद्र-पार उसके उपनिवेश श्रीविजय और अंगकोर, एक महान् काल में दाखिल हो रहे थे। कुछ बातों में इस जमाने के चीन का मुकाबला करनेवाले अगर कोई राज्य थे, तो वे बगदाद और स्पेन के दोनों अरब राज्य थे। लेकिन ये दोनों राज्य भी कुछ ही जमाने तक अपनी शान की चोटी पर रहे। मगर दिलचस्प बात यह है कि राजगद्दी से उतारे हुए एक ताङ सम्राट् ने अरबों से मदद की अपील की थी और इन्हीं की मदद से उसे अपना राज वापस मिला था।

इस तरह सभ्यता में चीन उस जमाने में सबसे आगे था और अगर वह उस समय के यूरोपीय लोगों को आधे जंगलियों के दर्जे का समझता हो तो यह कुछ वाजिब ही था। जितनी दुनिया उस समय मालूम थी, उसमें चीन सबसे ऊपर था। 'जितनी दुनिया मालूम थी' यह वाक्य मैं इसलिए इस्तेमाल करता हूँ कि मुझे नहीं मालूम उस समय अमेरिका में क्या हो रहा था। इतना हमें जरूर पता लगता है कि मैक्सिको, पेरू और आस-पास के देशों में कई सदियों से सभ्यता चली आ रही थी। कुछ बातों में ये हिस्से खास तौर पर आगे बढ़े हुए थे, कुछ बातों में उतने ही ज्यादा पिछड़े हुए थे। लेकिन मैं इन सब चीजों के बारे में इतना कम जानता हूँ कि ज्यादा कहने की हिम्मत नहीं कर सकता। फिर भी मैं चाहता हूँ कि तुम मैक्सिको और मध्य अमेरिका और 'इनका'[1], के पेरू राज्य की 'मय' सभ्यता का ध्यान रखना। मुझसे ज्यादा विद्वान् लोग शायद इसके बारे में कुछ जानने योग्य बातें तुम्हें बतावें। इतना मैं जरूर स्वीकार करूँगा कि मैं इनकी ओर बहुत आकर्षित हुआ हूँ, लेकिन जितना मेरा आकर्षण है उतनी ही कम मेरी जानकारी भी है।

मैं चाहता हूँ कि एक और बात भी तुम याद रक्खो। हम देख चुके हैं कि बहुत-से घुमक्कड़ कबीले मध्य एशिया में प्रकट हुए और वे या तो पश्चिम की ओर यूरोप में चले गये या भारत में उतर आये। हूण, शक, तुर्क और इसी तरह की बहुत-सी

---

[1] इनका (Inca)—दक्षिणी अमेरिका के पेरू नामक देश के प्राचीन शासकों की उपाधि। 'इनका' एक प्रकार के दैवी पुरुष माने जाते थे। पेरू में 'इनकाओं' ने तीन सौ वर्ष तक राज्य किया।

कौमे लहरो की तरह एक के बाद एक आती-जाती रही। सफेद हूण, जो भारत आये, और अतिला हूण, जो यूरोप मे थे, तुम्हें याद होगे। सेलजूक तुर्क भी, जिन्होंने बग़दाद के साम्राज्य पर क़ब्ज़ा किया था, मध्य एशिया से आये थे। इसके बाद तुर्कों की एक दूसरी शाखा के लोग, जिन्हे उस्मानी तुर्क कहा जाता है, आये। उन्होंने क़ुस्तुन्तुनिया को आखिरी तौर पर जीत लिया और वे ठेठ विएना के दरवाज़े तक पहुँच गये। इसी मध्य एशिया या मगोलिया से भयकर मगोल लोग भी आये थे, जो विजय करते हुए यूरोप के ठेठ मध्य तक पहुँच गये, और जिन्होंने चीन को भी अपने शासन मे ले लिया। इसी मगोल वश के एक आदमी ने भारत मे एक राजवश और साम्राज्य की नीव डाली, जिसमे कई मशहूर शासक पैदा हुए।

मध्य एशिया और मगोलिया के इन घुमक्कड कबीलो से चीन को बराबर लडना पडा। या शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि ये घुमक्कड लोग चीन को बराबर परेशान करते रहे और चीन को अपनी रक्षा के लिए मजबूर होना पडा। इन्हीसे बचने के लिए चीन की 'बडी दीवार' बनाई गई थी। इसमे शक नही कि इस दीवार से कुछ फायदा ज़रूर हुआ, लेकिन हमलो से बचाने मे यह कोई बहुत ज्यादा उपयोगी चीज़ नही साबित हुई। एक के बाद दूसरे सम्राट् को इन घुमक्कडो को पीछे खदेडना पडा और जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ इन्हे इस तरह खदेडने मे ही चीनी साम्राज्य दूर पश्चिम मे कैस्पियन समुद्र तक फैल गया। चीनी लोगों मे साम्राज्य कायम करने की कोई ज्यादा लालसा नही थी। इनके सम्राटो मे से कुछ ज़रूर साम्राज्यवादी थे और दूसरे देशो को जीतने का हौसला रखते थे। लेकिन और कौमो के मुकाबिले मे चीनी लोग शान्ति-प्रिय थे और ये लडाई या दूसरे मुल्को को जीतना पसन्द नही करते थे। चीन मे विद्वानो को योद्धाओ से हमेशा ज्यादा आदर और कीर्ति मिलते रहे हैं। इस पर भी अगर चीन का साम्राज्य कभी-कभी बहुत बढ गया, तो उसकी वजह बहुत करके यह थी कि उत्तर और पश्चिम की ओर घुमक्कड कबीले बराबर कोचते रहते थे और हमले करते रहते थे, जिससे चीनी लोग झुझला उठते थे। शक्तिशाली सम्राट् इनसे हमेशा के लिए छुटकारा पा जाने के वास्ते इन्हें बहुत दूर पश्चिम की ओर खदेड दिया करते थे। इस ढग से वे इस सवाल को हमेशा के लिए तो हल नही कर पाये, लेकिन उन्हें कुछ राहत ज़रूर मिल गई।

पर यो चीन-निवासियो को जो राहत मिली, उसका ख़मियाज़ा अन्य मुल्को और कौमो को उठाना पडा। क्योंकि जिन घुमक्कडो को चीनी भगाते थे वे जाकर दूसरे देशो पर हमला करते थे। इसी तरह ये भारत आये और बार-बार यूरोप गये। चीन के हन् सम्राटो ने हूणो, तातारियो और दूसरे घुमक्कडो को अपने यहाँ से खदेडकर दूसरे देशो मे पहुँचा दिया और ताङ-सम्राटो ने तुर्कों को यूरोप को भेंट में दिया।

अभी तक तो चीनी लोग इन घुमक्कड़ कबीलों से अपनी रक्षा करने में बहुत हद तक सफल रहे थे। लेकिन अब हम उस जमाने की चर्चा करेंगे जब वे इतने सफल नहीं रह सके।

जैसा कि हमेशा राजवंशों का हर जगह ह्रास हुआ करता है, तांग-वंश में धीरे धीरे एक से ज्यादा निकम्मे शासक होते गए, जिनमें ऐयाशी के अलावा अपने पूर्वजों के कोई अच्छे गुण नहीं पाये जाते थे। राज्य भर में बेईमानी फैल गई और इसीके साथ-साथ भारी टैक्स लगा दिये गए, जिनका बोझ वास्तव में गरीब लोगों पर पड़ता था। असन्तोष बढ़ा और दसवीं सदी के शुरू में, यानी ९०७ ई० में, यह राजवंश खत्म हो गया।

लगभग पचास वर्ष तक छोटे-छोटे और अदना शासकों का सिलसिला चलता रहा। लेकिन ९६० ई० में चीन के एक और बड़े राजवंश की शुरुआत होती है। यह सुङ्-राजवंश था, जिसे काओ-त्सू ने कायम किया। लेकिन चीन की सरहदों पर और अन्दर देश में भी, झगड़े जारी रहे। भारी लगानों का किसानों पर बहुत ज्यादा बोझ पड़ता था, जिससे वे बहुत नाराज थे। भारत की तरह चीन में भी जमीन का सारा बन्दोबस्त ऐसा था कि वह जनता पर बड़ा जबर्दस्त बोझ डाल देता था, और बिना इसे पूरी तरह बदले न तो शान्ति ही सम्भव थी और न तरक्की ही। लेकिन जड़ से ऊपर तक इस किस्म के परिवर्तन करना हमेशा मुश्किल होता है। चोटी के लोगों को चालू प्रणाली में फायदा रहता है, और जब किसी परिवर्तन की चर्चा होती है, ये लोग बहुत शोर मचाने लगते हैं। लेकिन अगर परिवर्तन वक्त पर नहीं किया जाता तो इसकी यह आदत है कि यह बिना बुलाये ही आ जाता है और सारी गाड़ी उलट देता है।

तांग-राजवंश इसलिए खत्म हो गया कि उसने जरूरी परिवर्तन नहीं किये। इसी वजह से सुङ्-राजवंश को भी लगातार परेशानियाँ रहीं। एक ऐसा आदमी पैदा हुआ, जो सफल हो सकता था। इसका नाम वाङ्-आन-शीह् था जो ग्यारहवीं सदी में सुङों का प्रधान-मन्त्री था। जैसा कि मैंने तुम्हें पहले बताया है, चीन का शासन कन्फ्यूशियस के विचारों के अनुसार होता था। कन्फ्यूशियस के ग्रन्थों की परीक्षा सारे सरकारी अफसरों को पास करनी पड़ती थी और कन्फ्यूशियस के लेखों के खिलाफ जाने का कोई साहस नहीं कर सकता था। वाङ्-आन-शीह् ने इन-की अवहेलना तो नहीं की, लेकिन उसने इनका एक निराला ही अर्थ लगाया। किसी कठिनाई से बचने की ऐसी तरकीबें होशियार आदमी अक्सर निकाल लिया करते हैं। वाङ् के कुछ विचार बहुत हद तक आजकल के ढंग के थे। उसका सारा उद्देश्य यह था कि गरीबों के ऊपर से टैक्स का बोझ कम कर दे और धनवानों पर, जो अदा कर सकते थे, बढ़ा दे। इसने लगानों में कमी कर दी और किसानों को यह

छूट दे दी कि अगर रुपये की सूरत मे लगान देना उनके लिए मुश्किल पडे तो वे अनाज या किसी दूसरी उपज की सूरत मे लगान अदा कर दे। धनवानों पर इसने आय-कर (इन्कम टैक्स) लगा दिया। यह टैक्स बिल्कुल आधुनिक टैक्स समझा जाता है, लेकिन इसकी तजवीज चीन मे हम नौ सौ वर्ष पहले पाते है। वाङ की यह भी तजवीज थी कि किसानो की सहायता के लिए सरकार उन्हे तकावी दिया करे, जिसे वे फसल पर वापस कर दें। दूसरी कठिनाई यह थी कि अनाज का भाव घटता-बढता रहता था। बाजार-भाव जब गिर जाता है, तो गरीब किसानो को अपने खेतो की उपज की बहुत कम कीमत मिलती है। वे उसे बेच नही सकते, फिर लगान देने के लिए या कोई चीज खरीदने के लिए पैसे कहाँ से लायें? वाङ-आन-शीह ने इस समस्या को हल करने की कोशिश की। उसने यह तजवीज की कि अनाज के भाव को बढने-घटने से रोकने के लिए सरकार को गल्ला खरीदना और बेचना चाहिए।

वाङ की यह भी तजवीज थी कि सरकारी कामो के लिए बेगार न ली जाय। जो आदमी काम करे उसे उसकी पूरी मजदूरी दी जाय। उसने स्थानीय रक्षक-सेना भी बनाई थी, जिसे 'पाओ-चिया' कहते थे। लेकिन बदकिस्मती से वाङ अपने जमाने से बहुत आगे था, इसलिए कुछ समय बाद उसके सुधार खत्म हो गये। सिर्फ़ उसकी रक्षक-सेना ही ८०० वर्ष से ऊपर कायम रही।

सुङो मे इतनी हिम्मत नही थी कि जो समस्याएँ उनके सामने आई उनका मुकाबला कर सकते। इसलिए इन लोगों ने धीरे-धीरे उन समस्याओ के आगे घुटने टेक दिये। उत्तर की जगली कौमे, जिनको खितन कहते थे, इन्हे बहुत परेशान करती थी। इनको पीछे हटाने मे अपने को असमर्थ पाकर सुङो ने उत्तर-पश्चिम की एक जाति से, जिन्हे 'किन' या 'सुनहरे तातारी' कहते थे, मदद माँगी। 'किन' लोगो ने आकर खितनो को मार भगाया, लेकिन वे खुद वहाँ जम गये और हटने से इन्कार कर गये। ताकतवर से मदद मागनेवाले कमजोर आदमी या कमजोर देश का अक्सर यही हाल हुआ करता है। किन लोग उत्तर चीन के मालिक बन बैठे और उन्होने पेकिंग को अपनी राजधानी बना लिया। सुङ दक्षिण की ओर चले गये और ज्यो-ज्यो किन बढते गये वे पीछे हटते गये। इस तरह उत्तर चीन मे तो किन-साम्राज्य हो गया और दक्षिण मे सुङ-साम्राज्य। इन सुङो को दक्षिणी सुङ कहा गया है। सुङ-राजवश उत्तर मे ९६० से ११२७ ई० तक रहा। दक्षिणी सुङ दक्षिण चीन मे इसके बाद भी १५० वर्ष तक राज करते रहे। अन्त मे १२६० ई० मे मगोलो ने आकर उन्हे खत्म कर दिया। लेकिन चीन ने प्राचीन भारत की तरह इसका बदला लिया और मगोलो को भी अपने अन्दर मिलाकर और हजम करके चीनी बना लिया।

इस तरह चीन ने घुमक्कड कबीलो के सामने घुटने टेक दिये। लेकिन ऐसा करते-करते भी उसने उन घुमक्कडो को सभ्यता सिखाई, इसलिए चीन को इन-से नुकसान नही पहुँचा, जैसा कि एशिया और यूरोप के दूसरे हिस्सो मे हुआ।

उत्तर और दक्षिण से सुङ राजनीतिक लिहाज़ से उतने ताकतवर नही थे जितने कि उनके पहले के ताङ लोग। लेकिन सुङो ने ताङो की महानता के दिनो की कला की परम्परा कायम रखी, बल्कि उसकी उन्नति भी की। दक्षिण सुङो के राज मे दक्षिण चीन मे कला और कविता बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँची और बडे सुन्दर चित्र बनाये गए। इन चित्रो मे प्रकृति के दृश्यो की विशेषता थी, क्योंकि सुङ कला-कार प्रकृति के प्रेमी थे। चीनी के बर्तन भी इस ज़माने मे बनना शुरू हुए और कला-कारो के कुशल हाथो ने उन्हे सुन्दर बनाया। इन बर्तनो की बनावट दिन-पर-दिन ज़्यादा सुन्दर और अद्भुत होती गई, यहाँ तक कि २०० वर्ष बाद, मिङ-राजाओ के समय मे, चमत्कारी सुन्दरता के बर्तन बनने लगे। मिङ-युग के बने हुए चीनी के कलश आज भी दिल को खुश करनेवाली दुर्लभ चीज़ समझे जाते हैं।

: ५५ :

## जापान में शोगुन का शासन

६ जून, १९३२

चीन से पीला समुद्र पार करके जापान पहुँचना बहुत आसान है, और अब, जबकि हम जापान के इतने नज़दीक पहुँच गये हैं, इस देश की सैर कर लेना ही मुनासिब होगा। तुम्हे जापान की पिछली बातें तो याद ही होगी। उस समय हमने देखा था कि बडे-बडे घराने पैदा हो रहे थे और प्रभुत्व के लिए लड रहे थे, और एक केन्द्रीय सरकार धीरे-धीरे प्रकट हो रही थी। सम्राट्, जो पहले एक ताकतवर और बडे कुटुम्ब का सरदार था, अब केन्द्रीय सरकार का अध्यक्ष बन गया था। नारा की राजधानी केन्द्रीय सत्ता के चिह्न के तौर पर कायम की गई थी। इसके बाद राजधानी बदल कर क्योतो कर दी गई। चीन की शासन-प्रणाली की नकल की गई थी और कला, धर्म और राजनीति मे जापान ने बहुत-कुछ चीन से या चीन के ज़रिये से सीखा था। जापान का नाम 'दाई निप्पौन' भी चीन से ही आया था।

हम यह भी देख चुके हैं कि फूजीवारा नामक एक घराने ने सारी ताकत हथिया ली थी और वह सम्राट् को कठपुतली की तरह नचाता था। दो सौ वर्ष तक इन्ही का राज चलता रहा। आखिरकार सम्राटो ने बेबस होकर गद्दियाँ छोड दी और मठो मे आसरा लिया। लेकिन भिक्षु होने पर भी भूतपूर्व सम्राट् गद्दी पर बैठे हुए अपने पुत्र समाट् को सलाह-मशविरा देकर शासन के कामो मे बहुत दखल देता था। इस तरीके से सम्राटो ने फूजीवारा घराने से पैदा होनेवाली अडचन को

किसी हद तक मिटाने की कोशिश की। हालांकि काम करने का यह तरीका बहुत पेचीदा था, लेकिन फिर भी इससे फूजीवारा घराने की ताकत बहुत कम हो गई। असली शक्ति सम्राटों के हाथ में होती थी, जो राजगद्दी छोड़-छोड़कर भिक्षु बनते जाते थे। इसलिए उनको 'मठवासी सम्राट्' कहा गया है।

इस बीच दूसरे परिवर्तन हुए और बड़े-बड़े जमींदारों का, जो सैनिक भी थे, एक नया वर्ग पैदा हुआ। फूजीवारों ने ही इन जमींदारों को बनाया था और इन्हें सरकारी टैक्स जमा करने के लिए मुकर्रर किया था। इनको 'दाइम्यो' कहते थे, जिसका अर्थ 'बड़ा नाम' है। अंग्रेजों के आने से पहले इसी किस्म का जो वर्ग हमारे प्रान्त में पैदा हुआ, उसकी तुलना दाइम्यो से करना कुतूहल की बात है। खासकर अवध के कमज़ोर बादशाह ने मालगुज़ारी वसूल करनेवाले मुकर्रर किये थे। ये लोग अपनी छोटी-छोटी फौजें रखते थे, ताकि उनकी मदद से जबर्दस्ती वसूली कर सकें और ज़ाहिर है कि वसूली का ज्यादातर हिस्सा ये लोग अपनी ही जेबों में रख लिया करते थे। यही मालगुजारी वसूल करनेवाले कुछ लोग बढ़कर बड़े-बड़े ताल्लुकेदार बन गये।

दाइम्यो अपने पिछलग्गुओं और अपनी छोटी-छोटी सेनाओं की मदद से बहुत शक्तिशाली हो गये। वे आपस में लड़ते थे और क्योतो की केन्द्रीय सरकार की कोई परवाह नहीं करते थे। दाइम्यो के घरानों में दो घराने मुख्य थे—एक तायरा और दूसरा मिनामोतो। इन लोगों ने ११५६ ई० में फूजीवारों को दबाने में सम्राट् की मदद की। लेकिन बाद में वे एक-दूसरे पर हमले करने लगे। तायरा जीत गये और इस इत्मीनानी के लिए कि बराबरी का घराना भविष्य में उन्हें परेशान न करे, उन्होंने मिनामोतो घरानेवालों की हत्या कर डाली। उन्होंने सभी प्रमुख मिनामोतो को मार डाला। सिर्फ चार बच्चों को छोड़ दिया, जिनमें एक बारह वर्ष का बालक योरीतोमो था। तायरा घराने ने मिनामोतो को खत्म कर देने की कोशिश तो की, लेकिन पूरी तरह नहीं। यह लड़का योरीतोमो, जिसे न-कुछ समझकर छोड़ दिया गया था, बड़ा होकर तायरा घराने का कट्टर दुश्मन बन गया। उसके दिल में बदला लेने की आग थी। वह अपनी अभिलाषा पूरी करने में सफल हुआ। उसने तायरा लोगों को राजधानी से निकाल दिया और एक समुद्री लड़ाई में उनको चकनाचूर कर दिया।

इसके बाद योरीतोमो ने सारी सत्ता हथिया ली और सम्राट् ने उसे 'सी-ए-ताई-शोगुन' की लम्बी-चौड़ी उपाधि दी, जिसका मतलब है 'बर्बरों का दमन करने-वाला महान सेनापति।' यह ११९२ ई० की बात है। यह उपाधि पुश्तैनी थी और इसके साथ शासन के पूरे अधिकार भी जुड़े हुए थे। पर असली शासक शोगुन ही होता था। इस तरह जापान में शोगुनशाही क़ायम हुई। इसका दौर बहुत दिनों

तक, यानी करीब ७०० वर्ष तक रहा और करीब-करीब मौजूदा ज़माने तक चला। लेकिन इस बीच आधुनिक जापान अपने इस सामन्ती खोल को तोड़कर बाहर निकल आया था।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि योरीतोमो के वंशजो ने ही शोगुनों की हैसियत से ७०० वर्ष राज किया। जिन घरानो से शोगुन निकले थे उनमे कई परिवर्तन हुए। गृह-युद्ध बराबर होते रहे, लेकिन शोगुनशाही—यानी शोगुन का वास्तविक शासक होना और सम्राट् के नाम पर, जिसे कोई अधिकार नही होते थे, राज करना—इस लम्बे अर्से तक जारी रही। अक्सर ऐसा भी होता था कि शोगुन भी नाम का शासक रह जाता था और असली सत्ता कुछ हाकिमो के हाथ मे होती थी।

राजधानी क्योतो के विलासी जीवन से योरीतोमो बहुत घबराता था, क्योकि उसका यह खयाल था कि आराम की जिन्दगी उसे और उसके साथियो को कमज़ोर बना देगी। इसलिए उसने कामाकुरा मे अपनी सैनिक राजधानी बनाई और इसीलिए यह पहली शोगुनशाही, 'कामाकुरा शोगनशाही' कहलाती है। यह १३३३ ई० तक, यानी करीब १५० वर्ष रही। इस काल के ज्यादातर भाग मे जापान मे शान्ति रही। बहुत वर्षों के गृह-युद्ध के बाद शान्ति का लोगो ने बहुत स्वागत किया और खुशहाली का ज़माना शुरू हुआ। इस ज़माने मे जापान की हालत उस समय के यूरोप के किसी भी देश की हालत से कही बेहतर थी और इसका शासन भी ज्यादा कारगर था। जापान चीन का योग्य शिष्य था, हालाँकि दोनो के नज़रियो मे बहुत फर्क था। जैसा मैने बताया है, चीन स्वभाव से ही शान्तिप्रिय और सतोषी देश था। दूसरी तरफ जापान एक उग्र सैनिक देश था। चीन मे लोग सैनिको को बुरी निगाह मे देखते थे और लड़ाई का पेशा कुछ इज्ज़तदार नही समझा जाता था। जापान मे चोटी के सिपाही होते थे और लड़ाकू वीर या दाइम्यो उनका आदर्श था।

मतलब यह कि जापान ने चीन से बहुत-कुछ सीखा। लेकिन अपने ही तरीके से सीखा और उसने हरेक चीज़ को अपने जातीय स्वभाव के अनुरूप बनाने और ढालने की कोशिश की। चीन के साथ उसका नज़दीकी सम्बन्ध बना रहा और व्यापार भी चलता रहा जो ज्यादातर चीनी जहाजो के ज़रिये होता था। तेरहवी सदी के अन्त मे यह सिलसिला अचानक रुक गया, क्योकि मगोल लोग चीन और कोरिया पहुँच गए थे। मगोलो ने जापान को भी जीतने की कोशिश की, लेकिन पीछे हटा दिये गए। इस तरह ये मगोल, जिन्होंने एशिया की कायापलट दी और यूरोप को हिला दिया, जापान पर कोई खास असर नही डाल पाये। जापान अपने पुराने ढंग पर ही चलता रहा और बाहरी प्रभावों से पहले की बनिस्वत और भी ज्यादा दूर हो गया।

जापान के पुराने सरकारी विवरण मे एक कहानी है कि उस देश मे कपास का पौधा सबसे पहले कैसे आया। कहते है कि कुछ भारतवासी, जिनका जहाज जापानी किनारे के नजदीक डूब गया था, ७९९ ई० मे कपास का बीज अपने साथ जापान ले गये थे।

चाय का पौधा इसके बाद आया। सबसे पहले यह पौधा नवी सदी की शुरुआत मे पहुँचा था, लेकिन उस समय यह चल नही पाया। ११९१ ई० मे एक बौद्ध भिक्षु चीन से चाय के बीज लाया था, इसके बाद चाय बहुत जल्दी लोकप्रिय हो गई। चाय पीने की आदत ने चीनी के सुन्दर बर्तनो की माग पैदा हुई। तेरहवी सदी के अन्त मे चीनी के बर्तन बनाने की कला सीखने के लिए एक जापानी कुम्हार चीन गया और वहाँ छै वर्ष रहा। वापस आने पर उसने चीनी के सुन्दर जापानी बर्तन बनाने शुरू किये। जापान मे आजकल चाय पीना एक ललित कला है, जिसके साथ एक लम्बा-चौडा शिष्टाचार जुट गया है। अगर कोई जापान जाय तो उसे सही ढंग से चाय पीनी चाहिए, वरना उसे कुछ जगली समझा जायगा।

## • ५६

# मनुष्य की खोज

१० जून, १९३२

चार दिन हुए, मैने तुम्हे बरेली-जेल से पत्र भेजा था। उसी दिन शाम को मुझसे अपना असबाब इकट्ठा करके जेल से बाहर जाने को कहा गया—छूटने के लिए नही, बल्कि दूसरी जेल म जाने के लिए। इसलिए मैने उस बैरक के अपने साथियो से, जिनके साथ मैं ठीक चार महीने रहा था, विदा ली। मैने उस बडी चौबीस फुट की ऊँची दीवार पर आखिरी नजर डाली, जिसकी छाया मे इतने दिन रहा था, और मैं थोडी देर के लिए बाहर की दुनिया फिर देखने के वास्ते निकल पडा। हम दो आदमियो की बदली की जा रही थी। हमे बरेली स्टेशन नही ले गये, कि कही लोग हमे देख न ले, क्योकि हम लोग 'परदानशीन' हो गये थे, और दूसरे लोग हमे देख नही सकते थे। मोटर मे हमे पचास मील दूर वीरान जगल मे एक छोटे-से स्टेशन पर ले गये। उस सैर के लिए मैने मन-ही-मन धन्यवाद दिया, क्योकि कई महीने के एकान्त के बाद रात की ठडी हवा का स्पर्श और हलके अधेरे मे आदमियो, जानवरो और पेडो की तेजी से भागती हुई छायाएँ, तबीयत को बडी भली मालूम होती थी।

हम लोग देहरादून पहुँचाये जा रहे थे। बडे तडके ही, सफर की आखिरी मजिल तक पहुँचने से पहले, हमे रेल से उतार लिया गया और फिर मोटर पर बिठा कर ले जाया गया, ताकि कही कोई हमे देख न ले।

और अब मैं देहरादून की छोटी-सी जेल मे बैठा हूँ। यह बरेली से अच्छी जगह है। यहाँ गर्मी उतनी नही है, और तापमान बरेली की तरह ११२° तक नही पहुँचता। हमारे चारो तरफ की दीवारें भी नीची हैं और उनके पार दिखाई देने-वाले पेड ज्यादा हरे-भरे हैं। दीवार के उस पार दूर पर एक खजूर के पेड की चोटी दिखाई देती है, इस दृश्य से मेरी तबीयत खुश हो जाती है और मुझे लका और मलाबार की याद आ जाती है। इन पेडो के परली तरफ कुछ ही मील के फ़ासले पर पहाड हैं, और इन पहाडो की चोटी पर मसूरी बसा हुआ है। मैं पहाडो को नहीं देख सकता, क्योकि पेडो ने इनको छिपा रखा है, लेकिन इन पहाडो के नज़दीक रहना, और रात मे यह कल्पना करना कि बहुत दूर मसूरी के चिराग टिमटिमा रहे है, अच्छा मालूम होता है।

चार वर्ष हुए—या तीन?—जब मैंने इन पत्रो का सिलसिला शुरू किया था, उस वक्त तुम मसूरी मे थी। इन तीन या चार वर्षों मे कितनी-कितनी बातें हो गई, और तुम कितनी बडी हो गई हो। रह-रहकर और कभी-कभी लम्बे अवकाशो के बाद मैंने इन खतो को जारी रखा है और ये ज्यादातर जेल मे ही लिखे गये हैं। लेकिन जितना ही मैं लिखता जाता हूँ उतना ही मैं अपने लिखे को नापसन्द करता जाता हूँ, मुझे आशका होने लगती है, कि कही ऐसा न हो कि ये पत्र तुम्हें दिलचस्प न लगें और कही तुम्हारे लिए बोझ न बन जाय। ऐसी हालत मे इन पत्रो को क्यों जारी रखूं?

मैं चाहता था कि तुम्हारे सामने एक-एक करके पुराने जमाने की जीती-जागती तस्वीरें रखूं, ताकि तुम्हें यह भान हो सके कि हमारी यह दुनिया सीढी-दर-सीढी किस तरह बदली, कैसे विकसित और उन्नत हुई, और कैसे कभी-कभी पीछे हटती हुई नज़र आई, तुम्हे दिखलाऊँ कि पुरानी सभ्यताएँ कैसी थीं और वे ज्वार-भाटे की तरह कैसे आगे बढी और पीछे फिर हटी, तुम्हे महसूस कराऊँ कि इतिहास की नदी, चक्कर, भवर और हद बनाती हुई, किस तरह बराबर युग-युगो से निरन्तर बहती चली आ रही है और अनजाने समुद्र की तरफ दौडी चली जा रही है। मैं चाहता था कि तुम्हे मनुष्य-जाति के पैरो की लीक का परिचय कराऊँ और इस लीक पर शुरू से लगाकर आज तक, यानी जब मनुष्य मानव नही बना था, तबसे आजतक जबकि वह अहकार और बेवकूफी से अपनी महान् सभ्यता पर घमड करने लगा है, तुम्हे ले चलूं। हम लोगो ने शुरू तो इसी तरह से किया था। तुम्हें याद होगा कि मसूरी मे हमने इस बात की चर्चा शुरू की थी कि सबसे पहले आग और खेती का आविष्कार कैसे हुआ, लोग नगरो मे कैसे बसे और मेहनत का बँटवारा कैसे हुआ। लेकिन ज्यो-ज्यो हम आगे बढते गये, त्यो त्यो हम साम्राज्यो वगैरा मे उलझते गये, और उस लीक को खो बैठे। अभी तक

हम इतिहास की ऊपरी सतह पर ही चलते रहे है। मैंने तुम्हारे सामने पुरानी घटनाओ का एक ढांचा ही रखा है। मैं चाहता हूँ कि मुझे इस ढांचे पर मांस और खून चढाने की शक्ति मिल जाय ताकि मैं इसे तुम्हारे लिए सजीव और प्राणवान बना सकूं।

मगर मैं जानता हूँ कि मुझमे वह शक्ति नही है और तुम्हें घटनाओ के ढांचे मे जान फूंकने के इस चमत्कार को सफल बनाने के लिए अपनी ही कल्पना पर भरोसा करना पडेगा। फिर मैं तुम्हे ये पत्र क्यो लिखूं ? क्योकि प्राचीन इतिहास की बहुत-सी अच्छी पुस्तकें तुम खुद ही पढ सकती हो। लेकिन इन शकाओ के बावजूद भी मैंने पत्रो का सिलसिला जारी रखा है और मेरा खयाल है कि मैं इसे आगे भी जारी रखूंगा। जो वादा मैंने तुमसे किया था, वह मुझे याद है और इसे पूरा करने की मैं कोशिश करूंगा। लेकिन इस वादे से भी ज्यादा वह आनन्द है, जो मुझे तुम्हारी याद से उस वक्त मिलता है, जब मैं लिखने बैठता हूँ और कल्पना करता हूँ कि तुम मेरे पास बैठी हो और हम एक-दूसरे से बातें कर रहे है।

जब से मनुष्य लुढकता-पुढकता अपनी जगली हालत से बाहर निकला तब से उसकी यात्रा का जिक्र मैंने ऊपर किया है। यह रास्ता लाखो वर्षो का रहा है, फिर भी अगर तुम पृथ्वी की कहानी और आदमी के उसपर जन्म लेने के पहले के युग-युगो से इसका मुकाबला करो तो यह समय कितना कम है ! लेकिन हमारे लिए उन तमाम बडे-बडे जानवरो के मुकाबले मे, जो मनुष्य के पहले मौजूद थे, मनुष्य कुदरती तौर पर ज्यादा दिलचस्पी रखता है। यह इसलिए कि मनुष्य अपने साथ एक नई चीज लाया था, जो शायद दूसरो मे नही पाई जाती थी। यह थी बुद्धि और जिज्ञासा, यानी खोजने की और सीखने की इच्छा। इस तरह शुरू से ही आदमी मे खोज की धुन शुरू हुई। किसी छोटे बच्चे को देखो, वह अपने चारो ओर की नई और विचित्र दुनिया को कैसे देखता है, आदमियो को और दूसरी चीजो को वह कैसे पहचानने लगता है और कैसे सीखता है। किसी छोटी लडकी को देखो। अगर वह तन्दुरुस्त और चौकस है, तो वह कितनी ही बातो के बारे मे कितने ही सवाल करेगी। इसी तरह इतिहास के प्रभात मे, जब मानव का बचपन था और दुनिया नई और अद्भुत थी और उसके लिए कुछ डरावनी भी थी, उसने अपने चारो तरफ नजर डाली होगी और गौर से देखा होगा और सवाल पूछे होगे। लेकिन वह अपने सिवाय सवाल पूछता भी किससे ? कोई दूसरा जवाब देनेवाला नही था। हाँ, उसके पास एक छोटी-सी अजीब चीज थी—बुद्धि। और उसकी मदद से, धीरे-धीरे तकलीफें उठाकर, वह अपने अनुभवो को जमा करता गया और उनसे ज्ञान हासिल करता गया। इस तरह शुरू के जमाने से आज तक, मानव की खोज का सिलसिला चला आ रहा है। उसने बहुत-सी बातें मालूम कर ली हैं, लेकिन बहुत-

सी अभी मालूम करना बाकी है। जैसे-जैसे वह अपनी खोज के रास्ते पर आगे बढ़ता है, उसे लम्बे-चौड़े नये मैदान सामने फैले हुए मिलते हैं, जो उसे बतलाते हैं कि वह अब भी अपनी खोज की आखिरी मंजिल से—अगर आखिरी मंजिल कोई है तो—कितना दूर है।

मनुष्य की यह खोज क्या रही है और उसकी मंजिल क्या है? हजारों वर्षों से लोगों ने इन सवालों का जवाब देने की कोशिश की है। धर्म, दर्शन और विज्ञान, सबने इन सवालों पर विचार किया है और बहुत-से जवाब दिये हैं। लेकिन इन जवाबों से मैं तुम्हें परेशान नहीं करूँगा, क्योंकि ज्यादातर जवाब मुझे मालूम ही नहीं हैं। देखा जाय तो धर्म ने अपने ढंग पर इन सवालों का पूरा जवाब देने की कोशिश की है। पर उसमें तर्क की गुंजाइश नहीं रखी। बहुत करके धर्म ने बुद्धि की कोई परवाह नहीं की, और अपने फैसले को हर तरह से जबर्दस्ती मनवाने की कोशिश की है। विज्ञान के जवाब में सन्देह और हिचकिचाहट होते हैं, क्योंकि विज्ञान का स्वभाव यह है कि वह हठ-धर्मी नहीं करता। वह प्रयोग और तर्क करता है और मनुष्य की बुद्धि का सहारा लेता है। यह कहने की जरूरत नहीं कि मैं विज्ञान को और विज्ञान के तरीकों को ही पसन्द करता हूँ।

यह सम्भव है कि हम मनुष्य की खोज के बारे में इन सवालों का जवाब भरोसे के साथ न दे सकें। लेकिन इतना हम देखते हैं कि यह खोज दो ढंग पर चली है। मनुष्य ने अपने बाहर की चीजों पर गौर किया है और अपने भीतर भी; उसने प्रकृति को समझने की कोशिश की है और अपने-आपको भी। यह खोज वास्तव में एक ही है, क्योंकि आदमी खुद प्रकृति का अंग है। भारत और यूनान के पुराने तत्त्व-ज्ञानियों ने कहा है—"अपनेको जानो"। और उपनिषदों में इस ज्ञान के लिए प्राचीन भारत के आर्यों के इन अद्भुत और निरन्तर प्रयत्नों का लेखा है। दूसरा, यानी प्रकृति का ज्ञान विज्ञान का खास विषय रहा है और इस दिशा में विज्ञान ने जो तरक्की की है, उसका परिचय आधुनिक जगत् को मिल रहा है, अब तो वास्तव में विज्ञान अपने पर और भी आगे पसार रहा है और इन दोनों रास्तों की खोज को हाथ में ले रहा है और उनको आपस में जोड़ रहा है। एक ओर तो विज्ञान बहुत दूर के सितारों की विश्वास के साथ खोज कर रहा है, और दूसरी ओर हमें उन निरन्तर गतिशील नन्हीं-नन्हीं चीजों, यानी इलैक्ट्रनों और प्रोटनों का हाल भी बता रहा है जिनसे सारा पदार्थ बना है।

मनुष्य की बुद्धि ने उसे उसकी खोज की यात्रा में काफी दूर की मंजिल तक पहुँचा दिया है। जैसे-जैसे मनुष्य प्रगति को समझना सीखता जाता है वैसे-वैसे वह उसका उपयोग करके उसे अपने फ़ायदे के कामों में लगाता जाता है, और इस तरह उसने ज्यादा शक्ति हासिल कर ली है। लेकिन अफसोस है कि इस नई

शक्ति का उसने ठीक ढग से इस्तेमाल नही किया वल्कि अक्सर वेजा इस्तेमाल किया है। मनुष्य ने विज्ञान का ज्यादातर उपयोग ऐसे भयकर अस्त्र वनाने के लिए किया है जिनसे वह अपने ही भाइयो को मार डाले और इतनी मेहनत से तैयार की हुई सभ्यता को नष्ट कर दे।

· ५७

## ईसा के बाद के पहले हज़ार वर्ष

अव यह ठीक मालूम होता है कि हम अपनी यात्रा की जिस मजिल पर आ पहुँचे है, वहाँ थोडी देर के लिए ठहर जायँ और चारो तरफ नजर डाल लें। हम कितनी दूर आ पहुँचे हैं, इस समय कहाँ हैं और दुनिया की क्या हालत है ? आओ हम अलादीन की जादुई कालीन पर वैठकर उस समय की दुनिया के तरह-तरह के हिस्सों की कुछ सैर कर लें।

हम ईसाई सन् के पहले हज़ार वर्षों मे सफर कर चुके हैं। कुछ देशो मे हम ज़रा आगे वढ गये हैं और कही इस मजिल से कुछ पीछे भी रह गये है।

एशिया मे इस समय हम चीन को सुड-राजवश के अधीन देखते हैं। महान् ताङ-राजवश खत्म हो चुका था और सुडो को एक तरफ घरेलू झगडो का सामना करना पड रहा था और दूसरी तरफ उत्तर के वर्वर खितनो के विदेशी हमले का। डेढ सौ वर्षों तक उन्होंने मुकावला किया, लेकिन फिर अपनी कमज़ोरी की वजह से उन्हे दूसरे बर्बर कवीले 'सुनहरे तातारो' या 'किन' लोगो से मदद माँगनी पडी। किन आये, लेकिन वही जम गये और बेचारे सुडो को खिसककर दक्षिण चले जाना पडा, जहाँ दक्षिण सुडो के नाम से उन्होंने डेढ सौ वर्षो तक राज किया। इस बीच मे वहाँ ललित कलाओ की, और चित्रकला व चीनी के वर्तन वनाने की कला की, खूब उन्नति हुई।

कोरिया मे आपस की फूट और सघर्ष के दिनो के वाद ९३५ ई० मे एक सयुक्त स्वाधीन राज्य कायम हुआ और यह वहुत दिनो तक, करीब साढे चार सौ वर्ष, वना रहा। कोरिया ने चीन से अपनी सभ्यता, कला और शासन-प्रणाली के बारे मे वहुत-कुछ सीखा। धर्म और थोडी वहुत कलाएँ चीन होकर भारत से कोरिया को और जापान को भी गईं। पूर्व मे बहुत दूर एशिया के सन्तरी की तरह स्थित जापान, दुनिया से करीव-करीब कटा हुआ, अपनी ज़िन्दगी गुज़ार रहा था। फूजीवारा खानदान सर्वोपरि हो गया था और उसने सम्राट् को, जो अब एक कुल के सरदार से कुछ ज्यादा हैसियतवाला हो गया था, पीछे डाल दिया था। इसके वाद शोगुन आये।
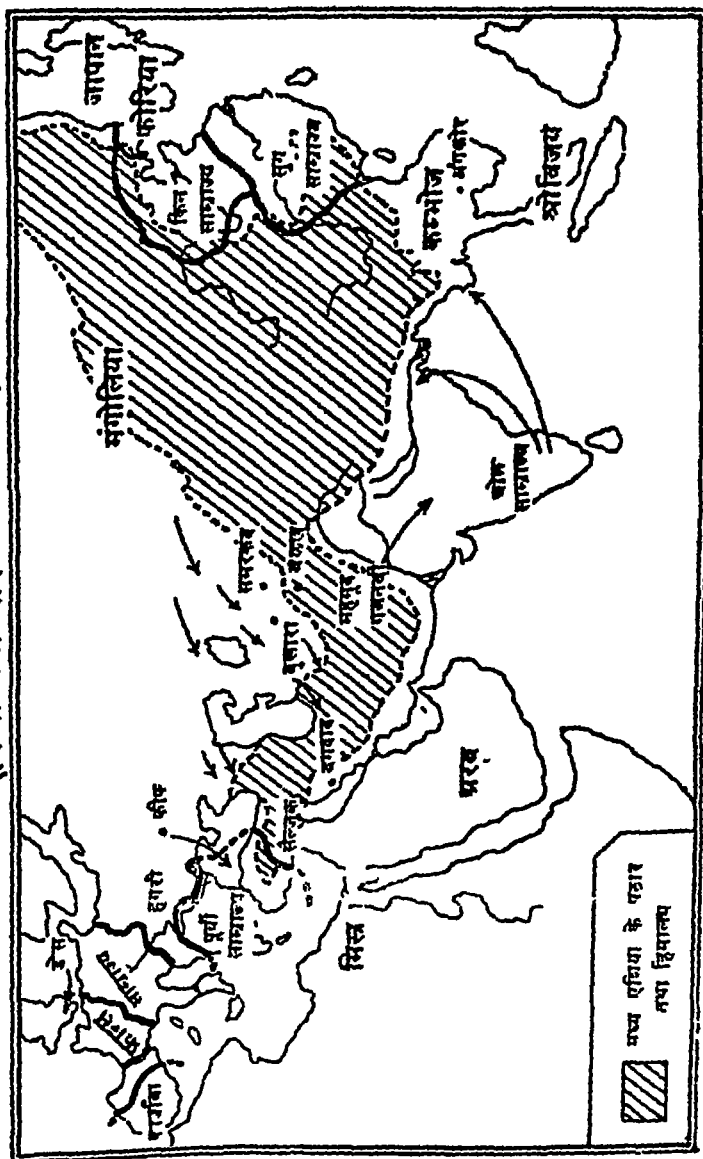
मलेशिया मे भारतीय उपनिवेश फूल-फल रहे थे। शानदार अकोर काम्बोज की राजधानी था और यह राज्य अपनी शक्ति और उन्नति की चोटी पर पहुँच गया था। सुमात्रा मे श्रीविजय एक बडे बौद्ध साम्राज्य की राजधानी था। इस साम्राज्य का सारे पूर्वी टापुओ पर अधिकार था और इनके साथ उसका बहुत बडा व्यापार चलता था। पूर्वी जावा मे एक स्वाधीन हिन्दू-राज्य था, जो बहुत जल्द उन्नति करके व्यापार और व्यापार से पैदा होनेवाले घन के लिए श्रीविजय से होड करते हुए उसके साथ भयकर लडाई मे उतरनेवाला था। और, जैसा कि व्यापार के लिए आजकल के यूरोपीय राष्ट्र करते हैं, इसने अन्त मे श्रीविजय को जीत लिया और नष्ट कर डाला।

भारत मे उत्तर और दक्षिण एक दूसरे से इतने अलग हो गये कि जितने पिछले दिनो से कभी नही रहे थे। उत्तर मे महमूद गजनवी बार-बार धावे मार रहा था और विनाश और लूटपाट कर रहा था। वह अपार धन लूटकर ले गया और उसने पजाब को अपने राज्य मे मिला लिया। दक्षिण मे हम देखते हैं कि चोल-साम्राज्य बढ रहा था और राजराजा व उसके पुत्र राजेन्द्र के शासन मे उसकी शक्ति दिन-दिन बढ रही थी। उन्होंने दक्षिण भारत पर अपना सिक्का जमा लिया था और उनकी जल-सेनाएँ अरब-सागर और बगाल की खाडी पर हावी हो रही थी। लका, दक्षिण बरमा और बगाल पर भी उन्होंने धावे किये थे।

मध्य और पश्चिम एशिया मे हम बगदाद के अब्बासी साम्राज्य के कुछ अवशेष देखते हैं। बगदाद अभी तक फूल-फल रहा था और एक नये शासक वर्ग, यानी सेलजूक तुर्कों के अधीन उसकी ताकत बढ रही थी। लेकिन पुराना साम्राज्य कई राज्यो मे बँट चुका था। इस्लाम अब एक साम्राज्य नही रह गया था बल्कि वह बहुत-से देशो और कौमो का सिर्फ मजहब रह गया था। अब्बासिया साम्राज्य के खडहर से गजनी की सल्तनत पैदा हुई, जिसपर महमूद ने राज किया और जहाँ से वह भारत पर झपट्टे मारता रहता था। हालाँकि बगदाद का साम्राज्य टूक-टूक हो गया था, लेकिन बगदाद खुद अभी तक बहुत बडा शहर बना हुआ था, और दूर-दूर के विद्वानो और कलाकारो को अपने यहाँ खीच रहा था। मध्य एशिया मे उस समय कई बडे और मशहूर शहर उन्नति कर रहे थे, जैसे बुखारा, समरकन्द, बलख वगैरा। इन शहरो के बीच खूब व्यापार हुआ करता था और बडे-बडे कारवाँ व्यापार का माल एक शहर से दूसरे शहर को लाते-लेजाते थे।

मगोलिया मे और उसके आसपास घुमक्कडो के नये कबीलो की सख्या और ताकत बढ रही थी। दो सौ वर्ष बाद ये सारे एशिया के ऊपर टूट पडनेवाले थे। आज भी मध्य और पश्चिमी एशिया की मुख्य नस्लें, इसी मध्य एशिया से आई हुई हैं, जहाँ घुमक्कड कबीलो की नस्लें पैदा होती है। चीनियो ने इन्हे पश्चिम

की तरफ़ खदेड़ दिया था और कुछ तो इनमें से भारत की तरफ़ और कुछ यूरोप की तरफ़ फैल गये थे। इसी समय पश्चिम की ओर खदेड़े गये सेल्जूक तुर्कों ने बगदाद के साम्राज्य का सिंहासन फिर बुलन्द किया, और कुस्तुन्तुनिया के पूर्वी रोमन साम्राज्य पर हमला करना शुरू किया।

यह तो एशिया की बात रही। लाल समुद्र के उस पार मिस्र था जो बगदाद से बिलकुल स्वाधीन था। मिस्र के मुसलमान शासक ने अपने को अलग खलीफ़ा ऐलान कर दिया था। उत्तरी अफ्रीका भी एक स्वाधीन मुसलमानी राज्य था। जिब्राल्टर जलडमरूमध्य के उस पार स्पेन में भी एक स्वाधीन मुस्लिम राज्य था, जिसे कुर्तुबा या कार्डोवा की अमीरात कहा गया है। इसके बारे में मैं तुम्हें आगे कुछ बताऊँगा। लेकिन इतना तो तुम जानती ही हो कि जब अब्बासी खलीफ़ाओं का राज आया तो स्पेन ने उनकी मातहती कबूल नहीं की थी। उस समय से वह स्वाधीन ही था। फ्रान्स को जीतने की इसकी कोशिश को चार्ल्स मार्तेल ने बहुत पहले ही नाकामयाब कर दिया था। अब स्पेन के उत्तरी हिस्से के ईसाई राज्यों की बारी थी कि मुसलमानों पर हमला करें। और ज्यों-ज्यों ज़माना गुजरा इनका हौसला भी बढ़ता गया। लेकिन जिस वक़्त की बात हम कर रहे हैं, उस वक़्त क़ुर्तुबा की अमीरात एक बड़ा और प्रगतिशील राज्य था और सभ्यता और विज्ञान में यूरोप के और देशों से कहीं आगे था।

स्पेन को छोड़कर यूरोप कई ईसाई राज्यों में बँटा हुआ था। इस समय तक ईसाइयत सारे महाद्वीप में फैल चुकी थी। और वीरों और देवी-देवताओं के पुराने मज़हब यूरोप से करीब-करीब गायब हो चुके थे।

आजकल के यूरोपीय देशों की शक्लें बनने लगी थीं। ९८७ ई० में ह्यू कैपे की मातहती में फ्रान्स का नाम सामने आया। इंग्लैण्ड में डेनमार्क का कैन्यूट, जो समुद्र की लहरों को पीछे हटने का हुक्म देने के कारण मशहूर है, १०१६ ई० में राज करता था और पचास वर्ष बाद नॉरमण्डी से 'विजेता' विलियम आया। जर्मनी पवित्र रोमन साम्राज्य का हिस्सा था, लेकिन साफ़ तौर पर वह एक राष्ट्र बनता जा रहा था, हालाँकि वह अभी तक बहुत-सी छोटी-छोटी रियासतों में बँटा हुआ था। रूस पूर्व की तरफ़ फैल रहा था और कुस्तुन्तुनिया को अपने जहाजों से अक्सर डराया करता था। यह उस अजीब आकर्षण की शुरुआत थी, जो कुस्तुन्तुनिया के लिए रूस के दिल में हमेशा रहा है। रूस को इस बड़े शहर को पाने की लालसा एक हज़ार वर्षों से लगी हुई थी और उसे उम्मीद थी कि चौदह वर्ष हुए ख़त्म होनेवाले पहले महायुद्ध के बाद, यह शहर उसे मिल जायगा। लेकिन क्रान्ति ने अचानक आकर पुराने रूस की सारी योजनाओं को उलट दिया।

नौ सौ वर्ष पुराने यूरोप के नकशे में तुम्हें पोलैण्ड और हंगरी भी मिलेंगे, जहाँ

मगियार रहा करते थे, और बल्गारियो के और सर्वों के राज्य भी दिखाई देंगे। तुम इसमे पूर्वी रोमन साम्राज्य को भी पाओगी, जिसे चारो ओर से कई दुश्मन घेरे हुए थे, लेकिन वह अपने ढर्रे पर चला जा रहा था। रूसियो ने उसपर हमला किया; बल्गारियो ने उसको तग किया और नॉर्मन समुद्र के रास्ते बराबर उसे परेशान करते रहे। और अब सबमे ज्यादा खतरनाक सेल्जूक तुर्क निकले, जो उसकी जिन्दगी को ही खत्म करना चाहते थे। लेकिन इन दुश्मनो और बहुत-सी दूसरी कठिनाइयों के बावजूद भी यह साम्राज्य अभी ४०० वर्ष तक खत्म होनेवाला नही था। इस अद्भुत जमे रहने की कुछ वजह यह थी कि कुस्तुन्तुनिया की स्थिति बहुत मजबूत थी। यह ऐसी अच्छी जगह पर बसा था कि किसी दुश्मन के लिए इसपर कब्जा करना मुश्किल था। कुछ वजह यह भी थी कि यूनानियों ने सुरक्षा का एक नया ढग ईजाद किया था। इसका नाम 'यूनानी आग' था। यह कोई ऐसा मसाला था जो पानी के छूते ही जलने लगता था। इस यूनानी आग के जरिये से कुस्तुन्तुनिया के लोग दर्रे दानियाल को पार करके हमला करने की कोशिश करनेवाली फौजो के जहाजो मे आग लगाकर उनकी फौजो को तहस-नहस कर देते थे।

ईसवी सन् के १००० वर्षों के बाद यूरोप का यह नक्शा था। उसी वक्त नॉर्मन लोग अपने जहाजो मे आ रहे थे और भूमध्यसागर के किनारे के शहरो को और समुद्रो मे चलनेवाले जहाजो को लूट रहे थे। सफलता मिलने से ये वास्तव मे शरीफ भी बनते गये। फ्रान्स मे ये लोग उसके पश्चिमी हिस्से, नॉरमण्डी, मे बस गये थ। फ्रान्स को अड्डा बनाकर उन्होंने इग्लैण्ड को जीत लिया था। सिसली का टापू उन्होंने मुसलमानो से छीन लिया और उसमे दक्षिण इटली को जोडकर 'सिसीलिया का राज्य' कायम कर दिया।

यूरोप के मध्य मे, उत्तरी समुद्र से रोम तक, 'पवित्र रोमन साम्राज्य' पसरा हुआ था, जिसमे बहुत-सी रियासते थी और सबका अध्यक्ष एक सम्राट् था। जर्मन सम्राट् और रोम के पोप के बीच प्रभुत्व के लिए बराबर खीच-तान बनी रहती थी। कभी सम्राट् का पासा भारी रहता और कभी पोप का, लेकिन धीरे-धीरे पोपों की शक्ति बढती गई। बहिष्कार यानी किसी आदमी को समाज से छेककर कानून से वचित कर देने की धमकी का भयकर हथियार पोपो के हाथ मे था। पोप ने एक अभिमानी सम्राट् को तो इतना जलील किया कि माफी मांगने के लिए उसे बर्फ मे नगे पांव पोप के पास जाना पडा था और कनौजा (इटली) मे पोप के निवास-स्थान के बाहर इसी तरह उस समय तक खडे रहना पडा था, जबतक कि पोप ने मेहरबानी करके उसे अन्दर आने की इजाजत नही दी।

हम देख रहे हैं कि इस समय यूरोप के देश शक्ल लेने लगे थे। फिर भी वह आज के देशो से बिलकुल अलग तरह के थे—खासकर उनके निवासी तो थे

पहले एशिया को लें। भारत और चीन की पुरानी सभ्यताएँ चली आ रही थीं और उन्नति कर रही थीं। भारतीय संस्कृति मलेशिया और कम्बोडिया तक फैल गई थी। और वहाँ बहुत बढ़िया फल पैदा कर रही थी। चीनी संस्कृति कोरिया और जापान, और किसी हदतक मलेशिया में भी फैली हुई थी। पश्चिमी एशिया में, अरब, फिलस्तीन, सीरिया और इराक में अरबी संस्कृति का दौर था। ईरान में पुरानी ईरानी और नई अरबी सभ्यता का मेल था। मध्य एशिया के कुछ देशों ने भी इस ईरानी-अरबी संस्कृति के मिले-जुले रूप को अख्तियार कर लिया था, और उनपर भारत और चीन का भी असर पड़ा था। ये सब देश सभ्यता के ऊँचे दर्जे को पहुँच गये थे। व्यापार, विद्या और कलाओं की उन्नति हो रही थी, बड़े-बड़े शहरों की बहुतायत थी, और मशहूर विश्वविद्यालयों में दूर-दूर के विद्यार्थी आते थे। सिर्फ मंगोलिया और मध्य एशिया के कुछ हिस्सों में और उत्तर में साइबेरिया में सभ्यता का स्तर कुछ नीचा था।

अब यूरोप को लो। एशिया के प्रगतिशील देशों के मुकाबले में यह पिछड़ा हुआ और आधा-जंगली था। यूनानी-रोमन सभ्यता पुराने ज़माने की सिर्फ याद-गार रह गई थी। विद्या की कद्र नहीं थी, कलाओं का भी ज़्यादा प्रचार नहीं था और एशिया के मुकाबले व्यापार भी बहुत कम था। लेकिन दो जगह रोशनी नज़र आती थी। एक तो अरबों के शासन में स्पेन में जो अरबों के शानदार ज़माने की परम्परा को कायम रखे हुए था, दूसरा कुस्तुन्तुनिया था, जो धीरे-धीरे गिरावट की हालत में भी, एशिया और यूरोप की सरहद पर, बहुत बड़ा और घनी आबादी का शहर था। यूरोप के ज़्यादातर हिस्सों में बार-बार गड़बड़ हुआ करती थी और सामन्त-शाही के हरेक नाइट और सरदार अपने मातहत इलाके का छोटा-मोटा राजा हुआ करता था। एक समय ऐसा आया कि पुराने रोमन साम्राज्य की राजधानी रोम एक मामूली गांव के बराबर रह गया और उसके पुराने कोलोज़ियम में जंगली जानवरों का बसेरा हो गया। लेकिन अब यह फिर बढ़ने लगा था।

इसलिए अगर तुम ईसा के १००० वर्ष बाद के यूरोप और एशिया का मुकाबला करो तो एशिया का पलड़ा बहुत भारी निकलेगा।

आओ, अब एक नज़र और डालें, और मामलों की तह में जाकर देखने की कोशिश करें। हमें पता चलेगा कि ऊपर से देखनेवाले के खयाल से एशिया की हालत जितनी अच्छी थी, असल में उतनी अच्छी नहीं थी। प्राचीन सभ्यता के दो पालने, भारत और चीन, परेशानी में फँसे हुए थे। ये सिर्फ बाहर से होनेवाले हमलों से ही परेशान नहीं थे, बल्कि इनसे भी ज़्यादा असली वे परेशानियाँ थीं जो इनकी अन्दरूनी ज़िन्दगी और ताकत को चूस रही थीं। पश्चिम में अरबों के शान-दार दिनों का अन्त हो रहा था। यह सच है कि सेलजूकों की ताकत बढ़ रही थी,

लेकिन उनकी तरक्की की वजह सिर्फ यह थी कि वे बडे रण-बाँकुरे थे। भारतीयो, चीनियो, ईरानियो या अरबो की तरह ये लोग एशिया की सभ्यता के प्रतिनिधि नही थे, बल्कि एशिया के रण-बाँकुरेपन के प्रतिनिधि थे। एशिया मे हर जगह पुरानी सभ्य जातियाँ सिकुडती हुई दिखाई देती थी। वे आत्म-विश्वास खो बैठी थी और अपने को बचाने की चिन्ता मे थी। बलवान और तेज-तरार नई कौमे पैदा हुईं, जिन्होने एशिया की इन पुरानी नस्लो को विजय किया और जो यूरोप की तरफ भी बढने लगी। लेकिन ये अपने साथ सभ्यता की कोई नई लहर या सस्कृति की कोई नई प्रेरणा नही लाईं। पुरानी नस्लो ने धीरे-धीरे इन नई कौमो को सभ्य बनाया और अपने विजेताओ को हज़म कर लिया।

इस तरह हम एशिया के ऊपर एक बडा परिवर्तन आता हुआ देखते हैं। पुरानी सभ्यता क़ायम थी, ललित कलाएँ फूल-फल रही थी, विलासिता मे नज़ाकत मौजूद थी, लेकिन सभ्यता की नाडी कमज़ोर पड रही थी और ज़िन्दगी की साँस धीरे-धीरे मन्द होती जा रही थी। ये सभ्यताएँ बहुत दिनो तक कायम रही। सिवाय अरब के, और मध्य-एशिया के, जबकि वहाँ मगोल आये। कही दूसरी जगह न तो ये सभ्यताएँ खत्म हुईं, और न इनका सिलसिला ही टूटा। चीन और भारत की सभ्यताएँ धीरे-धीरे मन्द पडने लगी, और अन्त मे पुरानी सभ्यता चित्रित तसवीर की तरह हो गई, जो दूर से देखने मे तो बहुत सुन्दर मालूम होती थी, लेकिन थी बे-जान और नज़दीक से देखने पर मालूम होता था कि उसमे दीमक लगी हुई है।

साम्राज्यो की तरह सभ्यताओ का पतन भी, बाहरी दुश्मनो की ताकत की वजह से इतना नही होता, जितना कि अन्दरूनी कमज़ोरी और सडन की वजह से। रोम का अन्त बर्बरो की वजह से नही हुआ। बर्बरो ने तो सिर्फ एक ऐसी चीज़ को धराशायी किया था जो पहले ही मुर्दा थी। जिस समय रोम के हाथ-पाँव काटे गये, उससे पहले ही उसके दिल की धडकन बन्द हो चुकी थी। कुछ ऐसी ही प्रक्रिया हमे भारत, चीन और अरब मे भी दिखाई देती है। अरबी सभ्यता का अन्त भी उसके उदय के समान ही एकदम हुआ। भारत और चीन मे पतन की यह प्रक्रिया बहुत लम्बे अर्से तक चलती रही और यह पता लगाना आसान नही है कि वह कहाँ खत्म हुई।

महमूद गज़नवी के भारत आने से बहुत पहले पतन की यह प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। लोगो के दिमाग मे परिवर्तन हुआ दिखाई देने लगा था। नये विचार और नई चीज़ें पैदा करने के बजाय भारत के लोग पुरानी बातो को दोहराने और उनकी नकल करने मे लग गये थे। उनके दिमाग़ अभी तक काफी तेज़ थे, लेकिन वे अपना समय उन बातो का नया अर्थ लगाने मे और उनकी व्याख्या करने

में बिताते थे, जो बहुत दिनो पहले कही और लिखी जा चुकी थी। ये लोग अभी भी चकित करनेवाली मूर्त्तिकला व नक्काशी कला की चीज़े बनाते थे, लेकिन ये सब चीजें ज़रूरत से ज्यादा बारीकियो और सजावट से बोझिल थी और कहीं-कही उनमे कुछ अजीब विकृति भी आ जाती थी। इनमे मौलिकता नहीं थी और इसी तरह आकृतियाँ भी उभरी हुई और शानदार नही थी। धनवानों और खुशहालो मे तकल्लुफ और कला-प्रेम और विलासिता का ज़ोर था, लेकिन न तो आम जनता की मेहनत व मुसीबत को कम करने के लिए कुछ किया गया और न उपज बढाने के लिए।

ये तमाम सभ्यता की सन्ध्या के काल की निशानियाँ हैं। जब ऐसा होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि उस सभ्यता की चेतना लोप हो रही है, क्योंकि रचना ही जीवन का चिह्न है, दोहराना या नकल करना नही।

चीन और भारत मे उस समय कुछ इसी किस्म की प्रतिक्रियाएँ हो रही थी। लेकिन मेरे मतलब को समझने मे गलती न करना। मेरा मतलब यह नहीं है कि इसकी वजह से चीन या भारत की हस्ती मिट गई या वे असभ्यता के गड्ढे मे गिर पडे। मेरा मतलब यह है कि चीन और भारत की रचनात्मक भावना को जो पुरानी प्रेरणा बीते ज़माने मे मिलती थी, उसकी शक्ति अब खत्म हो रही थी, और उसमे नई जान नही पड रही थी। यह भावना अपने को बदले हुए हालात के मुताबिक़ नही ढाल रही थी, बल्कि सिर्फ पुराने ढर्रे पर चल रही थी। हर देश और सभ्यता की यही हालत होती है। ऊँचे दर्जे की नई रचना की कोशिश के और विकास के ज़माने आते हैं और फिर पस्ती के ज़माने आते हैं। ताज्जुब की बात तो यह है कि चीन और भारत मे यह पस्ती इतनी देर से आई और फिर भी ऐसा कभी नही हुआ कि ये पूरी तरह पस्त हो गये हो।

इस्लाम अपने साथ भारत मे मानव-प्रगति की एक नई लहर लेकर आया। कुछ हद तक इसने पौष्टिक दवा का काम किया। इसने भारत को झकझोर डाला, लेकिन दो कारणो से वह भारत को उतना फायदा नही पहुँचा सका, जितना कि पहुँचा सकता था। वह भारत मे गलत तरीके से आया और बहुत देर से आया। महमूद गजनवी के हमलो के कई सौ वर्ष पहले से मुसलमान धर्म-प्रचारक भारत भर मे घूमते-फिरते थे और इनका स्वागत होता था। ये शान्ति के साथ आये थे और कुछ कामयाब भी हुए थे। इस्लाम के खिलाफ कोई भी बुरी भावना नही थी। लेकिन महमूद अपने साथ तलवार और आग लेकर आया। और जिस ढग से वह विजेता, लुटेरा और कातिल बनकर आया, उससे भारत मे इस्लाम के नाम को जितना धक्का पहुँचा उतना किसी दूसरी वजह से नही। यह ठीक है कि महमूद मजहब की कुछ परवाह नही करता था और उसने वैसी ही मारकाट और लूटपाट

की जैसी कि सब बड़े विजेता किया करते हैं। लेकिन भारत मे इस्लाम पर इसके हमले बहुत दिनो तक छाये रहे और लोगों के लिए इस्लाम के बारे मे निष्पक्षता से विचार करना मुश्किल हो गया, वरना हालत दूसरी ही होती।

यह एक वजह थी। दूसरी वजह यह थी कि इस्लाम देर मे आया। यह अपनी शुरुआत के चार सौ वर्ष बाद यहाँ आया और इन लम्बे अर्से मे वह कुछ पस्त हो चुका था और उसकी रचना-शक्ति बहुत-कुछ बीत चुकी थी। अगर अरब लोग शुरू मे ही इस्लाम को लेकर भारत आये होते तो उन्नतिशील अरबी संस्कृति और पुरानी भारतीय संस्कृति आपस मे मिल गई होती और दोनो एक-दूसरे पर असर डालती, जिसके नतीजे बड़े महान् होते। तब दो सुसंस्कृत नस्लो का मेल हो गया होता, क्योंकि अरब लोग मजहब के मामले मे उदारता और बुद्धिवाद के लिए मशहूर थे। वास्तव मे एक जमाने मे बगदाद मे एक क्लब था, जिसका संरक्षक खलीफ़ा था, और जहाँ हर मजहब के माननेवाले और किसी भी मजहब को न माननेवाले जमा होते थे और सिर्फ बुद्धिवादी दृष्टिकोण से सब मामलो पर चर्चा और बहस किया करते थे।

लेकिन अरब लोग भारत के भीतर नही घुसे। वे सिन्ध मे आकर रुक गये। और भारत पर उनका कुछ असर नहीं पड़ा। भारत मे इस्लाम तुर्को और दूसरी क़ौमो के जरिये आया, जिनमे अरबो जैसी उदारता और संस्कृति नही थी, क्योंकि वे सिर्फ सिपाही थे।

लेकिन फिर भी प्रगति और रचनात्मक प्रयत्न की एक नई लहर भारत मे आई। यह नई लहर भारत मे कुछ नई जान डालकर किस तरह खत्म हो गई, इसपर हम आगे विचार करेंगे।

अब भारतीय सभ्यता के कमजोर पड़ने का एक और नतीजा सामने आने लगा था। जब इसपर बाहर से हमला हुआ तो उस आनेवाली लहर से बचने के लिए इसने अपने चारो तरफ बाड़ लगा ली और अपने को उसमे बन्द-सा कर लिया। यह भी कमजोरी और डर की एक निशानी थी, और इस दवा ने रोग को और भी बढ़ा दिया। असली बीमारी विदेशी हमला नही थी, बल्कि कूप-मण्डूकपन थी। इस कूप-मण्डूकपन से सड़न पैदा हुई और बढ़ोतरी के सारे रास्ते रुक गये। आगे चलकर हम देखेंगे कि चीन ने भी यह बात अपने तरीके से की और जापान ने भी ऐसा ही किया। किसी परकोटे मे बन्द समाज मे रहना कुछ खतरनाक बात है। उसमे रहकर हम पथरा जाते हैं और ताजी हवा और ताजे विचारो के आदी नही रह जाते। समाजो के लिए भी ताजी हवा उतनी ही जरूरी है जितनी व्यक्तियो के लिए।

यह तो एशिया की बात हुई। हमने देखा है कि यूरोप उस समय पिछड़ा हुआ था और झगड़ालू भी था। लेकिन इसकी तमाम गड़बड़ी और असभ्यता

के पीछे कम-से-कम इसमें क्रियाशील शक्ति और चेतना पाई जाती थी। एशिया बहुत दिनों तक निस्तेज रहने के बाद पतन की तरफ जा रहा था, यूरोप ऊँचा उठने की कोशिश में था। लेकिन एशिया के स्तर के पास तक पहुँचने के लिए उसे अभी बहुत लम्बी मंजिल तय करनी बाकी थी।

आज यूरोप दुनिया पर हावी है, और एशिया आजादी के लिए तकलीफ़ें उठाकर लड़ रहा है। लेकिन सतह के नीचे फिर देखने की कोशिश करो। तुम्हें एशिया में नई क्रियाशील शक्ति, नई रचना की भावना और नई जिन्दगी दिखाई देगी। एशिया अब फिर उठ रहा है, इसमें कोई शक नहीं। और यूरोप में, या यों कहो पश्चिमी यूरोप में, ऊपरी महानता के बावजूद, पतन के कुछ चिह्न दिखाई दे रहे हैं। आज कोई जंगली कौम इतनी ताकतवर नहीं है, जो यूरोप की सभ्यता को बर्बाद कर दे। लेकिन कभी-कभी सभ्य जातियाँ खुद जंगलियों जैसी हरकतें करने लगती हैं, और जब ऐसा होता है तो सभ्यता खुद अपने को नष्ट कर देती है।

मैं एशिया और यूरोप की बातें कर रहा हूँ। लेकिन ये तो सिर्फ भौगोलिक शब्द हैं और जो समस्याएँ हमारे सामने हैं, वे एशियाई या यूरोपीय समस्याएँ नहीं हैं, बल्कि सारे संसार की या मनुष्य-जाति की समस्याएँ हैं। और जबतक हम सारे संसार की इन समस्याओं को हल नहीं कर डालते, तबतक गड़बड़ें चलती रहेंगी। इन समस्याओं के हल का अर्थ सिर्फ यही हो सकता है कि हर जगह गरीबी और मुसीबत खत्म हो। सम्भव है, इसमें कुछ वक्त लग जाय, लेकिन हमारा निशाना यही होना चाहिए, और इससे कम हरगिज नहीं होना चाहिए। तभी हम बराबरी के आधार पर असली सभ्यता और संस्कृति कायम कर सकेंगे, जिसमें किसी देश या किसी वर्ग का शोषण न होगा। यह समाज नई रचना करनेवाला और प्रगतिशील होगा जो बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालेगा और जिसकी बुनियाद सब लोगों के आपसी सहयोग पर होगी। और अन्त में यह समाज सारी दुनिया में फैल जायगा। फिर यह खतरा न रहेगा कि ऐसी सभ्यता पुरानी सभ्यताओं की तरह ढह जाय या सड़ जाय।

इसलिए जब हम भारत की आजादी के लिए लड़ रहे हैं तो हमें याद रखना चाहिए कि सारी मनुष्य-जाति की आजादी हमारा महान् लक्ष्य है, जिसमें हमारे राष्ट्र की आजादी के साथ दूसरे राष्ट्रों की आजादी भी शामिल है।

## ५९

## अमेरिका की नई सभ्यता

१३ जून, १९३२

मैं तुमसे कहता आया हूँ कि इन पत्रों में मैं संसार के इतिहास की रूप-

मध्य अमरीका की मय सभ्यता
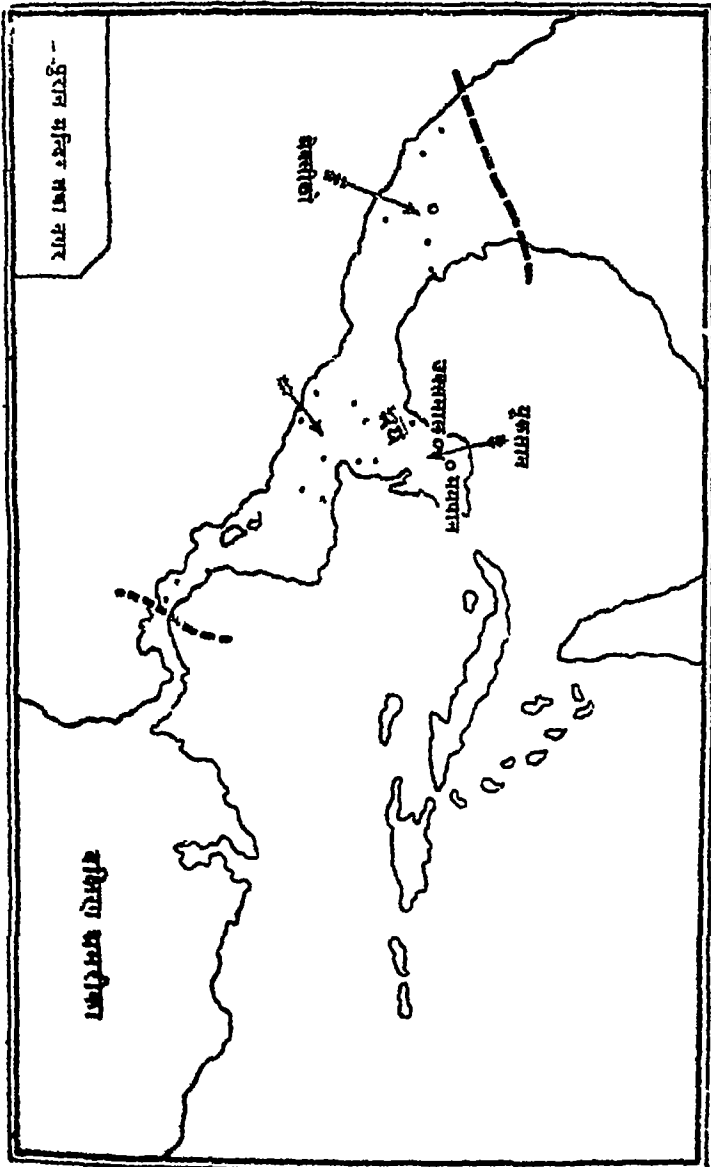
रेखा खीचने की कोशिश कर रहा हूँ। लेकिन वास्तव मे अभी तक यह एशिया और यूरोप और उत्तरी अफ्रीका का ही इतिहास रहा है। अमेरिका और आस्ट्रेलिया के बारे मे मैंने अभी तक कुछ नही बताया। या अगर कुछ बताया भी है तो वह नही के बराबर है। लेकिन मैं तुम्हे पहले ही बता चुका हूँ कि इस शुरू के जमाने मे भी अमेरिका मे एक सभ्यता थी। इस सभ्यता के बारे मे अधिक जानकारी नही मिलती है, और मैं तो वास्तव मे बहुत ही कम जानता हूँ। फिर भी उसके बारे मे तुम्हे कुछ बताने की अपनी चाह को मैं नही दबा सकता, ताकि तुम यह समझने की आम गलती न कर बैठो कि कोलम्बस और दूसरे यूरोपवासियो के पहुँचने से पहले अमेरिका सिर्फ एक वहशी मुल्क था।

शायद पाषाण-युग[1] के बहुत पुराने जमाने मे, जब मनुष्य कही जमकर नही रहता था और घूमने-फिरनेवाला शिकारी था, तब उत्तरी अमेरिका और एशिया के बीच मे खुश्की का रास्ता था। आदमियो के कितने ही गिरोह और कबीले अलास्का होकर एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप मे आते-जाते रहे होगे। बाद मे आने-जाने का यह रास्ता कट गया और अमेरिका के लोगो ने धीरे-धीरे अपनी निजी सभ्यता बना ली। याद रहे कि, जहाँ तक पता चला है, अमरीका के लोगो को एशिया और यूरोप से जोडनेवाला कोई साधन नही था। सोलहवी सदी तक, जब कि नई दुनिया की खोज की गई बतलाई जाती है, ऐसा कोई बयान नही पाया जाता कि यूरोप और एशिया का इस देश से कोई असर डालने वाला सम्पर्क रहा हो। अमेरिका की यह दुनिया दूर और अलग थी—और इसपर यूरोप और एशिया की घटनाओ का कोई असर नही पडता था।

मालूम होता है कि अमेरिका मे सभ्यता के तीन केन्द्र थे मैक्सिको, मध्य-अमेरिका और पेरू। यह ठीक मालूम नही है कि ये सभ्यताएँ कबसे शुरू हुईं। लेकिन मैक्सिको का पचाग ईसवी सन् के करीब ६१३ साल पहले से शुरू होता है। हम देखते हैं कि ईसवी सन् के शुरू के वर्षों मे, दूसरी सदी के आगे, बहुत-से शहर बढ चुके थे। पत्थर का काम, मिट्टी के बरतनो का काम, बुनाई और बहुत सुन्दर रँगाई के काम होते थे। ताँबा और सोना बहुतायत से मिलते थे, लेकिन लोहा नही था। इमारतें बनाने की कला की तरक्की हो रही थी और मकानो के बनाने मे इन शहरो की आपसी होड चलती थी। एक खास तरह की और बहुत पेचीदा लिपि लिखी जाती थी। कला, खासकर मूर्त्तिकला, बहुत देखने मे आती थी और वह काफी सुन्दर थी।

---

[1] पाषाणयुग—मनुष्य-जाति का शुरू का समय जब मनुष्य सिर्फ पत्थर के औजार बनाना जानता था।

सभ्यता के इन केंद्रो मे से हरेक मे कई राज्य थे। कई भाषाएँ थीं और इन भाषाओं में काफी साहित्य भी था। सुसगठित और मज़बूत सरकारें थीं और शहरो में सुसंस्कृत और दिमागी समाज था। इन राज्यों का कानून और अर्थ-व्यवस्था बहुत विकसित थे। ९६० ई० के लगभग उक्समल नगर की नीव डाली गई। कहा जाता है कि यह शहर बहुत जल्दी बढ़कर उस समय के एशिया के बड़े शहरों की टक्कर का हो गया। इनके अलावा लाबुना, मयापान, चाओ-मुल्तुन, वगैरा और भी बडे-बडे नगर थे।

मध्य अमेरिका के तीन मुख्य राज्यों ने मिलकर एक सघ बनाया था, जिसे अब मयपान-सघ कहते है। यह ईसा के बाद ठीक एक हजार वर्ष के आसपास की बात है, यानी उस जमाने की जहाँतक हम एशिया और यूरोप मे आ पहुँचे है। यानी ईसा के एक हजार वर्ष बाद मध्य अमेरिका में सभ्य राज्यो का एक शक्तिशाली सगठन था। लेकिन इसके सारे राज्यों पर और खुद सब सभ्यता पर पुरोहित लोग सवार थे। ज्योतिष-विज्ञान का सबसे ज्यादा आदर होता था, और इस विज्ञान के जानकार होने की वजह से पुरोहित लोग जनता की अज्ञानता से फायदा उठाते थे। इसी तरह भारत मे भी लाखो आदमी चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहणो पर स्नान व उपवास करने के लिए फुसलाये गए है।

यह मयपान-सघ सौ वर्षों से अधिक बना रहा। जान पडता है कि इसके बाद एक समाजी क्रान्ति हुई और सरहद की एक बाहरी शक्ति ने दखल देना शुरू कर दिया। ११९० ई० के लगभग मयपान नष्ट हो गया, लेकिन दूसरे शहर बने रहे। इसके बाद सौ वर्ष के अन्दर एक दूसरी कौम आई। ये लोग मैक्सिको मे आये थे और अज़टेक कहलाते थे। इन लोगो ने चौदहवी सदी के शुरू मे मय देश को जीत लिया और १३२५ ई० के लगभग टेनोचिट्लन नामक शहर बसाया। जल्द ही यह सारे मैक्सिको की राजधानी और अज़टेक साम्राज्य का केन्द्र बन गया। इस शहर की आबादी बहुत बडी थी।

अज़टेक लोग एक फौजी राष्ट्र थे। इनके फौजी उपनिवेश थे, छावनियां थीं और फ़ौजी सडको का जाल था। यहाँतक कहा जाता है कि वे इतने चालाक थे कि अपने मातहत राज्यों को आपस मे लडाते रहते थे। उनकी आपसी फूट से उनपर शासन करना ज्यादा आसान था। सारे साम्राज्यो की यह बहुत पुरानी नीति रही है। रोमवाले इसे 'फूट डालो और राज करो' की नीति[1] कहते थे।

दूसरी बातो मे चतुर होते हुए भी अज़टेक लोग मज़हब के मामले मे पुरोहितो के शिकजे मे थे, और इससे भी बुरी बात यह थी कि उनके मज़हब मे आदमियो की

---

[1] Divide et impera

कुरबानियाँ बहुत होती थी। हर साल धर्म के नाम पर हजारो आदमी बडे भयकर तरीके से बलि चढा दिये जाते थे।

लगभग दो सौ वर्षों तक अज़टेको ने अपने साम्राज्य पर डण्डे के ज़ोर से राज किया। साम्राज्य मे ज़ाहिरा सुरक्षा व शान्ति थी, लेकिन जनता बेरहमी से निचोडी और लूटी जाती थी। जो राज्य इस तरह बना हो और इस तरह चलाया जाय, वह बहुत दिनो तक क़ायम नही रह सकता। और यही हुआ भी। सोलहवी सदी के शुरू मे, यानी १५१९ ई० में, जब अज़टेक अपनी शक्ति की सबसे ऊँची चोटी पर दिखाई देते थे, उनका साम्राज्य मुट्ठी भर लुटेरे और हौसलावर विदेशियो के हमले से भरभराकर गिर पडा। साम्राज्यो के पतन की यह एक बडी ही हैरत मे डालनेवाली मिसाल है। और यह सब एक स्पेनवासी हर्नन कोर्तीज़ और उसके साथ की सिपाहियो की एक टुकडी ने कर दिखाया। कोर्तीज़ बहादुर आदमी था और काफी जोखिम उठानेवाला था। उसके पास दो चीज़ें थी, जिनसे उसे बडी मदद मिली—बन्दूकें और घोडे। मालूम होता है कि मैक्सिको के साम्राज्य मे घोडे नही थे और बन्दूके तो थी ही नही। लेकिन, अगर अज़टेक साम्राज्य की जडें खोखली न होती तो न तो कोर्तीज़ की हिम्मत और न उसकी बन्दूकें और घोडे ही किसी काम आते। इस राज्य का ऊपरी रूप तो बना हुआ था, लेकिन अन्दर से यह खोखला हो चुका था, इसलिए इसे गिराने को ज़रा-सी ठोकर ही काफ़ी थी। यह साम्राज्य जनता के शोषण की नीव पर बना था, इसलिए लोग उससे बहुत नाराज़ थे। इसलिये जब उसपर हमला हुआ तो आम जनता ने साम्राज्यवादियो की इस हार का स्वागत किया। और, जैसा कि अक्सर होता है इसके साथ ही एक समाजी क्रान्ति भी हुई।

एक बार तो कोर्तीज़ खदेड दिया गया और मुश्किल से वह अपनी जान बचा सका। लेकिन वह फिर लौटा और वहाँ के कुछ निवासियो की मदद से उसने फतह पाई। इससे अज़टेक शासन का तो अन्त हुआ ही, लेकिन मजेदार बात यह है कि साथ-ही-साथ मैक्सिको की सारी सभ्यता लडखडाकर गिर पडी और थोडे ही समय मे उस शाही और विशाल राजधानी टेनोक्टिटलन का निशान तक बाकी नही रहा। उसकी एक ईंट भी आज नही बची है और उसकी जगह पर स्पेनवालो ने एक बडा गिरजा बनाया। मय सभ्यता के दूसरे बडे शहर भी नष्ट हो गये और यूकेतन के जगलो ने उन्हे ढक लिया, यहाँतक कि उनके नाम भी बाकी न रहे और उनमे से बहुतो की याद आजकल उनके पडोस के गाँवो के नामो मे बाकी रह गई है। उनका सारा साहित्य भी नष्ट हो गया और सिर्फ तीन किताबें बच रही हैं, और उन्हें भी आज तक कोई पढ नही सका है।

मामूली तौर पर यह बताना मुश्किल है कि एक प्राचीन जाति और एक

प्राचीन सभ्यता, जो करीब १५०० वर्षों तक कायम रही, यूरोप के नये लोगो के सम्पर्क मे आते ही एकाएक कैसे खत्म हो गई। ऐसा मालूम होता है कि यह सम्पर्क एक बीमारी की तरह था, यानी एक नई महामारी थी, जिसने उनका सफाया कर दिया। हालांकि कुछ बातो में इनकी सभ्यता बहुत ऊँची थी लेकिन कुछ दूसरी बातो मे ये लोग बहुत पिछडे हुए थे। इतिहास के जुदा-जुदा कालो की ये लोग एक विचित्र खिचडी थे।

दक्षिणी अमेरिका के पेरू मे सभ्यता का एक और केन्द्र था और इस देश मे 'इनका' का शासन था। यह एक तरह का दैवी राजा माना जाता था। यह अजीब बात है कि पेरू की इस सभ्यता का, कम-से-कम पिछले दिनो मे, मैक्सिको की सभ्यता से बिलकुल भी सम्पर्क नही था। दोनो सभ्यताएँ एक-दूसरी से बहुत दूर नही थी, फिर भी वे एक-दूसरी के बारे मे कुछ नही जानती थी और सिर्फ इसी बात से यह साबित हो जाता है कि कुछ मामलो मे वे कितनी ज्यादा पिछडी हुई थी। मैक्सिको ने कोर्तीज़ की सफलता के बाद ही, एक दूसरे स्पेन-वासी ने पेरू राज्य का भी अन्त कर दिया। इसका नाम पिज़ारो था। इसने १५३० ई० मे आकर इनका को दगाबाजी से पकड लिया। 'दैवी' राजा के पकडे जाने से ही लोग डर गये। पिज़ारो ने कुछ समय तक इनका के नाम पर राज करने की कोशिश की और लोगो को दबाकर बहुत दौलत ऐंठी। बाद मे यह ढोंग खत्म कर दिया गया और स्पेनवासियो ने पेरू को अपने राज्य का एक हिस्सा बना लिया।

कोर्तीज़ ने जब पहले-पहल टेनोक्टिट्लन शहर देखा तो वह उसकी विशालता पर हक्का-बक्का रह गया। उसने यूरोप मे इस किस्म का कोई शहर नही देखा था।

मय और पेरू की कला की बहुत-सी निशानियां मिली हैं और वे अमेरिका के, और खासकर मैक्सिको के, अजायबघरो मे देखी जा सकती हैं। इनमे कला की एक बढिया परम्परा दिखाई देती है। पेरू के सुनारो का काम बहुत ही ऊँचे दर्जे का बताया जाता है। पत्थर की मूर्तियो के भी कुछ नमूने मिले हैं, जिनमे पत्थर के कुछ सांप खासतौर पर बहुत ही सुन्दर हैं। दूसरी मूर्ते तो मानो दहलाने व नफरत पैदा करने के लिए बनाई गई हैं, और उन्हे देखकर सचमुच डर व नफरत पैदा होते हैं।

६०.

# मोहेन-जो-दड़ो की तरफ वापस छलांग

१४ जून, १९३२

मैंने अभी मोहेन-जो-दड़ो और सिन्ध-घाटी की पुरानी भारतीय सभ्यता

के बारे मे कुछ पढा है। एक नई महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें इस सभ्यता के बारे में वे सारी बातें, जो अभी तक मालूम हो सकी हैं, बयान की गई हैं। यह पुस्तक उन लोगो ने तैयार की है और लिखी है, जिनकी देख-रेख मे खुदाई का और खोद निकालने का काम था और जिन्होंने गहराई तक खोदते-खोदते अपनी आंखो से शहर को, मानो धरती-माता के गर्भ से बाहर निकलने देखा है। मैंने अभी तक यह पुस्तक नही देखी है। मैं चाहता हूँ कि वह मुझे यहाँ मिल जाती। लेकिन मैंने इसकी समालोचना पढी है और मैं चाहता हूँ कि इसके कुछ उद्धरण तुम्हारे सामने भी रख दूं। सिन्ध-घाटी की यह सभ्यता एक अद्भुत चीज है और इसकी बाबत जितना ज्यादा मालूम होता है उतना ही आश्चर्य भी बढता है। इसलिए मुझे आशा है कि अगर हम पिछले इतिहास के विवरण को छोडकर इस पत्र में पांच हजार वर्ष पीछे कूद जायं, तो तुम्हे कुछ ऐतराज न होगा।

मोहेन-जो-दडो को लोग कम-से-कम इतना पुराना तो मानते ही हैं। जो मोहेन-जो-दडो हमे मिला है वह एक सुन्दर शहर था और एक सुसस्कृत और सभ्य जाति का घर था। इसके पीछे विकास का एक लम्बा जमाना जरूर रहा होगा। यही बात इस पुस्तक से हमे मालूम होती है। सर जॉन मार्शल, जिसकी देख-रेख मे खुदाई का काम हो रहा है, लिखता है—

> "एक बात, जो मोहेन-जो-दडो और हडप्पा दोनो जगहो मे साफतौर पर और बिना किसी भ्रम के दिखाई देती है, यह है कि जो सभ्यता इन दो स्थानो पर अभी तक प्रकट हुई है, वह नवजात सभ्यता नहीं है, बल्कि युगो पुरानी और भारत की जमीन पर रूढ हुई सभ्यता है, जिसके पीछे लाखो वर्षों का मानव-प्रयत्न है। इसलिए जब आगे ईरान, इराक और मिस्र के साथ-साथ भारत की गिनती भी सभ्यता के उन महत्वपूर्ण क्षेत्रो मे की जानी चाहिए, जहाँ सभ्यता की प्रक्रिया शुरू हुई और विकसित हुई।"

मेरा खयाल है कि हडप्पा के बारे में मैंने तुम्हें अभी कुछ नही बताया है। यह दूसरी जगह है, जहाँ मोहेन-जो-दडो से मिलते-जुलते पुराने खण्डहर खोदकर निकाले गये हैं। यह पश्चिमी पजाब में है।

इस तरह हम देखते हैं कि सिन्ध-घाटी में हम न सिर्फ ५००० वर्ष पहले, बल्कि उससे भी हजारो वर्ष पहले पहुंच जाते हैं। यहाँ तक कि हम प्राचीनता के उस धुंधले कोहरे मे खो जाते हैं जब आदमी पहले-पहल एक जगह जमने लगा था। जिस समय मोहेन-जो-दडो की सभ्यता फूल-फल रही थी, उस समय भारत मे आर्य लोग नही थे। किन्तु इसमे सन्देह नही कि उस समय "भारत के दूसरे लोग नहीं तो कम-से-कम पंजाब और सिन्ध एक उन्नत और निराली एक-रूप सभ्यता

का उपभोग कर रहे थे, जो उस समय की इराक और मिस्र की सभ्यताओ से बहुत-कुछ मिलती-जुलती और कई बातो मे उनसे भी ऊँची थी।"

मोहेन-जो-दडो और हडप्पा की खुदाईसे यह प्राचीन और दिल को मोहनेवाली सभ्यता हमारे सामने प्रकट हो गई है। न जाने भारत की मिट्टी के नीचे दूसरी जगहो पर कितना कुछ और दबा पडा है! मालूम होता है कि यह सभ्यता भारत के काफी हिस्से मे फैली हुई थी और सिर्फ मोहेन-जो-दडो और हडप्पा तक ही सीमित नही थी। ये दोनो स्थान भी एक-दूसरे से काफ़ी दूरी पर हैं।

यह वेहे युग था "जिसमे तांवे व कांसे के हथियारो और बर्तनो के साथ-साथ पत्थर के हथियारो और बर्तनो का भी उपयोग चला आ रहा था।" सर जॉन मार्शल ने सिन्ध-घाटी के निवासियो के साथ उस समय के मिस्र और इराक़ के लोगो की तुलना करके दोनो का फर्क और सिन्ध-घाटी के निवासियो की श्रेष्ठता बताई है। वह लिखता है—

> "अगर सिर्फ कुछ प्रधान बातो का ही जिक्र किया जाय तो पहली चीज यह है कि कपडा बनाने के लिए रुई का उपयोग इस युग मे सिर्फ भारत तक ही सीमित था और पश्चिमी जगत मे इसके दो-तीन हजार वर्ष बाद तक चालू नही हुआ। दूसरे, ऐतिहासिक युग के पहले मिस्र या इराक या पश्चिमी एशिया के किसी भी भाग मे हमे कोई ऐसी चीज नही मिलती, जो मोहेन-जो-दडो के नागरिको के सुनिर्मित स्नानागारो और कुशादा मकानो की बराबरी कर सके। उन देशो मे देवताओ के शानदार मन्दिरो, और राजाओ के महलो व कब्रो के बनाने मे बहुत धन और सूझ-बूझ खर्च की जाती थी, लेकिन मालूम होता है, बाकी जनता को मिट्टी की तुच्छ झोपडियो पर ही सन्तोष करना पडता था। लेकिन सिन्ध-घाटी मे हमे इसका उलटा दृश्य मिलता है, और यहांपर सबसे अच्छे मकान वे हैं, जो नागरिको के आराम के लिए बनाये गए थे।"

आगे वह फिर लिखता है—

> "सिन्ध-घाटी की कला और उसके धार्मिक दृष्टिकोण मे अपना एक निरालापन है और उनपर उसके विशेष गुण की छाप है। मेढो, कुत्तो व दूसरे जानवरो के रगीन मीनेवाले मिट्टी के खिलौनो की और कीमती पत्थर के ठप्पो पर नक्काशी की शैली ऐसी अनोखी है कि उससे मिलती-जुलती कोई भी चीज उस जमाने के किसी देश मे अभी तक हमारे देखने मे नही आई है। इसके सबसे बढिया नमूनो मे—खासकर कूबदार और छोटे सीगोवाले सांडो मे—रचना-विस्तार

> और रेखा व आकृति-निर्माण मे अनुभूति की ऐसी विशेपता है, जिससे बढिया नक्काशी-कला दुर्लभ है। इसी प्रकार, हडप्पा की दो छोटी मानव-मूर्त्तियो मे—जिनके चित्र प्लेट न० १० और ११ में दिये गए हैं—मूर्त्ति गढने की कला कोमलता की जिस पराकाष्ठा को पहुंची है, उसका जोड यूनान के पौराणिक काल से पहले की कृतियों मे मिलना सम्भव नही है। सिन्ध के लोगो के धर्म मे अवश्य बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिसके समान बातें हमे दूसरे देशो मे मिल सकती हैं। यह बात पूर्व-ऐतिहासिक युग के हर धर्म पर और ऐतिहासिक युग के अधिकतर धर्मों पर लागू होती है। लेकिन सब बातो को मिलाकर देखने से इन लोगो के धर्म मे भारतीयता का विशेप गुण इतना स्पष्ट है कि उसमे तथा वर्तमान प्रचलित हिन्दू-धर्म मे कोई अन्तर नही मालूम देता।"

मैं चाहता हूं कि हडप्पा मे पाई गई छोटी मूर्त्तियाँ, या कम-से-कम उनकी तसवीरें देख सकता। मुमकिन है कि किसी दिन हम और तुम हडप्पा और मोहेन-जो-दडो साथ-साथ चलें और जी भरकर वहाँ के दृश्यो को देखें। लेकिन अभी तो हमारा यही ढर्रा चलता रहेगा—तुम्हारा पूना के स्कूल मे और मेरा अपने स्कूल मे, जो देहरादून का डिस्ट्रिक्ट जेल कहलाता है।

## ६१
## कुर्तुबा (कॉरडोबा) और ग्रैनैडा

१६ जून, १९३२

हमने एशिया और यूरोप मे बहुत वर्षों की यात्रा कर ली है और ईसा से हजार वर्ष के अन्त तक पहुंचकर हमने एक बार पीछे फिरकर देखा है। लेकिन स्पेन के उस जमाने का हाल हमारी इस कहानी से छूट गया है जब उस पर अरबो का कब्जा था। इसलिए अब हमे एक बार और पीछे लौटकर उसे भी अपने इस चित्र मे बैठाना चाहिए।

अगर तुम भूली न हो तो स्पेन के बारे मे थोडी-बहुत जानकारी तो तुम्हें है ही। ७११ ई० मे अरब-सेनापति समुद्र पार करके अफ्रीका से स्पेन पहुंचा। उसका नाम तारिक था और वह जिब्राल्टर (जबलुत्तारिक, यानी तारिक की पहाडी) पर उतरा था। दो साल के भीतर ही अरबो ने सारा स्पेन जीत लिया और कुछ दिनो बाद उन्होंने पुर्तगाल को भी मिला लिया। वे बराबर आगे बढते गये, फ्रान्स मे घुस गये और सारे दक्षिण मे फैल गये। इससे बुरी तरह डरकर फ्रैन्को और दूसरे कबीलो ने चार्ल्स मार्तें के नेतृत्व मे इकट्ठे होकर अरबो को रोकने की एक बहुत बडी कोशिश की। वे सफल हुए और फ्रान्स मे पाइतिये के पास तूर की लडाई मे फ्रैन्को ने अरबो को हरा दिया। यह बहुत भारी हार थी और इससे

अरबो का यूरोप जीतने का सपना टूट गया। इसके बाद बहुत बार अरबो व फ्रैन्को और फ्रान्स की दूसरी ईसाई कौमो के बीच लडाइयाँ हुईं, कभी अरब जीते और फ्रान्स मे घुस पडे और कभी वे वापस स्पेन मे खदेड दिये गए। शार्लमेन ने भी स्पेन मे अरबो पर हमला किया था, लेकिन वह हार गया, बहुत दिनो तक हार-जीत का पलडा बरावर बना रहा और अरब-लोग स्पेन मे राज करते रहे, पर वे आगे न बढ सके।

इस तरह स्पेन उस बडे साम्राज्य का अग बन गया, जो अफ्रीका के एक सिरे से लगाकर ठेठ मंगोलिया की सरहद तक फैला हुआ था। लेकिन यह हालत बहुत दिनो तक न रही। तुम्हे याद होगा कि अरब मे गृह-युद्ध हुआ था और अब्बासियो ने उम्मैया खलीफाओ को निकाल दिया था। स्पेन का अरबी हाकिम उम्मैया था। उसने नये अब्बासी खलीफा को मानने से इन्कार कर दिया। इस तरह स्पेन अरब साम्राज्य से अलग हो गया और बग़दाद का खलीफा बहुत दूर होने की वजह से और अपने घरू झगडो मे उलझा रहने की वजह से इधर ध्यान नही दे सका। लेकिन बग़दाद और स्पेन के बीच दुश्मनी चलती रही और ये दोनो अरब राज्य मुसीबत के समय एक-दूसरे की मदद करने के बजाय एक दूसरे की मुसीबतो पर खुशी मनाते थे।

स्पेन के अरबो का अपने वतन से सम्बन्ध तोडने का फैसला कुछ जल्दबाजी का था। वे एक दूर देश मे एक विदेशी आबादी के बीच मे थे और चारो ओर दुश्मनो से घिरे हुए थे। उनकी सख्या भी थोडी थी। मुसीबत व खतरे के मौके पर उनकी मदद करनेवाला कोई नही था। लेकिन उन दिनो उनमे आत्म-विश्वास भरा हुआ था और वे इन खतरो की बिलकुल परवा नही करते थे। सच तो यह है कि उत्तर के ईसाई राष्ट्रो के लगातार दबाव के बावजूद वे बडी खूबी से डटे रहे और उन्होंने अकेले ही ५०० वर्षों तक स्पेन के ज्यादातर हिस्से पर अपना प्रभुत्व कायम रखा। इसके बाद भी वे स्पेन के दक्षिण मे एक छोटी-सी रियासत मे २०० वर्षों तक अडे रहे। इस तरह वे वास्तव मे बगदाद के बडे साम्राज्य के खत्म हो जाने के बाद तक बने रहे, और जब उन्होंने स्पेन से आखिरी विदा ली, उसके बहुत पहले ही बगदाद शहर मिट्टी मे मिल चुका था।

स्पेन के हिस्सो पर अरबो के शासन के ये ७०० वर्ष काफी अचम्भे मे डालने-वाले हैं। लेकिन मूरो के नाम से मशहूर, स्पेन के इन अरबो की ऊँचे दर्जे की सभ्यता और सस्कृति इससे भी ज्यादा दिलचस्पी की बात है। एक इतिहास-लेखक ने जोश की कुछ तरग मे आकर लिखा है—

> "मूर लोगों ने कॉरडोवा के उस अद्भुत साम्राज्य को सगठित किया था, जो मध्यकाल का एक चमत्कार था, और जब सारा

> यूरोप जगली अज्ञान और लडाई-झगडो में डूबा हुआ था, तब अकेले इसी राज्य ने विद्या और सभ्यता की मशाल पश्चिमी दुनिया के सामने रोशन की और जलती हुई रक्खी।"

ठीक ५०० वर्षों तक कुर्तुबा इस राज्य की राजधानी रहा। इसीको अग्रेजी मे कॉरडोवा, और कभी-कभी कॉरडोवा कहते हैं। मुझे लगता है कि मैं कभी-कभी एक ही नाम के कई हिज्जे करता रहता हूँ। लेकिन अब मैं बराबर कॉरडोवा पर ही जमा रहूँगा। कॉरडोवा बहुत बडा शहर था, जिसमे दस लाख आदमी रहते थे। यह बाग़-बगीचोवाला दस मील लम्बा शहर था, जिसके उपनगर चौबीस मीलो में फैले हुए थे। कहा जाता है कि इसमे ६०,००० महल और कोठियाँ थी, २,००,००० छोटे मकान थे, ८०,००० दुकानें थी, ३७,८०० मसजिदें थी और ७०० सार्वजनिक हम्माम थे। इन आँकडो में कुछ बढी-चढी बातें हो सकती हैं, लेकिन इससे शहर का कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। यहाँ कितने ही पुस्तकालय थे, जिनमे अमीर का शाही पुस्तकालय मुख्य था। इसमे ४,००,००० पुस्तकें थी। कॉरडोवा का विश्वविद्यालय सारे यूरोप मे और पश्चिमी एशिया तक मे मशहूर था। ग़रीबो के लिए बहुत-सी प्राइमरी पाठशालाएँ थी, जिनमे मुफ्त शिक्षा दी जाती थी। एक इतिहास-लेखक कहता है—

> "स्पेन मे करीब-करीब सभी लोग पढना-लिखना जानते थे, जब कि ईसाई यूरोप मे पादरियो को छोडकर और सब लोग, यहाँ तक कि ऊँचे-से-ऊँचे खानदानो के लोग भी बिलकुल बेपढे होते थे।"

ऐसा वह कुर्तुबा का शहर था, जो दूसरे बडे अरबी शहर बग़दाद का मुकाबला करता था। उसकी शोहरत सारे यूरोप मे फैली हुई थी और दसवीं सदी के एक जर्मन लेखक ने उसे 'ससार का भूषण' कहा है। उसके विश्वविद्यालय में दूर-दूर के विद्यार्थी आते थे। अरबी दर्शन का प्रभाव पेरिस, ऑक्सफर्ड वगैरा यूरोप के दूसरे बडे विश्वविद्यालयो और इटली के उत्तरी विश्वविद्यालयो तक में फैल गया। एवरोज या इब्नरश्द बारहवी सदी मे कुर्तुबा का एक मशहूर दार्शनिक हुआ है। अपनी ज़िन्दगी के आखिरी दिनो मे वह स्पेन के अमीर से लड बैठा और उसे देश से निकाल दिया गया। वह जाकर पेरिस मे बस गया।

यूरोप के दूसरे हिस्सो की तरह स्पेन मे भी एक तरह की सामन्त-प्रथा थी। वहाँ भी बडे-बडे और शक्तिशाली अमीर सरदार पैदा हो गये थे, जिनसे स्पेन के शासक अमीर की अकसर लडाइयाँ होती रहती थी। अरब-राज्य बाहरी हमलो से इतना कमजोर नहीं हुआ जितना इन घरेलू लडाई-झगडो से। इसी समय उत्तरी स्पेन मे कुछ छोटी ईसाई रियासतो की ताकत बढ रही थी और वे अरबो को बराबर पीछे हटाती जा रही थी।

१००० ई० के करीब अमीर का साम्राज्य लगभग सारे स्पेन पर फैला हुआ था, यहाँतक कि इसमे दक्षिणी फ्रान्स का भी एक छोटा-सा हिस्सा शामिल था। लेकिन इसका पतन जल्दी ही हुआ और, जैसा कि अक्सर होता है, इस पतन की जड मे अन्दरूनी कमज़ोरी थी। कला, ऐश और बहादुरी के साथवाली अरबो की शानदार सभ्यता आखिर धनवानो की ही सभ्यता थी। भूखी गरीब जनता ने विद्रोह कर दिया और मज़दूरो के दगे हुए। धीरे-धीरे यह गृह-युद्ध फैलता गया, एक के बाद एक प्रान्त हाथ से निकलता गया और अन्त मे अरबो का स्पेन-साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया। हालांकि अरबो की ताकत बिखर गई थी, फिर भी वे १२३६ ई० तक राज करते रहे और अन्त मे कुर्तुबा कैस्ताइल के ईसाई बादशाह के कब्ज़े में आ गया।

अरब-लोग दक्षिण की ओर खदेड दिये गए, फिर भी वे बराबर मुकाबला करते रहे। स्पेन के दक्षिण मे उन्होंने ग्रैनेडा नामक छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया और वे वही डटे रहे। आकार के लिहाज़ से यह राज्य बहुत छोटा था, लेकिन यह अरबी सभ्यता का एक छोटा-सा नमूना बन गया। ग्रैनेडा का प्रसिद्ध अलहम्ब्र अपने सुन्दर महराबो, खम्भो और अरबेस्को[1] के साथ अभी तक मौजूद है और उस पुराने ज़माने की याद दिलाता है। इसका असली नाम अरबी भाषा मे 'अल-हम्र' था, जिसका अर्थ है—'लाल महल'। अरबेस्क उस सुन्दर नक्काशी को कहते हैं, जो इस्लाम से प्रभावित अरबी और दूसरी इमारतो मे पाई जाती है। इस्लाम मे मनुष्यो या जानवरो के चित्र बनाना मना है। इसलिए कारीगर लोग सजीली और पेचीदा रेखाकृतियाँ बनाने लगे। अक्सर महरावो वगैरा पर वे कुरान की अरबी आयतें नक्श करते और उनमे सुन्दर सजावट करते थे। अरबी लिपि एक बहावदार लिपि है, जिसमे ऐसी सजावट आसानी से हो सकती है।

ग्रैनेडा का राज्य दो सौ वर्षों तक कायम रहा। इस जमाने मे स्पेन के ईसाई राज्य, खासकर कैस्ताइल, उसे दबाते और तग करते रहे। कभी-कभी उसने कैस्ताइल को खिराज देना भी मजूर कर लिया। अगर स्पेन के ईसाई राज्यो मे आपसी फूट न होती तो शायद ग्रैनेडा का राज्य इतने दिनो तक कायम न रहता। लेकिन १४६९ ई० मे इनमे से दो मुख्य ईसाई राज्यो के शासको मे, यानी फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला मे, विवाह हो गया। इससे कैस्ताइल, अरागोन और लियोन तीनो एक हो गये। फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला ने ग्रैनेडा के अरब-साम्राज्य को खत्म कर दिया। अरब लोग कई वर्षों तक बहादुरी से लडते रहे, पर फिर वे ग्रैनैडा मे

---

[1] अरबेस्क—स्पेन के अरबो अथवा 'मूरों' की अलकृत चित्रकला या मूर्ति-कला। इसमे पौधों और लताओ का चित्रण अधिक होता था।

चारो तरफ से घेर लिये गए और बन्द कर दिये गए। आखिरकार १४९२ ई० में भूख से तग आकर उन्होंने हथियार डाल दिये।

बहुत-से सरासीन या अरब स्पेन छोड़कर अफ्रीका चले गए। ग्रैनेडा के नज़दीक, शहर के सामने ही, एक जगह है जो आज दिन भी 'मूरो की आखिरी आह'[1] के नाम से मशहूर है।

लेकिन बहुत-से अरब स्पेन मे ही रह गये। इन अरबों के साथ जो सलूक हुआ, वह स्पेन के इतिहास का एक काला अध्याय है। उनके साथ बेरहमी की गई और उनकी हत्याएँ की गई और मजहबी उदारता के जो वादे उनसे किये गए थे, उन्हें बिलकुल भुला दिया गया। इसी समय स्पेन मे 'इनक्विजिशन' की शुरुआत हुई। रोमन ईसाई-सघ ने यह भयकर हथियार उन तमाम लोगों को कुचलने के लिए ईजाद किया था, जो उनके सामने सर नही झुकाते थे। यहूदी लोग, जो सरासीनो के राज्य मे खुशहाल हो गये थे, अपना मजहब बदलने के लिए मजबूर किये जाने लगे और बहुतो को जिन्दा जला दिया गया। स्त्रियो और बच्चो तक को नही छोडा गया। एक इतिहासकार लिखता है कि "विधर्मियो (यानी सरासीनो) को हुक्म दिया गया कि वे अपनी रंग-बिरगी पोशाक छोड़ दें और अपने विजेताओं के हैट और बिरजिस पहना करें, अपनी भाषा, अपने रस्म-रिवाज और सस्कार, यहाँतक कि अपने नाम भी छोड़ दें और स्पेनी भाषा बोलें, स्पेनवालो की तरह ही वर्ताव करें और अपने-आपको स्पेनवासी कहने लगें।" इन जुल्मो के विरोध में विद्रोह और बलवे हुए, लेकिन वे बेरहमी से कुचल दिये गए।

ऐसा मालूम होता है कि स्पेन के ईसाई नहाने-धोने के बहुत खिलाफ़ थे। शायद वे इसका विरोध सिर्फ इसलिए करते थे कि स्पेन के अरब लोग गुसल के बहुत शौकीन थे, और उन्होंने सारे मुल्क मे बडे-बडे सार्वजनिक हम्माम बना दिये थे। ईसाई लोग यहाँतक बढ गये, कि उन्होंने 'मूरो या अरबो के सुधार के लिए' हिदायतें निकालीं कि "उनके पुरुष, उनकी स्त्रियाँ और दूसरा कोई, घर में या और कही भी नहाने-धोने न पावें और उनके सब हम्माम गिरा दिये जायें और नष्ट कर दिये जायें।"

नहाने-धोने के पाप के अलावा एक दूसरा भी भारी जुर्म मूरो पर यह लगाया गया कि वे मजहब के मामले मे उदार होते हैं। यह एक बडी अजीब बात मालूम होती है, लेकिन १६०२ ई० मे वेलेंशिया के बडे पादरी ने सरासीनो को स्पेन से निकालने की सिफारिश करते हुए 'मूरो के कुफ्र और राजद्रोह' के बारे मे जो बयान तैयार किया था, उसमे उनपर लगाये गए जुर्मो मे यह मुख्य है। इसका जिक्र करते हुए वह लिखता है . "वे (मूर लोग) तमाम मजहबी मामलो मे ईमान की आज़ादी

[1] El ultimo sospiro del moro

की जितनी क़द्र करते हैं उतनी किसी दूसरी चीज की नही करते, और तुर्क वगैरा तमाम मुसलमान अपनी प्रजा को इस आज़ादी की पूरी छूट देते हैं।" इस तरह इन शब्दो में स्पेन के सरासीनो की अनजान में कितनी ज्यादा तारीफ की गई है। और उसके मुकाबले में स्पेन के ईसाइयो का नजरिया कितना उलटा और अनुदार था !

लाखो सरासीन जबर्दस्ती स्पेन से खदेड़ दिये गए। उनमे से ज्यादातर अफ्रीका और कुछ फ्रान्स चले गए। लेकिन तुम्हे याद रखना चाहिए कि अरब लोग स्पेन में सात सौ वर्षों तक रह चुके थे, और इस लम्बे जमाने मे स्पेन की जनता मे बहुत-कुछ घुल-मिल गये थे। मूल से तो वे अरब थे, लेकिन धीरे-धीरे स्पेनवासी बन गये थे। शायद पिछले जमाने के स्पेनवासी अरब बग़दाद के अरबो से बिलकुल अलग थे। आज भी स्पेनी नस्ल की नसो मे अरबो का काफी खून है।

सरासीन लोग शासक की हैसियत से नही बल्कि बसनेवालो की तरह दक्षिणी फ्रान्स और स्वीजरलैण्ड मे भी फैल गये थे। आज भी 'मिदी' के फ्रान्सीसियो मे कही-कही अरबी नमूने का चेहरा नज़र आ जाता है।

इस तरह स्पेन से अरबो का शासन ही नही बल्कि उनकी सभ्यता भी खत्म हो गई। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, एशिया मे इस सभ्यता का अन्त इससे भी पहले हो चुका था। इस सभ्यता ने बहुत-से देशो और संस्कृतियो पर अपना असर डाला और अपनी कितनी ही शानदार यादगारें छोड गई। लेकिन बाद मे वह फिर अपने पैरो पर खडी न हो सकी।

सरासीनो के जाने के बाद फर्डीनिण्ड और आइज़ाबेला के शासन में स्पेन की शक्ति बढती गई। कुछ ही दिनो बाद, अमेरिका की खोज के कारण, इसके हाथ गहरा माल लगा और कुछ समय के लिए स्पेन यूरोप मे सबसे ज्यादा शक्तिशाली देश हो गया और इसका दबदबा दूसरे देशो पर छा गया। लेकिन इसका पतन भी तेज़ी के साथ हुआ और इसका महत्व नष्ट हो गया। और जब यूरोप के दूसरे देश उन्नति कर रहे थे, स्पेन अपनी जगह पर सडता रहा और मध्य युगो के ही सपने देखता रहा। उसने यह महसूस नही किया कि तबसे दुनिया बहुत बदल गई थी। लेन पूल नामक अंग्रेज़ इतिहासकार ने स्पेन के सरासीनो के बारे मे लिखा है—

> "सदियो तक स्पेन सभ्यता का केन्द्र और कला, विज्ञान, विद्या और हर तरह के सुसस्कृत ज्ञान का घर रहा। तबतक यूरोप का कोई दूसरा देश मूरो के इस सुसस्कृत राज्य की समानता नही कर पाया। फर्डीनिण्ड और आइज़ाबेला की और चार्ल्स के साम्राज्य की थोडे दिनो की चमक-दमक मूरों के स्थायी बडप्पन को नही पा सकी। मूरो को निकाल बाहर किया गया, कुछ दिनो तक ईसाई स्पेन, चन्द्रमा की तरह उधार ली हुई रोशनी से चमकता रहा। इसके बाद

उसे ग्रहण लगा और उस अँधेरे मे स्पेन आज तक जमीन पर पडा रेंग रहा है। मूरो की सच्ची यादगार हमे स्पेन के बिलकुल वीरान उजाड़-खण्डो मे दिखाई देती है, जहा किसी जमाने मे अरब लोग अंगूर, जैतून और अनाज की लहलहाती फसलें पैदा करते थे। वह उस मूर्ख व अज्ञान आबादी मे मिलती है जहां कभी तेज़ बुद्धि और विद्याध्ययन का राज था, और यह यादगार उस जनता की आम जडता और गिरावट मे मिलती है जो दूसरी कौमो के मुकाबले मे बहुत ही नीचे गिरी हुई है और इस ज़लालत के काबिल भी है।"

यह एक सख्त फैसला है। साल-भर हुआ, स्पेन मे एक क्रान्ति हुई और वहां का बादशाह गद्दी से उतार दिया गया। अब यहां गणराज्य है। शायद यह किशोर गणराज्य तरक्की करे और स्पेन को फिर से दूसरे देशो की बराबरी मे ले आवे।[1]

## ६२

## 'क्रूसेड' या सलीब के युद्ध

१९ जून, १९३२

पिछले एक पत्र मे मैंने पोप और उसकी परिषद् का, मुसलमानो से यरूशलम छीनने के लिए धर्म-युद्ध की घोषणा का जिक्र किया था। सेलजूक तुर्कों की बढती हुई ताकत से यूरोप भयभीत हो गया था—खासकर कुस्तुन्तुनिया की सरकार जिसपर सीधा खतरा था। यरूशलम और फिलस्तीन के ईसाई तीर्थ-यात्रियो पर तुर्कों के अत्याचार की कहानियो ने यूरोप के लोगो मे उत्तेजना फैला दी थी और वे गुस्से से भर गये थे। इसलिए 'धर्मयुद्ध' का ऐलान कर दिया था। पोप और ईसाई-सघ ने यूरोप के सारे ईसाइयो को आदेश दिया कि वे 'पवित्र' नगर के उद्धार के लिए सेनाएं सजायें।

इस तरह १०९५ ई० से ये 'क्रूसेड' या सलीब के युद्ध शुरू हुए और डेढ सौ वर्षों से ज्यादा समय तक ईसाइयत और इस्लाम मे, सलीब और हिलाल मे, लडाई चलती रही। बीच-बीच मे लम्बे वक्त तक लडाई रुकी भी रहती थी, लेकिन युद्ध की हालत बराबर बनी रही। ईसाई जिहादियो के दल-के-दल लडने के लिए, और ज्यादातर उस 'पवित्र' देश मे मरने के लिए, जाते रहे। इस लम्बी युद्धबाजी से ईसाई जिहादियो को कोई ठोस नतीजा नही मिला। कुछ समय के लिए यरूशलम ईसाई जिहादियो के हाथ मे आ गया, लेकिन बाद मे फिर वह तुर्कों के हाथ मे चला

[1] १९३९ ई० में गृहयुद्ध के बाद गणराज्य खत्म हो गया और आजकल, वहां तानाशाही है।

गया और उन्हींके कब्जे मे बना रहा। क्रूसेडो का खास नतीजा यह हुआ कि लाखो ईसाइयो और मुसलमानो को मुसीबतें झेलनी पड़ीं, मौत के घाट उतरना पडा और एशिया कोचक और फिलस्तीन की जमीन इन्सान के खून से तर हुई।

इन दिनो बगदाद के साम्राज्य की क्या हालत थी? अभी तक अब्बासी खलीफा ही उसके शासक बने हुए थे। अभी तक वे खलीफा, अमीरुल मोमनीन तो जरूर थे, लेकिन सिर्फ नाम के ही अमीर थे, उनके हाथ मे कोई ताकत न थी। हम देख चुके हैं कि उनका साम्राज्य किस तरह टुकडे-टुकडे हुआ और सूबो के हाकिम कैसे स्वाधीन हो गये। महमूद गजनवी, जिसने कई बार भारत पर चढाई की थी, एक शक्तिशाली बादशाह था और उसने खलीफा को धमकी दी थी कि अगर वह उसकी मर्जी के मुताबिक काम न करेगा, तो अच्छा न होगा। खास बगदाद मे भी असली मालिक तुर्क ही थे। इनके बाद तुर्कों की सेलजूक् नाम की दूसरी शाखा आई। उन्होंने जल्दी ही अपनी सत्ता कायम कर ली और वे जीत-पर-जीत हासिल करते हुए कुस्तुन्तुनिया के दरवाजे पर जा पहुँचे। लेकिन खलीफा फिर भी बना रहा, हालांकि उसके हाथ मे कोई राजनैतिक शक्ति नही थी। उसने सेलजूक सरदारो को सुलतान की उपाधि दी और ये सुलतान राज करने लगे। इसलिए ईसाई जिहादियो को इन्ही सेलजूक सुलतानो और उनके अनुयायियो से लडना पडा था।

यूरोप मे क्रूसेडो ने ईसाई-जगत की भावना को, यानी इस भावना को बढाया कि सब गैर-ईसाइयो के मुकाबले मे ईसाइयो की अपनी अलग दुनिया है। यूरोप भर मे इसी समान भावना और उद्देश्य का दौर था कि 'काफिरो' के हाथो में से 'पवित्र देश' का उद्धार होना चाहिए। इस समान उद्देश्य ने लोगो मे जोश भर दिया था और इस महान् हित की खातिर कितने ही आदमी अपना घर-बार और धन-दौलत छोडकर चल दिये। बहुत-से लोग ऊँचे इरादो से गये थे लेकिन बहुत-से पोप के इस वादे से आकर्षित हुए थे कि वहाँ जाने से उनके गुनाह माफ कर दिये जायँगे। क्रूसेडों के और भी कई कारण थे। रोम हमेशा के लिए कुस्तुन्तुनिया के ऊपर हुकूमत करनेवाला बन जाना चाहता था। तुम्हे याद होगा कि कुस्तुन्तुनिया और रोम के ईसाई-सघ अलग-अलग थे। कुस्तुन्तुनिया वाले अपने को कट्टर ईसाई-सघ'[1] कहते थे। वे रोमन ईसाई-सघ से सख्त नफरत करते थे और पोप को कल का छोकरा समझते थे। पोप कुस्तुन्तुनिया का यह घमण्ड चूर करके उसे अपने सघ मे लाना चाहता था। काफिर तुर्कों के खिलाफ धर्म-युद्ध की आड मे वह अपनी यह पुरानी लालसा पूरी करना चाहता था। राजनीतिको का और अपने को राजनीतिज्ञ समझनेवालो का यही ढग होता है। रोम और कुस्तुन्तुनिया

---

[1] Orthodox Church

का यह सघर्ष याद रखने लायक है, क्योकि क्रूसेडो के समय मे वह बराबर सामने आता रहा।

क्रूसेडो का दूसरा कारण व्यापार से ताल्लुक़ रखता था। व्यापारी लोग, खासकर वेनिस और जिनेवा के बढते हुए बन्दरगाहो के व्यापारी, इन युद्धो को चाहते थे, क्योकि इनका व्यापार घटता जा रहा था। वजह यह थी कि सेलजूक़ तुर्कों ने पूर्व के कई तिजारती रास्तो को बन्द कर दिया था।

लेकिन आम जनता तो इन कारणो को बिलकुल नही जानती थी। किसीने उसे ये बातें नही बताई थी। राजनीतिक लोग आमतौर पर अपने असली कारणो को छिपा रखते हैं और धर्म, न्याय, सत्य, वगैरा की लम्बी-चौडी दुहाई दिया करते हैं। क्रूसेडो के समय मे यही बात थी और आज भी यही है। उस समय लोग उनकी बातो मे आ जाते थे और आज भी ज्यादातर लोग राजनीतिको की चिकनी-चुपडी बातो मे आ जाते हैं।

इस तरह क्रूसेडो मे शामिल होने के लिए बहुत आदमी जमा हो गये। उनमें बहुत-से तो नेक और लगनवाले थे, लेकिन बहुत-से ऐसे भी थे, जो भलमनसाहत से दूर थे और लूट-खसोट की उम्मीद ने ही उन्हें इस तरफ खीचा था। इस अजीब जमघट मे पुण्यात्मा और धर्मात्मा लोग भी थे और आबादी का वह कूडा-करकट भी था, जो हर तरह के जुर्म कर सकता था। नेक काम समझकर उसमे मदद पहुंचाने के लिए घर छोडकर जानेवाले इन जिहादियो ने, या उनमे से ज्यादातर ने, दर असल नीच-से-नीच और महाघृणित अपराध किये। बहुत-से तो रास्ते में लूट-मार और दूसरे बुरे कामो मे ऐसे मशगूल हो गये कि फिलस्तीन के पास तक नही पहुंचे। कुछने रास्ते मे यहूदियो को कत्ल करना शुरू कर दिया, कुछने अपने ईसाई भाइयो को ही कत्ल कर डाला। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि जिन ईसाई देशो से होकर ये लोग गुजरे वहाँ के किसानो ने इनकी बदमाशियो से तग आकर इनका मुकाबला किया और इनपर हमला करके बहुतो को मार डाला और बाक़ी को भगा दिया।

आखिर मे बुइलो के गादफ़े नामक एक नार्मन के नेतृत्व मे ये जिहादी फिलस्तीन पहुँच गये। इन्होंने यरूशलम जीत लिया और फिर वहाँ 'एक हफ्ते तक मार-काट मची'। हज़ारो लोग कत्ल कर दिये गए। इस घटना को अपनी आँखो से देखनेवाले एक फ्रान्सीसी ने लिखा है- "मसजिद की बरसाती के नीचे घुटने तक खून था, और घोडो की लगाम तक पहुंच जाता था।" गॉदफ़े यरूशलम का बादशाह बन गया।

सत्तर वर्ष बाद मिस्र के सुलतान सलादीन ने यरूशलम को ईसाइयो से फिर छीन लिया। इससे यूरोप के लोग फिर भडक उठे और एक के बाद एक क्रूसेड हुए।

इस बार यूरोप के कई बादशाह और सम्राट् खुद जिहाद मे शामिल हुए, लेकिन उन्हे कोई सफलता न मिली। वे इस बात पर आपस मे ही झगडते थे कि बडा कौन है, और एक-दूसरे से ईर्ष्या रखते थे। ये क्रूसेड बीभत्स और क्रूर लडाइयो की, और अक्सर तुच्छ साजिशो और नीच अपराधो की कहानी है। लेकिन कभी-कभी मनुष्य-स्वभाव के नेक पक्ष ने इस बीभत्सता पर विजय पाई, और ऐसी घटनाएं भी हुई जब दुश्मनो ने एक दूसरे के साथ भलमनसाहत का और वीर-धर्म का बर्ताव किया। फिलस्तीन मे बाहर से आये हुए इन राजाओ मे इग्लैण्ड का 'शेर-दिल' रिचर्ड भी था जो अपने शारीरिक बल और साहस के लिए मशहूर था। सलादीन भी बडा लडाका था और अपने वीर-धर्म के लिए मशहूर था। सलादीन से लडनेवाले जिहादी भी उसकी इस उदारता के कायल थे। कहते हैं कि एक बार रिचर्ड बहुत बीमार पड गया, उसे लू लग गई थी। जब सलादीन को इसकी खबर हुई तो उसने उसके पास पहाडो से ताज़ा बर्फ भिजवाने का इन्तजाम कर दिया। आज-कल की तरह उन दिनो पानी को जमाकर नकली बर्फ नही बनाई जा सकती थी। इसलिए पहाडो से कुदरती बर्फ तेज़ हरकारो के ज़रिये मंगवाई जाती थी।

क्रूसेडो के समय की बहुत-सी कहानियां हैं। शायद तुमने वाल्टर स्कॉट[1] का 'टैलिस्मैन' उपन्यास पढा होगा।

जिहादियो का एक जत्था कुस्तुन्तुनिया भी जा पहुंचा और उसने उसपर कब्ज़ा कर लिया। इसने पूर्वी साम्राज्य के यूनानी सम्राट् को मार भगाया और वहां लातीनी राज्य और रोमन ईसाई-सघ कायम किया। कुस्तुन्तुनिया मे भी भयकर मारकाट हुई और जिहादियो ने शहर का एक हिस्सा जला भी दिया। लेकिन यह लातीनी राज्य ज्यादा दिनो तक कायम नही रह सका। पूर्वी रोमन साम्राज्य के यूनानी कमज़ोर होते हुए भी वापस लौटे और पचास साल से कुछ ही ज्यादा समय के अन्दर उन्होने लातीनियो को मार भगाया। कुस्तुन्तुनिया का पूर्वी साम्राज्य दो सौ वर्षो तक और बना रहा। अन्त मे १४५३ ई० मे तुर्को ने उसे हमेशा के लिए खत्म कर दिया।

कुस्तुन्तुनिया पर जिहादियो का यह कब्ज़ा रोमन ईसाई-सघ और पोप की इस इच्छा को ज़ाहिर करता है कि वे अपना प्रभाव वहांतक बढाना चाहते थे। हालांकि घबराहट के मौके पर इस शहर के यूनानियो ने तुर्को के खिलाफ रोम से सहायता मांगी थी, फिर भी उन्होंने जिहादियो की कुछ भी मदद नही की। बल्कि वे उनसे सख्त नफरत करते थे।

---

[1] स्कॉट अंग्रेज़ी भाषा का बहुत मशहूर उपन्यास-लेखक और कवि हो गया है। यह स्कॉटलैण्ड का रहनेवाला था। १७७१ ई० मे इसका जन्म हुआ था और १८३२ ई० में मृत्यु हुई।

लेकिन इन क्रूसेडो मे सबसे भयकर वह था जो 'बच्चो का क्रूसेड' कहलाता है। बहुत बडी सख्या मे बच्चो ने, ज्यादातर फ्रान्स के और कुछ जर्मनी के बच्चो ने, जोश मे आकर अपने घरो को छोड दिया और फिलस्तीन जाने का इरादा कर लिया। उनमे से कितने ही तो रास्ते मे मर गये और कितने ही खो गये। ज्यादातर बच्चे मार्सेल्स जा पहुँचे, जहाँ उन बेचारो के साथ धोखा किया गया और बदमाशों ने उनके जोश से बेजा फायदा उठाया। 'पवित्र' देश तक पहुँचा देने का बहाना बनाकर गुलामो के व्यापारी इन्हे अपने जहाज़ो मे बिठाकर मिस्र ले गये और वहाँ इन्हे गुलामी के लिए बेच दिया।

फिलस्तीन से लौटते समय इग्लैण्ड के बादशाह रिचर्ड को पूर्वी यूरोप में उसके दुश्मनो ने पकड लिया और उसे छुडाने के लिए बहुत बडी रकम देनी पडी। फ्रान्स का राजा फिलस्तीन मे ही गिरफ्तार कर लिया गया था और उसे भी रुपया देकर छुडाया गया था। पवित्र रोमन साम्राज्य का एक सम्राट्, फ्रेडरिक बारबरोसा फिलस्तीन की एक नदी मे डूब गया। इधर ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, क्रूसेडो का जादू कम होता गया। लोग इन युद्धो से उकता गये थे। यरूशलम मुसल्मानो के ही हाथो मे बना रहा, लेकिन यूरोप के राजाओ मे और लोगो मे अब यरूशलम को छीनने के लिए ज्यादा जान व माल बर्बाद करने का उत्साह नही रहा। तब से लगभग ७०० वर्षों तक यरूशलम मुसलमानो के ही अधीन रहा। थोडे ही दिन पहले, पिछले यूरोपीय महायुद्ध के समय, १९१८ ई० मे, एक अंग्रेज सेनापति ने इसे तुर्को से छीन लिया।

बाद के क्रूसेडो मे एक क्रूसेड बडा ही दिलचस्प और ग़ैरमामूली था। सच तो यह है कि पुराने अर्थ मे यह क्रूसेड था ही नही। पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय फिलस्तीन गया और वहाँ लडने के बजाय उसने मिस्र के सुलतान से भेंट की और दोनो मे एक दोस्ताना समझौता हो गया! फ्रेडरिक असाधारण व्यक्ति था। उस ज़माने मे, जब ज्यादातर राजा बे-पढे-लिखे होते थे, यह अरबी के अलावा कई भाषाएं जानता था। वह 'जगत् का आश्चर्य' के नाम से मशहूर था। पोप की वह बिलकुल परवा नही करता था और इसलिए पोप ने उसे बहिष्कृत कर दिया, लेकिन उसपर इसका कोई असर न हुआ।

मतलब यह कि क्रूसेडो का कोई नतीजा नही निकला। पर इस लगातार लडाई ने सेलजूक तुर्कों को कमज़ोर कर दिया। लेकिन इससे भी ज्यादा यह हुआ कि सामन्त-प्रथा ने सेलजूक साम्राज्य की जडें खोखली कर दी। बडे-बडे सामन्त सरदार अपनेको एक तरह से स्वाधीन मानने लगे। वे आपस मे लडते रहते थे। कभी-कभी नौबत यहाँतक पहुँचती थी कि वे एक-दूसरे के खिलाफ ईसाइयो की सहायता मांगा करते थे। कभी-कभी तुर्कों की यह अन्दरूनी कमज़ोरी उन्हे जिहा-

दियो के हाथ का खिलौना बना देती थी। लेकिन जब कभी सलादीन की तरह कोई दवग सुलतान होता था तब इनकी नही चलती थी।

क्रूसेडो के बारे मे दूसरा मत भी है। यह नया मत जी० एम० ट्रेवेलियन नामक एक अग्रेज इतिहासकार ने (जिसे तुम गैरवाल्दीवाली पुस्तको के लेखक के रूप मे जानती हो) पेश किया है। यह मत बड दिलचस्प है। ट्रेवेलियन कहता है "क्रूसेड यूरोप की उस दुबारा जिन्दा होनेवाली क्रियाशक्ति के सैनिक और धार्मिक पहलू थे, जो यूरोप के आम लोगो को पूर्व की ओर जाने को उकसा रही थी। क्रूसेडो से यूरोप को जीत का यह इनाम नही मिला कि 'पवित्र समाधि' का हमेशा के लिए उद्धार हो गया हो या ईसाई-जगत् मे प्रभावशाली एकता हो गई हो। क्रूसेडो की कहानी तो इन बातो का एक लम्बा प्रतिवाद है। इनके बजाय यूरोप मे क्रूसेड ललित कलाएँ, कारीगरी, विलासिता, विज्ञान व बौद्धिक जिज्ञासा लेकर आया, यानी वे तमाम चीजें लाया, जिनसे साधु पीटर को सख्त नफरत होती।"

सलादीन ११९३ ई० मे मर गया, और पुराने अरब-साम्राज्य का जो कुछ भाग बच रहा था वह भी धीरे-धीरे टूक-टूक हो गया। पश्चिमी एशिया के कई हिस्सो मे, जो छोटे-छोटे सामन्त-सरदारो के कब्जे मे थे, उपद्रव होने लगे। आखिरी क्रूसेड १२४९ ई० हुआ। इसका नेता फ्रान्स का राजा लुई नवम था। वह हार गया और क़ैद कर लिया गया।

इसी बीच पूर्वी और मध्य एशिया मे बडी-बडी घटनाएँ घट रही थी। चगेज खा नामक जबर्दस्त सरदार के नेतृत्व मे मगोल आगे बढ रहे थे और पूर्वी क्षितिज पर काली घटा की तरह छा रहे थे। क्रूसेडो मे लडनेवाले दोनो पक्ष, यानी ईसाई और मुसलमान दोनो ही इस मॅडराते हुए हमले को एक समान डर से देख रहे थे। चगेज और मगोलो का जिक्र हम आगे के किसी पत्र मे करेंगे।

इस पत्र को खतम करने से पहले मैं एक बात का जिक्र कर देना चाहता हूँ। मध्य एशिया के बुखारा नामक शहर मे एक बहुत बडा अरब हकीम रहता था जो एशिया और यूरोप दोनो मे मशहूर था। उसका नाम इब्न सीना था, लेकिन यूरोप मे वह 'एवीसेना' के नाम से ज्यादा मशहूर है। वह 'हकीमो का शाह' कहा जाता था। क्रूसेडो के शुरू होने के पहले, १०३७ ई० मे, उसकी मृत्यु हो गई।

मैंने इब्न सीना के नाम का जिक्र उसकी कीर्त्ति की वजह से किया है। लेकिन याद रखो कि इस सारे जमाने मे, यहाँतक कि जब अरब-साम्राज्य का पतन हो रहा था तब भी, अरबी सभ्यता पश्चिमी एशिया मे और मध्य एशिया के एक हिस्से में जारी रही। ईसाई जिहादियो से लडाई मे मशगूल रहने पर भी सलादीन न बहुत-से कॉलिज और अस्पताल बनवाये। लेकिन इस सभ्यता के अचानक और पूरी

तरह खत्म होने का दिन नज़दीक आ चुका था, क्योंकि पूर्व की तरफ से मगोल बढ़े चले आ रहे थे।

: ६३ :

## क्रूसेडों के समय का यूरोप

२० जून, १९३२

पिछले पत्र मे हम लोगो ने ग्यारहवी, बारहवी और तेरहवी सदियो मे ईसाइयत और इस्लाम की टक्कर का कुछ ज़िक्र किया था। ईसाई-जगत् की भावना यूरोप मे ज़ोर पकड रही थी। इस समय तक ईसाइयत सारे यूरोप मे फैल चुकी थी। पूर्वी यूरोप की रूसी वगैरा स्लाव जातियाँ सबसे पीछे इसमे शामिल हुईं। एक रोचक कहानी है—मैं कह नही सकता कि वह कहाँतक सच है—कि पुराने रूसी लोगो ने, ईसाई होने से पहले, अपना पुराना मज़हब बदलने और एक नया मज़हब अपनाने के सवाल पर बहस की थी। जिन दो नये मज़हबो के बारे मे उन्होंने सुन रक्खा था, वे ईसाइयत और इस्लाम थे। इसलिए, ठीक आजकल के ढग के अनुसार, रूसियो ने ऐसे देशो मे, जहाँ इन मज़हबो के माननेवाले लोग थे, एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजा ताकि वह उनकी जाँच करके अपनी रिपोर्ट पेश करे। कहते हैं कि यह प्रतिनिधि-मण्डल पहले पश्चिमी एशिया की कुछ जगहो मे गया, जहाँ इस्लाम का प्रचार था और बाद मे कुस्तुन्तुनिया पहुँचा। कुस्तुन्तुनिया मे उन्होंने जो कुछ देखा उससे वे चकित हो गये। कट्टर ईसाई-सघ की पूजा-विधि मे बडी शान-शौकत और तडक-भडक थी, जिसके साथ सगीत और मधुर गायन भी थे। पादरी लोग बढिया पोशाकें पहनकर आते थे और धूप जला करती थी। उत्तर के सीधे-सादे और अर्ध-सभ्य लोगो पर इस पूजा-विधि का ज़बर्दस्त असर पडा। इस्लाम मे ऐसी तडक-भडक की कोई बात नही थी। इसलिए उन्होंने ईसाइयत के पक्ष मे फैसला किया और लौटकर वैसी ही रिपोर्ट अपने बादशाह के सामने पेश की। इसपर रूस के बादशाह और उसकी प्रजा ईसाई हो गये, और चूंकि उन्होंने यह ईसाइयत कुस्तुन्तुनिया से ली थी, इसलिए वे रोम के नही बल्कि 'कट्टर यूनानी ईसाई-सघ' के अनुयायी हुए। बाद मे भी, रूस ने रोम के पोप को कभी नही माना।

रूस का यह धर्म-परिवर्तन क्रूसेडो के बहुत पहले हो चुका था। कहा जाता है कि एक समय बलग़ारी भी मुसलमान बनने के लिए कुछ-कुछ तैयार हो गये थे, लेकिन फिर कुस्तुन्तुनिया का आकर्षण ज्यादा ज़ोरदार साबित हुआ। उनके राजा ने एक बिज़ैन्तीन राजकुमारी से शादी कर ली थी और वह ईसाई हो गया था।

तेरहवीं सदी का यूरोप

स्वीडन का राज्य
नोवगोरोद का राज्य
डेन्मार्क का राज्य
इंगलैंड का राज्य
पोलैंड का राज्य
नीपर नदी
वोल्गा नदी
रीफ की ऊंची
डेन्यूब नदी
राइन नदी
फ्रांस का राज्य
हंगरी का राज्य
आल्प्स
स्पेन का राज्य
लीयो
पुर्तगाल
नैवेरी
ऐरेगॉन
मूर लोगों का राज्य
रोम
सर्विया
बलगारिया
पूर्वी साम्राज्य
सेलजुक
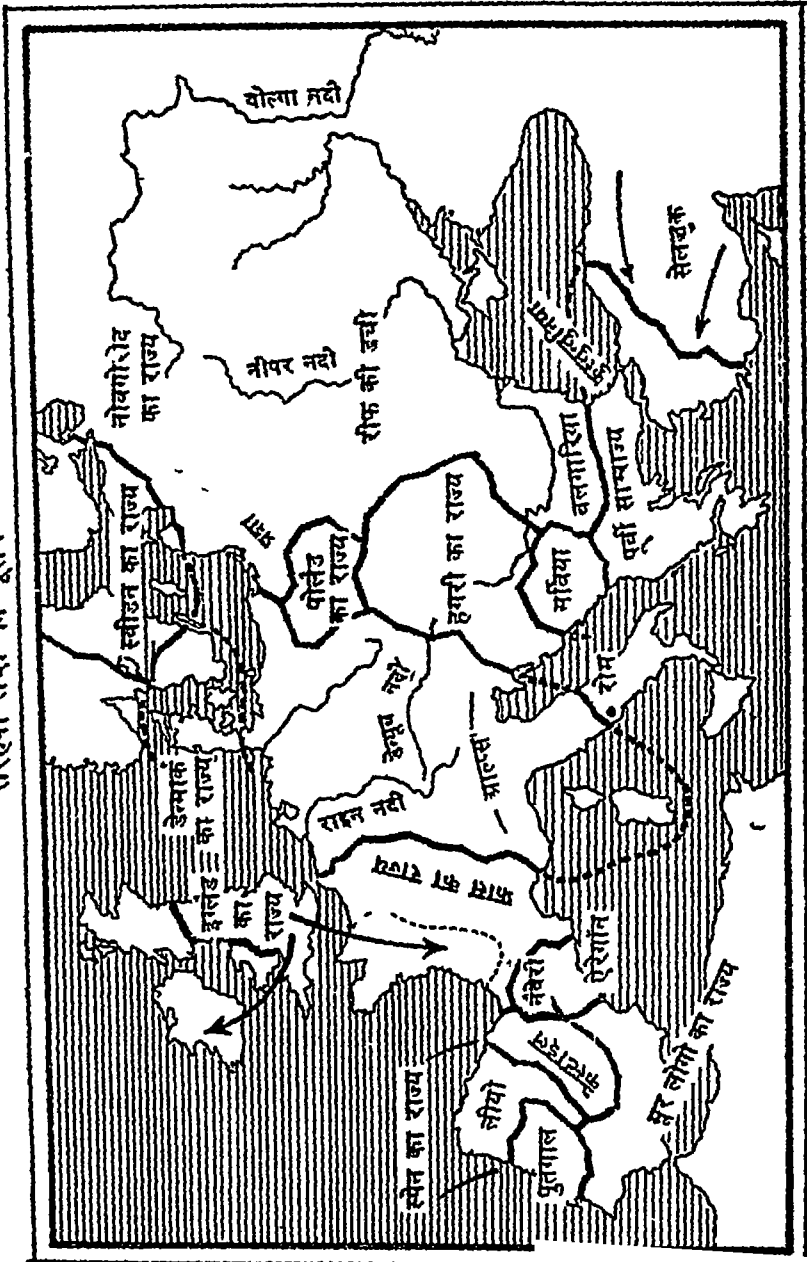
(तुम्हें याद होगा कि बिजैन्तियम कुस्तुन्तुनिया का ही पुराना नाम था)। इसी तरह दूसरे पडौसी मुल्को ने भी ईसाई-मजहब स्वीकार कर लिया था।

इन क्रूसेडो के समय यूरोप मे क्या हो रहा था? तुम देख ही चुकी हो कि कुछ बादशाह और सम्राट फिलस्तीन गये थे और उनमे से कई वहाँ आफत मे फँस गये थे। उधर पोप रोम मे बैठा-बैठा 'विधर्मी' तुर्कों के खिलाफ 'पवित्र युद्ध' के लिए फ़रमान और अपीलें जारी कर रहा था। शायद ये दिन वही थे, जब पोप की शक्ति अपनी चोटी पर पहुँच चुकी थी। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि किस तरह एक घमण्डी सम्राट् पोप से माफी माँगने के लिए उसके सामने हाज़िर होने के इन्तजार मे कनौज़ा मे नगे पाँव बर्फ़ मे खडा रहा था। यह वही पोप ग्रेगरी सप्तम था, जिसका पहला नाम हिल्देब्राद था और जिसने पोपो के चुनाव का एक नया तरीक़ा जारी किया था। रोमन कैथलिक जगत् मे कार्डिनल लोग सबसे ऊँचे पादरी होते थे। इनका एक मण्डल बनाया गया, जिसे 'पवित्र मण्डल'[1] कहते थे। यही मण्डल नये पोप को चुनता था। यह तरीका १०५९ ई० मे जारी किया गया था और कुछ फेर-बदल के साथ आजतक चला आ रहा है। आजकल भी जब कोई पोप मर जाता है, तब कार्डिनलो का मण्डल फौरन मिलता है और कार्डिनल लोग एक तालाबन्द कमरे मे बैठ जाते हैं। जबतक चुनाव खत्म नहीं हो जाता तबतक न कोई उस कमरे के भीतर जा सकता है और न कोई उससे बाहर ही निकल सकता है। बहुत बार ऐसा हुआ है कि चुनाव में एकमत न हो सकने की वजह से घण्टो उसी बन्द कमरे मे बैठे रहे हैं। पर वे बाहर नही आ सकते। इसलिए अन्त मे वे एकमत होने के लिए मजबूर हो जाते है, और जैसे ही पोप का चुनाव हो जाता है, वैसे ही सफ़ेद धुआँ उडाया जाता है ताकि बाहर इन्तजार करती हुई भीड को सूचना मिल जाय।

जिस तरह पोप चुना जाता था उसी तरह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का सम्राट् भी चुना जाने लगा। लेकिन उसका चुनाव बडे सामन्त-सरदार करते थे। इनकी सख्या सात थी और वे 'निर्वाचक राजा'[2] कहलाते थे। इस तरह वे कोशिश करते थे कि सम्राट् हमेशा एक ही खानदान से नही आ सके। लेकिन व्यवहार में अक़्सर एक ही खानदान लम्बे समय तक इन चुनावो मे जीतता रहता था।

इस तरह हम देखते हैं कि बारहवी और तेरहवी सदियो मे साम्राज्य की बागडोर होहेन्स्तॉफेन राजवश के हाथ मे थी। मेरा खयाल है कि होहेन्स्तॉफेन जर्मनी मे कोई छोटा-सा कस्बा या गाँव है। शुरू मे यह खानदान इसी गाँव मे से आया था। इसलिए इस गाँव के नाम पर ही उसका नाम पड गया। होहेन्स्तॉफेन राजवश

---

[1] Holly College. [2] Elector Princes

का फ्रेडरिक प्रथम ११५२ ई० मे सम्राट् हुआ। यह आमतौर से फ्रेडरिक बार्बरोसा कहलाता है। यह वही फ्रेडरिक बार्बरोसा था, जो क्रूसेडो मे जाते समय रास्ते मे डूब गया था। कहा जाता है कि रोमन साम्राज्य के इतिहास मे फ्रेडरिक बार्बरोसा की हुकूमत सबसे ज्यादा शानदार थी। जर्मन लोगो के लिए तो वह बहुत समय से एक आदर्श वीर और बहुत कुछ खयाली व्यक्ति बन गया है और उसके बारे मे कितनी ही पुरानी कहानियाँ जमा हो गई हैं। कहते है कि वह किसी पहाड की गहरी गुफा मे सो रहा है और वक्त आने पर जागकर अपने देशवासियो को बचाने के लिए बाहर निकलेगा।

फ्रेडरिक बार्बरोसा बहुत जोरो के साथ पोप के खिलाफ लडता रहा, लेकिन अन्त मे पोप की ही विजय हुई और फ्रेडरिक को उसके सामने सिर झुकाना पडा। वह एक निरकुश राजा था पर उसके बडे सामन्त-सरदार उसे बहुत तग करते रहते थे। इटली मे बडे-बडे नगर उठ रहे थे, फ्रेडरिक ने उनकी आजादी को कुचलने की कोशिश की लेकिन वह सफल नही हुआ। जर्मनी मे भी, खासकर नदियों के किनारे, कोलोन, हैम्बुर्ग, फ्रैंकफुर्त वगैरा बडे-बडे नगर बस रहे थे। लेकिन इनके बारे मे फ्रेडरिक की नीति दूसरी थी। अमीरो और सामन्तो की ताकत कम करने की गरज से उसने इन आजाद जर्मन शहरो की हिमायत की।

मैंने तुम्हें कई मौको पर बताया है कि राजा की गद्दी के बारे मे पुरानी भारतीय भावना क्या थी? आर्यों के पुराने जमाने से अशोक के समय तक, और 'अर्थशास्त्र' से लगाकर शुक्राचार्य के 'नीति-सार' तक, यह बात बार-बार कही गई है कि राजा को लोकमत के सामने सिर झुकाना चाहिए। असली मालिक जनता ही होती है। भारतीय सिद्धान्त यही था, हालांकि अमल मे दूसरे देशो के राजाओ की तरह, भारत के राजा भी काफी निरकुश होते थे। इस पुरानी भारतीय भावना का मुकाबला पुराने यूरोप की भावना से करो। उन दिनो के वकीलो की राय मे सम्राट् की सत्ता सर्वोपरि थी, उसकी मर्जी ही कानून थी। उनका कहना था कि "सम्राट् पृथ्वी पर जीता-जागता कानून है।" फ्रेडरिक बार्बरोसा खुद कहता था—"जनता का यह काम नही है कि वह राजा को कानून बतावे, उसका काम तो राजा का हुक्म मानना है।"

इसका मिलान चीनी भावना से भी करो। वहाँ सम्राट् या राजा 'स्वर्ग का पुत्र' जैसी लम्बी-चौडी उपाधियो से पुकारा जाता था। लेकिन इससे हमे धोखे मे नही पडना चाहिए। सिद्धान्त मे चीन के सम्राट् की हैसियत यूरोप के सर्वसत्ताधीश सम्राट् की हैसियत से बहुत जुदा थी। एक पुराने चीनी लेखक मेन्सियस ने लिखा है—"जनता देश का सबसे महत्वपूर्ण अग है, उसके बाद जमीन और फसल के उपयोगी देवताओ का दर्जा है, और सबसे कम महत्व शासक का है।"

मतलब यह कि यूरोप मे सम्राट् धरती पर सर्वोपरि माना जाता था और इसीसे राजाओ के दैवी अधिकार की भावना पैदा हुई। मगर असल में तो उसका सर्वोपरि होना बहुत दूर की बात थी। उसके सामन्ती सरदार बहुत मुँहज़ोर थे और धीरे-धीरे, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, शहरो मे नये-नये वर्ग पैदा हो गये थे, और इन्होंने भी कुछ सत्ता हथिया ली थी। दूसरी ओर पोप भी धरती पर सर्वोपरि होने का दावा करता था। और फिर जहाँ दो सर्वोपरि मिलें, वहाँ झगडा होना लाज़िमी है।

फ्रेडरिक बार्बरोसा के पोते का नाम भी फ्रेडरिक था। वह थोडी ही उम्र में सम्राट् बन गया और उसका नाम फ्रेडरिक द्वितीय पडा। यह वही आदमी था जिसे 'ससार का आश्चर्य'[१] कहा गया है, और जिसने फिलस्तीन जाकर मिस्र के सुलतान के साथ दोस्ताना बातचीत की। अपने दादा की तरह इसने भी पोप का खुला विरोध किया और उसकी आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। पोप ने उसे ईसाइयत से छेककर बदला चुकाया। यह पोपो का एक पुराना और ज़बर्दस्त हथियार था लेकिन अब इसमे कुछ ज़ग लग रहा था। फ्रेडरिक द्वितीय ने पोप के गुस्से की ज़रा भी परवाह नही की, और अब दुनिया भी बदल रही थी। फ्रेडरिक ने यूरोप के सब राजाओ और शासको के पास लम्बे-लम्बे पत्र भेजे, जिनमे उसने बताया कि पोप को राजाओ के मामले मे दखल देने की ज़रूरत नहीं है; पोपो का काम तो धार्मिक और आध्यात्मिक मामलो की देखरेख करना है, राजनीति मे टाँग अडाना नही। उसने पादरियो मे फैले हुए भ्रष्टाचार का भी बयान किया। इस तरह के वाद-विवाद मे फ्रेडरिक ने पोपो को बुरी तरह पछाड दिया। उसके ये पत्र बडे दिलचस्प हैं, क्योकि वे पोप और सम्राट् के पुराने झगडे मे आजकल की भावना का प्रवेश होने की पहली निशानी हैं।

फ्रेडरिक द्वितीय मज़हबी मामलो मे बडा उदार था और अरबी और यहूदी दार्शनिक उसके दरबार मे आया करते थे। कहा जाता है कि फ्रेडरिक के ही ज़रिये अरबी अक और बीजगणित यूरोप मे पहुँचे थे (तुम्हें याद होगा कि ये शुरू मे भारत से अरब[२] गये थे)। फ्रेडरिक ने ही नेपल्स का विश्वविद्यालय और सालर्नो के प्राचीन विश्वविद्यालय मे एक बडा मेडिकल स्कूल, कायम किये थे।

फ्रेडरिक द्वितीय ने १२१२ से १२५० ई० तक राज किया। उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य पर से होहेन्स्टॉफेन वश का कब्ज़ा जाता रहा। सच तो यह है कि उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य का ही करीब-करीब खात्मा हो गया। इटली अलग हो गया, जर्मनी के टुकडे-टुकडे हो गये और बहुत वर्षों तक भयानक गडबड

[१] Stupor Mundi

[२] अरबी मे अंको को 'हिन्दसा' कहते हैं।

मची रही। लुटेरे नाइट और डाकू लूट-मार करते थे और उनको कोई रोकने वाला नही था। जर्मन राज्य के लिए पवित्र रोमन साम्राज्य का बोझ इतना भारी पडा कि वह उसे सह नही सका। फ्रान्स और इग्लैण्ड मे वहाँ के बादशाह धीरे-धीरे अपनी हैसियत मजबूत कर रहे थे और गडबड मचानेवाले बडे-बडे सामन्ती सरदारो को कुचल रहे थे। जर्मनी का बादशाह सम्राट् भी था और वह पोप से या इटली के शहरो से लडने मे ही इतना फँसा रहता था कि अपने यहाँ के अमीर-सरदारो को दबा नही सकता था। कोई माने या न माने, पर जर्मनी को यह गौरव जरूर था कि उसका बादशाह सम्राट् है। लेकिन इसकी कीमत उसे यह चुकानी पडी कि उसके घर मे कमजोरी और फूट पैदा हो गई, जर्मनी के एक राष्ट्र बनने के बहुत पहले ही फ्रान्स और इग्लैण्ड शक्तिशाली हो गये थे। सैकडो वर्षो तक जर्मनी मे सैकडो छोटे-छोटे राजा थे। अभी करीब साठ ही वर्ष हुए जब जर्मनी एक हुआ, लेकिन छोटे-छोटे बादशाह और राजा फिर भी बने रहे। १९१४-१८ ई० के महायुद्ध ने इस भीड को खत्म कर दिया।

फ्रेडरिक द्वितीय के बाद जर्मनी मे इतनी ज्यादा गडबड रही कि तेईस साल तक कोई सम्राट् ही नही चुना गया। १२७३ ई० मे हैप्सबर्ग का काउण्ट रूदोल्फ सम्राट् चुना गया। अब हैप्सबर्ग का नया राजवश सामने आया। यह साम्राज्य के साथ अन्त तक चिपका रहनेवाला था। १९१४ ई० के महायुद्ध मे यह राजवश भी, शासक की हैसियत से, खत्म हो गया। महायुद्ध के समय मे आस्ट्रिया-हगरी का सम्राट् हैप्सबर्ग घराने का था, जिसका नाम फ्रान्सिस जोजेफ था। वह बहुत बुड्ढा था और राजगद्दी पर बैठे हुए उसे साठ वर्ष से ज्यादा हो चुके थे। फ्रैज फर्डिनेण्ड उसका भतीजा और उत्तराधिकारी था, जो १९१४ ई० मे बोसनिया (बालकन प्रायद्वीप मे) के सिराजेवो मे अपनी पत्नी के साथ कत्ल कर दिया गया था। महायुद्ध को भडकानेवाली यही हत्या थी, और इस महायुद्ध ने बहुत-सी चीजो का खात्मा कर दिया, जिनमे हैप्सबर्ग का पुराना राजवश भी था।

पवित्र रोमन साम्राज्य के बारे मे इतना काफी है। इसके पश्चिम मे फ़्रान्स और इग्लैण्ड बार-बार आपस मे लडा करते थे, लेकिन इससे भी ज्यादा बार-बार इनके बादशाहो की अपने ही अमीर-सरदारो से लडाइयाँ हुआ करती थी। जर्मनी के सम्राट् या बादशाह की बनिस्बत फ्रान्स और इग्लैण्ड के बादशाह अपने अमीर-सरदारो पर ज्यादा विजयी हुए, इसलिए इग्लैण्ड और फ्रान्स दूसरे देशो के मुकाबले मे ज्यादा ठोस बन गये और उनकी एकता ने उन्हें मजबूती दी।

इसी समय इग्लैण्ड मे एक घटना हुई जिसके बारे मे शायद तुमने पढा होगा। १२१५ ई० मे किंग जॉन ने मैग्नाकार्टा[1] पर दस्तखत किये। जॉन अपने भाई

---

[1] मैग्नाकार्टा (Manga Charta)—इंग्लैण्ड की स्वतन्त्रता का खरीता

'शेर-दिल' रिचर्ड के बाद गद्दी पर बैठा था। वह बडा लालची था, लेकिन साथ ही कमज़ोर भी था और उसकी हरकतो से सब लोग खीझ उठे। अमीर-सरदारो ने उसे टेम्स नदी के रनीमीड टापू मे जा घेरा और तलवार के ज़ोर से डरा-धमका-कर मैग्नाकार्टा या 'महान् घोषणापत्र' पर उसके दस्तखत करवा लिये। इसमे यह शर्त थी कि वह इग्लैण्ड के अमीर-सरदारो और इग्लण्ड की जनता की कुछ आज़ादियो का आदर करेगा। इग्लैण्ड की राजनीतिक स्वतन्त्रता की लम्बी लडाई मे यह पहला बडा कदम था। इसमे एक खास शर्त यह थी कि बादशाह किसी नागरिक की सम्पत्ति या उसकी आज़ादी मे बिना उसके बराबरवालो की राय के दखल नही दे सकेगा। इसी से जूरी[1] की प्रथा निकली, जिसमे यह माना जाता है कि बराबर के लोग फैसला करते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि इग्लैण्ड मे बहुत पहले ही बादशाह के अधिकारो पर रोक लगा दी गई थी। पवित्र रोमन साम्राज्य मे शासक को सर्वोपरि मानने का जो सिद्धान्त चालू था, वह उस समय भी इग्लैंड मे नहीं माना जाता था।

यह मजेदार बात है कि यह नियम, जो इग्लैंड मे आज से ७०० वर्ष पहले बनाया गया था, १९३२ ई० मे भी ब्रिटिश राज्य के अधीन भारत पर लागू नहीं है। यहाँ आज भी एक व्यक्ति वाइसराय को अध्यादेश (आर्डिनेन्स) निकालने, कानून बनाने और जनता की सम्पत्ति और स्वतन्त्रता छीन लेने का अधिकार मिला हुआ है।

मैग्नाकार्टा के थोडे ही दिनो बाद इग्लैंड मे एक और मार्के की घटना हुई। धीरे-धीरे एक राष्ट्रीय परिषद् का विकास होने लगा जिसमे अलग-अलग देहाती इलाको और शहरो से नाइट और नागरिक भेजे जाते थे। यह इग्लैण्ड की पार्लमेण्ट की शुरुआत थी। नाइटो और नागरिको की सभा 'हाउस ऑफ़ कॉमन्स' बनी, अमीर-सरदारो व पादरियो की सभा 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' बनी शुरू-शुरू मे इस पार्लमेण्ट को नाम के अधिकार थे, पर ये धीरे-धीरे बढते गये। अन्त में बादशाह और पार्लमेण्ट के बीच इस बात पर आखिरी आजमाइश हुई कि दोनो मे कौन बडा है। इस झगडे मे राजा का सिर उडा दिया गया और पार्लमेण्ट की

---

जिसपर दस्तखत करने के लिए किंग जॉन को मजबूर होना पड़ा। इसमें नागरिक स्वतन्त्रता की कई महत्वपूर्ण बातें शामिल की गई थीं।

[1] बडे मुक़दमो मे न्यायाधीश के साथ कुछ स्वतन्त्र व्यक्ति बैठते हैं, जो गवाहियाँ पूरी हो जाने पर आपस में सलाह करके मुक़दमे के बारे मे राय देते हैं। भारत में भी क़त्ल के मुक़दमों मे जूरी बैठती थी, लेकिन अब यह प्रथा बन्द होती जा रही है।

प्रभुता सबने स्वीकार कर ली। लेकिन यह बात करीब ४०० वर्षों बाद, यानी सत्रहवी सदी मे जाकर हुई।

फ्रान्स मे भी तीन वर्ग कहलानेवालो की एक परिषद् थी। ये तीन वर्ग थे; लॉर्ड, चर्च और कॉमन्स, यानी जमीदार, ईसाई-संघ और आमलोग। जब कभी राजा की इच्छा होती थी, इस परिषद् की बैठक हुआ करती थी, लेकिन इसकी बैठकें बहुत कम होती थीं, और यह इंग्लैण्ड की पार्लमेण्ट की तरह अधिकार हासिल करने मे सफल न हो सकी। फ्रान्स मे भी राजाओ की कमर टूटने के पहले एक राजा को अपना सिर गँवाना पडा था।

पूर्व मे अब भी यूनानियो का पूर्वी रोमन साम्राज्य चल रहा था। अपनी जिन्दगी की शुरुआत मे ही इसका किसी-न-किसी से युद्ध चलता रहा, और अक्सर ऐसा मालूम होता था कि बस यह मरा। लेकिन फिर भी उसने पहले उत्तरी बर्बरो के, और बाद मे मुसलमानो के, हमलो मे अपनी जान बचा ली। इस साम्राज्य पर रूसियो, बलगारियों, अरबो या सेलजूक तुर्कों के जितने हमले हुए उनमे ईसाई जिहादियो का हमला सबमे ज्यादा घातक और हानिकर साबित हुआ। इन ईसाई योद्धाओ ने ईसाई कुस्तुन्तुनिया को जितना नुकसान पहुँचाया, उतना किसी 'काफ़िर' ने नही पहुँचाया। इस महान् आफत की मार से साम्राज्य और कुस्तुन्तुनिया का शहर फिर कभी नहीं पनप सके।

पश्चिमी यूरोप की दुनिया पूर्वी साम्राज्य के बारे मे बिलकुल अनजान थी। उसे उसकी बिलकुल परवाह नही थी। वह ईसाई-जगत् का अग नही थी। उसकी भाषा यूनानी थी, जबकि पश्चिमी यूरोप के विद्वानो की भाषा लातीनी थी। देखा जाय तो इस गिरावट के जमाने मे भी कुस्तुन्तुनिया मे पश्चिम की बनिस्बत कही ज्यादा विद्या और साहित्य-चर्चा थी। लेकिन यह विद्या बुढापे की विद्या थी जिसमे न कोई बल था और न कोई नई रचना-शक्ति। पश्चिम में विद्या नही के बराबर थी, लेकिन उसमे जवानी थी और नई रचना की शक्ति थी और थोडे ही दिनो बाद यह शक्ति सुन्दर रचनाओ के रूप मे खिल उठनेवाली थी।

पूर्वी साम्राज्य मे, रोम की तरह सम्राट् और पोप मे कोई झगडा नही था। वह सम्राट् सर्वोपरि था और पूरी तरह स्वेच्छाचारी था। किसी तरह की आज़ादी का सवाल ही नही था। राजगद्दी उसीके हिस्से मे आती थी, जो सबसे बलवान होता था या सबसे ज्यादा बे-उसूला होता था। हत्या और छल से, खून-खराबी और जुल्म से, लोग राजगद्दी हासिल कर लेते थे और जनता भेड-बकरियो की तरह उनके हुक्मो को मानती रहती थी। मालूम होता है, उसे इस बात मे कोई दिलचस्पी न थी कि कौन राज करता है।

पूर्वी साम्राज्य यूरोप के फाटक पर एक पहरेदार की तरह खडा था और

एशियाई हमलो से उसकी रक्षा करता था। सैकड़ों वर्षों तक वह इसमे सफल होता रहा। अरब लोग कुस्तुन्तुनिया को नही ले सके। सेल्जूक तुर्क भी, हालाँकि वे उसके बहुत नज़दीक पहुँच गये थे, उसे नही ले सके। मगोल भी इसके पास से गुज़रते हुए उत्तर मे रूस की तरफ निकल गये। अन्त मे उस्मानी तुर्क आये और १४५३ ई० मे कुस्तुन्तुनिया के शाही शहर का बड़ा लूट का माल उनके हाथ में आगया। इस शहर के पतन के साथ ही पूर्वी रोमन साम्राज्य का भी पतन हो गया।

६४ .

## यूरोप के नगरों का अभ्युदय

२१ जून, १९३२

क्रूसेडो का ज़माना, यूरोप मे श्रद्धा, सामूहिक आकाक्षा और विश्वास का महान् ज़माना था और जनता अपनी आये दिन की मुसीबतो से शान्ति पाने के लिए इसी श्रद्धा और आशा का सहारा लेती थी। उस समय विज्ञान नहीं था और विद्या भी बहुत कम थी, क्योकि आस्था के साथ विज्ञान और विद्या का मेल आसानी से नहीं बैठता। विद्या और ज्ञान से लोग सोचने-विचारने लगते हैं और सशय व तर्क-वितर्क श्रद्धा के साथ मुश्किल से मेल खाते हैं। विज्ञान का रास्ता जाँच-पड़ताल और प्रयोग का रास्ता है। लेकिन श्रद्धा इस रास्ते नही जाती। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस तरह यह श्रद्धा कमज़ोर पड़ गई और सशय पैदा हुआ।

लेकिन अभी तो जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उस समय श्रद्धा का ज़ोर था और रोमन-ईसाई-सघ 'ईमानवालो' का सरदार बनकर उनसे खूब फ़ायदा उठाता था। न जाने कितने-कितने हज़ार 'ईमानवाले' फिलस्तीन मे क्रूसेड युद्धो के लिए भेजे गए, जो फिर लौटकर नही आये। पोप ने यूरोप के उन ईसाई लोगों या समुदायो के खिलाफ भी धर्मयुद्ध के ऐलान शुरू कर दिये, जो हर बात मे उसका हुक्म मानने को तैयार नही थे। पोप और ईसाई-सघ ने 'डिस्पेन्सेशन' और 'इण्डलजेन्स' जारी करके और बेच करके भी इस श्रद्धा से बेजा फायदा उठाया। ईसाई-सघ के किसी कानून या परिपाटी को भग करने की इजाज़त को 'डिस्पेन्सेशन' कहते थे। इस तरह जिन कानूनो को ईसाई-सघ खुद बनाता था, उन्हीको खास मौको पर तोड़ने की इजाज़त भी वह दे देता था। ऐसे कानूनो के लिए ज्यादा दिनो तक लोगो के दिलो मे इज़्ज़त बनी नही रह सकती थी। 'इण्डलजेन्स' इससे भी ज्यादा बुरी चीज थी। रोमन ईसाई-सघ मानता है कि मृत्यु के बाद आत्मा 'परगेटरी' (प्रायश्चित्त की जगह) नामक लोक मे जाती है, जो स्वर्ग और नरक के बीच मे कहीं पर है, और जहाँ उसे इस दुनिया मे किये हुए पापो के लिए यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। इसके बाद कहीं वह आत्मा स्वर्ग को जाती है। पोप

रुपया लेकर लोगो को यह प्रतिज्ञा-पत्र दे देता था कि वे 'परगेटरी' से बचकर सीधे स्वर्ग पहुँच जायँगे। इस तरह ईसाई-सघ भोले-भाले लोगो की श्रद्धा से फायदा लूटता था और जिन अपराधो को वह पाप समझता था उनसे भी पैसा बनाता था। 'इण्डलजेन्स' की बिक्री का यह रिवाज क्रूसेडो के कुछ दिन बाद शुरू हुआ। इसमे बडी बदनामी फैली। और बहुत से कारणो मे एक कारण यह भी था, जिससे लोग रोमन ईसाई-सघ के खिलाफ हो गये।

अजीब बात है कि भोले-भाले श्रद्धावान लोग कितनी ही बातें बिना किसी ननुनच के मान लेते हैं। यही वजह है कि कई देशो मे मजहब सबसे बडा और सबसे ज्यादा फायदे का रोजगार बन गया है। मन्दिरो के पुजारियो को देखो कि वे किस तरह बेचारे उपासको को मूँडने की कोशिश करते है। गगा के घाटो पर जाओ तो वहाँ तुम देखोगी कि पण्डे कुछ पूजा-पाठ करने से तबतक इन्कार करते हैं, जबतक कि बेचारा देहाती इन्हें भेंट नही चढाता। कुटुम्ब मे कुछ भी हो—चाहे जन्म हो, शादी हो या गमी हो, पुरोहित आ धमकता है और उसे दक्षिणा देनी ही पडती है।

यह बात हर मजहब मे है, चाहे वह हिन्दू धर्म हो, चाहे ईसाइयत हो, चाहे इस्लाम हो, चाहे जरथुस्ती। हर मजहब का, श्रद्धालुओ की श्रद्धा से पैसा कमाने का अपना अलग तरीका होता है। हिन्दू-धर्म के तरीके तो काफी जाहिर हैं। कहा जाता है कि इस्लाम मे पुरोहित नही होते और पुराने जमाने मे उसके अनुगयियो को मजहबी लूट-खसोट से बचाने मे इस बात से थोडी-बहुत मदद भी मिली। लेकिन बाद मे कुछ व्यक्ति और वर्ग पैदा हो गये जो अपने को मजहब के मामलो की खासतौर पर जानकारी रखनेवाले कहने लगे, जैसे आलिम, मौलवी, मुल्ला, वगैरा। इन लोगो ने सीधे-सादे दीनदार मुसलमानो पर अपना रोब जमा लिया और उनको मूँडना शुरू कर दिया। जहाँ लम्बी दाढी, या चोटी, या तिलक, या फकीरी बाना, या सन्यासी का गेरुआ या पीला कपडा पवित्रता की सनद समझा जाता हो, वहाँ जनता पर धाक जमाना कोई मुश्किल काम नही है।

अगर तुम अमेरिका जाओ, जो आजकल सबसे आगे बढा हुआ मुल्क है, तो वहाँ भी देखोगी कि मजहब एक बहुत बडा उद्योग बन गया है, जो जनता के शोषण पर जी रहा है।

मैं मध्य युगो और श्रद्धा के युग से बहुत दूर भटक गया हूँ। हमे उस तरफ फिर वापस चलना चाहिए। हम इस श्रद्धा को ठोस और रचनात्मक रूप लेता हुआ पाते हैं। ग्यारहवी-बारहवी सदियो मे इमारतो के निर्माण का एक बडा जमाना आया और सारे पश्चिमी यूरोप मे बडे-बडे गिरजाघर खडे हो गये। एक नई वास्तुकला पैदा हुई जैसी यूरोप मे इसके पहले कभी नही दिखाई पडी थी। इसमे

हिकमत-भरी तरकीब से भारी-भारी छतो का बोझ और दबाव इमारत के बाहर बने बडे-बडे पुश्तो पर डाल दिया गया है। भीतर नाजुक खम्भो को जाहिरा तौर पर ऊपर के भारी बोझ को सम्भाले हुए देखकर ताज्जुब होता है। इनके नोकदार मेहराब अरबी वास्तु-कला की नकल हैं। सारी इमारत के ऊपर आसमान तक पहुँचनेवाली मीनार होती है। वास्तु-कला की यह वह गोथिक शैली है, जो यूरोप मे पैदा हुई और विकसित हुई। इसमे अद्भुत सुन्दरता थी और यह उडान भरनेवाली श्रद्धा और आकाक्षा का रूप दर्शानेवाली मालूम देती थी। सचमुच यह श्रद्धा के उस जमाने का दर्शन कराती है। ऐसी इमारतें सिर्फ वे शिल्पकार और कारीगर ही बना सकते हैं, जिन्हे अपने काम की लगन हो और जो मिलकर किसी महान् उद्योग को पूरा करने मे जुट गये हो।

पश्चिमी यूरोप मे इस गोथिक शैली का विकास एक अद्भुत बात है। अशान्ति, अराजकता, अज्ञान और मजहबी बैर के कीचड से यह सुन्दर चीज़ पैदा हुई—मानो स्वर्ग की ओर जानेवाली प्रार्थना हो। फ्रान्स, उत्तरी इटली, जर्मनी और इंग्लैंड मे गोथिक शैली के बडे-बडे गिरजे करीब-करीब एक ही साथ बने। यह कोई ठीक-ठीक नही जानता कि उनकी शुरूआत कैसे हुई, और न कोई उनके बनानेवालो के नाम ही जानता है। ये रचनाएँ सारी जनता की शामिल इच्छा और मेहनत को दर्शाती हुई मालूम देती हैं, न कि किसी अकेले शिल्पकार की। इन गिरजो में दूसरी नई चीज़ इनकी खिडकियो के रगीन कॉच थे। इन खिडकियो पर सुन्दर रगो मे बडी सुन्दर तसवीरें बनी होती थी और उनमे से होकर आनेवाली रोशनी इन इमारतो के गम्भीर और रोब डालनेवाले प्रभाव को बढाती थीं।

थोडे दिन हुए मैंने अपने एक पत्र मे यूरोप का एशिया से मुकाबला किया था। हमने देखा था कि उस वक्त एशिया सस्कृति और सभ्यता मे यूरोप से बहुत आगे बढा हुआ था। फिर भी भारत मे नई रचना का काम बहुत ज्यादा नही हो रहा था, और मैं कह चुका हूँ कि नई रचना करना ही ज़िन्दगी की निशानी है। अर्ध-सभ्य यूरोप मे पैदा होनेवाली यह गोथिक वास्तुकला इस बात का सबूत है कि वहाँ काफी ज़िन्दगी थी। अशान्ति और सभ्यता की पिछडी हुई हालत से पैदा होनेवाली कठिनाइयो के होते हुए भी यह ज़िन्दगी फूट निकली और उसने अपने को प्रकट करने के तरीके तलाश कर लिये। गोथिक इमारतें इसी प्रदर्शन का एक रूप हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि यही ज़िन्दगी चित्रकला, मूर्त्तिकला और हौसले के कामो से प्रेम के रूपो मे प्रकट हुई।

तुमने कुछ बडे गोथिक गिरजे देखे हैं। पता नही कि तुम्हे उनकी याद है या नही। तुमने जर्मनी मे कोलोन का सुन्दर बडा-गिरजा देखा था। इटली के मिलान शहर मे एक बहुत बढिया बडा गोथिक गिरजा है और इसी तरह फ्रान्स के

चारत्रे मे भी है। लेकिन मैं सबके नाम नही गिना सकता। ये गोथिक बडे-गिरजे जर्मनी, फ्रान्स, इंग्लैण्ड और उत्तरी इटली मे फैले हुए हैं। ताज्जुब की बात है कि खास रोम मे गोथिक शैली की कोई मार्के की इमारत नही है।

ग्यारहवी और बारहवी सदियो के इस महान् निर्माण-काल मे गैर-गोथिक शैली के गिरजे भी बनाये गए, जैसे पेरिस मे नात्रदेम का और शायद वेनिस मे सेन्ट मार्क का। सेन्ट मार्क का गिरजा, जिसे तुमने देखा है, बिज़ैन्तीन शैली का नमूना है और इसमे पच्चीकारी का बहुत सुन्दर काम है।

श्रद्धा का ज़माना ढल गया और इसके साथ गिरजों व बडे-गिरजो का बनना भी कम हो गया। लोगो का ध्यान दूसरी तरफ, यानी व्यापार व रोज़गार और अपनी शहरी ज़िन्दगी की तरफ चला गया। गिरजाघरो के बजाय टाउन-हॉल बनने लगे। इस तरह हम पन्द्रहवीं सदी की शुरुआत से सुन्दर गोथिक टाउन-हॉल या गिल्ड-हॉल (पचायती भवन) उत्तर और पश्चिम यूरोप-भर मे फैले हुए देखते हैं। लन्दन में पार्लमेण्ट की इमारतें गोथिक शैली की हैं, लेकिन मैं यह नही जानता कि वे कब बनीं। इतना मुझे खयाल है कि मूल गोथिक इमारत जल गई थी और उसके बाद गोथिक-शैली पर ही दूसरी इमारत बनाई गई।

ग्यारहवी और बारहवी सदियो मे बनाये गए ये बडे-बडे गोथिक गिरजे शहरो और कस्बों मे ही थे। पुराने शहर जागने लगे थे और नये पैदा हो रहे थे। सारे यूरोप का नकशा बदल रहा था और सभी जगह शहरी ज़िन्दगी बढोतरी पर थी। रोमन साम्राज्य के पुराने ज़माने मे भूमध्यसागर के किनारे चारो तरफ बडे-बडे शहर ज़रूर थे, लेकिन जब रोम और यूनानी-रोमन साम्राज्य का पतन हुआ, तब ये शहर भी उजड गये। क़ुस्तुन्तुनिया के सिवा यूरोप मे किसी बडे शहर का नाम नहीं था। हाँ, स्पेन की बात अलग थी, जहाँ अरबो की हुकूमत थी। एशिया मे भारत, चीन और अरबी दुनिया मे इस समय बडे-बडे शहर मौजूद थे, लेकिन यूरोप में यह बात नहीं थी। मालूम होता है, शहरो का सभ्यता और संस्कृति के साथ चोली-दामन का-सा रिश्ता है और यूरोप मे रोमन व्यवस्था के पतन के बहुत दिनो बाद तक इनमे से कोई भी चीज़ नही थी।

लेकिन अब शहरी जीवन फिर से उठ रहा था। इटली मे खासतौर से नये शहर पैदा हो रहे थे। ये शहर सम्राट् और पवित्र रोमन साम्राज्य की आँखो मे खटकते थे, क्योंकि ये इसके लिए तैयार नही थे कि उन्हें जो थोडी-सी स्वतन्त्रताएँ मिली हुई थी, उन्हें छीन लिया जाय। इटली वग़ैरा मे ये शहर व्यापारी वर्गों और मध्यम वर्गों की बढती हुई ताकत के सबूत थे।

वेनिस, जिसका सारे एड्रियाटिक सागर पर रौब था, आज़ाद गणराज्य हो गया था। इसकी घुमावदार गलियो की नहरो मे समुद्र का पानी आता-जाता

है, जिससे आज यह बडा सुन्दर हो गया है, लेकिन कहते है कि शहर बनने के पहले यहाँ दलदल थी। जब अतिला हूण आग लगाता और मारकाट करता ऐक्वीलिया मे आया तो कुछ लोग बचकर वेनिस के दलदलो की तरफ भाग गये। इन्ही लोगो ने अपने हाथो से वेनिस का शहर बनाया, और चूँकि यह पूर्वी रोमन साम्राज्य और पश्चिमी रोमन साम्राज्य के बीच मे पडता था, इसलिए वे आजाद बने रहे। भारत और पूर्व के दूसरे मुल्को के साथ वेनिस का व्यापार कायम हुआ और व्यापार के साथ ही दौलत भी आई। वेनिस ने अपनी जल-सेना बना ली और एक समुद्री शक्ति बन गया। यह धनवानो का गणराज्य था, जिसमे एक अध्यक्ष हुआ करता था, जो 'दोज' कहलाता था। जब नेपोलियन विजेता बनकर १७९७ ई० मे वेनिस मे दाखिल हुआ, तबतक यह गणराज्य क़ायम रहा। कहते हैं कि उस दिन दोज जो बहुत बुड्ढा आदमी था, यकायक मर गया। वह वेनिस का आख़िरी दोज था।

इटली के दूसरी तरफ जिनेवा था। यह भी समुद्र-यात्री लोगो का एक बडा व्यापारिक शहर था और वेनिस से होड करता था। इन दोनो शहरो के बीच मे विश्वविद्यालय का शहर बोलोना था, और पीसा, वेरोना और फ्लोरेन्स थे। फ्लोरेन्स मे आगे चलकर बडे-बडे कलाकार पैदा होनेवाले थे और यह मशहूर मेदिची घराने के शासन मे तेजी से चमकनेवाला था। उत्तर इटली मे मिलान का शहर माल तैयार करनेवाला महत्वपूर्ण केन्द्र बन चुका था और दक्षिण मे नेपल्स भी बढ रहा था।

फ्रास मे पेरिस, जिसे ह्यू कैपे ने अपनी राजधानी बनाया था, फ्रान्स की तरक्की के साथ तरक्की कर रहा था। पेरिस हमेशा से ही फ्रान्स का नाडी-केन्द्र और हृदय रहा है। दूसरे देशो की दूसरी राजधानियाँ रही हैं, लेकिन पिछले एक हज़ार वर्षों मे फ्रान्स पर पेरिस का जितना प्रभाव रहा है, उतना किसी राजधानी का किसी देश पर नही रहा। फ्रान्स मे दूसरे शहर भी मशहूर हुए—जैसे लियो, मार्सेल्स (यह बहुत पुराना बन्दरगाह था), आर्लियन्स, बोर्दो, बोलोन, वग़ैरा।

इटली की तरह जर्मनी मे भी आज़ाद शहरो की तरक्की, ख़ासतौर पर १३वी और १४वी सदियो मे, बहुत मार्के की है। इन शहरो की आबादी बढ रही थी और ज्यो-ज्यो उनकी ताकत और दौलत बढती गई, उनके हौसले भी बढते गये और उन्होने अमीर-सरदारो से लडना शुरू कर दिया। सम्राट् भी इनको बढावा देता था, क्योकि वह अमीर-सरदारो को दबाये रखना चाहता था। इन शहरो ने अपनी हिफाज़त के लिए बडी-बडी व्यापारी पचायतें और समितियाँ बना ली। कभी-कभी ये समितियाँ या सघ अमीर-सरदारो की जवाबी समितियो के खिलाफ युद्ध छेड देते थे। इन बढते हुए शहरो मे से कुछ के नाम ये हैं—हैम्बुर्ग, ब्रीमेन, कोलोन, फ्रैंकफुर्त, म्यूनिख़, डैनज़िग न्यूरेम्बर्ग और ब्रेसलाउ।

निदरलैण्ड्स मे (जिसे आज हॉलैण्ड और बेलजियम कहते हैं) एण्टवर्प, ब्रूजेज़ और घेण्ट के शहर थे, ये व्यापारी शहर थे और इनका व्यापार बराबर बढ रहा था। इंग्लैण्ड मे भी लन्दन था, लेकिन वह विस्तार, दौलत या व्यापार मे यूरोप के महत्वपूर्ण नगरो का मुकाबला नही कर सकता था। ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज के दो विश्वविद्यालय विद्या के केन्द्रो की हैसियत से महत्वपूर्ण बनते जा रहे थे। यूरोप के पूर्व मे वियेना शहर था, जो यूरोप के सबसे पुराने शहरो मे मे से एक है, रूस मे मास्को, कीफ और नोवगोरोद थे।

ये नये शहर, या इनमे से ज्यादातर, पुराने ढग के शाही नगरों से बिलकुल अलग तरह के थे। यूरोप के इन बढनेवाले शहरो का महत्त्व किसी सम्राट् या बादशाह की वजह से नही था, बल्कि उस व्यापार की वजह से था, जिसकी बाग-डोर इनके हाथो मे थी। इसलिए इनकी मजबूती अमीर-सरदारो से नही थी, बल्कि सौदागर-वर्ग से थी। ये सौदागरो के शहर थे। इसलिए शहरो की तरक्की का मतलब था, बुर्जुआ यानी मध्यमवर्ग की तरक्की। इस मध्यमवर्ग की, जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, शक्ति बराबर बढती रही। यहाँतक कि इसने बादशाहो और अमीर-सरदारो को चुनौती दी और उनमे अधिकार छीन लिये। लेकिन यह बात तो उस ज़माने के बहुत दिनो बाद हुई है, जिसका ज़िक्र हम अभी कर रहे हैं।

मैंने अभी कहा है कि शहर और सभ्यता अक्सर साथ-साथ चलते हैं। शहरो की बढोतरी के साथ विद्या भी बढ़ती है और आज़ादी की भावना भी। देहात मे रहनेवाले लोग बहुत दूर-दूर बसे होते हैं और अक्सर बहुत ज्यादा अन्ध-विश्वासी हुआ करते हैं। वे तो मानो कुदरत की दया पर ही जीवित रहते हैं। उन्हें सख्त मेहनत करनी पडती है और बहुत कम फुरसत मिलती है। वे अपने मालिको के हुक्म के खिलाफ जाने की हिम्मत नही कर सकते। शहरो मे लोग बडी सख्या में साथ-साथ रहते हैं। इन्हे ज्यादा सभ्य ज़िन्दगी बिताने का, विद्या हासिल करने का, चर्चा और आलोचना करने का, और विचार करने का मौका मिलता है।

इस तरह राजनीतिक सत्ता, जिसके प्रतिनिधि सामन्ती अमीर-सरदार होते थे, और आध्यात्मिक सत्ता जिसका प्रतिनिधि ईसाई-सघ था, दोनो के खिलाफ आज़ादी की भावना बढने लगी। श्रद्धा का ज़माना ढलने लगा और सशय की शुरुआत हुई। अब लोग ईसाई-सघ और पोप की सत्ता को आँखें मूंदकर मानने को तैयार नही थे। हमने देखा है कि सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय ने पोप के साथ कैसा सलूक किया था। आगे हम देखेंगे कि चुनौती देने की यह भावना किस तरह बढती गई।

बारहवी सदी के बाद विद्या की भी फिर से तरक्की होने लगी। यूरोप मे पढे-लिखो की आम भाषा लातीनी थी और लोग ज्ञान की तलाश मे एक विश्व-विद्यालय से दूसरे को जाया करते थे। दान्ते अलीघेरी, जो इटली का महान कवि

हुआ है, १२६५ ई० मे पैदा हुआ था। पेत्रार्क, जो इटली का दूसरा महान् कवि था, १३०४ ई० मे पैदा हुआ था। थोडे दिन बाद इग्लैण्ड मे चॉसर हुआ, जो इस देश के शुरू के महान् कवियो मे गिना जाता है।

लेकिन विद्या के दुबारा पनपने से भी ज्यादा दिलचस्प चीज़ वैज्ञानिक भावना की हलकी शुरुआत थी, जो बाद के वर्षों मे यूरोप मे बहुत बढनेवाली थी। तुम्हे याद होगा, मैंने तुम्हे बताया था कि अरबों मे यह भावना थी और इन लोगो ने कुछ हद तक इसके मुताबिक काम भी किया था। मध्य-युगो के यूरोप मे खुले दिमाग से जच-पडताल करने की और प्रयोग करने की ऐसी भावना का पनपना मुश्किल था। ईसाई-सघ इसे बर्दाश्त नही कर सकता था। लेकिन ईसाई-सघ के बावजूद भी यह भावना प्रकट होने लगी। इस जमाने मे यूरोप के जिन व्यक्तियों मे वैज्ञानिक भावना थी, उनमे सबसे पहला रोजर बेकन नामक एक अग्रेज़ था। वह ऑक्सफोर्ड मे तेरहवी सदी मे रहता था।

## ६५

## अफ़ग़ानों का भारत पर हमला

२३ जून, १९३२

कल तुम्हारे पत्र मे खलल पड गया। जब मैं लिखने बैठा तो इस जेल को और यहाँ के अपने चौगिर्द को भूल गया और विचारो की तेजी के साथ मध्य-युगों की दुनिया मे पहुँच गया। लेकिन उससे भी ज्यादा तेज़ी के साथ मैं मौजूदा वक्त मे खीच लाया गया और मुझे, किसी कदर तकलीफ के साथ, यह बात याद दिला दी गई कि मैं जेल मे हूँ। मुझे यह बताया गया कि ऊपर से हुक्म आया है कि मम्मी, और दिद्दाजी[1] के साथ महीने भर तक मुलाकात न होने पायेगी। लेकिन ऐसा क्यो किया गया, इसकी वजह मुझे नहीं बताई गई। दस दिन से वे देहरादून मे ठहरी हुई हैं और मुलाकात की अगली बारी का इन्तज़ार कर रही हैं, पर अब उनका ठहरना बिलकुल बेकार हो गया और उन्हें वापस जाना होगा। यह है वह शराफत, जो हमारे साथ बरती जाती है। जो भी हो, हमे इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए। ये तो रोजमर्रा की बातें हैं। हमे यह भूल न जाना चाहिए कि कैदखाना आखिर कैदखाना है।

यो बुरी तरह झकझोर दिये जाने के बाद मेरे लिए यह सम्भव नहीं था कि मैं वर्तमान को भूलकर बीते हुए ज़माने का खयाल करता। लेकिन रात भर के आराम के बाद मैं अब कुछ ठीक हूँ, इसलिए फिर से शुरू करता हूँ।

---

[1] इन्दिरा की दादी श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू।

अब हम भारत लौट आते हैं। बहुत दिनो तक हम इस देश से दूर रहे। मध्य-युगो के अँधेरे से बाहर निकलने के लिए जिस व त यूरोप कोशिशें कर रहा था, जब यूरोप के लोग सामन्त-प्रथा, और फैली हुई आम बद-इन्तजामी व बुरे शासन के बोझ से पिसे जा रहे थे, जब पोप और सम्राट् एक-दूसरे से लड रहे थे और यूरोप के मुल्क शक्ल पकडते जा रहे थे, जब क्रूसेडो के बीच इस्लाम और ईसाइयत प्रभुता के लिए लड रहे थे, तब भारत मे क्या हो रहा था ?

मध्य-युगो की शुरुआत के भारत की एक झलक हम देख चुके है। हम यह भी देख चुके हैं कि सुलतान महमूद ने उत्तर-पश्चिम मे गजनी से उत्तर-भारत के हरे-भरे मैदानो पर झपट्टा मारा, लूटमार की और बरबादी की। महमूद के हमले, हालाँकि वे बडे भयकर थे, भारत मे कोई बडा या टिकनेवाला परिवर्तन पैदा नही कर सके। इनसे देश को, खासकर इसके उत्तरी हिस्से को, बडा धक्का पहुँचा और महमूद ने बहुत-सी बढिया इमारतें और यादगारें नष्ट कर डाली। लेकिन उसके (ग़ज़नी)साम्राज्य मे सिर्फ सिन्ध और पजाब का कुछ हिस्सा ही रहा। उत्तर के बाकी के हिस्से बहुत जल्द ही फिर से पनप गये, दक्षिण और बगाल तो इन हमलो से बिलकुल अछूते रहे। महमूद के बाद डेढ सौ से भी ज्यादा वर्षों तक न तो मुसलमानो ने कुछ जीत हासिल की और न इस्लाम ने ही ज्यादा तरक्की की।

बारहवी सदी के अन्त मे, ११८६ ई० के करीब, उत्तर-पश्चिम से हमलो की एक नई लहर आई। अफगानिस्तान मे एक नया सरदार पैदा हुआ, जिसने गज़नी पर कब्ज़ा कर लिया और गज़नवी साम्राज्य को खत्म कर दिया। उसका नाम शहाबुद्दीन ग़ोरी (अफग़ानिस्तान के गोर नाम के एक छोटे-से कस्बे का रहनेवाला) था। शहाबुद्दीन लाहौर पर आ धमका और उस पर कब्ज़ा करके दिल्ली पर चढ आया। पृथ्वीराज चौहान उस वक्त दिल्ली का राजा था, उसके झण्डे के नीचे उत्तर भारत के बहुत-से सामन्त शहाबुद्दीन के खिलाफ लडे और उसे बुरी तरह हरा दिया। लेकिन यह जीत थोडे ही दिनो की थी। शहाबुद्दीन दूसरे साल बहुत बडी फौज लेकर वापस आया और इस बार उसने पृथ्वीराज को हरा दिया और मार डाला।

पृथ्वीराज आज भी एक लोकप्रिय वीर नायक माना जाता है और उसके बारे मे बहुत-सी पुरानी गाथाएँ और गीत हैं। इनमे से सबसे मशहूर कथा कन्नौज के राजा जयचन्द की लडकी को उडा ले जाने की है। लेकिन इसकी उसे बडी भारी कीमत चुकानी पडी। इस झगडे मे उसके सबसे ज्यादा बहादुर योद्धाओं की जानें गई और एक शक्तिशाली राजा की दुश्मनी गले पड़ी। इसने आपसी फूट और लडाई के बीज बो दिये, जिससे हमला करनेवाले की जीत का रास्ता आसान हो गया।

इस तरह ११९२ ई० मे शहाबुद्दीन ने पहली बार बडी भारी विजय हासिल

की, जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत मे मुसलमानो की हुकूमत कायम हुई। धीरे-धीरे ये हमलावर पूर्व और दक्षिण की तरफ फैलने लगे। आगे के १५० वर्षों के अन्दर, यानी १३४० ई० तक, मुसलमानो की हुकूमत दक्षिण के एक बडे भाग पर फैल चुकी थी। इसके बाद दक्षिण मे यह सिकुडने लगी। नये-नये राज्य पैदा हुए—कुछ मुसलमान और कुछ हिन्दू। इनमे विजयनगर का हिन्दू साम्राज्य ज़िक्र करने लायक है। दो सौ वर्षों तक इस्लाम ने किसी हद तक कुछ गँवाया ही। फिर जब सोलहवी सदी के बीच मे अकबर महान् पैदा हुआ तब कही यह करीब-करीब सारे भारत मे फिर फैल गया।

मुसलमान हमलावरो के भारत मे आने के बहुत-से नतीजे हुए। याद रहे कि ये हमला करनेवाले अफगान थे, अरबी या ईरानी, या पश्चिमी एशिया के सुसस्कृत और ऊँचे दर्जे के सभ्य मुसलमान न थे। सभ्यता के लिहाज़ से अफगान भारतीयो के मुकाबले मे पिछडे हुए थे, लेकिन इनमे शक्ति भरी थी और वे उस वक्त के भारतवासियो की अपेक्षा बहुत ज्यादा जीवटवाले थे। भारत तो बिलकुल लकीर का फकीर बना हुआ था। वह परिवर्तन और प्रगति की तरफ नही जा रहा था। यह पुराने ढँगो से चिपका हुआ था और उनमे सुधार करने की कोशिश नही करता था। युद्ध के तौर-तरीको मे भी भारत पिछडा हुआ था और अफग़ान उससे कहीं ज्यादा सगठित थे। इसलिए साहस और त्याग के होते हुए भी पुराना भारत मुसलमान हमलावरो से हार गया।

शुरू मे ये मुसलमान बडे खूंखार और ज़ालिम थे। ये एक रूखे-सूखे देश से आये थे, जहां 'नज़ाकत' की ज्यादा कद्र नही थी। इसके अलावा दूसरी बात यह थी कि वे एक नये जीते हुए मुल्क मे थे, और चारो तरफ दुश्मनो से घिरे हुए थे, जो किसी भी वक्त विद्रोह कर सकते थे। इन लोगो को बलवे का डर बराबर बना रहता होगा और डर से आदमी अक्सर ज़ालिम और भयभीत हो जाता है। इसलिए जनता को दबाने के लिए हत्याकाण्ड होते थे। यह किसी मुसलमान का किसी हिन्दू को उसके धर्म की वजह से कत्ल करने का सवाल नही था, बल्कि एक विदेशी विजेता का हराये हुओ की कमर तोडने की कोशिश का सवाल था। इन ज़ुल्मी कार्रवाइयो का सबब बताने मे मज़हब को करीब-करीब हमेशा ला घसीटा जाता है, लेकिन यह सही नही है। कभी-कभी मज़हब का बहाना ज़रूर किया जाता था, लेकिन असली कारण राजनीतिक और समाजी थे। मध्य एशिया के लोग, जिन्होंने भारत पर हमला किया, खुद अपने वतनो मे भी खूंखार और बेरहम थे और इस्लाम कबूल करने के बहुत पहले उनकी यही हालत थी। नया मुल्क जीतने के बाद उसको कब्ज़े मे रखने का सिर्फ एक ही तरीक़ा उन्हे मालूम था, और वह था आतक का तरीका।

हम देखते हैं कि धीरे-धीरे भारत ने इन खूंख़ार लुटेरों को नर्म बना दिया और उन्हें सभ्यता सिखा दी। वे महसूस करने लगे कि वे विदेशी हमलावर नहीं बल्कि भारतीय हैं। उन्होंने इस देश की स्त्रियों के साथ शादियां करनी शुरू कर दीं और हमला करनेवालों व हमला भुगतनेवालों के बीच का भेद धीरे-धीरे कम होता गया।

तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि महमूद गज़नवी, जिसने उत्तर भारत में सबसे ज्यादा बरबादी मचाई और जो 'बुतपरस्तों' के ख़िलाफ़ मुसलमानों का हिमायती समझा जाता था, हिन्दू फौज की एक टुकड़ी रखता था, जिसका सेनापति तिलक नामक हिन्दू था। वह तिलक और उसकी फौज को गज़नी ले गया और उसने बलवाई मुसलमानों को दबाने में उनका उपयोग किया। इस तरह तुम देखोगी कि नये मुल्कों को फतह करना ही महमूद का उद्देश्य था। जैसे भारत में वह अपने मुसलमान सिपाहियों की मदद से 'बुतपरस्तों' को क़त्ल करने के लिए तैयार था, ठीक वैसे ही मध्य एशिया में वह हिन्दू सिपाहियों की मदद से मुसलमानों को क़त्ल करने के लिए तैयार रहता था।

इस्लाम ने भारत को हिला डाला। इसने ऐसे समाज में, जो पूरी तरह प्रगति को रोकनेवाला बनता जा रहा था, जीवन-शक्ति और प्रगति की लहर भर दी। उत्तर भारत की हिन्दू-कला में, जिसमें गिरावट और गन्दगी आ चुकी थी और जो पुरानी नक़ल और बारीकियों से बोझिल हो चुकी थी, परिवर्तन शुरू हो गया। एक नई कला का विकास हुआ, जिसे भारतीय-इस्लामी कला कह सकते हैं और जिसमें शक्ति और चेतना थी। पुराने भारतीय मिस्त्रियों को मुसलमानों के लाये हुए नये विचारों से प्रेरणा मिली। इस्लामी विश्वास और जीवन के नजरिये की सादगी ने उस जमाने की वास्तुकला पर असर डाला, और उसमें फिर से सादी और ऊंचे दर्जे की बनावट ला दी।

मुसलमानों के हमलों का पहला असर यह हुआ कि बहुत-से लोग दक्षिण की तरफ़ भाग गये। महमूद के हमलों और हत्याकाण्डों के बाद उत्तर भारत के लोग वहशियाना बेरहमी और सत्यानाश को इस्लाम के साथ जोड़ने लगे। इसलिए जब फिर हमला हुआ और रोका नहीं जा सका तो कुशल दस्तकारों और विद्वानों के झुण्ड-के-झुण्ड दक्षिण भारत में जा बसे। इससे दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति को आगे बढ़ने का बड़ा जोर मिला।

दक्षिण भारत का कुछ हाल मैं पहले तुम्हें बता चुका हूं। मैंने तुम्हें बताया था कि कैसे छठी सदी के बीच से लेकर दो सौ वर्षों तक पश्चिम और मध्य भारत (महाराष्ट्र देश) में चालुक्यों का बोलबाला था। ह्युएनत्सांग उस समय के राजा पुलिकेशी द्वितीय से मिला था। बाद में राष्ट्रकूट आये, जिन्होंने चालुक्यों को हरा

दिया और आठवीं सदी से दसवीं सदी के अन्त तक, यानी २०० वर्षों तक, दक्खिन में धाक जमाये रक्खी। सिन्ध के अरबी शासकों से राष्ट्रकूटों के बड़े अच्छे सम्बन्ध थे और उनके यहां बहुत-से अरबी व्यापारी और यात्री आते थे। इनमें से एक यात्री ने अपनी यात्रा का कुछ हाल लिखा है। इसने लिखा है कि राष्ट्रकूट का उस समय (नवीं सदी) का राजा संसार के चार सबसे बड़े बादशाहों में गिना जाता था। उसकी राय में बग़दाद के ख़लीफ़ा और चीन और रूम (कुस्तुन्तुनिया) के सम्राट् ही उसके बराबर बड़े सम्राट् थे। यह बयान दिलचस्प है, क्योंकि इससे हमको उस समय एशिया में फैली हुई याद का पता चलता है। किसी छोटे-से राज्य का राष्ट्रकूटों से राज्य या ख़लीफ़ा के साम्राज्य से मुक़ाबला करना, जबकि वह अपनी शान और शक्ति की चोटी पर था, इस बात का सबूत है कि ज़रूर यह राज्य बहुत बलवान और शक्तिशाली रहा होगा।

दसवीं सदी, यानी ९७३ ई०, में राष्ट्रकूटों की जगह फिर चालुक्य आ गये और वे २०० से भी ज़्यादा वर्षों तक, यानी ११९० ई० तक फिर राज करते रहे। एक चालुक्य राजा के बारे में एक लम्बी कविता मिलती है, जिसमें कहा गया है कि उसकी रानी ने उसे स्वयंवर में चुना था। आर्यों की इस पुरानी रस्म का इतने दिनों तक बना रहना एक दिलचस्प बात है।

भारत के सुदूर दक्षिण और पूर्व की तरफ़ तामिल देश था। यहां तीसरी सदी से नवीं सदी तक, यानी क़रीब ६०० वर्षों तक, पल्लवों का राज रहा और छठी सदी के मध्य से लेकर २०० वर्षों तक वे दक्षिण पर हावी रहे। तुम्हें याद होगा कि इन्हीं पल्लवों ने मलेशिया और पूर्वी द्वीपों में उपनिवेश बसाने के लिए बेड़े भेजे। पल्लव राज्य की राजधानी कांची या कांजीवरम थी। यह उस समय एक सुन्दर शहर था और बुद्धिमानी से बनाई गई इसकी नगर-योजना आज भी देखने की चीज़ है।

पल्लवों की जगह दसवीं सदी के शुरू में लड़ाकू चोल आ गये। मैं तुम्हें राजराजा और राजेन्द्र के चोल-साम्राज्य के बारे में कुछ बता चुका हूं, जिन्होंने बड़े-बड़े जहाजी बेड़े बनवाये थे और लंका, बरमा और बंगाल को जीतने के लिए निकले थे। उस समय की उनकी चुनी हुई ग्राम-पंचायतों की प्रथा के बारे में जो जानकारी मिलती है वह और भी ज़्यादा दिलचस्प है। इस प्रथा की रचना गांवों से शुरू होती थी। गांवों की पंचायतें जुदे-जुदे कामों की देख-रेख के लिए कुछ समितियां चुनती थीं और ज़िला पंचायतें भी चुनती थीं। कई ज़िलों को मिलाकर प्रान्त बनता था। मैंने अक्सर इन पत्रों में इस ग्राम-पंचायत प्रणाली पर ज़ोर दिया है, क्योंकि पुरानी आर्य शासन-व्यवस्था इसीके सहारे खड़ी हुई थी।

जिस समय उत्तर भारत पर अफ़ग़ानों के हमले हो रहे थे, दक्षिण भारत

मे चोलो का बोलबाला था। कुछ दिनो के बाद ये कमज़ोर पडने लगे और एक छोटी-सी रियासत, जो पहले इनके अधीन थी, स्वाधीन हो गई और उसकी शक्ति बढने लगी। यह पाडय राज्य था, जिसकी राजधानी मदुरा थी और बन्दरगाह कायल था। वेनिस का मशहूर यात्री मार्को पोलो, जिसके बारे मे मैं आगे फिर कुछ लिखूंगा, दो बार कायल गया था—एक बार १२८८ ई० मे, और दूसरी बार १२९३ ई० मे। इसने लिखा है कि यह 'बहुत बडा और भव्य शहर' है, अरब और चीन मे आनेवाले जहाज़ो से और व्यापार की हलचलो से भरा रहता है। मार्को खुद चीन से जहाज़ पर आया था।

मार्को ने यह भी लिखा है कि भारत के पूर्वी समुद्र तट पर महीन-से-महीन मलमले बनती थी, जो 'मकडी के जाले की तरह मालूम होती थी'। मार्को यह भी जिक्र करता है कि मद्रास के उत्तर मे पूर्वी किनारे के तेलुगु देश की रानी रुद्रमणि-देवी नामक एक महिला थी। इसने ४० वर्ष राज किया। मार्को ने इसकी बडी तारीफ की है।

मार्को ने एक दूसरी दिलचस्प बात हमे यह बताई है कि अरब और ईरान से समुद्र के रास्ते दक्षिण भारत मे घोडे खूब आया करते थे। दक्षिण की आबहवा घोडो की नस्ल के लिए अच्छी नही थी। कहते हैं, भारत पर हमला करनेवाले मुसलमान इसी कारण बेहतर लडाकू होते थे कि उनके पास ज्यादा अच्छे घोडे हुआ करते थे। एशिया के सबसे बढिया घोडे पैदा करनेवाले इलाके मुसलमानो के ही कब्जे मे थे।

इस तरह तेरहवीं सदी मे, जब चोलो का पतन हुआ, तब पाण्ड्य राज्य प्रमुख तमिल शक्ति था। चौदहवी सदी के शुरू मे, यानी १३१० ई० मे, मुसलमानों के हमले की नोक दक्षिण तक पहुँच गई। यह नोक पाण्ड्य राज्य में घुस गई और वह तेज़ी के साथ ढह गया।

मैंने इस पत्र मे दक्षिण भारत के इतिहास पर एक सरसरी नज़र डाली है और शायद, जो कुछ पहले कह चुका हूँ, उसे दुहरा दिया है। लेकिन यह विषय कुछ चकरानेवाला है और लोग-बाग पल्लव, चालुक्य, चोल, वग़ैरा नामो की भूल-भुलैयां मे फँस जाते हैं। लेकिन अगर तुम सब पर एक साथ नज़र डालोगी तो इतिहास का यह मोटा ढाँचा तुम्हारे दिमाग मे ठीक बैठ जायगा। तुम्हें याद होगा कि दक्षिण के छोटे-से सिरे को छोडकर अशोक सारे भारत पर, अफ़ग़ानिस्तान पर और मध्य एशिया के एक हिस्से पर राज करता था। उसके बाद दक्षिण मे आन्ध्रो की ताकत बढी, जो ठेठ दक्षिण तक फैल गये और करीब ४०० वर्षों तक बने रहे। करीब उसी वक्त कुषाणो का सरहदी साम्राज्य उत्तर मे फैला हुआ था। जब तैलगी आन्ध्रो का पतन हुआ तब पूर्वी समुद्र तट पर और दक्षिण में तमिल पल्लवो का ज़ोर

हुआ और इन्होंने बहुत दिनो तक राज किया और मलेशिया मे अपने उपनिवेश बसाये, ६०० वर्षों के वाद चोलो के हाथ मे हुकूमत आई और इन्होंने दूर-दूर के देश जीते और अपनी जल-सेनाओ से समुद्र खूंद डाला। तीन सौ वर्ष बाद ये भी बिदा हुए और पाण्ड्य राज्य आगे बढ़ा। इसकी राजधानी मदुरा सभ्यता का केन्द्र बन गई और कायल एक बडा बन्दरगाह बन गया, जिसका सम्बन्ध दूर-दूर देशो से रहता था।

इतनी बात तो दक्षिण और पूर्व के बारे मे हुई। पश्चिम मे महाराष्ट्र देश मे चालुक्य, उनके बाद राष्ट्रकूट और राष्ट्रकूटो के बाद दुबारा फिर चालुक्य हुए।

लेकिन ये तो सिर्फ नाम हैं। विचार करने की बात तो यह है कि ये राज्य कितने लम्बे-लम्बे कालो तक कायम रहे और सभ्यता के कितने ऊंचे दर्जे तक पहुँच गये। इन राज्यो मे कोई अन्दरूनी बल था, जिसने, मालूम होता है यूरोप के राज्यो के मुकाबले इन्हें ज्यादा मजबूती और शान्ति दी। लेकिन उनका समाजी ढांचा अपनी उम्र पूरी कर चुका था और उसकी मजबूती खत्म हो चुकी थी। यह बहुत जल्दी, चौदहवी सदी की शुरुआत मे जब मुसलमानी सेनाएँ दक्षिण की तरफ बढ़ीं, लडखडाकर गिर जानेवाला था।

: ६६ :

## दिल्ली के गुलाम-वंशी बादशाह

२४ जून, १९३२

मैंने सुलतान महमूद गजनवी के बारे मे तुम्हे बताया है और कवि फिरदौसी के बारे मे भी कुछ कहा है, जिसने महमूद के कहने पर फारसी मे शाहनामा लिखा था। लेकिन मैंने तुमसे अभी तक महमूद के जमाने के एक दूसरे मशहूर आदमी के बारे मे कुछ नही कहा, जो महमूद के साथ पजाब आया था। यह अलबेरूनी नामक विद्वान् और विद्याव्यसनी व्यक्ति था, जो उस जमाने के खूंखार और कट्टर योद्धाओ की तरह बिलकुल नही था। इसने सारे भारत की यात्रा की और इस नये देश और यहाँ के निवासियो को समझने की कोशिश की। इसमें भारतीय नजरिये की खूबियो को समझने की इतनी लगन थी कि इसने सस्कृत सीखी और हिन्दुओ की मुख्य पुस्तकें खुद पढ़ी। इसने भारतीय दर्शनशास्त्र का और यहाँ पढाये जानेवाले विज्ञान और कला का अध्ययन किया। भगवद्गीता तो इसे बहुत पसन्द आई। यह दक्षिण के चोल-राज्य मे गया था और वहां सिंचाई की नहरो का इतना बडा इन्तज़ाम देखकर अचम्भे मे रह गया था। भारत मे इसकी यात्राओ का लेखा पुराने जमाने के उन महान् यात्रा-ग्रन्थो मे गिना जाता है, जो अभी तक मिलते हैं। विनाश, मारकाट और मजहबी वैर की दलदल के बीच यह धीरज-

वाला विद्याव्यसनी निरीक्षण करता हुआ, सीखता हुआ और यह जानने की कोशिश करता हुआ कि सत्य कहाँ रहता है, अलग खड़ा नज़र आता है।

अफ़ग़ान शहाबुद्दीन के बाद, जिसने पृथ्वीराज को हराया था, दिल्ली मे गुलाम-वंशी बादशाह कहलानेवाले सुल्तानो का सिलसिला शुरू हुआ। उनमे सबसे पहला कुत्बुद्दीन था। यह शहाबुद्दीन का गुलाम था। लेकिन गुलाम भी ऊँचे पदो पर पहुँच सकते हैं, और वह अपनी कोशिशों से दिल्ली का पहला सुल्तान बन गया। उसके बाद होनेवाले कुछ सुल्तान भी शुरू मे गुलाम थे, इसीलिए यह गुलाम-वंश कहलाता है। ये सब-के-सब बड़े खूंख़ार थे। और इमारतो व पुस्तकालयों का विनाश और आतंक इनकी जीतो के साथ-साथ चलते थे। इन्हें इमारतें बनाने का भी शौक था और इनका झुकाव बड़ी-बड़ी इमारतें बनाने की तरफ़ था। कुत्बुद्दीन ने कुतुब-मीनार बनवानी शुरू की। यह वही बड़ी मीनार है, जो दिल्ली के पास है और जिसे तुम अच्छी तरह जानती हो। उसके उत्तराधिकारी इल्तुतमश ने इस मीनार को पूरा किया और उसीके पास ही कुछ सुन्दर मेहराब भी बनाये, जो अभी तक मौजूद हैं। इन इमारतो का करीब-करीब सारा मसाला पुरानी भारतीय इमारतो, ख़ासकर मन्दिरो, से लिया गया था। मिस्त्री तो सारे भारत के ही थे लेकिन, जैसा मैंने तुमसे कहा है, मुसलमानो के साथ आये हुए नये विचारो का इन पर बहुत असर पड़ा था।

महमूद गज़नवी से लगाकर आगे भारत पर हमला करनेवालो मे हरेक अपने साथ ढेर-के-ढेर भारतीय कारीगरो और मिस्त्रियो को ले गया। इस तरह मध्य एशिया मे भारतीय वास्तुकला का असर फैल गया।

बिहार और बंगाल को अफ़गानो ने बड़ी आसानी मे जीत लिया। वे बड़े दिलेर थे और उन्होंने अचानक हमला करके बचाव करनेवालो को सम्भलने का ज़रा भी मौका नही दिया। दिलेरी अक्सर कामयाब हो जाती है। बंगाल की यह विजय हमारे लिए उतने ही अचम्भे की बात है, जितनी अमेरिका मे कोर्तीज़ और पिज़ारो की जीतें।

इल्तुतमश के ज़माने मे ही, यानी १२११ और १२३६ ई० के बीच मे, भारत की सरहद पर एक बड़ा भयंकर बादल उठा। यह मंगोलो का दल था, जिसका नेता चंगेज़ख़ां था। चंगेज़ख़ां अपने एक दुश्मन का पीछा करता हुआ, ठेठ सिन्ध नदी तक आ गया लेकिन यही रुक गया। भारत इससे बच गया। इसके करीब २०० वर्ष बाद इसीके वंश का एक दूसरा आदमी—तैमूर भारत मे मारकाट और बरबादी लेकर आया। हालाँकि चंगेज़ यहाँ नही आया, लेकिन बहुत-से मंगोलो ने भारत पर छापा मारने और ठेठ लाहौर तक भी आ धमकने की आदत-सी डाल ली। कभी-कभी

ये आतंक फैलाते थे और सुल्तानो तक को भी इतना डरा देते थे कि वे रिश्वत देकर उनसे अपना पिंड छुडाते थे। इनमे से हज़ारो मगोल पजाब मे ही बस गये।

सुल्तानो मे रज़िया नाम की एक औरत भी हुई है। यह इल्तुतमश की बेटी थी। मालूम होता है कि यह बडी बहादुर और काबिल औरत थी, लेकिन अपने ख़ूँख़ार अफ़गान अमीर-सरदारो से, और पजाब पर हमला करनेवाले उनसे भी ज्यादा ख़ूँख़ार मगोलो से, बहुत परेशान रहती थी।

ग़ुलाम बादशाहो का सिलसिला १२९० ई० मे खतम हो गया। इसके बाद अलाउद्दीन ख़िलजी आया, जिसने राजगद्दी पर कब्ज़ा करने का यह नर्म तरीका अपनाया कि अपने चचा को, जो उसका ससुर भी था, मौत के घाट उतार दिया। और फिर उन सब मुसलमान अमीर-सरदारो को भी मरवा डाला, जिनकी वफ़ादारी मे उसे शक था। मगोलो की साज़िश से डरकर उसने यह हुक्म निकाला कि उसके राज्य मे जितने भी मगोल हो, सब कत्ल कर दिये जायँ ताकि "उस नस्ल का एक भी आदमी दुनिया के पर्दे पर ज़िन्दा न बचे।" इस तरह बीस-तीस हज़ार मगोल, जिनमे ज्यादातर तो बिलकुल बेगुनाह ही थे, कत्ल कर डाले गए।

बार-बार इस तरह के हत्याकाण्डो का ज़िक्र करना मुझे अच्छा नही लगता, और इतिहास की ऊँची नज़र मे इनका कोई ज्यादा महत्व भी नही है। फिर भी इनसे यह समझने मे मदद मिलती है कि उस वक्त उत्तर भारत की हालत न तो निरापद थी और न सभ्य। कुछ हद तक बर्बरता की तरफ वापसी थी। एक तरफ तो इस्लाम भारत मे कुछ प्रगतिशील तत्व लेकर आया, लेकिन दूसरी तरफ़ मुस्लिम अफगान बर्बरता का बीज लेकर आये। बहुत-से लोग इन दोनो चीज़ो को मिला देते हैं, लेकिन तुम्हें इन दोनो का फर्क ध्यान मे रखना चाहिए।

अलाउद्दीन दूसरो की तरह तास्सुबी था, लेकिन मालूम होता है कि भारत के इन मध्य-एशियाई शासको का नज़रिया अब बदल रहा था। वे अब भारत को अपना वतन समझने लग गये थे। अब वे यहाँ अजनबी नही रहे थे। अलाउद्दीन ने एक हिन्दू महिला से शादी की और उसके पुत्र ने भी ऐसा ही किया। मालूम होता है अलाउद्दीन के राज मे थोडी-बहुत कुशल शासन-व्यवस्था कायम करने की कोशिश की गई। फौजो के आने-जाने के लिए सडकें खास तौर से दुरुस्त रक्खी जाती थी और अलाउद्दीन अपनी फौजो पर ख़ास ध्यान देता था। उसने अपनी फौज को बहुत ताकतवर बना लिया और उसकी मदद से गुजरात और दक्षिण के बहुत बडे हिस्से को जीत लिया। उसका सेनापति दक्षिण से बेशुमार दौलत अपने साथ लेकर लौटा। कहते हैं, वह ५०,००० मन सोना, ढेरो मोती और जवाहरात, २०,००० घोडे और ३१२ हाथी लेकर आया था।

वीर-गाथाओ व वीर-धर्म की भूमि चित्तौड मे अब भी पहले जैसा साहस

भरा था, लेकिन उसका ढँग वही पुराना था और वह युद्ध करने के उन्ही तरीको से चिपटा हुआ था, जो बेकार हो चुके थे, इसलिए अलाउद्दीन की कुशल सेना ने उसे कुचल दिया। १३०३ ई० मे चित्तौड लूट लिया गया। लेकिन ऐसा होने से पहले ही क़िले के पुरुषो और स्त्रियो ने पुराने रिवाज का पालन करके भयकर जौहर-व्रत कर डाला। इसके अनुसार जब हार सामने हो और दूसरा कोई चारा न रहा हो, तो आख़िरी उपाय यही समझा जाता था कि पुरुषो को मैदान मे जाकर लडते हुए मर जाना और स्त्रियो को चिता मे भस्म हो जाना वेहतर है। यह चीज़ बडी भयकर थी, खासकर स्त्रियो के लिए। अच्छा तो यह था कि स्त्रियाँ भी तलवार हाथ मे लेकर निकल पडती और रणक्षेत्र मे काम आती। लेकिन किसी भी सूरत मे गुलामी और ज़िल्लत से मौत वेहतर थी, क्योकि उस ज़माने मे हार का मतलब यही होता था।

इस बीच भारत के रहनेवाले, यानी हिन्दू धीरे-धीरे मुसलमान बनते जा रहे थे। पर तेज़ी से नही। कुछ लोगो ने अपना मज़हब इसलिए बदल डाला कि इस्लाम उन्हे अच्छा लगा, कुछ लोगो ने डर के मारे ऐसा किया, और कुछ ने इसलिए कि जीतनेवाले पक्ष की तरफ़ रहने की इच्छा मनुष्य का स्वभाव है। लेकिन इस धर्म-परिवर्तन का सबसे बडा कारण आर्थिक था। ग़ैर-मुस्लिमो को एक खास टैक्स देना पडता था, जो हर आदमी पर लगता था और जज़िया कहलाता था। ग़रीबो के ऊपर यह भारी बोझ था। बहुत-से तो सिर्फ़ इससे बचने के लिए अपना मज़हब बदलने को राज़ी हो जाते थे। ऊँचे वर्ग के लोगो मे दरबारी कृपा और ऊँचे ओहदे हासिल करने की लालसा मुसलमान बनने के लिए ज़बरदस्त प्रेरणा थी। अलाउद्दीन का महान् सेनापति मलिक काफ़ूर, जिसने दक्षिण को जीता था, हिन्दू से मुसलमान हुआ था।

मैं तुम्हे दिल्ली के एक दूसरे सुल्तान का हाल बताना चाहता हूँ। यह बडा ही अजीब व्यक्ति था। इसका नाम मुहम्मद-बिन-तुगलक़ था। यह फ़ारसी और अरबी का बहुत बडा आलिम और कामिल था। इसने फ़लसफ़ा (दर्शनशास्त्र) और मन्तक (तर्कशास्त्र) का अध्ययन किया था और यूनानी दर्शन का भी। इसे गणित, विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र का भी कुछ ज्ञान था। यह बहादुर आदमी था और अपने ज़माने के लिहाज़ से इलिमयत का अनोखा नमूना और एक चमत्कार ही था। लेकिन आखिर फिर भी यह नमूना बेरहमी का दानव था और मालूम होता है कि बिलकुल पागल था। वह अपने ही पिता की हत्या करके तख्त पर बैठा था। ईरान और चीन जीतने के बारे मे उसके विचार बडे ही अजीब थे। और उनका नाकामयाब होना कुदरती बात थी। लेकिन उसका सबसे मशहूर कारनामा यह था कि उसने अपनी ही राजधानी दिल्ली को इसलिए उजाड डालने

का फैसला किया कि शहर के कुछ लोगो ने गुमनाम पर्चों मे उसकी नीति की आलोचना करने की गुस्ताखी की थी। उसने हुक्म दिया कि राजधानी दिल्ली से बदल कर दक्षिण के देवगिरि ले जाई जाय। इस जगह का नाम उसने दौलताबाद रक्खा। मकान-मालिको को कुछ हरजाना दिया गया, और इसके बाद हरेक आदमी को, बिना किसी लिहाज़ के, यह हुक्म दिया गया कि तीन दिन के अन्दर शहर छोड दे।

बहुत से लोग शहर छोडकर चल दिये। कुछ छिप भी गये। जब इनका पता चला तो इन्हे बेरहमी के साथ सजा दी गई, हालाँकि इनमे से एक अन्धा था और दूसरा लकवे का मारा था। दिल्ली से दौलताबाद का रास्ता चालीस दिन का था। इस कूच मे लोगो की क्या भयकर हालत हुई होगी और इनमे से कितने रास्ते में ही खत्म हो गये होंगे, इसका खयाल तो करो!

और दिल्ली शहर का क्या हुआ? दो वर्ष बाद मुहम्मद-बिन-तुगलक ने इस शहर को फिर बसाना चाहा, लेकिन कामयाब न हो सका। एक आँखो देखनेवाले के शब्दो मे उसने इसे 'बिलकुल वीराना' बना दिया था। किसी बाग को एकदम बयाबान किया जा सकता है, लेकिन बयाबान को फिर बाग बनाना आसान नही होता। अफ्रीका का मूर यात्री इब्न बतूता, जो सुलतान के साथ था, दिल्ली वापस आया और उसने लिखा है कि "यह शहर दुनिया के सबसे बडे शहरो मे से एक है। जब हम इस शहर में दाखिल हुए, हमने इसे उस हालत मे पाया, जैसा बयान किया गया है। यह बिलकुल खाली और उजडा हुआ था और आबादी बहुत कम थी।" दूसरे आदमी ने इस शहर के बारे मे लिखा है कि यह आठ या दस मील मे फैला हुआ था, लेकिन "सब कुछ नष्ट हो गया था। इसकी बरबादी इतनी पूरी थी कि शहर की इमारतो, महलो और गलियो मे कोई बिल्ली या कुत्ता तक बाकी नही रहा था।"

यह दीवाना पच्चीस वर्ष तक, यानी १३५१ ई० तक सुलतान बनकर हुकूमत करता रहा। यह देखकर हैरत होती है कि जनता अपने शासको की कितनी बदमाशी, जुल्म और अयोग्यता को बर्दाश्त कर सकती है! लेकिन जनता की ताबेदारी के बावजूद मुहम्मद-बिन-तुगलक अपने साम्राज्य को तहस-नहस कर डालने मे सफल रहा। उसकी पागलपन की योजनाओ ने और भारी टैक्सो ने देश को बर्बाद कर दिया। अकाल पडे और अन्त मे बलवे होने लगे। उसकी जिन्दगी में ही, १३४० ई० के बाद, साम्राज्य के बडे-बडे हिस्से आज़ाद हो गये। बगाल आज़ाद हो गया। दक्षिण मे भी कई राज्य पैदा हो गये। इनमे विजयनगर का हिन्दू राज्य मुख्य था, जो १३३६ ई० मे कायम हुआ और दस वर्ष के अन्दर ही दक्षिण मे एक बडी शक्ति बन गया।

दिल्ली के पास अब भी तुम तुग़लकाबाद के खण्डहर देख सकती हो। इसे इसी मुहम्मद के पिता ने बसाया था।

• ६७ •

# चंगेजखां एशिया और यूरोप को हिला डालता है

२५ जून, १९३२

हाल के अपने कई पत्रो मे मैंने मंगोलो का ज़िक्र किया है और यह बताया है कि उन्होंने कितना आतंक फैलाया और कितनी बर्बादी मचाई। चीन मे हमने मंगोलो के आने के बाद ही सुङ् राजवंश का किस्सा बन्द कर दिया था। पश्चिम एशिया मे भी हमारा उनका मुक़ाबला होता है और पुरानी व्यवस्था वही खत्म हो जाती है। भारत मे ग़ुलाम बादशाह मंगोलो से बच गये, लेकिन फिर भी इन्होंने यहाँ काफी हलचल पैदा कर दी थी। मंगोलिया के इन घुमक्कडो ने मानो सारे एशिया को पस्त कर डाला था। सिर्फ एशिया को ही नही बल्कि आधे यूरोप को भी। ये अद्भुत लोग कौन थे, जो एकदम फट पडे और जिन्होंने दुनिया को हैरत मे डाल दिया? शक, हूण, तुर्क और तातार, सभी मध्य एशिया के थे और इतिहास मे नाम पैदा कर चुके थे। इनमे कुछ क़ौमे उस वक्त भी मशहूर थी, जैसे पश्चिमी एशिया मे सेलजूक तुर्क, उत्तरी चीन वगैरा मे तातारी। लेकिन मंगोलो ने अभी तक कुछ ज्यादा नही किया था। पश्चिमी एशिया मे शायद इनके बारे मे कोई ज्यादा जानता भी नहीं था। इनमे मंगोलिया के कई अनजान कबीलो के लोग थे और 'किन' तातारियो के अधीन थे, जिन्होंने उत्तरी चीन जीता था।

मालूम होता था कि इनमे एकदम ही कही से शक्ति आ गई। इनके बिखरे हुए कबीले आपस मे मिल गये और उन्होंने अपना एक नेता—खान महान्—चुना और उसकी वफादारी और हुक्मबरदारी की कसम खाई। उसके नेतृत्व मे इन्होंने पेकिंग पर धावा मारा और 'किन' साम्राज्य को खत्म कर दिया। ये लोग पश्चिम की ओर भी बढे और रास्ते मे जितने बडे-बडे राज्य मिले, सभी का सफाया कर डाला। ये रूस पहुँचे और उसे परास्त कर दिया। बाद मे इन लोगो ने बगदाद और उसके साम्राज्य का भी नामोनिशान मिटा दिया और ठेठ पोलैण्ड और मध्य-यूरोप तक जा पहुँचे। इनको रोकनेवाला कोई नही था। भारत इनसे बच गया यह सिर्फ संयोग की बात थी। ज्वालामुखी-जैसे इस विस्फोट पर यूरोप-एशिया के लोगो को जो हैरत हुई होगी, उसकी कल्पना हम अच्छी तरह कर सकते हैं। ऐसा लगता था कि यह भूकम्प की तरह की कोई महान् कुदरती आफत थी, जिसके सामने मनुष्य कुछ नही कर सकता था।

चंगेज़ खाँ—'खुदा का कहर'

नोवगोरोद
कीफ की रूसी
बिजैंनटाइन साम्राज्य
मंगोलिया
काराकारम
जापान
कोरिया
बुखारा
समरकन्द
सलावीन का साम्राज्य
बग़दाद
तिब्बत
किन साम्राज्य
सुंग साम्राज्य
सिंधु नदी
दिल्ली
गुलाम बादशाहत
श्री विजय
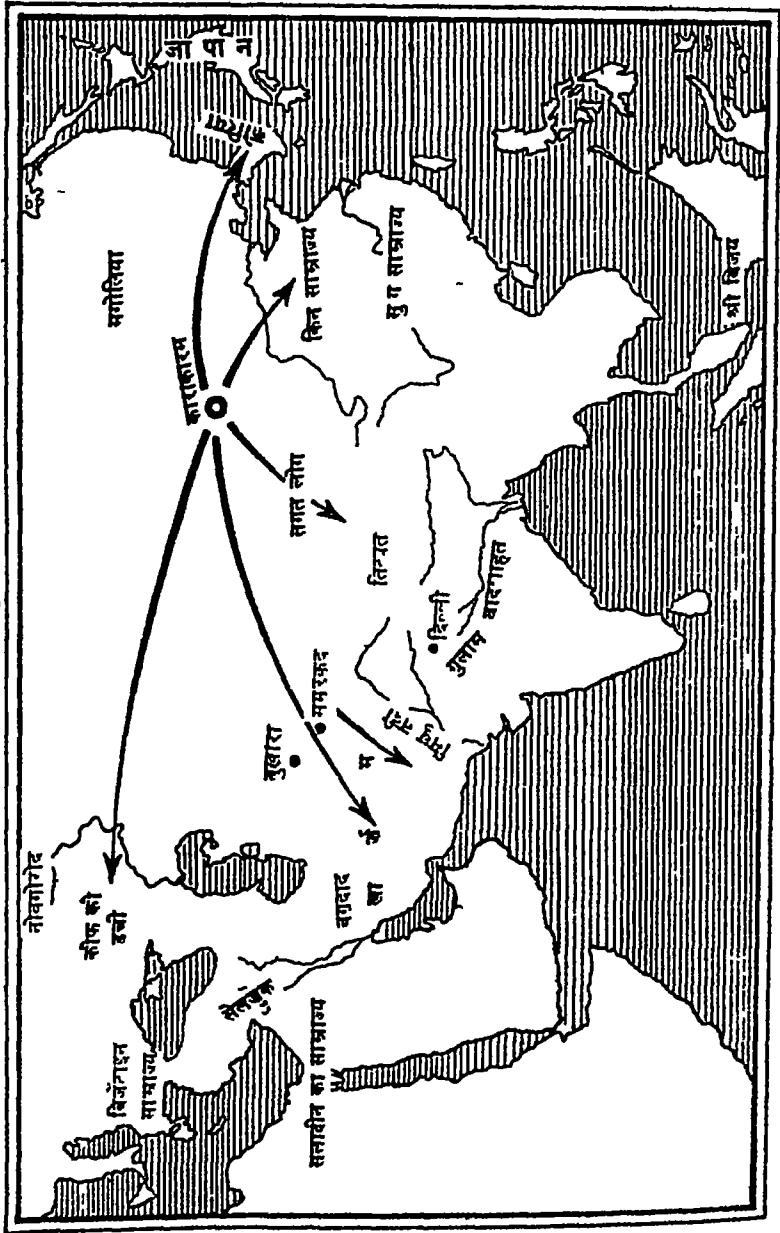
मंगोलिया के ये घुमक्कड़ मर्द और औरतें बड़े मज़बूत थे। तकलीफ़ें झेलने की इन्हें आदत थी और ये लोग उत्तर एशिया के लम्बे-चौड़े मैदानों में तम्बुओं में रहते थे। लेकिन इनकी मज़बूती और कठोर साधना इनके ज्यादा काम नहीं आती अगर इन्होंने एक सरदार न पैदा किया होता, जो बड़ा ही अनोखा व्यक्ति था। यह वही व्यक्ति है, जो चंगेज़ख़ाँ के नाम से मशहूर है। यह ११५५ ई० में पैदा हुआ था और इसका असली नाम तिमूचिन था। इसका पिता येसूगेई-बगातुर इसको बच्चा ही छोड़कर मर गया था। 'बगातुर' मंगोल अमीर-सरदारों का लोक-प्रिय नाम था। इसका अर्थ है 'वीर' और मेरा ख़याल है कि उर्दू का 'बहादुर' शब्द इसी से निकला है।

हालाँकि चंगेज़ १० वर्ष का छोटा लड़का ही था और उसका कोई मदद-गार नहीं था, फिर भी वह ज़ोर मारता चला गया, और आख़िर में कामयाब हुआ। वह क़दम-क़दम आगे बढ़ता गया, यहाँ तक कि अन्त में मंगोलों की बड़ी सभा 'कुरुलताई' ने बैठक करके उसे अपना 'ख़ान महान्' या 'कागन' या सम्राट् चुना। इससे कुछ साल पहले उसे चंगेज़ का नाम दिया जा चुका था।

'मंगोलों का गुप्त इतिहास' पुस्तक में, जो तेरहवीं सदी में लिखी गई थी और चौदहवीं सदी में चीन में प्रकाशित हुई, इस चुनाव का हाल इस तरह से बयान किया हुआ है—

> "इस तरह 'चीता' नामक साल में, जब नमदे के तम्बुओं में रहनेवाली सारी पीढ़ियाँ एक सत्ता की मातहती में मिलकर एक हो गईं, तब ओनान नदी के किनारे पर वे सब जमा हुए और 'नौ पैरों' पर अपने 'सफ़ेद झंडे' को खड़ा करके उन्होंने चंगेज़ को 'कागन' की उपाधि प्रदान की।"

चंगेज़ जब 'ख़ान महान्' या 'कागन' बना, उसकी उम्र ५१ वर्ष की हो चुकी थी। यह जवानी की उम्र नहीं थी और इस उम्र पर पहुँचकर ज्यादातर आदमी चैन और आराम चाहते हैं। लेकिन उसके लिए तो यह विजय-यात्रा के जीवन की शुरुआत थी। यह गौर करने की बात है, क्योंकि ज्यादातर महान् विजेताओं ने मुल्कों को जीतने का काम जवानी में ही पूरा किया है। इससे हम यह नतीजा भी निकाल सकते हैं कि चंगेज़ ने जवानी के जोश में एशिया को नहीं रौंद डाला था। वह अधेड़ उम्र का एक होशियार और सावधान आदमी था और हर बड़े काम को हाथ में लेने से पहले उस पर विचार और उसकी तैयारी कर लेता था।

मंगोल लोग घुमक्कड़ थे। शहरों और शहरों के रंग-ढंग से भी उन्हें नफ़रत थी। बहुत लोग समझते हैं कि चूँकि वे घुमक्कड़ थे, इसलिए जंगली रहे होंगे। लेकिन

यह खयाल गलत है। शहर की बहुत-सी कलाओं का उन्हें अलबत्ता ज्ञान नहीं था; लेकिन उन्होंने जिन्दगी का अपना एक अलग तरीका ढाल लिया था और उनका सगठन बहुत गुथा था। लडाई के मैदान मे अगर उन्होंने बडी-बडी जीतें हासिल की तो सख्या मे ज्यादा होने की वजह से नही, बल्कि अपने अनुशासन और सगठन की वजह से। और इसकी सबसे बडी वजह तो यह थी कि उन्हे चगेज जैसा कामिल कप्तान मिला था। इसमे कोई शक नही कि चगेज इतिहास का सबसे बडा सैनिक प्रतिभावाला व्यक्ति और सैनिक नेता था। सिकन्दर और सीज़र इसके सामने तुच्छ नज़र आते हैं। चगेज न सिर्फ खुद बहुत बडा सेनापति था, बल्कि उसने अपने बहुत-से फौजी अफसरो को सिखाकर होशियार नेता बना दिया था। अपने वतनो से हजारो मील दूर होते हुए, दुश्मनो और विरोधी आबादी से घिरे रहते हुए भी, वे अपने से ज्यादा सख्या की फौजो के मुकाबले मे जीत की लडाइयाँ लडा करते थे।

जब चगेज एशिया और यूरोप मे डग भरता हुआ आया, तब इन देशो का क्या नकशा था? मगोलिया के पूर्व और दक्षिण मे चीन दो टुकडो मे बँटा हुआ था। दक्षिण मे सुङ्-साम्राज्य था, जहाँ दक्षिणी सुडो का राज था, उत्तर मे 'किन' या 'सुनहले तातारियो' का साम्राज्य था, जिनकी राजधानी पेकिंग थी और जिन्होंने सुडो को निकाल बाहर किया था, पश्चिम मे गोबी के रेगिस्तान पर, और उसके परे, हिसिया या ताङ-तो का साम्राज्य था। यह भी घुमक्कडो का राज्य था। भारत मे हम देखते हैं कि दिल्ली मे गुलाम बादशाहो की हुकूमत थी। ईरान और इराक़ मे ठेठ भारत की सरहद तक फैला हुआ खारजम या खीवा का महान् मुसलमानी राज्य था, जिसकी राजधानी समरकन्द थी। इनके पश्चिम मे सेलजूक थे और मिस्र और फिलस्तीन मे सलादीन के उत्तराधिकारियो का राज था। बगदाद के चारो ओर, सेलजूको की निगरानी मे खलीफा राज करता था।

यह वह जमाना था जब बाद के क्रूसेड चल रहे थे। होहेनस्टॉफेन वंश का फ्रैडरिक द्वितीय, जिसे 'दुनिया का आश्चर्य' कहा गया है, पवित्र रोमन-साम्राज्य का सम्राट् था। इग्लैण्ड मे मैग्नाकार्टा और उसके बाद की घटनाओं का ज़माना था। फ्रान्स मे लुई नवम राज करता था, जो क्रूसेडो मे गया था और जिसे वहाँ तुर्को ने पकड लिया था और मुक्ति-धन लेकर छोडा था। पूर्वी यूरोप मे रूस था, जो दो राज्यो मे बँटा हुआ था—उत्तर मे नोवगोरोद और दक्षिण मे कीफ। रूस और रोमन साम्राज्य के बीच मे हगरी और पोलैण्ड थे। बिज़ैन्तीन साम्राज्य कुस्तुन्तुनिया के आसपास अभी तक बना हुआ था।

चगेज ने बडी सावधानी के साथ अपनी विजय-यात्रा की तैयारियाँ की। उसने अपनी फौज को शिक्षित किया। सबसे ज्यादा इसने अपने घोडो को और उनके मरते ही उनकी जगह लेनेवाले दूसरे घोडो को शिक्षित किया था। क्योंकि

घुमक्कड़ो के लिए घोड़ो से ज्यादा महत्व की चीज कोई नही है। इन सब तैयारियो के बाद उसने पूर्व की तरफ कूच किया और उत्तर चीन व मचूरिया के 'किन' साम्राज्य को करीब-करीब खत्म कर दिया और पेकिंग पर भी कब्जा कर लिया। उसने कोरिया जीत लिया। मालूम होता है कि दक्षिणी सुङो को उसने दोस्त बना लिया था। इन सुडो ने 'किन' लोगो के खिलाफ उसकी मदद भी की थी। बेचारे यह नही समझते थे कि इनके बाद उनकी बारी भी आनेवाली है। चगेज ने बाद मे ताङ्तो को भी जीत लिया।

इन विजयो के बाद चगेज आराम कर सकता था। ऐसा मालूम होता है कि पश्चिम पर धावा मारने की उसकी इच्छा नही थी। वह खारज़म के शाह से दोस्ती का सम्बन्ध रखना चाहता था, लेकिन यह हो नही पाया। एक पुरानी लातीनी कहावत है, जिसका मतलब है कि देवता जिसे नष्ट करना चाहते है पहले उसे दीवाना बना देते है।[1] खारज़म का बादशाह अपनी ही बर्बादी पर तुला हुआ था और इसे पूरा करने के लिए उसने भरसक कोशिश की। उसके एक सूबे के हाकिम ने मगोल सौदागरो को कत्ल कर दिया। चगेज फिर भी सुलह चाहता था और उसने यह सन्देश लेकर राजदूत भेजे कि उस हाकिम को सजा दी जाय। लेकिन बेवकूफ शाह इतना घमडी था और अपने को इतना बडा समझता था कि उसने इन राजदूतो का अपमान किया और उनको मरवा डाला। चगेज इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता था, लेकिन उसने जल्दबाजी से काम नही लिया। उसने सावधानी से तैयारी की और तब पश्चिम की तरफ अपनी फौज के साथ कूच कर दिया।

इस कूच ने, जो १२१९ ई० मे शुरू हुई, एशिया की, और कुछ हद तक यूरोप की आंखे इस नये आतक की तरफ खोल दी, जो बडे भारी बेलन की तरह शहरो और करोडो आदमियो को बेरहमी के साथ कुचलता हुआ चला आ रहा था। खारज़म का साम्राज्य मिट गया। बुखारा का बडा शहर, जिसमे बहुत-से महल थे और दस लाख से ज्यादा आबादी थी, जलाकर राख कर दिया गया। राजधानी समरकन्द नष्ट कर दी गई और उसकी दस लाख की आबादी मे से सिर्फ ५० हज़ार जिन्दा बचे। हिरात, बलख और दूसरे बहुत-से गुलज़ार शहर नष्ट कर दिये गए। करोडो आदमी मार डाले गए। जो कलाएँ और दस्तकारियाँ वर्षो से मध्य-एशिया मे फूल-फल रही थी, गायब हो गई। ईरान और मध्य एशिया मे सभ्यता की जिन्दगी का खातमा-सा हो गया। जहाँ से चगेज गुज़रा, वहाँ वीराना हो गया।

---

[1] तुलसीदास ने भी कहा है—
'जाको प्रभु दारुन दुख देहीं, ताकी मति पहिले हर लेहीं।'

खारज़म (खीवा) के बादशाह का बेटा जलालुद्दीन इस तूफान के खिलाफ बहादुरी से लडा। वह पीछे हटते-हटते सिन्ध नदी तक चला आया और जब यहाँ भी इस पर ज़ोर का दबाव पडा तो कहते हैं कि वह घोडे पर बैठा हुआ, ३० फुट नीचे सिन्ध नदी मे कूद पडा और तैरकर इस पार आ गया। उसे दिल्ली के दरबार मे आसरा मिला। चगेज़ ने वहाँ तक उसका पीछा करना फिजूल समझा।

सेलजूक तुर्कों का और बगदाद का सौभाग्य था कि चगेज़ ने इनको बिना छेडे छोड दिया और वह उत्तर मे रूस की तरफ बढ गया। उसने कीफ के ग्रैंड ड्यूक को हराकर क़ैद कर लिया। फिर वह हिंसियो या ताङतों के बलवे को दबाने के लिए पूर्व की तरफ लौट गया।

चगेज़ १२२७ ई० मे ७२ वर्ष की उम्र मे मर गया। उसका साम्राज्य पश्चिम मे काला सागर से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ था। और वह अब भी ज़ोरदार था और बढ रहा था। चगेज़ की राजधानी अभी तक मगोलिया मे करा-कुरम नामक छोटा-सा कस्बा थी। घुमक्कड होते हुए भी चगेज़ बडा ही कुशल सगठन करनेवाला था और उसने बुद्धिमानी के साथ अपनी मदद के लिए योग्य मत्री मुकर्रर कर रखे थे। इतनी तेज़ी के साथ जीता हुआ उसका साम्राज्य उनके मरने पर टूटा नही।

अरबी और ईरानी इतिहास-लेखको की नज़र मे चगेज़ एक दानव है और 'खुदा का कहर' कहा गया है। उसे बडा ज़ालिम आदमी बताया गया है। इसमें शक नही कि वह बडा ज़ालिम था, लेकिन उसके ज़माने के दूसरे बहुत-से शासको मे और उसमे कोई ज्यादा फर्क नही था। भारत मे अफ़गान बादशाह कुछ छोटे पैमाने पर, इसी तरह के थे। जब गज़नी पर अफगानो ने ११५० ई० मे कब्ज़ा किया तो पुराने खून का बदला लेने के लिए उस शहर को लूटा और जला दिया। सात दिन तक "लूट-मार, बर्बादी और मारकाट जारी रही। जो मर्द मिला, उसे क़त्ल कर दिया गया और तमाम स्त्रियो और बच्चो को क़ैद कर लिया गया। महमूदी बादशाहो (यानी सुलतान महमूद के वंशजो) के महल और इमारतें, जिनकी दुनिया मे कोई होड नही थी, नष्ट कर दिये गए।" मुसलमानो का अपने मुसलमान-बिरादरो के साथ यह बर्ताव था! इस बर्ताव के, और यहाँ भारत मे जो-कुछ अफग़ान बाद शाहो ने किया उसके, और मध्य एशिया और ईरान मे चगेज़ की सत्यानाशी कार्र वाई के, दर्जों मे कोई फर्क नही था। चगेज़ खारज़म से खास तौर पर नाराज़ था क्योकि शाह ने उसके राजदूत को कत्ल करवा दिया था। उसके लिए तो यह खूनी झगडा-जैसा था। और दूसरी जगहो पर भी चगेज़ ने खूब सत्यानाश किया था, लेकिन शायद उतना नही जितना मध्य एशिया मे।

शहरो को यो बर्बाद करने के पीछे चगेज़ की एक और भी नीयत थी। उसमे

घुमक्कडो की तबीयत थी और वह कस्बो और शहरो से नफरत करता था। वह खुले मैदानो मे रहना पसन्द करता था। एक दफा तो चगेज़ के मन मे यह विचार आया कि चीन के सारे शहर बर्बाद कर दिये जायँ तो अच्छा हो! लेकिन खुश-किस्मती कहिये कि उसने ऐसा किया नहीं। उसका विचार था कि सभ्यता को घुमक्कड-ज़िन्दगी से मिला दिया जाय। लेकिन न तो यह सम्भव था और न है।

चगेजखाँ के नाम से तुम्हे शायद यह ख़याल हो कि वह मुसलमान था; लेकिन वह मुसलमान नही था। यह एक मगोल नाम है। मज़हब के मामले मे चगेज़ वडा उदार था। उसका अपना मजहव अगर कुछ था तो शमा-धर्म था, जिसमे सदा रहनेवाले नीले आसमान की उपासना थी। अक्सर वह चीन के ताओ-ज्ञानियो से खूब बातें किया करता था। लेकिन वह खुद शमा-धर्म पर ही कायम रहा और जब कठिनाई मे होता तब आसमान का ही आसरा लिया करता था।

तुमने इस पत्र के शुरू में पढा होगा कि चगेज को मगोलो की सभा ने खान महान् 'चुना' था। यह सभा असल मे सामन्तो की सभा थी, जनता की नही। यो चगेज़ इस फिरके का सामन्ती सरदार था।

वह पढ़ा-लिखा नही था, और उसके तमाम अनुयायी भी उसी की तरह थे। शायद वह बहुत दिनो तक यह भी नही जानता था कि लिखने-जैसी भी कोई चीज़ होती है। सन्देश ज़बानी भेजे जाते थे और आमतौर पर छन्द मे रूपको या कहावतो के रूप मे होते थे। ताज्जुव तो यह है कि ज़बानी सन्देशो से किस तरह इतने बडे साम्राज्य का कारोबार चलाया जाता था। जब चगेज़ को मालूम हुआ कि लिखने-जैसी कोई चीज होती है, तो उसने फौरन ही महसूस कर लिया कि यह बडी फायदेमन्द चीज़ है और उसने अपने पुत्रो और मुख्य सरदारो को इसे सीखने का हुक्म दिया। उसने यह भी हुक्म दिया था कि मगोलो का पुराना रिवाजी कानून और उसकी अपनी उक्तियाँ भी लिख डाली जायँ। मुराद यह थी कि यह रिवाजी कानून सदा-सर्वदा के लिए 'कभी न बदलनेवाला कानून' है, और कोई इसे तोड नही सकता। बादशाह के लिए भी इसका पालन करना ज़रूरी था। लेकिन यह 'कभी न बदलनेवाला कानून' अब खो गया है और आजकल के मगोलो को न तो इसकी कोई याद है और न इसकी कोई परम्परा ही बाकी रही है।

हरेक देश और हरेक मजहब का पुराना रिवाजी क़ानून और लिखित कानून होता है और हरेक समझता है कि यही 'कभी न बदलनेवाला कानून' हमेशा कायम रहेगा। कभी-कभी इसे ईश्वरीय ज्ञान कहा जाता है और जो ज्ञान ईश्वर ने भेजा है, उसे बदलनेवाला या क्षणिक नही माना जा सकता। लेकिन कानून तो तत्कालीन परिस्थिति के माफिक बनाये जाते है और उनकी मशा यह होती है कि उनकी मदद से हम अपनी उन्नति कर सकें। अगर परिस्थिति बदल जाती है तो पुराने कानून उसमे

कैसे फिट हो सकते हैं ? परिस्थिति के साथ कानूनों में भी परिवर्तन होना चाहिए; वरना ये लोहे की जंजीरों की तरह हमें जकड़ रखते हैं और दुनिया आगे बढ़ती चली जाती है। कोई भी कानून अपरिवर्तनशील नहीं हो सकता। यह जरूरी है कि उसका आधार ज्ञान पर हो, और ज्यों-ज्यों ज्ञान की उन्नति हो त्यों-त्यों कानून को भी उसके साथ उन्नति करनी चाहिए।

चंगेजखाँ के बारे में मैंने तुम्हें जितनी तफसील और जितनी बातें बताई हैं उतनी शायद जरूरी नहीं थीं। लेकिन इस आदमी ने मुझे बहुत मोहित किया है। कितने ताज्जुब की बात है कि एक खानाबदोश जंगली कौम का यह खूंखार, क्रूर और हिंसक सामन्ती सरदार मेरे-जैसे शान्तिप्रिय, अहिंसक और नर्म आदमी को मोहित करे, जो शहरों में रहनेवाला और सामन्ती चीज से नफ़रत करनेवाला है।

. ६८

## मंगोलों का दुनिया पर छा जाना

२६ जून, १९३२

चंगेजखाँ की मृत्यु के बाद उसका लड़का ओगोतइ 'खान महान्' हुआ। चंगेज और उस जमाने के मंगोलों के मुकाबले में वह दयावान और शान्तिप्रिय स्वभाव का था। वह कहा करता था "हमारे कागन चंगेज ने बड़ी मेहनत से हमारे शाही खानदान को बनाया है। अब वक्त आ गया है कि हम अपने लोगों को चैन व खुशहाली दें और उनकी मुसीबतों को कम करें।" ओगोतइ किस तरह सामन्ती सरदार की हैसियत से अपने फिरके की बात सोचता था यह ध्यान देने की चीज है।

लेकिन विजय का युग खतम नहीं हुआ था और मंगोलों में अभी तक शक्ति उबल रही थी। महान् सेनापति सबूतई के नेतृत्व में यूरोप पर दूसरी बार हमला हुआ। यूरोप की सेनाएँ और सेनापति, सबूतई के मुकाबले में कुछ नहीं थे। शत्रु-देशों के हाल-चाल लाने के लिए जासूस और हरकारे भेजकर वह सावधानी के साथ जमीन तैयार कर लेता था। इसलिए आगे बढ़ने से पहले उसे उन देशों की राजनीतिक और फौजी हैसियत की पूरी जानकारी रहती थी। रण-क्षेत्र में वह युद्ध-कला का उस्ताद था और यूरोप के सेनापति उसके मुकाबले में नौसिखिये नजर आते थे। सबूतई सीधा रूस चला गया और उसने दक्षिण-पश्चिम में बगदाद और सेलजूकों को नहीं छेड़ा। छः वर्ष तक वह मास्को, कीफ, पोलैण्ड, हंगरी और क्राकाऊ को लूटता-पाटता और नष्ट करता हुआ लगातार आगे बढ़ता चला गया। १२४१ ई० में मध्य यूरोप के निचले साइलेशिया में लिबनित्स पर पोलैण्ड और

जर्मनी की एक फौज का बिलकुल सफाया कर दिया गया। मालूम होता था कि सारे यूरोप का फैसला होनेवाला है। मगोलो को रोकनेवाला कोई नही दिखाई देता था। फ्रेडरिक द्वितीय, जो 'दुनिया का आश्चर्य' कहलाता था, मगोलिया से निकलकर आये हुए इस असली आश्चर्य के सामने ज़रूर डर के मारे पीला पड़ गया होगा। यूरोप के बादशाह और शासक हक्का-बक्का हो रहे थे कि अचानक उन्हे राहत मिल गई जिसकी कोई आशा ही नही थी।

ओगोताइ की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी के बारे मे कुछ झगडा खडा हो गया। इसलिए यूरोप मे जो मगोल फौजें थी, वे बिना हारी हुई भी पीछे लौट पडी और १२४२ ई० मे पूर्व की ओर अपने वतन को चल दी। यूरोप की फिर जान मे-जान आई।

इसी बीच मगोल चीन भर मे फैल चुके थे, और उत्तर मे किनो को और दक्षिण चीन मे सुङो को भी उन्होने बिल्कुल खत्म कर दिया था। १२५२ ई० में मगूखाँ 'खान महान्' बना और उसने कुबलइ को चीन का हाकिम मुकर्रर किया। क़राकुरम मे, मगू के दरबार मे, एशिया और यूरोप मे लोगो की भीड आया करती थी। 'खान महान्' घुमक्कडो की तरह, अभी तक तम्बुओ मे ही रहता था। लेकिन ये तम्बू बहुत शानदार होते थे और वे महाद्वीपो की दौलत और लूट के माल से भरे रहते थे। सौदागर, खासकर मुसलमान, आते थे और मगोल उनसे खूब माल खरीदते थे। ज्योतिषी, कारीगर, गणितज्ञ और वे लोग जो उस ज़माने के विज्ञान मे दखल रखते थे, तम्बुओ के इस शहर मे जमा हुआ करते थे। ऐसा लगता था कि मानो इस शहर का रौब सारी दुनिया पर छाया हुआ है। इस लम्बे-चौडे मगोल साम्राज्य भर मे, एक हद तक, शान्ति और व्यवस्था थी। महाद्वीपो के बीच के कारवानी रास्ते इधर-से-उधर आने-जानवाले लोगो से भरे रहते थे। यो एशिया और यूरोप एक-दूसरे के ज्यादा सम्पर्क मे आ गये थे।

और फिर कराकुरम की ओर मज़हबी लोगो की दौड मची हुई थी। उनमे से हरेक चाहता था कि यह ससार-विजेता खास उसी का मजहब क़बूल कर लें। जो मजहब इन सत्ताधारी लोगो को अपनी तरफ मिला लेने मे कामयाब होता वह खुद भी ज़रूर शक्तिशाली बन जाता और दूसरे तमाम मज़हबो पर फतह हासिल कर लेता। पोप ने रोम से अपने एलची भेजे, नस्तोरियन ईसाई आये; मुसलमान भी वहाँ पहुँचे और बौद्ध भी। मगोलो को कोई नया मज़हब कबूल करने की जल्दी नही थी क्योकि वे लोग कोई बहुत ज्यादा मजहबी नही थे। कहते हैं कि एक बार 'खान महान्' के ईसाइयत कबूल करने का इरादा था, लेकिन वह पोप के दावो को बर्दाश्त करने को तैयार नही था। आख़िर मगोल लोग उन्ही इलाको के मज़हबो की धार मे पड गये, जहाँ-जहाँ वे बस गये थे। चीन और मगोलिया के

ज्यादातर मंगोल बौद्ध हो गये, मध्य एशिया के मुसलमान बन गये, और शायद रूस और हंगरी के कुछ मंगोल ईसाई हो गये।

रोम के वैतिकन[1] में, पोप के पुस्तकालय में, अभी तक 'खान महान्' (मंगू) का पोप के नाम एक असली पत्र रक्खा हुआ है। यह पत्र अरबी भाषा में है। मालूम होता है कि पोप ने ओगोताइ के मरने के बाद नये खान के पास अपना दूत यह चेतावनी लेकर भेजा था कि वह यूरोप पर फिर हमला न करे। खान ने जवाब दिया था कि उसने यूरोप पर इसलिए हमला किया था कि यूरोपवासियों ने उसके साथ अच्छा बर्ताव नहीं किया था।

मंगू के जमाने में फतह और बर्बादी की एक लहर फिर चली। उसका भाई हलाकू ईरान का हाकिम था। बगदाद के खलीफा की किसी बात पर खीझकर उसने उसके पास एक संदेसा भेजा, जिसमें अपने वादे पूरे न करने पर उसे फटकारा और चेतावनी दी कि आगे से अपना ढंग ठीक रक्खे वरना अपना साम्राज्य खो बैठेगा। खलीफा कोई बहुत अक्लमन्द आदमी नहीं था और न वह तजुर्बे से फायदा उठाना ही जानता था। उसने चुनौतीभरा जवाब भेजा और बग़दाद के लोगों की एक भीड़ ने मंगोली दूतों का अपमान भी किया। इस पर हलाकू का मंगोली खून उबल पड़ा। तैश में आकर उसने बग़दाद पर धावा बोल दिया और चालीस दिन के घेरे के बाद उस पर कब्जा कर लिया। अलिफलैला के शहर बग़दाद का यहीं अन्त हो गया और साम्राज्य के ५०० वर्षों में यहाँ जो बेशुमार खजाना इकट्ठा हो गया था वह भी खत्म हुआ। खलीफा और उसके बेटे और नजदीकी रिश्तेदार मार डाले गए। यह हत्याकाण्ड हफ्तों तक जारी रहा, यहाँ तक कि दजला नदी का पानी मीलों तक खून से लाल हो गया। कहते हैं कि पन्द्रह लाख आदमी मारे गये। कला और साहित्य के बेशकीमती भंडार और पुस्तकालय सब नष्ट कर दिये गए। बगदाद बिलकुल बर्बाद हो गया। पश्चिमी एशिया की प्राचीन सिंचाई व्यवस्था, जो हजारों वर्ष पुरानी थी, हलाकू ने नष्ट कर दी।

यही हाल अलप्पो, अदिस्सा और दूसरे शहरों का हुआ। पश्चिमी एशिया पर रात जैसा अँधेरा छा गया। उस जमाने का एक इतिहासकार लिखता है कि "यह जमाना विज्ञान और नेकी के लिए अकाल का था।" फिलस्तीन को भेजी गई एक मंगोली फौज को मिस्र के सुलतान बेबर ने हरा दिया। इस सुलतान का एक मजेदार उपनाम 'बन्दूकदार' था क्योंकि उसके पास बन्दूकचियों का एक फौजी दस्ता था। अब हम उस जमाने तक पहुँच गये हैं जब तोप-बन्दूकों का इस्तेमाल शुरू हो गया था। चीनी लोग बहुत दिनों से बारूद बनाना जानते थे। मंगोलों ने

[1] वैतिकन (Vatican)—रोम में पोप के महल, जो सुन्दर कारीगरी के नमूने हैं तथा जिनमें बड़ा भारी पुस्तकालय और संग्रहालय है।

शायद इसे चीनियो से सीखा और सम्भव है कि इन लोगो को बारूदी हथियारों की वजह मे अपनी जीतो मे सहायता मिली हो। मगोलो के जरिये ही तोप-बन्दूक वगैरा बारूदी हथियार यूरोप मे पहुँचे।

१२५८ ई० मे वगदाद की वर्वादी ने आखिरी तौर पर वचे-खुचे अब्वासिया साम्राज्य का भी अन्त कर दिया। पश्चिम एशिया मे अरव की अपनी खास सभ्यता का यही अन्त हो गया। दूर दक्षिण के स्पेन मे ग्रैनडा अभी तक अरवी परम्परा पर चल रहा था। यह भी २०० वर्ष वाद खत्म हो गया। खुद अरव देश का महत्व भी तेजी से घटता गया और वहाँ के लोगो ने इसके वाद इतिहास मे कोई वडा हिस्सा नही लिया। ये लोग कुछ दिनो के बाद उस्मानी तुर्की साम्राज्य के अग बन गये। १९१४-१८ ई० के यूरोपीय महायुद्ध मे, अग्रेजो के उभाडने से, अरबो ने तुर्को के खिलाफ बलवा किया था और तबसे अरब करीब-करीब स्वाधीन है।

दो वर्षों तक कोई खलीफा नही रहा। इसके बाद मिस्र के सुलतान वेबर ने आखिरी अब्वासी खलीफा के एक रिश्तेदार को खलीफा नामजद कर दिया। लेकिन उसके हाथ मे कोई राजनीतिक सत्ता नही थी, वह सिर्फ रूहानी (आध्यात्मिक) सरताज था। तीन सौ साल वाद कस्तुन्तुनिया के तुर्की सुलतान ने खलीफा की यह उपाधि भी छीन ली। तबसे तुर्की सुलतान खलीफा होते चले आये। लेकिन कुछ ही साल हुए, मुस्तफा कमालपाशा ने सुलतान और खलीफा दोनो को खत्म कर दिया।

मैं अपनी कहानी से भटक गया। 'खान महान्' मगू १२६० ई० मे मर गया। मरने के पहले वह तिब्बत को जीत चुका था। उसके वाद चीन का हाकिम कुवलई खा 'खान महान्' वना। कुवलइ वहुत दिनो तक चीन मे रह चुका था और उसे यह देश पसन्द था। इसलिए उसने अपनी राजधानी कराकुरम से हटाकर पेकिंग मे कायम की और उसका नाम खानवलिक यानी 'खान का नगर' रक्खा। कुवलइ को चीन के मामलो मे इतनी दिलचस्पी थी कि वह अपने वडे साम्राज्य की तरफ से वेपरवाह हो गया और धीरे-धीरे बडे-वडे मगोल हाकिम स्वाधीन हो गये।

कुवलइ ने चीन की विजय पूरी कर ली, लेकिन इसका लडाइयो का ढग पुराने मगोली ढग से वहुत जुदा था। इसमे जुल्म और वर्वादी वहुत कम थे। चीन ने कुवलइ को पहले ही मुलायम कर दिया था और उसे सभ्य वना दिया था। चीनी लोगो ने इसे भी अपना लिया और उसके साथ अपने ही आदमी जैसा वर्ताव करने लगे। कुवलइ ने ही युआन राज-वश, जिसे कट्टर चीनी राजवश कहना चाहिए, चलाया। उसने टाङकिङ, अनाम और बरमा अपने राज्य मे मिला लिये। उसने जापान और मलेशिया को भी जीतने की कोशिश की, लेकिन कामयाव नही हुआ। क्योकि मगोलो को समुद्र-यात्रा की आदत नही थी और उनको जहाज वनाना भी नही आता था।

मगूखाँ के शासन-काल मे, फ्रान्स के बादशाह लुई नवम का राजदूत-मण्डल एक दिलचस्प सन्देश लेकर आया था। लुई ने यह सुझाव दिया था कि यूरोप की ईसाई शक्तियाँ और मगोल मिलकर मुसलमानो का मुकाबला करें। क्रूसेडो के जमाने मे, जब वह कैद कर लिया गया था, तब बेचारे लुई को बहुत बुरे दिन देखने पड़े थे। लेकिन मगोलो को ऐसी दोस्तियो मे कोई दिलचस्पी नही थी और न उन्हें इसमें दिलचस्पी थी कि किसी मजहब के लोगो पर सिर्फ मजहब के नाम पर हमला करें।

फिर वे यूरोप के छोटे-छोटे बादशाहो और राजाओ से क्यो और किसके खिलाफ दोस्ती करते? उन्हे पश्चिमी यूरोप के राज्यो या मुसलमानी राज्यो की लडने की काबलियतो से कोई डर नही था। यह तो सयोग की बात थी कि पश्चिमी यूरोप उनसे बच गया था। सेलजूक तुर्कों ने इनके सामने सिर झुका दिया था और इन्हे खिराज देते थे। सिर्फ मिस्र का सुलतान ही ऐसा था, जिसने मगोल फौज को हराया था। लेकिन इसमे कोई शक नही कि अगर मगोल सरगर्मी के साथ कोशिश करते तो उसे सीधा कर देते। एशिया और यूरोप के एक सिरे से दूसरे तक शक्तिशाली मगोल साम्राज्य पसरा हुआ था। मगोलो की विजयो के मुकाबले की इतिहास मे कोई चीज कभी नही हुई और न इतना विशाल साम्राज्य ही कभी हुआ। उस वक्त तो मगोल वास्तव मे दुनिया के मालिक नजर आते होंगे। उस समय भारत ही उनसे बचा हुआ था, वह भी सिर्फ इसलिए कि मगोल उस तरफ गये नही थे। पश्चिमी यूरोप भी, जो करीब-करीब भारत के बराबर था, इस साम्राज्य से बाहर था। लेकिन ऐसा समझना चाहिए कि ये हिस्से भी मगोलो की मेहरबानी पर जिन्दा थे और इनकी हस्ती भी तभी तक थी जब तक मगोल इन्हें हजम करने का इरादा नही करते थे। तेरहवी सदी मे ऐसा ही दिखाई देता रहा होगा।

लेकिन मगोलो की जबर्दस्त शक्ति कुछ कम होती हुई मालूम पडने लगी और फतह करते चले जाने का जोश ठण्डा पडने लगा। तुम्हे यह न भूलना चाहिए कि उस जमाने मे लोग धीरे-धीरे या तो पैदल चलते थे या घोडो पर। सफर का इससे ज्यादा तेज कोई तरीका नही था। मगोलिया मे अपने घर से यूरोप मे साम्राज्य की पश्चिमी सरहद तक सफर करने मे ही फौजो को साल भर लग जाता था। विजय की इनमे इतनी धुन नही थी कि वे अपने साम्राज्य मे से होकर इतनी जबर्दस्त यात्राएँ करते, जबकि लूटमार की कोई गुजाइश न थी। इसके अलावा लडाई मे और लूटमार मे बार-बार कामयाबियो की वजह से मगोली सिपाहियो के पास लूट का खूब माल इकट्ठा हो गया था। बहुतो ने तो गुलाम भी रख लिये होगे। इसलिए वे ठण्डे पड गये और सजीदा और अमन-चैन की जिन्दगी बिताने लगे। जिसे अपनी जरूरत की सब चीजें मिल गई हो, वह हमेशा शान्ति और व्यवस्था ही पसन्द करने लगता है।

विशाल मगोल-साम्राज्य का प्रशासन बडा मुश्किल काम रहा होगा। इसलिए ताज्जुब की बात नही कि यह टूटने लगा। कुबलइ खाँ १२९२ ई० मे मरा। इसके बाद कोई 'खान महान्' नही हुआ और साम्राज्य इन पाँच बडे हिस्सो मे बँट गया

१ चीन का साम्राज्य, जिसमे मगोलिया, मचूरिया और तिब्बत शामिल थे। यह मुख्य भाग था और कुबलइ के युआन राजवश के अधीन था,

२ 'सुनहले गिरोह' (यह मुगलो का स्थानीय नाम था) का साम्राज्य। यह बिलकुल पश्चिम मे रूस, पोलैण्ड और हगरी मे था,

३ ईरान, इराक और मध्य एशिया के एक हिस्से मे इलखान साम्राज्य था। इसकी बुनियाद हलाकू ने डाली थी और सेलजूक तुर्क इसे खिराज देते थे,

४ मध्य एशिया मे, तिब्बत के उत्तर मे चगतई साम्राज्य था, जिसे महान् तुर्की भी कहते थे,

५ मगोलिया और 'सुनहले गिरोह' के बीच मगोलो का साइबेरिया का साम्राज्य था।

हालाँकि विशाल मगोली साम्राज्य के टुकडे हो गये थे, लेकिन उसके इन पाँचो भागो मे से हरेक बडा शक्तिशाली साम्राज्य था।

: ६९ :

## महान् यात्री मार्को पोलो

२७ जून, १९३२

मैंने तुमसे कराकुरम मे 'खान महान्' के दरबार का जिक्र किया है कि मगोलो की कीर्ति और उनकी विजयो के जादू से खिचकर कैसे सैकडो सौदागर, कारीगर, विद्वान् और धर्म-प्रचारक वहाँ जमा होने लगे थे। ये लोग इसलिए भी आते थे कि मगोल इनको बढावा देते थे। ये मगोल विचित्र आदमी थे, कुछ बातो मे बडे ही कुशल और कुछ बातो मे बिलकुल बच्चो जैसे। इनकी खूँख्वारी और बेरहमी दिल हिलानेवाली जरूर थी, पर उसमे बचपने की लटक थी। और मेरे ख़याल से इन खूँख्वार रण-बाँकुरो के इस बचपने के स्वभाव ने ही इन्हें इतना आकर्षक बना दिया है। सैकडो वर्षों बाद एक मगोल, या मुगल ने, जिस नाम से ये भारत में मशहूर हुए, इस देश को जीता। इसका नाम बाबर था और इसकी माँ चगेजखाँ के वंश की थी। भारत जीतने के बाद यह काबुल और उत्तर की ठण्डी-ठ डी हवाओ, फूलो, बगीचो और तरबूजो के लिए तरसता था। यह मौजी आदमी था और उसने अपने जो सस्मरण लिखे है, उनमे तो वह बहुत इन्सानियत-भरा और आकर्षक नमूना नजर आता है।

मतलब यह कि मगोल लोग अपने दरबार मे विदेशो के यात्रियो को आने के लिए बढावा देते थे। इनमे ज्ञान की प्यास थी और ये उनसे सीखना चाहते थे। तुम्हे याद होगा, मैंने तुमको बताया था कि जसे ही चगेजखाँ को मालूम हुआ कि लिखने-जैसी भी कोई चीज़ है, उसने फौरन उसका महत्व समझ लिया और अपने अफसरो को लिखना सीखने का हुक्म दिया था। इनके दिमाग़ खुले थे, जिनमे सीखने की चाह थी, इसलिए ये दूसरो से सीख सकते थे। कुबलइखाँ पेकिंग मे बसने और शरीफ चीनी सम्राट् बन जाने के बाद खासतौर से विदेशी यात्रियो को बढावा देता था। उसके पास वेनिस से दो व्यापारी आये थे। ये दोनो भाई थे —एक का नाम था निकोलो पोलो, और दूसरे का मैफियो पोलो। ये लोग व्यापार की तलाश मे ठेठ बुखारा तक पहुँच गये थे और वहाँ ईरान मे हलाकू के पास भेजे हुए कुबलइखाँ के कुछ दूत इन्हें रास्ते मे मिले थे। उन लोगो ने इन दोनो को अपने कारवाँ मे शामिल होने को राजी कर लिया और इस तरह ये 'खान महान्' के दरबार मे पेकिंग पहुँचे।

कुबलइखाँ ने निकोलो और मैफ़ियो का अच्छा स्वागत किया। उन्होंने खान को यूरोप, ईसाइयत और पोप के बारे मे बताया। उसने इनकी बातो मे बहुत दिलचस्पी जाहिर की और ऐसा मालूम होता था कि वह ईसाइयत की तरफ़ झुक रहा है। उसने १२६९ ई० मे इन दोनो को यूरोप वापस भेजा और यह सन्देश पोप से कहलाया कि सौ विद्वान्, "सातो कलाओ को जानने वाले चतुर आदमी", जो ईसाइयत को सिद्ध करने मे समर्थ हो, उसके यहाँ भेजे जायँ। लेकिन ये दोनो भाई जब यूरोप वापस पहुँचे तो उस समय पोप और यूरोप दोनो की हालत खराब थी। ऐसे सौ विद्वान् थे ही नही। दो वर्ष ठहरकर ये लोग दो ईसाई साधुओ को साथ लेकर वापस गये। लेकिन इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह है कि ये अपने साथ निकोलो के नौजवान पुत्र मार्को को भी ले गये।

तीनो पोलो अपनी विकट यात्रा पर रवाना हुए और खुश्की के रास्तो से इन्होंने एशिया की पूरी लम्बाई तय की। यह कितना जबर्दस्त सफर था। अगर आज भी कोई उसी रास्ते पर जाय, जिस पर पोलो गये थे, तो करीब साल भर लग जायगा। पोलोओ ने कुछ-कुछ ह्यएनत्साङ का पुराना रास्ता पकडा था। वे फिलस्तीन होकर आरमीनिया आये और वहाँ से इराक और फिर ईरान की खाडी पहुँचे। यहाँ उन्हे भारत के व्यापारी मिले। ईरान पार करके वे बलख पहुँचे, और वहाँ से पहाडो को लाँघते हुए काशगर से खुतन और खुतन से लोप-नोर झील, जो चलती-फिरती झील कहलाती है। वहाँ से फिर रेगिस्तान को लाँघते हुए और चीन के खेतो मे होते हुए वे पेकिंग पहुँचे। उनके पास एक शाही पासपोर्ट था, यह खुद खान महान् की दी हुई सोने की तख्ती थी।

प्राचीन रोम के ज़माने मे, चीन और सीरिया के बीच कारवानो का यही पुराना रास्ता था। कुछ दिन हुए मैंने स्वीडन के मशहूर खोजी और यात्री स्वेन हेडन का गोबी के रेगिस्तान को लांघने का हाल पढा है। वह पेकिंग से पश्चिम की ओर चलकर रेगिस्तान को लांघता हुआ और लोप-नोर झील के पास से निकलता हुआ खुतन और उसके परे गया। उसके पास आजकल की सारी सहूलियते थी, फिर भी उसे सफर मे बडी तकलीफ और परेशानी हुई फिर ७०० और १३०० वर्ष पहले, जब पोलो और ह्युएनत्सांग इस रास्ते से गुज़रे होंगे, तब सफर की क्या हालत रही होगी! स्वेन हेडेन ने एक दिलचस्प खोज की। उसने यह देखा कि लोप-नोर झील का स्थान बदल गया है। बहुत दिन हुए, चौथी सदी मे लोप-नोर मे गिरनेवाली तारिन नदी ने अपना बहाव बदल दिया था और रेगिस्तान की बालू ने कुछ ही दिनो मे उसके खादर को पाट दिया था। लाउलन का पुराना शहर, जो वहाँ बसा था, बाहरी दुनिया से बिलकुल कट गया था और इसके निवासी शहर को बर्बादी के भरोसे छोडकर चले गए। झील ने भी इस नदी की वजह से अपनी जगह बदल दी और यही हालत पुराने कारवानी और व्यापारी रास्ते की भी हुई। स्वेन हेडेन ने देखा कि हाल ही मे, कुछ ही वर्ष हुए, तारिन नदी ने फिर अपना बहाव बदल दिया और अपने पुराने रास्ते पर चली गई। झील ने भी यही किया। तारिन नदी फिर पुराने लाउलन नगर के खण्डहरो के पास से होकर बह रही है और मुमकिन है कि वह पुराना रास्ता, जो १६०० वर्षों से बन्द था, फिर चालू हो जाय। लेकिन ऊँटो की जगह अब मोटरें दौडने लगें! इसी वजह से लोप-नोर को 'चलती-फिरती' झील कहते हैं। मैंने तारिन नदी और लोप-नोर के इधर-उधर भटकने का इसलिए जिक्र कर दिया कि तुम्हें यह अन्दाज़ा हो जाय कि जल-प्रवाह किस तरह बडे-बडे क्षेत्रो को बदल देते हैं और इस तरह इतिहास पर असर डालते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, पुराने ज़माने मे मध्य एशिया मे बडी घनी आबादी थी और यहाँ के निवासियो की एक के बाद एक लहरें मुल्को को जीतती हुई पश्चिम और दक्षिण की तरफ बढी थी। आजकल यह हिस्सा करीब-करीब वीरान है, जिसमे शहर बहुत ही कम हैं और आबादी भी बिखरी हुई है। शायद उस वक्त वहाँ ज्यादा पानी रहा हो और इस वजह से यहाँ बडी आबादी की गुज़र होती रही हो। जैसे-जैसे मौसम खुश्क होता गया और पानी कम पडता गया, आबादी भी कम होती गई और घटते-घटते बहुत थोडी रह गई।

इन लम्बी-लम्बी यात्राओ से एक फायदा था। लोगो को नई-नई भाषा-या भाषाएँ सीखने का समय मिल जाता था। तीनो पोलो को वेनिस से पेकिंग तक पहुँचते-पहुँचते साढे तीन वर्ष लग गये और इस लम्बे समय मे मार्को को मंगोली भाषा पर पूरा अधिकार हो गया और शायद चीनी भाषा पर भी। मार्को 'खान महान्' का चहेता हो गया और उसने करीब सत्रह साल तक उसकी नौकरी की।

वह हाकिम बना दिया गया और सरकारी कामो पर चीन के हर हिस्से मे जाया करता था। हालाँकि मार्को और उसके पिता को घर की याद सताती थी और वे वेनिस वापस जाना चाहते थे, लेकिन खान की इजाज़त हासिल करना आसान नही था। आखिरकार उनको वापस जाने का मौका मिल गया। ईरान मे इलखान साम्राज्य के मगोल शासक की पत्नी मर गई। यह कुबलइ का चचेरा भाई था और फिर शादी करना चाहता था। पर उसकी पहली पत्नी ने उससे यह वादा करा लिया था कि वह अपने फिरके के बाहर की किसी औरत से शादी न करेगा। इसलिए आरगोन ने (कुबलइ के चचेरे भाई का यही नाम था) एलचियो के ज़रिये कुबलइ खा के पास पेकिंग सँदेशा भेजा और उससे प्रार्थना की कि अपने फिरक़े की एक स्त्री उसके लिए भेज दे।

कुबलइ खाँ ने एक नौजवान मगोल राजकुमारी को पसन्द किया और तीनो पोलो को उसके लश्कर के साथ कर दिया, क्योंकि ये अनुभवी यात्री थे। ये लोग समुद्र के रास्ते दक्षिण चीन से सुमात्रा गये और वहाँ कुछ दिन ठहरे। सुमात्रा मे उन दिनो श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य चल रहा था, लेकिन इसका विस्तार घट रहा था। सुमात्रा से ये लोग दक्षिण भारत आये। दक्षिण भारत में पाण्ड्य राज्य के गुलज़ार बन्दरगाह कायल मे मार्को पोलो के आने का ज़िक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। राजकुमारी, मार्को और उनका लश्कर भारत मे काफी दिन ठहरे। मालूम होता है कि इन्हे कोई जल्दी नही थी, क्योकि इन्हे ईरान पहुँचते-पहुँचते दो साल लग गये। लेकिन इस बीच शादी का उम्मीदवार दूल्हा मर चुका था। उसके इन्तज़ार की हद हो गई थी। पर शायद उसकी मौत कोई बहुत बडा दुर्भाग्य साबित नही हुई। नौजवान राजकुमारी की शादी आरगोन के पुत्र से हो गई, जो अपने बाप की बनिस्बत उसकी उम्र के अधिक जोड का था।

पोलो ने राजकुमारी को तो वही छोड दिया और खुद कुस्तुन्तुनिया होते हुए आगे अपने वतन को चले गए। १२९५ ई० मे, यानी घर छोडने के २४ वर्ष बाद, वे वेनिस पहुँचे। किसीने उनको नही पहचाना। कहते हैं कि अपने पुराने दोस्तो और दूसरे लोगो पर छाप जमाने के लिए उन्होंने एक दावत दी और इस दावत के बीच मे ही उन्होंने अपने फटे-पुराने और रुई से भरे कपडे उधेड डाले। फौरन ही कीमती जवाहरो—हीरे, माणिक, पन्ना वगैरा—के ढेर-के-ढेर उनके कपडो में से निकल पडे और मेहमान हैरत मे आ गये। फिर भी पोलो की कहानियो पर, चीन और भारत मे उनकी आप-बीती पर, बहुत कम लोगो ने यकीन किया। इन लोगो ने समझा कि मार्को और उसके पिता और चचा बहुत बढा-चढाकर बातें कर रहे है। वेनिस के अपने छोटे-से गणराज्य के आदी होने की वजह से इन्हे चीन और एशिया के दूसरे देशो के विस्तार की और उनकी दौलत की कल्पना ही नही हो सकती थी।

तीन वर्ष बाद, १२९५ ई० मे, वेनिस का जिनोआ शहर से युद्ध ठन गया। ये दोनो समुद्री ताकतें थी और एक दूसरे की दुश्मन थी। दोनो मे ज़बर्दस्त समुद्री लडाई हुई। वेनिसवाले हार गये और जिनोआवालो ने उनके हज़ारो आदमियो को क़ैद कर लिया। इन कैदियो मे हमारा दोस्त मार्को पोलो भी था। जिनोआ के कैदखाने मे बैठे-बैठे मार्को पोलो ने अपनी यात्राओ का वर्णन लिखा, या यो कहो, लिखाया। इस तरह 'मार्को पोलो की यात्राएँ' पुस्तक बनी। अच्छा काम करने के लिए जेलखाना कितनी काम की जगह है!

इस यात्रा-वर्णन मे मार्को ने खासतौर से चीन का हाल लिखा है और उन बहुत-सी यात्राओ का भी जिक्र किया है, जो उसने चीन मे की थी। उसने स्याम, जावा, सुमात्रा, लका और दक्षिण भारत का भी कुछ हाल लिखा है। उसने बताया है कि चीन मे बडे बड़े बन्दरगाह थे, जहाँ पूर्व के तमाम देशो के जहाज़ो की भीड रहती थी और कोई-कोई जहाज़ तो इतने बडे होते थे कि उन्हे ३०० या ४०० मल्लाह चलाया करते थे। उसने लिखा है कि चीन एक हरा-भरा और खुशहाल देश है, जिसमे बहुत शहर और कस्बे हैं। वहाँ "रेशमी और ज़री के कपडे और तरह-तरह के नफीस ताफ्ता बनते हैं", और "खुशनुमा अगूर की बेलो की क्यारियाँ और खेत और बाग है", और तमाम रास्तो पर "मुसाफिरो के लिए बढिया सराएँ हैं।" उसने यह भी लिखा है कि शाही फरमानो को पहुँचाने के लिए हरकारो का खास इन्तज़ाम था। ये फरमान थोडी-थोडी दूर पर बदले जानेवाले घोडो के ज़रिये चौबीस घण्टो मे ४०० मील की दूरी तय कर लेते थे, और यह वास्तव मे बहुत अच्छी रफ्तार है। उसने बतलाया है कि चीन के लोग जलावन लकडी के बजाय काला पत्थर काम मे लेते थे, जो ज़मीन से खोदकर निकाला जाता था। इससे साफ ज़ाहिर है कि चीनी लोग कोयले की खानें खोदते थे और जलावन के लिए कोयला इस्तेमाल करते थे। कुबलइ खाँ ने कागज़ का सिक्का भी जारी किया था, यानी कागज़ के नोट चलाये थे, जिनके बदले मे सोना देने का वायदा होता था, जैसा कि आजकल किया जाता है। यह बडी दिलचस्प बात है, क्योकि इससे पता चलता है कि उसने साहूकारी का एक आधुनिक तरीका काम मे लिया था। मार्को ने बयान किया है कि प्रेस्टर जॉन नामक शासक की मातहती मे ईसाइयो की एक बस्ती भी चीन मे रहती थी। इस बात ने यूरोप के लोगो मे बडा कौतूहल और अचम्भा पैदा कर दिया था। शायद ये लोग मगोलिया के कुछ पुराने नैस्तोरियन हो।

मार्को ने जापान, बरमा और भारत का भी हाल लिखा है—कुछ आखो देखा, और कुछ कानो सुना। मार्को की कहानी यात्रा की एक अद्भुत कहानी थी और अब भी है। इसने छोटे-छोटे सँकरे देशो मे बसनेवाले और तुच्छ ईर्ष्या-द्वेष

मे फँसे हुए यूरोपवासियो की आँखे खोल दी और उन्हे इस लम्बी-चौडी दुनिया के विस्तार, धन व चमत्कारो का भान करा दिया। इसने उनकी कल्पना को उत्तेजना दी, उनकी साहस के काम करने की भावना को चुनौती दी और उनके लालच को भडकाया। इसने उन्हे और भी ज्यादा समुद्र-यात्राएँ करने को उकसाया। यूरोप का विकास हो रहा था, उसकी नई सभ्यता अपने पैरो पर खडी हो रही थी और मध्य युगो की बन्दिशो को तोडने की कोशिश कर रही थी। जवानी मे कदम रखनेवाले नौजवान की तरह उसमे शक्ति भरी हुई थी। समुद्र-यात्रा की इसी उकसाहट ने और धन और साहस के कारनामो की तलाश ने यूरोपवासियो को कुछ दिन बाद अमेरिका पहुँचा दिया और फिर वे उत्तमाशा अन्तरीप (केप ऑफ गुड होप) का चक्कर काटते हुए प्रशान्त महासागर, भारत, चीन और जापान जा पहुँचे। समुद्र दुनिया का राजमार्ग बन गया और महाद्वीपो को लांघनेवाले बडे-बडे कारवानी रास्तो का महत्व कम हो गया।

मार्को के चले आने के थोडे दिन बाद ही 'खान महान्' कुबलइ की मौत हो गई। युआन राजवश, जिसका यह कायम करनेवाला था, इसके मरने के बाद बहुत दिन तक नही टिका। मगोलो की ताकत तेजी के साथ घटने लगी और विदेशियो के खिलाफ चीन मे एक राष्ट्रीय लहर पैदा हो गई। साठ वर्ष के अन्दर ही मगोल दक्षिण चीन से निकाल दिये गए और नानकिड मे एक चीनी आदमी सम्राट् बन बैठा। इसके बारह वर्ष बाद, १३६८ ई० मे, युआन राजवश बिलकुल खत्म हो गया और मगोल लोग चीन की बडी दीवार के उस पार खदेड दिये गए। अब एक दूसरा चीनी राजवश—-ताईमिड राजवश, रगमच पर आया। इस वश ने ३०० वर्षो के लम्बे अर्से तक चीन मे राज किया। यह जमाना अच्छे शासन, खुशहाली और सस्कृति का जमाना समझा जाता है। दूसरे देशो को जीतने की या साम्राज्य बढ़ाने की इन लोगो ने कोई कोशिश नही की।

चीन मे मगोल साम्राज्य के टूट जाने का नतीजा यह हुआ कि चीन और यूरोप के बीच आना-जाना भी बन्द हो गया। खुश्की के रास्ते अब निरापद नही रह गये थे और समुद्र के रास्तो का अभी ज्यादा इस्तेमाल शुरू नही हुआ था।

७०

## रोमन चर्च की सरजोरी

२८ जून, १९३२

मैने तुम्हे बताया है कि कुबलइ खाँ ने, पोप को सन्देश भेजा था और कहलवाया था कि वह चीन को सौ विद्वान् भेज दे। लेकिन पोप ने इसपर कुछ नही

किया। उस व त वह बुरी हालत मे था। अगर तुम्हे याद हो तो यह सम्राट् फ्रैडरिक द्वितीय की मृत्यु के बाद का ज़माना था, जबकि १२५० से १२७३ ई० तक कोई सम्राट् ही नही था। उस वक्त मध्य यूरोप की बडी खतरनाक हालत थी। चारो तरफ गडबड थी और डाकू नाइट हर जगह लूट-पाट करते फिरते थे। १२७३ ई० मे हैप्सबर्ग का रूदोल्फ सम्राट् बना, लेकिन इससे हालत कुछ सुधरी नही। इटली भी साम्राज्य से निकल गया।

यहाँ इस समय सिर्फ राजनीतिक गडबड ही नही थी, बल्कि रोमन ईसाई-सघ के खयाल से मजहबी गडबड की भी शुरुआत हो रही थी। लोग उतने फरमाबरदार नही रह गये थे और न ईसाई-सघ के हुक्मो को ही उतना मानते थे। वे शका करने लगे थे, और मज़हबी मामलो मे शका खतरनाक चीज होती है। हम देख चुके हैं कि सम्राट् फ्रैडरिक द्वितीय पोप के साथ लापरवाही का बर्ताव करता था और छेक दिये जाने की कुछ परवाह नही करता था। उसने पोप के साथ पत्रो के ज़रिये बहस भी शुरू कर दी थी, जिसमे पोप को नीचा देखना पडा था। फ्रैडरिक की तरह यूरोप मे उस वक्त बहुत-से शका करनेवाले रहे होंगे। बहुत लोग ऐसे भी थे जो चाहे ईसाई-सघ या पोप के दावो मे शका या ऐतराज़ भी करते हो, लेकिन जो ईसाई-सघ के बडे आदमियो के भ्रष्टाचार और विलासी जीवन से सख्त नाराज़ थे।

क्रूसेड बडी फजीहत के साथ खत्म हो रहे थे। इनकी शुरुआत बडी उम्मीदो और बडे जोश के साथ हुई थी, लेकिन ये कुछ भी कामयाबी हासिल न कर सके और ऐसी नाकामयाबीयो की हमेशा उलटी क्रिया होती है, ईसाइ-सघ का जो रूप बन गया था उससे पूरी तरह राजी न होने की वजह से लोग कुछ ढिलमिल तौर से और धीरे-धीरे रोशनी की खोज मे दूसरी तरफ नज़रे दौडाने लगे। ईसाई-सघ ने बदले मे ज़ोर-ज़बर्दस्ती शुरू कर दी और आतक के तरीको से आदमियो के दिमागो पर कब्ज़ा कायम रखना चाहा। उसे यह खयाल नही रहा कि आदमी का दिमाग़ बहुत नटखट होता है और शारीरिक बल इसके खिलाफ बहुत ही कमज़ोर हथियार है। उसने कोशिश यह की कि व्यक्तियो और समूहो की अन्तरात्मा की बेक़रारियो का गला घोट दे। उसने शका का जवाब तर्क और दलील से देने के बजाय डण्डे और सूली से देने की कोशिश की।

११५५ ई० मे ही इटली के लोकप्रिय और लगनवाले धर्मोपदेशक, ब्रेशिया के आर्नोल्द पर ईसाई-सघ का गुस्सा उतरा। आर्नोल्द पादरियो के भ्रष्टाचार और विलास के खिलाफ प्रचार करता था। उसे पकडकर फांसी पर लटका दिया गया और उसकी लाश को जलाकर राख टाइबर नदी मे फिकवा दी गई कि कही लोग उसे विभूति की तरह न रख लें। मरते दम तक आर्नोल्द अपनी आन पर डटा रहा और शान्त रहा।

पोप इतने आगे बढ गये कि उन्होंने ईसाइयत के उन पूरे-के-पूरे गिरोहों और सम्प्रदायो को ही गैर-ईसाई ऐलान कर दिया, जो मजहब के किसी छोटे-से मामले मे भी मतभेद रखते थे या जो पादरियो की बहुत ज्यादा आलोचना करते थे। इन लोगो के खिलाफ़ बाकायदा धर्म-युद्ध का ऐलान कर दिया जाता था और इन पर तरह-तरह के नफरत पैदा करनेवाले और दिल दहलानेवाले जुल्म ढाये जाते थे। दक्षिण-फ्रान्स के तूलो के अल्बिगियो या अल्बिगेनियो को और वाल्दो नामक व्यक्ति के अनुयायी वाल्दनियो को, इसी तरह सताया गया।

इसी समय, या इससे कुछ पहले, इटली मे एक व्यक्ति रहता था, जो ईसाइयत के सबसे ज्यादा आकर्षक व्यक्तियो मे गिना जाता है। यह असीसी का फ्रान्सिस था। यह बडा धनवान था, लेकिन इसने अपनी दौलत त्यागकर गरीबी का व्रत लिया और बीमारो व गरीबो की सेवा के लिए दुनिया मे निकल पडा। चूकि कोढी सबसे ज्यादा दु खी और बे-आसरा थे, इसलिए वह उनकी सेवा मे खासतौर पर लग गया। उसने एक सघ चलाया, जो सन्त फ्रान्सिस का सघ कहलाता है, और जो कुछ-कुछ बौद्ध सघ की तरह का है। वह एक जगह से दूसरी जगह प्रचार करता हुआ और लोगो की सेवा करता हुआ फिरता था और ईसा की तरह अपनी जिन्दगी बिताने की कोशिश करता था। हजारो आदमी इसके पास आते थे और उनमे से बहुत-से इसके शिष्य हो गये। जब क्रूसेड चल रहे थे तब यह मिस्र और फिलस्तीन भी गया था, हालांकि वह ईसाई था, लेकिन मुसलमान भी इस नेक और प्यार के काबिल व्यक्ति की इज्जत करते थे और उन्होने उसके काम मे किसी तरह की रुकावट नही डाली। यह ११८१ ई० मे पैदा हुआ और १२२६ ई० मे मरा। उसकी मौत के बाद उसके सघ की ईसाई-सघ के ऊँचे अधिकारियो से टक्कर हो गई। शायद ईसाई-सघ को यह पसन्द नही था कि गरीबी की जिन्दगी पर इतना जोर दिया जाय। इस दकियानूसी सिद्धान्त से वे बहुत बडे हो गये थे। १३१८ ई० मे फ्रान्सिस सघ के चार साधुओ को काफिर करार दिया जाकर मार्साइ मे जिन्दा जला दिया गया।

कुछ साल हुए, असीसी के छोटे-से शहर मे सन्त फ्रान्सिस की यादगार मे एक बहुत बड़ा उत्सव हुआ था। मुझे याद नही रहा कि यह जलसा उस साल क्यो मनाया गया था। शायद यह उसकी मृत्यु की सातवी शताब्दी थी।

फ्रान्सिस के सघ की तरह, लेकिन भावना मे उससे बिलकुल जुदा, एक दूसरा सघ ईसाई-सघ के अन्दर पैदा हुआ। इसको कायम करनेवाला स्पेन-निवासी सन्त दोमिनिक था, और यह दोमिनिकल सघ कहलाता है। यह सघ उग्र और कट्टर था। इनके लिए ईमान कायम रखने के महान् कर्तव्य के सामने दुनिया की तमाम

बाते हेच थी। अगर कोई सीधी तरह समझाने से नही माने तो उसे मार-मार-कर समझाया जाय।

१२३३ ई० मे 'इनक्विज़िशन' कायम करके ईसाई-सघ ने बाकायदा और सरकारी तौर पर मज़हब मे हिंसा का राज कायम कर दिया। यह एक किस्म की अदालत होती थी, जो लोगो के ईमान के कट्टरपन की जाँच करती थी और अगर इसकी राय मे वे जाँच मे पूरे नही उतरते तो मामूली तौर पर उन्हे ज़िन्दा जला दिये जाने की सज़ा दी जाती थी। 'काफिरो' को बाकायदा ढूँढ-ढूँढकर पकडा गया और उनमे से सैकडो को ज़िन्दा जला दिया गया। ज़िन्दा जलाने से भी ज्यादा बुरी बात यह थी कि लोगो से प्रायश्चित्त कराने के लिए उन्हे यातनाएँ दी जाती थी। बहुत-सी गरीब अभागी औरतो पर डायने होने का अपराध लगाया जाता था और वे जला दी जाती थी। लेकिन अक्सर यह काम, ख़ासकर इग्लैण्ड और स्काट-लैंड मे फिसादी भीड करती थी, 'इनक्विज़िशन' के हुक्म से ऐसा नही होता था।

पोप ने एक 'फतवा'[1] जारी किया, जिसमे हरेक आदमी को मुख़बिर बनने का हुक्म दिया गया। पोप ने रसायन के ख़िलाफ फतवा दे दिया और इसे शैतानी हुनर करार दिया। और मज़ा यह कि ये तमाम अत्याचार और आतक सच्चे विश्वास के साथ किये जाते थे। इनका विश्वास था कि किसी आदमी को ज़िन्दा जलाकर वे उसकी आत्मा को या दूसरो की आत्माओ को पापो से बचा रहे हैं। मज़हबी लोगो ने अक्सर अपनी बात दूसरो से ज़बर्दस्ती मनवाने की कोशिश की है, अपने विचार ज़बर्दस्ती दूसरो के गले मे उतारे है, और वे समझते रहे हैं कि जनता की सेवा कर रहे है। ईश्वर के नाम पर इन्होने लोगो को मारा है और हत्याएँ की हैं। और 'अमर आत्मा' को बचाने की बात करते हुए इन्होने नाशवान शरीर को जलाकर राख कर देने मे सकोच नही किया है। मज़हब का लेखा बडा ख़राब रहा है, पर जल्लादी बेरहमी मे 'इनक्विज़िशन' को मात करनेवाली कोई चीज़ दुनिया मे मेरे ख़याल से नही हुई। और फिर भी यह अचम्भे की बात है कि ऐसी हरकतो के लिए ज़िम्मेदार लोगो मे से बहुतो ने यह काम अपने निजी फायदे के लिए नही बल्कि इस पक्के विश्वास से किया कि वे सही चीज़ कर रहे हैं।

जब पोप लोग यूरोप के ऊपर आतक का यह राज बरपा कर रहे थे तब उधर उनकी वह ऊँची हैसियत कम होती जा रही थी जो उन्होंने बादशाहो और सम्राटो के सरताज बनकर जमा रक्खी थी। वे दिन लद गये थे जब वे किसी सम्राट् को ईसाई बिरादरी से छेककर और धमकी देकर उसके घुटने टिकवा देते थे। जब पवित्र रोमन साम्राज्य की हालत ख़राब हो रही थी और कोई सम्राट् नही था, या सम्राट् रोम से दूर रहता था, तब फ्रान्स का बादशाह पोपो के कामो मे दख़ल

[1] Edict of Faith.

देने लगा। १३०३ ई० में पोप की किसी बात से बादशाह नाराज हो गया। उसने पोप के पास एक आदमी भेजा, जिसने पोप के महल में जबर्दस्ती घुसकर उसके सोने के कमरे में जाकर उसके मुँह पर उसका अपमान किया। पोप के साथ बेइज्जती के बर्ताव को किसी देश ने नापसन्द नहीं किया। जरा कनोजा में पोप से मिलने के लिए सम्राट् के घण्टों बर्फ में नंगे पैर खड़े रहने की घटना की इससे तुलना तो करो।

कुछ साल बाद, १३०९ ई० में, एक नया पोप जो फ्रान्सीसी था, फ्रान्स के आविन्यों शहर में रहने लगा। पोप लोग यहाँ १३७७ ई० तक, फ्रान्सीसी बादशाहों के अँगूठे के नीचे रहते रहे। एक साल बाद, १३७८ ई० में, पोप का चुनाव करने-वाले बड़े पादरियों के मण्डल में फूट पड़ गई। इसे 'महान् मतभेद' कहा जाता है। बड़े पादरियों के दो दलों ने अपना-अपना पोप चुन लिया। एक पोप तो रोम में रहने लगा और सम्राट् और उत्तर यूरोप के ज्यादातर देशों ने उसे मान लिया। दूसरा, जो विरोधी-पोप कहलाने लगा, आविन्यों में रहता था, और फ्रान्स का बादशाह और उसके कुछ मददगार उसका समर्थन करते थे। चालीस वर्षों तक यह हालत रही और पोप व विरोधी पोप एक-दूसरे को कोसते और छेंकते रहे। १४१७ ई० में समझौता हो गया और दोनों दलों ने मिलकर एक नया पोप चुना जो रोम में रहता था। लेकिन दोनों पोपों के बीच के इस भद्दे झगड़े का असर यूरोप के लोगों पर बहुत ज्यादा पड़ा होगा। जब पादरी लोग और इस संसार में अपने-आपको ईश्वर का प्रतिनिधि कहनेवाले लोग, इस तरह की हरकतें करें, तो लोग उनकी पवित्रता और नेकनीयती में सन्देह करने लगते हैं। इस तरह इन झगड़ों ने लोगों को मजहबी सत्ता की अंधी फरमाबरदारी से बाहर निकाल फेंकने में बड़ी मदद दी। लेकिन अभी उनको इससे भी और जोरदार झटके की जरूरत थी।

जिन लोगों ने ज्यादा खुले तौर पर ईसाई-संघ की आलोचना करना शुरू किया उनमें वाइक्लिफ नामक एक अंग्रेज भी था। वह पादरी था और ऑक्सफोर्ड में प्रोफेसर था। यह बाइबिल का अंग्रेजी में सबसे पहले अनुवाद करनेवाला मशहूर है। अपनी जिन्दगी में तो वह रोम के कोप से किसी तरह बच गया। लेकिन १४१५ ई० में, मरने के ३१ वर्ष बाद, ईसाई-संघ परिषद् ने हुक्म दिया कि उसकी हड्डियाँ खोदकर जला दी जायँ और ऐसा ही किया गया।

हालांकि वाइक्लिफ की हड्डियों की बेहुरमती करके उन्हें जला दिया गया, मगर उसके विचारों को आसानी से नहीं दबाया जा सका और वे फैलने लगे। यहाँतक कि वे बोहेमिया तक, जो अब चेकोस्लोवाकिया कहलाता है, पहुँच गये और उनका असर जॉन हस पर हुआ, जो बाद में प्राहा (प्रेग) विश्वविद्यालय

का कुलपति हुआ। पोप ने इसे इसके विचारो की वजह से ईसाइयत से छेक दिया, लेकिन उसके शहर मे वे उनका कुछ नही बिगाड सके, क्योकि वह बहुत लोकप्रिय था। इसलिए उस पर एक चाल चली गई। सम्राट् ने हिफाजत के साथ पहुँचा देने का वादा करके उसे स्वीज़रलैण्ड के कॉन्स्टैन्स नगर मे बुलवाया, जहाँ ईसाई-सघ परिषद् की बैठक हो रही थी। वह वहाँ गया। उससे कहा गया कि अपनी गलती कबूल कर ले, लेकिन उसने कह दिया कि जबतक उसे कायल न कर दिया जाय तबतक वह ऐसा नही कर सकता। इस पर हिफाज़त के वादे के बावजूद उन्होंने उसे ज़िन्दा जला दिया। यह १४१५ ई० की बात है। हस बडा बहादुर आदमी था और जिसे वह झूठ समझता था उसे मान लेने की बनिस्बत उसने दर्दभरी मौत को बेहतर समझा। वह अन्तरात्मा की आज़ादी और बोलने की आज़ादी पर शहीद हो गया। चेक लोग इसे अपना एक वीर-नायक मानते हैं और चेकोस्लोवाकिया मे इसकी याद आज तक मनाई जाती है।

जॉन हस का बलिदान बेकार नही गया। इस चिनगारी ने बोहेमिया मे उसके पीछे चलनेवालो मे विद्रोह की आग जला दी। पोप ने इन लोगो के खिलाफ ईसाई-जिहाद की घोषणा कर दी। जिहाद सस्ती चीज़ थी, उसमे कुछ खर्च नही होता था और ऐसे बदमाशो और मौकापरस्तो की कमी नही थी, जो उससे फायदा उठाते थे। इन जिहादियो ने, जैसा कि एच० जी० वेल्स ने लिखा है, "बेगुनाह लोगो पर महा भयकर अत्याचार किये।" लेकिन जब हस के अनुयायियो की फौज अपना कडखा गाती हुई सामने आई, तो ये जिहादी रफू-चक्कर हो गये। जिस रास्ते से ये आये थे उसी रास्ते तेज़ी से वापस चले गये। जबतक बेगुनाह देहातियो को मारना और लूटना सम्भव था, इन जिहादियो ने खूब सैनिक जोश दिखाया, लेकिन सगठित सेना के आते ही वे भाग खडे हुए।

इस तरह निरकुश और अपने खास विचारो को ही सही माननेवाले मज़हब के खिलाफ बलवो और विद्रोहो का सिलसिला शुरू हुआ, जो आगे चलकर सारे यूरोप मे फैले और जिन्होंने उसे दो विरोधी दलो मे बाँट दिया और जिन्होंने आगे चलकर ईसाइयत के, कैथलिक और प्रोटेस्टैन्ट, दो टुकडे कर दिये।

## ७१
## सत्तावाद के ख़िलाफ़ लड़ाई

३० जून, १९३२

मुझे डर है कि यूरोप के मज़हबी झगडो के बयान तुम्हें बहुत नीरस मालूम हुए होंगे। लेकिन ये बयान महत्वपूर्ण हैं, क्योकि इनसे पता चलता है कि आज के यूरोप का विकास कैसे हुआ। वे हमें यूरोप को समझने मे भी मदद देते हैं। मज़हबी

आज़ादी के लिए जो लडाई हम यूरोप मे चौदहवी सदी मे और उसके बाद बढती हुई देखते हैं और राजनीतिक आज़ादी की लडाई, जो आगे आनेवाली थी, वास्तव मे एक ही लडाई के दो पहलू हैं। इसे सत्ता या सत्तावाद के खिलाफ लडाई कहना चाहिए। पवित्र रोमन साम्राज्य और पोपडम दोनों पूरी निरकुश सत्ता के निशान थे और मनुष्य की आत्मा को कुचलने की कोशिश करते थे। सम्राट् तो 'दैवी अधिकार' से बनता था और पोप उससे भी ज्यादा था, और इसके बारे मे शका करना या ऊपर से भेजी गई आज्ञाओ को न मानने का किसी को हक नही था। फरमाबरदारी ही बडा सद्‌गुण समझा जाता था। निजी विवेक का इस्तेमाल तक भी पाप माना जाता था। इस तरह अन्धी फरमाबरदारी और आज़ादी के बीच झगडे की जड बिलकुल ज़ाहिर हो गई थी। मजहबी विश्वास की आज़ादी के लिए और, इसके बाद राजनीतिक आज़ादी के लिए, यूरोप मे कई सदियो तक जबर्दस्त लडाई लडी गई। बहुत-से उतार-चढ़ाव और बडी तकलीफ़ें उठाने के बाद कुछ हद तक कामयाबी हासिल हुई। लेकिन ठीक उस वक्त, जब लोग आज़ादी की मंज़िल पर पहुँच जाने की खुशियाँ मना रहे थे, उन्हें यह पता चला कि यह उनकी भूल थी। आर्थिक आज़ादी के बिना, और जबतक गरीबी न मिटे, तबतक असली आज़ादी हो ही नही सकती। भूखे आदमी से कहना कि तुम आज़ाद हो, सिर्फ़ उसका मज़ाक करना है। इसलिए दूसरा क़दम आर्थिक आज़ादी की लड़ाई थी और यह लडाई आज सारी दुनिया मे लड़ी जा रही है। सिर्फ़ एक देश के बारे मे यह कहा जा सकता है कि वहाँ आमतौर पर जनता ने आर्थिक आज़ादी हासिल कर ली है, और वह देश रूस है, या यो कहो कि सोवियत सघ है।

भारत मे मजहबी विश्वास की आज़ादी के लिए ऐसी कोई लडाई नहीं हुई, क्योकि मालूम होता है यहाँ शुरू से ही इस अधिकार पर कभी कोई पाबन्दी नहीं रही। लोगों को आज़ादी थी कि जो बात उन्हे पसन्द हो उसे मानें और किसी को मजबूर नहीं किया जाता था। लोगो के दिमागो पर असर डालने का तरीक़ा तर्क और वाद-विवाद था, डण्डा और सूली नही। सम्भव है, कभी-कभी जब्र और हिंसा का भी इस्तेमाल किया गया हो, लेकिन पुराने आर्य-मत मे मजहबी विश्वास की आज़ादी का अधिकार माना जाता था। यह बात शायद अजीब मालूम होगी कि इसका नतीजा कोई बहुत अच्छा नही हुआ। इस तरह की खयाली आज़ादी के इतमीनान मे लोग उसके बारे मे काफ़ी जागरूक नही रहे और धीरे-धीरे वे एक नीचे दर्जे के मजहब के कर्मकाण्डों, आडम्बरो और अन्ध-विश्वासो मे उलझते चले गए। उन्होंने एक मजहबी विचारधारा बना ली, जो उन्हे बहुत पीछे घसीट ले गई और जिसने उन्हें मजहबी सत्ता का ग़ुलाम बना दिया। यह सत्ता किसी पोप की या किसी दूसरे व्यक्ति की नही थी, बल्कि यह सत्ता धर्मशास्त्रो, रीतियो और परम्पराओ की थी। इस तरह जहाँ हम मजहबी विश्वास की आज़ादी की दुहाई देते थे और उस

पर गर्व करते थे, वहाँ असल मे हम इस आज़ादी मे बहुत दूर थे और उन विचारो से जकडे हुए थे, जो पुराने ग्रन्थो ने और हमारे रीति-रिवाजो ने हमारे दिलो मे जमा रक्खे थे। सत्ता और सत्तावाद हम पर राज करता था और हमारे दिमाग़ो पर लगाम लगाता था। वे जजीरें, जो कभी-कभी हमारे शरीरो को बाँध देती थी, काफी बुरी होती हैं; लेकिन विचारो और सस्कारो की अदृश्य जजीरें, जो हमारे दिमाग़ों को जकड लेती हैं, उनसे कही ज्यादा बुरी होती हैं। ये जजीरें खुद हमारी ही बनाई होती हैं, और हालाँकि अक्सर हम उन्हें महसूस नही करते, लेकिन वे हमे अपने भयकर शिकजे मे जकडे रहती हैं।

भारत मे मुसलमानो के हमलावर की हैसियत से आने के बाद मजहबी मामलो मे ज़ोर-जबर्दस्ती का कुछ अश दाखिल हो गया। असल मे तो जीतनेवालो और जीते जानेवालो के बीच लडाई राजनीतिक लडाई थी, लेकिन इसमे मजहबी रग आ गया था और कभी-कभी मजहब के नाम पर अत्याचार भी हुए। लेकिन यह खयाल करना भूल होगी कि इस्लाम ऐसे अत्याचारो का हामी था। १६१० ई० मे, जब बाकी बचे अरब लोग स्पेन से निकाल दिये गए थे, तब उनके साथ निकाले गये एक स्पेनी मुसलमान के दिये हुए भाषण का दिलचस्प वर्णन मिलता है। उसने इनक्विज़िशन का विरोध किया था और कहा था—

"क्या हमारे फतहमन्द पुरखो ने कभी एक दफा भी ईसाइयत को स्पेन से नेस्तनाबूद करने की कोशिश की, जबकि वे आसानी से ऐसा कर सकते थे? क्या उन्होंने तुम्हारे बाप-दादो को यह छूट नही दी थी कि बन्धन मे रहते हुए भी वे अपनी मजहबी रस्मो को आजादी से अदा करें अगर ज़बर्दस्ती मजहब बदलने की कुछ घटनाएँ हो भी तो वे इतनी कम हैं कि बयान के लायक नही हैं। ऐसा करनेवाले सिर्फ वे ही होंगे, जिनकी आँखो मे खुदा और रसूल का डर नही था और जिन्होंने ऐसा करके इस्लाम के उन पाक उसूलो और शरीयत[1] की बिलकुल सीधी खिलाफवर्जी[2] की है जिन्हे, कलमा शरीफ[3] के लायक अपने को समझने वाला कोई भी शख्स, बिना तौहीन[4] किये तोड नहीं सकता। हम मुसलमानो मे, तुम दीन के मामले मे मुख्तलिफ अकीदे[5] के बाइस[6] एक भी ऐसी खून की प्यासी बाकायदा अदालत नही बतला सकते जो तुम्हारी मलऊन[7] इनक्विज़िशन के सामने ठहर सके। यह सही है कि जो लोग हमारा मजहब कबूल करना चाहते हैं, हम उनको गले लगाने के लिए हमेशा तैयार हैं, लेकिन कुरान मजीद मे इस बात की इजाज़त नही है कि किसी के जमीर पर[8] जुल्म किया जाय।"

---

[1] मुसलमानों का धर्मशास्त्र। [2] अवहेलना। [3] मुसलमानों का मूलमन्त्र—ला इला लिल्लिलाह, मोहम्मद उरंसूलिल्लाह। [4] अपमान। [5] विश्वासों। [6] कारण। [7] निन्दनीय। [8] धार्मिक विश्वास।

इस तरह मजहबी उदारता और मजहबी विश्वास की आजादी, जो पुराने भारतीय जीवन के खास पहलू थे, किसी हद तक हममे से खिसक गये। उधर यूरोप हमारे बराबर पहुँच गया, बल्कि बहुत लडाई-झगडो के बाद इन्ही सिद्धान्तो को कायम करने मे वह हमसे आगे बढ गया। आज कभी-कभी भारत मे मजहबी झगड़े होते हैं; हिन्दू-मुसलमान आपस मे लडते हैं और एक-दूसरे को मारते हैं। यह सच है कि ऐसा कभी-कभी और कही-कही ही होता है, और हम लोग बहुत करके शान्ति और मेल के साथ रहते हैं, क्योकि हमारे असली हित एक ही हैं। किसी हिन्दू या मुसलमान का, मजहब के नाम पर, अपने भाई से लडना शर्म की बात है। हमे इसे खत्म कर देना चाहिए, और हम ऐसा जरूर करेंगे। लेकिन महत्व की बात तो यह है कि हमे रीति, परम्परा और अन्ध-विश्वास की उस पेचीदा विचार-धारा से बाहर निकलना है, जिसने मजहब के भेस मे हमे जजीरो से बांध रक्खा है।

मजहबी उदारता की तरह राजनीतिक आजादी के मामले मे भी भारत ने पहले काफी अच्छी शुरुआत की थी। तुम्हें ग्राम गणराज्यो की याद होगी और यह भी याद होगा कि शुरू मे राजा के अधिकार किस तरह सीमित माने जाते थे। यूरोप की तरह यहाँ यह नही माना जाता था कि राजा का कोई 'दैवी अधिकार' है। चूंकि हमारी सारी शासन-व्यवस्था का आधार गांवो की आजादी थी, इसलिए लोग इस बात से बेपरवाह थे कि राजा कौन है। अगर उनकी स्थानीय आजादी उनके लिए कायम रहती थी तो उनको इससे क्या वास्ता था कि ऊपर कौन हाकिम है? लेकिन यह विचार खतरनाक और बेवकूफी का था। धीरे-धीरे ऊपर के हाकिम ने अपने अधिकार बढा लिये और गाँव की आजादी पर बेजा दखल जमाया। फिर एक जमाना आया कि इस देश मे बिलकुल निरकुश और एकतन्त्री राजा होने लगे, गाँवो का स्वराज्य मिट गया और ऊपर से नीचे तक कही भी आजादी का नामो-निशान नही रहा।

: ७२ :

## मध्य-युग का अन्त

१ जुलाई, १९३२

आओ, अब तेरहवी से पन्द्रहवी सदी तक के यूरोप पर फिर नजर डालें। यहाँ जबर्दस्त गडबड, हिंसा और लडाई-झगडे दिखाई देंगे। भारत की हालत भी काफी खराब थी, लेकिन अगर विचार किया जाय तो यूरोप के मुकाबले मे यहाँ शान्ति थी।

मगोल लोग यूरोप में बारूद लाये और अब तोप-बन्दूको का इस्तेमाल होने

लगा था। बादशाहो ने इससे फायदा उठाकर अपने बागी सामन्ती अमीर-सरदारो को कुचलना शुरू किया। इस काम मे उन्हे शहरो के नये व्यापारी वर्ग की भी मदद मिली। अमीर-सरदारो की यह आदत थी कि वे खुद आपस मे ही छोटी-छोटी निजी लडाइयाँ लडा करते थे। इसकी वजह से वे कमजोर पड गये। लेकिन इससे गाँववालो को भी परेशानी रहती थी। जब बादशाहो की ताक़त बढी तो उन्होने इस आपसी लडाई को दबा दिया। कुछ जगहो पर गद्दी के दो विरोधी दावेदारो के बीच गृह-युद्ध हुए। जैसे इग्लैण्ड मे दो खानदानो मे झगडा हुआ—एक तरफ यार्क का घराना, और दूसरी तरफ लैन्केस्टर का घराना। इन दोनो दलो ने गुलाब को अपना दल-चिह्न बनाया। एक ने सफेद गुलाब को और दूसरे ने लाल गुलाब को। इन युद्धो को इसीलिए 'गुलाबो के युद्ध'[1] कहा जाता है। इन गृह-युद्धो मे बड़ी सख्या मे सामन्ती अमीर-सरदार मारे गए। क्रूसेडो मे भी बहुत-से काम आये थे। इस तरह धीरे-धीरे ये सामन्ती सरदार कब्जे मे आ गये। लेकिन इसका मतलब यह नही था कि अधिकार अमीर-सरदारो के हाथ से निकलकर जनता के हाथ में पहुँच गये। असल मे शक्ति बादशाह की बढी, आम लोग तो जैसे-के-तैसे ही रहे, सिवा इसके कि खानगी लडाइयो के कम हो जाने से इनकी हालत कुछ बेहतर जरूर हो गई। पर बादशाह और भी ज्यादा सत्ताधारी, निरकुश और एकाधिपति बनता गया। बादशाह और नये व्यापारी वर्ग का सघर्ष अभी शुरू नही हुआ था।

युद्ध और हत्याकाण्ड से भी ज्यादा भयकर वह 'बडी प्लेग' थी, जो यूरोप मे १३४८ ई० के करीब फैली। यह महामारी सारे यूरोप मे, रूस और एशिया-कोचक से लेकर इग्लैण्ड तक, फैल गई। फिर यह मिस्र, उत्तरी अफ्रीका और मध्य एशिया मे पहुँची और वहाँ से पश्चिम की तरफ फैली। इसको 'काली मौत' भी कहते थे। यह लाखो को खा गई। इग्लैण्ड की एक-तिहाई आबादी खत्म हो गई और चीन व दूसरे देशो की मृत्यु-सख्या का तो कुछ ठिकाना ही नही था। ताज्जुब की बात है कि यह भारत मे नहीं आई।

इस भयानक आफत की वजह से आबादी बहुत घट गई, और बहुत जगह तो खेती करने के लिए काफी आदमी ही नही रहे। आदमियो की कमी की वजह से मजदूरो की मजूरी की दरें बढ़ने लगी। लेकिन ससदें जमीदारो और जायदाद के मालिको के हाथो मे थीं। इन लोगो ने ऐसे कानून बनाये कि जिससे लोग पुरानी नीची मजूरी पर काम करने और ज्यादा न माँगने के लिए मजबूर किये जा सकें। जब किसान और ग़रीब बर्दाश्त की हद से ज्यादा कुचले और निचोड गये तब उन्होने विद्रोह कर दिया। सारे पश्चिमी यूरोप मे किसानो के ग्रे विद्रोह एक के बाद एक होते रहे। फ्रान्स मे १३५८ ई० मे किसानो का एक विद्रोह हुआ, जो

---

[1] The Wars of the Roses

'ज्हाकरी' के नाम से मशहूर है। इग्लैण्ड मे वाट टाइलर का बलवा हुआ, जिसमे टाइलर, १३८१ ई० मे, अग्रेज बादशाह के सामने मार डाला गया। ये विद्रोह अक्सर बडी बेरहमी के साथ दबा दिये गए। लेकिन बराबरी के नये विचार धीरे-धीरे फैल रहे थे। लोगो के दिलो मे सवाल पैदा होने लगे कि जब दूसरो के पास धन है और हर चीज की बहुतायत है, तो वे ही गरीब क्यो रहे और भूखे क्यो मरें ? क्या वजह है कि कुछ लोग तो सरदार कहलायें और दूसरे गुलाम असामी हो ? कुछके पास बढ़िया कपडे क्यो हो, जबकि दूसरो के पास तन ढकने के लिए चिथडे तक भी नही हैं ? सत्ता के आगे सिर झुकाने का पुराना खयाल, जिसपर सारी सामन्त-प्रथा की बुनियाद थी, ढह रहा था। इसलिए किसान लोग बार-बार सिर उठाते थे। लेकिन वे कमजोर और बिखरे हुए थे, इसलिए दबा दिये जाते थे। पर कुछ समय बाद वे फिर उठ खडे होते थे।

इग्लैण्ड और फ्रान्स के बीच करीब-करीब लगातार युद्ध चलते रहे। चौदहवीं सदी के शुरू से पन्द्रहवी सदी के मध्य तक, इन दोनो मे युद्ध होता रहा, जो 'सौ वर्ष का युद्ध' कहलाता है। फ्रान्स के पूर्व मे बरगण्डी था। यह एक शक्तिशाली रियासत थी और नाम के लिए फ्रान्स के बादशाह की तावेदार थी। लेकिन यह सरकश और झगडालू रियासत थी और अग्रेजो ने, फ्रान्स के खिलाफ, इससे और दूसरी शक्तियो से साजिश-सी कर ली थी। थोडे दिनो के लिए फ्रान्स चारो ओर से घिर गया था। पश्चिमी फ्रान्स का काफी बडा हिस्सा बहुत दिनो तक अग्रेजो के क़ब्जे मे रहा और इग्लैण्ड का बादशाह अपने को फ्रान्स का बादशाह भी कहने लगा था। जिस समय फ्रान्स के भाग्य का सितारा बहुत नीचे गिर गया था और उसके लिए कोई उम्मीद नही दिखाई देती थी, तब आशा और विजय एक नौजवान किसान लडकी के रूप मे प्रकट हुई। तुम 'ओर्लियो की कुमारी' जीन द आर्क या जोन ऑफ आर्क के बारे मे तो थोडा-बहुत जानती ही हो। उसे तुमने अपनी आदर्श वीर महिला मान रक्खा है। उसने अपने पस्त-हिम्मत देशवासियो के दिलो मे भरोसा पैदा किया और उन्हें बडा भारी उद्योग करने की प्रेरणा दी और उसके नेतृत्व मे फ्रान्सीसियो ने अग्रेजो को अपने देश से मार भगाया। लेकिन इसका इनाम उसे यह मिला कि इनक्विजिशन के सामने उसपर मुकदमा चला और उसे जिन्दा जला दी जाने की सजा दी गई। अग्रेजो ने उसे पकड लिया और ईसाई-सघ से उसके खिलाफ फतवा निकलवाया और फिर १४३० ई० मे रूआँ नगर के चौराहे पर उसे जिन्दा जला दिया गया। बहुत वर्षों के बाद रोमन ईसाई-सघ ने अपने फतवे को बदलकर पहले अपकार को मिटाने की कोशिश की, और बाद मे तो फिर उसे 'सन्त' का दर्जा दे दिया गया।

जीन ने फ्रान्स की और अपनी पितृभूमि को विदेशियो से बचाने की आवाज

उठाई। यह आवाज़ नये ढंग की थी। उस वक्त लोगों में सामन्ती भावना इतनी भरी हुई थी कि वे राष्ट्रीयता का विचार ही नहीं कर सकते थे। इसलिए जोन जिस ढंग से बात करती थी, उससे उन्हें ताज्जुब होता था और उसकी बातें कोई समझता ही नहीं था। लेकिन जोन द आर्क के ज़माने से फ्रान्स में राष्ट्रीयता की हल्की-सी शुरू-आत दिखाई देती है।

अंग्रेज़ों को अपने मुल्क से निकालने के बाद फ्रान्स के बादशाह ने बरगण्डी की तरफ़ ध्यान दिया, जिसने उसे इतना परेशान कर रक्खा था। यह शक्तिशाली रियासत आखिरकार काबू में आ गई और १४८३ ई० में बरगण्डी फ्रान्स का इलाक़ा बन गया। फ्रान्स का बादशाह अब एक शक्तिशाली छत्रपति बन गया। उसने अपने सारे सामन्ती अमीर-सरदारों को या तो कुचल दिया या काबू में कर लिया। बरगण्डी के फ्रान्स में मिल जाने से जर्मनी और फ्रान्स आमने-सामने आ गये; इनकी सरहदें एक-दूसरी को छूने लगीं। लेकिन जहाँ फ्रान्स में एक मज़बूत केन्द्रीय राजतन्त्र था, वहाँ जर्मनी कमज़ोर था और बहुत-सी रियासतों में बँटा हुआ था।

इंग्लैण्ड भी स्काटलैण्ड को जीतने की कोशिश कर रहा था। यह भी एक लम्बा संघर्ष रहा है जिसमें स्कॉटलैण्ड अक्सर इंग्लैण्ड के खिलाफ़ फ्रान्स का पक्ष लेता रहा। १३१४ ई० में स्काटलैण्डवालों ने रॉबर्ट ब्रूस के नेतृत्व में, बैनकबर्न की लड़ाई में अंग्रेज़ों को हरा दिया।

इससे भी पहले, बारहवीं सदी में, अंग्रेज़ों ने आयरलैण्ड को जीतने की कोशिशें शुरू कीं। इस बात को सात सौ वर्ष हो गये, तबसे अब तक आयरलैण्ड में कितनी लड़ाइयाँ हुईं, कितने ही विद्रोह हुए और कितना आतंक और तहलका मचा। इस छोटे-से देश ने विदेशी प्रभुत्व को मानने से बराबर इन्कार किया और पीढ़ी-दर-पीढ़ी विद्रोह करके दुनिया के सामने ऐलान कर दिया कि वह सिर नहीं झुकायेगा।

तेरहवीं सदी में यूरोप के एक और छोटे-से राष्ट्र स्वीज़रलैण्ड ने अपनी आज़ादी के हक़ का दावा किया। यह पवित्र रोमन साम्राज्य का हिस्सा था और इसपर आस्ट्रिया का शासन था। तुमने विलियम टेल और उसके पुत्र का किस्सा पढ़ा होगा, लेकिन यह किस्सा शायद सही नहीं है। पर इससे भी ज्यादा अजीब चीज़ है बड़े साम्राज्य के खिलाफ़ स्वीज़रलैण्ड के किसानों का विद्रोह और उनका उसके सामने सिर झुकाने से इन्कार। पहले तीन ज़िलों ने बलवा किया और १२९१ ई० में एक 'अमर संघ' कायम किया। दूसरे ज़िले भी उसमें शामिल हो गये और १४९९ ई० में स्वीज़रलैण्ड आज़ाद गणराज्य हो गया। यह कई ज़िलों का एक संघ था और इसे 'स्विस कॉन्फेडेरेशन' नाम दिया गया। तुम्हें याद होगा कि अगस्त की पहली तारीख को स्वीज़रलैण्ड में हम लोगों ने कई एक पहाड़ों की चोटियों पर होलियाँ जलती हुई देखी थीं। यह स्विस लोगों का राष्ट्रीय दिवस था; यह उनकी क्रान्ति

के उस जन्म-दिन की सालगिरह थी जिस दिन अलाव जलाकर इशारा किया गया था कि आस्ट्रिया के शासक के खिलाफ बगावत की घडी आ गई है।

यूरोप के पूर्व मे कुस्तुन्तुनिया मे क्या हो रहा था? तुम्हे याद होगा कि लातीनी जिहादियों ने १२०४ ई० मे यूनानियो से यह शहर छीन लिया था। १२६१ ई० मे यूनानियो ने इन लोगो को निकाल दिया और पूर्वी साम्राज्य फिर से कायम कर लिया। लेकिन एक दूसरा और ज्यादा बडा खतरा सामने आ रहा था।

जब मगोल एशिया मे होते हुए आगे बढे थे तब पचास हजार उस्मानी तुर्क उनसे जान बचाकर भाग निकले थे। ये सेलजूक तुर्क नही थे। ये अपने पूर्वज या राजवश के सस्थापक, उस्मान के वशज होने का दावा करते थे, इसलिए उस्मानी तुर्क कहलाते थे। इन उस्मानियो ने पश्चिमी एशिया मे सेलजूको की शरण ली। जान पडता है कि ज्यो-ज्यो सेलजूक तुर्क कमजोर पडते गये, उस्मानियो की ताक़त बढ़ती गई। वे फैलते भी चले गए। कुस्तुन्तुनिया पर हमला करने के बजाय, जैसा कि उनके पहले बहुतो ने किया था, वे उसे रास्ते मे छोड गये और १३५३ ई० मे एशिया को पार करके यूरोप जा पहुँचे। वहाँ वे तेजी से फैल गये। उन्होंने बलगारिया और सर्विया पर कब्जा कर लिया और एड्रियानोपूल को अपनी राजधानी बनाया। इस तरह से उस्मानी साम्राज्य कुस्तुन्तुनिया के दोनो तरफ, एशिया और यूरोप मे फैल गया। इसने कुस्तुन्तुनिया को चारो तरफ से घेर लिया मगर कुस्तुन्तुनिया शहर इसके बाहर ही रहा। हजार वर्ष पुराना घमण्डी पूर्वी रोमन-साम्राज्य घटते-घटते, बस अब इस शहर तक ही रह गया था। इससे ज्यादा कुछ नही। हालाँकि तुर्क पूर्वी साम्राज्य को तेजी के साथ हडप करते जा रहे थे, फिर भी मालूम होता है सुलतानो और सम्राटो मे मित्रता बनी हुई थी और इन दोनो के खानदानो मे आपसी शादी-विवाह भी होते रहते थे। आखिरकार १४५३ ई० मे कुस्तुन्तुनिया पर भी तुर्कों का कब्जा हो गया। अब हम सिर्फ उस्मानी तुर्कों का जिक्र करेंगे। सेलजूको का नाम अब बाकी नही रहा था।

हालाँकि कुस्तुन्तुनिया के पतन की आशका बहुत दिनो से की जा रही थी, फिर भी यह ऐसी घटना थी, जिसने यूरोप को हिला दिया, क्योंकि इसका मतलब यह था कि हजार वर्ष पुराना यूनानी पूर्वी साम्राज्य पूरी तरह खत्म हो गया। इसका मतलब यह भी था कि यूरोप पर मुसलमानो का दूसरा हमला हो। तुर्क फैलते चले गये और कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता था कि वे सारे यूरोप को जीत लेंगे, लेकिन वे वियेना के दरवाजो पर रोक दिये गए।

सेण्ट सोफिया का बडा गिरजा, जिसे छठी सदी मे सम्राट् जस्तीनियन ने बनवाया था, बदलकर मसजिद बना दिया गया और उसका नाम आया सूफिया रख दिया गया। उसका खजाना भी कुछ लूटा गया। इसकी वजह से यूरोप में

कुछ उत्तेजना भी फैली लेकिन वह कुछ कर-धर नही सकता था। मगर सच तो यह है कि तुर्की सुलतान कट्टर यूनानी ईसाई-सघ की तरफ बहुत उदार रहे, यहाँ तक कि कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा करने के बाद सुल्तान मोहम्मद द्वितीय ने अपने को यूनानी ईसाई-सघ का सरपरस्त ही ऐलान कर दिया। बाद के एक सुलतान ने, जो 'शानदार सुलेमान' के नाम से मशहूर है, अपने को पूर्वी सम्राटो का प्रतिनिधि मानकर 'सीज़र' का खिताब धारण कर लिया। प्राचीन परम्परा की यही शक्ति होती है।

जान पडता है कि उस्मानी तुर्कों का कुस्तुन्तुनिया के यूनानियो ने कोई ज्यादा विरोध नही किया। उन्होने देख लिया था कि पुराना साम्राज्य ढह रहा है। उन्होने पोप से और पश्चिमी ईसाइयो से तुर्कों को बेहतर समझा। लातीनी जिहादियो का उन्हे बडा तजुर्बा हो चुका था। कहते है कि १४५३ ई० के कुस्तुन्तुनिया के आखिरी घेरे मे एक बिज़ैन्तीन अमीर ने कहा था कि, "पोप के ताज से रसूल की पगडी अच्छी है।"

तुर्कों ने जॉनिसार नाम की एक निराली फौज बनाई। वे छोटे-छोटे ईसाई लडको को, ईसाइयो से खिराज के रूप मे ले लेते थे और उनको खास तालीम देते थे। छोटे-छोटे बच्चो को उनके माँ-बाप से अलग कर देना बेरहमी थी। लेकिन इन लडको को इसमे कुछ फायदा भी होता था, क्योंकि उन्हे अच्छी तालीम दी जाती थी और वे एक तरह के सैनिक रईस बन जाते थे। जॉनिसारियो की यह फौज उस्मानी सुलतानो की शक्ति का एक आधार बन गई। 'जॉनिसार' का मतलब है 'जान निछावर करनेवाला।"

इसी तरह, मिस्र मे भी जॉनिसारियो के ढग की ममलूको की फौज बनाई गई। बाद मे यह बहुत शक्तिशाली हो गई और इसमे से कोई लोग मिस्र के सुलतान भी हुए।

मालूम होता है कि उस्मानी सुलतानो ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा करने के बाद अपने से पहले के बिज़ैन्तीन सम्राटो की विलास और भ्रष्टाचार की बहुत-सी बुरी आदतें भी विरासत मे ले ली। बिज़ैन्तीनो की सारी गिरी हुई साम्राज्यशाही ने इनको निगल लिया और धीरे-धीरे उनकी सारी ताकत निचोड ली। लेकिन कुछ दिनो तक ये मज़बूत बने रहे और ईसाई यूरोप इनसे डरता रहा। इन्होने मिस्र जीत लिया और अब्बासियो के कमज़ोर और शक्तिहीन प्रतिनिधि से उसका खलीफा का ख़िताब छीन लिया। उस वक्त से उस्मानी सुल्तान अपने को खलीफा भी कहते रहे, लेकिन कुछ वर्ष हुए मुस्तफा कमाल पाशा ने खिलाफत और सुलतानियत दोनो को मिटाकर इस खिताब का अन्त कर दिया।

कुस्तुन्तुनिया के पतन की तारीख इतिहास की एक बडी तारीख है। इस दिन

से एक युग का अन्त और दूसरे की शुरुआत मानी जाती है। मध्य-युग खत्म हो जाते हैं, 'अन्धकार युग' के हज़ार वर्ष समाप्त होते हैं, यूरोप मे तेज़ी पैदा होती है और नई जिन्दगी व चेतना नजर आती है। इसे रिनेसाँ,[1] यानी विद्या और कला के पुनर्जन्म की शुरुआत कहते हैं। जनता मानो लम्बी नींद से जागती है। लोग सदियो पार प्राचीन यूनान की तरफ फिर कर नज़र डालते हैं, जबकि उसकी शान के दिन थे, और उससे प्रेरणा हासिल करते हैं। जीवन के उस निराशा और उदासी भरे नज़रिये के खिलाफ जिसपर ईसाई-सघ जोर देता था, और इन्सानी भावना को जोडनेवाली ज़ंजीरो के खिलाफ, लोगो के दिमाग मे विद्रोह-सा उठ खडा होता है। पुराने यूनानियो का सौन्दर्य-प्रेम फिर प्रकट होता है और यूरोप चित्रकला और मूर्त्तिकला की सुन्दर रचनाओ से खिल उठता है।

लेकिन क़ुस्तुन्तुनिया के पतन से ही ये सब बातें एकदम नहीं पैदा हो गईं। ऐसा खयाल करना बेहूदगी होगी। तुर्कों के इस शहर पर कब्ज़ा कर लेने से परिवर्तन की गति मे ज़रा-सी तेज़ी आ गई, क्योकि बहुत - से विद्वान् और विद्या-व्यसनी लोग इसे छोडकर पश्चिम चले गये। वे अपने साथ इटली मे यूनानी साहित्य का खज़ाना ठीक उस वक्त लेकर आये जबकि पश्चिम उसकी कद्र करने के लिए तैयार बैठा था। इस अर्थ मे कह सकते हैं कि कुस्तुन्तुनिया के पतन से रिनेसाँ की शुरुआत मे थोडी-सी मदद मिल गई।

लेकिन इस महान् परिवर्तन का यह बहुत छोटा कारण था। पुराना यूनानी साहित्य और विचार मध्य-काल के इटली या पश्चिम के लिए कोई नई चीज़ नहीं थे। विश्वविद्यालयो मे लोग अब भी इसका अध्ययन करते थे और विद्वानों को इसकी जानकारी थी। लेकिन यह चीज कुछ गिने-चुने आदमियो तक ही सीमित थी, और चूंकि यह जीवन के चालू नज़रिये से मेल नही खाती थी, इसलिए इसका फैलाव नहीं हो पाता था। लोगो के मन मे शका की शुरुआत होने से धीरे-धीरे जीवन के नये नज़रिये की ज़मीन तैयार हुई। लोग ज़माने की हालत से नाखुश थे और ऐसी चीज़ की तलाश मे थे, जो उन्हे ज्यादा तसल्ली दे सके। जब वे शका और इन्तज़ारी की इस हालत मे थे तो उनके दिमाग़ो ने यूनान की पुरानी मूर्ति-पूजक फिलासफी खोज निकाली और उसके साहित्य का रस छककर पिया। उन्हें जान पडा कि उनको बस इसी चीज़ की तलाश थी और इस खोज ने उनमे जोश भर दिया।

यह रिनेसाँ सबसे पहले इटली मे शुरू हुआ। बाद मे फ्रान्स, इग्लैण्ड, वग़ैरा में प्रकट हुआ। यह सिर्फ़ यूनानी विचार और साहित्य की दुबारा खोज नही थी। यह इससे कहीं ज्यादा बडी और महान् चीज़ थी। यूरोप मे सतह के नीचे-ही-नीचे

[1] रिनेसाँ (Renaissance)—कला और साहित्य के पुनरुत्थान का युग।

बहुत दिनों से जो प्रक्रिया चल रही थी उसीका यह ज़ाहिरा रूप था। यह भीतरी हलचल बहुत-से रूपों में फूटकर निकलनेवाली थी। रिनेसां इन्हीं रूपों में से एक था।

: ७३ :

## समुद्री रास्तों की खोज

३ जुलाई, १९३२

अब हम यूरोप में उस मंज़िल तक पहुँच गये हैं जब मध्यकालीन संसार टुकड़े-टुकड़े होना शुरू होता है और उसकी जगह एक नई व्यवस्था ले लेती है। लोग उस वक्त की हालत से बेज़ार और नाखुश थे और इस भावना ने ही परिवर्तन और तरक्की को पैदा किया। सामन्ती प्रथा और मज़हबी तौर-तरीके जिन वर्गों को निचोटते थे, वे सभी बेज़ार थे। हमने देखा है कि किसानों में विद्रोह होने लगे थे। लेकिन किसान बहुत पिछड़े हुए और कमज़ोर थे और विद्रोह करने पर भी कुछ हासिल न कर सके। उनके दिन अभी तक नहीं आये थे। असली संघर्ष पुराने सामन्त-वर्ग और जागे हुए नये मध्यम-वर्ग में था, जिसकी ताकत बढ़ रही थी। सामन्त-प्रथा का मतलब यह था कि धन की बुनियाद ज़मीन है, या ज़मीन ही धन है। लेकिन अब एक नये किस्म का धन इकट्ठा हो रहा था, जो ज़मीन में पैदा नहीं होता था। यह धन उद्योगों से और व्यापार से आता था और नया मध्यम-वर्ग यानी बुर्जुआ इससे फ़ायदा उठाता था और इसीकी वजह से उसकी ताकत बढ़ी थी। यह संघर्ष काफी दिनों का हो चुका था। अब हम यह देखते हैं कि इन दोनों दलों की हालत में अदला-बदली हो गई थी। हालाँकि सामन्त-प्रथा अभी तक जारी थी, लेकिन उसे अब अपने बचाव की चिन्ता थी और मध्यम-वर्ग अपनी ताकत के भरोसे हमलावर हो रहा था। यह संघर्ष सैकड़ों वर्षों तक जारी रहा और बुर्जुआ की दिन-पर-दिन जीत होती गई। यूरोप के अलग-अलग देशों में इस संघर्ष की जुदी-जुदी सूरत रही है। पूर्वी यूरोप में यह संघर्ष नहीं के बराबर था। पश्चिम में ही मध्यम-वर्ग सबसे पहले आगे आया।

पुरानी बन्दिशों के टूट जाने की वजह से कई दिशाओं में—जैसे विज्ञान में, कला में, साहित्य में और शिल्पकारी में, तरक्की हुई और नई-नई खोजें भी हुईं। जब मनुष्य की भावना-शक्ति अपने बन्धनों को तोड़ डालती है, तो हमेशा यही होता है। वह विकास करती है और फैल जाती है। इसी तरह, जब हमारा देश आज़ाद होगा, हमारे देशवासियों का और हमारी प्रतिभा का विकास होकर सब तरफ फैलाव होगा।

ज्यों-ज्यों ईसाई-संघ का कब्ज़ा ढीला पड़ा और वह कमज़ोर हुआ, लोग

कैबट १४९७
कैबट—१४९८
कोलम्बस १४९२
पोप की सीमा-रेखा
मैगेलन—१५१९
वास्को डि गामा १४९७
वास्को डि गामा १४९८
मैगेलन (वापसी-मार्ग)
फिलिपाइन्स
मैगेलन

समुद्री रास्तों की खोज
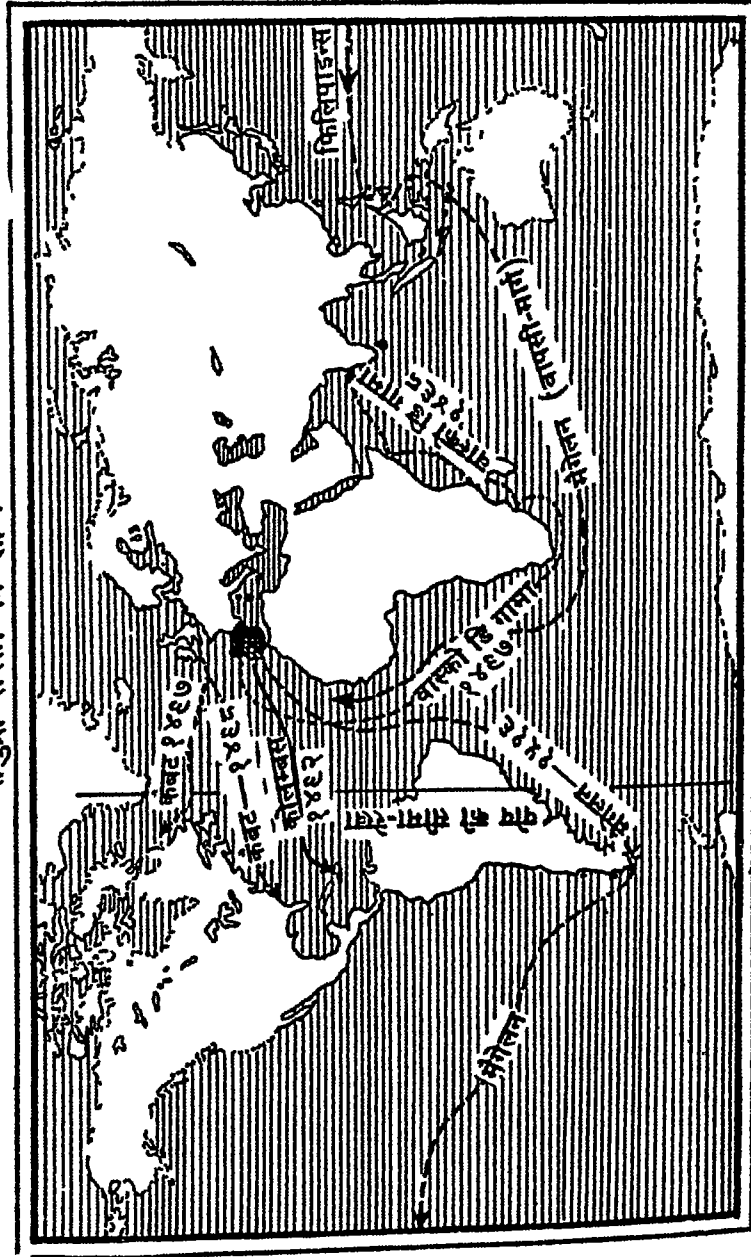
बड़े और छोटे गिरजो पर कम खर्च करने लगे। बहुत जगहो पर सुन्दर इमारतें बनीं। लेकिन ये टाउनहॉल या इसी किस्म की दूसरी इमारतें थी। गोथिक शैली भी पीछे रह गई और एक नई शैली का विकास होने लगा।

ठीक इसी वक्त, जब पश्चिमी यूरोप मे नई जिन्दगी भर रही थी, पूर्व का सोना लोगो को लुभाने लगा। मार्को पोलो और दूसरे यात्रियो की कहानियो ने, जो भारत और चीन मे सफर कर चुके थे, यूरोप की कल्पना को उभाडा और पूर्व की अथाह दौलत के इस जोर ने बहुतों को समुद्र-यात्रा की ओर खीचा। इसी वक्त क़ुस्तुन्तुनिया का पतन हुआ। तुर्कों ने पूर्व जाने के खुश्की और समुद्री रास्तो पर कब्ज़ा कर रक्खा था और वे व्यापार को ज्यादा बढावा नही देते थे। बड़े-बडे सौदागर और व्यापारी इससे खीझ उठे और साहसिको की नई जमात भी, जो पूर्व के सोने पर दाँत लगाये बैठी थी, झल्ला गई। इसलिए इन लोगो ने सुनहरे पूर्व तक पहुंचने के लिए नये रास्ते खोज निकालने की कोशिश की।

स्कूल का हरेक बच्चा जानता है कि ज़मीन गोल है और सूर्य के चारो तरफ घूमती है। हम लोगो के लिए यह बिलकुल स्पष्ट बात है। लेकिन पुराने ज़माने मे यह इतनी ज़ाहिर नही थी और जो लोग ऐसा सोचने या कहने का साहस करते थे, उन्हें ईसाई-सघ की नाराज़गी का सामना करना पडता था। लेकिन ईसाई-सघ का डर होते हुए भी दिन-पर-दिन और ज्यादा लोग मानने लगे कि पृथ्वी गोल है। अगर गोल है तो पश्चिम की ओर जाने से भी चीन और भारत पहुँचना मुमकिन होना चाहिए, ऐसा कुछ लोग सोचते थे। कुछ अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुँचने की सोचते थे। याद रहे कि उस वक्त स्वेज़ नहर नहीं थी और जहाज़ भूमध्यसागर से लालसागर नहीं जा सकते थे। भूमध्यसागर और लालसागर के बीच माल और सौदागरी सामान खुश्की के रास्ते से, शायद ऊँटो पर लादकर, भेजे जाते थे, और दूसरी तरफ के जहाज़ो पर लादे जाते थे। यह ढग सहूलियत का नही था। मिस्र और सीरिया पर तुर्कों का कब्ज़ा हो जाने से यह रास्ता और भी मुश्किल हो गया।

लेकिन भारत की दौलत का लोभ लोगों को बराबर उकसाता और खीचता रहा। खोज करने के लिए समुद्र-यात्रा मे स्पेन और पुर्तगाल सबसे पहले आगे बढे। स्पेन उस वक्त ग्रैनेडा से मूरो को सदा के लिए निकालने मे लग रहा था। अरगॉन के फर्डिनेण्ड और कैस्ताइल की आइज़ाबेला के विवाह से ईसाई स्पेन एक हो गया था और १४९२ ई० मे ग्रैनेडा अरबो के हाथ से जाता रहा। यह उस वक्त की बात है जब यूरोप की दूसरी तरफ, तुर्कों को कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा किये हुए करीब पचास वर्ष हो चुके थे। स्पेन फौरन ही यूरोप की एक बडी ईसाई शक्ति बन गया।

पुर्तगालियो ने पूर्व की तरफ जाने की कोशिश की; स्पेनियो ने पश्चिम की तरफ। १४४५ ई० मे पुर्तगालियो ने वर्दे का अन्तरीप खोज निकाला। इसे सबसे पहली बडी मजिल कहना चाहिए। यह अन्तरीप अफ्रीका का आखिरी पश्चिमी छोर है। अफ्रीका के नकशे को देखो। तुम्हे मालूम होगा कि अगर कोई यूरोप से जहाज के जरिये इस अन्तरीप को जाना चाहे तो उसे दक्षिण-पश्चिम जाना होगा। वर्दे अन्तरीप पहुँचकर फिर उसे घूमकर दक्षिण-पूर्व जाना होता है। इस अन्तरीप की खोज आशा की वडी किरन थी, क्योकि इससे लोगो को विश्वास हो गया कि अब वे अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुँच सकेंगे।

फिर भी अभी अफ्रीका का चक्कर काटने मे चालीस वर्ष की देर थी। १४८६ ई० मे वार्योलोम्यू दायज ने, जो पुर्तगाली था, अफ्रीका की दक्षिणी नोक का चक्कर लगाया। यही नोक उत्तमाशा अन्तरीप[1] कहलाती है। कुछ ही वर्षों के वाद एक दूसरा पुर्तगाली वास्को-द-गामा, इस खोज से फायदा उठाकर, उत्तमाशा अन्तरीप होता हुआ भारत आया। वास्को-द-गामा १४९७ ई० मे मलाबार के किनारे कलीकट आ पहुँचा।

इस तरह भारत पहुँचने की दौड मे पुर्तगालियो की जीत हुई। लेकिन इसी बीच दुनिया की दूसरी तरफ वडी-वडी घटनाएँ हो रही थीं और स्पेन को उनसे फायदा पहुँचनेवाला था। क्रिस्तोफर कोलम्बस १४९२ ई० मे अमेरिका की दुनिया मे जा पहुँचा। कोलम्बस जिनोआ का रहनेवाला एक ग़रीब आदमी था। इस विश्वास पर कि दुनिया गोल है, यह पश्चिम की ओर जहाज ले जाकर जापान और भारत पहुँचना चाहता था। उसे यह खयाल नही हुआ कि यह सफर उसके अन्दाज़े से इतना ज्यादा लम्बा हो जायगा। वह एक राज-दरबार से दूसरे राज-दरवार में इस कोशिश मे फिरा कि कोई राजा उसे इस खोज की समुद्र-यात्रा के लिए मदद दे दे। आखिरकार स्पेन के फर्डिनेण्ड और आइजाबेला मदद देने को तैयार हो गये और कोलम्बस अठ्ठासी आदमियो और तीन छोटे जहाज़ो को लेकर रवाना हुआ। अनजानी दिशा मे यह समुद्र-यात्रा असल मे वीरता और साहस की यात्रा थी, क्योकि कोई यह नही जानता था कि आगे क्या है। लेकिन कोलम्बस के दिल मे विश्वास था और वह विश्वास सही सावित हुआ। उनसठ दिन की समुद्र-यात्रा के बाद वे किनारे लगे। कोलम्बस ने समझा कि यही भारत है। लेकिन असल मे यह वेस्ट-इण्डीज़ का एक टापू था। कोलम्बस कभी अमेरिका के महाद्वीप मे नही पहुँचा और मरते वक्त तक उसका विश्वास रहा कि वह एशिया पहुँच गया। उसकी यह अजीब गलती आज तक कायम है। इन टापुओ को आज तक वेस्ट-इण्डीज़ कहते

[1] Cape of Good Hope.

हैं और अमेरिका के आदिम निवासियो को अब भी इण्डियन या 'रेड इण्डियन' कहते हैं।

कोलम्बस यूरोप वापस आया और दूसरे साल और ज्यादा जहाजो को लेकर फिर निकल पडा। लोगो ने समझा कि भारत का नया रास्ता मालूम हो गया। इससे यूरोप मे काफी हलचल मच गई। इसके कुछ दिन बाद ही वास्को-द-गामा ने पूर्वी यात्रा की जल्दी की और वह कलीकट पहुँचा। पूर्व और पश्चिम मे नये देशो की खोज की खबर से यूरोप की बेकरारी बढने लगी। इन नये देशो पर हुकूमत जमाने की इच्छा रखनेवाले दो प्रतिद्वन्द्वी पुर्तगाल और स्पेन थे। इस मौके पर पोप ने दस्तन्दाजी की और स्पेनियो व पुर्तगालियो के बीच टक्कर को रोकने के लिए उसने दूसरो के बिरते पर उदारता दिखाने का निश्चय किया। १४९३ ई० मे उसने एक 'बुल' (पोप की घोषणाओ और फतवो को किसी कारण 'बुल' कहते है) निकाला जो 'हदबन्दी का बुल' कहलाता है। उसने अज़ोर्स के पश्चिम १०० लीग[1] के फासले पर उत्तर से दक्षिण तक एक फर्जी लकीर खीच दी और यह ऐलान कर दिया कि इस लकीर के पूर्व जितना ग़ैर-ईसाई मुल्क है, वह पुर्तगाल ले ले और इसके पश्चिम के मुल्क स्पेन ले ले। यूरोप को छोडकर करीब-करीब सारी दुनिया का यह शानदार तोहफ़ा था और इसे देने मे पोप को कुछ भी खर्च नही करना पडा। अज़ोर्स अतलान्तिक महासागर के टापू हैं, और उनके पश्चिम मे १०० लीग यानी ३०० मील के फासले पर रेखा खीचने से सारा उत्तर अमेरिका और दक्षिण अमेरिका का ज्यादातर हिस्सा पश्चिम मे पड जाता है। इस तरह से पोप ने दर असल अमेरिका महाद्वीप स्पेन की नज़र कर दिया और भारत, चीन, जापान और दूसरे पूर्वी देश और सारा अफ्रीका पुर्तगाल की भेंट कर दिये।

पुर्तगालियो ने इस बडी सल्तनत पर कब्जा करना शुरू किया। यह कोई आसान काम नही था। लेकिन वे कुछ आगे बढे और पूर्व की तरफ़ बढते गये। १५१० ई० मे वे गोवा पहुँचे। १५११ ई० मे मलाया प्रायद्वीप में मलक्का पहुँचे। इसके बाद ही जावा और १५७६ ई० मे चीन पहुँच गये। इसका मतलब यह नही है कि इन देशो पर उन्होंने कब्जा कर लिया। कुछ जगहो पर उन्हें सिर्फ पांव रखने की जगह मिल गई। किसी अगले पत्र मे हम पूर्व मे इन लोगों की कारगुज़ारियो की चर्चा करेंगे।

पूर्व की ओर जानेवाले पुर्तगालियो मे फर्डिनेण्ड मैगेलन नाम का एक आदमी था। वह अपने पुर्तगाली मालिको से लड पडा और यूरोप वापस जाकर स्पेन की प्रजा बन गया। उत्तमाशा अन्तरीप से होकर पूर्वी रास्ते से यह भारत और पूर्वी द्वीपों को जा चुका था। अब वह पश्चिमी रास्ते से अमेरिका होकर इन देशों को

[1] लीग—करीब तीन मील के बराबर होता है।

जाना चाहता था। शायद उसको यह मालूम था कि जिस मुल्क का पता कोलम्बस ने लगाया था वह एशिया नही था। वास्तव मे १५७३ ई० मे बलबोआ नामक एक स्पेनी मध्य अमेरिका मे पनामा के पहाडो को लाँघ कर प्रशान्त महासागर पहुँच गया था। उसने इस समुद्र को दक्षिण समुद्र नाम दिया और इसके किनारे पर खडे होकर उसने दावा किया कि यह नया समुद्र और इसके किनारो के तमाम देश उसके स्वामी स्पेन के बादशाह की मिल्कियत हैं।

१५१९ ई० मे मैंगेलन अपनी पश्चिमी समुद्र-यात्रा पर रवाना हुआ। यह यात्रा उसकी सबसे बडी यात्रा साबित होनेवाली थी। उसके साथ पाँच जहाज़ और २७० आदमी थे। वह अतलान्तिक महासागर पार करके दक्षिण अमेरिका पहुँचा और वहाँ से दक्षिण की तरफ सफर करते-करते वह आखिर मे इस महाद्वीप के छोर तक पहुँच गया। उसका एक जहाज तो टूटकर नष्ट हो गया और दूसरा उसे छोडकर भाग गया। सिर्फ तीन जहाज़ बचे। इन तीन जहाज़ो को लेकर वह दक्षिण अमेरिका के महाद्वीप और एक टापू के बीच के तग जलडमरूमध्य को पार कर दूसरी तरफ के खुले समुद्र मे जा निकला। इस समुद्र को उसने प्रशान्त महासागर नाम दिया, क्योंकि अतलान्तिक के मुकाबिले मे यह बहुत ज्यादा शान्त था। प्रशान्त महासागर तक पहुँचने मे उसे १४ महीने लगे। जिस जलडमरूमध्य से वह गुज़रा था, वह अभी तक उसी के नाम पर 'मैंगलन का जलडमरूमध्य' कहलाता है।

आगे भी मैंगेलन ने बहादुरी के साथ अपनी यात्रा उत्तर की तरफ और इसके बाद अनजाने समुद्र मे उत्तर-पश्चिम की तरफ जारी रक्खी। उसके सफर का यह हिस्सा सबसे ज्यादा भयकर था। कोई नही जानता था कि इसमे इतने दिन लग जायँगे। करीब चार महीने, और हिसाब से ठीक गिना जाय तो १०८ दिन, वे समुद्र के बीच बिना खाना-पानी के भटकते रहे। आख़िरकार , बडी तकलीफें उठाने के बाद, वे फिलिपाइन द्वीप पहुँचे। वहाँ के लोगो ने उनके साथ दोस्ती का सलूक किया। उन्हे खाने-पीने का सामान दिया और उनके साथ भेंटो की अदला-बदली की। लेकिन स्पेनवाले बदमिज़ाज और शान जमानेवाले थे। मैंगेलन ने वहाँ के दो सरदारो की आपसी मामूली लडाई मे भाग लिया और मारा गया। और भी बहुत-से स्पेनियों को इन टापुओं के निवासियो ने मार डाला, क्योंकि उन्होंने शान गाँठने का रवैया अपनाया था।

स्पेनी लोग मसाले के द्वीपो की तलाश मे थे, जहाँ से कि कीमती गरम मसाले आया करते थे। वे इन्हीकी तलाश मे आगे बढते गये। उनका एक जहाज बेकार हो गया, इस कारण उसे जला देना पडा, बाकी सिर्फ दो बचे। यह तय हुआ कि इनमे से एक जहाज़ तो प्रशान्त महासागर होकर और दूसरा उत्तमाशा अन्तरीप

होकर वापस स्पेन जाय। पहला जहाज़ तो ज़्यादा दूर नही जा सका, क्योंकि उसे पुर्तगालियो ने पकड लिया। लेकिन दूसरा जहाज़, जिसका नाम 'वित्तोरिया' था, चुपचाप अफ्रीका का चक्कर काटता हुआ रवाना होने के ठीक तीन वर्ष बाद, १५२२ ई० मे, सिर्फ अठारह आदमियो के साथ स्पेन मे सैविले जा पहुँचा। सारी दुनिया का चक्कर लगानेवाला यह पहला जहाज़ था।

मैंने तुमको 'वित्तोरिया' की समुद्री-यात्रा का विस्तार से हाल बताया है क्योंकि यह अद्भुत यात्रा थी। आजकल हम बहुत आराम के साथ सागरो को पार कर लेते है और बडे जहाजो पर लम्बे-लम्बे सफर करते हैं। लेकिन इन शुरू के समुद्र-यात्रियो का खयाल करो कि उन्होंने हर तरह के खतरो और सकटो का सामना किया और अज्ञात मे गोते लगाकर अपने बाद के लोगो के लिए समुद्री-रास्तों की खोज की। उस जमाने के स्पेनी और पुर्तगाली बडे घमण्डी, शानवाज़ और बेरहम थे, लेकिन वे अद्भुत तौर पर बहादुर भी थे और जोखिम उठानेवाले साहस की भावना से भरे हुए थे।

जिस वक्त मैगेलन दुनिया का चक्कर लगा रहा था, कोर्तीज़ मैक्सिको के शहर मे दाखिल हो रहा था और अज़टेक साम्राज्य को स्पेन के बादशाह के लिए फतह कर रहा था। मैं तुम्हें इसके बारे मे और अमेरिका की मय सभ्यता के बारे में थोडा पहले ही बता चुका हूँ। कोर्तीज़ १५१९ ई० मे मैक्सिको पहुँचा। पिज़ारो १५३० ई० मे दक्षिण अमेरिका के 'इनका' साम्राज्य मे (जहाँ अब पेरू है) पहुँचा। हिम्मत और दिलेरी मे, बेरहमी और फरेब से और वहाँ के लोगो के अन्दरूनी झगडो से फायदा उठाकर कोर्तीज़ और पिज़ारो दोनो पुराने साम्राज्यो को खत्म करने मे सफल हो गये। लेकिन ये दोनो साम्राज्य पुराने जमाने की चीज़ हो गये थे और कुछ हद तक बहुत आदिम थे। इसलिए बालू की दीवार की तरह ये पहले ही धक्के मे गिर गये।

ये बडे-बडे तलाश करनेवाले, और खोज करनेवाले जहाँ-जहाँ पहुँच चुके थे वहाँ-वहाँ उनके बाद लूटमार के लोभी और मौका-परस्तो के झुण्ड-के-झुण्ड पहुँचने लगे। खासकर स्पेनी अमेरिका को तो इन झुण्डो ने बहुत नुकसान पहुँचाया। यहाँतक कि कोलम्बस के साथ भी इन लोगो ने बहुत बुरा बर्ताव किया। लेकिन साथ-ही-साथ पेरू और मैक्सिको से स्पेन को सोने और चाँदी की नदियाँ बराबर बह रही थी। इन क़ीमती धातुओ की इतनी ज़्यादा मात्रा स्पेन पहुँची कि उससे यूरोप की आँखें चकाचौंध हो गई और स्पेन यूरोप की सबसे बडी शक्ति बन गया। यह सोना और चांदी यूरोप के दूसरे देशो को भी गया और इस तरह पूर्व की पैदावार खरीदने के लिए उनके पास धन-दौलत की बहुतायत हो गई।

पुर्तगाल और स्पेन की कामयाबी से दूसरे देशो के लोगो की, खासकर फ्रान्स

इंग्लैण्ड, हॉलैण्ड और उत्तर जर्मनी के शहरो के लोगो की कल्पनाओ मे सनसनी पैदा होना स्वाभाविक ही था। पहले इन लोगों ने इस बात की बड़ी कोशिश की कि उत्तरी रास्ते से एशिया और अमेरिका पहुंचने का, यानी नार्वे के उत्तर से होकर पूर्व जाने का, और ग्रीनलैण्ड होकर पश्चिम जाने का, कोई रास्ता मिल जाय। लेकिन वे इसमें नाकामयाब रहे और उन्हें जाने हुए रास्तो को ही पकड़ना पड़ा।

वह जमाना भी क्या ही अचरजभरा रहा होगा, जबकि दुनिया सामने खुलती हुई और अपने खज़ानो और चमत्कारो को ज़ाहिर करती हुई दिखाई दे रही थी! एक के बाद दूसरी नई खोजें हो रही थीं और नये महाद्वीप, नये समुद्र, और अपार दौलत मानो अलादीन की जादू-भरी पुकार 'खुल जाओ सम-सम' का इन्तज़ार कर रही थी। उस हवा मे ही इन साहस-भरे कारनामो के जादू की साँस चल रही होगी।

दुनिया अब संकरी हो गई है और इसमे खोज की गुंजाइश नहीं रही, कम-से-कम अभी तो ऐसा मालूम होता है। लेकिन ऐसा है नहीं, क्योंकि विज्ञान ने ज़बर्दस्त नये नज़ारे खोल डाले हैं, जिनका भेद मालूम करने की ज़रूरत है और साहस के कारनामो की भी कोई कमी नही है—खासकर आज के भारत मे।

: ४७ :

## मंगोल साम्राज्यों का बिखरना

९ जुलाई, १९३२

मैंने तुम्हें बताया है कि मध्य युग कैसे गुज़र गये, यूरोप मे नई भावना, कैसे जागी और नई चेतना-शक्ति कैसे आई, जो कितने ही रास्तो से फूट निकली। यूरोप में मानो हलचल और रचनात्मक उद्यम की लहर दौड़ रही थी। वहाँ के निवासी सदियो तक कूप-मण्डूको की तरह अपने छोटे-छोटे देशो मे पड़े रहने के बाद एकदम बाहर निकल पड़े और लम्बे-चौड़े समुद्रो को पार करके दुनिया के कोने-कोने मे पहुँचने लगे। अपनी ताकत मे भरोसा रखते हुए वे विजेताओ की तरह बढ़ते चले गए। इसी भरोसे ने उन्हे हिम्मत दी और उनसे अद्भुत काम कराये।

लेकिन तुम अचम्भा करती होगी कि यह अचानक परिवर्तन कैसे पैदा हुआ। तेरहवी सदी के बीच मे एशिया और यूरोप मे मंगोलो का बोलबाला था। पूर्वी यूरोप उनके कब्ज़े मे था; पश्चिमी यूरोप इन बड़े-बड़े और अजय-दिखाई देने-वाले योद्धाओ के आगे थर्राता था। खान महान् के एक सेनापति तक के मुकाबले में यूरोप के बादशाहो और सम्राटो की क्या हस्ती थी?

दो सौ वर्षों बाद, कुस्तुन्तुनिया का शाही नगर, और दक्षिण-पूर्वी यूरोप का काफ़ी हिस्सा, उस्मानी तुर्कों के कब्ज़े मे आ गया था। मुसलमानो और ईसाइयो मे ८०० वर्षों की लडाई के बाद वह वडा इनाम, जिसने अरबो और सेलजूक तुर्कों को लुभाकर खीचा था, उस्मानियो के हाथ मे आया। उस्मानी सुल्तानो को इतने से तसल्ली न हुई और यूरोप पर ही नही बल्कि रोम पर भी लालच-भरी निगाहें डालने लगे। वे जर्मन (पवित्र रोमन) साम्राज्य और इटली पर जा धमके। हगरी को जीतकर वे वियेना के दरवाज़े पर और इटली की सरहद तक पहुंच गये। पूर्व मे उन्होंने बग़दाद को अपने साम्राज्य मे मिला लिया और दक्षिण मे मिस्र को। सोलहवी सदी के मध्य में सुलतान सुलेमान, जिसे 'शानदार' कहा जाता है, इस विशाल तुर्की साम्राज्य पर राज करता था। समुद्रो में भी उसके जहाज़ी बेडे सब पर हावी थे।

फिर यह परिवर्तन कैसे हुआ? यूरोप मगोलो के खतरे से कैसे बचा? तुर्की खतरे से उसने अपनी जान कैसे बचाई? कैसे उसने न सिर्फ अपनी ही जान बचाई बल्कि खुद दूसरो पर चढाई करने लगा और दूसरों के लिए खतरा बन गया।

लेकिन यूरोप पर मगोलो का यह खतरा बहुत दिन नही रहा। वे खुद ही एक नये खान का चुनाव करने के लिए वापस चले गए और फिर लौटकर नहीं आये। पश्चिमी यूरोप उनके वतन मगोलिया से बहुत दूर था। शायद इसने उन्हे इसलिए भी न खीचा हो कि यह घने जगलो का देश था और वे खूब खुले मैदानो और बीड की जमीनो पर रहने के आदी थे। बहरहाल पश्चिमी यूरोप मगोलो से बच गया—अपनी किसी बहादुरी की वजह से नही, बल्कि मगोलों की लापरवाही और उनके दूसरे कामों मे फंसे रहने की वजह से। पूर्वी यूरोप मे वे कुछ ज्यादा दिन रहे जबतक कि मगोलो की शक्ति धीरे-धीरे खत्म न हो गई।

मैं पहले ही बता चुका हूं कि १४५२ ई० मे तुर्कों की कुस्तुन्तुनिया पर विजय यूरोप के इतिहास में एक ऐसी घटना मानी जाती है, जिससे उसके इतिहास का रुख ही बदल गया। सुभीते के लिए यह कह सकते हैं कि उस वक्त से मध्य-युग खत्म हुए और नई भावना यानी रिनेसां का आना हुआ, जो कितनी ही दिशाओ मे फूली। इसी तरह सयोग से ठीक उसी वक्त, जब तुर्क यूरोप पर चढे आ रहे थे, और तुर्कों की कामयाबी की काफी सम्भावना नजर आती थी, यूरोप अपने पांवों पर खडा हो गया और उसने अपने अन्दर ताकत पैदा कर ली। तुर्क पश्चिमी यूरोप मे कुछ अर्से तक बढ़ते चले गए, और जब वे बढ रहे थे, यूरोप के खोजी नये-नये देशो और समुद्रो का पता लगा रहे थे और पृथ्वी के चारो तरफ चक्कर लगा रहे थे। सुलतान शानदार सुलेमान के ज़माने मे, जिसने १५२० से १५६६ ई० तक राज

किया, तुर्की साम्राज्य वियेना से बगदाद और काहिरा तक फैल गया। लेकिन इसके आगे वे नही बढ़ सके। तुर्क लोग यूनानियो के कुस्तुन्तुनिया की कमजोर और भ्रष्ट करनेवाली परम्पराओ के शिकार हो रहे थे। इधर यूरोप की ताकत बढ़ती जाती थी, उधर तुर्क अपनी पुरानी क्रिया-शक्ति खो रहे थे और कमजोर पडते जा रहे थे।

पुराने युगो मे घूमते हुए हमने देखा कि एशिया ने यूरोप पर बहुत बार चढ़ाइया की। यूरोप ने भी एशिया पर कुछ हमले किये, लेकिन उनका कोई महत्व नही था। सिकन्दर एशिया को पार करता हुआ भारत आया था, लेकिन इससे कोई बडा असर नही पडा। रोमन लोग इराक के आगे कभी नही बढे। दूसरी तरफ एशिया के कबीलो ने शुरू जमाने से ही यूरोप पर बार-बार धावे मारे। इन एशियाई हमलो मे यूरोप पर उस्मानी तुर्कों का हमला आखिरी था। हम देखते हैं कि धीरे-धीरे पलडा उलट जाता है और यूरोप हमलावर बनता जाता है। यह परिवर्तन सोलहवी सदी के बीच के लगभग हुआ समझना चाहिए। अमेरिका, जिसका पता हाल ही मे चला था, यूरोप के सामने बहुत जल्द पस्त हो गया। लेकिन एशिया कुछ ज्यादा कठिन समस्या साबित हुआ। दो सौ वर्षों तक यूरोप के लोग एशियाई महाद्वीप के कई हिस्सो मे पैर जमाने की जगह तलाश करते रहे और अठारहवी सदी के मध्य तक एशिया के कुछ हिस्सो पर हावी हो गये। यह बात ध्यान मे रखने की है, क्योकि कुछ लोग, जो इतिहास नही जानते, समझते हैं कि यूरोप ने हमेशा एशिया पर हुकूमत की है। हम आगे चलकर देखेंगे कि यूरोप का यह नया नाटकी पार्ट बहुत हाल का है और अब पर्दा बदलना शुरू भी हो गया है और यह पार्ट पुराना नजर आने लगा है। पूर्व के तमाम देशो मे नई भावनाएँ जाग रही हैं और शक्तिशाली आन्दोलन, जिनका उद्देश्य आजादी हासिल करना है, यूरोप की हुकूमत को चुनौती दे रहे हैं और हिला रहे हैं। इन राष्ट्रीय भावनाओ से भी ज्यादा व्यापक और गहरी वे समानता की समाजी भावनाएँ हैं, जो सारे साम्राज्यवाद और शोषण का खात्मा कर देना चाहती हैं। भविष्य मे यह सवाल कतई नही रहेगा कि एशिया पर यूरोप की हुकूमत हो, या यूरोप पर एशिया की, या एक देश दूसरे का शोषण करे।

यह लम्बी भूमिका हो गई। अब हम फिर मगोलो की चर्चा करेंगे। कुछ देर उनके चढाव-उतार के साथ-साथ चलकर हमे देखना है कि उनकी क्या हालत हुई। तुम्हें याद होगा कि कुबलइखाँ, आखिरी खान महान् था। १२९२ ई० मे उसकी मौत के बाद वह विशाल साम्राज्य, जो एशिया मे कोरिया से लेकर यूरोप मे हगरी और पोलैण्ड तक फैला हुआ था, पाँच साम्राज्यो मे बँट गया। इन पाँचो साम्राज्यों मे हरेक वास्तव मे एक-एक बडा साम्राज्य था। मैंने अपने एक पिछले पत्र मे इन पाँचो के नाम दे दिये है।

इन पाँचों मे चीन का साम्राज्य मुख्य था, जिसमे मचूरिया, मगोलिया, तिब्बत, कोरिया, अनाम, टाङ्किङ, और बरमा का कुछ हिस्सा शामिल था। युआन राजवश, जो कुबलई का वशज था, इस साम्राज्य का वारिस हुआ। लेकिन बहुत दिनो के लिए नही। बहुत जल्दी ही दक्षिण मे इसके टुकडे टूट-टूटकर अलग होने लगे और, जैसा मैने तुम्हे बताया है, १३६८ ई० मे, कुबलई के मरने के ठीक ७४ वर्ष बाद, यह राजवश खत्म हो गया और मगोल लोग निकाल बाहर किये गए।

बहुत दूर पश्चिम मे सुनहरे कबीले का साम्राज्य था—इन लोगो का यह क्या ही लुभावना नाम था! रूसी अमीर-सरदारो ने कुबलई की मृत्यु के बाद २०० वर्षो तक इन लोगो को खिराज दिया। इस जमाने के आखीर मे, यानी १४८० ई० के लगभग, साम्राज्य कुछ कमजोर पड रहा था और मास्को के ग्राण्ड ड्यूक ने, जो रूसी अमीर-सरदारो का मुखिया बन बैठा था, खिराज देने से इन्कार कर दिया। इस ग्राण्ड ड्यूक का नाम महान् आइवन था। रूस के उत्तर मे नोवगोरोद का पुराना गणराज्य था, जो व्यापारियो और सौदागरो के हाथ मे था। आइवन ने इस गणराज्य को हराकर अपनी रियासत मे मिला लिया। इसी बीच कुस्तुन्तुनिया तुर्कों के हाथ मे पहुँच चुका था और पुराने सम्राटो का खानदान वहाँ से भगा दिया गया था। आइवन ने इस पुराने शाही घराने की एक लडकी से शादी करली और इस बात का दावा करने लगा कि वह उस शाही वश का है और पुराने बिजैन्तियम का वारिस है। रूसी साम्राज्य, जो १९१७ ई० की क्रान्ति मे हमेशा के लिए खत्म हो गया, इसी महान् आइवन की कार्रवाइयो से, इस तरह शुरू हुआ था। इसके पोते ने, जो बडा बेरहम था और इसीलिए 'भयकर आइवन' कहलाता था, 'जार' का खिताब धारण किया, जिसका अर्थ कैसर या सम्राट् होता था।

नर-मुण्डो के बडे-बडे ढेर लगवाने मे उसे खास मजा आता था। पूर्व मे दिल्ली से लगाकर पश्चिम मे एशिया-कोचक तक, उसने लाखो आदमी कत्ल करा डाले और उनके कटे सिरो को स्तूपो की शक्ल मे जमवाया।

चगेजखाँ और उसके मगोल भी बेरहम और बरबादी करनेवाले थे, पर वे अपने जमाने के दूसरे लोगो की तरह ही थे। लेकिन तैमूर उससे ज्यादा बुरा था। बे-लगाम और शैतानी जुल्म मे उसका मुकाबला करनेवाला कोई दूसरा नहीं था। कहते हैं कि एक जगह उसने २००० जिन्दा आदमियो की एक मीनार बनवाई और उन्हे ईंट और गारे से चुनवा दिया।

भारत की दौलत ने इस वहशी को भी खीचा। अपने सेनापतियो और अमीर-सरदारो को भारत पर चढाई करने के लिए राजी करने मे इसे कुछ दिक्कत हुई। समरकन्द में एक बडी सभा हुई, जिसमे अमीर-सरदारो ने भारत जाने पर इसलिए ऐतराज उठाया कि वहाँ गर्मी बहुत पडती है। अन्त मे तैमूर ने वादा किया कि वह भारत मे ठहरेगा नही, लूट-मार करके वापस चला आयेगा और उसने अपना वादा पूरा किया।

तुम्हे याद होगा कि उत्तर भारत मे उस वक्त मुसलमानी राज था। दिल्ली मे एक सुलतान राज करता था। लेकिन यह मुसलमानी सल्तनत कमजोर थी और सरहद पर मगोलों से बराबर लडाइयाँ करते-करते इसकी कमर टूट गई थी। इसलिए जब तैमूर मगोलो की फौज लेकर आया, तो उसका कोई बडा मुकाबला नही हुआ और वह हत्याकाड करता और खोपडियो के स्तूप बनाता हुआ मजे के साथ आगे बढता गया। हिन्दू और मुसलमान दोनो कत्ल किये गए। मालूम होता है, उनमे कोई फर्क नही किया गया। जब ज्यादा कैदियो को सम्हालना मुश्किल हो गया तो उसने उनके कत्ल का हुक्म दे दिया और एक लाख कैदी मार डाले गये। कहते हैं कि एक जगह हिन्दुओ और मुसलमानो दोनो ने मिलकर जौहर की राजपूती रस्म अदा की थी, यानी युद्ध मे लडते-लडते मर जाने के लिए वे बाहर निकल पडे थे। लेकिन दिल दहलानेवाली इस कहानी को बार-बार दोहराते रहने की मेरी इच्छा नही है। रास्ते भर वह यही करता गया। तैमूर की फ़ौज के पीछे-पीछे अकाल और महामारी चलती थी। दिल्ली मे वह पन्द्रह दिन रहा और उसने इस बडे शहर को कसाईखाना बना दिया। बाद मे कश्मीर को लूटता हुआ वह समरकन्द वापस लौट गया।

हालांकि तैमूर वहशी था, पर वह समरकन्द मे, मध्य-एशिया मे और दूसरी जगहो पर बढिया इमारतें बनवाना चाहता था। इसलिए बहुत दिन पहले के सुलतान महमूद की तरह उसने भारत के कारीगरो, राजगीरो और होशियार मिस्त्रियों को इकट्ठा किया और उन्हे अपने साथ ले गया। इनमें जो सबसे अच्छे राजगीर

और कारीगर थे उन्हें उसने अपनी शाही नौकरी मे रख लिया। बाकी को उसने पश्चिमी एशिया के खास-खास शहरो मे भेज दिया। इस तरह इमारतें बनाने की कला की एक नई शैली का विकास हुआ।

तैमूर के जाने के बाद दिल्ली मुर्दों का शहर रह गया था। चारो तरफ अकाल और महामारी का खुला राज था। दो महीने तक न कोई राजा था, न शासन, न व्यवस्था। बहुत कम लोग वहाँ रह गये थे। यहाँ तक कि जिस आदमी को तैमूर ने दिल्ली मे अपना नायब मुकर्रर किया था, वह भी मुलतान चला गया।

इसके बाद तैमूर ईरान और इराक मे तबाही और बर्बादी फैलाता हुआ पश्चिम की तरफ बढ़ा। अकारा मे १४०२ ई० मे उस्मानी तुर्कों की एक बहुत बड़ी फ़ौज के साथ इसका मुकाबला हुआ। बहुत होशियार सिपहसालारी से इसने इन तुर्कों को हरा दिया। लेकिन समुद्र के आगे उसका बस नही चला, और वह दर्रे दानियाल को पार न कर सका। इसलिए यूरोप उससे बच गया।

तीन वर्ष बाद, १४०५ ई० मे, जबकि वह चीन की तरफ कूच कर रहा था, तैमूर मर गया। उसीके साथ उसका लम्बा-चौडा साम्राज्य भी, जो करीब-करीब सारे पश्चिमी एशिया मे फैला हुआ था, ढह गया। उस्मानी तुर्क, मिस्र और सुनहरे क़बीले इसे खिराज देते थे। लेकिन उसकी योग्यता सिर्फ उसकी निराली सिपहसालारी तक ही सीमित थी। साइबेरिया के बर्फिस्तान मे उसकी कुछ चढ़ाइयाँ असाधारण रही हैं। पर असल मे वह एक जगली घुमक्कड था, उसने न तो कोई सगठन बनाया और न चगेज की तरह साम्राज्य चलाने के लिए अपने पीछे कोई क़ाबिल आदमी ही छोडे। इसलिए तैमूर का साम्राज्य उसीके साथ खत्म हो गया और सिर्फ़ बर्बादी और नर-हत्याओ की यादगार भर छोड गया। मध्य एशिया मे होकर जितने भी हौसलेबाज और विजेता गुज़रे हैं, उनके झुण्ड मे चार के नाम लोगो को अभी तक याद हैं—सिकन्दर, सुलतान महमूद, चगेज़खाँ और तैमूर।

उस्मानी तुर्कों को हराकर तैमूर ने उन्हे हिला डाला। लेकिन वे बहुत जल्द फिर पनप गये और आगे पचास वर्षो के अन्दर, यानी १४५३ ई० मे, उन्होंने कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा कर लिया।

अब हमे मध्य एशिया से बिदा ले लेनी चाहिए। सभ्यता के दर्जे मे वह नीचे चला जाता है और धुंधले पर्दे मे छिप जाता है। अब वहाँ कोई ऐसी बात नही होती जिस पर हम ध्यान दे। सिर्फ उन पुरानी सभ्यताओ की यादगार बाक़ी रह जाती है, जिन्हें आदमी ने अपने हाथ से नष्ट कर दिया। क़ुदरत ने भी उस पर भारी मार की और धीरे-धीरे वहाँ की आबहवा को ज्यादा खुश्क और आदमियो के कम रहने लायक बना दिया।

हमे मगोलो से भी बिदा ले लेनी चाहिए, सिवाय उनकी एक शाखा के जो

बाद मे भारत आई और जिसने यहाँ एक बडा और मशहूर साम्राज्य कायम किया। लेकिन चगेज़ख़ाँ और उसके वशजो का साम्राज्य बिखर गया। मगोल फिर अपने छोटे-छोटे सरदारों और अपनी कबीली आदतो मे पड जाते हैं।

## : ७५ :

# भारत एक कठिन समस्या से जूझता है

१२ जुलाई, १९३२

मैं तैमूर और उसके हत्याकाण्डो और नर-मुण्डो के स्तूपो के बारे मे लिख चुका हूँ। यह सब कितनी हौलनाक और वहशियाना बातें मालूम होती हैं! हमारे इस सभ्य युग मे ऐसी बात नही हो सकती। लेकिन यह भी यकीन के साथ नहीं कहा जा सकता। हाल ही मे हमने देखा है और सुना है कि हमारे ज़माने मे भी क्या हो सकता है और क्या होता है। चगेजखाँ और तैमूर का किया हुआ जान और माल का नुकसान, हालाँकि बहुत ज्यादा था, फिर भी वह १९१४-१८ ई० के महायुद्ध मे हुई बर्बादी के मुकाबले नही के बराबर जचता है। और मगोलो के हरेक ज़ुल्म की होड करनेवाली भीषणता के नमूने आज के ज़माने मे भी मिल सकते हैं।

फिर भी, इसमे कोई शक नही कि चगेज और तैमूर के ज़माने से आज हमने सैंकडो बातो मे प्रगति की है। यही नही कि आजकल की ज़िन्दगी कही ज्यादा पेचीदी बन गई है, बल्कि वह ज्यादा सम्पन्न भी है। क़ुदरत की कितनी ही ताकतें खोज निकाली गई हैं, उनको समझने की कोशिश की गई है और उन्हें इन्सान के फायदे के लिए काम मे लगाया गया है। इसमे शक नहीं कि दुनिया आज ज्यादा सभ्य और सुसस्कृत है। फिर हम युद्ध-काल मे पुराना जगलीपन क्यो इख्तियार कर लेते है? इसकी वजह यह है कि युद्ध खुद ही सभ्यता और सस्कृति का प्रतिवाद है। युद्ध का सभ्यता और सस्कृति से सिर्फ इतना ही ताल्लुक है कि यह सभ्य दिमाग से फायदा उठाकर ज्यादा-से-ज्यादा शक्तिशाली और खौफनाक हथियारो के आविष्कार कराता है और उनका इस्तेमाल कराता है। जब युद्ध शुरू होता है तो बहुत-से आदमी, जो इसमे लगे-फँसे होते हैं, अपने-आपको उत्तेजना की भयानक हालत मे पहुँचा देते हैं। सभ्यता की सिखाई हुई बहुत-सी बातें भूल जाते हैं, सचाई को और ज़िन्दगी की शराफतो को भुला देते हैं, और हज़ारो वर्ष पुराने अपने वहशी पूर्वजो के समान बन जाते हैं। फिर इसमे ताज्जुब की बात क्या है कि युद्ध जब कभी छिडता है तो डर व नफरत पैदा करनेवाली चीज़ होता है।

अगर कोई अजनबी दूसरी दुनिया से इस दुनिया मे युद्ध के ज़माने मे आ जाय

तो वह क्या कहेगा ? मान लो कि उसने हमे सिर्फ युद्ध के समय ही देखा, शान्ति के समय नही। वह सिर्फ युद्ध के आधार पर हमारे बारे मे अपनी राय कायम करेगा और इस नतीजे पर पहुंचेगा कि हम लोग बेरहम, बेतरस और वहशी हैं, कभी-कभी साहस और त्याग दिखा देते हैं, लेकिन कुल मिलाकर देखा जाय तो हमारी जिन्दगी के नजात देनेवाले कोई पहलू नही, सिर्फ एक ही सबसे बडा जुनून है कि एक दूसरे को मारें और बर्बाद करें। वह हमारे बारे मे गलत राय कायम करेगा और हमारी दुनिया के बारे मे थोडा खयाल बना लेगा, क्योंकि वह एक खास मौके पर, जो हमारे कुछ ज्यादा अनुकूल नही था, हमारा सिर्फ एक ही पहलू देखेगा।

इसी तरह अगर हम पुराने जमाने का भी सिर्फ युद्धो और नर-हत्याओ के रूप मे ही विचार करेंगे तो उसके बारे मे हमारी राय गलत होगी। बदकिस्मती से युद्धो और नर-हत्याओ की तरफ हमारा ध्यान बहुत ज्यादा खिच जाता है। लोगो की रोजमर्रा की जिन्दगी बहुत-कुछ नीरस होती है। इतिहास-लेखक इनके बारे मे क्या लिखें। इसलिए इतिहास-लेखक किसी युद्ध या लडाई पर झपटता है, और उसीको सबसे ज्यादा महत्व देता है। इसमे शक नही कि हम युद्धो को न तो भूल सकते हैं और न उन्हे नजर-अन्दाज कर सकते हैं। लेकिन हमें उन्हे जरूरत से ज्यादा महत्व भी नही देना चाहिए। हमे पुराने जमाने पर मौजूदा जमाने के लिहाज से विचार करना चाहिए और उस जमाने के आदमियो के बारे मे आजकल के अपने लिहाज से सोचना चाहिए। तभी हमे उनकी ज्यादा इन्सानी झलक मिल सकेगी और हम महसूस करेंगे कि लोगो की रोजमर्रा की जिन्दगी और विचार ही असल मे महत्व रखते हैं, कभी-कभी होनेवाले युद्ध नही। इस बात को ध्यान मे रखना बहुत जरूरी है, क्योंकि तुम्हें इतिहास की पुस्तकें इस तरह के युद्धो के वर्णनो से बहुत ज्यादा भरी मिलेंगी। मेरे ये पत्र भी अक्सर उसी तरफ बहक जाते हैं। असली वजह इसकी यह है कि पुराने जमाने के लोगो की रोजमर्रा की जिन्दगी के बारे मे लिखना मुश्किल है। मुझे इसके बारे मे काफी जानकारी नही है।

जैसा कि हमने देखा है, तैमूर भारत पर आनेवाली सबसे बुरी बलाओ में एक था। जहाँ-जहाँ वह गया वहाँ उसने भीषणता की जो निशानियाँ छोडी उनका विचार करने से रोगटे खडे हो जाते है। फिर भी दक्षिण भारत पर उसका जरा भी असर नही पडा था। यही बात पूर्वी, पश्चिमी और मध्य भारत के बारे मे भी थी। आजकल का उत्तर प्रदेश भी बहुत करके उससे बचा गया था, सिवाय दिल्ली और मेरठ के नजदीक के उत्तर के एक छोटे-से हिस्से के। दिल्ली शहर के अलावा पजाब ही ऐसा प्रान्त था, जो तैमूर के छापे से सबसे ज्यादा बर्बाद हुआ। पजाब मे भी खास बर्बादी उन जगहो की हुई जो तैमूर के रास्ते मे पडी। पजाब के ज्यादातर लोग बिना दखल के अपने रोजमर्रा के कामो मे लगे रहे। इसलिए हमे

इस बात से होशियार रहना चाहिए कि हम इन युद्धों और हमलो के महत्व को जरूरत से ज्यादा न बढावें।

अब हमे चौदहवी और पन्द्रहवी सदियो के भारत पर नजर डालनी चाहिए। दिल्ली की सल्तनत सिकुडती जाती थी, यहाँ तक कि तैमूर के आने पर वह बिलकुल गायब हो गई। सारे भारत मे बहुत-सी बडी-बडी स्वाधीन रियासते थी, जिनमे से ज्यादातर मुसलमानो की थी। लेकिन दक्षिण मे विजयनगर का एक शक्तिशाली हिन्दू राज्य था। अब इस्लाम भारत के लिए कोई अजनबी या नया आनेवाला नही रह गया था, उसके पाँव यहाँ अच्छी तरह से जम गये थे। शुरू के अफग़ान हमलावरो और गुलाम बादशाहो की खूँख्वारी और बेरहमी ठण्डी पड चुकी थी, और मुसलमान अब उतने ही भारतीय थे जितने कि हिन्दू थे। उनका बाहरी मुल्कों से कोई रिश्ता नही रह गया था। अलग-अलग रियासतो के बीच युद्ध होते थे, लेकिन ये राजनीतिक थे, मजहबी नही। कभी-कभी कोई मुसलमान राज्य हिन्दू सिपाहियो का उपयोग करता था, और कोई हिन्दू राज्य मुसलमान सिपाहियो का। मुसलमान बादशाह अक्सर हिन्दू औरतो से शादियाँ करते थे। अक्सर वे हिन्दुओ को मन्त्री बनाते थे और ऊँचे-ऊँचे ओहदे देते थे। विजेता और पराजित, या शासक और शासित, की कोई भावना नही रही थी। सच तो यह है कि ज्यादातर मुसलमान, जिनमें कुछ शासक भी थे, वे भारतीय थे जिन्होंने इस्लाम कबूल कर लिया था। इनमे से बहुत से तो इसलिए मुसलमान बने थे कि उनपर दरबार की कृपा हो जाय या उन्हे कुछ आर्थिक लाभ हो जाय। मजहब बदल देने पर भी वे अपने पुराने बहुत-से रस्म-रिवाजो को पकडे हुए थे। कुछ मुसलमान शासको ने लोगो को मुसलमान बनाने के लिए ज़बर्दस्ती के तरीक़े अपनाये। लेकिन इसमे भी उद्देश्य ज्यादातर राजनीतिक था, क्योंकि यह समझा जाता था कि मुसलमान बनने पर लोग ज्यादा वफादार प्रजा साबित होंगे। लेकिन मजहब बदलवाने मे ज़बर्दस्ती बहुत कारगर नही होती। आर्थिक तरीका इससे ज्यादा कारगर होता है। हरेक गैर-मुस्लिम को जज़िया नाम का टैक्स देना पडता था, इसलिए बहुत-से इससे बचने के लिए मुसलमान हो गये।

लेकिन ये सब बातें शहरो मे हुईं। गाँवो पर इनका कोई असर नही पडा और लाखो देहाती अपने पुराने ढर्रे पर चलते रहे। यह सही है कि अब सरकारी अफ़सरो ने गाँव की ज़िन्दगी मे पहले से ज्यादा दखल देना शुरू कर दिया था। ग्राम-पचायतो के पहलेवाले अधिकार अब कम हो गये थे। फिर भी पचायतो का सिलसिला जारी रहा और वे देहाती जीवन की केन्द्र और रीढ़ बनी रही। समाजी तौर पर और धर्म व रस्म-रिवाजो के मामलो मे गाँवो मे बहुत ही कम परिवर्तन हुआ। तुम जानती हो कि भारत आज तक भी लाखो गाँवो का देश है। देहा

जाय तो शहर और कस्बे तो सिर्फ सतह के ही ऊपर बैठे हुए हैं; असली भारत हमेशा से देहाती भारत रहा है और आज भी है। इस देहाती भारत को इस्लाम ज्यादा नहीं बदल सका।

इस्लाम के आने से हिन्दू धर्म को दो तरह से धक्का लगा, और ताज्जुब तो यह है कि दोनो बातें एक दूसरी से उलटी थी। एक तरफ तो वह रूढ़िवादी बन गया, वह सख्त पड गया और हमले से बचने की कोशिश मे मजबूत परकोटे के अन्दर घुस गया। जात-पांत का बन्धन ज्यादा कठोर और अलगाव-पसन्द हो गया, पर्दा और स्त्रियो को बन्द करके रखना व्यापक हो गया। दूसरी तरफ जात-पांत और बहुत ज्यादा पूजा-पाठ और कर्मकाण्ड के खिलाफ एक अन्दरूनी विद्रोह-सा पैदा हो गया। हिन्दू धर्म मे सुधार के लिए बहुत-सी कोशिशें की गईं।

वास्तव मे सारा इतिहास बताता है कि शुरू के जमाने से ही हिन्दू-धर्म मे सुधारक पैदा होते रहे हैं, जिन्होंने इसकी बुराइयो को दूर करने का जतन किया है। बुद्ध इनमे सबसे महान् थे। मैंने शकराचार्य का जिक्र किया ही है, जो आठवी सदी मे हुए थे। तीन सौ वर्ष बाद, ग्यारहवी सदी मे, एक और महान् सुधारक पैदा हुए, जो दक्षिण मे चोल-साम्राज्य के रहनेवाले थे और शकर मत के मुकाबले के मत के नेता थे। इनका नाम रामानुज था। शकर शैव थे और तेज बुद्धिवाले थे, रामानुज वैष्णव थे और श्रद्धावान थे। रामानुज का प्रभाव सारे भारत मे फैल गया। मैंने तुम्हे बताया है कि सारे इतिहास मे सस्कृति के लिहाज से भारत एक रहा है—राजनीतिक लिहाज से चाहे इस देश मे कितनी ही आपस मे लडनेवाली रियासतें क्यो न रही हो। जब कोई भी महापुरुष पैदा हुआ या बडा आन्दोलन उठा, वह राजनीतिक सीमाओ को लाँघकर सारे देश मे फैल गया।

इस्लाम के भारत मे जमने के बाद हिन्दुओ मे और मुसलमानो मे भी एक नये नमूने के सुधारक पैदा होने लगे। वे इन दोनो मजहबो के समान पहलुओ पर जोर देकर दोनो को नजदीक लाने की कोशिश करते थे और दोनो की रीतियो और आडम्बरो की निन्दा करते थे। इस तरह दोनो के समन्वय या यूँ कहो कि मिलावट की कोशिश की गई। यह एक मुश्किल काम था, क्योकि दोनो तरफ बहुत बैर और बिगाड था। लेकिन हम देखेंगे कि हर सदी मे इस तरह की कोशिशें होती रही। यहाँ तक कि कुछ मुसलमान शासको ने, और खासकर अकबर महान् ने भी, इस तरह के समन्वय की कोशिश की।

रामानन्द, जो चौदहवी सदी मे दक्षिण मे हुए, इस समन्वय का प्रचार करनेवाले सबसे मशहूर आचार्य थे। वह जात-पांत के खिलाफ प्रचार करते थे और उसका बिलकुल विचार नही करते थे। कबीर नामक एक मुसलमान जुलाहे उनके शिष्य थे, जो बाद मे उनसे भी ज्यादा मशहूर हुए। कबीर बहुत लोकप्रिय हो गये थे।

तुम शायद जानती होगी कि हिन्दी मे उनके भजन आजतक उत्तर भारत के दूर-दूर के गावो तक मे खूब प्रचलित हैं। वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। वह हिन्दू मुसलमान दोनो थे, या दोनो के बीच के थे, और दोनो मजहबो के और सब जातियो के लोग उनके अनुयायी थे। कहते हैं कि जब वह मरे, उनकी लाश एक चादर से ढक दी गई। उनके हिन्दू चेले उसे जलाना चाहते थे और मुसलमान शागिर्द उसे दफन करना चाहते थे। इस पर दोनो मे वाद-विवाद और झगडा हुआ। लेकिन जब चादर हटाई गई तो लोगो ने देखा कि वह शरीर, जिसके लिए वे झगड रहे थे, गायब हो गया था और उसकी जगह कुछ ताजे फूल पडे हुए थे। मुमकिन है कि यह कहानी बिलकुल मन-गढन्त हो, लेकिन है बहुत सुन्दर।

कबीर के कुछ दिनो बाद उत्तर मे एक बडे सुधारक और धार्मिक नेता पैदा हुए। इनका नाम गुरु नानक था और इन्होंने सिक्ख-पन्थ चलाया। इनके बाद एक-एक करके सिखो के दस गुरु हुए, जिनमे आखिरी गुरु गोविन्दसिंह थे।

भारत के धर्म और सस्कृति के इतिहास मे एक और नाम मशहूर है, जिसका मैं यहाँ जिक्र करना चाहता हूँ। यह नाम चैतन्य का है, जो सोलहवी सदी मे बगाल के एक नामी विद्वान् हुए और जिन्होंने यकायक यह तय कर डाला कि उनका किताबी ज्ञान किसी काम का नही है। इसलिए उसे छोडकर उन्होंने भक्ति का मार्ग अपनाया। वह एक महान् भक्त बन गए और अपने शिष्यो को साथ लेकर सारे बगाल मे भजन गाते फिरने लगे। उन्होंने एक वैष्णव सम्प्रदाय भी कायम किया। बगाल मे आज भी उनका बहुत बडा असर नजर आता है।

यह तो हुई धर्म के सुधार और समन्वय की बात। जीवन के दूसरे अगो मे भी इसी तरह का समन्वय, कभी जान मे और ज्यादातर अनजान मे, जारी था। एक नई सस्कृति, एक नई भवन-निर्माण कला और एक नई भाषा बन रही थी। लेकिन याद रक्खो कि ये सब-कुछ गावो की बनिस्बत शहरो मे, खासकर शाही राजधानी दिल्ली मे और सूबो और रियासतो की बडी राजधानियो में, ज्यादा हो रहा था। चोटी पर बैठा बादशाह इतना निरकुश था कि जितना पहले कभी भी न रहा होगा। पुराने भारतीय राजाओ की मनमानी को रोकने के लिए रिवाज और परम्पराएँ बनी हुई थी। नये मुसलमान बादशाहो के लिए ऐसी कोई चीज नही थी। हाल कि सिद्धान्त-रूप से इस्लाम मे कही ज्यादा समता है और, जैसा कि हमने देखा है, गुलाम भी सुलतान बन सकता था, फिर भी बादशाहो की मनमानी और बे-लगाम शक्ति बढने लगी। इसकी इससे ज्यादा हैरत मे डालनेवाली मिसाल और क्या हो सकती है कि दीवाना तुगलक अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद ले गया ?

गुलाम रखने का रिवाज भी, खासकर सुलतानो मे, बहुत बढ गया था।

युद्ध मे गुलाम पकडने की खासतौर से कोशिश की जाती थी। इनमे भी दस्तकारो की खास कद्र की जाती थी। बाकी लोग सुलतान की गारद मे भरती कर लिये जाते थे।

नालन्दा और तक्षशिला के बडे-बडे विश्वविद्यालयो का क्या हुआ? इनका नाम-निशान बहुत पहले ही मिट चुका था। लेकिन नई किस्म के नये विश्वविद्यालय-केन्द्र बहुत-से पैदा हो गये थे। ये 'टोल' कहलाते थे और उनमे पुरानी सस्कृत विद्या पढाई जाती थी। लेकिन ये जमाने के साथ नही चल रहे थे। ये मानो बीते जमाने में रहते थे और शायद पीछे जाने की भावना बनाये रखते थे। बनारस हमेशा से इस किस्म का एक बहुत बडा केन्द्र रहा है।

मैंने ऊपर कबीर के हिन्दी भजनो का ज़िक्र किया है। मालूम होता है कि पन्द्रहवी सदी मे हिन्दी न सिर्फ जनता की बल्कि साहित्य की भाषा भी बन गई थी। सस्कृत बहुत दिन पहले ही चालू भाषा नही रही थी। यहाँतक कि कालिदास और गुप्त राजाओ के ज़माने मे भी वह सिर्फ विद्वानो तक ही सीमित थी। साधारण लोग प्राकृत बोलते थे, जो सस्कृत का एक बदला हुआ रूप थी। धीरे-धीरे सस्कृत की दूसरी पुत्रियो—हिन्दी, बगाली, मराठी और गुजराती—का विकास हुआ। बहुत-से मुसलमान लेखक और कवियो ने हिन्दी में रचनाएँ की। जौनपुर के एक मुसलमान बादशाह ने पन्द्रहवी सदी मे महाभारत और भागवत का सस्कृत से बँगला मे अनुवाद कराया था। दक्षिण के बीजापुर के मुसलमान शासको के हिसाब-किताब मराठी मे रक्खे जाते थे। इस तरह हम देखते हैं कि पन्द्रहवी सदी मे ही सस्कृत से पैदा होनेवाली ये भाषाएँ काफी तरक्की कर चुकी थी। दक्षिण की द्रविड भाषाएँ—तमिल, तेलुगू, मलयालम और कन्नड—अलबत्ता इनसे कही पुरानी थी।

मुसलमानो की दरबारी ज़बान फारसी थी। ज्यादातर पढे-लिखे लोग, जिन्हे दरबारो से या सरकारी दफ्तरो से कुछ भी सरोकार था, फारसी पढते थे। इस तरह बहुत-से हिन्दुओ ने फारसी सीखी। धीरे-धीरे लश्करो और बाजारो में एक नई भाषा पैदा हो गई, जो उर्दू कहलाई, क्योंकि उर्दू 'लश्कर' को ही कहते हैं। असल मे उर्दू कोई नयी भाषा नही थी। यह हिन्दी ही थी, जिसकी पोशाक ज़रा बदली हुई थी, इसमे फारसी के शब्द ज्यादा थे वरना थी यह हिन्दी ही। यह हिन्दी-उर्दू भाषा, या जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है हिन्दुस्तानी भाषा, सारे उत्तर और मध्य भारत मे फैल गई। आज भी इसे मामूली फेर-फार से पन्द्रह करोड आदमी बोलते हैं और इससे कही ज्यादा लोग समझते हैं। इस तरह सख्या के लिहाज़ से यह दुनिया की एक मुख्य भाषा है।

भवन-निर्माण कला में नई-नई शैलियो का विकास हुआ और दक्षिण के बीजापुर और विजयनगर मे, गोलकुण्डा मे, अहमदाबाद मे—जो उस समय

एक बडा और सुन्दर शहर था—और इलाहाबाद के नजदीक जौनपुर मे, बहुत-सी शानदार इमारतें बनी। क्या तुम्हे याद है कि हम हैदराबाद के पास गोलकुण्डा के पुराने खण्डहरो को देखने गये थे? हमने उस विशाल किले पर चढकर देखा था कि नीचे पुराना शहर फैला हुआ है, जिसके महल और बाजार आज निरे खण्डहर हो गये हैं।

इस तरह जब राजा लोग आपस मे लड रहे थे और एक दूसरे को नष्ट कर रहे थे, तब भारत मे खामोश ताकतें समन्वय का अनथक काम इसलिए कर रही थी कि भारत के निवासी आपस मे मेलजोल से रहे और एकजुट होकर अपनी शक्तियाँ तरक्की और बेहतरी के लिए लगायें। सदियो के बाद उनको काफी काम-याबी हासिल हुई। लेकिन उनका काम पूरा नही होने पाया था कि एक उलट-फेर फिर हुई और जिस रास्ते से हम आगे बढे थे उसीपर कुछ दूर वापस चले आये। हमे आज फिर उसी रास्ते पर चलना है और तमाम अच्छाइयो के समन्वय के लिए काम करना है। लेकिन इस बार इस समन्वय की बुनियाद ज्यादा मजबूत लेनी होगी। इसका आधार आजादी और समाजी समता पर होना चाहिए और यह एक बेहतर समाज-व्यवस्था मे ठीक बैठना चाहिए। यह समन्वय तभी टिकाऊ हो सकता है।

धर्म और सस्कृति के समन्वय की इस समस्या ने भारत के बेहतर दिमाग़ को सैकडो वर्षों तक मशगूल रक्खा। भारत का दिमाग इसमे इतना डूबा रहा कि राजनीतिक और समाजी आजादी भुला दी गई। और जब यूरोप बीसियो दिशाओ मे तेजी के साथ आगे बढ़ता चला जा रहा था, तब भारत कदम रोके खडा हुआ था और सिर्फ जिन्दगी गुजारता हुआ पिछडता जा रहा था।

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि एक वक्त था जब विदेशी मण्डियो की बागडोर भारत के हाथ मे थी। इसकी वजह यह थी कि रसायन मे, रगो के बनाने मे और फौलाद पर पानी चढाने मे भारत ने बहुत तरक्की कर ली थी। इसके सिवा और भी बहुत-सी वजहे थी। भारत के जहाज दूर-दूर देशो को उसका सौदागरी सामान ले जाते थे। जिस ज़माने का हम जिक्र कर रहे हैं, उससे बहुत पहले भारत के हाथ से यह चीज जाती रही थी। सोलहवी सदी मे नदी वापस पूर्व की तरफ फिर बहने लगी। शुरू मे तो यह मामूली-सा झरना थी। लेकिन आगे चलकर यह बढते-बढते एक विशाल धारा बन गई।

## : ७६ :

## दक्षिण भारत के राज्य

१४ जुलाई, १९३२

आओ, भारत पर फिर एक नज़र डालें और राज्यो व साम्राज्यो का बदलता हुआ नजारा देखें। ऐसा मालूम होता है, मानो हम कोई महान् और खत्म

होनेवाला चल-चित्र देख रहे हैं, जिसमे एक के बाद दूसरी खामोश तसवीरें¹ सामने आ रही हैं।

तुम्हे शायद खब्ती सुलतान मुहम्मद तुगलक की बात याद होगी और यह भी याद होगा कि दिल्ली के साम्राज्य को तहस-नहस करने मे वह किस तरह सफल हुआ। दक्षिण के बड़े सूबे अलग हो गये और वहाँ नये राज्य बन गये। इन राज्यो मे विजयनगर का हिन्दू राज्य और गुलबर्गा की मुसलमानी सल्तनत मुख्य थे। पूर्व मे गौड का सूबा, जिसमे बगाल और बिहार शामिल थे, एक मुसलमान शासक की मातहती मे स्वाधीन हो गया।

मुहम्मद का उत्तराधिकारी, उसका भतीजा, फीरोजशाह हुआ। वह अपने चचा से ज्यादा समझदार और परोपकारी था। लेकिन मजहबी बैर-भाव अभी फैला हुआ था। फीरोज एक कुशल शासक था और उसने अपने प्रशासन मे बहुत-से सुधार किये। वह दक्षिण या पूर्व के खोये हुए सूबो को तो फिर से न पा सका, पर साम्राज्य के बिखरने का जो सिलसिला शुरू हो गया था, उसे उसने जरूर रोक दिया। उसे नये-नये शहर, महल और मसजिदे बनाने का और बाग-बगीचे डालने का खास शौक था। दिल्ली के नजदीक फीरोजाबाद, और इलाहाबाद से कुछ दूर जौनपुर नगर उसीके बसाये हुए हैं। उसने जमना की एक बडी नहर भी बनवाई थी और बहुत-सी पुरानी इमारतो की, जो टूट-फूट रही थी, मरम्मत करवाई थी। उसे अपने इस काम पर बहुत गर्व था। वह अपनी बनवाई हुई नई इमारतो की, और मरम्मत कराई हुई पुरानी इमारतो की, एक लम्बी सूची छोड गया है।

फीरोजशाह की माँ राजपूत थी। उसका नाम बीबी नैला था और वह एक बडे सरदार की बेटी थी। कहते हैं कि उसके पिता ने पहले फीरोज के बाप के साथ उसका विवाह करने से इन्कार कर दिया था। इसपर लडाई ठन गई। नैला के देश पर हमला हुआ और वह बर्बाद कर दिया गया। जब बीबी नैला को मालूम हुआ कि उसके कारण उसकी प्रजा पर मुसीबत आ रही है, तो वह बहुत घबराई और उसने तय किया कि अपनेको फीरोजशाह के पिता के हवाले करके लडाई खत्म कर दे और अपनी प्रजा को बचा ले। इस तरह फीरोजशाह मे राज-पूती खून था। तुम देखोगी कि मुसलमान शासको और राजपूत स्त्रियो के बीच मे ऐसे आपसी विवाह अक्सर होने लगे थे। इसकी वजह से एक राष्ट्रीयता की भावना के विकास मे जरूर मदद मिली होगी।

फीरोजशाह, ३७ वर्ष के लम्बे समय तक राज करने के बाद, १३८८ ई० मे मर गया। फौरन ही दिल्ली साम्राज्य का ढाँचा, जिसे उसने जोड रक्खा था, टुकडे-टुकडे हो गया। कोई केन्द्रीय सरकार न रह गई और हर जगह छोटे-छोटे

¹ जब यह पुस्तक लिखी गई थी तबतक बोलती फिल्मे नहीं बनी थीं।

शासकों की तूती बोलने लगी। गडबडी और कमजोरी के इसी काल मे, फीरोजशाह की मृत्यु के ठीक दस वर्ष बाद, तैमूर उत्तर से आ टूटा। दिल्ली को तो उसने क़रीब-क़रीब मार ही डाला। धीरे-धीरे यह शहर फिर पनपा और पचास वर्ष बाद एक सुलतान की मातहती मे एक केन्द्रीय सरकार की राजधानी फिर बन गया। लेकिन यह छोटी-सी रियासत थी और दक्षिण, पश्चिम और पूर्वी भारत के बडे-बडे राज्यो से उसका कोई मुकाबला नही था। यहाँ के सुलतान अफ़ग़ान थे। वे बडे लीचड़ लोग थे, यहाँतक कि उन्हींके अफ़ग़ानी अमीर-सरदार अन्त में उनसे उकता गये, और इतने ऊब गये कि उन्होंने एक विदेशी को अपने ऊपर राज करने के लिए बुलाया। यह विदेशी बाबर था। बाबर मगोल था, जिसे अब हम भारत मे बस जाने के बाद मुगल के नाम से पुकारते हैं। वह तैमूर की पीढी का था और उसकी माँ चगेजख़ां के वश की थी। उस समय वह काबुल का शासक था। उसने भारत आने का बुलावा खुशी से मजूर कर लिया। वास्तव मे वह शायद बिना बुलावे के ही आनेवाला था। दिल्ली के नज़दीक पानीपत के मैदान मे १५२६ ई० मे बाबर ने भारत का साम्राज्य फतह कर लिया। एक विशाल साम्राज्य फिर पैदा हुआ, जिसे भारत का मुगल-साम्राज्य कहते हैं। दिल्ली को फिर बडप्पन मिला और वह साम्राज्य की राजधानी बन गई। लेकिन इस बात पर विचार करने के पहले हमें भारत के दूसरे हिस्सो पर भी नज़र डालनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि इन डेढ़ सौ वर्षों मे, जब दिल्ली का पतन हो रहा था, वहाँ क्या हो रहा था।

इस काल मे भारत मे छोटे-बडे कई राज्य थे। नये बसाये हुए जौनपुर में मुसलमानो की एक छोटी-सी रियासत थी, जहाँ शर्की सुल्तानो की हुकूमत थी। यह रियासत बडी या ताकतवर नही थी, और राजनीतिक दृष्टि से भी उसका कोई महत्व नही था। लेकिन पन्द्रहवी सदी मे करीब सौ वर्ष तक वह सस्कृति और मज़हबी उदारता का बडा भारी केन्द्र रही। जौनपुर के मुसलमानी मदरसे उदारता के इन ख़यालों को फैला रहे थे और जौनपुर के एक शासक ने तो हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच एक समन्वय कायम करने का जतन किया था, जिसका ज़िक्र मैं अपने पिछले पत्र में कर चुका हूँ। कला और बढिया इमारत बनाने को बढ़ावा दिया जाता था और इसी तरह हिन्दी और बगाली जैसी देश की विकसित भाषाओ को भी। भारी मज़हबी बैर-भावो के बीच जौनपुर की यह छोटी-सी और चन्दरोज़ा रियासत विद्या, सस्कृति और मज़हबी उदारता के आश्रय-स्थान के रूप मे अलग खडी नज़र आती है।

पूर्व की तरफ ठेठ इलाहाबाद के नज़दीक तक फैला हुआ गौडो का विशाल राज्य था, जिसमे बिहार और बगाल शामिल थे। गौड का नगर एक बन्दरगाह था जिसका भारत के समुद्री किनारे के शहरो के साथ समुद्र के ज़रिये मिला हुआ

था। मध्य-भारत मे, इलाहाबाद के पश्चिम में करीब-करीब गुजरात तक फैला हुआ मालवा का राज्य था, जिसकी राजधानी माण्डव थी। यह शहर भी था और किला भी। इस माण्डू में बहुत-सी सुन्दर और शानदार इमारतें बनी, जिनके खण्डहरो को देखने के लिए अभी तक लोग जाते हैं।

मालवा के उत्तर-पश्चिम मे राजपूताना था, जिसमे बहुत-सी राजपूत रियासतें थी—खासकर चित्तौड। चित्तौड और मालवा और गुजरात मे अक्सर एक-दूसरे से लडाइयाँ हुआ करती थी। इन दोनो शक्तिशाली रियासतो के मुकाबले में चित्तौड छोटी थी, लेकिन राजपूत लोग हमेशा बहादुर लडाके रहे हैं। सख्या मे कम होने पर भी कभी-कभी उनकी जीत हुई है। चित्तौड के राणा ने मालवा पर इस तरह की एक विजय मनाने के लिए चित्तौड मे 'विजयस्तम्भ' नाम की एक सुन्दर मीनार बनवाई थी। माण्डव के सुलतान ने भी इससे होड करके माण्डू मे एक ऊँची मीनार बनवाई। चित्तौड की मीनार अभी तक कायम है, माण्डू की मीनार नष्ट हो चकी है।

मालवा के पश्चिम मे गुजरात था। वहाँ एक शक्तिशाली रियासत कायम हुई और इसकी राजधानी अहमदाबाद, जिसे सुलतान अहमदशाह ने बसाया था, लगभग दस लाख की आबादी का एक बडा शहर बन गया। इस शहर में बडी सुन्दर इमारते बनी और कहते है कि ३०० वर्ष तक, यानी पन्द्रहवी सदी से अठारहवी सदी तक, अहमदाबाद दुनिया के सबसे सुन्दर शहरो मे गिना जाता था। यह एक विचित्र बात है कि इस शहर की बडी जामा मस्जिद, राणपुर के जैन-मन्दिर से, जिसे चित्तौड के राणा ने इसी जमाने मे बनवाया था, बहुत मिलती है। इससे जाहिर होता है कि भारत के पुराने वास्तुकार नये विचारो से किस तरह प्रभावित हो रहे थे और एक नई वास्तुकला को जन्म दे रहे थे। यहाँ फिर तुम्हे कला के मैदान में वह समन्वय दिखाई देगा, जिसका जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ। आज भी अहमदाबाद मे इनमे से बहुत-सी सुन्दर पुरानी इमारतें मिलती हैं, जिनमे पत्थर की खुदाई का अद्भुत काम है। लेकिन इन इमारतो के चारो तरफ अब जो नया उद्योगी शहर बस गया है, वह कोई खूबसूरत चीज नही है।

इसी समय के लगभग पुर्तगाली लोग भारत मे आये। तुम्हें याद ही होगा कि 'उत्तमाशा अन्तरीप का फेरा लगाकर वास्को-द-गामा ही पहले-पहल भारत आया था। १४९८ ई० मे वह दक्षिण मे कलीकट पहुँचा। अलबत्ता इसके पहले भी बहुत-से यूरोपीय भारत आ चुके थे, लेकिन वे व्यापारी की हैसियत से या सिर्फ सैर करने के लिए आये थे। पुर्तगाली अब दूसरे ही खयाल से आये। इनमे अभिमान और आत्म-विश्वास भरा था। और पोप ने पूर्वी दुनिया का दानपत्र इनके नाम लिख ही दिया था। ये लोग देश-विजय के इरादे से आये थे। शुरू मे इनकी सख्या कम

थी, लेकिन फिर तो जहाज़-पर-जहाज़ आने लगे और इन्होंने समुद्र-तट के गोवा जैसे कुछ शहरो पर कब्ज़ा भी कर लिया। पर पुर्तगाली लोग भारत मे कुछ सफल नही हो सके। वे देश के अन्दर कभी न घुस पाये, वैसे भारत पर समुद्र के रास्ते आकर हमला करनेवाले पहले यूरोपीय यही थे। इनके बहुत दिन बाद फ्रान्सीसी और अग्रेज़ आये। इस तरह समुद्री रास्ते खुल जाने पर भारत की समुद्रो मे कम-ज़ोरी ज़ाहिर हो गई। दक्षिण भारत के पुराने राज्य कमज़ोर पड गये थे और उनका ध्यान अन्दर से होनेवाले खतरो की तरफ ही लगा हुआ था।

गुजरात के सुलतानो ने समुद्र पर भी पुर्तगालियो का मुक़ाबला किया। उन्होंने उस्मानी तुर्कों से गठबन्धन करके पुर्तगाली जल-सेना को हरा दिया, लेकिन बाद मे पुर्तगाली जीत गये और समुद्र पर उनका कब्ज़ा हो गया। उसी वक्त दिल्ली के मुग़ल बादशाहो के डर ने गुजरात के सुलतानो को पुर्तगालियो से सुलह करने पर मजबूर कर दिया, लेकिन पुर्तगालियो ने उन्हे धोखा दिया।

दक्षिण भारत मे, चौदहवी सदी की शुरुआत मे, दो बडी सल्तनतें उठ खडी हुई थी। एक गुलबर्गा, जिसे बहमनी सल्तनत कहते थे, और दूसरी उसके दक्षिण मे विजयनगर। बहमनी सल्तनत सारे महाराष्ट्र इलाके मे और कर्नाटक के कुछ हिस्सो में फैली हुई थी। यह डेढ सौ वर्ष से ज्यादा चली, लेकिन इसका इतिहास बहुत हेच है। जनता की बेहद मुसीबतो के साथ-साथ मज़हबी बैर-भाव, हिंसा, हत्या और सुलतान व अमीर-सरदारो के विलासो का ज़ोर था। सोलहवी सदी की शुरुआत मे अपनी घोर नालायकी की वजह से बहमनी सल्तनत ढह गई और उसके टुकडे होकर पाँच सल्तनतें बन गईं—बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा, बीदर और बराड। इसी बीच विजयनगर राज्य को बने क़रीब २०० वर्ष हो चुके थे, और उस समय भी वह खूब अच्छी हालत मे था। इन छ: राज्यो के बीच अक्सर युद्ध हुआ करते थे और हरेक दक्षिण का मालिक बनने की कोशिश करता था। उनमे तरह-तरह के गठबन्धन होते रहते थे, जो बार-बार बदलते रहते थे। कभी कोई मुसलमान-राज्य हिन्दू-राज्य से लडता था; कभी मुसलमान और हिन्दू-राज्य मिलकर किसी दूसरे मुसलमान राज्य से लडते थे। यह सघर्ष निरे राजनीतिक थे और जब कभी कोई राज्य बहुत ज्यादा ताकतवर होता मालूम पडता, तो दूसरे राज्य उसके खिलाफ गठबन्धन कर लेते थे। आखिर विजयनगर की ताकत और दौलत ने मुसलमान रियासतो को उसके खिलाफ एकजुट होने के लिए रुजू कर दिया और १५६५ ई० मे, तालीकोटा के युद्ध मे वे इसे पूरी तरह कुचलने मे सफल हो गईं। विजयनगर का साम्राज्य ढाई सौ वर्ष बाद खत्म हो गया और यह विशाल और शानदार शहर बिलकुल नष्ट हो गया।

पर कुछ ही दिन बाद इन विजयी मित्र-राज्यो में फूट पड गई और वे आपस

मे लडने लगे। और बहुत दिन न बीतने पाये थे कि उन सबपर दिल्ली के मुग़ल साम्राज्य की छाया पड गई। इनके लिए पुर्तगाली एक और मुसीबत थे, जिन्होने १५१० ई० मे गोवा पर कब्ज़ा कर लिया था। यह बीजापुर रियासत मे था। उनके पैर उखाडने की भरसक कोशिशो के बावजूद भी वे गोवा मे डटे रहे और उनका नेता अलबुकर्क, जिसे 'पूर्व के वाइसराय' का शानदार खिताब था, घिनौने जुल्म पर उतर आया। पुर्तगालियो ने जनता का हत्याकाण्ड कर डाला और औरतो और बच्चो को भी नही छोडा। तबसे आज तक पुर्तगाली गोवा मे बराबर बने हुए हैं।[1]

दक्षिण के इन राज्यो मे, खासकर विजयनगर, गोलकुण्डा और बीजापुर मे, बडी सुन्दर इमारतें बनी। गोलकुण्डा तो अब खण्डहर हो गया है, बीजापुर मे अभी तक इनमे की बहुत-सी सुन्दर इमारतें मौजूद हैं, विजयनगर मिट्टी मे मिला दिया गया और अब उसका नाम-निशान भी नही है। इसी ज़माने मे हैदराबाद का शहर गोलकुण्डा के नज़दीक बसाया गया। कहा जाता है कि बाद मे दक्षिण के राजगीर और कारीगर उत्तर की तरफ चले गये और उन्होंने आगरा का ताजमहल बनाने मे मदद दी।

एक दूसरे के मजहबो के लिए आमतौर पर उदारता के होते हुए भी कभी-कभी कट्टरपन और मजहबी बैर-भाव फूट पडते थे। युद्धो के साथ अक्सर भयकर हत्याएँ और बर्बादी हुआ करती थी। फिर भी याद रखने की दिलचस्प बात यह है कि बीजापुर की मुसलमान रियासत मे हिन्दू घुडसवार फौज थी, और विजयनगर के हिन्दू-राज्य मे मुसलमान सिपाही थे। मालूम होता है कि उस समय काफी ऊँचे दर्जे की सभ्यता थी। लेकिन यह सब धनवानों का खेल था, खेत मे काम करने-वाला मज़दूर इससे बिलकुल अलग था। वह ग़रीब था, फिर भी जैसा हमेशा होता है, वह धनवानो के घोर विलास का बोझ बर्दाश्त करता था।

: ७७ :

## विजयनगर

१५ जुलाई, १९३२

पिछले पत्र मे दक्षिण के जिन राज्यो की चर्चा हमने की है, उनमे विजय-नगर का इतिहास सबसे लम्बा है। ऐसा हुआ कि बहुत-से विदेशी यात्री वहाँ आये और इस राज्य और शहर का हाल लिख गये हैं। निकोलो कोन्ती नाम का एक इटालवी सन् १४२० ई० मे आया था। हिरात का अब्दुर्रज्ज़ाक मध्य एशिया मे खान महान् के दरबार से १४४३ ई० मे आया था। पेईज़ नाम का एक पुर्तगाली

---

[1] दिसम्बर १९६१ मे भारतीय सेना ने गोवा को आज़ाद करा लिया है और गोवा और उसकी बस्तियो पर भारतीय गणराज्य का अधिकार हो गया है।

१५२२ ई० मे इस शहर मे आया, और इसी तरह और भी बहुत-से लोग आये। भारत का एक इतिहास भी है, जिसमे दक्षिण भारत की रियासतो का, खासकर बीजापुर, का हाल है। यह इतिहास, जिस ज़माने की हम चर्चा कर रहे हैं, उससे थोडे ही दिन बाद अकबर के ज़माने मे, फरिश्ता ने फारसी मे लिखा था। उसी समय के लिखे गए इतिहासो मे अक्सर पक्षपात की और बहुत बढी-चढी बातें भरी रहती हैं, लेकिन उनसे हालात समझने मे मदद बहुत मिलती है। कश्मीर की 'राज-तरंगिणी' को छोडकर मुसलमानो से पहले का कोई इतिहास नही मिलता। इसलिए फ़रिश्ता का इतिहास एक बिलकुल नई चीज़ थी। इसके बाद औरो ने भी लिखा।

विदेशी यात्रियो ने विजयनगर के जो बयान लिखे हैं, उनसे इस शहर की सही और पक्षपात-रहित तस्वीर हमारे सामने आ जाती है। इनसे हमे जितनी बातें मालूम होती हैं, उतनी उन कम्बख्त युद्धो के बयानो से नही मालूम होती, जो अक्सर हुआ करते थे। इसलिए मैं तुम्हें कुछ वे बातें बताऊँगा, जो इन लोगो ने लिखी है।

विजयनगर की बुनियाद सन् १३३६ ई० के करीब पडी। यह शहर दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रदेश मे था। चूँकि यह हिन्दू राज्य था, इसलिए यह स्वाभाविक था कि दक्षिण की मुसलमानी रियासतो से बहुत-से शरणार्थी वहाँ जा पहुँचे। यह तेज़ी से बढ़ने लगा। कुछ ही साल मे इस राज्य ने दक्षिण मे अपना सिक्का जमा लिया, और इसकी राजधानी पर उसकी दौलत और खूबसूरती की वजह से लोगो का ध्यान खिंचने लगा। विजयनगर दक्षिण मे सबसे ज्यादा प्रभावशाली राज्य बन गया।

फरिश्ता ने इसके महान् वैभव का ज़िक्र किया है, और १४०६ ई० मे, जब गुलबर्गा का एक मुसलमान बहमनी बादशाह विजयनगर की एक राजकुमारी से शादी करने वहाँ पहुँचा, तब राजधानी की क्या हालत थी, इसका बयान किया है। फ़रिश्ता लिखता है कि सडक के ऊपर छ मील तक ज़री, मखमल और इसी किस्म की कीमती चीज़ें बिछाई गई थी। धन की यह कितनी भयकर और शर्मनाक बर्बादी थी!

१४२० ई० मे इटालवी निकोलो कोन्ती आया। उसने लिखा है कि शहर का घेरा साठ मील का था। यह विस्तार इतना विशाल इसलिए था कि इसमे बहुत-से बगीचे थे। कोन्ती की यह राय थी कि विजयनगर का शासक, जो राय कहलाता था, उस समय भारत का सबसे शक्तिशाली राजा था।

इसके बाद मध्य-एशिया से अब्दुर्रज़्ज़ाक आया। विजयनगर जाते हुए इसने मगलूर के पास एक अद्भुत मन्दिर देखा, जो खालिस पीतल को गलाकर ढाला गया था। वह १५ फुट ऊँचा था और उसकी कुर्सी ३० फुट लम्बी और ३०

फुट चौडी थी। उत्तर की ओर आगे वेलूर मे वह ऐसे ही एक दूसरे मन्दिर को देखकर और भी हैरत मे आ गया। उसने इस मन्दिर का बयान करने की कोशिश नही की, क्योकि उसे डर था कि अगर वह ऐसा करेगा तो लोग उसपर "बहुत बढा-चढा-कर कहने का इलज़ाम लगावेंगे।" इसके बाद वह विजयनगर पहुँचा और इसके बयान मे तो वह अपने-आपको ही भूल गया है। उसने लिखा है—"यह शहर ऐसा है कि सारी दुनिया मे इसकी बराबरी की जगह न तो आँखो ने देखी न कानो ने सुनी।" बाज़ारो के बारे मे वह लिखता है—"हरेक बाज़ार के सिरे पर ऊँचे महरावो का सिलसिला और शानदार दालान हैं, लेकिन राजा का महल इन सबसे ऊँचा है।" "बाज़ार बहुत लम्बे-चौडे हैं। मीठी सुगन्ध के ताज़ा फूल इस शहर मे हर वक्त मिलते हैं और जीवन का आधार ही समझे जाते हैं, मानो इनके बिना लोग जिन्दा ही नही रह सकते। एक पेशे या दस्तकारी के व्यापारियो की दूकानें पास-पास हैं। जौहरी लोग अपने माणक, मोती, हीरे और पन्ने बाज़ार मे खुले आम बेचते हैं।" अब्दुर्रज्ज़ाक ने आगे चलकर लिखा है कि "इस मनोहर इलाके मे, जिसमे राजा का महल है, बहुत-सी छोटी नदियाँ और धाराएँ हैं, जो चमकदार और एक-समान कटे हुए पत्थरो की बनी नालियो मे से होकर बह रही हैं। यह देश इतना घना बसा हुआ है कि थोडी-सी जगह मे इसका अन्दाज़ लिख सकना नामुमकिन है।" और पन्द्रहवी सदी के मध्य मे आया हुआ मध्य एशिया का यह यात्री विजयनगर के वैभव की तारीफ के पुल बाँधता हुआ, इसी तरह लिखता चला गया है।

यह खयाल हो सकता है कि अब्दुर्रज्ज़ाक बहुत-से बडे-बडे शहरो से परिचित नही था इसलिए जब उसने विजयनगर को देखा तो वह हक्का-बक्का रह गया। लेकिन इसके बाद आनेवाला यात्री काफी सफर किया हुआ था। यह पेईज़ नामक पुर्तगाली १५२२ ई० मे आया था। यह ठीक वही समय था जब इटली पर रिनैसाँ का प्रभाव पड रहा था और इटली के शहरो मे सुन्दर इमारते खडी हो रही थी। पेईज़ को बहुत करके इटली के इन शहरो का पता था, इसलिए उसकी गवाही की बहुत कीमत है। उसने लिखा है कि विजयनगर का शहर "रोम के बराबर बडा है, देखने मे बहुत सुन्दर मालूम होता है।" उसने इस शहर के अचम्भो का और अनगिनिती सरोवरो, पानी के सोतो और फल के बगीचो की मोहनी का विस्तार के साथ बयान किया है। उसने लिखा है कि यह शहर "दुनिया भर मे सबसे ज्यादा भरा-पूरा है क्योकि इस शहर की हालत वैसी नही है, जैसी दूसरे शहरो की होती है, जहाँ अक्सर जरूरी चीजो की और रसद की कमी पड जाया करती है, क्योकि यहाँ हरेक चीज़ की बहुतायत है।" राजमहल मे इसने एक कमरा देखा था, जो "सारा हाथीदाँत का बना हुआ था। कमरे की दीवारो पर ऊपर से नीचे तक और छत की कडियो के खम्भो पर सारे-के-सारे हाथी-दाँत के गुलाब

और कमल बने हुए थे। और ये सब इतनी खूबसूरती से बनाये गए थे कि इनसे बेहतर बन ही नही सकते थे। यह इतना कीमती और सुन्दर है कि इस तरह का दूसरा कही भी मुश्किल से मिलेगा।"

पेईज़ ने विजयनगर के उस समय के राजा का भी वर्णन किया है। यह दक्षिण भारत के इतिहास का एक महान् राजा हुआ और महान् योद्धा, शत्रुओ पर दया दिखानेवाला, साहित्य का पोषक और लोकप्रिय व उदार शासक के रूप मे उसकी कीर्ति दक्षिण मे अभी तक बाकी है। इसका नाम कृष्णदेव राय था। इसने १५०९ से १५२९ ई० तक, बीस वर्ष राज्य किया। पेईज़ ने उसके कद और शक्ल-सूरत और गोरे रग का भी वर्णन किया है। "यह राजा इतना भय उपजानेवाला और सारे गुणो की खान है जितना कि होना सम्भव है। यह खुशमिजाज और बडा विनोदी है। यह विदेशियो की इज्ज़त करना चाहता है, उनका विनय से स्वागत करता है और उनकी हालत चाहे जो हो, उनकी सारी घरू बातें पूछता है।" इस राजा की कई उपाधियाँ गिनाने के बाद पेईज़ लिखता है—"लेकिन सच तो यह है कि वह ऐसा बाँका और सब गुणो की खान है कि जो कुछ उसके पास है, वह उसके जैसे आदमी के लिए कुछ भी नही है।"

वास्तव मे कितनी ऊँची प्रशसा है यह! विजयनगर का साम्राज्य इस समय सारे दक्षिण मे और पूर्वी समुद्री किनारे पर फैला हुआ था। इसके अन्दर मैसूर, तिरुवाँकुर और आजकल के मद्रास का सारा प्रान्त आ जाता था।

एक और भी चीज़ का मैं ज़िक्र करूँगा। १४०० ई० के करीब शहर में अच्छा पानी लाने के लिए बहुत बडी नहरें बनाई गई थी। एक नदी सारी-की-सारी बाँध से रोक दी गई थी और एक बडा तालाब बना दिया गया था। इसी जगह से १५ मील लम्बी नहर के ज़रिये, जो पहाड को काटकर बनाई गई थी, शहर को पानी जाता था।

विजयनगर ऐसा ही था। इसे अपनी दौलत और खूबसूरती पर गर्व था और अपनी ताकत पर ज़रूरत से ज्यादा भरोसा था। किसी को यह खयाल भी नही था कि इस शहर और साम्राज्य का अन्त इतना नजदीक है। पेईज़ के आने के ४३ वर्ष बाद ही अचानक खतरा पैदा हो गया। दक्षिण की दूसरी रियासतो ने बैर-भाव से विजयनगर के खिलाफ एक गुट्ट बना लिया और इसे नष्ट करने का इरादा कर लिया। उस वक्त भी विजयनगर बेवकूफो की तरह अपनी ताकत के घमण्ड मे रहा। पर जल्द ही उसका अन्त हो गया और इस अन्त की पूर्णता बड़ी ही भयानक थी।

जैसा मैंने तुम्हे बताया है, १५६५ ई० मे रियासतो के इस गुट्ट ने विजयनगर को हरा दिया। ज़बर्दस्त नर-हत्या हुई और उसके बाद यह विशाल नगर लूट

लिया गया। तमाम सुन्दर इमारतें, मन्दिर और महल बर्बाद कर दिये गए। निहायत नफीस पत्थर की नक्काशी और मूर्त्तियां चकनाचूर कर डाली गई और जितनी भी चीजें जलाई जा सकती थी, उनकी बडी-बडी होलियां जला दी गईं। यह शहर यहांतक बर्बाद किया गया कि सिर्फ खण्डहरो के ढेर बाकी रह गये। एक अंग्रेज इतिहासकार कहता है "दुनिया के इतिहास मे ऐसे शानदार शहर का सत्यानाश, और वह भी ऐसा अचानक, शायद कभी भी नही किया गया। वह शहर, जो एक दिन पूरी तरह खुशहाल, दौलतमन्द और मेहनती आबादी से भरा हुआ था, दूसरे ही दिन, वहशियाना हत्याकाण्ड के नजारो और सारे बयानो को फीका करनेवाले भयकर कारनामो के बीच, दूसरो के कब्जे मे आया, लूटा गया और खण्डहर बना दिया गया।"

• ७८ •

## मज्जापहित और मलक्का का मलेशिया साम्राज्य

१७ जुलाई, १९३२

हमने मलेशिया और पूर्वी द्वीपो की तरफ इधर बहुत कम ध्यान दिया है और इनके बारे मे लिखे हुए बहुत दिन हो गये। मैंने उलटकर देखा तो मुझे मालूम हुआ कि मैंने अपने ४६ नम्बर के पत्र मे इनका हाल लिखा था। उस वक्त से अबतक इकत्तीस पत्र हो गये और अब हम ७८वें नम्बर तक आ पहुँचे हैं। सब देशो को साथ-साथ लेना मुश्किल काम है।

आज से ठीक दो महीने पहले मैंने जो कुछ तुम्हे लिखा था, वह तुम्हे याद है? क्या कम्बोडिया, अंकोर, सुमात्रा और श्रीविजय याद है? क्या तुम्हे यह याद है कि हिन्द-चीन के पुराने भारतीय उपनिवेश कई सौ वर्षो के दौरान किस तरह बढकर एक बडा राज्य—काम्बोज का साम्राज्य के रूप मे बन गये। और फिर कुदरत का चक्र चला तो उसने इस नगर और साम्राज्य को सख्ती से और एकदम खत्म कर दिया। यह १३०० ई० के लगभग की बात है।

इस काम्बोजी साम्राज्य का लगभग समकालीन एक दूसरा बडा राज्य समुद्र के उस पार सुमात्रा के टापू मे था। लेकिन श्रीविजय, साम्राज्य बनाने की दौड मे कुछ देर बाद शामिल हुआ था और काम्बोज के बाद तक कायम रहा। इसका अन्त भी बहुत करके एकदम हुआ, लेकिन यह कुदरत का नही, बल्कि आदमी का काम था। तीन सौ वर्षो तक श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य फूला-फला। पूर्व के लगभग सारे टापुओ पर उसका अधिकार था और कुछ दिन तो उसने भारत, लका और चीन मे भी पैर रखने की जगह बना ली थी। यह व्यापारियो का साम्राज्य था और तिजारत इसका मुख्य काम था। लेकिन उसी समय जावा द्वीप के पूर्वी हिस्से मे एक और

व्यापारी साम्राज्य उठ खड़ा हुआ। यह एक हिन्दू-राज्य था, जिसने श्रीविजय के सामने सर झुकाने से इन्कार कर दिया।

नवीं सदी के शुरू से चार सौ वर्षों तक पूर्वी जावा के इस राज्य को श्रीविजय की बढ़ती हुई ताकत का खतरा बना रहा। लेकिन वह अपनी स्वाधीनता क़ायम रखने मे कामयाब रहा और साथ ही इसने इतनी बड़ी सख्या मे पत्थर के सुन्दर मन्दिर बनवाये कि अचम्भा होता है। इन मन्दिरो मे सबसे मशहूर बोरोबुदुर के मन्दिर कहलाते हैं, जो अभी तक मौजूद हैं और जिन्हें देखने के लिए बहुत यात्री जाते हैं। श्रीविजय के राज्य मे शामिल होने से बच जाने पर पूर्वी जावा खुद सरजोर हो गया और अपने पुराने दुश्मन श्रीविजय के लिए उलटा एक खतरा बन गया। दोनो व्यापारिक राज्य थे और दोनो के जहाज व्यापार के लिए सागरो के पार जाते थे, इसलिए दोनो की आपस मे अक्सर टक्कर होती रहती थी।

मेरा दिल चाहता है कि जावा और सुमात्रा की इस होड का जर्मनी और इग्लैण्ड जैसी आजकल की शक्तियो मे चलनेवाली होड से मुकाबला करूँ। यह महसूस करके कि श्रीविजय को रोकने का और अपनी तिजारत को बढाने का सिर्फ़ एक ही उपाय है कि अपनी जलसेना को मजबूत किया जाय, जावा ने अपनी समुद्री-शक्ति खूब बढा ली। बडे-बडे जगी बेडे लडाई के लिए भेजे जाते थे, लेकिन वर्षों तक इनका मुकाबला दुश्मन से नही होता था। इस तरह जावा बढता चला गया और दिन-दिन सरजोर होने लगा। तेरहवीं सदी के अन्त मे मज्जापहित नामक शहर बसाया गया और यह जावा के बढते हुए राज्य की राजधानी हो गया।

यह जावा राज्य इतना गुस्ताख और घमण्डी हो गया कि इसने खान महान् कुबलइ के दूतो का, जो खिराज लेने के लिए यहाँ भेजे गए थे, अपमान भी कर डाला। यही नही कि खिराज न दिया हो, बल्कि एक दूत के माथे पर अपमान करनेवाला सन्देश गोद दिया गया। मगोल खान के साथ इस तरह का खिलवाड करना बहुत ही खतरनाक और बेवकूफी की बात थी। ऐसे ही अपमान के बदले मे चगेज के हाथो मध्य एशिया का विनाश हुआ था और बाद मे हलाकू के हाथो बगदाद का। फिर भी जावा के छोटे-से टापूवाले राज्य ने ऐसी जुर्रत की। लेकिन जावा की खुश-किस्मती थी कि मगोल लोग बहुत-कुछ ठण्डे पड गये थे और उन्हें देश-विजय की कोई इच्छा नही रही थी। समुद्री लडाई भी उन्हे बहुत पसन्द न थी, वे तो ठोस ज़मीन पर अपने को ज्यादा बलवान समझते थे। फिर भी कुबलइ ने जावा के अपराधी राजा को सजा देने के लिए फौज भेजी। चीनियो ने जावानियो को हरा दिया और उनके राजा को मार डाला। लेकिन मालूम होता है उन्होंने ज्यादा नुक़सान नही किया। चीनी असर से मगोल कितने बदल गये थे!

देखा जाय तो वास्तव मे इस चीनी हमले के नतीजे से जावा, जिसे अब हम

मज्जापहित साम्राज्य कहेगे, अन्त मे और भी ज्यादा मजबूत हो गया। इसकी वजह यह थी कि चीनियो ने जावा मे बन्दूको का इस्तेमाल जारी कर दिया और शायद इन बन्दूको की ही वजह से मज्जापहित को आगे चलकर लडाइयो मे कामयावी हुई।

मज्जापहित का साम्राज्य फैलता गया। लेकिन यह कोई सयोग से या बेढगेपन से नही हुआ। यह साम्राज्यशाही विस्तार था, जिसका सगठन राज्य करता था और जिसे एक कुशल थल व जल सेना पूरा करती थी। विस्तार के इस ज़माने के कुछ हिस्से मे महारानी सुहिता यहाँ की शासक थी। मालूम होता है कि सरकार बहुत ही केन्द्रित और कारगर थी। पश्चिमी इतिहासकारो ने लिखा है कि कर लगाने की, चुगी की राहदारी की और लगान की प्रणाली बहुत ऊंचे दर्जे की थी। सरकार के अलग-अलग महकमो मे से कुछ ये थे—उपनिवेश-विभाग, वाणिज्य विभाग, सार्वजनिक कल्याण और सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग, गृह-विभाग और युद्ध-विभाग। एक सबसे ऊँची अदालत थी, जिसमे दो अध्यक्ष-न्यायाधीश और सात न्यायाधीश हुआ करते थे। मालूम होता है ब्राह्मण पुरोहितो के हाथो मे बहुत शक्ति थी, लेकिन कहने को राजा इनपर अकुश रखता था।

ये विभाग और इनमे से कुछ के नाम भी हमे कुछ हद तक कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र की याद दिलाते हैं। लेकिन उपनिवेशो का विभाग नया था। राज्य के अन्दरूनी इन्तज़ाम से सम्बन्ध रखनेवाले गृह-विभाग का अधिकारी 'मन्त्री' कहलाता था। इससे ज़ाहिर होता है कि भारतीय परम्पराएँ और सस्कृति इन टापुओ मे दक्षिणी भारत के पल्लवो की पहली बस्ती बसने के १२०० वर्ष बाद तक कायम रही। यह तभी हो सकता था जब सम्पर्क बराबर बना रहा हो और इसमे शक नही कि इस तरह का सम्पर्क व्यापार के ज़रिये बना हुआ था।

चूंकि मज्जापहित एक व्यापारिक साम्राज्य था, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि निर्यात और आयात के व्यापारो की व्यवस्था सावधानी के साथ की जाती। निर्यात उस व्यापार को कहते हैं, जिसमे माल विदेशो को भेजा जाता है और आयात उस व्यापार को कहते हैं, जिसमे बाहर के देशो से अपने देश मे माल आता है। यह व्यापार ख़ासतौर से भारत, चीन और उसके अपने उपनिवेशो से हुआ करता था। जब श्रीविजय से युद्ध ठना हुआ था, तब उसके साथ या उसके उपनिवेशो के साथ, शान्ति से व्यापार नही हो सकता था।

जावा का राज्य कई सौ वर्षों तक रहा, लेकिन मज्जापहित साम्राज्य का महान् काल १३३५ से १३८० ई० तक, यानी केवल ४५ वर्ष का था। इसी ज़माने मे, १३७७ ई० मे श्रीविजय पर आख़िरी तौर से कब्ज़ा हुआ और वह नष्ट कर दिया गया। अनाम, स्याम और काम्बोज के साथ मज्जापहित की सन्धियाँ थी।

मज्जापहित की राजनगरी बहुत सुन्दर और खुशहाल थी। शहर के बीचो-बीच शिव का बहुत बडा मन्दिर था। इसके अलावा बहुत-सी शानदार इमारतें थी। सच तो यह है कि मलेशिया के सारे भारतीय उपनिवेशो ने सुन्दर इमारतें बनाने में कमाल हासिल किया था। जावा मे और भी बडे-बडे शहर और बन्दरगाह थे।

यह साम्राज्यशाही राज्य अपने पुराने दुश्मन श्रीविजय के बाद ज्यादा दिन तक नही टिका। घरेलू लडाई शुरु हो गई और चीन से भी झगडा हो गया। नतीजा यह हुआ कि चीनी जहाजो का एक बडा बेडा जावा पर चढ आया। उपनिवेश धीरे-धीरे टूट-टूटकर अलग होते गये। १४२६ ई० मे बडा भारी अकाल पडा और दो वर्ष बाद मज्जापहित साम्राज्य नही रह गया। फिर भी यह एक स्वाधीन राज्य की हैसियत से पचास वर्ष और चलता रहा। इसके बाद मलक्का के मुसलमान राज्य ने इस पर कब्जा कर लिया।

इस तरह मलेशिया की पुरानी भारतीय बस्तियो मे पैदा होनेवाले साम्राज्यो मे से तीसरा साम्राज्य खत्म हुआ। अपने छोटे-छोटे पत्रो मे हमने बडे-बडे जमानो को निबटाया है। भारत के उपनिवेशी पहले-पहल ईसाई सन् की शुरुआत के करीब यहां आये थे और इस वक्त हम पन्द्रहवी सदी का जिक्र कर रहे हैं। यानी हमने इन उपनिवेशो के इतिहास के १४०० वर्षो का सिंहावलोकन कर लिया है। हमने जिन तीन साम्राज्यशाही राज्यो, यानी काम्बोज, श्रीविजय और मज्जापहित पर खास तौर से गौर किया है, उनमे से हरेक सैकडो वर्ष कायम रहा। इन लम्बे जमानो को ध्यान मे रखना चाहिए, क्योकि इनसे इन राज्यो की पायेदारी और कुशलता का कुछ अन्दाज़ हो जाता है। सुन्दर इमारतो से उन्हें खास प्रेम था और व्यापार उनका मुख्य धन्धा था। वे भारतीय सस्कृति की परम्परा कायम रखे हुए थे और इसमे उन्होने चीनी सस्कृति के बहुत-से तत्वो को भी मिलाकर एक रस बना दिया था।

तुम्हे यह याद होगा कि जिन तीन भारतीय उपनिवेशो का मैंने खासतौर पर जिक्र किया है, उनके अलावा और भी भारतीय बस्तियाँ थीं। लेकिन हम हरेक पर अलग-अलग ध्यान नही दे सकते, और न मैं दो पडोसी देशो, यानी बरमा और स्याम, के बारे मे ही कुछ ज्यादा कह सकता हूँ। इन दोनो देशो मे भी बडे शक्तिशाली राज्य बने और कला की हलचल ने खूब जोर पकडा। दोनो मे बौद्ध-धर्म फैला। बरमा पर मगोलो ने एक बार हमला किया था, लेकिन स्याम पर चीनियो ने कभी हमला नही किया। मगर बरमा और स्याम दोनो अक्सर चीन को खिराज देते थे। यह इस किस्म की भेंट थी, जैसी कोई विनयशील छोटा भाई बडे भाई को पेश करे। इस खिराज के बदले छोटे भाई के पास चीन से कीमती तोहफे आते थे।

मगोलो का हमला होने के पहले बरमा की राजधानी पगान थी। यह शहर

उत्तरी वरमा मे था। यह शहर २०० वर्षों से ज्यादा राजधानी रहा। कहते हैं कि यह शहर बडा सुन्दर था और अकोर के अलावा कोई दूसरा शहर इसका मुकावला नही कर सकता था। इसकी सवसे वढिया इमारत आनन्द मन्दिर थी, जो बौद्ध वास्तुकला के दुनिया भर मे सवसे सुन्दर नमूनो मे गिनी जाती है। इसके अलावा और भी वहुत-सी शानदार इमारते थी। सच तो यह है कि आज पगान शहर के खण्डहर तक भी सुन्दर हैं। पगान की शान का जमाना ग्यारहवी से तेरहवी सदी तक था। इसके वाद कुछ दिन वरमा मे कुछ गडवड और खलवली रही और उत्तरी वरमा दक्षिणी वरमा मे अलग हो गया। सोलहवी सदी मे दक्षिण मे एक वडा राजा पैदा हुआ और उसने वरमा को फिर एक कर दिया। उसकी राजधानी पेगू मे थी, जो दक्षिण मे है।

मुझे उम्मीद है कि वरमा और स्याम के इस थोडे और अचानक जिक्र से तुम उलझन मे न पडोगी। हम मलेशिया और इन्दोनेशिया के इतिहास के एक अध्याय के अन्त तक पहुँच गये हैं और मैं अपना सिंहावलोकन पूरा कर लेना चाहता हूँ। अभी तक इन हिस्सो पर राजनीतिक और सास्कृतिक जो भी मुख्य प्रभाव पडे, उनका मूल भारत और चीन मे था। जैसा कि मैं तुम्हे वता चुका हूँ, एशिया महाद्वीप के दक्षिण-पूर्वी देशो, यानी वरमा, स्याम और हिन्द-चीन पर चीन का ज्यादा प्रभाव पडा था। टापुओ और मलाया प्रायद्वीप पर भारत का ज्यादा असर पडा था।

अव एक नया असर मैदान मे आता है। यह अरवो का लाया हुआ था। वरमा और स्याम तो इससे वच गये पर मलाया और टापू इस असर मे आ गये और थोडे ही दिनो मे एक मुसलमानी साम्राज्य वनने लगा।

अरव व्यापारी इन टापुओ मे हजार या अधिक वर्षों से आते थे और वसते गये थे, लेकिन इनका सारा ध्यान अपने धन्धे मे ही रहता था, और ये हुकूमत मे कोई दखल नही देते थे। चौदहवी सदी मे अरवी धर्म-प्रचारक अरव से यहाँ आये और उन्हे कामयावी हुई, खासतौर से कुछ मुकामी शासको को मुसलमान वनाने मे।

इसी वीच राजनीतिक परिवर्तन शुरू हो गये थे। मज्जापहित फैल रहा था और श्रीविजय को कुचल रहा था। जव श्रीविजय का पतन हुआ तो वहुत-से शरणार्थी भागकर मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण मे जा वसे। वहाँ उन्होने मलक्का शहर कायम किया। यह शहर और राज्य तेजी से वढे और १४०० ई० मे ही मलक्का एक वडा शहर हो गया था। मज्जापहित के जावानियो को उनकी प्रजा के लोग पसन्द नही करते थे। जैसा आमतौर पर साम्राज्यवादियो का तरीका होता है, ये लोग जालिम थे, इसलिए वहुत-से लोगो ने मज्जापहित मे रहने की वनिस्वत मलक्का के नये

राज्य में जाकर बसना बेहतर समझा। स्याम भी इस वक्त कुछ ज्यादा सरज़ोर हो रहा था। इसलिए मलक्का बहुत-से लोगों के लिए शरण की जगह बन गया। यहाँ मुसलमान और बौद्ध दोनों थे। यहाँ के शासक पहले तो बौद्ध थे, लेकिन बाद में उन्होंने इस्लाम कबूल कर लिया।

मलक्का के नये राज्य को एक तरफ़ जावा से और दूसरी तरफ़ स्याम से खतरा था। इसने टापुओं की दूसरी छोटी-छोटी मुसलमान रियासतों से दोस्ती और गठबन्धन करने की कोशिश की। इसने बचाव के लिए चीन से भी मदद माँगी। उस वक्त मिङ लोग, जो मंगोलों को हरा चुके थे, चीन में राज कर रहे थे। यह मार्के की बात है कि मलेशिया की छोटी-छोटी सब मुसलमान रियासतों ने एक साथ ही बचाव के लिए चीन का मुँह ताका। इससे ज़ाहिर होता है कि इन्हें ताक़तवर दुश्मनों का कोई तुरन्त का खतरा रहा होगा।

मलेशिया के देशों के साथ चीन ने हमेशा से दोस्ताना, पर रौबदार अलगाव की नीति बरती। दूसरे देशों को जीतने की उसे ज़रा भी इच्छा नहीं थी। उसका ख़याल था कि दूसरे देशों को जीतने से उसे कोई लाभ नहीं मिल सकता, लेकिन वह इन्हें अपनी सभ्यता सिखाने के लिए तैयार था। ऐसा लगता है कि मिङ सम्राट ने इस पुरानी नीति को बदलने और इन देशों में ज्यादा दिलचस्पी लेने का फ़ैसला किया। जान पड़ता है कि उसने जावा और स्याम की सरज़ोरी को पसन्द नहीं किया। इसलिए इनको रोकने और दूसरों पर चीन की शक्ति का सिक्का जमाने के इरादे से उसने एक बड़ा जंगी-बेड़ा जल-सेनापति चेंङ-हो की मातहती में भेजा। इस बेड़े में कई जहाज ४०० फुट लम्बाई के थे।

चेंङ-हो कई बार आया-गया और उसने करीब-करीब सभी टापुओं—फिलिपाइन, जावा, सुमात्रा, मलाया प्रायद्वीप, वगैरा का दौरा किया। वह लंका तक भी जा पहुँचा और उसे जीतकर उसके राजा को चीन पकड़ ले गया। अपने आखिरी धावे में वह ईरान की खाड़ी तक पहुँच गया था। पन्द्रहवीं सदी की शुरुआत में चेंङ-हो की इन यात्राओं का उन सब देशों पर ज़बर्दस्त असर पड़ा, जहाँ जहाँ वह गया था। हिन्दू मज्जापहित और बौद्ध स्याम को दबाने के लिए उसने जान-बूझकर इस्लाम को बढ़ावा दिया और मलक्का की रियासत उसके विशाल बेड़े की छत्र-छाया में बहुत मज़बूती से जम गई। इसमें शक नहीं कि चेंङ-हो की नीयत केवल राजनीतिक थी और मज़हब से इसका कोई ताल्लुक न था। वह खुद तो बौद्ध था।

इस तरह मलक्का की रियासत मज्जापहित के विरोधियों की अगुआ बन गई। इसकी ताकत बढ़ने लगी और इसने धीरे-धीरे जावा के उपनिवेशों पर कब्ज़ा कर लिया। १४७८ ई० में मज्जापहित शहर पर भी कब्ज़ा हो गया। फिर तो

इस्लाम दरबारो का और शहरो का मजहब बन गया। लेकिन देहात मे, भारत की तरह, पुराने विश्वास और कथाएँ और रिवाज जारी रहे।

मलक्का का साम्राज्य श्रीविजय और मज्जापहित की तरह महान् और बडी उम्र का हो सकता था, लेकिन इसे मौका न मिला। इस बीच मे पुर्तगाली आ धमके और कुछ वर्षों के अन्दर, १५११ ई० मे, इस पर उनका कब्ज़ा हो गया। इस तरह चौथे की जगह पाँचवें साम्राज्य ने ले ली और वह भी बहुत दिनो तक टिका न रहा। इतिहास मे पहली बार पूर्वी समुद्रो मे यूरोप सरज़ोर और हावी हो गया।

· ७९ ·

# यूरोप पूर्वी एशिया को हड़पना शुरू करता है

१९ जुलाई, १९३२

हमने अपना आखिरी पत्र उस मौके पर खत्म किया था, जब मलेशिया मे पुर्तगाली नज़र आने लगे थे। तुम्हे याद होगा कि मैंने तुम्हे कुछ दिन पहले बताया था कि समुद्र के रास्ते कैसे खोजे गए और पुर्तगाल और स्पेन के लोगो मे सबसे पहले पूर्व पहुँचने के लिए कैसी दौड-सी मची थी। पुर्तगाल पूर्व की तरफ गया और स्पेन पश्चिम की तरफ। पुर्तगाल अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुँच गया। स्पेन गलती से अमेरिका से जा टकराया और बाद मे दक्षिण अमेरिका का चक्कर काटकर मलेशिया पहुँचा। अब हम अपनी कुछ बातो के सिलसिले को जोडकर मलेशिया की अपनी कहानी आगे बढ़ा सकते हैं।

शायद तुम्हे मालूम हो कि गरम मसाले (कालीमिर्च वगैरा) गर्म आबहवा मे, यानी भूमध्य-रेखा के आस-पास के देशो मे पैदा होते हैं। यूरोप मे मसाले बिलकुल नहीं पैदा होते। दक्षिण भारत और लका मे कुछ पैदा होते हैं, लेकिन ये मसाले ज्यादातर मलेशिया के टापुओ से, जिन्हे मोलुक्का या मलक्का कहते हैं, आते हैं। इन टापुओ को असल मे 'मसाले के टापू' कहते हैं। बहुत पुराने ज़माने से यूरोप मे इन मसालो की बहुत माँग थी और वे बराबर भेजे जाते थे। यूरोप पहुँचते-पहुँचते इनकी क़ीमत बहुत बढ जाती थी। रोमनी ज़माने मे कालीमिर्च सोने के भाव बिकती थी। हालाँकि मसाले इतने कीमती होते थे और पश्चिम मे उनकी इतनी माँग थी, लेकिन यूरोप इनके मँगाने का खुद कोई इन्तज़ाम नही करता था। बहुत दिनो तक मसाले का व्यापार भारतवासियो के हाथो मे था। फिर अरबो के हाथो मे आ गया। यह मसालो का ही खिचाव था, जिसने पुर्तगाल और स्पेन के लोगो को उलटी दिशाओ मे बढते चले जाने के लिए खीचा और अन्त मे उन्हे मलेशिया मे लाकर मिला दिया। पुर्तगाली इस खोज मे आगे रहे, क्योकि स्पेन के लोग पूर्व जाते हुए रास्ते मे अमेरिका मे धन्धे से लग गये और बहुत मुनाफ़े कमाते रहे।

वास्को-द-गामा उत्तमाशा अन्तरीप होता हुआ जब भारत पहुँचा, उसके थोडे ही दिन बाद बहुत-से पुर्तगाली जहाज़ इसी रास्ते आये और पूर्व की तरफ़ आगे बढ गये। उन्ही दिनो मसाले और दूसरी चीज़ो का व्यापार मलक्का के नये साम्राज्य के हाथ मे था। इसलिए पुर्तगाली इस साम्राज्य से और सारे अरब व्यापारियो से टकरा गये। पुर्तगालियो के वाइसराय अलबुकर्क ने १५११ ई० में मलक्का पर कब्ज़ा कर लिया और मुसलमानी तिजारत का खात्मा कर दिया। यूरोप का व्यापार अब पुर्तगालियो के हाथ मे आ गया और यूरोप मे इनकी राजधानी लिस्बन मसालो और दूसरे पूर्वी मालो को सारे यूरोप मे भेजनेवाला बडा व्यापारी केन्द्र बन गई।

यह बात ध्यान मे रखने लायक है कि अलबुकर्क अरबो का तो बडा सख्त और ज़ालिम दुश्मन था। लेकिन वह पूर्व की दूसरी व्यापारी कौमो के साथ दोस्ती रखने की कोशिश करता था। खासकर जितने चीनी उससे मिलते थे, उन सबके साथ वह खासतौर पर बर्ताव करता था। इसका नतीजा यह हुआ कि पुर्तगालियो के बारे मे चीन मे बहुत अनुकूल समाचार पहुँचे। शायद अरबो से उसकी दुश्मनी की वजह यह थी कि अरब लोग पूर्वी व्यापार पर प्रभुत्व जमाये हुए थे।

इस बीच मसाले के टापुओ की तलाश जारी रही। मैगेलन, जिसने बाद मे प्रशान्त महासागर पार किया और दुनिया का चक्कर लगाया, उस जहाज़ी बेडे मे शामिल था, जिसने मलक्का खोज निकाला था। साठ वर्ष से ऊपर यूरोप के साथ मसाले के व्यापार मे पुर्तगालियो का कोई बराबरी करनेवाला नही रहा। फिर १५६५ ई० में स्पेन ने फिलिपाइन टापुओ पर कब्ज़ा कर लिया और इस तरह पूर्वी समुद्र पर एक दूसरी यूरोपीय शक्ति का उदय हुआ। लेकिन स्पेन की वजह से पुर्तगालियो के व्यापार मे कोई फर्क नही पडा, क्योकि स्पेन के लोग स्वभाव से व्यापारी नही थे। ये लोग पूर्व को अपने सिपाही और धर्म-प्रचारक भेजते रहे। पुर्तगालियो का मसाले के व्यापार पर एकाधिकार हो गया। यहाँ तक कि ईरान और मिस्र को भी पुर्तगालियो के ही ज़रिये मसाले मँगवाने पडते थे। ये लोग किसी दूसरे को मसाले के टापुओ से सीधा व्यापार करने तक की इजाज़त नही देते थे। इसलिए पुर्तगाल मालामाल हो गया, लेकिन उसने उपनिवेश बसाने की कोई कोशिश नही की। तुम जानती हो कि पुर्तगाल छोटा-सा देश है और उसके यहाँ बाहर भेजने के लिए काफ़ी आदमी नहीं थे। इस छोटे-से देश ने १०० वर्षों तक, यानी सारी सोलहवी सदी मे, पूर्व मे जो कुछ किया वह काफी ताज्जुब की चीज़ है।

इस बीच स्पेनी लोग फिलिपाइन मे जमे रहे और उनसे जितना पैसा खींच सकते थे खीचने की कोशिश करते रहे। ज़बर्दस्ती खिराज लेने के अलावा इनका कोई दूसरा काम नही था। पूर्वी समुद्र मे टक्कर बचाने के लिए उन्होंने पुर्तगालियो से सुलह कर ली थी। स्पेन की सरकार फ़िलिपाइनवालो को स्पेनी अमेरिका से व्यापार

पहुँचा। उनका पूर्वी साम्राज्य लाल सागर से लगाकर मसाले के टापू मलक्का तक ६००० मीलो मे फैला हुआ था। ये लोग ईरान की खाडी मे अदन के पास, लका मे, और भारत के किनारे की कितनी ही जगहो मे, और हाँ सारे पूर्वी टापुओ मे और मलाया मे, जमे हुए थे। धीरे-धीरे इनका पूर्वी साम्राज्य इनके हाथ से जाता रहा। शहर के बाद शहर और बस्ती के बाद बस्ती या तो डचो के या अंग्रेजो के पल्ले पडे। मलक्का भी १६४१ ई० मे जाता रहा। अगर बची तो भारत मे और दूसरी जगह दो-चार छोटी-छोटी चौकिया। पश्चिम, भारत मे गोवा इनमे मुख्य है और पुर्तगाली वहाँ अभी तक बने हुए हैं। कुछ वर्ष पहले कायम हुए पुर्तगाली गणराज्य का यह एक हिस्सा माना जाता है। अकबर ने पुर्तगालियो से गोवा छीनना चाहा था, लेकिन वह भी कामयाब नही हुआ।

इस तरह अब पुर्तगाल पूर्वी इतिहास से बाहर हो जाता है। इस छोटे-से देश ने बहुत ही बडा कौर अपने मुँह मे रख लिया था। वह उसे निगल न सका, बल्कि निगलने की कोशिश मे खुद ही अपना जोर गवाँ बैठा। स्पेन फ़िलिपाइन मे जमा रहा, लेकिन पूर्वी मामलो मे अब उसका कोई हिस्सा नही रहा। पूर्व के कीमती व्यापार पर अब इग्लैण्ड और हालैण्ड का प्रभुत्व हो गया। इन दोनो देशो ने इस काम के लिए दो व्यापारी कम्पनियाँ बनाकर पहले ही तैयार कर ली थीं। इग्लैण्ड मे रानी एलिज़ाबेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को १६०० ई० मे एक अधिकार-पत्र दिया था। दो वर्ष बाद डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी कायम हुई। ये दोनो कम्पनियाँ सिर्फ व्यापार के लिए थी। हालाँकि दोनो प्राइवेट कम्पनियाँ थी, लेकिन इन्हें अक्सर सरकारी मदद मिलती थी। इनकी सबमे ज्यादा तिजारती दिलचस्पी मलेशिया के मसाले के व्यापार से थी। भारत उस वक्त मुगल सम्राटो के मातहत एक शक्तिशाली देश था, जिसे नाराज करना खतरे से खाली नही था।

डच और अंग्रेज अक्सर आपस मे भी लड पडते थे। आखिरकार अंग्रेज पूर्वी द्वीपो से हट गये और भारत पर ज्यादा ध्यान देने लगे। विशाल मुग़ल साम्राज्य उस वक्त कमजोर पड रहा था। इसलिए हौसलेबाज विदेशियो को मौका मिल गया। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस तरह हौसलेबाज लोग इग्लैण्ड और फ्रान्स से आये और उन्होंने किस तरह साजिश और लडाई के जरिये इस मिटते हुए साम्राज्य के हिस्सो पर कब्जा करने की कोशिश की।

: ८० :

## चीन में शान्ति और समृद्धि का युग

२२ जुलाई, १९३२

प्यारी बेटी, मुझे मालूम हुआ कि तुम बीमार थी, और मैं नही जानता कि

अभी तक ठीक हुई हो या नही। जेल के अन्दर खबरो के पहुँचने मे देर लग जाती है। मैं तुम्हारी मदद के लिए यहाँ से कुछ भी नही कर सकता। तुम्हे अपनी खबरदारी खुद ही करनी पडेगी। लेकिन मैं तुम्हारी बहुत याद करता रहूँगा। अजीब बात है कि हम सब किस तरह बिखरे हुए हैं। तुम पूना म हो, मम्मी इलाहाबाद मे बीमार है, और हममे से बाकी अलग-अलग जेलो मे पडे हैं।

कुछ दिनो से इन पत्रो के लिखने मे मुझे कुछ दिक्कत मालूम होने लगी है। तुमसे बात-चीत करने का मन-बहलाव कायम रखना आसान नही था। मुझे खयाल आता है कि तुम पूना मे बीमार पडी हो और किसे मालूम मैं तुमको फिर कब देख सकूँगा। हमारे मिलने के पहले न जाने कितने महीने या वर्ष और बीत जायँगे और इस बीच तुम कितनी बडी हो जाओगी।

लेकिन बहुत ज्यादा सोच-विचार करना, खासकर जेल मे, अच्छा नही। मुझे अपने को सम्हाल लेना चाहिए और थोडी देर के लिए आज को भूलकर बीती कल का खयाल करना चाहिए।

हम लोग मलेशिया मे थे और हमने वहाँ एक अजीब घटना घटते देखी। यूरोप एशिया मे सरज़ोर होता जा रहा था। पुर्तगाली आये, फिर स्पेन के लोग आये और बाद मे अग्रेज और डच आये। लेकिन इन यूरोपियो की हलचलें बहुत दिनो तक मलेशिया और पूर्वी टापुओ के अन्दर ही सीमित रही। पश्चिम की तरफ मुगलो की हुकूमत मे शक्तिशाली भारत था। उत्तर मे चीन था, जो अपनी हिफाज़त अच्छी तरह कर सकता था। इसलिए भारत और चीन मे यूरोपियो ने कोई दखल नही दिया।

मलेशिया से चीन सिर्फ एक कदम पर है। अब हमे वहाँ चलना चाहिए। यूआन-राजवश, जिसे मगोल कुबलइखाँ ने कायम किया था, खत्म हो गया था। १३६८ ई० मे लोगो ने बगावत करके बची-खुची मगोल फौजो को चीन की 'बडी दीवार' के उस पार खदेड दिया था। इस विद्रोह का नेता हाङ्-वू था, जो एक गरीब मज़दूर का लडका था और जिसे कोई शिक्षा नही मिली थी। लेकिन ज़िन्दगी की बडी पाठशाला का वह बडा अच्छा विद्यार्थी था। यह बडा सफल नेता निकला और बाद मे बडा अक्लमन्द शासक हुआ। सम्राट् होते हुए भी वह अहकार और घमण्ड से फूल नहीं उठा, बल्कि सारी ज़िन्दगी उसने इस बात को याद रखा कि वह एक गरीब का लडका है। इसने तीस वर्ष राज किया। लोग आज भी उसके शासन की याद इसलिए करते हैं कि उसने जन-साधारण की, जिनमे से वह उठा था, हालत सुधारने के लिए बराबर कोशिशें की। अन्त तक उसने अपनी शुरू की ज़िन्दगी की सादगी बनाये रखी।

हाङ्-वू नये मिङ् राजवश का पहला सम्राट् था। उसका पुत्र युङ-लो भी

बडा शासक हुआ है। वह १४०२ से १४४२ ई० तक सम्राट् रहा। लेकिन इन चीनी नामो से मैं तुम्हे परेशान नही करूँगा। बहुत-से अच्छे शासक भी हुए, लेकिन जैसा कि अक्सर होता है, बाद मे पतन होने लगा। मगर हमे इन सम्राटो को भूलकर चीन के इतिहास के इस ज़माने पर ग़ौर करना चाहिए। यह बहुत ही रौशन ज़माना था और उसमे खास मोहनी है। 'मिंड' के मानी ही 'रौशन' है। 'मिङ्' राजवश २७६ वर्षों तक, यानी १३६८ से १६४४ ई० तक चला। चीन के तमाम राजवशो मे यह राजवश सबसे ज्यादा चीनी नमूने का कहा जा सकता है। इसके ज़माने मे चीनियो को अपनी प्रतिभा के विकास का पूरा मौका मिला। यह वह ज़माना था, जिसमे देश और विदेश, दोनो तरफ से शान्ति रही। विदेशी नीति मे कोई सरज़ोरी नही थी और न साम्राज्य बढाने की कोई कार्रवाई की गई। पास-पडौस के मुल्को से दोस्ती थी। सिर्फ उत्तर मे घुमक्कड तातारियो से कुछ खतरा था। बाकी की पूर्वी दुनिया के लिए चीन एक ऐसे बडे भाई के समान था, जो चतुर, सुखी और सुसस्कृत था, जिसे अपने ऊँचे दर्जे का खूब भान था, पर जो छोटे भाइयो की भलाई चाहता था और उन्हे अपनी सभ्यता और सस्कृति सिखाने और उसमे हिस्सा देने के लिए तैयार था। और वे भी उसकी तरफ देखते थे। कुछ समय तक जापान ने भी चीन को अपने से ऊपर माना और शोगुन, जो जापान पर राज करता था, अपने को मिङ् सम्राटों का मातहत कहता था। कोरिया मे, सुमात्रा, जावा, वगैरा इन्दोनेशियाई टापुओ से और हिन्दचीन से, खिराज वसूल होता था।

युङ्-लो के राज-काल मे ही जल-सेनापति चेंङ्-हो की मातहती मे वह बडा जगी-बेडा मलेशिया पर चढ़ाई करने गया था। तीस वर्ष तक चेंङ्-हो सारे पूर्वी समुद्रो का चक्कर लगाता रहा और ईरान की खाडी तक पहुँच गया। टापू-राज्यो को डराने की यह साम्राज्यशाही कोशिश-जैसी नजर आती है। ज़ाहिरा तौर से देश-विजय का या किसी दूसरे फायदे का कोई इरादा नही था। स्याम और मज्जा-पहित की बढ़ती हुई ताकत की वजह से शायद युङ्-लो ने यह चढाई की हो। पर वजह चाहे जो रही हो, इस चढाई के बहुत बडे नतीजे निकले। इसने मज्जापहित और स्याम की बाढ को रोक दिया, मलक्का के नये मुसलमानी राज्य को बढावा दिया और चीनी सस्कृति को सारे इन्दोनेशिया मे और पूर्व मे फैला दिया।

चूँकि चीन और पडौसी देशो के बीच सुलह और दोस्ती थी, इसलिए घरेलू मामलो पर ज्यादा ध्यान दिया जा सकता था। शासन अच्छा था और टैक्सो को कम करके किसानो का बोझ हलका कर दिया गया था। सडको, नहरो, जलमार्गों और तालाबो की हालत सुधारी गई, फसल की खराबियो और अकालो का मुकाबला करने के लिए सार्वजनिक कोठार बनाये गए। सरकार ने कागज़ी नोट चलाये और इस तरह से साख बढ़ाकर व्यापार की तरक्की और माल की अदला-

बदली मे सहूलियतें पहुँचाईं। इन कागजी नोटो का खूब चलन था और ७० फीसदी टैक्स नोटो के रूप मे अदा किये जा सकते थे।

इस जमाने की सस्कृति का इतिहास और भी ज्यादा मार्के का है। चीनी लोग युगो से ज्यादा सुसस्कृत और कला-प्रिय रहे हैं। मिङ-काल के अच्छे शासन से और कला को दिये जानेवाले बढावे मे जनता की प्रतिभा जाग उठी। शानदार इमारतें बनी, सुन्दर चित्रकारी हुई और मिङ-युग के चीनी के बर्तन तरहदार शक्लो और सुन्दर कारीगरी के लिए मशहूर है। ये चित्रकारी उस महान् चित्रकारी की टक्कर की थी, जो इटली में उन दिनो 'रिनेसा' की उमग से पैदा हो रही थी।

पन्द्रहवी सदी के अन्त मे चीन दौलत, उद्योग-धन्धो और सभ्यता मे यूरोप से बहुत आगे था। सारे मिङ-काल में जितना आनन्द, और कला की जितनी हलचल चीन के लोगो मे थी, उतनी यूरोप के किसी देश मे या और कही भी नही थी। और याद रक्खो कि यह यूरोप के रिनेसां का जमाना था।

कला के लिहाज़ मे मिङ-काल की नामवरी की एक वजह यह भी है कि उस जमाने की नफीस कारीगरी के बहुत नमूने आज भी मिलते हैं। उस जमाने की बडी-बडी यादगारें है, लकडी और हाथी-दांत और हरे पत्थर का नक्काशी का बारीक काम है, और कांसे के कलश और चीनी के बर्तन है। मिङ-काल के अन्त मे खाको की बन्दिश ज़रूरत से ज्यादा बोझिल हो गई और इसने नक्काशी और चित्रकारी की सूरत कुछ बिगाड दी।

इसी ज़माने मे पुर्तगाली जहाज़ पहले-पहल चीन आये। वे १५१६ ई० मे कैन्टन पहुँचे। अलबुकर्क जिन चीनियो से मिलता था, उनसे अच्छा बर्ताव करने में बहुत सावधानी रखता था। और उसके पक्ष मे चीन मे बहुत अच्छी रिपोर्टें पहुँची थी। इसलिए जब पुर्तगाली चीन पहुँचे तो उनका स्वागत किया गया। लेकिन कुछ ही दिनो मे इन पुर्तगालियो ने कई तरह की बेजा हरकतें शुरू कर दीं और कई जगहो पर किले बना लिये? इस जगलीपन ने चीनी सरकार को हैरत मे डाल दिया। उसने जल्दबाज़ी की तो कोई कार्रवाई नही की, लेकिन अन्त मे जाकर इस सारे झुण्ड को चीन से बाहर निकाल दिया। इसके बाद वे ज्यादा शान्त और नम्र बन गये और १५५७ ई० मे उन्होंने कैन्टन के नज़दीक बसने की इजाज़त हासिल कर ली।

पुर्तगालियो के साथ ईसाई मिशनरी आये। इनमे सेण्ट फ्रान्सिस जेवियर का नाम बहुत मशहूर है। वह बहुत दिनों तक भारत मे रहा और कितने ही मिशन कॉलिज उसके नाम पर अभी तक कायम है। वह जापान भी गया था। ज़मीन पर उतरने की इजाज़त मिलने के पहले ही एक चीनी बन्दरगाह पर उसकी मौत हो गई। चीनी लोग ईसाई मिशनरियो को बढावा नही देते थे। पर दो जेजुयिट पादरियो

ने चीनी विद्यार्थियों का भेस धारण कर कई बरसों तक चीनी भाषा सीखी। वे कनफ़्यूशियन मजहब के बड़े विद्वान् हो गए और उन्होंने विद्वानों की हैसियत से भी नाम कमाया। इनमें से एक का नाम मैतिओ रिक्की था। यह बड़ा काबिल और प्रतिभाशाली विद्वान् था और इतना होशियार था कि उसने सम्राट् को भी अपने हाथ में कर लिया। बाद में उसने अपना [illegible] और उसके असर से चीन में ईसाइयत की हैसियत बहुत अच्छी हो गई।

डच लोग सत्रहवीं सदी के शुरू में मकाओ पहुँचे। इन लोगों ने व्यापार करने की इजाज़त माँगी, लेकिन इनके और पुर्तगालियों के बीच बड़ा बैर था, इसलिए पुर्तगालियों ने चीनियों को, इनके खिलाफ़ भड़काने की पूरी कोशिश की। उन्होंने चीनियों से कहा कि डच लोग खूँख्वार समुद्री-डाकू होते हैं। इसलिए चीनियों ने इजाज़त देने से इन्कार कर दिया। कुछ वर्ष बाद डचों ने जावा के अपने शहर बटाविया से एक बड़ा जंगी-बेड़ा [illegible] भेजा। उन्होंने बेवकूफ़ी से मकाओ पर जबर्दस्ती कब्ज़ा करने की कोशिश की, लेकिन चीनियों और पुर्तगालियों के मुकाबले में वे ठहर नहीं सके।

डचों के पीछे-पीछे अंग्रेज भी पहुँचे, लेकिन उन्हें भी कोई कामयाबी नहीं हासिल हुई। चीन के व्यापार में उनको मिङ-काल के खत्म होने पर कुछ हिस्सा मिला।

मिङ-काल, दुनिया की तमाम अच्छी और बुरी चीजों की तरह, सत्रहवीं सदी के मध्य में खतम हो गया। तातारियों का छोटा-सा बादल उत्तर में उठा और इतना बढ़ता गया कि उसकी छाया चीन पर भी पड़ने लगी। तुम्हें 'किनों' या सुनहरे तातारियों की याद होगी। उन्होंने सुडों को चीन के दक्षिण में भगा दिया था और बाद में ये खुद मंगोलों द्वारा खदेड़ दिये गए। इन्हीं किनों का भाई-बन्द एक नया कबीला उत्तर चीन में, जहाँ आज मंचूरिया है, मैदान में आया। वे अपने को मंचू कहते थे। यही मंचू लोग अन्त में मिङों के उत्तराधिकारी हुए।

लेकिन अगर चीन आपस में लड़नेवाले बराबरी के गुटों में बँटा हुआ न होता तो मंचुओं को चीन जीतने में बड़ी दिक्कत पड़ती। चीन, भारत, वगैरा लगभग हर देश में विदेशी हमलों के कामयाब होने की वजह देश की कमज़ोरी और वहाँ के लोगों की अन्दरूनी फूट रही है। इसी तरह चीन में भी सारे देश में झगड़े-फ़िसाद रहते थे। शायद बाद के मिङ-सम्राट् भ्रष्ट और नालायक थे या आर्थिक हालतें ऐसी थीं कि जिससे समाजी क्रान्ति हो जाय। मंचुओं के खिलाफ़ लड़ाई भी बड़ी मँहगी पड़ी और बड़ा भारी बोझ हो गई। सब जगहों पर बटमार-नेता पैदा हो गये और इनमें जो सबसे बड़ा था, वह तो कुछ दिनों सचमुच सम्राट् भी रहा। मंचुओं के खिलाफ़ मिङों की सेना का नेता उनका सेनापति वू-सान-क्वी था। वह इस मुश्किल

मे पड गया कि बटमार सम्राट् और मचुओ, इन दोनो मे से किसे पसन्द करे। बडी बेवकूफी करके या शायद गद्दारी की नीयत मे, उसने बटमार के खिलाफ मचुओ से मदद माँगी। मचुओ ने बडी खुशी के साथ मदद दी और हुआ यह कि वे पेकिंग मे जम गये। वू सान-क्वी को जब यह भरोसा हो गया कि मिड्गो का पक्ष लाचार हो चुका है, तो वह उन्हे छोड भागा और विदेशी हमलावर मचुओ से जा मिला।

यह कोई अचम्भे की बात नही है कि वू-सान-क्वी आज तक चीन मे हिकारत की निगाह से देखा जाता है, और चीनी लोग इसे अपने देश के इतिहास मे सबसे बडा देशद्रोही समझते हैं। देश की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी लेकर वह दुश्मन से जा मिला और इसने वास्तव मे दक्षिणी सूबो को पराधीन बनाने मे दुश्मनो की मदद की। इसका इनाम उसे यह मिला कि मचुओ ने उसे उन्ही सूबो का हाकिम बना दिया, जिन्हे उसने उनके लिए जीता था।

१६५० ई० मे मचुओ ने कैन्टन नगर भी जीत लिया और चीन पूरी तरह फतह हो गया। उनकी जीत की वजह शायद यह भी थी कि वे चीनियो से अच्छे लडाके थे। शायद अमन और खुशहाली के बहुत ही लम्बे समय ने चीनियो को फौजी मामले मे कमज़ोर बना दिया था। लेकिन मचुओ की विजय की तेज चाल के और भी कारण थे। खास तौर पर यह कि वे चीनियो को खुश रखने मे बडी होशियारी रखते थे। इससे पहले के जमानो मे तातारियो के हमलो के साथ-साथ अक्सर जुल्म और हत्याएं होती थी। पर इस मौके पर चीनी अफसरो को मिलाने की हर तरह से कोशिश की गई और इन्ही लोगो को फिर उनके ओहदो पर मुकर्रर कर दिया गया। इस तरह चीनी अफसर ऊँचे-से-ऊँचे ओहदो को सम्हाले हुए थे। शासन का पुराना तरीका भी , जो मिड्गो के ज़माने मे चलता था, बदला नही गया। शासन-व्यवस्था वही नज़र आती थी, पर उसे ऊपर से हाकनेवाले हाथ बदल गये थे।

लेकिन दो बडी बातें बतलाती थी कि चीनी लोग अब विदेशी हुकमत के अधीन थे। महत्व के केन्द्रो मे मचू फौजे तैनात कर दी गई थी और लम्बी चोटी रखने का मचू-रिवाज चीनियो पर, उनकी अधीनता की निशानी के तौर पर, लाद दिया गया था। हममे से ज्यादातर लोग हमेशा से यही खयाल करते आये हैं कि चीनियो के साथ लम्बी चोटियां जुडी हुई हैं। लेकिन असल मे यह रिवाज चीनियो का बिलकुल नही था। यह गुलामी का वैसा ही एक चिह्न था जैसे बहुत-से चिह्न आज कुछ भारतवासियो ने भी अपना लिये हैं, और वे उनके पीछे छिपी हुई शर्म और गिरावट को महसूस नही करते। अब चीनियो ने लम्बी चोटी रखना छोड दिया है।

इस तरह चीन का यह चमकदार मिङ्-काल खत्म हुआ। ताज्जुब होता है

कि लगभग तीन सदियों के अच्छे शासन के बाद यह इतनी तेज चाल से गिर क्यों गया। अगर यह सरकार इतनी ही अच्छी थी जितनी कि मानी जाती है, तो विद्रोह और अन्दरूनी झगड़े क्यों होते? मचूरिया से आनेवाले विदेशी हमलावरों को क्यों नहीं रोका जा सका? शायद अखीर के दिनों में सरकार अत्याचारी हो गई। और यह भी हो सकता है कि माता-पिता की तरह जरूरत से ज्यादा लाड करनेवाली सरकार ने कौम को कमजोर बना दिया हो। लाड-प्यार बच्चों और राष्ट्रों दोनों के लिए अच्छा नहीं होता।

यह भी अचम्भे की बात है कि संस्कृति के इतने ऊँचे दर्जे पर होता हुआ भी चीन उन दिनों विज्ञान, खोज, वगैरा दूसरी दिशाओं में आगे क्यों नहीं बढ़ा। यूरोप की कौमें उससे बहुत पीछे थी। फिर भी तुम देख सकती हो कि रिनेसाँ के जमाने में जीवट और हौसला और खोज की भावनाएँ उनमें उबल रही थी। इन दोनों की तुलना की जाय तो एक तो अधेड उम्र के सुसंस्कृत आदमी की तरह था, जो बिना हलचल का जीवन पसन्द करता हो, हौसले के कारनामों में जिसे लगन न हो और जो अपने ढर्रे में गड़बड़ नहीं चाहता हो, और जो कला और प्राचीन पुस्तकों के पढ़ने में लगा रहता हो, और दूसरा एक नौजवान लड़के की तरह था, जो किसी हद तक अनगढ़ हो, लेकिन जिसमें जीवट और कौतूहल की भावना भरी हो और जो हर जगह हौसले के कारनामों की तलाश में रहता हो। चीन में महान् सौन्दर्य है, लेकिन यह तीसरे पहर का या शाम का शान्त सौन्दर्य है।

## ८१

# जापान अपने को बन्द कर लेता है

२३ जुलाई, १९३२

चीन से अब हम जापान भी जा सकते हैं और रास्ते में जरा देर के लिए कोरिया में ठहर सकते हैं। मगोलों ने कोरिया में अपना कब्जा जमा ही रक्खा था। उन्होंने जापान पर भी हमला करने की कोशिश की, लेकिन कामयाबी नहीं मिली। कुबलइखाँ ने कई जगी बेड़े जापान भेजे, लेकिन वे सब भगा दिये गए। मालूम होता है कि मगोलों को समुद्र पर कभी भी सहूलियत महसूस नहीं हुई। वे तो स्वभाव से जमीन पर रहनेवाले लोग थे। टापू होने की वजह से जापान उनके हाथ नहीं आया।

मगोलों के चीन से खदेड़ दिये जाने के थोड़े ही दिन बाद कोरिया में एक क्रान्ति हुई और वे शासक, जिन्होंने मगोलों की अधीनता कबूल कर ली थी, निकाल दिये गए। इस विद्रोह का नेता ई-ताई-जो नामक एक देशभक्त कोरियाई था। वह वहाँ

का नया शासक बना और उसने एक राजवंश कायम किया, जो ५०० वर्षों से ज्यादा तक, यानी १३९२ ई० से अभी कुछ ही वर्ष पहले तक, रहा जबकि जापान ने कोरिया को अपने राज्य मे मिला लिया। उस वक्त सिओल को राजधानी बनाया गया था और अभी तक वही है। हम कोरिया के इतिहास के इन ४०० वर्षों पर गौर नही कर सकते। कोरिया, जो फिर चोसन कहलाने लगा था, करीब-करीब स्वाधीन मुल्क के तौर पर बना रहा, लेकिन था वह चीन की छत्रछाया मे और अक्सर उसे खिराज भी देता था। जापान से कई युद्ध हुए और कुछ मौक़े पर कोरिया की जीत हुई, लेकिन आज दोनो का कोई मुकाबला नही। जापान एक बडा और शक्तिशाली साम्राज्य है और साम्राज्यशाही शक्तियो मे जो बुराइयां पाई जाती हैं, वे सब उसमे मौजूद हैं। बेचारा कोरिया इस साम्राज्य का एक छोटा-सा टुकडा है, जिसका जापानी लोग शासन और शोषण करते हैं और जो कुछ बेकसी मगर बहादुरी के साथ अपनी आजादी के लिए लड रहा है। लेकिन यह तो हाल का इतिहास है और हम अभी बहुत पुराने जमाने की चर्चा कर रहे हैं।

तुम्हें याद होगा कि जापान में, बारहवी सदी के आखिरी हिस्से मे, शोगुन असली शासक हो गया था। सम्राट् तो गुड्डे की तरह था। पहली शोगुनशाही जिसे 'कामाकुरा शोगुनशाही' कहते है, करीब डेढ़ सौ वर्षों तक रही और उसने देश को कुशल शासन-व्यवस्था और शान्ति दी। उसके बाद हमेशा की तरह शासक राजवंश का पतन शुरू हुआ और इसके साथ बद-इन्तजामी, विलासी जीवन और गृह-युद्ध आये। सम्राट् मे, जो अपने अधिकारो को काम मे लाना चाहता था, और शोगुन मे झगडे हुए। सम्राट् नाकामयाब रहा और यही हाल शोगुनशाही का भी हुआ। १३३८ ई० मे शोगुनो की एक नई शाखा ने अधिकार जमाया। यह 'अशीकागा शोगुनशाही' थी जो २३५ वर्ष तक बनी रही। लेकिन यह मुठभेड और युद्ध का जमाना था। यह करीब-करीब चीन के मिंङो का जमाना था। एक शोगुन की बडी इच्छा थी कि मिंङो की मेहरबानी हासिल करे और वह इस हद तक गया कि उसने अपने को मिंङ सम्राट् का ताबेदार कबूल कर लिया। जापानी इतिहास-लेखक जापान के इस अपमान पर बहुत नाराज हैं और इस आदमी को बुरी तरह लानत देते हैं।

इसलिए चीन के साथ खूब दोस्ताना ताल्लुक थे और चीनी सस्कृति के बारे मे, जो उस समय मिंङो की छत्रछाया मे खिल रही थी, एक नई दिलचस्पी पैदा हो गई। चीन की हरेक चीज़—चित्रकला, कविता, वास्तुकला, दर्शन-शास्त्र और युद्ध-विज्ञान तक का अध्ययन किया जाता था और कद्र की जाती थी। इस जमाने में दो मशहूर इमारतें बनी। एक 'किनकाकूजी' यानी सोने का दालान और दूसरी 'जिनकाकूजी' यानी चादी का दालान।

कला के इस विकास और विलासी जीवन के साथ-साथ किसानो पर बहुत ज्यादा मुसीबत थी। उन पर टैक्सो का बहुत भारी बोझ था और गृह-युद्धो का सारा भार ज्यादातर उन्ही पर पडता था। हालत दिन-पर-दिन खराब होती गई, यहाँ तक कि केन्द्रीय सरकार का कोई भी असर राजधानी के बाहर नहीं रह गया।

पुर्तगाली लोग १५४२ ई० मे, इन लडाइयो के दौरान, वहाँ पहुँचे। याद रखने की दिलचस्प बात यह है कि जापान मे पहले-पहल बारूद के हथियार ये ही लोग ले गये थे। यह एक अजीब-सी बात मालूम होती है, क्योंकि चीनी लोग बहुत समय पहले से ही इन हथियारो को जानते थे और यूरोप को इनका ज्ञान मगोलो की मारफत चीन से ही हासिल करना पडा था।

सौ वर्षों के गृह-युद्ध से जापान को अन्त मे तीन व्यक्तियो ने बचाया। एक नोरबुनागाने जो 'दाइम्यो' या अमीर सरदार था, दूसरा हिदेयोशीने, जो किसान था और तीसरा तोकूगावा आयेयासू, जो बडे अमीर-सरदारो मे गिना जाता था। सोलहवी सदी के खत्म होते-होते सारा जापान फिर एक सूत्र मे बँध गया। किसान हिदेयोशी जापान के सबसे काबिल राजनीतिज्ञो मे गिना जाता है। लेकिन कहते हैं कि वह बहुत बदसूरत था—नाटे कद का और गुट्टा और बन्दर जैसे चेहरेवाला।

जापान को एक सूत्र मे बाँधने के बाद इन लोगो की समझ मे नही आया कि इतनी बडी फौज का क्या किया जाय। इसलिए कोई दूसरा धन्धा न पाकर उन्होंने कोरिया पर धावा बोल दिया। लेकिन बहुत जल्द उनको पछताना पडा। कोरिया के लोगो ने जापान की जल-सेना को हरा दिया और दोनो देशो के बीच के जापान-सागर पर अधिकार कर लिया। इस काम मे उन्हे एक नये किस्म के जहाज़ से बहुत मदद मिली, जिसकी छत कछुए की पीठ की तरह थी और जिस पर लोहे की चादरें जडी थी। इन जहाज़ो को 'कच्छप नौका' कहते थे। ये जहाज इच्छानुसार आगे-पीछे खेये जा सकते थे। इन नावो ने जापान के जगी-जहाज़ो को नष्ट कर दिया।

ऊपर लिखा तीसरा व्यक्ति तोकूगावा आयेयासू गृह-युद्ध से फायदा उठाने मे बहुत सफल रहा। यहां तक कि वह बडा मालदार हो गया और जापान के करीब सातवें हिस्से का मालिक हो गया। उसीने अपनी रियासत के बीचोबीच येदो नामक शहर बसाया। यही शहर बाद मे तोक्यो (टोकियो) हो गया। १६०३ ई० मे आयेयासू शोगुन बन गया और इस तरह तीसरी और आखिरी शोगुनशाही, 'तोकूगावा शोगुनशाही', शुरू हुई, जो २५० वर्ष से ज्यादा कायम रही।

इस बीच पुर्तगालियो का व्यापार छोटे पैमाने पर चल रहा था। करीब ५० वर्षों तक कोई यूरोपीय उनके मुकाबले का नही था, क्योंकि स्पेनवाले १५९२ ई० मे आये और डच और अंग्रेज इसके भी बाद आये। मालूम होता है कि सेंट फ्रान्सिस

ज़ेवियर ने १५४९ ई० मे उस देश मे ईसाई मजहब की शुरुआत की। जेजुइट लोगो को प्रचार करने की इजाजत थी और उनको बढावा भी दिया जाता था। असल मे इसकी वजह राजनीतिक थी, क्योकि बौद्ध-विहार साजिशो के अड्डे समझे जाते थे। इस वजह से इन भिक्षुओ को दवाया जाता था और ईसाई मिशनरियो के साथ रियायत की जाती थी। लेकिन बहुत जल्द जापानियो ने महसूस कर लिया कि ये मिशनरी खतरनाक हैं। इस पर फौरन ही उन्होंने अपनी नीति बदल दी और इनको बाहर निकालने की कोशिश करने लगे। १५८७ ई० मे ईसाइयो के खिलाफ एक हुक्मनामा निकाला गया, जिसमे यह ऐलान किया गया कि जो ईसाई मिशनरी बीस दिन के अन्दर जापान से बाहर न चला जायगा, उसे मौत की सजा दी जायगी। यह आज्ञा व्यापारियो के खिलाफ नहीं थी। उसमे यह बता दिया गया था कि ईसाई व्यापारी रह सकते हैं और व्यापार कर सकते है, लेकिन अगर वे अपने जहाज मे किसी मिशनरी को लायेंगे तो जहाज और माल दोनो जब्त कर लिये जायेंगे। यह आज्ञा निरी राजनीतिक कारणो से ही जारी की गई थी। हिदेयोशी को खतरे की आशका हुई। उसे लगा कि मुमकिन है ईसाई मिशनरी और उनके जरिये ईसाई बनाये हुए लोग राजनीतिक लिहाज से खतरनाक साबित हो। और उसका खयाल गलत नही था।

थोडे ही दिनो बाद एक घटना ऐसी हुई, जिससे हिदेयोशी को पूरा यकीन हो गया कि उसका डर सही था और उसे बहुत गुस्सा आया। तुम्हे याद होगा कि 'मनिल्ला गैलियो' जहाज साल मे एक बार फिलिपाइन और स्पेनी-अमेरिका के बीच आया-जाया करता था। झझावात ने एक बार इसे बहाकर जापानी किनारे पर ला पटका। स्पेनी कप्तान ने उस जगह के जापानियो को दुनिया का नकशा दिखाकर और खास तौर से स्पेन के राजा का लम्बा-चौडा साम्राज्य बताकर उन्हे डराना चाहा। लोगो ने कप्तान से पूछा कि स्पेन ने इतना बडा साम्राज्य कैसे पाया। उसने जवाब दिया कि यह तो बडी आसान बात है। पहले ईसाई मिशनरी गये और जब वहाँ के बहुत-से लोग ईसाई बन गये तो फौज भेजी गई कि नये ईसाइयो से मिलकर वह वहाँ की सरकार को उलट दे। जब उसकी खबर हिदेयोशी के पास पहुँची तो वह बहुत खुश नही हुआ, बल्कि ईसाई मिशनरियो का कट्टर विरोधी हो गया। उसने 'मनिल्ला गैलियो' को तो जाने दिया, लेकिन कुछ मिशन-रियो और नये ईसाइयो को मरवा डाला।

जब आयेयासू शोगुन हुआ तो वह विदेशियो से ज्यादा दोस्ती करने लगा। विदेशी व्यापार बढाने मे उसे खास दिलचस्पी थी, खासकर अपने बन्दरगाह येदो के साथ। लेकिन आयेयासू की मौत के बाद ईसाइयो पर अत्याचार फिर शुरू हो गया। उनके मिशनरी जबदस्ती निकाल दिये गए और जो जापानी ईसाई हो

गये थे, उनको ईसाइयत छोडने पर मजबूर किया गया। जापानी लोग विदेशियों की राजनीतिक चालो से इतने डरे हुए थे कि व्यापार की नीति भी बदल दी गई। वे किसी भी तरह विदेशियो को देश से बाहर रखना चाहते थे।

जापानियो की इस प्रतिक्रिया को हम समझ सकते हैं। लेकिन अचम्भे की बात यह है कि जापानियो की निगाह इतनी तेज थी कि उन्होंने साम्राज्यवाद के भेडिये को मजहब की भेड की खाल मे भी पहचान लिया, हालाँकि यूरोपीयों से उनका कोई पाला नही पडा था। बाद के ज़माने मे दूसरे देशो मे अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए यूरोपीय राष्ट्रो ने किस तरह मजहब से बेजा फायदा उठाया, इसे हम अच्छी तरह जानते हैं।

और अब इतिहास मे एक निराली चीज शुरू हुई। यह थी जापान की दरवाज़ा-बन्दी। दूसरो से अलग रहने की और दूसरो को दूर रखने की नीति समझ-बूझकर अपनाई गई और एक बार अपनाने के बाद इसे अद्भुत खूबी के साथ निभाया गया। अंग्रेज़ो ने जब यह देखा कि उन्हें पसन्द नही किया जाता, तो १६२३ ई० मे जापान जाना बन्द कर दिया। साल भर बाद स्पेनियो को, जिन्हें सबसे ज्यादा खतरनाक समझा जाता था, देश से निकाल दिया गया। यह कानून बना दिया गया कि व्यापार के लिए सिर्फ गैर-ईसाई ही विदेश जा सकते हैं और वे भी फिलीपाइन नही जा सकते। अन्त मे, करीब बारह वर्ष बाद, १६३६ ई० मे, जापान को सील बन्द कर दिया गया। पुर्तगाली निकाल दिये गए, सारे जापानी, चाहे ईसाई हो या गैर-ईसाई, किसी भी काम से विदेश जाने से रोक दिये गए, और विदेश मे रहने-वाला कोई भी जापानी वापस जापान नही आ सकता था, अगर आता तो उसके लिए मौत की सजा थी। सिर्फ कुछ डच लोग रह गए, पर उनको भी सख्त हिदायत थी कि वे बन्दरगाहें न छोडें और न देश के अन्दर कदम रक्खें। १६४१ ई० मे ये डच भी नागासाकी बन्दरगाह के एक छोटे-से टापू मे हटा दिये गए, जहाँ उन्हें बिलकुल कैदियो की तरह रखा गया। इस तरह सबसे पहले पुर्तगालियों के आने के ठीक निन्यानवें वर्ष बाद, जापान ने सारे विदेशी सम्पर्क तोड दिये और अपने को बन्द कर लिया।

१६४० ई० मे एक पुर्तगाली जहाज़ राजदूत-मण्डल को लेकर आया, जिसने दुबारा व्यापार चालू करने की इजाजत चाही। लेकिन उनकी कौन सुनता था। जापानियो ने राजदूतो को और जहाज़ के ज्यादातर मल्लाहों को मार डाला और कुछ मल्लाहो को ज़िन्दा छोड दिया ताकि वे वापस जाकर खबर दे दें।

दो सौ वर्षों से ज्यादा तक जापान का दुनिया से, और यहाँतक कि अपने पडोसी चीन और कोरिया से भी, कतई सम्पर्क नहीं रहा। जापानी टापू मे रहने-वाले कुछ डच और कभी-कभी आनेवाला कोई चीनी, जिनपर कडी नज़र रहती थी,

बस बाहरी दुनिया से जोडनेवाली ये ही कडियां थी। सारी दुनिया से यह अलगाव बडी असाधारण चीज है। लिखित इतिहास के किसी भी काल मे, और किसी भी देश मे, इस तरह की दूसरी मिसाल नही पाई जाती। रहस्यमय तिब्बत या मध्य अफ्रीका भी अपने पडोसियो से काफी राह-रस्म रखते थे। अपने को सब तरफ से अलहदा कर लेना बहुत खतरनाक चीज़ होती है, व्यक्ति के लिए भी और राष्ट्र के लिए भी। लेकिन जापान इस खतरे को पार कर गया; उसके यहां अन्दरूनी शान्ति रही और उसने अपने लम्बे युद्धो का नुकसान पूरा कर लिया। और अन्त मे जब १८५३ ई० मे उसने अपना दरवाज़ा और अपनी खिडकियां खोली तो एक और असाधारण काम करके दिखला दिया। वह तेजी के साथ आगे झपटा, उसने खोये हुए समय की पूर्ति कर ली, दौडकर यूरोपीय कौमो को पकड लिया और उन्ही की चालो मे उन्हें मात दे दी।

इतिहास की कोरी रूप-रेखा कितनी नीरस होती है और उसे पार करनेवाली शक्लें कितनी झीनी और बेजान नज़र आती हैं! फिर भी कभी-कभी जब हम पुराने ज़माने की लिखी हुई कोई पुस्तक पढते हैं, तो मुर्दा अतीत मे भी मानो जिन्दगी भर जाती है, और रगमच मानो हमारे बिलकुल नज़दीक आ जाता है, और उस पर जीते-जागते और प्रेम और नफरत करनेवाले मानव डोलने लगते हैं। इन दिनो मैंने पुराने जापान की एक आकर्षक महिला श्रीमती मुरासाकी के बारे मे पढा है, जिसे हुए सैकडो वर्ष गुज़र गये—जिन गृह-युद्धो का मैंने इस पत्र मे ज़िक्र किया है, उनमे बहुत पहले की बात है। इसने जापान सम्राट् के दरबार मे अपने जीवन का लम्बा बयान लिखा है। इस बयान के मज़ेदार पुटवाले और भीतरी भेदो व दरबारी तकल्लुफो की चर्चा से भरे अश जब मैंने पढे तो श्रीमती मुरासाकी की मूर्ति मेरे सामने आ गई, और पुराने जापान के दरबार के सीमित पर कलामय जीवन का जीता-जागता चित्र मुझे नज़र आने लगा।

## ८२
# यूरोप में खलबली

४ अगस्त, १९३२

कई दिन हो गये, मैंने तुम्हे पत्र नही लिखे, मुझे लिखे हुए करीब दो हफ्ते तो ज़रूर हो गये होंगे। जेलखाने मे भी, बाहरी दुनिया के समान ही, आदमी के चित्त की हालत बदलती रहती है। पिछले दिनो इन पत्रो के लिखने मे, जिन्हे सिवाय मेरे और कोई नही देखता, मेरी तबीयत बिलकुल नही लगी। ये पत्र नत्थी करके रख दिये गए हैं और आज से महीनों या वर्षों बाद उस वक्त तक पडे रहेंगे जब शायद तुम उन्हे देख पाओगी, आज से महीनो और बरसो बाद! जब हम फिर

मिलेंगे और एक-दूसरे को अच्छी तरह देखेंगे और मुझे यह देखकर हैरत होगी कि तुम कितनी बढ़ गई हो और बदल गई हो ! उस वक्त हमारे सामने चर्चा के लिए बहुत-सी बातें और करने के लिए बहुत-से काम होंगे और तुम इन पत्रों पर कोई ध्यान नहीं दोगी। उस वक्त तक इन पत्रों का अच्छा-खासा ढेर लग जायगा और मेरे जेल-जीवन के कितने ही सौ घंटे इनमें बन्द हो चुके होंगे।

लेकिन फिर भी मैं इन पत्रों को जारी रखूंगा और लिखे हुए पत्रों के ढेर को बढ़ाता रहूँगा। शायद तुम्हें इसमें दिलचस्पी हो, मुझे तो दिलचस्पी है ही।

अब हमें एशिया पर आये कुछ समय हो गया है और हमने भारत में, मलेशिया में, चीन में और जापान में इसके इतिहास का सिलसिला पकड़ रक्खा है। हमने यूरोप को, ठीक उस वक्त, जब वह जग रहा था और उसकी कहानी दिलचस्प हो रही थी, एकाएक छोड़ दिया था, वहाँ 'रिनेसाँ' यानी पुनर्जागरण हो रहा था, बल्कि यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसका नया जन्म हो रहा था, क्योंकि सोलहवीं सदी में जिस यूरोप का विकास हम देखते हैं वह किसी पुराने काल की हूबहू नकल नहीं थी। यह नई चीज़ या अगर पुरानी चीज भी थी तो कम-से-कम उसका गिलाफ बिलकुल नया था।

यूरोप में हर जगह खलबली और बेचैनी दिखाई देती थी और परकोटे में बन्द जगह फटकार निकल रही थी। सैकड़ों वर्षों से सामन्त-प्रथा पर ढाले गए एक समाजी और आर्थिक ढाँचे ने सारे यूरोप को ढक रखा था और उसे अपने शिकजे में दबा रखा था। कुछ समय तक इस खोल ने बढ़ोतरी को रोके रक्खा। लेकिन अब यह खोल जगह-जगह तड़कने लगा था। कोलम्बस और वास्को-द-गामा और समुद्री रास्तों के पहले खोजी इस खोल को तोड़कर बाहर निकल पड़े और अमेरिका और पूर्व के देशों से आई हुई स्पेन और पुर्तगाल की अतुल दौलत ने यूरोप को चौंधिया दिया और परिवर्तन की गति तेज कर दी। यूरोप अपने तंग समुद्री दायरे से बाहर नज़र डालने लगा और उसका ख़याल दुनिया की तरफ़ दौड़ने लगा। संसारव्यापी व्यापार और हुकूमत की बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ सामने खुल गईं। मध्यमवर्ग दिन-पर-दिन ज्यादा ताकतवर होने लगा और पश्चिमी यूरोप में सामन्त-प्रथा अधिकाधिक रुकावट बनने लगी।

सामन्त-प्रथा ज़माने के चलन से बाहर हो चुकी थी। बेहयाई के साथ किसान-वर्ग का शोषण इस प्रथा का असली तत्व था। इसके भीतर बेगार, बिना मजूरी का काम और ज़मींदार को दी जानेवाली तरह-तरह की खास लागें और वसूलियाँ थीं और यह ज़मींदार खुद ही न्यायाधीश भी होता था। किसानों की मुसीबतें इतनी ज्यादा थीं कि, जैसा कि हमने देखा है, किसानों के दंगे और युद्ध अक्सर भड़क उठा करते थे। ये किसान-युद्ध बढ़ने लगे और जल्दी-जल्दी होने लगे और इनके

साथ-साथ यूरोप के बहुत से हिस्सो मे आर्थिक क्रान्ति हो गई, जिसने सामन्त-प्रथा की जगह मध्यम-वर्ग का राज कायम कर दिया। इस क्रान्ति को लानेवाले ये ही किसान-विद्रोह थे।

लेकिन यह खयाल न करना कि ये परिवर्तन फौरन हो गये। इनमे बहुत दिन लगे और पचासो वर्षों तक यूरोप मे गृह-युद्ध जारी रहा। इन युद्धो की वजह से वास्तव मे यूरोप का बहुत बडा हिस्सा तबाह हो गया। ये सिर्फ किसानो के युद्ध नही थे, बल्कि जैसा आगे चलकर हम देखेगे, प्रोटेस्टण्टो और कैथलिको के मजहबी युद्ध थे, आज़ादी के राष्ट्रीय युद्ध थे—जैसे कि नीदरलैण्ड मे हुए— और बादशाह के निरकुश अधिकार के खिलाफ मध्यमवर्ग के विद्रोह थे। ये सब बाते बहुत चक्कर मे डालनेवाली है। क्यो, है या नही ? असल मे ये है ही ऐसी चक्कर मे डालनेवाली और पेचीदा। लेकिन अगर हम बडी-बडी घटनाओ और आन्दोलनो को नजर मे रखे तो इस घपले मे से कुछ मतलब की बात निकल सकते है।

याद रखने की पहली बात यह है कि किसान-वर्ग मे बडी तकलीफ और मुसीबत फैली हुई थी, जिसके नतीजो से किसान-युद्ध हुए। याद रखने की दूसरी बात है मध्यमवर्ग का उदय और पैदावारवालो की बढोतरी। चीजो के बनाने मे मजदूरो का उपयोग बढा और व्यापार ज्यादा चेता। तीसरी बात याद रखने की यह है कि ईसाई-सघ सबसे बडा जमीदार था। उसका बहुत जबर्दस्त निहित स्वार्थ था इसलिए लाज़िमी तौर पर वह अपनी भलाई इसीमे समझता था कि सामन्तशाही कायम रहे। वह ऐसा कोई परिवर्तन नही चाहता था कि जिससे उसकी दौलत और जायदाद का बहुत बडा हिस्सा हाथ से निकल जाय। इसलिए जब रोम से मजहबी विद्रोह उठा तो आर्थिक क्रान्ति के साथ उसका मेल मिल गया।

इस महान् आर्थिक क्रान्ति के साथ-साथ या उसके पीछे-पीछे समाज, मजहब और राजनीति—हर दिशा मे परिवर्तन होने लगे। अगर तुम सोलहवी और सत्रहवी सदी के यूरोप पर दूर से और काफी लम्बी-चौडी नजर डालो तो तुम्हारी समझ मे आ जायगा कि ये सारी हलचले, आन्दोलन और परिवर्तन किस तरह आपस मे गुथे और जुडे हुए थे। आम तौर पर इस ज़माने के तीन आन्दोलनो पर ज़ोर दिया जाता है—'रिनेसाँ' या पुनर्जागरण, 'रिफार्मेशन' या सुधार, और 'रेवोल्यूशन' या क्रान्ति। लेकिन याद रखो कि इन सबके पीछे आर्थिक मुसीबत और हलचल थी, जिसकी वजह से आर्थिक क्रान्ति पैदा हुई और सारे परिवर्तनो मे यही सबसे ज्यादा महत्व का था।

'रिनेसाँ' असल मे विद्या का पुनर्जन्म था, जिसमे कला, विज्ञान और साहित्य और यूरोपीय भाषाओ की तरक्की हुई। सुधार-आन्दोलन रोमन ईसाई-सघ के खिलाफ विद्रोह था। वह ईसाई-सघ मे फैले हुए भ्रष्टाचार के खिलाफ जनता

का विद्रोह था, वह यूरोप के राजाओ का पोप के उन दावो के खिलाफ़ भी विद्रोह था कि वह उन सबके ऊपर है, और तीसरे वह ईसाई-सघ को अन्दर से सुधारने की एक कोशिश थी। क्रान्ति राजाओ पर अकुश लगाने और उनके अधिकारो को सीमित करने के लिए मध्यमवर्ग की राजनीतिक लडाई थी।

इन सब आन्दोलनो के पीछे एक और कारण भी था—छपाई। तुम्हे याद होगा कि अरबो ने कागज़ बनाना चीनियो से सीखा था और यूरोप ने अरबो से सीखा। फिर भी सस्ता और काफी मात्रा मे कागज बनने मे बहुत दिन लग गये। पन्द्रहवी सदी के अन्त मे यूरोप के अलग-अलग हिस्सो—हालैण्ड, इटली, इग्लैण्ड, हगरी, वगैरा, मे किताबे छपने लगी थी। खयाल करो कि कागज़ और छपाई का प्रचार होने के पहले दुनिया किस तरह की रही होगी। आज हम लोग कागज़ और पुस्तको और छपाई के इतने आदी हो गए हैं कि इन चीज़ो से खाली दुनिया की कल्पना भी करना बहुत मुश्किल है। छपी हुई किताबो के बिना बहुत-से आदमियो को लिखना-पढना तक भी सिखाना करीब-करीब नामुमकिन है। पुस्तको को बडी मेहनत से हाथ से नक़ल करना पडे और वे बहुत थोडे लोगो तक पहुँच सके, पढाई ज्यादातर ज़बानी करनी पडे और विद्यार्थियो को हर बात ज़बानी याद करनी पडे, यह बात पुरानी किस्म के मकतबो और पाठशालाओ मे अभीतक पाई जाती है।

कागज़ और छपाई के चलन मे बहुत बडा परिवर्तन पैदा हो गया। छपी हुई स्कूली और दूसरी किताबें प्रकाशित होने लगी। बहुत जल्दी ही पढने-लिखनेवालो की सख्या बढ गई। जितना ही लोग ज्यादा पढते हैं, उतना ही ज्यादा सोचने लगते हैं (लेकिन यह बात विचारो से भरी पुस्तको पर ही लागू होती है, आजकल जो ज्यादातर रद्दी किताबें निकल रही हैं, उनके बारे में नहीं)। और जितना ज्यादा आदमी सोचता है उतना ही ज्यादा वह मौजूदा हालतो की छान-बीन करता है और उनकी आलोचना करता है। इसका नतीजा अक्सर यह होता है कि मौजूदा व्यवस्था को लोग चुनौती देने लगते हैं। अज्ञान परिवर्तन से हमेशा डरता है। वह अनजानी बातो से डरता है, इसलिए लीक पर ही चलना पसन्द करता है, चाहे उसमे उसे कितनी ही मुसीबत क्यो न हो। अपने अन्धेपन मे वह गिरता-पडता आगे चला जाता है। लेकिन सही अध्ययन से ज्ञान की कुछ मात्रा हासिल हो जाती है और आँखें कुछ खुल जाती है।

कागज और छपाई के ज़रिये आँखो के इस तरह खुल जाने की वजह से ही उन तमाम बडे आन्दोलनो को ज़बर्दस्त मदद मिली, जिनका अभी हम ज़िक्र कर चुके हैं। पहले-पहल छपनेवाली पुस्तको मे बाइबिलें थी और बहुत लोग, जिन्होंने अबतक बाइबिल का सिर्फ लातीनी मूल-पाठ सुना था और समझा न था, अब

इसे अपनी ही भाषा मे पढ सकते थे। इस पढने ने उन्हे अक्सर हर चीज के गुण-दोष देनेवाला बना दिया और पादरियो से कुछ मुक्त कर दिया। स्कूली-किताबें भी बहुत बडी संख्या मे छपने लगी। इसमे आगे हम यूरोप की भाषाओ को तेजी के साथ तरक्की करती पाते है। अभी तक लातीनी भाषा ने उन्हें दबा रखा था।

इस जमाने का यूरोप का इतिहास महान् व्यक्तियो के नामो से भरा पडा है। उनमे हमारा बाद मे परिचय होगा। हमेशा, जब कभी कोई देश या महाद्वीप अपनी बढोतरी रोकनेवाले खोल को तोडकर बाहर निकलता है तो वह कई दिशाओ मे तीर को तरह आगे बढ जाता है। इस बात को हम यूरोप मे पाते हैं और इस काल का यूरोपीय इतिहास सबसे ज्यादा दिलचस्प और जानकारी देनेवाला है। क्योंकि इसी समय मे आर्थिक और दूसरे महान् परिवर्तन हुए। भारत के या चीन के इसी काल के इतिहास का इसके साथ मुकाबला करो। जैसा मैंने तुमको बताया है, ये दोनो देश उस समय यूरोप से बहुत-सी बातो मे आगे थे। फिर भी भारत और चीन के इतिहासो मे एक तरह की निष्क्रियता है और उसीके मुकाबले मे इस काल के यूरोपीय इतिहास का रूप गतिशील है। भारत और चीन मे महान् शासक और महापुरुष हुए और ऊँचे दर्जे की सस्कृति थी, लेकिन जनता, खास तौर से भारत मे, बिलकुल चेतनाहीन और निष्क्रिय दिखाई देती है। आम लोग शासको के परिवर्तन को बिना किसी ऐतराज के बर्दाश्त कर लेते थे। मालूम होता है कि उन्हे साध लिया गया था और वे हुक्म बजाने के इतने आदी हो गये थे कि सत्ता को चुनौती देना उनके लिए असम्भव था। इसलिए उनका इतिहास कहीं-कहीं दिलचस्प होते हुए भी, जन-आन्दोलनो के इतिहास की बनिस्बत शासको और घटनाओ का लेखा ही ज्यादा है। मैं यकीन के साथ नही कह सकता कि यह बात चीन के बारे मे कहाँ तक सच है, लेकिन भारत के मामले मे तो जरूर यह बात सैकडो वर्षो से सच होती रही है। और इस काल मे भारत मे आनेवाली तमाम बुराइयाँ हमारे देशवासियो की इसी बुरी हालत के नतीजे हैं।

भारतवासियो मे एक दूसरा झुकाव यह देखा जाता है कि वे पीछे देखना चाहते हैं, आगे नही। हम इन ऊँचाइयो की तरफ देखते है, जिनपर हम कभी बैठे थे, उन ऊँचाइयो की तरफ नही, जिन पर पहुँचने की आशा रखते हैं। मतलब यह कि हमारे देशवासी गुजरे हुए जमाने के लिए अफसोस करते रहे और आगे कदम बढाने के बजाय, जिस किसीने भी हुक्म चला दिया उसीका हुक्म बजाते रहे। अन्त में जाकर साम्राज्य अपनी ताकत पर उतने नही टिके रहते जितने अपने अधीन लोगो की गुलामी की भावना पर।

: ८३ :

# 'रिनेसां' या पुनर्जागरण

५ अगस्त, १९३२

उस हलचल और मुसीबत में, जो सारे यूरोप में फैल रही थी, रिनेसां का सुन्दर फूल पैदा हुआ। पहले यह इटली की ज़मीन मे उगा, लेकिन प्रेरणा और पुष्टि के लिए उसने सदियो को लाँघकर पुराने यूनान की तरफ देखा। यूनान से उसने सौन्दर्य का प्रेम सीखा और शरीर के इस रूप-सौन्दर्य मे इसने एक नई चीज़ जोड़ दी, जो ज्यादा गहरी थी, जो मन से पैदा हुई थी और भावना से सम्बन्ध रखती थी। यह गहरी उपज थी और उत्तर इटली के शहरो ने इसे आसरा दिया। फ्लोरेन्स खासतौर से शुरू की 'रिनेसां' का घर था।

तेरहवीं और चौदहवी सदियों में फ्लोरेन्स इटालवी भाषा के दो महान् कवि, दान्ते और पेत्रार्क पैदा कर चुका था। मध्यकाल मे यह यूरोप की आर्थिक राजधानी बन गया था, जहाँ बड़े-बड़े साहूकार इकट्ठे होते थे। यह धनवानो और ऐसे लोगों का छोटा-सा गणराज्य था, जिनकी बहुत तारीफ नहीं की जा सकती और जो खुद अपने महापुरुषो के साथ अक्सर बुरा बर्ताव करते थे। इस शहर को 'चचल फ्लोरेन्स' कहा गया है। लेकिन साहूकारो और अत्याचारी व निरकुश शासको के होते हुए भी इस शहर ने पन्द्रहवी सदी के लिए पिछले दिनो में तीन निराले आदमी पैदा किये—लिओनार्दो द विंची, माइकेल ऐंजिलो और राफ़िएल। ये तीनो बहुत महान् कलाकार और चित्रकार हुए हैं। लिओनार्दो और माइकेल ऐंजिलो दूसरी बातो मे भी बढ़े-चढ़े थे। माइकेल ऐंजिलो अद्भुत मूर्तिकार था। ठोस सगमरमर से विशाल मूर्तियाँ गढ़कर निकालता था। वह बहुत बड़ा वास्तु-शिल्पकार भी था और रोम के सेन्ट पीटर के विशाल गिरजे का नकशा बहुत-कुछ उसीने बनाया था। उसने बहुत लम्बी, क़रीब ९० वर्ष की उम्र पाई और अपने मरने के दिन तक वह सेन्ट पीटर के गिरजे मे जुटा रहा। वह अन्दर से दुखी था और चीज़ो की ऊपरी सतह के नीचे कुछ-न-कुछ ढूंढा करता था। वह हमेशा सोचता रहता था और हमेशा अद्भुत कामो की कोशिश मे रहता था। एक बार उसने कहा था, "आदमी दिमाग से चित्र बनाता है, हाथ से नही।"

इन तीनो मे उम्र मे सबसे बड़ा लिओनार्दो था और कई बातो मे सबसे अद्भुत भी था। सच तो यह है कि वह अपने ज़माने का सबसे निराला आदमी था और याद रक्खो कि यह वह युग था, जिसमे कितने ही महापुरुष पैदा हुए। महान् चित्रकार और मूर्तिकार तो वह था ही, पर साथ-ही-साथ वह महान् विचारक और

विज्ञानी भी था। हमेशा प्रयोग करता था, हमेशा बातो की तह मे पहुँचने की कोशिश करता था और यह जानने की फिक्र मे रहता था कि किसी बात की असली वजह क्या है। वह उन महान् विज्ञानियो मे गिना जाता है, जिन्होने शुरू-शुरू मे आधुनिक विज्ञान की बुनियाद डाली। उसने कहा है—"कृपालु प्रकृति इस बात की कोशिश मे रहती है कि तुम दुनिया मे हर जगह कुछ-न-कुछ सीखो।" उसने जो कुछ पढा था, खुद ही पढा था। तीस वर्ष की उम्र मे उसने लातीनी भाषा और गणित का अध्ययन शुरू किया। वह एक बडा इजीनियर भी हो गया और उसीने पहले-पहल इस बात का पता चलाया कि आदमी के शरीर मे खून गर्दिश करता है। वह मनुष्य-शरीर की बनावट पर मोहित था। उसने कहा है—"बुरी आदतो और तग विचार के असभ्य लोग मनुष्य-शरीर जैसे सुन्दर औजार और हड्डी-चमडे के जटिल साधन के काबिल नही हैं। उन्हे तो खाना भरने और फिर उसे बाहर निकालने के लिए सिर्फ एक थैला चाहिए, क्योकि वे अन्न-नली के सिवा और कुछ नही हैं।" वह खुद शाकाहारी था और जानवरो को बहुत प्यार करता था। उसका एक दस्तूर यह था कि वह बाजार मे पिंजरा-बन्द चिडियो को खरीदकर उन्हे उसी वक्त छोड देता था।

उड्डयन यानी हवा मे उडने की कोशिश लिओनार्दो की कोशिशो मे सबसे ज्यादा अद्भुत थी। उसे कामयाबी तो नही मिली, लेकिन कामयाबी के रास्ते मे वह काफी बढ गया था। उसके सिद्धान्तो और प्रयोगो को आगे बढानेवाला उसके बाद कोई दूसरा नही हुआ। अगर उसके बाद उसीकी तरह के दो-तीन व्यक्ति और हो गये होते तो शायद आजकल का हवाई जहाज आज से दो या तीन सौ वर्ष पहले ही ईजाद हो चुका होता। यह अद्भुत और विचित्र आदमी १४५२ ई० मे पैदा हुआ और १५१९ ई० मे मरा। कहते हैं, उसका जीवन "प्रकृति के साथ सवाल-जवाब था।" वह हर वक्त सवाल करता रहता और प्रयोगो के जरिये उनके हल निकालने की कोशिश मे लगा रहता। भविष्य को पकडने की कोशिश मे वह सदा आगे बढता नजर आता था।

मैंने फ्लोरेन्स के इन तीनो व्यक्तियो का जिक्र किया है, खासकर लिओनार्दो का, क्योकि वह मेरा मन-भावता है। साजिशो से और जालिम व दगाबाज शासको से भरा हुआ, फ्लोरेन्स के गणराज्य का इतिहास कुछ ज्यादा भला और सिखाने-वाला नही है। लेकिन फ्लोरेन्स को बहुत-सी बातो के लिए क्षमा किया जा सकता है, यहाँतक कि हम उसके सूदखोरो को भी माफ कर सकते हैं। क्योकि उसने बहुत सारे महापुरुष पैदा किये। उसके इन महान् सुपुत्रो का साया उसपर अभी तक है और जब कोई इस सुन्दर शहर की सडको पर होकर गुजरता है या मध्य-

कालीन पुलो के नीचे बहती हुई मनोहर आर्नो नदी को देखता है तो उसके ऊपर जादू-सा छा जाता है और गुज़रा ज़माना मूर्त और सजीव हो उठता है। दान्ते सामने से निकलता है और उसकी प्यारी बीआत्रिस अपने पीछे फूलो की हलकी-सी सुगन्ध उडाती हुई गुज़र जाती है। लिओनार्दो तग गलियो मे टहलता हुआ दिखाई देता है—विचारो मे डूबा हुआ, और जीवन व प्रकृति के रहस्यो का ध्यान करता हुआ।

इस तरह रिनेसाँ इटली मे पन्द्रहवी सदी मे फूला-फला और वहाँ से धीरे-धीरे दूसरे पश्चिमी देशो की तरफ फैल गया। महान् कलाकारो ने मूर्तियो और चित्रो मे जान डालने की कोशिश की और यूरोप की चित्रशालाएँ और सग्रहालय उनकी बनाई हुई तस्वीरो और मूर्तियो से भरे पडे हैं। सोलहवी सदी के अन्त मे इटली मे कला का उभार बैठने लगा। सत्रहवी सदी मे हॉलैण्ड मे बडे-बडे चित्रकार पैदा हुए। इनमे रेम्ब्रान्त सबसे ज्यादा मशहूर है। स्पेन मे इसी समय वेलस्क्वेज़ हुआ। लेकिन अब मैं ज्यादा नामो का ज़िक्र नही करूँगा। उनकी सख्या बहुत ज्यादा है। अगर तुमको बडे-बडे उस्ताद चित्रकारो मे दिलचस्पी हो तो चित्रशालाओ मे जाकर उनकी रचनाओ को देखो। उनके नामो का कोई महत्व नही। जिस कला और सौन्दर्य को उन्होंने जन्म दिया, वही हमारे लिए एक सन्देश है।

इस काल मे, यानी पन्द्रहवी से सत्रहवी सदी तक, विज्ञान ने भी धीरे-धीरे आगे रास्ता तैयार किया और अपने लिए जगह बना ली। ईसाई-सघ से उसे सख्त लडाई करनी पडी, क्योकि ईसाई-सघ यह नही मानता था कि लोग सोचें और प्रयोग करें। उसके खयाल मे तो विश्व का केन्द्र पृथ्वी थी और सूर्य पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाता था और तारे आसमान में अपनी जगह पर जडे हुए थे। जो कोई इसके खिलाफ कहता, वह काफिर था और इनक्विज़िशन उसे सजा दे सकती थी। इसपर भी कोपरनिकस नाम के एक पोलैण्डवासी ने इस विश्वास को चुनौती दी और साबित किया कि पृथ्वी सूर्य के चारो ओर घूमती है। इस तरह उसने विश्व के बारे मे आजकल के विचारो की बुनियाद रखी। इसका जीवन-काल १४७३ से १५४३ ई० था। किसी तरह वह अपने क्रान्तिकारी और काफिरी मतो के लिए ईसाई-सघ के गुस्से से बच गया। पर उसके बाद जो हुए, उनकी किस्मत इतनी अच्छी नही थी। जिओर्दानो ब्रूनो नामक इटालवी को १६०० ई० में रोम में ईसाई-सघ ने इसलिए ज़िन्दा जलवा दिया कि वह इस बात पर ज़ोर देता था कि पृथ्वी सूर्य के चारो तरफ घूमती है और तारे खुद भी सूर्य हैं। इसके समकालीन गैलीलियो को भी, जिसने दूरबीन ईजाद की थी, ईसाई-सघ ने धमकी दी थी। लेकिन वह ब्रूनो की तरह बहादुर नही था और उसने अपनी राय वापस ले लेने मे

ही खैर समझी। इसलिए उसने ईसाई-सघ के सामने कबूल कर लिया कि उसने बेवकूफी से यह गलती की थी, और वास्तव मे पृथ्वी ही विश्व का केन्द्र है और सूर्य उसके चारो ओर घूमता है। फिर भी उसे प्रायश्चित्त करने के लिए कुछ दिन जेलखाने मे रहना पडा था।

सोलहवी सदी के प्रमुख वैज्ञानिको मे हार्वी हुआ, जिसने पूरी तौर से यह साबित कर दिया कि खून गर्दिश करता है। सत्रहवी सदी मे आइज़क न्यूटन हुआ, जिसका नाम ससार के सबसे महान् वैज्ञानिको मे गिना जाता है और जो एक महान् गणितज्ञ था। इसने पृथ्वी के गुरुत्वाकर्पण के नियम का, यानी इस बात का पता लगाया कि चीज़ें ज़मीन पर क्यो गिरती हैं। इस तरह उसने प्रकृति का एक और रहस्य खोल डाला।

इतनी बात, या इतनी थोडी-सी बात तो विज्ञान के बारे मे हुई। इस काल मे साहित्य भी आगे बढा। सब जगह फैली हुई नई भावना ने तरुण यूरोपीय भाषाओ पर भी ज़बर्दस्त असर डाला। ये भाषाएँ कुछ दिन से ^ल रही थी और हमने देखा कि इटली ने महान् कवि भी पैदा किये थे। इग्लैण्ड मे चॉसर[1] हुआ। लेकिन लातीन, जो विद्वानो की और ईसाई-स ा की भाषा थी, इन सबपर हावी थी। ये गँवारू भाषाएँ यानी 'वरनाक्यूलर' थीं और यह शब्द बहुत-से लोग अभी तक अजीब तौर पर भारतीय भाषाओ के लिए इस्तेमाल करते हैं। इन भाषाओ मे लिखना शान के खिलाफ समझा जाता था। लेकिन नई भावना ने, कागज़ और छपाई ने, इन गाषाओ को बढावा दिया। इटालवी भाषा पहले-पहल मैदान मे आई, फिर फ्रान्सीसी और अग्रेज़ी और स्पेनी और सबसे आखिर मे जर्मन। सोलहवीं सदी मे फ्रान्स के कुछ नौजवान लेखको ने पक्का इरादा कर लिया कि लातीन मे न लिखकर अपनी भाषा मे ही लिखेंगे, अपनी ही 'गँवारू भाषा' की तरक्की करेंगे ताकि वह अच्छे-से-अच्छे साहित्य का उपयुक्त माध्यन बन सके।

इस तरह यूरोप की भाषाओ ने प्रगति की और वे धनी और शक्तिशाली बनी, और उनका आज का खरा रूप बना। मैं मशहूर लेखको के ज्यादा नाम नही गिनाऊँगा, दो-चार का ही ज़िक्र करूँगा। इग्लैण्ड मे १५६४ से १६१६ ई० तक मशहूर नाटककार शेक्सपियर हुआ। उसके बाद ही सत्रहवी सदी मे 'पैरेडाइज़ लॉस्ट' का लेखक अन्धा कवि मिल्टन हुआ। फ्रान्स मे सत्रहवी सदी मे देकार्त नामक दार्शनिक और मॉलियर नामक नाटककार हुआ। मॉलियर ने पेरिस के बडे सरकारी नाटक-घर कोमि फ्रान्स्वाज़ की नीव डाली। स्पेन मे शेक्सपियर का समकालीन थरवान्तेज़ हुआ, जिसने 'डॉन क्विक्सोत' नामक पुस्तक की रचना की।

---

[1] अंग्रेजी भाषा का आदि कवि।

एक और नाम का भी मैं ज़िक्र करूँगा, उसकी महानता के कारण नही बल्कि इसलिए कि वह मशहूर है। यह नाम मैकियावेली का है, जो फ्लोरेन्स का रहनेवाला था। वह पन्द्रहवी-सोलहवी सदियो का मामूली राजनीतिज्ञ था, लेकिन उसने 'प्रिन्स' नाम की एक पुस्तक लिखी, जो बहुत मशहूर हुई। इस पुस्तक से उस ज़माने के राजाओ और राजनीतिज्ञो के विचारो की झलक मिल जाती है। मैकियावेली ने लिखा है कि सरकार के लिए मज़हब की ज़रूरत है, इसलिए नही कि जनता को सदाचारी बनावे, बल्कि इसलिए कि उसपर हुकूमत करने में मदद मिले और उसे दबाकर रखा जा सके। शासक का यह कर्तव्य भी हो सकता है कि वह ऐसे मज़हब का समर्थन करे, जिसे वह झूठा समझता हो। मैकियावेली ने लिखा है "राजा को जानना चाहिए कि एक ही साथ मनुष्य और पशु का, शेर और लोमडी का नाटक कैसे खेला जा सकता है। उसे न तो अपने वादे का पालन करना चाहिए और न वह कर ही सकता है, जबकि वैसा करने से उसका नुकसान होता हो । मैं साहस के साथ कह सकता हूँ कि हमेशा ईमानदार होना बहुत हानिकर होता है, लेकिन इसके विपरीत, खुदा-परस्त और दीनदार, दयावान और भक्त के स्वांग रचना लाभदायक है। नेकी के आडम्बर से ज़्यादा फायदेमन्द और दूसरी चीज़ नहीं है।"

क्यो, कितनी बुरी बात है। जो राजा जितना ही ज़्यादा बदमाश, उतना ही वह अच्छा! अगर औसत राजा के दिमाग की यूरोप मे उस वक्त यह हालत थी तो वहाँ बराबर झगडे बने रहना कोई ताज्जुब की बात नही। लेकिन इतनी दूर जाने की क्या ज़रूरत है? आजकल की साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी बहुत-कुछ मैकियावेली के राजा की तरह ही बर्ताव करती हैं। सदाचार के आडम्बर के नीचे लालच, ज़ुल्म और बे-उसूलापन छिपे रहते हैं, सभ्यता के मुलायम दस्ताने मे हैवान का खूनी पजा छिपा रहता है।

- . ८४

## प्रोटेस्टेण्टों का विद्रोह और किसानों का युद्ध

८ अगस्त, १९३२

पन्द्रहवी सदी से लेकर सत्रहवी सदी तक के यूरोप के बारे मे कई पत्र मैं लिख चुका हूँ। मध्य-युगो के गुज़रने, किसानो की महा मुसीबत, मध्यमवर्ग के उदय, और अमेरिका की और पूर्व जाने के समुद्री रास्तो की खोज, और यूरोप मे कला, विज्ञान और भाषाओ की प्रगति के बारे में मैंने कुछ-न-कुछ तुमको बता दिया है। लेकिन तसवीर की रूप-रेखा पूरी करने के लिए इस ज़माने की बाबत अभी बहुत कहना बाकी है। ध्यान रहे कि मेरे दो आखिरी पत्र, और वह पत्र, जो मैं समुद्री

रास्तो के बारे मे लिख चुका हूँ, यह पत्र जो लिख रहा हूँ, और शायद आगे लिखे जानेवाले और भी एक-दो पत्र, ये सब यूरोप के इसी जमाने से ताल्लुक रखते हैं हालाँकि मैं जुदा-जुदा आन्दोलनो और हलचलो के बारे मे अलग-अलग लिख रहा हूँ, लेकिन ये सब बातें करीब-करीब एक ही जमाने मे हुईं और एक-दूसरे पर असर भी डालती रही।

'रिनेसाँ' के समय के पहले ही रोमन ईसाई-सघ के ढाँचे मे खडखडाहट होने लगी थी। यूरोप के राजा और कौमें दोनो ईसाई-सघ के जुल्मो को महसूस करने लगे थे और कुछ बडबडाने लगे थे और उनका विश्वास डगमगाने लगा था। तुम्हे याद होगा कि सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय की पोप से काफी झडप हुई थी और उसने ईसाइयत से छेक दिये जाने की भी कुछ परवाह न की थी। अविश्वास और इन लक्षणो से रोम चिढ गया और उसने इस कुफ्र को कुचल देने का फैसला कर लिया। इसी इरादे से 'इनक्विजिशन' कायम की गई और सारे यूरोप मे, उन सब आदमियो को, जिन्हे काफिर बतलाया जाता था, और उन सब औरतो को जिनपर डायनें होने का जुर्म लगाया जाता था, जला दिया गया। प्राहा के जॉन हस को चालबाजी से जला दिया गया, इसपर बोहेमिया मे उसके अनुयायियो ने विद्रोह का झण्डा खडा कर दिया। रोमन ईसाई-सघ के खिलाफ विद्रोह की इस नई भावना को 'इनक्विजिशन' के सारे आतक भी दबा न सके। वह फैलती ही गई और इसमे शक नही कि इसके साथ किसानो का वह असन्तोष भी जुड गया, जो बडे जमीदार ईसाई-सघ के खिलाफ उनमे पैदा हो गया था। बहुत जगह राजाओ ने भी अपने स्वार्थ की खातिर इस भावना को उकसाया। उनकी ईर्ष्या व लालच भरी आँखें, ईसाई-सघ की विशाल सम्पत्ति पर लगी हुई थी। पुस्तको व बाइबिलो की छपाई ने भीतर-ही-भीतर सुलगती हुई आग को और भी भडकाया।

सोलहवी सदी की शुरुआत मे, जर्मनी मे, मॉर्टिन लूथर पैदा हुआ जो आगे चलकर रोम के खिलाफ विद्रोह का एक महान् नेता होनेवाला था। वह एक ईसाई पादरी था। एक बार जब वह रोम गया तो वहाँ ईसाई-सघ के भ्रष्टाचार और विलास ने उसके दिल को ग्लानि से भर दिया। यह मतभेद बढता ही गया, यहाँतक कि रोमन ईसाई-सघ के दो टुकडे हो गये और पश्चिमी यूरोप, धर्म व राजनीति दोनो के मामलो मे दो खेमो मे बँट गया। पूर्वी यूरोप और रूस का पुराना कट्टर यूनानी ईसाई-सघ इस झगडे से अलग ही रहा। जहाँतक उसका ताल्लुक था वह खुद रोम को ही सच्ची ईसाइयत से बहुत दूर समझता था।

इस तरह 'प्रोटेस्टेण्ट' विद्रोह शुरू हुआ। इसे प्रोटेस्टेण्ट इसलिए कहा गया कि यह रोमन ईसाई-सघ के कई कट्टर उसूलो का 'प्रोटेस्ट' यानी विरोध करता

भावना थी। हैप्सबर्ग वंश का चार्ल्स पंचम उस समय पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् था। अपने पिता और दादा की शादी के परिणाम-स्वरूप, उसे संयोग से विरासत में एक बड़ा साम्राज्य मिल गया था, जिसमें आस्ट्रिया, जर्मनी (नाम मात्र को) स्पेन, नेपल्स और सिसली, नीदरलैण्ड और स्पेनी अमेरिका शामिल थे। उन दिनों शादी के जरिये, अपनी रियासत का विस्तार करने का यह तरीक़ा यूरोप में अच्छा चल निकला था। इसी वजह से, खुद किसी काबिल न होते हुए भी, चार्ल्स का आधे यूरोप पर राज करने का संयोग बन गया और कुछ दिन तो वह बहुत-बड़ा आदमी नजर आने लगा था। उसने प्रोटेस्टेण्टों के खिलाफ पोप की मदद करने का फ़ैसला किया। 'रिफॉर्मेशन' का ख़याल साम्राज्य के ख़याल से मेल नहीं खाता था। लेकिन बहुत-से छोटे-छोटे जर्मन राजाओं ने प्रोटेस्टेण्टों का साथ दिया और सारे जर्मनी में रोमन और लूथरन, दो फ़िसादी फिरके बन गये। इसका क़ुदरती नतीजा यह हुआ कि जर्मनी में गृह-युद्ध छिड़ गया।

इंग्लैण्ड में बहु-विवाहित बादशाह हेनरी अष्टम ने पोप के खिलाफ प्रोटेस्टेण्टों, का, या यों कहो कि खुद अपना, साथ दिया। उसकी ललचाई आँखें ईसाई-संघ की सम्पत्ति पर लगी हुई थीं, इसलिए रोम से सम्बन्ध तोड़कर उसने मठों और गिरजों की सारी उपजाऊ जमीनें जब्त कर लीं। पोप से सम्बन्ध तोड़ने का एक निजी कारण यह भी था कि वह अपनी पत्नी को तलाक देकर दूसरी स्त्री से शादी करना चाहता था।

फ्रान्स में कुछ अजीब ही हालत थी। वहाँ बादशाह का प्रधान मन्त्री मशहूर कार्डिनल रिशैल्यू था और राज्य का असली शासक वही था। रिशैल्यू ने फ्रान्स को रोम और पोप के पक्ष में रक्खा और अपने यहाँ प्रोटेस्टेण्टों का खूब दमन किया। लेकिन राजनीतिक साजिशें ऐसी होती हैं कि उसीने जर्मनी में प्रोटेस्टेण्ट मत को बढ़ावा दिया ताकि जर्मनी में गृह-युद्ध हो जाय और वह कमजोर हो जाय और उसमें फूट पड़ जाय। फ्रान्स और जर्मनी की आपसी दुश्मनी यूरोप के इतिहास में एक अटूट धागे की तरह चली आ रही है।

लूथर सबसे बड़ा प्रोटेस्टेण्ट था और उसने रोम की सत्ता का विरोध किया। लेकिन यह ख़याल न कर लेना कि वह मजहब के मामले में उदार था। वह उतना ही कट्टर था जितना कि पोप जिससे, वह लड़ रहा था। इसलिए 'रिफॉर्मेशन' से यूरोप में कोई मजहबी आजादी नहीं आई। इसने एक नये ढंग के मजहबी-दीवाने पैदा कर दिये—"प्यूरिटन"[1] और कैलविनिस्ट। कैलविन प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन के बाद के नेताओं में से था। वह अच्छा संगठन करनेवाला था और कुछ दिनों तक

---

[1] १६वीं और १७वीं सदियों में इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टेण्ट लोगों का एक समुदाय, जो सादगी पर जोर देता था।

जेनेवा शहर की वागडोर उसके हाथ में रही। क्या तुम्हें जेनेवा के पार्क में 'रिफ़ॉर्मेशन' के उस बड़े स्मारक की याद है, जिसकी दूर-दूर तक फैली हुई दीवारो पर कैलविन वगैरा की मूर्तियाँ हैं? कैलविन इतना कट्टर था कि उसने बहुत-से लोगो को सिर्फ इसलिए जलवा दिया था कि वे उससे सहमत नही होते थे और स्वतन्त्र विचारक थे।

लूथर और प्रोटेस्टेण्टो की आम लोगो ने भी खूब मदद की, क्योंकि उनमें रोमन ईसाई-सघ के ख़िलाफ बड़ा ज़बर्दस्त असन्तोष था। जैसा मैं बतला चुका हूँ, किसान वर्ग बड़ी मुसीबत मे था और बार-बार दगे होते थे। ये दगे बढकर जर्मनी मे बाकायदा किसान-युद्ध की सूरत मे बदल गये। बेचारे गरीब किसान उस बुरी प्रणाली के ख़िलाफ उठ खड़े हुए, जो उनको पीस रही थी और उन्होंने बहुत ही मामूली और वाजिब हकों की माँग की—यानी यह कि गुलाम-काश्तकार की प्रथा उठा दी जाय और उन्हें मछली मारने और शिकार करने के हक दिये जायँ। लेकिन इन मामूली हको को भी नही माना गया और जर्मनी के सामन्तो ने हर तरह की बर्बरता से उन्हें कुचलने की कोशिश की। और उस महान् सुधारक लूथर का क्या रुख था? क्या उसने गरीब किसानों का साथ दिया और उनकी वाजिब माँगो का समर्थन किया? नही बल्कि किसानो की इस माँग पर कि गुलाम-प्रथा तोड दी जाय उसने कहा—"इस शर्त से तो सब आदमी बराबर हो जायँगे और ईसा का आध्यात्मिक राज्य बदलकर एक बाहरी सांसारिक राज्य बन जायगा। असम्भव! पृथ्वी का कोई ऐसा राज्य रह ही नही सकता, जिसमें सब व्यक्ति बराबर हो। कुछको आज़ाद, दूसरो को गुलाम, कुछको राजा, दूसरो को प्रजा, रहना ही पड़ेगा।" उसने किसानो को लानत दी और कहा कि उन्हें मार डालना ज़रूरी है "इसलिए जो लोग भी ऐसा कर सकते हो, वे उनको (किसानो को) खुल्लम-खुल्ला या छिपकर काट डालें, कत्ल कर डालें और छूरो से भोक दें, और समझ लें कि एक बागी से बढकर ज़हरीला, बुरा और निपट शैतान कोई नही है। तुम उसे मार डालो, जैसे तुम पागल कुत्ते को मार डालते हो। अगर तुम उसपर टूट नही पडोगे तो वह तुमपर और सारे देश पर टूट पड़ेगा।" एक मजहबी नेता और सुधारक के मुँह से निकलनेवाली यह कैसी प्यारी भाषा है!

इन सब बातो से साफ हो जाता है कि स्वतन्त्रता और मुक्ति की सारी बातें सिर्फ ऊँचे वर्ग के लोगो के लिए थी, जनता के लिए नही। करीब-करीब हरेक युग मे जनता की ज़िन्दगी जानवरो से कुछ ज़्यादा अच्छी नही रही है। लूथर के मुताबिक उनकी ज़िन्दगी ऐसी ही बनी रहनी चाहिए, क्योंकि विधाता का ऐसा ही विधान है। रोम के खिलाफ प्रोटेस्टेण्ट विद्रोह का सबसे [illegible] रण जनता की आर्थिक मुसीबत था। उसने इसे [illegible] अपना [illegible] या। लेकिन जब यह अन्देशा

होने लगा कि कही ये गुलाम-किसान बहुत आगे न बढ जायँ और अपनी गुलामी से छुटकारा न पा लें—(यह छोटी-सी बात काफी थी), तो प्रोटेस्टेण्ट नेता उनको कुचलने के लिए राजाओ से मिल गये। जनता के दिन अभी बहुत दूर थे। नया युग, जो उदय हो रहा था, मध्यमवर्ग के लोगो का युग था। सोलहवी और सत्रहवीं सदियो की मुठभेडो और युद्धो के बीच, इस वर्ग को, अटल रूप से, सीढी-दर-सीढी ऊपर चढता हुआ देखा जा सकता है।

जहाँ कही भी यह आगे बढता हुआ मध्यमवर्ग काफी मजबूत था, वहाँ-वहाँ प्रोटेस्टेण्ट मत फैल गया। प्रोटेस्टेण्टो के भी कई वर्ग और फिरके थे। इग्लैण्ड में बादशाह खुद ईसाई-सघ का प्रधान—'दीन-रक्षक' बन गया, और व्यवहार में ईसाई-सघ खत्म हो गया और सरकार का बस एक महकमा बन गया। तबसे इग्लैण्ड का ईसाई-सघ वैसा ही चला आ रहा है।

दूसरे मुल्को मे, खासतौर से जर्मनी, स्वीजरलैण्ड और नीदरलैण्ड मे, दूसरे फिरको का महत्त्व बढा। कैलविन मत खूब फैला, क्योंकि वह मध्यमवर्ग के विकास से मेल खाता था। मजहबी मामलो मे कैलविन के मन मे भयकर वैर-भाव था। गैर-ईसाइयो पर तरह-तरह के जुल्म किये जाते थे और उनको जला दिया जाता था और दीनदारो पर कडा अनुशासन था। लेकिन व्यापार के मामलो मे, उसका उपदेश बढते हुए उद्योग-धन्धो और व्यापार के ज़्यादा अनुकूल था, हालाँकि रोमन उपदेश ऐसा नही था। व्यापार के मुनाफो को बरकत दी जाती थी और लेन-देन को बढावा दिया जाता था। इस तरह नये मध्यमवर्ग ने पुराने मजहब का यह नया तर्जुमा अगीकार कर लिया और वह बडे मजे से धन कमाने मे जुट गया। उन्होंने सामन्त सरदारो के खिलाफ अपनी लडाई मे जनता का उपयोग कर लिया था। अब, सरदारो पर विजय हासिल करने के बाद, उन्होंने जनता को धता बताई, या उसकी छाती पर चढ बैठे।

लेकिन अब भी मध्यमवर्ग को बहुत-सी रुकावटो का सामना करना बाक़ी था। अभी बादशाह उनके रास्ते का काँटा था। बादशाह ने सामन्तो से लडने मे शहर के लोगो का साथ दिया था। अब सामन्तो के कमजोर हो जाने पर बादशाह की ताकत बहुत बढ गई और मालूम होता था कि उसने मैदान मार लिया। उसके और मध्यमवर्गों के बीच खीचतान अभी शुरू नही हुई थी।

: ८५ :

## सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के यूरोप में निरंकुशता

२६ अगस्त, १९३२

मैं फिर बडा लापरवाह हो गया। इन पत्रों का लिखे हुए मुझे बहुत दिन हो

गये हैं। यहाँ मुझसे न तो कोई जवाब तलब करनेवाला है और न कोई बढावा ही देनेवाला है। इसीलिए मैं अक्सर ढीला पड जाता हूँ और दूसरे कामो मे लग जाता हूँ। अगर हम साथ होते तो शायद यह बात न होती। क्यो ठीक है न? लेकिन अगर तुम और मैं एक दूसरे से बात-चीत कर सकते तो मुझे इन पत्रो के लिखने की ज़रूरत ही क्यो पडती?

पिछले पत्रो मे मैंने तुम्हे यूरोप के उस ज़माने का हाल लिखा था, जब वहाँ बडी उथल-पुथल थी और बडा परिवर्तन हो रहा था। उन पत्रो मे सोलहवी और सत्रहवी सदी के बडे-बडे परिवर्तनो का ज़िक्र किया गया था। ये परिवर्तन उस आर्थिक क्रान्ति के साथ या बाद मे आये, जिसने मध्य-युगो का अन्त करके मध्यमवर्ग को ऊपर चढा दिया था। आखिरी पत्र मे मैंने पश्चिमी यूरोप के ईसाई साम्राज्य के टूटने और दो फिरको, प्रोटेस्टेण्ट और रोमन कैथलिक, मे बँट जाने का ज़िक्र किया था। इन दोनो फिरको की मजहबी लडाई का खास जगी मैदान जर्मनी बना हुआ था, क्योकि वहाँ दोनो दल करीब-करीब बराबर की जोड के थे। पश्चिमी यूरोप के दूसरे देश भी कुछ हद तक इस झगडे मे उलझे हुए थे। लेकिन इग्लैण्ड यूरोप के इन मज़हबी लडाई-झगडो से अलग रहा। अपने बादशाह हेनरी अष्टम के राज मे इस देश ने बिना किसी अन्दरूनी गडबड के रोम से अपना नाता तोड लिया और अपना निजी ईसाई-सघ कायम कर लिया, जो कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट ईसाई-सघो के बीच का था। हेनरी मज़हब की कुछ भी परवाह नही करता था। उसे तो ईसाई-सघ की ज़मीनो की ज़रूरत थी, वह उसने लेली। वह दूसरी शादी करना चाहता था, सो वह भी उसने करली। इस तरह रिफॉर्मेशन का सबसे बडा नतीजा यह हुआ कि राजा और बादशाह पोप की लगाम से बरी हो गये।

जिस वक्त 'रिनेसाँ' और 'रिफॉर्मेशन' के ये आन्दोलन और आर्थिक उथल-पुथल यूरोप के नकशे को बदल रहे थे, उस वक्त वहाँ राजनीति के पीछे की ज़मीन कैसी थी? सोलहवी और सत्रहवी सदियो मे यूरोप का नकशा किस तरह का था? इन दो सौ वर्षों मे यूरोप का नकशा सचमुच बदलता जा रहा था। इसलिए हमे सोलहवी सदी के शुरू के नकशे पर गौर करना चाहिए।

दक्षिण-पूर्व मे तुर्क लोग कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा जमाये हुए थे और उनका साम्राज्य हगरी की तरफ बढ रहा था। दक्षिण-पश्चिमी कोने में अरबी विजेताओ के वशज मुसलमान सरासीन ग्रैनेडा से खदेडे जा चुके थे और फर्दिनेन्द व आइज़ा-बेला के जुडवाँ शासन मे स्पेन एक ईसाई शक्ति बनकर उठ चुका था। स्पेन मे ईसाइयो और मुसलमानो की सदियो की मुठभेड ने, स्पेनवासियो को अपने कैथलिक मजहब से, दिली जोश और कट्टरपन के साथ, चिपके रहने को मजबूर कर दिया था। स्पेन मे ही भयकर 'इनक्विज़िशन' कायम हुई। अमेरिका की खोज के जादू

और वहाँ से आनेवाली दौलत के असर से स्पेन यूरोप की राजनीति मे सबसे आगे हिस्सा लेने लगा था।

नकशे पर फिर निगाह दौडाओ। इग्लैण्ड और फ्रान्स लगभग वैसे ही थे जैसे कि आज हैं। नकशे के बीच मे एक साम्राज्य है, जो बहुत-सी जर्मन रियासतो मे बँटा हुआ है, जिनमे से हरेक करीब-करीब स्वाधीन थी। राजाओ , ड्यूको पादरियो, निर्वाचको, वगैरा के मातहत छोटी-छोटी रियासतो का यह अजीब जमघट था। इसमे खास रियायतोवाले कुछ शहर भी थे, और उत्तर के व्यापारी शहरो ने मिलकर एक सघ भी बना लिया था। फिर स्वीज़रलैण्ड का गणराज्य था, जो असल मे तो स्वाधीन था, लेकिन अभी तक बाकायदा स्वाधीन माना नही गया था। वेनिस का गणराज्य और उत्तर इटली के और भी कई नगर गणराज्य थे। रोम के चारो ओर पोप की ज़मीदारी थी, जो पोप की रियासत कहलाती थी। इसके दक्षिण मे नेपल्स और सिसली के राज्य थे। पूर्व में, जर्मन साम्राज्य और रूस के बीच में, पोलैण्ड था और हगरी का बडा राज्य था, जिसपर उस्मानी तुर्कों की छाया पड रही थी। दूर-पूर्व मे रूस था, जो 'सुनहरे कबीले' के मगोलो के चगुल से निकलकर एक नया शक्तिशाली राज्य बन रहा था। उत्तर और पश्चिम मे कुछ और भी देश थे।

सोलहवी सदी के शुरू मे यूरोप का यह नकशा था। १५२० ई० मे चार्ल्स पचम बादशाह हुआ। यह हैप्सबर्ग खानदान का था और, जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, स्पेन, नेपल्स और सिसली के राज्यो की और नीदरलैण्ड की विरासत इसके हाथ लग गई। यह एक अजीब बात है कि कुछ बादशाहो की शादियो की वजह से यूरोप के बहुत-से देशो और कौमो के स्वामी ही बदल गये। करोडो जनता और बडे-बडे देश सिर्फ विरासत मे मिल गये। कही-कही वे दहेजो मे दिये गए। बम्बई का टापू इसी तरह इग्लण्ड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय को उसकी पत्नी, ब्रैगेंज़ा (पुर्तगाल) की कैथरीन, के साथ दहेज मे मिला था। इसलिए चतुराई के साथ शादियाँ करके हैप्सबर्गों ने एक साम्राज्य इकट्ठा कर लिया और चार्ल्स पचम इसका अध्यक्ष हुआ। यह एक बहुत साधारण आदमी था और खासतौर पर इसलिए मशहूर था कि वह खूब खाता था। लेकिन उस वक्त तो अपने बडे साम्राज्य के कारण वह यूरोप मे बडा भारी-भरकम जँच रहा था।

जिस साल चार्ल्स सम्राट् हुआ, उसी साल सुलेमान उस्मानी साम्राज्य का अध्यक्ष हुआ। इसके ज़माने मे यह साम्राज्य सभी ओर, और खासकर पूर्वी यूरोप की ओर फैला। तुर्क लोग ठेट वियेना के दरवाज़ो तक पहुँच गये, मगर इस सुन्दर पुराने शहर को जीतने मे ज़रा-सी कसर रह गई। लेकिन हैप्सबर्ग सम्राट् उनके रोब मे आ गया और उसने सुलेमान को खिराज देकर उससे पिण्ड छुडाना ही ठीक समझा। पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् का तुर्कों के सुलतान को खिराज

देना ज़रा ग़ौर करने की बात है। सुलेमान 'प्रतापी सुलेमान' के नाम से मशहूर है। उसने सम्राट् का खिताब अपने-आप ही ले लिया, क्योंकि वह अपने-आपको पूर्वी विजैन्तीन सीज़रो का प्रतिनिधि समझता था।

सुलेमान के समय मे कुस्तुन्तुनिया मे इमारते बनाने का काम बडे ज़ोरो से हुआ और बहुत-सी सुन्दर मसजिदें बनवाई गई। इटली मे कलाओ का जैसा पुनर्जीवन हो रहा था वैसा ही पूर्व मे भी होता हुआ नज़र आ रहा था। कला की यह हलचल सिर्फ कुस्तुन्तुनिया मे ही नही थी, बल्कि ईरान और मध्य-एशिया के खुरासान मे भी बडे सुन्दर चित्र बनाये जा रहे थे।

हम देख चुके हैं कि किस तरह उत्तर-पश्चिम से बाबर ने आकर भारत मे एक नया राजवश कायम किया। यह १५५६ ई० की बात है, जब चार्ल्स पचम यूरोप मे सम्राट् था और सुलेमान कुस्तुन्तुनिया मे राज कर रहा था। बाबर और उसके गौरवशाली वशजो के बारे मे हमे आगे बहुत-कुछ कहना है। यहाँ तो सिर्फ यह बात ध्यान मे रखने की है कि बाबर खुद रिनेसाँ के नमूने का राजा था, हालाँकि वह उस वक्त के यूरोपीय नमूनो से कही अच्छा था। था तो वह हौसलेबाज़, पर फिर भी वीर योद्धा था, जिसे साहित्य और कला का व्यसन था। उस समय इटली मे भी ऐसे राजा थे जो इसी तरह के हौसलेबाज़ और साहित्य और कला के प्रेमी थे और जिनके छोटे-छोटे दरबारो मे ऊपरी तडक-भडक थी। फ्लोरेन्स का मेदिची वश और बोर्जिया परिवार उस समय मशहूर थे। लेकिन इटली के ये राजा, और उस वक्त यूरोप के भी ज्यादातर राजा, मैकियावेली के सच्चे अनुयायी थे। ये भलाई-बुराई का विचार न करनेवाले, साज़िश करनेवाले और अत्याचारी थे, और अपने विरोधियो के लिए जहर का प्याला और कातिल का छुरा भी इस्तेमाल करते थे। शूरवीर बाबर की इस झुण्ड से तुलना करना वैसा ही अनुचित है, जैसा कि इनके टुच्चे राजदरबारो की दिल्ली या आगरे के मुगल सम्राटो—अकबर, शाहजहाँ, वगैरा—के दरबार से तुलना करना बेमेल है। कहा जाता है कि ये मुगल दरबार बडे शानदार थे और शायद इतनी दौलत और शान-शौकतवाले दरबार कभी रहे ही नही।

यूरोप का ज़िक्र करते-करते हम, अनजाने ही भारत की बातो को ले बैठे। लेकिन मैं तुम्हें यह जतलाना चाहता था कि यूरोपीय रिनेसाँ के समय भारत और दूसरे देशो मे क्या हो रहा था। उस समय तुर्की, ईरान, मध्य एशिया और भारत मे भी कला की हलचलें शुरू हो रही थी। चीन मे मिङ राजाओ का अमन-चैनवाला और खुशहाल ज़माना था जबकि कला की चीज़ो का उत्पादन बहुत ऊँचे दर्जे पर पहुँचा हुआ था। लेकिन रिनेसाँ-काल की यह सारी कला, शायद चीन को छोडकर, बहुत-कुछ दरबारी कला थी। यह जनता की कला न थी। इटली मे कुछ

महान् कलाकारो के बाद जिनमे से कइयो के नाम मैं लिख चुका हूँ, पिछले रिनेसाँ की कला बिलकुल नीचे दर्जे की और मामूली बन गई।

इस तरह सोलहवीं सदी का यूरोप कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट राजाओ के बीच बँटा हुआ था। उस वक्त राजाओ की गिनती थी, प्रजा की नहीं। इटली, आस्ट्रिया, फ्रान्स और स्पेन कैथलिक थे, जर्मनी आधा कैथलिक और आधा प्रोटेस्टेण्ट था; इंग्लैण्ड सिर्फ इसलिए प्रोटेस्टेण्ट था, कि उसके बादशाह की ऐसी मर्जी थी। और चूँकि इंग्लैण्ड प्रोटेस्टेण्ट था, इसलिए आयर्लैण्ड के लिए कैथलिक बने रहने की यह काफी वजह थी, क्योंकि इंग्लैण्ड उसे जीतने और सताने की कोशिश करता था। लेकिन यह कहना सिर्फ एक हद तक ही सही है कि प्रजा का मजहब किसी गिनती मे न था। अन्त मे जाकर जनता के मजहब का भी असर पडा और इसके कारण बहुत-सी लडाइयाँ और क्रान्तियाँ हुईं। मजहबी पहलू को राजनीतिक या आर्थिक पहलुओ से अलग करना मुश्किल है। मेरे खयाल से, मैं तुम्हें पहले ही यह बतला चुका हूँ कि रोम के खिलाफ प्रोटेस्टेण्टो का विद्रोह खासतौर पर वही हुआ, जहाँ नया व्यापारी-वर्ग ज़ोर पकड रहा था। इससे हम समझ सकते हैं कि मजहब और व्यापार के बीच कोई कडी थी। इसी तरह बहुत-से राजा लोग मजहबी सुधारो से इसलिए डरते थे कि कही इसकी आड मे अन्दरूनी क्रान्ति न फैल जाय और उनका तख्ता न उलट दिया जाय। अगर कोई आदमी पोप की मजहबी सत्ता के खिलाफ आवाज उठाने की हिम्मत कर सकता था तो फिर यह भी सम्भव था कि वह बादशाह या राजा की सत्ता को भी मानने से इन्कार कर दे। यह मत बादशाहो के लिए बडा खतरनाक था। वे अभी तक राजाओ के राज करने के दैवी अधिकार को ही पकडे बैठे थे। प्रोटेस्टेण्ट राजा भी इसे छोडने के लिए तैयार न थे।

फिर भी, बावजूद रिफॉर्मेशन के, यूरोप मे बादशाहो का बोलबाला था और यूरोप मे वे पूरे सत्ताधारी थे। पहले कभी वे इतने निरंकुश न थे, क्योंकि बडे-बडे सामन्ती अमीर-सरदार उनपर लगाम लगाते रहते थे और अक्सर उनकी सत्ता को भी मानने से इन्कार कर देते थे। व्यापारी और मध्यमवर्ग के लोग इन अमीर-सरदारो से खुश न थे और न बादशाह ही इनको पसन्द करता था। इसलिए व्यापारी-वर्ग और किसान-वर्ग की मदद से बादशाह ने सामन्ती अमीरो को कुचल दिया और खुद पूरा सत्ताधारी बन बैठा। हालाँकि मध्यमवर्ग ने अपनी शक्ति और अपना महत्व बहुत बढा लिये थे, मगर अभी वह इतना ताकतवर नहीं हुआ था कि बादशाह के कामो मे दखल दे सके। लेकिन कुछ ही दिनो मे मध्यमवर्ग बादशाह के बहुत-से कामो का विरोध करने लगे। खासकर उन्होंने बार-बार लगाये जानेवाले भारी करो का और मजहब मे दखल देने का विरोध किया। बादशाह को ये बातें बिलकुल अच्छी न लगी। वह इस बात से चिढ़ गया कि इन लोगो ने उसके किसी

भी काम का विरोध करने की गुस्ताखी की। इसलिए उसने इनको जेलो मे ठूंस दिया और दूसरी सजाएं भी दी। उन दिनो मनमाने तौर पर लोगो को कैद कर लिया जाता था, जैसा कि आजकल भारत मे हो रहा है, क्योंकि हम अंग्रेज सरकार के आगे सिर झुकाने से इन्कार करते हैं। बादशाह व्यापार मे भी दखल देता था। इससे हालत और भी बिगडती गई और बादशाह का विरोध जोर पकडने लगा। बादशाहो की तानाशाही के खिलाफ मध्यमवर्ग की यह अधिकारो की लडाई सदियो तक चलती रही और इसे खत्म हुए ज्यादा समय नही हुआ। कई बादशाहो के सिर उडा दिये जाने के बाद कही जाकर बादशाहो के दैवी अधिकार का खयाल हमेशा के लिए दफ्न कर दिया गया, और बादशाहो की अक्ल ठिकाने लगा दी गई। कुछ देशो मे यह जीत जल्दी हो गई और कुछ ने देर से। आगे के पत्रो मे हम इस लडाई के उतार-चढाव का जिक्र करेंगे।

लेकिन सोलहवी सदी के यूरोप मे करीब-करीब सब जगह बादशाह की धाक थी—पूरे तौर पर नही बल्कि करीब-करीब। तुम्हे याद होगा कि स्वीजरलैण्ड के गरीब पहाडी किसानो ने हैप्सबर्ग के बादशाह को चुनौती देने की हिम्मत दिखलाई थी और अपनी आजादी हासिल कर ली थी। इस तरह निरकुशता और तानाशाही के यूरोपीय सागर मे स्वीजरलैण्ड का छोटा-सा किसान गणराज्य एक टापू के समान था, जिसमे बादशाहो के लिए कोई जगह न थी।

जल्द ही एक दूसरे देश—नीदरलैण्ड—मे भी मामले ने तूल पकडा और जनता व मजहब की आजादी की लडाई लडी गई और जीत ली गई। यह एक छोटा-सा देश है, लेकिन यह लडाई बडी जबर्दस्त थी, क्योंकि यह उस जमाने मे यूरोप की सबसे जबर्दस्त शक्ति—स्पेन के खिलाफ लडी गई थी। इस तरह नीदरलैण्ड ने यूरोप को रास्ता बतलाया। इसके बाद इग्लैण्ड मे भी जनता की आजादी के लिए एक लडाई हुई, जिसमे एक बादशाह को अपना सिर गंवाना पडा और उस वक्त की पार्लमेण्ट की जीत हुई। इस तरह नीरदलैण्ड और इग्लैण्ड ने निरकुशता के खिलाफ मध्यमवर्ग की लडाई मे सबसे आगे कदम बढाया। और चूंकि इन देशो मे मध्यमवर्ग की जीत हुई, इसलिए नई हालतो का फायदा उठाकर यह और देशो से आगे बढ गया। दोनो ने, आगे चलकर, शक्तिशाली जगी बेडे बनाये, दोनो ने दूर-दूर देशो से व्यापार कायम किया और दोनो ने एशिया मे साम्राज्य की नीव रक्खी।

इन पत्रो मे हमने अभी तक इग्लैण्ड के बारे मे ज्यादा नही लिखा है। लिखने के लिए कुछ था भी नही, क्योंकि इग्लैण्ड यूरोप का कोई ज्यादा महत्ववाला देश नही था। लेकिन अब एक परिवर्तन आता है और, जैसा कि आगे बताया जायगा, इग्लैण्ड बडी तेजी के साथ आगे बढता है। हम 'मैग्नाकार्टा', पार्लमेण्ट की शुरुआत,

किसानो के झगडो और राजवशो के आपसी युद्धो का ज़िक्र कर चुके हैं। इन युद्धो मे बादशाहो के हाथो से खून और हत्याएँ आमतौर पर काफी हुईं। सामन्ती अमीर-सरदारो की एक बहुत बडी सख्या लडाई के मैदानो मे काम आई, जिससे उनका बल बहुत घट गया। ट्यूडरो का नया राजवश गद्दी पर बैठा, जिन्होने निरकुश राजाओं का पार्ट खूब अदा किया। आठवाँ हेनरी ट्यूडर था और उसकी पुत्री एलिज़ाबेथ भी ट्यूडर थी।

सम्राट् चार्ल्स पचम के बाद साम्राज्य के टुकडे-टुकडे हो गये। स्पेन और नीदरलैण्ड उसके पुत्र फिलिप द्वितीय के हिस्से मे आये। उस वक्त सबसे शक्ति-शाली बादशाहत होने की वजह से स्पेन सारे यूरोप के ऊपर सिर उठाये हुए था। तुम्हे याद होगा कि पेरू और मैक्सिको उसके क़ब्ज़े मे थे और अमेरिका से सोने की नदी उसके यहाँ बही चली आ रही थी। लेकिन कोलम्बस, कोर्टीज़ और पिज़ारो के बावजूद भी स्पेन नई हालतो से फायदा नही उठा सका। व्यापार में उसे कोई दिलचस्पी नही थी। उसे अगर परवाह थी तो ऐसे मज़हब की, जो बडा ही कट्टर और ज़ालिम था। सारे देश मे इनक्विज़िशन की तूती बोलती थी और काफिर कहे जानेवालो को भयकर यातनाएँ दी जाती थी। समय-समय पर बडे आम जलसे किये जाते थे और इन 'काफिर' स्त्री-पुरुषो के झुण्ड-के-झुण्ड बादशाह, शाही खानदान, राजदूतो और हज़ारो मनुष्यो के सामने बडी-बडी चिताओ पर ज़िन्दा जला दिये जाते थे। ये सार्वजनिक अग्नि-काण्ड ईसाइयत के निय मकहलाते थे। ये बातें आज कितनी भयकर और खूंख्वार मालूम पडती है। पर इस ज़माने का यूरोप का इति-हास मारकाट, दिल दहलानेवाले व वहशियाना ज़ुल्मो और मज़हबी कट्टरपन से इस कदर भरा हुआ है कि उसपर विश्वास करना मुश्किल है।

स्पेन का साम्राज्य ज्यादा दिनो तक न टिक सका। छोटे-से हॉलैण्ड की बहादुर लडाई ने उसे बिलकुल हिला डाला। कुछ दिनो बाद, १५८८ ई० मे, इग्लैण्ड को जीतने की कोशिश बिलकुल बेकार गई और स्पेन की फौजो को ले जानेवाला 'अजय आर्मेडा' नामक जगी बेडा इग्लैण्ड तक पहुँच भी न सका। समुद्री तूफान ने उसे तहस-नहस कर डाला। इसमे ताज्जुब की कोई बात नही है, क्योंकि 'आर्मेडा' की कमान करनेवाला व्यक्ति समुद्र या जहाजो के बारे मे कुछ भी नही जानता था। वास्तव मे उसने बादशाह फिलिप द्वितीय के पास जाकर "यह विनीत प्रार्थना भी की थी कि उसे इस ओहदे की ज़िम्मेदारी से बरी कर दिया जाय, क्योकि उसे समुद्री लडाई की मोर्चा-बन्दी का कुछ भी ज्ञान न था और न वह अच्छा नाविक ही था। लेकिन बादशाह ने जवाब दिया कि स्पेन के बेडे का सचालन तो खुद खुदा करेगा।"

इस तरह धीरे-धीरे स्पेन का साम्राज्य भी गायब होता गया। चार्ल्स पचम के ज़माने में यह कहा जाता था कि उसके साम्राज्य मे सूर्य अस्त नही होता। यही

कहावत आजकल के एक घमण्डी और मद मे चूर साम्राज्य के बारे मे भी अक्सर दोहराई जाती है।

## ८६

# नीदरलैण्ड की आज़ादी की लड़ाई

२७ अगस्त, १९३२

पिछले पत्र मे मैंने तुम्हें बतलाया था कि सोलहवी सदी मे करीब-करीब सारे यूरोप मे बादशाह सबके ऊपर कितने हावी हो गये थे। इग्लैण्ड मे ट्यूडर थे और स्पेन और आस्ट्रिया मे हैप्सवर्ग थे। रूस, जर्मनी और इटली के ज्यादातर हिस्सो मे निरकुश एकतन्त्री राजा थे। इस तरह का बादशाह, जो निजी हैसियत से एकतन्त्री राज करता था और सारा साम्राज्य जिसकी बहुत-कुछ निजी जायदाद समझा जाता था, उसका नमूना शायद फ्रान्स ही था। कार्डिनल रिशैल्यू नामक एक बडे योग्य मन्त्री ने फ्रान्स और उसकी बादशाहत को मज़बूत बनाने मे बडी मदद की। फ्रान्स का हमेशा यह ख़याल रहा है कि उसकी मज़बूती और सुरक्षा जर्मनी की कमजोरी मे है। इसलिए रिशैल्यू ने, जो ख़ुद एक कैथलिक पादरी था और फ्रान्स मे प्रोटेस्टेण्टो को बडी बेरहमी से कुचल रहा था, जर्मनी मे प्रोटेस्टेण्टो को उलटा उकसाया। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि जर्मनी मे अन्दरूनी लडाई-झगडा और अशान्ति बढे, जिससे वह कमज़ोर हो जाय। यह नीति सफल भी ख़ूब हुई। जैसा कि आगे ज़िक्र किया जायगा, जर्मनी मे बहुत ही बुरा गृह-युद्ध हुआ, जिसने देश का सत्यानाश कर दिया।

फ्रान्स मे भी सत्रहवी सदी के बीच मे गृह-युद्ध हुआ, जो फ्रान्स का युद्ध कहलाता है। लेकिन बादशाह ने अमीर-सरदारो और व्यापारियो दोनो को कुचल दिया। अमीर-सरदारो के हाथ मे असली ताकत तो रह ही नही गई थी, लेकिन अपनी तरफ मिलाये रखने के लिए बादशाह ने उन्हे बहुत-सी रियायतें दे दी। उनको टैक्सो से करीब-करीब बरी कर दिया गया था। अमीर-सरदार वर्ग और पादरी वर्ग दोनो ही टैक्सो से बरी थे। टैक्सो का सारा बोझ आम जनता पर और ख़ासकर किसानो पर पडता था। इन गरीब दुखी अभागो को ऐंठकर जो धन इकट्ठा किया गया, उससे बडे-बडे आलीशान महल बनाये गए और बादशाह बडे ठाट-बाट वाले दरबार से घिरा रहता था। पेरिस के पास वर्साई तुमने देखा है, उसकी तुमको याद होगी। वहाँ के आलीशान महल, जिनको देखने के लिए आजकल लोग जाते हैं, सत्रहवी सदी मे फ्रान्स के किसानो के ख़ून से बने थे। वर्साई एक निपट निरकुश ग़ैर-ज़िम्मेदार राजाशाही का चिह्न था, इसलिए यह ताज्जुब की बात नही है कि वर्साई फ्रान्स की उस राज्यक्रान्ति का हरकारा बनी, जिसने सारी राजाशाही को

ही खत्म कर दिया। लेकिन उन दिनो राज्य-क्रान्ति के दिन बहुत दूर थे। उस समय चौदहवां लुई बादशाह था, जो 'महान् बादशाह' कहलाता था, और वह 'सूर्य' था, जिसके चारो तरफ उसके दरबार के ग्रह चक्कर लगाते रहते थे। उसने बहत्तर साल के बहुत ही लम्बे समय तक, यानी १६४३ से १७१५ ई० तक, राज किया और उसका प्रधान मन्त्री माज़ारिन नामक एक दूसरा बडा कार्डिनल था। ऊपर-ऊपर तो बडा राग-रंग और विलास था और साहित्य, विज्ञान और कला पर शाही कृपा थी, लेकिन शान-शौकत की इस झीनी चादर के नीचे बडी मुसीबत और तडप थी। वह सुन्दर नकली बालो और गोटे के कफो और नफीस पोशाको की दुनिया थी, लेकिन जिस शरीर पर ये चीज़ें पहनी जाती थी, उसे शायद ही कभी नहलाया जाता था, और वह मैल और गन्दगी से भरा रहता था।

हम सबपर शान-शौकत और तड़क-भडक का बहुत बडा असर पडता है, इसलिए अगर अपने लम्बे राज मे चौदहवें लुई ने यूरोप पर खूब प्रभाव डाला तो इसमे ताज्जुब की कोई बात नही है। वह बादशाहो मे नमूना समझा जाता था और दूसरे उसकी नक़ल करने की कोशिश करते थे। लेकिन यह 'महान् बादशाह' आखिर था क्या? मशहूर अंग्रेज़-लेखक कार्लाइल ने लिखा है—"अपने चौदहवें लुई पर से बादशाहत का चोग़ा उतार दो तो सिवा एक भद्दी दो-जडोवाली मूली के, जिसमे बेढंगा सिर तराशा हुआ हो, और कुछ नही रहता।" यह बयान सख्त ज़रूर है, मगर शायद बहुत-से लोगो पर चाहे बादशाह हो या प्रजा—लागू होता है।

चौदहवें लुई का इतिहास हमको १७१५ ई० तक, यानी अठारहवी सदी के शुरू तक ले आता है। इस बीच यूरोप के दूसरे मुल्को मे बहुत-कुछ हो गया था और इनमे से कुछ घटनाएं हमारे ध्यान देने लायक हैं।

नीदरलैण्ड का स्पेन के खिलाफ विद्रोह का हाल मैं तुमको बतला चुका हूँ। उनकी बहादुरी की लडाई अच्छी तरह ग़ौर करने लायक़ है। जे० एल० मोटले नामक एक अमरीकी ने आज़ादी की इस लडाई का मशहूर हाल लिखा है, और उसने इस इतिहास को बडा रोचक और लुभावना बना दिया है। साढे तीन सौ वर्ष पहले यूरोप के इस छोटे-से कोने मे जो कुछ हुआ, उसके इस वर्णन से बढ़िया कोई उपन्यास मैं नही जानता। इस पुस्तक का नाम 'राइज़ ऑफ दि डच रिपब्लिक'[1] है और मैंने इसे जेल मे पढा है।

नीदरलैण्ड मे हॉलैण्ड और बेल्जियम दोनो शामिल हैं। इनका नाम ही

---

[1] यह पुस्तक हिन्दी में 'नरमेध' के नाम से 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित हो चुकी है।

यह बतलाना है कि ये नीची ज़मीन मे है। हॉलैण्ड का अर्थ है 'धंसी हुई ज़मीन'। इनके बहुत-से हिस्से समुद्र की सतह से वास्तव में नीचे हैं और उत्तरी समुद्र के पानी को रोकने के लिए विशाल समुद्री-बाँध और दीवारें बनाई गई हैं। ऐसे देश के निवासी, जहाँ बराबर समुद्र से लड़ना पड़ता है, जन्म से ही मजबूत समुद्र-यात्री होते है और जो लोग अक्सर समुद्र-यात्राएँ करते रहते हैं वे तिजारती बन जाते हैं। इसलिए नीदरलैण्ड के निवासी तिजारती हो गये। वे ऊनी कपड़ा और दूसरी चीजें तैयार करते थे और पूर्वी देशो के गरम मसाले भी उनके यहाँ पहुँचते थे। नतीजा यह हुआ कि ब्रुसेल्स, घेन्त और खासकर ऐन्तवर्प जैसे मालदार और तिजारती शहर वहाँ खड़े हो गये। जैसे-जैसे पूर्वी देशों मे व्यापार बढ़ता गया वैसे-वैसे इन शहरो की दौलत भी बढ़ती गई और सोलहवी सदी मे ऐन्तवर्प यूरोप का तिजारती केन्द्र बन गया। कहते हैं कि उसकी मण्डी मे रोज पाँच हजार व्यापारी इकट्ठे होकर आपस मे सौदे किया करते थे, उसके बन्दर मे एक साथ ढाई हज़ार जहाज़ लगर डाले रहते थे। रोज़मर्रा लगभग पाच सौ जहाज वहाँ आते-जाते थे। इन्ही व्यापारी वर्गों के हाथ मे इन शहरो के शासन की बागडोर थी।

व्यापारियो की यह ठीक ऐसी जाति थी, जो 'रिफार्मेशन' के नये मजहबी विचारो की ओर खिच सकती थी। यहाँपर और खासकर उत्तरी भागो मे, प्रोटेस्टेण्ट मत फैलने लगा। विरासत के सयोग ने हैप्सबर्ग के चार्ल्स पचम और उसके बाद उसके पुत्र फिलिप द्वितीय को नीदरलैण्ड का शासक बना दिया। इन दोनो मे से कोई भी किसी भी तरह की राजनीतिक या मजहबी आजादी बर्दाश्त नही कर सकता था। फिलिप ने शहरो की रियायतो को और नये मत को कुचल डालना चाहा। उसने एल्वा के ड्यूक को गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा, जो दमन और अत्याचार के लिए बदनाम हो गया है। इनक्विज़िशन कायम हुई और एक 'खूनी परिषद्' बनाई गई, जिसने हज़ारो को ज़िन्दा जला दिया या फाँसी पर लटका दिया।

यह एक बड़ी लम्बी कहानी है, जिसे मे यहाँ बयान नही कर सकता। जैसे-जैसे स्पेन का अत्याचार बढ़ता गया, उससे टक्कर लेने की ताकत भी लोगो मे बढ़ती गई। उनमे प्रिन्स विलियम ऑफ ऑरेन्ज, या 'खामोश विलियम' नामक एक ऐसा महान् और बुद्धिमान नेता पैदा हुआ, जिसका मुकाबला एल्वा का ड्यूक नही कर सकता था। १५६८ ई० मे इनक्विज़िशन ने तो, कुछ गिने-चुने आदमियो को छोड़कर, नीदरलैण्ड के सारे निवासियो को एक ही फैसले मे काफिर करार देकर मौत की सजा दे डाली। यह हैरतभरा फैसला इतिहास मे बे-मिसाल है, जिसने तीन-चार लाइनो मे ही तीस लाख आदमियों को सजा दे दी।

शुरू में तो यह लड़ाई नीदरलैण्ड के अमीर-सरदारो और स्पेन के बादशा

के बीच ही मालूम दी। दूसरे देशो मे बादशाह और अमीर-सरदारो की जो लड़ाइयाँ चल रही थी, करीब-करीब उन्ही जैसी यह भी थी। एल्वा ने उनको कुचल डालने की कोशिश की और बहुत-से अमीर-सरदारो को ब्रुसेल्स मे फाँसी के तख्ते पर चढना पडा। इन फाँसी दिये जानेवालो मे काउण्ट एग्मौन्त नामक एक लोकप्रिय और मशहूर अमीर-सरदार भी था। इसके बाद एल्वा को जब रुपये की तगी हुई तो उसने नये-नये भारी टैक्स लगाने की कोशिश की। इससे जब व्यापारी-वर्ग की जेबो पर असर पडा तो वे लोग बिगड खडे हुए। इसके साथ-साथ कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टो के बीच भी लडाई चल रही थी।

स्पेन एक बडा जबर्दस्त राज्य था, जिसे अपने बडप्पन का पूरा घमण्ड था उधर नीदरलैण्ड मे सिर्फ व्यापारी लोगो और निकम्मे व फिजूल-खर्च अमीर-सरदारो के कुछ सूबे थे। दोनो का कोई मुकाबला न था। लेकिन फिर भी इनको दबाना स्पेन के लिए मुश्किल हो गया। बार-बार कत्लेआम होते रहते थे, पूरी-की-पूरी आबादियाँ मौत के घाट उतार दी जाती थी। मनुष्यो के प्राण हरने मे एल्वा और उसके सेनापति चगेजखाँ और तैमूर की होड कर रहे थे। कभी तो वे इन मगोलो से भी आगे बढ जाते थे। एल्वा एक के बाद दूसरे शहर पर घेरा डाल रहा था और शहर के बिना-सीखे पुरुष और अक्सर स्त्रियाँ भी एल्वा के सीखे-सिखाये सैनिको से जल और थल पर तबतक लडते रहते थे जबतक कि भूख से लाचार न हो जाते। स्पेन की गुलामी की बनिस्बत अपनी प्यारी-से-प्यारी तमाम चीजो का सत्यानाश तक भी अच्छा समझकर हॉलैण्ड-निवासियो ने स्पेन की फौजो को डुबाने व भगा देने के लिए समुद्री-बाँध तोड डाले और उत्तरी सागर का पानी भीतर आने दिया। जैसे-जैसे लडाई गहरी होती गई वैसे-ही-वैसे उसमे निर्दयीपन भी आता गया और दोनो पक्ष हद से ज्यादा बेरहम हो गये। सुन्दर हार्लेम नगर का घेरा एक मार्के की घटना है। इसे आखिरी दम तक वीरता के साथ बचाने की कोशिश की गई, लेकिन अन्त वही हुआ—सदा की तरह स्पेन के हाथो कत्लेआम और लूटपाट। अल्कमार पर भी घेरा डाला गया, लेकिन वह बाँध तोडकर बच गया। और लाइदन को जब दुश्मनो ने घेर लिया तो भूख और बीमारी से हजारो आदमी मर गये। लाइदन के पेडो मे एक भी हरा पत्ता बाकी न रहा, लोगो ने सब खा डाले। घूरो पर जूठन के टुकडो के लिए स्त्री और पुरुष भुखमरे कुत्तो तक से छीना-झपटी करते, लेकिन फिर भी वे लडे जाते थे, और शहर की दीवारो पर से सूखकर काँटा हुए और भूख से अधमरे लोग दुश्मन को चुनौती देते थे, और स्पेनवालो से कहते थे कि वे चूहे, कुत्ते और चाहे जो कुछ खाकर जिन्दा रहेगे, लेकिन हार न मानेंगे। "और जब हमारे सिवा कुछ भी बाकी न रहेगा तो विश्वास रक्खो कि हममे से हरेक अपने बायें हाथ को खा डालेगा और दाहिने हाथ को विदेशी अत्याचारी से अपनी [illegible] की, अपनी स्वतन्त्रता की और अपने मजहब की रक्षा के लिए बचा

रक्खेगा। अगर ईश्वर भी क्रोध करके हमारे लिए विनाश का विधान कर दे और हमे किसी तरह की राहत न दे, तो भी हम तुम्हे भीतर घुसने से रोकने के लिए अपने-आपको हमेशा तैयार रक्खेंगे। जब हमारी आखिरी घडी आ जायगी तो हम खुद अपने ही हाथो से शहर मे आग लगा देंगे और पुरुष, स्त्रियाँ व बच्चे, सब एक साथ आग मे जलकर मर जायेंगे, लेकिन अपने घरो को हरगिज अपवित्र न होने देंगे और न अपनी स्वतन्त्रता को रौंदा जाने देंगे।"

लाइदन के निवासियो मे ऐसा जोश था। लेकिन जैसे दिन-पर-दिन बीतते जाते और कहीं से सहायता की सूरत नजर नही आती थी, वैसे ही उनकी निराशा भी बढ़ती जाती थी। आखिर उन्होंने हॉलैण्ड की जागीरो के अपने दोस्तो को बाहर सन्देश भेजा। इन जागीरो ने यह ज़बर्दस्त फैसला किया कि लाइदन को शत्रुओ के हाथ मे जाने देने से तो अच्छा है कि अपने प्यारे देश को पानी मे डुबो दिया जाय। "खोये हुए देश से डूबा हुआ देश ही भला है।" और उन्होंने घोर सकट मे पडे हुए अपने साथी शहर को यह उत्तर भेजा—"ऐ लाइदन, हम तुझे सकट मे छोडने की बनिस्बत यह बेहतर समझेंगे कि हमारा सारा देश और हमारी सारी सम्पत्ति समुद्र की लहरो मे नष्ट हो जायें।"

आखिरकार एक के बाद दूसरा समुद्री-बाँध तोड दिया गया और हवा की मदद पाकर समुद्र का पानी भीतर घुस आया और उसके साथ हालैण्ड के जहाज भोजन और सहायता लेकर आ पहुँचे। और इस नये दुश्मन समुद्र से भयभीत होकर स्पेन के सैनिक सिर पर पाँव रखकर भाग खडे हुए। इस तरह लाइदन बच गया और उसके निवासियो की वीरता की यादगार मे १५७५ ई० मे लाइदन का विश्वविद्यालय कायम किया गया, जो आज तक मशहूर है।

वीरता की ऐसी कितनी ही कहानियाँ है, और दहलानेवाले हत्याकाण्डो की भी हैं। सुन्दर एण्टवर्प मे बडा भयकर हत्याकाण्ड हुआ और लूटमार हुई, जिसमे आठ हजार आदमी मारे गये। इसे 'स्पेन का कोप' कहा गया था।

लेकिन इस महान् लडाई मे हॉलैण्ड ने ही ज्यादातर हिस्सा लिया, नीदरलैण्ड के दक्षिणी हिस्से ने नही। स्पेन के शासक घूँस और दबाव से नीदरलैण्ड के बहुत-से अमीर-सरदारो को अपनी तरफ मिला लेने मे सफल हो गये और उनके ज़रिये उन्हीं-के देशवासियो को कुचलवाया। उनको इस बात मे बडी मदद मिली कि दक्षिण मे प्रोटेस्टेण्टो मे कैथलिको की सख्या बहुत ज्यादा थी। उन्होने कैथलिको को मिलाने की कोशिश की और कुछ हद तक वे सफल भी हो गये। और भला अमीर-सरदार! शर्म की बात है कि इन लोगो मे से बहुत-से स्पेन के बादशाह की कृपा और अपने लिए धन-दौलत हासिल करने की खातिर देश-द्रोह और धोखेबाजी मे कितने नीचे गर गये थे, देश भले ही जहन्नुम मे चला जाय!

नीदरलैण्ड की विधान-सभा मे भाषण देते हुए विलियम ऑफ ऑरेन्ज ने कहा था—"नीदरलैण्ड को कुचलने वाले नीदरलैण्ड के ही लोग है। एल्वा का ड्यूक जिस बल की डीग मारता है, वह अगर तुम्हारा ही—नीदरलैण्ड के शहरो का—दिया हुआ नही है, तो कहाँ से आया ? उसके जहाज़, रसद, धन, हथियार, सिपाही, ये सब कहाँ से आये ? नीदरलैण्ड के लोगो के पास से।"

इस तरह, आखिरकार स्पेनवाले नीदरलैण्ड के उस हिस्से को अपनी ओर मिला लेने मे कामयाब हुए, जो आज मोटे तौर पर बेल्जियम कहलाता है। लेकिन लाख कोशिश करने पर भी वे हॉलैण्ड को काबू मे न ला सके। गौर करने की अजीब बात यह है कि लडाई के दौरान, करीब-करीब उसके खत्म होने तक, हॉलैण्ड ने स्पेन के फिलिप द्वितीय की अधीनता से कभी इन्कार नही किया। वे उसे अपना बादशाह मानने के लिए तैयार थे, बशर्ते कि वह उनके स्वतन्त्र अधिकारो को मजूर कर लेता। लेकिन अन्त मे उनको उससे नाता तोडने के लिए मजबूर होना पडा। उन्होने अपने महान् नेता विलियम के सिर पर ताज रखना चाहा, लेकिन उसने इन्कार कर दिया। इस तरह परिस्थिति ने उनको, उनकी मर्जी के खिलाफ, गणराज्य बनने के लिए मजबूर कर दिया। उस ज़माने की बादशाही परम्परा इतनी जबर्दस्त थी।

हॉलैण्ड मे यह लडाई कितने ही वर्षों तक चली। १६०९ ई० मे कही जाकर हालैण्ड स्वाधीन हुआ। लेकिन नीदरलैण्ड मे असली लडाई १५६७ से १५८४ ई० तक हुई। स्पेन का फिलिप द्वितीय जब विलियम ऑफ ऑरेन्ज को हरा न सका तो उसने उसे एक हत्यारे के हाथो मरवा डाला। उसकी हत्या के लिए उसने एक सार्वजनिक इनाम का ऐलान किया। उस ज़माने मे यूरोप का नेक-चलन ऐसा था। विलियम को मारने की कितनी ही कोशिशे असफल हुई। १५८४ ई० मे छठवी बार की कोशिश सफल हुई और यह महापुरुष—जो हॉलैण्ड भर मे 'पिता विलियम' के नाम से पुकारा जाता था—मारा गया, लेकिन उसका काम पूरा हो चुका था। बलिदान और कष्ट की भट्टी मे ढलकर डच गणराज्य—हॉलैण्ड तैयार हो गया था। अत्याचारी और निरकुश शासको के खिलाफ खडे होने से हरेक देश और कौम को लाभ होता है। इससे साधना मिलती है और बल बढ़ता है। बलशाली और अपने पाँवो पर खडा रहनेवाला हॉलैण्ड बहुत जल्दी एक बडी समुद्री शक्ति बन गया और दूर-पूर्व तक फैल गया। बेल्जियम, जो हॉलैण्ड से अलग हो गया था, स्पेन के ही कब्ज़े मे रहा।

यूरोप की इस तसवीर को पूरा करने के लिए अब हमे जर्मनी की तरफ़ देखना चाहिए। यहाँ १६१८ से १६४८ ई० तक एक भयकर गृह-युद्ध चला, जो 'तीस साल का युद्ध' कहलाता है। यह युद्ध कथलिक और प्रोटेस्टेण्टो के बीच हुआ

और जर्मनी के छोटे-छोटे राजा और निर्वाचक आपस मे, और सम्राट् से, लड़े। और फ्रान्स के कैथलिक बादशाह ने प्रोटेस्टेण्टो को शह दी, सिर्फ इसलिए कि यह गड़बड़ी और बढ़ जाय। अन्त मे स्वीडन का बादशाह गुस्तावस अदोल्फ़स—जो 'उत्तर का सिंह' कहलाता था—चढ़कर आया और उसने सम्राट् को हराकर प्रोटेस्टेण्टो को बचा लिया। लेकिन जर्मनी का सत्यानाश हो चुका था। पैसे के ग़ुलाम सिपाही लुटेरे बन गये थे। उन्होंने चारो तरफ लूट-खसोट मचा रक्खी थी। यहाँतक कि फौजो के सेनापति भी सिपाहियो की तनख्वाह या खूराक के लिए पैसा न रहने पर लूटमार करने लगे। और खयाल करो कि यह सब लगातार तीस साल तक होता रहा! हत्याकाण्ड, विनाश और लूटमार साल-दर-साल चलते रहे। ऐसी हालत मे व्यापार बिलकुल नहीं हो सकता था, और न खेती-बाड़ी ही हो सकती थी। इसलिए दिन-पर-दिन खाने की चीज़ें कम होती गईं और भुखमरी बढ़ने लगी। और इसका लाज़िमी नतीजा यह हुआ कि डाकू बढ़ने लगे और लूटमार ज्यादा होने लगी। जर्मनी एक तरह से पेशेवर और पैसे के ग़ुलाम सिपाही पैदा करने-वाली जगह बन गया।

आख़िरकार यह लड़ाई खत्म हुई—जबकि शायद लूटने के लिए कुछ भी बाकी न रहा! लेकिन जर्मनी को यह नुकसान पूरा करने और अपनी हालत सुधारने में बहुत लम्बा वक्त लगा। १६४८ ई० मे वेस्ट-फ़ैलिया की सन्धि से इस गृह-युद्ध का अन्त हो गया। इससे पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् सिर्फ़ परछाईं और बिना अधिकारवाली छाया बन गया। फ्रान्स ने एक बड़ा टुकड़ा, अल्सास, ले लिया, और उसे दो सौ वर्षो से ज्यादा अपने कब्ज़े मे रक्खा। बाद मे उसे मजबूर होकर यह टुकड़ा फिर से नये जर्मनी को दे देना पड़ा। लेकिन १९१४-१८ ई० के यूरोपीय महायुद्ध के बाद फ्रान्स ने इसे फिर ले लिया। इस तरह इस सन्धि से फ्रान्स को फायदा हुआ। लेकिन अब जर्मनी मे एक दूसरी शक्ति पैदा हो गई, जो आगे चलकर फ्रान्स के रास्ते का काँटा बनी। यह प्रशिया था, जिस पर हॉएनज़ॉलर्न का घराना राज करता था।

वेस्ट-फ़ैलिया की सन्धि ने, आखिरी तौर पर स्वीज़रलैण्ड और हॉलैण्ड के गणराज्यो को मान लिया।

मैंने तुम्हें युद्धो, हत्याकाण्डो, लूटमार और मज़हबी कट्टरपन की कैसी कहानी सुनाई है! लेकिन यही उस रिनेसाँ के बाद का यूरोप था, जबकि क्रिया-शक्ति फूट पड़ी थी और कला और साहित्य की हलचलें ज़ोर पकड़ रही थी। मैंने यूरोप की तुलना एशिया के देशो से की है और उस नई जिन्दगी का ज़िक्र किया है जो उस वक्त यूरोप मे पैदा हो रही थी। इस नई ज़िन्दगी को मुश्किलें पार करके आगे बढ़ते हुए हर कोई देख सकता है। नये बालक और नई व्यवस्था का जन्म बड़ी

तकलीफो के साथ हुआ करता है। जब नींव मे आर्थिक खोखलापन हो तो उसके ऊपर के समाज और राजनीति दोनो डॉवाडोल होने लगते हैं। यह तो जाहिर है कि यूरोप मे नया जीवन पैदा हो रहा था। लेकिन इसके चारो ओर कितना जगली बर्ताव है! उस ज़माने का यह उसूल था कि "झूठ बोलने की विद्या ही राज करने की विद्या है।" उस वक्त का सारा वातावरण ही धोखेबाज़ियो और साज़िशो, हत्या और जुल्म के धुएँ से घुट रहा था, और ताज्जुब तो यह होता है कि लोग इसे बर्दाश्त किस तरह करते थे!

: ८७ :

## इंग्लैण्ड ने अपने बादशाह का सिर उड़ा दिया

२९ अगस्त, १९३२

अब हम कुछ वक्त इंग्लैंण्ड के इतिहास को देंगे। अभी तक हमने ज्यादातर इसे दरगुज़र किया है, क्योकि मध्य युगो मे वहाँ कोई ऐसी दिलचस्पी की बात नही हुई। यह देश फ्रान्स और इटली से भी पिछडा हुआ था। हाँ, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय बहुत पहले विद्या का केन्द्र मशहूर हो चुका था और कुछ दिन बाद केम्ब्रिज भी मशहूर हुआ। वाइक्लिफ, जिसके बारे मे मैं पहले लिख चुका हूं, ऑक्सफोर्ड की ही देन था।

इंग्लैण्ड के शुरू के इतिहास मे दिलचस्पी की मुख्य बात पार्लमेण्ट का विकास है। शुरू से ही अमीर-सरदारो की यह कोशिश थी कि बादशाह के अधिकारो को सीमित कर दिया जाय। १२१५ ई० मे मैग्नाकार्टा बना। इसके कुछ दिन बाद पार्लमेण्ट की शुरुआत दिखलाई पडती है। शुरू-शुरू की ये बातें अधकचरी-सी थी। बडे-बडे अमीर-सरदार और पादरी ही आगे चलकर लॉर्ड-सभा का रूप बन गये। लेकिन आखिरकार सबसे महत्व की जो चीज़ बनी, वह थी एक चुनी हुई परिषद्, जिसमे नाइट लोग छोटे-छोटे ज़मीदार और शहरो के कुछ प्रतिनिधि शामिल थे। यही चुनी हुई परिषद् विकसित होकर कॉमन्स सभा बन गई। ये दोनो परिषदें या सभाएँ ज़मीदारो और धनवान लोगो की थी। कॉमन्स-सभा के लोग भी कुछ धनवान ज़मीदारो और व्यापारियो के प्रतिनिधि थे।

कॉमन्स सभा के हाथ में कोई अधिकार नही था। वे लोग बादशाह के पास अर्ज़ियाँ भेजते थे और लोगो की शिकायतें पेश करते थे। धीरे-धीरे वे टैक्सो के मामले मे भी दखल देने लगे। उनकी मर्ज़ी के बिना नये टैक्स लगाना या वसूल करना बहुत मुश्किल था, इसलिए बादशाह ने ऐसे टैक्स लगाने के बारे मे उनकी मंजूरी लेने का रिवाज शुरू कर दिया। आमदनी व खर्च पर अधिकार हमेशा एक बडी ताकत होती है, इसलिए पार्लमेण्ट और खासकर कॉमन्स-सभा का जैसे-जैसे

यह अधिकार बढ़ता गया वैसे-ही-वैसे उनका बल और मान भी बढ़ते गए। कॉमन्स सभा और बादशाह मे अक्सर मतभेद होने लगा। लेकिन फिर भी पार्लमेण्ट एक छोटी चीज थी और ट्यूडर शासक, जैसा कि मै पहले बतला चुका हूं, करीब-करीब निरकुश राजा थे। लेकिन ट्यूडर लोग चालाक थे और वे पार्लमेण्ट से लड़ाई मोल लेना टाल जाते थे।

इग्लैण्ड यूरोप की कट्टर मजहबी लड़ाइयो से बचा रहा। मजहबी झगड़ो, दगे-फिसादो और कट्टरपन की बहुत ज्यादती रही, और स्त्रियो की एक बड़ी सख्या को जिन्दा जलाने की शर्मनाक कार्रवाई की गई, क्योंकि उन्हें डायन समझा गया था। लेकिन यूरोप के मुकाबले मे इग्लैण्ड मे फिर भी शान्ति रही। हेनरी अष्टम के साथ-साथ इग्लैण्ड भी प्रोटेस्टेण्ट हो गया, यह माना गया। देश मे बहुत-से कैथ-लिक जरूर थे, मगर बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टेण्ट भी थे। लेकिन नया 'चर्च ऑफ इग्लैण्ड' यानी इग्लैण्ड का ईसाई-सघ कुछ-कुछ इन दोनो के बीच का था, और हालांकि वह अपने को प्रोटेस्टेण्ट कहता था मगर प्रोटेस्टेण्ट की बनिस्बत कैथलिक ज्यादा था, और सच पूछें तो यह राज्य का एक महकमा था, जिसका अध्यक्ष खुद बादशाह था। हां, रोम और पोप से रिश्ता बिलकुल टूट चुका था और बहुत-से 'पोपलीला-विरोधी' दगे हुए। महारानी एलिजाबेथ (यह आठवें हेनरी की पुत्री थी) के वक्त मे पूर्वी देशो के और अमेरिका के जो नये समुद्री-रास्ते खुले और व्यापार की नई-नई गुजाइशें हुई उन्होंने बहुत-से लोगो को लुभाया। स्पेन और पुर्तगाल के जहाजियो की सफलता से मोहित होकर और दौलत हासिल करने के लालच से इग्लैण्ड ने भी समुद्र का रास्ता पकड़ा। सर फ्रान्सिस ड्रेक वगैरा शुरू मे समुद्री-डाकू बन गये और अमेरिका से आनेवाले स्पेन के जहाजो को लूटने लगे। इसके बाद ड्रेक ने दुनिया का चक्कर लगाने के लिए जबर्दस्त समुद्र-यात्रा की। सर वाल्टर रैले ने अतलान्तिक सागर को पार करके उस देश के पूर्वी किनारे पर बस्ती डालने की कोशिश की, जिसे आज अमेरिका का संयुक्त राज्य कहते हैं। कुंवारी महारानी एलिजाबेथ के सम्मान मे इसे वर्जिनिया[1] का नाम दिया गया। रैले ही पहला आदमी था, जो अमेरिका से तमाखू पीने का रिवाज यूरोप मे लाया। इसके बाद स्पेनी आर्मेडा आया और इस घमण्ड-भरे धावे की पूरी नाकामयाबी ने इग्लैण्ड का हौसला बहुत बढ़ा दिया। इन बातो का बादशाह और पार्लमेण्ट के झगडे से कोई ताल्लुक नही है, सिवाय इसके कि लोगो का ध्यान इन बातो मे लग गया और विदेशी मामलो की तरफ बट गया। लेकिन ट्यूडरो के जमाने मे भी भीतर-ही-भीतर आग सुलग रही थी।

एलिजाबेथ का ज़माना इग्लैण्ड के सबसे ज्यादा चमकदार ज़मानो मे गिना जाता है। एलिजाबेथ एक महान् रानी थी और उसके समय मे इग्लैण्ड मे कई महान्

---

[1] अंग्रेजी मे क्वांरी स्त्री को वर्जिन (Virgin) कहते हैं।

कर्मवीर पैदा हुए। लेकिन इस रानी और उसके साहसी नाइटो से भी बढ़कर थे इस पीढ़ी के कवि और नाटककार, और अमर विलियम शेक्सपियर इन सबसे ऊँचा नजर आता है। इसके नाटक आज वास्तव मे सारे ससार मे मशहूर हैं, हालाँकि इसके खुद के बारे मे हम बहुत कम जानते हैं। यह उस प्रतिभाशाली मण्डली मे से एक था, जिसने अग्रेजी भाषा के भण्डार को बहुत-से बेशकीमती रत्नो से भर दिया है, जो हमारे दिल मे खुशी भर देते हैं। एलिजाबेथ के जमाने की छोटी-छोटी गीत-कविताओ मे भी एक निराला रस है जो औरो मे नहीं पाया जाता। बडी सीधी-सादी और मीठी-से-मीठी भाषा मे ये हर्ष से फुदकती चली जाती हैं और दैनिक जीवन की बातें अपने निराले ही ढग से कहती हैं। इस जमाने का जिक्र करते हुए लिटन स्ट्राची नामक एक अग्रेज समालोचक ने लिखा है कि "एलिज़ाबेथ-काल की इस शानदार मण्डली की ज़ोरदार और शानदार भावना ने इग्लैण्ड को एक ही चमत्कारी पीढ़ी मे नाटको की ऐसी शानदार विरासत भेंट की है, जो दुनिया मे आज तक बेजोड है।"

भारत मे अकबर महान् की मृत्यु के ठीक दो वर्ष पहले, १६०३ ई० मे, एलिजाबेथ की मृत्यु हुई। उसके बाद स्कॉटलैण्ड का मौजूदा बादशाह गद्दी पर बैठा, क्योंकि उत्तराधिकारियो की वश-परम्परा मे वही सबसे नज़दीकी था। वह जेम्स प्रथम के नाम से गद्दी पर बैठा और इस तरह इग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड मिलकर एक राज्य बन गये। जिस चीज को इग्लैण्ड खून-खराबी से न पा सका वही शान्ति के साथ हो गई। जेम्स प्रथम राजाओ के दैवी अधिकार का हामी था और पार्लमेण्ट को पसन्द नही करता था। वह एलिजाबेथ की तरह होशियार भी नही था और जल्दी ही पार्लमेण्ट और उसके बीच झगडा पैदा हो गया। इसी के राज मे इग्लैण्ड के बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टेण्ट अपनी जन्मभूमि को हमेशा के लिए छोड गये और अमेरिका मे बसने के लिए १६२० ई० मे 'मेफ्लावर' नामक जहाज़ से रवाना हो गये। वे जेम्स प्रथम के निरकुश तरीको से सहमत नही थे और इग्लैण्ड के नये 'ईसाई-सघ' को नापसन्द करते थे, क्योंकि वे उसे कम प्रोटेस्टेण्ट समझते थे। इसलिए वे अपने घर और देश को छोडकर अतलान्तिक सागर के पार नई जगली भूमि के लिए रवाना हो गये। वे उत्तरी किनारे की एक जगह पर उतरे, जिसे उन्होंने न्यू-प्लेमाउथ नाम दिया। उनके बाद और भी कितने ही उपनिवेशी वहाँ पहुँचे और धीरे-धीरे पूर्वी तट के सहारे-सहारे इन बस्तियो की तादाद बढते-बढते तेरह तक पहुँच गई। अन्त मे ये उपनिवेश मिलकर अमेरिका का सयुक्त राज्य बन गये। लेकिन यह तो अभी बहुत आगे की बात है।

जेम्स प्रथम का पुत्र था चार्ल्स प्रथम। १६२५ ई० मे, इसके गद्दी पर बैठने के बाद, बहुत जल्दी झगडा ऊपर आ गया। इसलिए १६२८ ई० मे पार्लमेण्ट ने उसको

एक "अधिकारों का प्रार्थनापत्र" पेश किया, जो इंग्लैण्ड के इतिहास में एक मशहूर खरीता है। इस प्रार्थना-पत्र में कहा गया था कि बादशाह पूरी तरह अपनी मर्जी पर चलनेवाला शासक नहीं है और वह बहुत-सी बातें नहीं कर सकता। वह गैर-कानूनी तौर पर न तो प्रजा पर टैक्स लगा सकता है और न उसे गिरफ्तार करवा सकता है। वह सत्रहवीं सदी में भी वह बातें नहीं कर सकता था, जो आज बीसवीं सदी में भारत का अंग्रेज वाइसराय कर सकता है—यानी आर्डिनेन्स जारी करना और उनके मातहत लोगों को जेल में डाल देना।

जब उसको यह बतलाया गया कि उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं, तो चार्ल्स ने खीजकर पार्लमेण्ट को भंग कर दिया और उसके बिना ही शासन करने लगा। लेकिन कुछ ही वर्ष बाद उसे रुपये की इतनी तंगी महसूस हुई कि दूसरी पार्लमेण्ट बुलानी पड़ी। पार्लमेण्ट के बिना चार्ल्स ने जो कुछ किया उस पर लोग बहुत नाराज थे और नई पार्लमेण्ट तो उससे लड़ाई मोल लेने का मौका ही ताक रही थी। दो साल बीते भी न थे कि १६४२ ई० में, गृह-युद्ध शुरू हो गया जिसमें एक तरफ तो था बादशाह, जिसकी मदद पर बहुत-से अमीर-सरदार और फौज का बड़ा हिस्सा था, और दूसरी तरफ थी पार्लमेण्ट, जिसके मददगार थे धनी व्यापारी और लन्दन के नागरिक। कई वर्षों तक यह युद्ध खिंचता रहा, और अन्त में पार्लमेण्ट की तरफ एक महान् नेता, ओलिवर क्रामवैल, उठ खड़ा हुआ। वह बड़ा जबर्दस्त संगठन करनेवाला, कड़ा अनुशासन रखनेवाला और अपने उद्देश्य में कट्टर विश्वास रखने-वाला व्यक्ति था। कार्लाइल[1] ने क्रॉमवैल के बारे में लिखा है—"युद्ध के अन्धकार-मय खतरों में, युद्धक्षेत्र की विकट परिस्थितियों में, और उस समय जबकि सब निराश हो जाते थे, उसके भीतर आशा आग के खम्भे की तरह चमकती थी।" क्रॉमवैल ने एक नई सेना तैयार की—इसके सिपाहियों को 'लौह शरीर'[2] कहते थे—और उसे अपने खुद के अनुशासन में बंधे जोश से भर दिया। पार्लमेण्ट की फ़ौज के 'प्यूरिटन्स'[3] ने चार्ल्स के 'कैवेलियर्स' (घुड़सवारों) का मुकाबला किया। अन्त में क्रॉमवैल की जीत हुई और बादशाह चार्ल्स पार्लमेण्ट का कैदी हो गया।

---

[1] कार्लाइल अंग्रेजी भाषा का बहुत बड़ा इतिहासकार और निबन्ध-लेखक हो गया है। अपने समय के साहित्यिक, धार्मिक और राजनीतिक विचारों पर उसका बड़ा भारी प्रभाव था। यह स्कॉटलैंड का रहनेवाला था। इसका समय सन् १७९५ से १८८१ ई० है। इसने 'फ्रेंच रिवोल्यूशन' (फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति) नामक मशहूर पुस्तक लिखी है।

[2] Ironsid s

[3] इंग्लैण्ड के ईसाई-संघ का एक सुधारक फिरक़ा।

पार्लमेण्ट के वहुत-से सदस्य अब भी वादशाह से समझौता करना चाहते थे, लेकिन क्रॉमवैल की नई सेना इस वात को सुनना भी नही चाहती थी और इस सेना के एक अफसर कर्नल प्राइड ने वेधडक पार्लमेण्ट भवन मे घुसकर ऐसे सदस्यो को निकाल वाहर किया। इस घटना को 'प्राइड्स पर्ज' यानी प्राइड की सफाई कहा जाता है। यह उपाय वडा सख्त था और वह पार्लमेण्ट का गौरव वढानेवाला नही था। अगर पार्लमेण्ट ने वादशाह की निरकुशता का विरोध किया तो यहां अब खुद उसीकी सेना ऐसी शक्ति वन गई, जो उसके कानूनो की कुछ परवाह नहीं करती थी। क्रान्तियो का यही ढग हुआ करता है।

कॉमन्स सभा के बचे हुए सदस्यो ने—जिन्हे 'रम्प'[1] पार्लमेण्ट' का नाम दिया गया था—लॉर्ड सभा के विरोध करने पर भी चार्ल्स पर मुकदमा चलाने का फैसला कर लिया और उसे "जालिम, देश-द्रोही, हत्यारा और देश का शत्रु" घोषित करके मौत की सजा दे दी। १६४७ ई० मे इस आदमी का, जो उनका वादशाह रह चुका था और शासन करने के अपने दैवी अधिकार की वात करता था, लन्दन के 'व्हाइट हॉल' मे सिर उडा दिया गया।

वादशाह भी साधारण मनुष्यो की तरह ही मरते हैं। इतिहास वतलाता है कि वास्तव मे इनमे से बहुतो की मौत हत्या से ही हुई है। निरकुशता और वादशाहत गुप्त-हत्या और हत्या को जन्म देते है और इग्लैण्ड के वादशाहो ने अव तक काफी गुप्त-हत्याएँ करवाई थी। लेकिन एक चुनी हुई सभा का अपने-आपको अदालत बना लेने की गुस्ताखी करना, वादशाह पर मुकदमा चलाना, उसे मौत की सजा देना और फिर उसका सिर उडवा देना, एक बिलकुल नई और हैरत मे डालनेवाली बात थी। यह एक निराली बात है कि अग्रेजो ने, जो हमेशा से रूढ़िवादी और जल्द परिवर्तन के विरोधी रहे हैं, इस तरह से यह मिसाल पेश कर दी कि एक जालिम और देशद्रोही राजा के साथ कैसा वर्ताव किया जाना चाहिए। लेकिन यह काम सारी अग्रेज जाति का नही समझना चाहिए, जितना कि क्रॉमवैल के अनुयायी 'लौह-शरीरो' का।

इस घटना से यूरोप के वादशाहो, सीजरो, राजाओ और राजाओ के छुटभइयो के दिल दहल गये। अगर आम लोग इतने गुस्ताख हो जायँ और इग्लैण्ड की मिसाल पर चलने लगे तो उनका क्या हाल होगा! अगर बस चलता तो इनमे से कितने ही इग्लैण्ड पर हमला करके उसे कुचल डालते, लेकिन इग्लैण्ड की वागडोर उन दिनो किसी निकम्मे वादशाह के हाथो मे न थी। पहली वार इग्लैण्ड एक गणराज्य वना था और उसकी रक्षा करने के लिए क्रॉमवैल और उसकी सेना तैयार थी। क्रामवैल करीव-करीव तानाशाह (डिक्टेटर) था। वह 'लॉर्ड प्रोटैक्टर',

---

[1] बची-खुची।

यानी रक्षक सरदार कहलाता था। इसके कड़े और कुशल शासन में इंग्लैण्ड का बल बढ़ने लगा और उसके जहाजी बेड़ों ने हॉलैण्ड, फ्रान्स और स्पेन के बेड़ों को मार भगाया। पहली ही बार इंग्लैण्ड यूरोप की प्रधान समुद्री-शक्ति बन गया।

लेकिन इंग्लैण्ड का यह गणराज्य ज्यादा दिन नहीं टिका। चार्ल्स प्रथम की मौत के बाद ग्यारह वर्ष भी न बीतने पाये कि १६५८ ई० में क्रॉमवैल की मृत्यु हो गई और दो वर्ष बाद गणराज्य का भी अन्त हो गया। चार्ल्स प्रथम का पुत्र, जिसने भागकर विदेशों में शरण ली थी, इंग्लैण्ड लौट आया। उसका स्वागत किया गया और चार्ल्स द्वितीय के नाम से उसे गद्दी पर बिठाया गया। यह दूसरा चार्ल्स एक कमीना और बदनाम व्यक्ति था और बादशाहत को वह सिर्फ मौज उड़ाने का साधन समझता था। लेकिन वह चतुर इतना था कि पार्लमेण्ट का ज्यादा विरोध नहीं करता था। सच तो यह है कि उसे फ्रान्स के बादशाह से चोरी-छिपे धन मिलता था। क्रामवैल के समय में इंग्लैण्ड ने यूरोप में जो पद हासिल किया था, वह जाता रहा। यहाँतक कि हॉलैण्ड का जहाजी-बेड़ा टेम्स नदी में घुसकर अंग्रेजी बेड़े को आग लगा गया।

चार्ल्स द्वितीय के बाद उसका भाई जेम्स द्वितीय गद्दी पर बैठा और उसने फौरन ही पार्लमेण्ट से झगड़ा ठान लिया। जेम्स दीनदार कैथलिक था और पोप की प्रभुता को इंग्लैण्ड में फिर से कायम करना चाहता था। लेकिन मजहब के बारे में अंग्रेज लोगों के विचार चाहे जैसे रहे हों—और ये विचार काफी धुंधले भी थे, लेकिन ज्यादातर लोग पोप और पापलीला से बिलकुल चिढ़े हुए थे। इस व्यापक भावना के खिलाफ जेम्स कुछ भी न कर सका। उलटे पार्लमेण्ट की नाराजगी मोल लेने पर उसे जान बचाने के लिए फ्रान्स भाग जाना पड़ा।

एक बार फिर पार्लमेण्ट ने बादशाह पर विजय पाई, लेकिन इस बार बिलकुल शान्ति के साथ और बिना गृह-युद्ध के। देश बिना बादशाह का हो गया था। लेकिन अब इंग्लैण्ड दुबारा गणराज्य होनेवाला नहीं था। कहा जाता है कि अंग्रेज अपने ऊपर एक सरदार चाहता है। इससे भी ज्यादा वह शाही शान-शौकत और तड़क-भड़क से प्रेम करता है। इसलिए पार्लमेण्ट को एक नये बादशाह की तलाश हुई और वह उसे उस ऑरेंज राजवंश में मिल गया, जिसने, सौ वर्ष पहले, स्पेन के खिलाफ नीदरलैण्ड की महान् लड़ाई का नेतृत्व करने के लिए 'विलियम दि साइलैण्ट' दिया था। इस वक्त ऑरेंज का शाहजादा एक दूसरा विलियम था, जिसने इंग्लैण्ड के राजवंश की मेरी से विवाह किया था। बस, विलियम और मेरी १६८८ ई० में इंग्लैण्ड के जुड़वाँ नरेश बना दिये गए। अब पार्लमेण्ट सर्वोपरि थी और पार्लमेण्ट में भेजे हुए प्रतिनिधियों के जरिये जनता के हाथ में अधिकार देनेवाली इंग्लैण्ड की राज्यक्रान्ति पूरी हो चुकी थी। उस दिन से आजतक किसी भी ब्रिटिश बादशाह

या बेगम की यह हिम्मत नही हुई है कि पार्लमेण्ट की सत्ता को चुनौती दे। लेकिन सीधे तौर पर विरोध करने या चुनौती देने के अलावा भी साजिशें करने और असर डालने के सैकडो तरीके हो सकते हैं, और कई अंग्रेज़ बादशाहो ने इन उपायों का सहारा लिया है।

पार्लमेण्ट सर्वोपरि बन चुकी थी। लेकिन यह पार्लमेण्ट थी क्या ? यह ख़याल न करना कि वह इग्लैण्ड की जनता की प्रतिनिधि थी। वह तो उसके एक छोटे-से हिस्से की प्रतिनिधि थी। जैसा कि उसके नाम से ज़ाहिर होता है, लॉर्ड सभा तो लॉर्डों या बडे-बडे ज़मीदारो और पादरियो की प्रतिनिधि थी। कॉमन्स सभा भी ऐसे धनवान लोगो की सभा थी जो कि या तो ज़मीन-जायदादो के मालिक थे या बडे-बडे व्यापारी। वोट देने का अधिकार बहुत कम लोगों को था। आज से सौ वर्ष पहले तक इग्लैण्ड मे कितने ही 'जेबी निर्वाचन क्षेत्र' थे, यानी ऐसे निर्वाचन-क्षेत्र जो वास्तव मे कुछ लोगों की जेबो मे ही रहते थे। मारे निर्वाचन-क्षेत्र मे सदस्य को चुननेवाले सिर्फ एक या दो ही वोटर होते थे। कहा जाता है कि १७९३ ई० मे कॉमन्स सभा के ३०६ मेम्बरो का चुनाव सिर्फ १६० व्यक्तियो ने किया था। ऑल्डसारम नामक एक छोटे-से गॉव से दो सदस्य पार्लमेण्ट मे भेजे जाते थे। इससे तुमको पता लगेगा कि ज्यादातर जनता को वोट देने का अधिकार न था और पार्लमेण्ट मे उनका कोई प्रतिनिधि नही था। कॉमन्स सभा लोक-सभा होने का कोई दावा नही कर सकती थी। वह उन नये मध्यम वर्गों की भी प्रतिनिधि नही थी, जो नगरो मे पैदा हो रहे थे। वह तो सिर्फ ज़मीदार वर्ग और कुछ धनी व्यापारियो की प्रतिनिधि थी। पार्लमेण्ट की सीटें बाकायदा बेची और खरीदी जाती थी और रिश्वत-खोरी का बाज़ार खूब गर्म था। ये सब बाते सौ वर्ष पहले, यानी ठेठ १८३२ ई० तक होती थी, जबकि बहुत आन्दोलन के बाद एक शासन-सुधार कानून पास हुआ और कुछ ज्यादा लोगो को वोट देने का अधिकार मिला।

हम देखते हैं कि बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय का मतलब था मुट्ठी-भर धनवानो की विजय। असल मे इग्लैण्ड पर शासन करनेवाले यही मुट्ठी-भर ज़मीदार थे, जिनमे इक्के-दुक्के व्यापारी भी शामिल थे। बाकी के तमाम वर्गों का, जिनसे कि लगभग सारा राष्ट्र बना हुआ था, इसमे कोई भी हाथ नही था।

इसी तरह तुम्हे याद होगा कि स्पेन से बडी लडाई के बाद हॉलैण्ड का जो गणराज्य बना, वह भी धनवानो का ही गणराज्य था।

[1] विलियम और मेरी के बाद मेरी की बहिन इग्लैण्ड की महारानी हुई। १७१४ ई० मे जब इसकी मृत्यु हुई तो यह दिक्कत फिर हुई कि आगे कौन बादशाह बनाया जाय। आखिरकार पार्लमेण्ट को बादशाह चुनने के लिए जर्मनी जाना पडा। उन्होने एक जर्मन को चुना, जो उस वक्त हैनोवर का शासक था, और उसे इग्लैण्ड

का जॉर्ज प्रथम बना दिया। शायद पार्लमेण्ट ने उसे इसलिए चुना कि वह भोंदू था और ज़रा भी चतुर न था, और एक बेवकूफ बादशाह रखने में कम खतरा था बनिस्बत एक ऐसे चतुर बादशाह के, जो पार्लमेण्ट के कामों में टाँग अड़ावे। जॉर्ज प्रथम अंग्रेजी तक न बोल सकता था, इंग्लैण्ड का बादशाह अंग्रेजी भाषा नहीं जानता था। उनका पुत्र भी, जो जॉर्ज द्वितीय हुआ, वह भी अंग्रेजी नहीं जानता था। इस तरह इंग्लैण्ड में 'हैनोवर का राजघराना' या हैनोवर राजवंश कायम हुआ, जो आजतक वहाँ राज कर रहा है।[1] इसे राज करना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि राज और शासन तो पार्लमेण्ट करती है।

सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच बहुत रगड़े-झगड़े हुए। आयर्लैण्ड को जीतने की कोशिशें और बगावतें और हत्याएँ, एलिजाबेथ और जेम्स प्रथम के शासन-काल में बराबर होती रहीं। आयर्लैण्ड के उत्तर में, अल्स्टर में जेम्स ने बहुत-सी ज़मीन-जायदाद जब्त कर ली और स्कॉटलैण्ड से प्रोटेस्टेण्टों को लाकर उस क्षेत्र में बसा दिया। तब से ये प्रोटेस्टेण्ट उपनिवेशी वहाँ रह रहे हैं और आयर्लैण्ड के दो टुकड़े हो गये हैं, आयरवासी और स्कॉटलैण्ड के उपनिवेशी या रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट। दोनों के बीच में बड़ी कट्टर दुश्मनी रही है और इंग्लैण्ड ने तो इस फूट से फायदा उठाया ही है। राज करनेवाले हमेशा से ही फूट डालकर शासन करने की नीति में विश्वास रखते हैं। आजकल भी आयर्लैण्ड के सामने सबसे बड़ी समस्या अल्स्टर की है।

इंग्लैण्ड के गृह-युद्ध के जमाने में आयर्लैण्ड में अंग्रेजों की बहुत हत्याएं हुईं। क्रॉमवैल ने बेरहमी के साथ इनका बदला आयरवासियों की हत्याएँ करके निकाला। इस बात को आयरवासी आज तक बड़ी दुश्मनी के साथ याद करते हैं। इसके बाद और लड़ाइयाँ हुईं, समझौते हुए, सन्धियाँ हुईं, और अंग्रेजों ने इन्हें तोड़ भी डाला। आयर्लैण्ड की तड़प का यह इतिहास बड़ा लम्बा और दुखभरा है।

यह जानकर तुम्हें शायद दिलचस्पी होगी कि गुलिवर्स ट्रैवल्स[2] का लेखक जोनाथन स्विफ्ट इसी ज़माने में, यानी १६६७ से १७४५ ई० में, हुआ था। इस मशहूर पुस्तक का बाल-साहित्य में बड़ा ऊँचा स्थान है, लेकिन वास्तव में वह

---

[1] सन् १९३९-४५ के दूसरे महायुद्ध में हैनोवर राजवंश का नाम बदलकर विण्डसर राजवंश रख दिया गया।

[2] 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' में डॉक्टर गुलिवर की यात्राओं का बड़ा दिलचस्प बयान है। एक बार वह एक-एक इंच के मनुष्यों के देश में जा पहुँचा और दूसरी बार ५०-६० फुट लम्बे मनुष्यों के देश में।

उस जमाने के इग्लैण्ड पर एक तीखा व्यग है। 'रॉबिन्सन क्रूसो'[1] का लेखक डेनियल डेफो भी स्विफ्ट का समकालीन था।

## ८८

## बाबर

३ सितम्बर, १९३२

अब ज़रा भारत की तरफ लौट चले। हमने यूरोप को काफी समय दिया है और कई पत्रो मे, उथल-पुथल, लडाई-झगडो और युद्धो की गहराई को जानने की और सोलहवी और सत्रहवी सदियो मे वहाँ क्या हो रहा था, यह समझने की कोशिश की है। मैं नही जानता कि यूरोप के इस जमाने के बारे में तुम्हारे क्या विचार हुए होगे। तुम्हारे खयाल चाहे जो कुछ हो, पर वे ज़रूर बहुत खिचडी होगे, और इसमे ताज्जुब की भी कोई बात नही है, क्योकि उस समय यूरोप एक बडा अजीब और झमेलो से भरा देश था। लगातार और वहशियाना लडाइयाँ, मजहबी कट्टरपन और अत्याचार, जिसकी मिसाल इतिहास मे दूसरी जगह मिलनी मुश्किल है, बादशाहो की निरकुशता और 'दैवी अधिकार', गिरा, हुआ धनिक-वर्ग, और जनता का शर्मनाक शोषण। चीन इससे सदियो आगे बढा हुआ मालूम होता था—वह एक सुसस्कृत, कलाप्रिय, उदार और करीब-करीब अमन-चैन वाला देश था। फूट और गिरावट होते हुए भी भारत बहुत-सी बातो मे चीन की बराबरी का दावा कर सकता था।

लेकिन इग्लैण्ड का भी एक दूसरा और खुशनुमा पहलू दिखाई पड रहा था। आधुनिक विज्ञान की शुरुआत नजर आ रही थी और जनता की आज़ादी की भावना जोर पकडकर बादशाही सिंहासनो को डाँवाडोल कर रही थी। इनकी सतह के नीचे और इनकी व बहुत-सी दूसरी हलचलो की वजह थी पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के यूरोपीय देशो मे व्यापार व उद्योगो का विकास। बडे-बडे शहर बस रहे थे, जो दूर देशो से व्यापार करनेवाले सौदागरो से भरे थे और कारीगरो की उद्योगो की हलचलो से गूंज रहे थे। सारे पश्चिमी यूरोप मे 'शिल्प-सघ' यानी शिल्पकारो और कारीगरो के सघ बन रहे थे। ये ही व्यापारी और औद्योगिक वर्ग 'बुर्जुआ' यानी नया मध्यमवर्ग कहलाये। यह वर्ग बढा तो सही, लेकिन इसके रास्ते मे बहुत-सी राजनीतिक, समाजी और मजहबी रुकावटें आईं। राजनीतिक और

---

[1] 'रॉबिन्सन क्रूसो' अंग्रेज़ी की एक बडी मशहूर और दिलचस्प किताब है। इसमे एक मल्लाह की कहानी है, जिसने लगभग बीस वर्ष अकेले ही एक टापू पर बिताये थे और अपने लिए सब तरह की सहूलियतें इकट्ठा कर ली थीं।

समाजी व्यवस्था में सामन्तशाही के निशान अब भी बाकी थे। यह प्रथा बीते हुए युग की थी। यह इस जमाने में मेल नहीं खाती थी और व्यापार और उद्योग में रुकावट भी डालती थी। सामन्त-सरदार तरह-तरह के टोल और टैक्स वसूल करते थे, जिनसे व्यापारी वर्ग को झुंझलाहट पैदा होती थी। इसलिए मध्यमवर्ग ने सामन्ती-वर्ग से सत्ता छीनने की कोशिश शुरू की। बादशाह भी इन सामन्ती अमीर-सरदारों से नाराज था, क्योंकि ये लोग उसके अधिकारों में भी दखल देते चाहते थे। इसलिए इन सामन्ती-सरदारों के खिलाफ बादशाह और मध्यमवर्ग दोनों मिलकर एक हो गये और इन्होंने उनके समन्ती दबदबे को मिटा दिया। नतीजा यह हुआ कि बादशाह और भी ज्यादा शक्तिशाली और निरंकुश हो गया।

इसी तरह यह भी महसूस किया गया कि उन दिनों पश्चिमी यूरोप का मज़हबी संगठन और चालू मज़हबी विचार व व्यापार करने के ढंग भी व्यापार और उद्योग की तरक्की में रुकावट डाल रहे थे। खुद मज़हब भी बहुत-सी बातों में सामन्तशाही से जुड़ा हुआ था, और जैसाकि मैं तुमको बतला चुका हूँ, ईसाई-संघ सबसे बड़ा सामन्ती ज़मींदार था। पिछले बहुत वर्षों से कितने ही व्यक्ति और गिरोह रोमन ईसाई-संघ की आलोचना करने और उसकी सत्ता को चुनौती देने के लिए पैदा होते रहे थे। लेकिन वे कुछ ज्यादा परिवर्तन न ला सके। मगर अब सारा बढ़ता हुआ मध्यमवर्ग परिवर्तन चाहता था, इसलिए सुधार का आन्दोलन बड़ा जबर्दस्त बन गया।

ये सब परिवर्तन, और इनके अलावा कितने ही दूसरे परिवर्तन, जिनपर हम पहले एक साथ विचार कर चुके हैं, उस क्रान्ति के अलग-अलग पहलू और रूप थे, जिसने मध्यमवर्ग को सामने ला दिया। पश्चिमी यूरोप के सब देशों में करीब-करीब यही प्रक्रिया हुई होगी, लेकिन अलग-अलग देशों में वह अलग-अलग समय में हुई। इस समय और इसके बहुत दिन बाद तक भी, उद्योगों के लिहाज से पूर्वी यूरोप बहुत पिछड़ा हुआ था। इसलिए वहाँ कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

चीन और भारत में भी शिल्प-संघ थे और शिल्पकारों और कारीगरों की एक बड़ी भारी संख्या थी। उद्योग-धन्धे यूरोप के मुकाबले में ही और बहुत-कुछ उससे भी ज्यादा आगे बढ़े हुए थे। लेकिन अभी यहाँ विज्ञान का उतना विकास नहीं था जितना यूरोप में था और न यहाँ की जनता में आज़ादी की यूरोप-जैसी उमंग थी। दोनों देशों में मज़हबी आज़ादी और नगरों, गाँवों और संघों में मुकामी आज़ादी की पुरानी परम्पराएँ चली आ रही थीं। बादशाह की शक्ति और निरं-कुशता की लोगों को ज़रा भी परवाह न थी जबतक कि उनके मुकामी मामलों में दखल न दिया जाता हो। दोनों देशों ने एक समाजी संगठन बना लिया था, जो बहुत तों से टिका हुआ था और जो यूरोप के ऐसे किसी भी संगठन से ज्यादा टिकाऊ

था। शायद इस सगठन के टिकाऊपन और मजबूती ने ही विकास को रोक रक्खा था। हमने देखा है कि भारत मे फूट और गिरावट का नतीजा अन्त मे यह हुआ कि उत्तरी भाग पर मुग़ल बाबर ने कब्ज़ा कर लिया। मालूम होता है कि लोग आज़ादी के प्राचीन आर्य-विचारो को बिलकुल भूल गये थे और उनमे तावेदारी की और किसी भी शासक की अधीनता कबूल करने की आदत हो गई थी।[1] यहाँ तक कि देश मे एक नई चेतना लेकर आनेवाले मुसलमान भी औरो की ही तरह पतित और खुशामदी हो गये।

इस तरह ताज़गी और क्रियाशक्ति के उन गुणो से भरा हुआ यूरोप, जिनकी पूर्वी दुनिया की पुरानी सभ्यताओ मे कमी दिखाई देती थी, धीरे-धीरे इनसे आगे बढ़ता जा रहा था। उसके निवासी ससार के कोने-कोने मे फैल रहे थे। व्यापार और धन के लालच ने उसके जहाज़ियो को अमेरिका और एशिया की ओर खीच लिया था। दक्षिण-पूर्वी एशिया मे पुर्तगालियो ने मलक्का के अरब साम्राज्य का अन्त कर दिया था। उन्होने भारत के किनारे-किनारे और पूर्वी समुद्रो मे सब जगह अपनी चौकियाँ बना ली थी। लेकिन जल्द ही मसाला-व्यापार पर उनके क़ब्ज़े को हॉलैण्ड, और इग्लैण्ड इन दो नई शक्तियो ने चुनौती देना शुरू कर दिया। पुर्तगाली पूर्व से खदेड दिये गए और उनका पूर्वी साम्राज्य और व्यापार नष्ट हो गया। कुछ हद तक हॉलैण्ड ने पुर्तगाल की जगह ले ली और बहुत-से टापुओ पर क़ब्ज़ा कर लिया। १६०० ई० मे महारानी एलिज़ाबेथ ने लन्दन के व्यापारियो की एक कम्पनी, 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' को भारत मे तिजारत करने का फरमान दिया और दो साल बाद 'डच ईस्ट इण्डियन कम्पनी' बनी। इस तरह यूरोप का एशिया को हडपने का ज़माना शुरू होता है। बहुत दिनो तक तो यह मलाया और पूर्वी टापुओं तक ही सीमित रहा। मिङ्ग राजाओ और सत्रहवीं सदी के बीच मे आनेवाले मचुओ के राज मे चीन यूरोप के लिए बहुत बलवान था। जापान तो इतना आगे बढ़ गया कि उसने १६४१ ई० मे सब विदेशियो को बाहर निकाल दिया और अपने देश को बाहरवालो के लिए बिलकुल बन्द कर दिया। और भारत में क्या हुआ? भारत की कहानी को हम बहुत पीछे छोड आये हैं, इसलिए अब इस कमी को पूरा करना चाहिए। जैसा कि हम देखेंगे, नये मुगल राजवश के अधीन भारत एक शक्तिशाली राजाशाही बन गया था, और यूरोप के हमले का ज़रा भी खतरा या मौका न था। लेकिन समुद्रो पर यूरोप का क़ब्ज़ा पहले ही हो चुका था।

इसलिए अब हम भारत की तरफ वापस आते हैं। यूरोप, चीन, जापान और मलेशिया मे हम सत्रहवीं सदी के अन्त तक आ पहुँचे हैं, और अठारहवी सदी

---

[1] कोउ नृप होउ हमहि का हानी
चेरि छाड़ि अब होब कि रानी—तुलसीदास

के किनारे पर हैं। लेकिन भारत मे अभी तक हम सोलहवी सदी के शुरू मे ही हैं, जबकि बाबर यहाँ आया था।

१५२६ ई० मे दिल्ली के बोदे और टुच्चे अफग़ान सुलतान पर बाबर की विजय से भारत मे एक नया ऐतिहासिक ज़माना और नया साम्राज्य—मुग़ल साम्राज्य शुरू होता है। बीच मे थोडे समय को छोडकर यह १५२६ से १७०७ ई० तक, यानी १८१ वर्ष तक, रहा। ये वर्ष उसकी शक्ति और शान के थे, जबकि भारत के महान् मुगल की कीर्त्ति सारे एशिया और यूरोप मे फैल गई थी। इस राजवश के छै बडे शासक हुए, जिनके बाद यह साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया और मराठो, सिखो, वग़ैरा ने उसमें से रियासतें बाँट ली। इनके बाद अग्रेज़ आये, जिन्होंने केन्द्रीय सत्ता की टूट-फूट और देश मे फैली हुई गडबड से फायदा उठाकर धीरे-धीरे अपनी हुकूमत जमा ली।

मैं बाबर के बारे मे पहले ही कुछ कह चुका हूँ। चगेज़खाँ और तैमूर के वश का होने की वजह से इसमे कुछ-कुछ उनका बडप्पन और सैनिक योग्यता थे। लेकिन चगेज़ के ज़माने से अबतक मगोल बहुत सभ्य हो गये थे और बाबर जैसा सुसस्कृत और ख़ुशदिल व्यक्ति उस ज़माने मे मिलना मुश्किल था। उसमे फिरकापरस्ती बिलकुल न थी, न मज़हबी कट्टरपन था, और न उसने अपने पुरखो की तरह विनाश ही किया। वह कला और साहित्य का पुजारी था और ख़ुद भी फारसी का कवि था। वह फूलो और बाग़ो से प्यार करता था और भारत की गर्मी मे उसे अक्सर अपने देश मध्य एशिया की याद आ जाती थी। अपने सस्मरणो में उसने लिखा है—"फरग़ाना मे बनफ़शा के फूल बडे प्यारे होते हैं, वहाँ तो गुलेलाला और गुलाब के ढेर हैं।"

अपने पिता की मृत्यु पर जब बाबर समरकन्द का शासक हुआ तब वह सिर्फ ग्यारह वर्ष का बच्चा था। यह काम आसान न था। उसके चारों तरफ दुश्मन थे। इसलिए जिस उम्र मे छोटे लडके और लडकियाँ स्कूल जाते हैं, उस उम्र मे उसे तलवार लेकर लडाई के मैदान मे जाना पडा। उसकी राजगद्दी छिन गई, लेकिन उसने फिर से उसे जीत लिया और अपनी तूफानी जिन्दगी मे उसे बहुत खतरो का सामना करना पडा। इसपर भी वह साहित्य, कविता और कला का अभ्यासी रहा। महत्वाकाक्षा उसे आगे हाँकती रही। काबुल को जीतकर वह सिन्ध नदी पार करके भारत मे आया। उसके साथ फौज तो थोडी-सी थी, लेकिन उसके पास नई तोपें थी, जो उन दिनो यूरोप और पश्चिमी एशिया मे काम मे लाई जा रही थी। अफगानो की जो बडी भारी फौज उससे लडने आई वह इस छोटी-सी लेकिन अच्छी तरह सिखाई हुई फौज और उसकी तोपो के आगे तहस-नहस हो गई और विजय बाबर के हाथ लगी। लेकिन उसकी मुसीबतो का अन्त नही हुआ और कितनी

ही वार उसके भाग्य का पलडा डाँवाडोल हो गया था। एक बार जब वह बहुत खतरे मे था तो उसके सेनापतियो ने उसे उत्तर की ओर वापस भाग चलने की सलाह दी। लेकिन वह वडा जीवटवाला था और उसने कहा कि पीछे हटने से तो वह मौत का सामना करना अच्छा समझता है। शराव का प्याला उसे वहुत प्यारा था। लेकिन अपनी जिन्दगी मे इस सकट के समय उसने शराव छोड देने का फैसला किया और अपने सब प्याले तोड डाले। सयोग से वह जीत गया और उसने शराव छोडने की अपनी कसम को अन्त तक निभाया।

वावर को भारत मे आये चार वर्ष भी न वीते थे कि उसकी मृत्यु हो गई। लेकिन ये चार वर्ष लडाई-झगडो मे ही वीते और उसे ज़रा भी आराम न मिला। वह भारत के लिए एक अजनवी ही रहा और यहाँ के वारे मे कुछ न जान सका। आगरे मे उसने एक शानदार राजधानी की नीव डाली और कुस्तुन्तुनिया से एक मशहूर इमारत वनानेवाले को वुलाया। यह वह समय था जब शानदार सुलेमान कुस्तुन्तुनिया मे इमारतें वनवा रहा था। सीनन एक मशहूर उस्मानी शिल्पकार था। उसने अपने प्रिय शिष्य यूसुफ को भारत भेजा।

वावर ने अपनी जिन्दगी की यादें लिखी हैं और इस मज़ेदार पुस्तक में इस व्यक्ति की गहरी झलकियाँ मिलती हैं। उसने भारत का और उसके जानवरो, फूलो, पेडो, फलो का वर्णन किया है, यहाँतक कि मेढको को भी नही छोडा है। वह अपने वतन के खरवूजो, अगूरो और फूलो के लिए तरसता है। भारतवासियो के वारे मे हद दर्जे की निराशा जाहिर करता है। उसके कहने के मुताविक तो उनके पक्ष मे एक भी अच्छी वात नही है। शायद चार वर्षों तक लडाइयो मे फँसे रहने की वजह से वह भारतवासियो को पहचान न सका और सुसस्कृत वर्गों के लोग इस नये विजेता से दूर-दूर भी रहे। शायद एक नया आनेवाला दूसरे देश के निवासियो के जीवन, और उनकी सभ्यता मे आसानी से घुलमिल नही सकता। कुछ भी हो, उसे न तो अफगानो मे—जो कुछ दिनो से भारत मे राज कर रहे थे और न ज्यादातर भारतवासियो मे ही कोई तारीफ की चीज़ नज़र आई। वह हर बात पर अच्छी तरह ग़ौर करनेवाला था और एक विदेशी की तरफदारी का खयाल रखते हुए भी उसके बयानो से मालूम होता हैं कि उत्तर भारत की हालत उस वक्त बहुत खराब थी। वह दक्षिण भारत की तरफ बिलकुल नही गया।

वावर ने लिखा है—"हिन्दुस्तान का साम्राज्य वडा लम्बा-चौडा, घना बसा हुआ और मालदार है। उसकी पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की भी सीमाओ पर समुद्र है। उसके उत्तर मे कावुल, ग़ज़नी और कन्धार हैं। सारे हिन्दुस्तान की राजधानी दिल्ली है।" यह बात ध्यान मे रखने लायक़ है कि बाबर सारे भारत को एक देश

की सख्या इतनी ज्यादा है कि उसका कोई अन्त ही नहीं। किसी काम या धन्धे के लिए जब चाहो तब एक जमात तैयार है, जिनके यहाँ वही काम-धंधा युगो से, पीढी-दर-पीढी चला आ रहा है।"

बाबर की यादियो से मैंने कुछ लम्बे बयान यहाँ नकल किये हैं। ऐसी पुस्तको से हमको किसी व्यक्ति का जितना ज्यादा अन्दाजा होता है, उतना उसके बारे में किसी बयान से नही।

१५३० ई० मे ४९ वर्ष की उम्र मे बाबर की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बारे मे एक मशहूर किस्सा है। उसका पुत्र हुमायूँ बीमार पडा, और कहते हैं कि उसके प्रेम मे बाबर खुद अपना जीवन भेंट चढाने के लिए तैयार हो गया, बशर्ते कि उसका पुत्र अच्छा हो जाय। कहते हैं कि हुमायूँ अच्छा हो गया और इस घटना के कुछ ही दिन बाद बाबर की मृत्यु हो गई।

बाबर की लाश को लोग काबुल ले गये और वहाँ उसी बाग में उसे दफ़नाया, जो बाबर को बहुत पसन्द था। जिन फूलो के लिए वह तरसता था, अन्त मे वह उन्ही के पास चला गया।

## : ८९ :

## अकबर

४ सितम्बर, १९३२

अपनी सिपहसालारी और सैनिक योग्यता के बल पर बाबर ने उत्तर भारत का बहुत-सा भाग जीत लिया था। उसने दिल्ली के अफग़ान सुलतान को हरा दिया और बाद मे इतिहास के एक मशहूर वीर, चित्तौड के रण-बाँकुरे राणा साँगा, की नेतागिरी मे लडनेवाले राजपूतो को हराया, जो ज्यादा मुश्किल काम था। लेकिन इससे भी ज्यादा मुश्किल काम वह अपने पुत्र हुमायूँ के लिए छोड गया। हुमायूँ बहुत सुसस्कृत और विद्वान् था, लेकिन अपने पिता की तरह सिपाही न था। उसके नये साम्राज्य मे सब जगह गडबड फैल गई और आखिर १५४० ई० में, बाबर की मृत्यु के दस वर्ष बाद, बिहार के शेरख़ाँ नामक अफग़ान सरदार ने उसे हराकर भारत से बाहर निकाल दिया। इस तरह यह दूसरा महान् मुग़ल इधर-उधर छिपता हुआ और बडी मुसीबतें झेलता हुआ मारा-मारा फिरने लगा। इसी भाग-दौड की हालत मे, राजपूताना के रेगिस्तान मे, नवम्बर १५४२ ई० मे, उसकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। रेगिस्तान मे पैदा हुआ यह पुत्र आगे चलकर अकबर के नाम से मशहूर हुआ।

हुमायूँ भागकर ईरान पहुँचा और वहाँ के बादशाह शाह तहमास्प ने उसे

# अकबर का साम्राज्य

काबुल
सिंधु नदी
दिल्ली
आगरा
गंगा नदी
पटना
इलाहाबाद
गुजरात
दिव
दमन
गोदावरी नदी
पुर्तगालों अधिकृत प्रदेश
गोवा
कालीकट
कोचीन
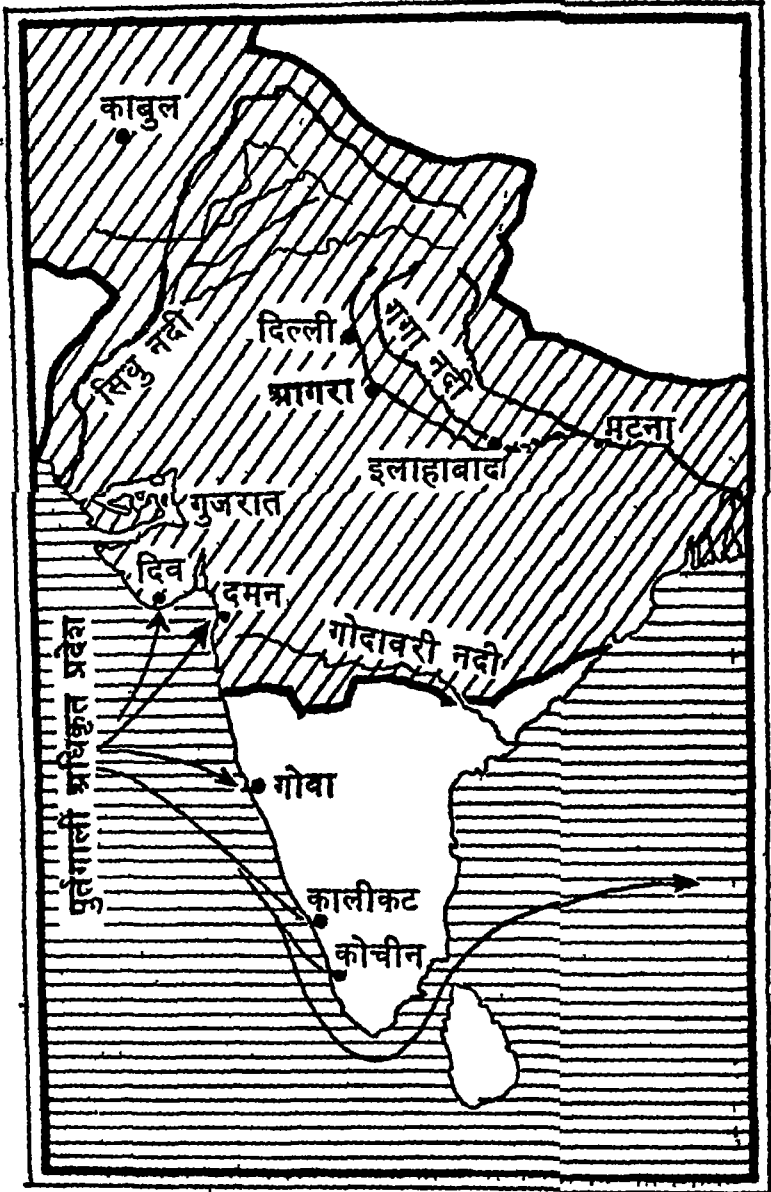
शरण दी। इस अर्से मे उत्तरी भारत मे शेरखाँ का दबदबा खूब फैला और उसने शेरशाह के नाम से पाँच वर्ष तक राज किया। इस थोडे-से समय मे ही उसने बतला दिया कि वह बहुत योग्य और कुशल व्यक्ति था। वह प्रतिभाशाली सगठक था, और उसका शासन क्रियाशील और कुशल था। अपने युद्धो के बीच भी उसने काश्तकारो पर टैक्स लगाने की एक नई और अच्छी मालगुज़ारी प्रणाली जारी करने का समय निकाल लिया। वह रूखा और कठोर व्यक्ति था, लेकिन भारत के सारे अफ़ग़ान शासको मे, और बहुत-से दूसरे शासको मे भी, वह बेशक सबसे ज्यादा काबिल और अच्छा था। लेकिन जैसा कि अक्सर कुशल निरकुश शासको का हाल हुआ करता है, वह खुद ही अपने सारे शासन का कर्त्ता-धर्त्ता था, इसलिए उसकी मृत्यु के बाद सारा ढाँचा टुकडे-टुकडे हो गया।

हुमायूँ ने इस गडबडी से फायदा उठाया और १५५६ ई० मे वह एक सेना लेकर ईरान से लौटा। उसकी जीत हुई और सोलह वर्ष बाद वह फिर दिल्ली के सिंहासन पर आ बैठा। लेकिन वह ज्यादा दिन के लिए नही। छै महीने बाद ही वह जीने पर से गिरकर मर गया।

शेरशाह और हुमायूँ के मकबरो का मुकाबला करने से एक दिलचस्प बात मालूम होती है। अफ़गान शेरशाह का मकबरा बिहार में सहसराम मे है और यह इमारत उसीकी तरह रूखी, मज़बूत और शाही बनावट की है। हुमायूँ का मक़बरा दिल्ली मे है। एक निखारदार और सुडौल इमारत है। पत्थर की इन इमारतो से, साम्राज्य के लिए सोलहवी सदी के इन दो विरोधियो के बारे मे अच्छा अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

अकबर उस समय सिर्फ तेरह साल का था। अपने दादा की तरह इसे भी राजगद्दी बहुत जल्दी मिल गई। बैरमखाँ, जिसे खानबाबा भी कहते हैं, इसकी निगरानी और रक्षा करनेवाला था। लेकिन चार ही वर्षों में अकबर इस निगरानी से और दूसरे लोगो के इशारे पर चलने से तग आ गया। उसने शासन की बागडोर अपने हाथो मे ले ली।

१५५६ ई० के शुरू से १६०५ ई० के अन्त तक, यानी क़रीब पचास वर्ष तक, अकबर ने भारत पर राज किया। वह ज़माना यूरोप मे नीदरलैण्ड के विद्रोह का और इग्लैण्ड में शेक्सपियर का था। अकबर का नाम भारत के इतिहास मे जगमगा रहा है और कभी-कभी कुछ बातो मे वह हमे अशोक की याद दिलाता है। यह एक अजीब बात है कि ईसा से तीन सौ वर्ष पहले का एक बौद्ध सम्राट् और ईसा के बाद सोलहवी सदी का एक मुसलमान सम्राट्, दोनो एक ही ढग से और करीब-करीब एक ही आवाज़ में बोल रहे हैं। ताज्जुब नही कि यह खुद भारत की ही आवाज़ हो, जो उसके दो महान् पुत्रो के ज़रिये बोल रही हो। अशोक के

बारे मे हम सिर्फ उतना ही जानते हैं जितना उसने खुद पत्थरो पर तराशा हुआ छोड़ा है। लेकिन अकबर के बारे मे हम बहुत-कुछ जानते हैं। उसके दरबार के दो समकालीन इतिहासकारो के लम्बे विवरण मिलते हैं। और जो विदेशी उससे मिलने आये थे—खासकर जेजुइट लोग, जिन्होने उसे ईसाई बनाने की ज़ोरदार कोशिश की थी—उन्होने भी लम्बे-चौडे बयान लिखे हैं।

यह बाबर की तीसरी पीढी मे था। लेकिन मुगल लोग अभी इस देश के लिए नये थे। वे विदेशी समझे जाते थे और उनका कब्ज़ा फौजी ताकत के बल पर था। अकबर के राज ने मुग़ल राजवश की जड जमा दी और उसको यही की धरती का और पूरी तरह भारतीय नजरियेवाला बना दिया। इसीके राज मे यूरोप मे 'महान् मुग़ल' का खिताब काम मे लाया जाने लगा। वह बहुत निरकुश था और उसके हाथो मे बे-लगाम सत्ता थी। मालूम होता है कि उस वक्त भारत मे राजा के अधिकारो पर रोक-थाम लगाने की कोई हलकी-सी चर्चा तक नही थी। सयोग से अकबर एक बुद्धिमान् स्वेच्छाचारी था और वह भारत के लोगो की भलाई के लिए जी-तोड कोशिश करता रहता था। एक तरह से वह भारतीय राष्ट्रीयता का जन्मदाता माना जा सकता है। ऐसे समय मे, जबकि देश मे राष्ट्रीयता का कुछ भी निशान न था, और मज़हब लोगो को एक-दूसरे से अलग कर रहा था, अकबर ने समझ-बूझकर, समान भारतीय राष्ट्रीयता के आदर्श को, फूट डालनेवाले मज़हबी दावो के ऊपर, रख दिया। वह अपनी कोशिश मे पूरी तरह तो सफल नहीं हुआ, लेकिन यह अचम्भे की बात है कि वह कितना आगे बढ गया और उसकी कोशिशो को कितनी ज्यादा सफलता मिली।

लेकिन फिर भी अकबर को जो कुछ सफलता मिली, वह अकेले उसीकी, दूसरो की मदद के बिना, नही थी। जबतक कि ठीक समय न आ गया हो और आस-पास की हालतें मदद न करें तबतक कोई भी मनुष्य महान् कामो मे सफल नहीं हो सकता। महापुरुष खुद अपना चौगिर्द तैयार करके ज़माने को जल्दी बदल सकता है। लेकिन महापुरुष खुद भी तो ज़माने का और ज़माने के चौगिर्द का ही फल होता है। इसी तरह अकबर भी भारत के उस ज़माने का फल था।

पिछले एक पत्र मे मैंने तुमको बतलाया था कि जिन दो सस्कृतियो और मज़हबो का इस देश मे साथ आ पड़ा था, उन दोनो के समन्वय के लिए भारत मे कैसी खामोश ताकतें काम कर रही थी। मैंने तुमको भवन-निर्माण की नई शैली और भारतीय भाषाओ, खासकर उर्दू या हिन्दुस्तानी, के विकास के बारे मे लिखा था। और मैं तुमको रामानन्द, कबीर और गुरु नानक जैसे सुधारक और धर्म-गुरुओ के बारे मे भी लिख चुका हूँ, जिन्होने इस्लाम और हिन्दू-धर्म के एक-से पहलुओ पर ज़ोर देकर और उनके बहुत-से रीति-रस्म और आडम्बरो की निन्दा करके

दोनों को एक-दूसरे के नजदीक लाने की कोशिश की थी। उस समय समन्वय की यह भावना चारों ओर फैली हुई थी। और अकबर के ऐसे दिमाग ने, जो हर बात को बारीकी से महसूस करता था और ग्रहण करता था, जब इस भावना को हजम किया तो उसमे बहुत बडा जवाबी असर हुआ होगा। वास्तव में वह इस भावना का सबसे बड़ा व्याख्या करनेवाला बन गया।

एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से भी वह इसी नतीजे पर पहुँचा होगा कि उसका बल और राष्ट्र का बल इसी समन्वय से बढ सकते हैं। वह एक बहुत बहादुर, लडाका और कुशल सेनानायक भी था। अशोक की तरह वह लडाइयों से नफरत नही करता था। लेकिन तलवार की विजय से वह स्नेह की विजय को ज्यादा अच्छी समझता था और यह भी जानता था कि ऐसी विजय ज्यादा टिकाऊ होती है। इसलिए वह पक्के इरादे के साथ हिन्दू सरदारों और हिन्दू जनता का स्नेह हासिल करने मे जुट गया। उसने गैर-मुस्लिमों से वसूल किया जानेवाला जजिया और हिन्दू तीर्थ-यात्रियों पर लगाया जानेवाला टैक्स बन्द कर दिया। उसने खुद अपना विवाह एक ऊँचे राजपूत घराने की लडकी से किया। बाद मे उसने अपने पुत्र का विवाह भी एक राजपूत लडकी से किया। और उसने ऐसी मिली-जुली शादियों को बढावा दिया। उसने अपने साम्राज्य के ऊँचे-से-ऊँचे ओहदों पर राजपूत सरदारों को मुकर्रर किया। उसके सबसे बहादुर सिपहसालारों और सबसे योग्य वजीरों और सूबेदारों मे कितने ही हिन्दू थे। राजा मानसिंह को तो उसने कुछ दिनों के लिए काबुल का सूबेदार बनाकर भेजा था। देखा जाय तो राजपूतों को और अपनी हिन्दू-प्रजा को मनाने के लिए कभी-कभी तो वह इतना आगे बढ़ जाता था कि मुसलमान-प्रजा के साथ अक्सर अन्याय हो जाता था। बहरहाल वह हिन्दुओं की सद्भावना हासिल करने मे सफल हुआ और उसकी नौकरी करने और उसे सम्मान देने के लिए चारों ओर से लगभग सभी राजपूत इकट्ठे होने लगे, सिवाय मेवाड के राणा प्रताप के, जिसने कभी सिर नही झुकाया। राणा प्रताप ने अकबर को नाम के लिए भी अपना सम्राट् मानने से इन्कार कर दिया। लडाई के मैदान मे हार जाने पर भी उसने अकबर का तावेदार बनकर मौज-मज़े का विलासी जीवन बिताने की बनिस्बत जगल मे छिपते फिरना ज्यादा पसन्द किया। जिन्दगी भर यह अभिमानी राजपूत दिल्ली के महान् सम्राट् से लडता रहा, और इसने उसके सामने सिर झुकाना मजूर नही किया। अपने जीवन के आखिरी दिनों मे उसे कुछ सफलता भी मिली। इस रण-बाँकुरे राजपूत की यादगार राजपूताना की एक बेशकीमती थाती है, और इसके नाम के साथ कितनी ही गाथाएँ जुड़ गई हैं।

इस तरह अकबर ने राजपूतों को अपनी तरफ कर लिया और वह जनता

का प्यारा बन गया। वह पारसियो और उसके दरबार मे आनेवाले जेजुइट पादरियो तक से अच्छा बर्ताव करता था। लेकिन उसकी इस उदारता और इस्लामी शरीयत के खिलाफ कुछ कार्रवाइयो से मुसलमान अमीर-सरदार उससे नाराज हो गये और उसके खिलाफ़ कई विद्रोह भी हुए।

मैंने अकबर की तुलना अशोक से की है। लेकिन इस तुलना से तुम कही भुलावे मे न पड जाना। बहुत-सी बातो मे वह अशोक से बिलकुल अलग तरह का था। वह बडी ऊँची उमगोवाला था, और अपने जीवन के अन्त समय तक वह अपना साम्राज्य बढ़ाने की धुन मे चढाइयाँ करता रहा। जेजुइट लोगो ने लिखा है—

"वह चौकस और पारखी दिमाग़वाला था, वह समझ-बूझ का पक्का, मामलो में दूरदर्शी और इन सबके अलावा दयालु, मिलनसार और उदार था। इन गुणो के साथ उसमे बडे-बडे जोखिम के कामो को उठाने और पूरा करने की हिम्मत भी थी । वह बहुत-सी बातो मे दिलचस्पी रखता था, और उनके बारे मे जानने का इच्छुक रहता था, उसे न सिर्फ सैनिक और राजनीतिक बातो का ही बल्कि बहुत-से कला-कौशल का भी गहरा ज्ञान था । जो लोग उसकी ज़ात पर हमला करते थे उनपर भी इस राजा की रहमदिली और नम्रता की रोशनी पडती रहती थी। उसे गुस्सा बहुत ही कम आता था। अगर कभी आता था तो उसका आवेश भयकर हो जाता था; लेकिन उसका यह गुस्सा ज्यादा देर टिकता न था।"

याद रहे कि यह बयान किसी चापलूस मुसाहिब का नही है, लेकिन दूसरे देश के रहनेवाले अजनबी का है, जिसे अकबर को ग़ौर से देखने के काफी मौके मिलते थे।

शरीर मे अकबर असाधारण बलवान और चुस्त था, और वह जगली और खूँखार जानवरो के शिकार से ज्यादा और किसी चीज से प्रेम नही करता था। एक सिपाही की हैसियत से तो वह इतना बहादुर था कि उसे अपनी जान तक की बिलकुल परवाह न थी। उसकी अद्भुत शक्ति का अन्दाजा आगरे से अहमदाबाद की उस मशहूर कूच से लगाया जा सकता है, जो उसने नौ दिन मे पूरी की थी। गुजरात मे विद्रोह हो गया था और अकबर एक छोटी-सी सेना के साथ राजपूताना के रेगिस्तान को लाँघकर साढे चार सौ मील की दूरी तय करके वहाँ जा धमका। यह एक असाधारण करतब था। यह बतलाने की जरूरत नही है कि उस जमाने मे न तो रेलें थी और न मोटरें।

लेकिन इन गुणो के अलावा महान् पुरुषो मे कुछ और भी होता है, उनमे कुछ चुम्बक जैसा आकर्षण होता है, जो लोगो को अपनी तरफ खीचता है। अकबर

मे यह जिस्मानी आकर्पण-शक्ति और मोहनी बहुत ज्यादा मिकदार मे थी, जेजुइट लोगो के अद्‌भुत विवरण के मुताबिक उसकी बस मे करनेवाली आँखें "इस तरह झिलमिलाती थी जिस तरह सूर्य की रोशनी मे समुद्र।" फिर इसमे ताज्जुब की क्या बात है, अगर यह व्यक्ति हमको आज भी मोहता हो और उसका शाही व मर्दाना स्वरूप उन ढेरो लोगो से बहुत ऊँचा दिखलाई पडता हो, जो सिर्फ बादशाह हुए हैं?

विजेता की हैसियत मे अकबर ने सारे उत्तर भारत और दक्षिण को भी जीत लिया था। उसने गुजरात, बगाल, उडीसा, कश्मीर, और सिन्ध अपने साम्राज्य मे मिला लिये। मध्य भारत और दक्षिण भारत मे भी उसकी जीत हुई और उसने खिराज वसूल किया। लेकिन मध्य-प्रान्त की रानी दुर्गावती को हराना उसकी शान को नही बढ़ाता। दुर्गावती एक बहादुर और अच्छी शासक थी और उसने अकबर को कुछ नुकसान नही पहुँचाया था। लेकिन ऊँचा चढने की हविस और साम्राज्य की लालसा इन छोटी-मोटी अडचनो की बिल्कुल परावह नही करती। दक्षिण में भी उसकी सेनाएँ अहमदनगर मे राजा की जगह शासन करनेवाली मशहूर चाँदबीबी से लडी। इस महिला मे बहादुरी और काबलियत थी और उसने लडाई मे जो लोहा लिया उसका असर मुगल फौज पर इतना पडा कि उन्होंने उसीके माफिक शर्तों पर सुलह मजूर कर ली। बदकिस्मती से कुछ दिन बाद उसके ही कुछ नाराज सिपाहियो ने उसे मार डाला।

अकबर की फौजो ने चित्तौड पर भी घेरा डाला। यह राणा प्रताप से पहले की बात है, जयमल ने बड़ी वीरता से चित्तौड की रक्षा की। उसके मारे जाने पर भयकर 'जौहर' व्रत फिर हुआ और चित्तौड जीत लिया गया।

अकबर ने अपने चारो तरफ बहुत-से काबिल नायब जमा कर लिये, जो उसके बडे वफादार थे। इनमे मुख्य फैज़ी और अबुलफज़ल दो भाई थे, और एक था बीरबल, जिसके बारे मे अनगिनती कहानियाँ आज तक प्रचलित हैं। अकबर का वित्तमन्त्री था टोडरमल। इसीने लगान की सारी प्रणाली को बदला था। तुम्हे यह जानकर अचम्भा होगा कि उन दिनो जमीदारी-प्रथा न थी और न जमीदार थे, न ताल्लुकेदार। राज्य खुद किसानो या रैयत से लगान वसूल करता था। यही आजकल रैयतवारी प्रणाली कहलाती है। आजकल के जमींदार अग्रेजो के बनाये हुए हैं।

जयपुर का राजा मानसिंह अकबर के सबसे अच्छे सेनापतियो मे से था। अकबर के दरबार मे एक और मशहूर आदमी था—महान् गायक तानसेन, जिसे आज भारत के सारे गवैये अपना गुरु मानते हैं।

शुरू मे अकबर की राजधानी आगरा थी, जहाँ उसने किला बनवाया। इसके बाद उसने आगरे से पन्द्रह मील दूर फतहपुर सीकरी मे एक नया शहर बसाया।

उसने यह जगह इसलिए पसन्द की कि यहाँ शेख सलीम चिश्ती नाम के एक मुस्लिम सन्त रहते थे। यहाँ उसने एक आलीशान शहर बनवाया, जो उस वक्त के एक अंग्रेज़-यात्री के शब्दो मे "लन्दन से भी ज्यादा बडा" था और यही पन्द्रह वर्ष से ज्यादा उसके साम्राज्य की राजधानी रहा। बाद मे उसने लाहौर को अपनी राजधानी बनाया। अकबर का दोस्त और वज़ीर अबुलफज़ल लिखता है—"बादशाह सलामत आलीशान इमारतो के खाके सोचते हैं और अपने दिल और दिमाग की सूझ को पत्थर और मिट्टी का जामा पहना देते है।"

फतहपुर सीकरी और उसकी खूबसूरत मस्जिद, उसका जबर्दस्त बुलन्द दरवाज़ा और बहुत-सी दूसरी सुन्दर इमारतें आज भी मौजूद हैं। यह शहर उजड गया है और उसमे किसी तरह की हलचल अब नही है, लेकिन उसकी गलियो मे और उसके चौडे सहनो मे एक मिटे हुए साम्राज्य की छायाएँ आज भी चलती-फिरती मालूम होती हैं।

हमारा मौजूदा इलाहाबाद शहर भी अकबर का बसाया हुआ है, लेकिन जगह यह ज़रूर बहुत प्राचीन है, और प्रयाग तो यहाँ रामायण के युग से चला आ रहा है। इलाहाबाद का किला अकबर का बनवाया हुआ है।

अकबर का जीवन एक विशाल साम्राज्य को जीतने और मजबूत बनाने मे लगा रहा होगा। लेकिन इसके अन्दर अकबर का एक और विचित्र गुण नज़र आता है। यह थी उसकी बेहद जिज्ञासा और सचाई की खोज। जो कोई किसी भी विषय पर रोशनी डाल सकता था, उसे बुलाया जाता था और उससे सवाल किये जाते थे। अलग-अलग मज़हबो के लोग इबादतखाने मे उसके चारो तरफ बैठते थे और हरेक इस महान् बादशाह को अपने मज़हब मे शामिल करने की उम्मीद रखता था। वे अक्सर एक दूसरे से झगड पडते थे और अकबर बैठा-बैठा उनकी बहसें सुनता रहता और उनसे बहुत-से सवाल पूछता रहता था। मालूम होता है, उसे यह विश्वास हो गया था कि सत्य का ठेका किसी खास मज़हब या फिरके ने नही ले रक्खा है और उसने यह ऐलान कर दिया था कि वह ससार के सारे मज़हबो मे आपसी उदारता के सिद्धान्त को मानता है।

उसके शासनकाल के एक इतिहास-लेखक बदायूंनी[1] ने, जो ऐसे बहुत-से मजमो मे शामिल होता रहा होगा, अकबर के बारे मे मज़ेदार बयान लिखा है, जो मैं यहाँ देना चाहूँगा। बदायूंनी खुद एक कट्टर मुसलमान था और वह अकबर की इन कार्रवाइयो को बिलकुल नापसन्द करता था। वह लिखता है—

---

[1] बदायूंनी का पूरा नाम मिर्जा अब्दुल क़ादिर बदायूंनी (बदायूं का रहनेवाला) था। इसने मुग़ल साम्राज्य का इतिहास लिखा है, जिसके हरेक पन्ने पर इसके कट्टरपन की छाप है। यह हिन्दुओं से बहुत चिढ़ता था।

"जहाँपनाह हरेक की रायें इकट्ठी करते थे, खासकर ऐसे लोगो की जो मुसलमान नही थे, और उनमे से जो कोई वात उनको पसन्द आती, उसे रख लेते और जो उनके मिजाज के खिलाफ होती और उनकी मर्जी के खिलाफ जाती उन सबको फेंक देते थे। शुरू वचपन से जवानी तक और जवानी से वुढ़ापे तक, जहाँपनाह विलकुल अलग-अलग तरह की हालतो मे से और सब तरह के मजहवो, दस्तूरो और फिरकेवाराना अकीदो मे से गुजरे हैं, और जो कुछ कितावो मे मिल सकता है उस सबको उन्होंने, छाँटने के अपने खास गुण से, इकट्ठा किया है, और तहकीकात की उस रूह से इकट्ठा किया है, जो हर इस्लामी उसूल के खिलाफ है। हर तरह उनके दिल के आईने पर किन्हीं मूल उसूलो की वुनियाद पर एक नकशा खिंच गया है और उनपर जो-जो असर पडे हैं, उन सवके नतीजे से उनके दिल मे पत्थर की लकीर की तरह धीरे-धीरे यह यकीन जमता गया है कि सव मजहवो मे समझदार आदमी हैं और सव कौमो मे परहेजगार, सोचनेवाले और चमत्कारी ताकतोवाले आदमी हैं। अगर कोई सच्चा इल्म इस तरह हर जगह मिल सकता हो तो सचाई किसी एक ही मजहव मे कैसे वन्द हो सकती है? "

तुम्हे याद होगा कि इस जमाने मे यूरोप मे मजहवी मामलो मे वडा जवर्दस्त वैर-भाव फैला हुआ था। स्पेन, नीदरलैण्ड और दूसरे देशो मे इनक्विजिशन का दौर-दौरा था और कैथलिक और कैल्विनिस्ट दोनो एक-दूसरे को वर्दाश्त करना घोर पाप समझते थे।

अकवर ने वर्षों तक सव मतो के आचार्यों से अपनी मजहवी चर्चाएँ और वहसें जारी रक्खी, यहाँतक कि अन्त मे वे सव उकता गये और उन्होंने अकवर को अपने-अपने खास मजहव मे मिला सकने की आशा छोड दी। जब हरेक मजहव मे सचाई का कुछ-न-कुछ अंश था तो वह उनमे से किसी एक को कैसे चुन सकता था? जेजुइट लोगो के लिखे मुताविक वह कहा करता था—"चूंकि हिन्दू लोग अपने सिद्धान्तो को ठीक मानते हैं और इसी तरह मुसलमान और ईसाई भी मानते हैं, तो फिर हम इनमे से किसको अपनावें?" अकवर का सवाल वडा वाजिव था, लेकिन जेजुइट लोग इससे चिढते थे और उन्होंने अपनी पुस्तक मे लिखा है—"इस वादशाह मे हम उस नास्तिक की-सी आम ग़लती देखते हैं जो दलील को ईमान का दास बनाने से इन्कार करता है और जिस बात की गहराई को उसका कमजोर दिमाग़ न पा सके, उसे सच न मानता हुआ वह उन मामलो को अपने अधूरे फ़ैसले पर छोडकर सन्तुष्ट हो जाता है, जो मानव-ज्ञान की सर्वोच्च सीमा से भी परे हैं।" अगर नास्तिक की यही परिभाषा है तो जितने ज्यादा नास्तिक हो उतना ही अच्छा!

अकबर का लक्ष्य क्या था, यह साफ नही मालूम पडता। क्या वह इस सवाल को खाली राजनीतिक निगाह से देखता था? सबके लिए एक-सी राष्ट्रीयता ढूंढ

निकालने के इरादे से कही वह अलग-अलग मजहवो को जवर्दस्ती एक ही रास्ते मे तो नहीं डालना चाहता था ? या क्या उसकी नीयतो और उसकी तलाशो की जड मे मजहव था, मैं नही जानता। लेकिन मेरा खयाल इधर झुकता है कि वह मजहवी सुधारक की बनिस्वत राजनीतिज्ञ ही ज्यादा था। उसका उद्देश्य चाहे जो रहा हो, उसने सचमुच एक नये मजहव 'दीन इलाही' का ऐलान कर दिया, जिसका इमाम वह खुद था। दूसरी वातो की तरह धार्मिक मामलो मे भी उसके दवदवे को कोई चुनौती नही दे सकता था और दण्डवत्, कदम-वोसी, वग़ैरा, नफरत पैदा करनेवाली ढेरो चीजें होती थी। यह नया मजहव चला नही। हुआ यह कि इसने मुसलमानो को चिढा दिया।

अकवर सत्तावाद का तो पूरा निचोड था। फिर भी यह सोचना दिलचस्प है कि राजनीतिक उदार विचारों का उस पर क्या जवावी असर हुआ होता। अगर मजहवी विश्वास की स्वतन्त्रता मानी जाती थी तो जनता को ज्यादा राज-नीतिक आजादी क्यो नहीं ? विज्ञान की तरफ वह जरूर खूव खिंचा होता। वदक़िस्मती से ये विचार, जिन्होने उस समय यूरोप के कुछ लोगो को परेशान करना शुरू कर दिया था, उस समय के भारत में चालू नही हुए थे। छापेखानो का भी कोई उपयोग नजर नही आता। इसलिए शिक्षा का दायरा वहुत छोटा था। यह जानकर तुमको सचमुच ताज्जुव होगा कि अकवर अनपढ था, यानी वह पढ-लिख नही सकता था। लेकिन फिर भी वह उच्च शिक्षित था और किताबें पढवाकर सुनने का वडा भारी शौकीन था। उसकी आज्ञा से वहुत-सी सस्कृत पुस्तको का फारसी मे अनुवाद किया गया था।

यह भी मार्के की वात है कि उसने हिन्दू विधवाओ के सती होने की प्रथा को वन्द करने का हुक्म निकाला था और युद्ध-वन्दियो को गुलाम वनाये जाने की भी मनाही कर दी थी।

चौंसठ साल की उम्र मे, करीव पचास वर्ष राज करने के वाद, अक्तूबर, १६०५ ई० मे अकवर की मृत्यु हुई। उसकी लाश आगरा के पास सिकन्दरे मे एक खूवसूरत मकवरे मे दफन की हुई है।

अकवर के शासनकाल मे उत्तर भारत मे और ज्यादातर काशी मे एक व्यक्ति हुआ, जिसका नाम सयुक्तप्रान्त[1] के हरेक देहाती की जवान पर है। वहाँ वह इतना मशहूर है और इतना लोकप्रिय है, जितना अकवर या दूसरा कोई वादशाह नही हो सकता। मेरा मतलब तुलसीदास से है, जिन्होंने हिन्दी मे रामचरित-मानस या रामायण लिखी है।

---

[1] आज का उत्तर प्रदेश।

। ९० ।

# भारत में मुग़ल-साम्राज्य का पतन और अन्त

९ सितम्बर, १९३२

मेरी इच्छा होती है कि अकबर के बारे मे तुम्हें कुछ और बतलाऊँ लेकिन इस इच्छा को दबाना पडेगा। मगर पुर्तगाली पादरियो के लेखो मे से कुछ और बातें यहाँ देने के लोभ को मैं नहीं रोक सकता। उनकी राय दरबारी मुसाहिबो की राय से बहुत ज्यादा महत्व रखती है और यह बात भी ध्यान मे रखने की है कि जब अकबर ईसाई न बना तो उसकी तरफ से उनको बहुत निराशा भी हुई थी। फिर भी वे लिखते हैं, "वह वास्तव मे एक महान् बादशाह था; क्योकि वह जानता था कि अच्छा शासक वही हो सकता है, जो अपनी प्रजा मे एक-साथ फरमाबरदारी, इज्जत, प्रेम और भय पैदा कर सके। यह बादशाह सबका प्यारा था, बडे आदमियो पर सख्त, छोटे आदमियो पर मेहरबान, और सब लोगो के साथ न्याय करनेवाला, चाहे वे ऊँच हो या नीच, पडोसी हो या अजनबी, ईसाई हो या मुसलमान या हिन्दू, इसलिए हरेक आदमी यही समझता था कि बादशाह उसीके पक्ष मे हैं।" जेजुइट लोग आगे कहते हैं—"अभी वह राजकीय मामलो मे मशगूल है या अपनी प्रजा के लोगो को मुजरे दे रहा है, तो दूसरे ही क्षण वह ऊँटो के बाल कतरता हुआ या पत्थर फोडता हुआ या लकडी काटता हुआ या लोहा कूटता हुआ नजर आता था; और इन सब कामो को वह इतनी होशियारी से करता था मानो खुद अपने ही खास पेशे को कर रहा हो।" हालाँकि वह एक शक्तिशाली और निरकुश राजा था, लेकिन वह हाथ से काम करने को अपनी शान के खिलाफ नही समझता था, जैसा कि आजकल के कुछ लोग खयाल करते हैं।

आगे चलकर यह बतलाया गया है कि "वह बहुत थोडा खाना खाता था और साल मे सिर्फ तीन या चार महीने ही माँस खाता था । सोने के लिए वह बडी मुश्किल से रात के तीन घण्टे निकालता था । उसकी याददाश्त ग़ज़ब की थी। उसके हजारो साथी थे, लेकिन वह सबके नाम जानता था, अपने घोडो के, हिरनो के और कबूतरो तक के नाम भी उसे याद थे।" इस अद्भुत स्मरण-शक्ति के बारे मे यकीन करना मुश्किल है, और शायद यह बयान कुछ बढा-चढाकर भी लिखा गया हो। लेकिन इसमे कोई शक नही कि उसका दिमाग़ अद्भुत था। "हालाँकि वह पढ-लिख नही सकता था लेकिन अपनी बादशाहत मे होनेवाली तमाम बातें उसे मालूम रहती थी।" और "उसकी ज्ञान हासिल करने की लगन" ऐसी थी कि वह "सब बाते एक साथ सीखने की कोशिश करता था जैसे कोई भूखा आदमी सारे भोजन को एक ही कौर मे निगल जाना चाहता हो।"

ऐसा था यह अकबर। लेकिन वह पूरा निरकुश था। और, हालाँकि उसने प्रजा को बहुत हद तक सुरक्षित कर दिया था और किसानो पर से टैक्सो का बोझ भी हलका कर दिया था, लेकिन उसका दिमाग शिक्षा और सिखाई के जरिये जनता का स्तर ऊँचा उठाने की तरफ नहीं गया। वह युग हर जगह निरकुशशाही का था, मगर दूसरे निरकुश राजाओ के मुकाबले मे बादशाह और इन्सान की हैसियत मे अकबर सबसे ज्यादा तेजी से चमकता है।

हालाँकि अकबर बाबर की तीसरी पीढी मे था, लेकिन भारत मे मुग़ल राजवश की नीव डालनेवाला असल मे यही था। चीन मे कुबलइखाँ के युआन राजवश की तरह, अकबर के बाद मुग़ल बादशाहो का राजवश भारतीय बन गया। अकबर ने अपने साम्राज्य को मजबूत बनाने के लिए जो महान् काम किया था, उसका नतीजा यह हुआ कि उसका राजवश उसकी मृत्यु के बाद सौ वर्ष से ज्यादा राज करता रहा।

अकबर के बाद तीन और काबिल बादशाह हुए, लेकिन उनमे कोई असाधारण बात नही थी। जब कोई बादशाह मरता तो उसके पुत्रो मे राजगद्दी के लिए बडी गन्दी छीना-झपटी होती। महलो की साजिशें और उत्तराधिकार की लडाइयाँ होती थी। पुत्रो का पिताओ से विद्रोह, भाइयो का भाइयो से विद्रोह, हत्याएँ और रिश्तेदारो की आँखें फोडी जाना—मतलब यह कि निरकुशता और स्वेच्छाचारी शासन के साथ चलनेवाली तमाम घिनौनी बातें होती थी। शान-शौकत और तडक-भडक तो ऐसी थी कि उनकी बराबरी कही न थी। तुम्हे याद होगा कि यह वह जमाना था जब फ्रान्स मे चौदहवाँ लुई, जो 'सूर्य-जैसा राजा' कहलाता था, राज करता था और जिसने वर्साई बनवाया था और जिसका दरबार शान-शौकत-वाला था। लेकिन महान् मुगलिया शान-शौकत के सामने लुई की शान-शौक़त फीकी पड जाती थी। शायद ये मुगल बादशाह उस जमाने के बादशाहो मे सबसे ज्यादा मालदार थे। लेकिन फिर भी कभी-कभी अकाल, महामारी और बीमारियाँ फैल जाती थी और बेशुमार आदमियो का सफाया कर देती थी। जबकि दूसरी तरफ़ बादशाही दरबार विलास मे डूबा रहता था।

अकबर के समय की मजहबी उदारता उसके पुत्र जहागीर के राज मे भी जारी रही, लेकिन फिर यह धीरे-धीरे मिटती गई और ईसाइयो और हिन्दुओ पर कुछ अत्याचार होने लगे। बाद मे, औरगजेब के राज मे, मन्दिरो को तोडकर, और बदनाम जजिया टैक्स दुबारा जारी करके, हिन्दुओ को जान-बूझकर सताने की कोशिश की गई। साम्राज्य की नीव की जो ईंटें अकबर ने इतनी मेहनत से जमाई थी, वह इस तरह एक-एक करके खोद डाली गईं और साम्राज्य एकदम लडखडा कर गिर पडा।

अकबर के बाद जहागीर गद्दी पर बैठा जो उसकी राजपूत रानी का पुत्र था। उसने कुछ हद तक अपने पिता की परम्परा को जारी रक्खा, लेकिन शायद उसे सरकारी कामो की बनिस्वत कला व चित्रकारी और बागो व फूलो मे ज्यादा दिलचस्पी थी। उसके यहाँ बढिया चित्रशाला थी। वह हर साल कश्मीर जाता था और मेरे खयाल से श्रीनगर के पास शालिमार और निशात नामो के मशहूर बाग़ इसीने बनवाये थे। जहागीर की बेगम—या यो कहो कि उसकी बहुत-सी बेगमो मे एक—सुन्दरी नूरजहा थी, जिसके हाथो मे सिंहासन के पीछे राज की असली बागडोर थी। ऐतमादुद्दौला की कब्र पर खूबसूरत इमारत जहागीर के ही राज मे बनी थी। जब कभी मैं आगरे जाता हूँ तो वास्तुकला के इस रत्न को देखने की कोशिश करता हूँ ताकि उसकी सुन्दरता से अपनी आँखो की प्यास बुझा सकूँ।

जहागीर के बाद उसका पुत्र शाहजहा गद्दी पर बैठा और उसने तीस वर्ष, यानी १६२८ से १६५८ ई० तक शासन किया। यह फ्रान्स के चौदहवे लुई का समकालीन था और इसके राज मे जहाँ मुगलो की तडक-भडक सबसे ऊँची चोटी पर पहुँच गई, वहाँ उसकी गिरावट के बीज भी साफ नजर आने लगे थे। बादशाह के बैठने के लिए अनमोल रत्नो से जडा हुआ मशहूर तख्ते-ताऊस बनाया गया। और फिर आगरे मे जमना के किनारे वह सुन्दरता का सपना ताजमहल बना। शायद तुम जानती हो कि यह उसकी प्यारी बेगम मुमताजमहल का मकबरा है। शाहजहा ने बहुत-से ऐसे काम किये, जिनसे उसके नाम और उसकी इज्जत पर बट्टा लगता है। वह मजहब के मामले मे उदार नहीं था और जब दक्षिण मे और गुजरात मे भयकर अकाल पडा तो उसने अकाल-पीडितो की राहत के लिए कुछ भी नही किया। उसकी प्रजा की इस कम्बख्ती और गरीबी के मुकाबले मे उसकी दौलत और शान घिनौनी दिखाई पडती हैं। फिर भी पत्थर और सगमरमर मे उसने दिलकश सौदर्य के जो चमत्कार छोडे है, उनके लिए शायद उसकी बहुत-सी बातें माफ की जा सकती हैं। इसीके समय मे मुगल वास्तुकला अपनी चोटी पर पहुँची थी। ताज के अलावा इसने आगरे की मोती मस्जिद, दिल्ली की विशाल जामा मस्जिद, और दिल्ली के महलो मे दीवाने-आम और दीवाने-खास बनवाये। इन इमारतो मे ऊँचे दरजे की सादगी है, इनमे से कुछ तो बडी विशाल लेकिन सुघड और सुडौल हैं, और उनकी सुन्दरता परियो जैसी है।

लेकिन इस परियो-जैसी सुन्दरता के पीछे गरीबी की मारी हुई वह प्रजा थी, जो इन महलो की कीमत चुकाती थी और जिसके ज्यादातर लोगो के पास रहने को मिट्टी के झोपडे भी न थे। बे-लगाम जुल्मी शासन का बोलबाला था और सम्राट् या उसके बडे नायब और सूबेदार अगर किसीसे नाखुश हो जाते तो उसे भयानक सजाएँ दी जाती थी। दरबार की साजिशो मे मैकियावेली के उसूलो का

दौर-दौरा था। अकबर की रहमदिली, उदारता और अच्छी शासन-व्यवस्था बीती बातें हो गई थी। हालतें गडबडी की तरफ जा रही थी।

इसके बाद आखिरी महान् मुगल औरगज़ेब आया। उसने अपने शासन की शुरुआत अपने पिता को कैद मे डालकर की। उसने १६५९ से १७०७ ई० तक अडतालीस वर्ष राज किया। अपने दादा जहागीर की तरह वह न तो कला और साहित्य से प्रेम करता था और न अपने पिता शाहजहां की तरह वास्तुकला से। वह कडी सादगी से रहनेवाला भगत था और कट्टर मज़हबी था और अपने मज़हब के सिवा दूसरे किसी मज़हब को बर्दाश्त नही करता था। दरबार की तडक-भडक तो कायम रही पर अपने व्यक्तिगत निजी जीवन मे औरगज़ेब सादा-मिज़ाज और सन्यासी जैसा था। उसने इरादा करके हिन्दुओ को सताने की नीति चलाई। इरादा करके ही उसने अकबर की सबको राज़ी रखने की और समन्वय की नीति उलट दी, और जिस नीव पर अभी तक साम्राज्य टिका हुआ था, उसे इस तरह उखाड डाला। उसने हिंदुओ पर जज़िया टैक्स फिर लगा दिया, जहांतक हो सका हिन्दुओ मे सब ओहदे छीन लिये, जिन राजपूत सरदारो ने अकबर के समय से इस राजवश की सहायता की थी, उन्हींको नाराज़ करके राजपूतो से लडाई मोल ले ली। उसने हज़ारो हिन्दू मन्दिरो को तुडवा डाला और इस तरह बहुत-सी सुन्दर पुरानी इमारतें धूल मे मिला दी। जहां एक तरफ दक्षिण मे उसका साम्राज्य बढ़ रहा था, बीजापुर और गोलकुण्डा उसके कब्ज़े मे आ गये थे और दूर दक्षिण से उसे ख़िराज मिलने लगा था, वहां दूसरी तरफ इस साम्राज्य की नीव ढीली होकर दिन-पर-दिन कमज़ोर होती जा रही थी और चारो तरफ दुश्मन पैदा हो रहे थे। जज़िया के विरोध मे हिन्दुओ की तरफ से जो अर्ज़ी उसे पेश की गई थी, उसमे लिखा था कि यह टैक्स "इन्साफ का विरोधी है, उसी तरह यह अच्छी नीति के दायरे मे भी नही आता, क्योंकि यह देश को गरीब कर देगा, इसके अलावा यह एक बिलकुल नई चीज़ है और हिन्दुस्तान के कानूनो को भग करनेवाला है।" साम्राज्य की जो हालत हो रही थी, उसके बारे मे उसमे लिखा था—"जहापनाह के राज मे बहुत-से लोग साम्राज्य के खिलाफ हो गये हैं, जिसका लाज़िमी नतीजा यह होगा कि और भी हिस्से हाथ से निकल जायँगे क्योंकि सब जगह बेरोकटोक बरबादी और लूट-खसोट का बाज़ार गर्म हो रहा है। आपकी प्रजा पैरो तले रौंदी जाती है, आपके साम्राज्य का हरेक सूबा गरीब होता जा रहा है, आबादी कम हो रही है और कठिनाइयां बढ़ती जा रही हैं।"

आम लोगो मे फैली हुई यह तबाही उन भारी परिवर्तनो की भूमिका थी, जो अगले पचास-साठ वर्षों मे भारत मे होनेवाले थे। औरगजेब की मृत्यु के बाद महान् मुगल साम्राज्य का एकदम और पूरी तरह पतन इन्ही परिवर्तनो मे से एक

था। महान् परिवर्तनो और महान आन्दोलनो के पीछे हमेशा आर्थिक कारण हुआ करते हैं। हम देख चुके हैं कि यूरोप और चीन के बडे-बडे साम्राज्यों के पतन से पहले और साथ-साथ, आर्थिक पतन हुआ और वाद मे क्रान्ति हुई। यही हाल भारत मे हुआ।

जिस तरह तमाम साम्राज्यो का अन्त हुआ करता है, उसी तरह मुग़ल साम्राज्य का अन्त भी उसीकी अन्दरूनी कमज़ोरियो की वजह से हुआ। वह विलकुल तहस-नहस हो गया। लेकिन हिन्दुओ मे विद्रोह की जो नई चेतना पैदा हो रही थी और जो औरंगज़ेव की नीति की वजह से उफान पर आगई थी, उसने इस अन्त को लाने की प्रक्रिया मे बहुत मदद पहुँचाई। लेकिन एक तरह की यह मज़हवी हिन्दू राष्ट्रीयता औरंगज़ेव के राज से पहले ही जड पकड चुकी थी और सम्भव है कि कुछ-कुछ इसीकी वजह से औरंगज़ेव इतना कट्टर और तास्सुवी हो गया हो। मराठे, सिक्ख, वगैरा इस हिन्दू जागृति के भाले की नोक थे और, जैसा कि मैं अगले पत्र मे लिखूंगा, मुग़ल साम्राज्य का तख्ता अन्त मे इन्होंने ही उलट दिया। लेकिन विरासत मे मिली इस जायदाद से वे कुछ लाभ न उठा सके। जवकि ये लोग लूट के माल के लिए आपस मे लड रहे थे, अंग्रेज़ चुपचाप और चालाकी के साथ घुस आये और उसे हथिया वैठे।

तुमको यह जानकर दिलचस्पी होगी कि जब मुगल-सम्राट् फौज के साथ कूच करते थे तो उनका शाही डेरा किस तरह का होता था। वह एक वडी ज़वर्दस्त चीज़ होती थी, जिसका घेरा तीस मील और आवादी करीव पाँच लाख होती थी। इस आवादी मे सम्राट् के साथ चलनेवाली फौज तो होती ही थी, लेकिन उसके अलावा इस चलते-फिरते भारी शहर मे लाखो दूसरे लोग और सैकडो वाज़ार होते थे। इन्ही चलते-फिरते डेरो मे उर्दू, यानी 'लश्कर' की भाषा, का विकास हुआ।

मुगल-काल के वहुत-से छवि-चित्र अब भी मिलते हैं, जिनकी चित्रकला बडी बारीक और नफीस है। सम्राटो की तसवीरो की तो एक पूरी चित्रशाला ही मिलती है। वावर से लगाकर औरंगज़ेव तक तमाम वादशाहो के व्यक्तित्व को ये तसवीरें वडी खूबी के साथ प्रकट करती हैं।

मुगल-सम्राट् दिन मे कम-से-कम दो वार झरोखे मे से लोगो को दर्शन दिया करते थे और अर्ज़ियाँ लिया करते थे। जब १९११ ई० मे अंग्रेज़ सम्राट् जार्ज पचम दिल्ली मे ताजपोशी के दरबार के लिए भारत आये थे तो उनका भी मुजरा इसी तरह करवाया गया था। अंग्रेज़ लोग अपने-आपको मुगलो का गद्दीनशीन समझते हैं और इसलिए वे तडक-भडक और बेहूदा प्रदर्शन मे मुग़लो की नकल उतारने की कोशिश करते हैं। मैं तुमको बतला चुका हूँ कि अंग्रेज़ बादशाह को मुग़ल बादशाहो का खिताब 'कैसरे हिन्द' तक दे दिया गया है। आज भी दुनिया भर मे

इतनी शान-शौकत और नुमायशी ठाट-बाट शायद और कही न मिले, जितना भारत मे इंग्लैण्ड के वाइसराय के व्यक्तित्व के साथ लगा हुआ है।

मैंने तुम्हे अभी तक यह नही बताया है कि पिछले मुग़ल बादशाहो का विदेशियो के साथ कैसा ताल्लुक़ था। अकबर के दरबार मे पुर्तगाली पादरियो पर खास कृपा रहती थी और यूरोप की दुनिया के साथ अकबर का जो कुछ भी सम्पर्क था, वह पुर्तगालियो के ही ज़रिये से था। अकबर इनको यूरोप की सबसे ज्यादा शक्तिशाली कौम समझता था, क्योकि समुद्रो पर इनका कब्ज़ा था। अंग्रेजो का उस वक्त पता भी न था। अकबर की गोवा लेने की बडी इच्छा थी और उसने उसपर हमला भी किया मगर सफलता न मिली। मुगल लोग समुद्र-यात्रा को पसन्द नहीं करते थे और जहाजी शक्ति के सामने उनकी दाल न गलती थी। यह एक विचित्र बात है, क्योकि उस ज़माने मे पूर्व बगाल मे जहाज़ बनाने का काम ज़ोरो से चल रहा था। लेकिन ये जहाज़ ज्यादातर माल लादने के काम के थे। समुद्र पर हमला कर सकने की यह लाचारी मुगल-साम्राज्य के पतन की एक वजह बतलाई जाती है। अब जहाजी शक्तियो का समय आ गया था।

जब अंग्रेज़ लोगो ने मुगल दरबार मे आने की कोशिश की तो पुर्तगालियो को उनसे डाह हुई और उन्होंने जहागीर के कान उनके खिलाफ भरने मे कोई कसर न उठा रक्खी। लेकिन इंग्लैण्ड के जेम्स प्रथम का राजदूत सर टामस रो १६१५ ई० मे किसी तरह जहागीर के दरबार मे जा पहुँचा। उसने सम्राट् से बहुत-सी सहूलियतें हासिल कर ली और ईस्ट इडिया कम्पनी के व्यापार की नीव जमा दी। इसी बीच अंग्रेज़ी बेडे ने भारतीय समुद्र मे पुर्तगाल के बेडे को हरा दिया। इंग्लैण्ड का सितारा आसमान मे ऊँचा चढ रहा था और पुर्तगाल का सितारा पश्चिम मे डूब रहा था। डचो और अंग्रेजो ने धीरे-धीरे पुर्तगालियो को पूर्वी समुद्रो से बाहर निकाल दिया और तुम्हे याद होगा कि मलक्का का बडा बन्दरगाह भी १६४१ ई० मे डचो के हाथ आ गया था। १६२९ ई० मे हुगली मे शाहजहा और पुर्तगालियो के बीच युद्ध हुआ। पुर्तगाली बाकायदा गुलामो का व्यापार करते थे और लोगो को ज़बर्दस्ती ईसाई बना रहे थे। पुर्तगाली बडी बहादुरी से लडे, लेकिन मुगलो ने हुगली पर कब्ज़ा कर लिया। छोटा-सा पुर्तगाल देश बार-बार के इन युद्धो से थक गया। उसने साम्राज्य की होड से पीछा छुडाया, लेकिन वह गोवा और दूसरी कई जगहो से चिपका रहा और आज भी इन जगहो पर उसका कब्ज़ा है।

इसी दौरान मे अंग्रेजो ने मद्रास और सूरत के पास, भारत के समुद्र-तट के नगरो मे, कारखाने खोल दिये। मद्रास की नीव भी उन्होंने ही १६३९ ई० मे डाली। १६६२ ई० मे इंग्लैण्ड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाल की कैथरीन ऑफ़ ब्रैगेन्ज़ा के साथ शादी की और बम्बई का टापू उसे दहेज मे मिला। कुछ

दिनो बाद उसने इसे बहुत सस्ते दाम मे ईस्ट इडिया कम्पनी के हाथ बेच दिया। यह घटना औरगजेब के शासनकाल मे हुई। पुर्तगालियो के ऊपर विजय के नशे मे चूर ईस्ट इडिया कम्पनी ने यह सोचकर कि मुगल-साम्राज्य कमजोर होता जा रहा है, १६८५ ई० मे लडाई के जरिये भारत की ओर ज्यादा जमीन पर कब्जा करने की कोशिश की। लेकिन उसे नुकसान उठाना पडा। इग्लैण्ड से जगी जहाज दौड़े हुए आये और औरगजेब के राज्य मे दो जगह, यानी पूर्व मे वगाल पर और पश्चिम मे सूरत पर हमले किये गए। लेकिन अभी मुगलो मे उनको बुरी तरह हरा देने की ताकत थी। अग्रेजो ने इससे नसीहत ली और आगे के लिए वे बहुत सावधान हो गये। औरगजेब की मृत्यु पर भी, जबकि मुगल-शक्ति लडखडाती हुई दिखाई दे रही थी, वे बहुत वर्षों तक कोई बडा हमला करने से पहले आगा-पीछे सोचते रहे। १६९० ई० मे जॉब चार्नोक ने कलकत्ता शहर की नींव डाली। इस तरह मद्रास, बम्बई और कलकत्ता, इन तीनो शहरो की नीव अग्रेजो के हाथो से डाली गई और शुरू-शुरू मे ये शहर अग्रेजो के ही उद्योग से बढे।

अब फ्रान्स ने भी भारत मे कदम रक्खा। एक फ्रान्सीसी व्यापारी कम्पनी बनी और १६६८ ई० मे उसने सूरत मे और कुछ दूसरी जगहो मे कारखाने खोले। कुछ साल बाद उसने पाडिचेरी शहर खरीद लिया, जो पूर्वी तट पर सबसे बडा तिजारती बन्दरगाह बन गया।

१७०७ ई० मे करीब नब्बे वर्ष की बडी उम्र मे औरगजेब की मृत्यु हुई। उसके छोडे हुए बेशकीमती माल को, यानी भारत को, हथियाने के लिए लडाई-झगडे का मैदान तैयार हो गया। एक तो खुद उसी के निकम्मे वशज और कुछ बडे-बडे सूबेदार थे, उधर मराठे और सिक्ख थे, दूसरी तरफ़ उत्तर-पश्चिम सीमा के पार के लोग दान्त लगाये हुए थे, और समुद्र पार के दो शक्तिशाली राष्ट्र अग्रेज और फ्रान्सीसी थे। बेचारे भारतवासियो की चिन्ता किसे थी ?

## ९१

## सिक्ख और मराठे

१२ सितम्बर, १९३२

औरगजेब की मृत्यु के बाद के सौ वर्षों मे भारत एक अजीब पैवन्दकारी का नमूना बना रहा। सैरबीन की तरह उसके नजारे हर घडी बदलते रहते थे, पर वे कोई बहुत सुन्दर नही थे। ऐसा जमाना ले-भगुओ के या ऐसे लोगो के लिए बडा बढ़िया होता है, जो साधनो और उपायो की परवाह नही करते और मौके का फ़ायदा उठाने मे न तो डरते हैं और न भले-बुरे का कुछ विचार करते हैं। इसलिए सारे भारत में इस तरह के मौका-परस्त पैदा हो गये। इन मौका-परस्तो मे एक तो खुद

भारत के ही रहनेवाले थे, दूसरे वे थे, जो उत्तर-पश्चिम की सीमाओं से आ रहे थे और तीसरे वे लोग थे जो अंग्रेजों और फ़ान्सीसियों की तरह समुद्र-पार से आये थे। हरेक आदमी या गिरोह अपनी-अपनी चाल चलता था और बाकी सबको जहन्नुम में भेजने के लिए तैयार था। कभी-कभी दो मिलकर तीसरे को खत्म कर देते थे; लेकिन बाद में ये दोनों आपस में ही लड़ मरते थे। रियासतें हड़पने के लिए, जल्दी से मालदार बनने के लिए, और लूटमार करने के लिए जी-तोड़ कोशिशें की जा रही थीं। लूट-मार ज्यादातर खुल्लम-खुल्ला और बेशर्मी के साथ होती थी, लेकिन कभी-कभी व्यापार के झीने पर्दे में भी छिपकर होती थी। और इस सबके पीछे था खिसकता हुआ मुग़ल साम्राज्य, जो 'केशायर की बिल्ली'* की तरह ऐसा ग़ायब हो रहा था कि उसकी मुस्कराहट भी बाकी न रही थी। बेचारे नाम के बादशाह को या तो पेन्शन दे दी जाती थी या वह दूसरों का कैदी हो जाता था।

लेकिन ये सब उथल-पुथल और हलचल और तोड़-मरोड़ उस क्रान्ति के बाहरी लक्षण थे जो सतह के नीचे हो रही थी। पुरानी आर्थिक व्यवस्था टूट रही थी, सामन्तशाही के दिन पूरे हो गये थे और वह खत्म हो रही थी। ये चीजें देश की नई हालतों से मेल नहीं खाती थीं। यही सिलसिला हम यूरोप में देख चुके हैं और व्यापारी वर्ग की तरक्की भी देख चुके हैं, जिसे स्वेच्छाचारी शासकों ने रोक दिया था। सिर्फ इंग्लैण्ड में, और कुछ हद तक हालैण्ड में, बादशाहों को दबा दिया गया था। जिस समय औरंगजेब गद्दी पर बैठा, उस समय इंग्लैण्ड में वह थोड़े दिन का गणराज्य चल रहा था, जो चार्ल्स प्रथम की फांसी के बाद बना था। और औरंगजेब के ही शासनकाल में जेम्स द्वितीय के भाग जाने से, और १६६८ ई० में पार्लमेण्ट की विजय से, इंग्लैण्ड की क्रान्ति पूरी हुई। इंग्लैण्ड में जो पार्लमेण्ट-जैसी एक आधी लोक-सत्तावाली परिषद् थी, उससे इस लड़ाई में बहुत मदद मिली। वह एक ऐसी चीज थी, जो सामन्त सरदारों के और बाद में बादशाह के खिलाफ खड़ी की जा सकती थी।

यूरोप के बहुत-से दूसरे देशों में और ही तरह की हालतें थीं। फ्रान्स में भी अभी तक महान् सम्राट् चौदहवाँ लुई था, जो औरंगजेब के लम्बे शासन-काल भर में उसका समकालीन रहा और उसके भी आठ वर्ष बाद मरा। वहाँ करीब-करीब अठारहवीं सदी के अन्त तक स्वेच्छाचारी शासन जारी रहा, जबकि फ्रान्स की इतिहास-प्रसिद्ध राज्य-क्रान्ति के रूप में जबर्दस्त विस्फोट हुआ। जर्मनी में, जैसा कि हम देख चुके हैं, सत्रहवीं सदी का जमाना बड़ा भयानक था। इसी सदी में 'तीस साल का युद्ध' हुआ, जिसने देश के टुकड़े-टुकड़े करके उसका सत्यानाश कर दिया।

---

*'एलिस इन दि वंडरलैंड' नाम की कहानी की पुस्तक में बयान की हुई एक कल्पित बिल्ली, जो सदा मुस्कराती रहती थी।

अठारहवीं सदी में भारत की हालत का मुकाबला कुछ-कुछ जर्मनी की उस हालत से किया जा सकता है, जो वहां तीस साल के युद्ध के जमाने में थी। लेकिन यह मुकाबला ज्यादा आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। दोनों देशों में आर्थिक ढांचा टूट रहा था और पुराने सामन्त-वर्ग के लिए कोई जगह नहीं रही थी। हालांकि भारत में सामन्तशाही आखिरी सांस ले रही थी, लेकिन उसका अन्त बहुत दिनों तक नहीं हुआ। और करीब-करीब नष्ट होने पर भी उसका ऊपरी रूप बना ही रहा। असल में आज दिन भी भारत में और यूरोप के कुछ हिस्सों में सामन्तशाही के बहुत-से बचे-खुचे निशान बाकी हैं।

मुगल-साम्राज्य इन्हीं आर्थिक परिवर्तनों के कारण भंग हुआ, लेकिन इस मौके से फायदा उठाकर सत्ता छीनने के लिए कोई मध्यमवर्ग मौजूद न था। इंग्लैण्ड की तरह इन वर्गों का प्रतिनिधि-जैसा कोई संगठन या परिषद् भी न थे। हद दरजे के अत्याचारी शासन ने आम लोगों को बहुत-कुछ चापलूस बना दिया था और आजादी की जो कुछ भी पुरानी भावनाएँ थीं, वे करीब-करीब भुलाई जा चुकी थीं। लेकिन, जैसा कि आगे चलकर इसी पत्र में ज़िक्र किया जायगा, कुछ-कुछ सामन्त-वर्ग ने, कुछ-कुछ मध्यमवर्ग ने और कुछ-कुछ किसानों ने सत्ता छीनने की कोशिशें कीं और इनमें से कुछ कोशिशें सफलता के नजदीक भी पहुँच गईं। ध्यान देने की खास बात यह है कि सामन्तशाही के पतन, और मध्यमवर्ग के उदय के बीच मालूम होता है, अन्तर पड़ गया, क्योंकि मध्यमवर्ग में अभी सत्ता-ग्रहण करने की काफी तैयारी नहीं थी। जब इस तरह का अन्तर पड़ जाता है तो ज़रूर गड़बड़ और उथल-पुथल होती है, जैसा कि जर्मनी में हुआ। यही हाल भारत में भी हुआ। छोटे-छोटे बादशाह और राजा देश पर अपना-अपना कब्ज़ा जमाने के लिए लड़ने लगे। लेकिन वे सब एक सड़ी हुई व्यवस्था के रूप थे, इसलिए उनकी नींव मज़बूत न थी। उनको एक नये ही वर्ग के लोगों से लड़ना पड़ा, जो इंग्लैण्ड के मध्यमवर्ग के नुमाइन्दे थे और जो उन्हीं दिनों अपने देश में विजय हासिल कर चुका था। इंग्लैंड का यह मध्यमवर्ग सामन्त-वर्ग से ऊँची समाजी व्यवस्था का प्रतिनिधि था। वह उन नई हालतों से मेल खाता था, जो संसार में पैदा हो रही थीं, उसका संगठन ज्यादा अच्छा और कारगर था, उसके पास ज्यादा अच्छे हथियार और औजार थे, जिनके जरिये वह ज्यादा कारगर तरीकों से लड़ सकता था, और समुद्र पर भी उसका अधिकार था। भारत के सामन्ती राजाओं का इस नई शक्ति के मुकाबले में ठहरना असम्भव था और इसके सामने वे एक-एक करके खत्म होते गये।

इस पत्र की यह भूमिका काफी लम्बी हो गई। अब हमको ज़रा पीछे चलना चाहिए। औरंगज़ेब के शासन के पिछले दिनों में जनता के जो विद्रोह हुए और हिन्दुओं में जो धार्मिक राष्ट्रीयता जागी, उनका ज़िक्र मैं अपने पिछले पत्र में भी

कर चुका हूँ। अब मैं इस बारे मे कुछ और बतलाऊँगा। मुगल-साम्राज्य के अलग-अलग हिस्सो मे कुछ-कुछ धार्मिक स्वरूपवाले जन-आन्दोलन शुरू होते दिखलाई पड़ने लगे थे। कुछ समय तक तो ये आन्दोलन शान्ति से चलते रहे, राजनीति से इनका कोई ताल्लुक न था। हिन्दी, मराठी, पजाबी, वगैरा देशी भाषाओ मे गीत और भजन बने, जिनका खूब प्रचार हुआ और जिनसे जनता मे चेतना पैदा हो गई। लोकप्रिय धर्म-प्रचारको के पीछे बहुत-से पन्थ बन गये। आर्थिक परिस्थितियो के दबाव ने जल्द ही इन पन्थो का ध्यान राजनीतिक सवालो की तरफ खीचा। शासक-वर्ग यानी मुगल-साम्राज्य से रगडे-झगडे होने लगे। नतीजा यह हुआ कि पन्थ पर दमन हुआ। इस दमन ने शान्ति के रास्ते चलनेवाले पन्थ को सैनिक बिरादरी के रूप मे बदल दिया। सिक्खो और दूसरे कई पन्थो का विकास इसी तरह हुआ। मराठो का इतिहास ज्यादा उलझा हुआ है, लेकिन वहाँ भी यही दिखलाई पडता है कि धर्म और राष्ट्रीयता ने मिलकर मुगलो के खिलाफ तलवार उठाई। मुगल-साम्राज्य का नाश अग्रेजो के हाथो से नही हुआ, बल्कि इन मजहबी राष्ट्रीय आन्दोलनो और खासकर मराठो की वजह से हुआ। इन आन्दोलनो को औरगजेब की मजहबी वैर की नीति से कुदरती तौर पर बल मिला। यह भी सम्भव है कि अपनी हुकूमत के खिलाफ इस बढती हुई मजहबी चेतना ने औरगजेब को और भी ज्यादा कट्टर व तास्सुबी बना दिया हो।

१६६९ ई० मे ही मथुरा के जाट किसानो ने बलवा कर दिया। बार-बार उनको दबाया गया, लेकिन वे तीस साल से ऊपर तक, यानी औरगजेब की मृत्यु तक, बार-बार सिर उठाते रहे। याद रहे कि मथुरा आगरे के बहुत नजदीक है, यानी ये बलवे राजधानी के पास ही हुए थे। दूसरा बलवा सतनामियो ने किया, जो साधारण लोगो का एक हिन्दू पन्थ था। इसलिए यह भी गरीब आदमियो का बलवा था और अमीरो, हाकिमो, वगैरा के विद्रोहो से बिलकुल अलग तरह का था। उस समय का एक मुगल अमीर-सरदार इनके बारे मे नफरत से लिखता है कि यह "खून के प्यासे पाजी बागियो का गिरोह था, जिसमे सुनार, बढई, भगी, चमार और दूसरे नीच लोग शामिल थे।" उसकी राय मे ऐसे 'नीच लोगो' को अपने से ऊँचे लोगो के खिलाफ बलवा करने मे शर्म आनी चाहिए थी।

अब हम सिक्खो की तरफ आते हैं और उनके इतिहास का सिलसिला कुछ समय पहले से शुरू करेंगे। तुम्हे याद होगा कि मैंने गुरु नानक का जिक्र किया था। इनकी मृत्यु बाबर के भारत मे आने के कुछ ही साल बाद हो गई। वह उन लोगो में से थे, जिन्होने हिन्दू-धर्म और इस्लाम को एक ही मच पर लाने की कोशिश की। इनके बाद तीन 'गुरु' और हुए, जो इन्हींकी तरह शान्तिप्रिय थे, और सिर्फ धर्म की बातो मे ही दिलचस्पी रखते थे। अकबर ने चौथे गुरु को अमृतसर के तालाब

और स्वर्ण मन्दिर के लिए जमीन दी थी। तबसे अमृतसर सिक्ख धर्म का केन्द्र बन गया है।

इसके बाद पाँचवें गुरु अर्जुनसिंह हुए, जिन्होने ग्रन्थसाहब का सकलन किया। यह बानियो और भजनो का सग्रह है और सिक्खो का पवित्र ग्रन्थ माना जाता है। एक राजनीतिक अपराध के लिए जहांगीर ने अर्जुनसिंह को यन्त्रणाएँ[1] देकर मरवा डाला। सिक्खो के इतिहास की घडी बस यही से बदल गई। गुरु के साथ अन्याय और बेरहमी के इस बर्ताव ने उनमे गुस्सा भर दिया और उन्होंने तलवारे उठा ली। छठवें गुरु हरगोविन्द के समय मे वे एक सैनिक बिरादरी बन गये, और तबसे हुकूमत के साथ उनकी अक्सर मुठभेड होने लगी। गुरु हरगोविन्द खुद दस साल तक जहांगीर की कैद मे रहे। नवें गुरु तेगबहादुर औरगजेब के जमाने मे हुए। औरगजेब ने इनको इस्लाम कबूल करने का हुक्म दिया और इन्कार करने पर इनको कत्ल करवा डाला। दसवें और आखिरी गुरु गोविन्दसिंह थे। उन्होंने सिक्खो को एक बलशाली सैनिक सम्प्रदाय बना दिया, जिसका मुख्य उद्देश्य दिल्ली के बादशाह से लडना था। ये औरगजेब की मृत्यु के एक साल बाद मरे। इनके बाद से अबतक कोई गुरु नही हुआ। कहते है कि गुरु के अधिकार अब सारे सिक्ख-सम्प्रदाय मे हैं, जो 'खालसा' कहलाता है।

औरगजेब की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद सिक्खो ने बगावत कर दी। इसे दबा तो दिया गया, लेकिन सिक्ख लोग अपना बल बढाते रहे और पजाब मे अपनी हैसियत को मजबूत बनाते रहे। आगे चलकर, इसी सदी के अन्त मे, पजाब मे रणजीतसिंह के अधीन एक सिक्ख रियासत पैदा होनेवाली थी।

ये सब बगावतें तो दिक्कत मे डालनेवाली थी ही, पर मुगल-साम्राज्य को असली खतरा दक्षिण-पश्चिम मे मराठो की बढती हुई शक्ति से था। शाहजहा के राज्य मे ही शाहजी भोंसले नामक एक मराठा सरदार ने सिर उठाया था। वह पहले तो अहमदनगर की रियासत मे और बाद मे बीजापुर रियासत मे हाकिम रहा था। लेकिन मराठो का गौरव और मुग़ल-साम्राज्य को थर्रा देनेवाला अगर कोई था तो वह इसका पुत्र शिवाजी था, जिसका जन्म १६२७ ई० मे हुआ था। वह उन्नीस वर्ष का भी न हुआ था कि उसने लूट-मार शुरू कर दी और पूना के पास पहला किला जीत लिया। वह एक वीर सेना-नायक, छापामारो का आदर्श नेता और हौसलेदार था। उसने बहादुर और मजबूत पहाडियो का एक गिरोह इकट्ठा कर लिया, जो उसपर जान देते थे। इनकी मदद से उसने बहुत से किलो पर कब्ज़ा

---

[1] यन्त्रणा—शरीर को भयकर पीड़ा पहुँचाना—जैसे गर्म लोहे से दागना, भाले चुभोना, शिकजे मे कसना वग़ैरा।

कर लिया और औरंगजेब के सिपहसालारो को खूब परेशान किया। १६६५ ई० मे उसने अचानक सूरत पर धावा बोल दिया, जहाँ अंग्रेजो का कारखाना था, और शहर को लूट लिया। बातो में आकर वह आगरे मे औरंगज़ेब के दरबार मे भी गया, लेकिन जब उसके साथ एक स्वाधीन राजा का-सा बर्ताव नही किया गया तो उसे लगा कि उसे नीचा दिखलाया गया है और उसका अपमान किया गया है। उसे वहाँ क़ैद कर लिया गया, लेकिन वह छूटकर भाग निकला। फिर भी औरंगज़ेब ने उसे राजा का खिताब देकर अपनी तरफ मिलाने की कोशिश की।

लेकिन शिवाजी ने फिर लड़ाई छेड दी। दक्षिण के मुगल हाकिम तो उससे इतने डर गये कि वे अपनी हिफाज़त के लिए उसे धन देने लगे। यही वह इतिहास-प्रसिद्ध 'चौथ' यानी लगान का चौथा अश थी, जिसे मराठे लोग जहाँ जाते वही वसूल करते थे। इस तरह मराठो की शक्ति तो बढ़ती गई और दिल्ली का साम्राज्य कमजोर होता गया। १६७४ ई० मे शिवाजी ने रायगढ़ मे बड़े ठाट-बाट के साथ राजमुकुट पहना। १६८० ई० मे, उसकी मृत्यु तक वह बराबर जीत-पर-जीत हासिल करता रहा।

तुम्हे मराठा प्रदेश के केन्द्र पूना शहर मे रहते हुए कुछ समय हो गया है और तुम्हे मालूम हो गया होगा कि वहा के लोग शिवाजी से कितना प्रेम करते है और उनकी कितनी पूजा करते हैं। जिस धार्मिक राष्ट्रीय जागृति का जिक्र मैं अभी कर चुका हूँ, उसका यह नमूना था। आर्थिक सकट और आम जनता की तबाही ने ज़मीन तैयार कर दी थी, और रामदास और तुकाराम नामक दो मराठी सन्त-कवियो ने अपनी कविताओ और भजनो से इसमे खाद डाल दी। इस तरह मराठो को जागृति और एकता हासिल हुई और ठीक उसी समय एक तेजस्वी सेनानी पैदा हो गया, जो उनका नेता बनकर जीत दिलानेवाला था।

शिवाजी के पुत्र सभाजी को मुगलो ने यन्त्रणाएँ देकर मरवा डाला, लेकिन कुछ धक्को के बाद मराठो की ताकत फिर बढने लगी। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य हवा मे गायब होने लगा। सारे सूबेदार राजधानी से अपना ताल्लुक तोडकर स्वाधीन बन बैठे। बगाल अलग हो गया। यही हाल अवध और रुहेलखण्ड का हुआ। दक्षिण मे वज़ीर आसफजाह ने एक राज्य कायम किया, जो आजकल रियासत हैदराबाद कहलाता है। मौजूदा निज़ाम 'आसफजाह का वंशज है। औरंगजेब के मरने के बाद सत्रह वर्ष के भीतर ही साम्राज्य करीब-क़रीब खत्म हो गया। लेकिन दिल्ली और आगरा, बिना साम्राज्यवाले नाम के कई बादशाह एक-के-बाद एक गद्दी पर बैठते रहे।

जैसे-जैसे साम्राज्य कमज़ोर होता गया वैसे-ही-वैसे मराठो की ताकत बढती गई। उनका प्रधान मन्त्री, जो पेशवा कहलाता था, राजा पर हावी होकर असली

सत्ताधारी बन बैठा। पेशवाओ की गद्दी, जापान के शोगुनो की तरह, पुश्तैनी मानी जाने लगी और राजा पीछे ढकेल दिया गया। दिल्ली का सम्राट् इतना कमजोर हो गया कि उसने सारे दक्षिण मे चौथ वसूल करने के मराठो के अधिकार को मंजूर कर लिया। पेशवा को इतने पर भी सतोप न हुआ और उसने गुजरात, मालवा और मध्य भारत पर भी कब्जा कर लिया। १७३७ ई० में उसकी फौजें ठेठ दिल्ली के फाटक पर जा पहुँचीं। ऐसा मालूम होता था कि भारत पर सिर्फ़ मराठो का ही कब्जा होनेवाला है। सारे देश मे उनकी धाक थी। लेकिन १७३९ ई० मे उत्तर-पश्चिम की तरफ से अचानक एक हमला हुआ, जिसने ताक़त की तराजू का पलडा उलट दिया और उत्तर-भारत का नकशा ही बदल दिया।

## ९२ :

## भारत में अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर अंग्रेजों की विजय

१३ सितम्बर, १९३२

हम देख चुके है कि दिल्ली के मुगल-साम्राज्य की हालत बहुत खराब थी। असल मे यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य के लिहाज से तो उसकी कोई हस्ती ही न थी। लेकिन दिल्ली और उत्तर भारत का इससे भी ज्यादा पतन होनेवाला था। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, भारत मे उन दिनों ले-भग्गुओ का बोलबाला था। उत्तर-पश्चिम से एक लुटरो के राजा ने अचानक आकर धावा बोल दिया और बहुत-सी खून-खराबी और लूट-मार करके वह बेशुमार दौलत लेकर चम्पत हो गया। यह नादिरशाह था, जो ईरान का शाह बन बैठा था। वह शाहजहा के बनवाये हुए मशहूर तख्ते-ताऊस को भी साथ ले गया। यह भयंकर आफ़त १७३९ ई० मे आई और इसने उत्तर भारत को पस्त कर दिया। नादरिशाह ने अपने राज्य की सरहद ठेठ सिन्ध नदी तक बढा ली। इस तरह अफगानिस्तान भारत से अलग हो गया। महाभारत और गान्धार के जमाने से लगाकर भारत के सारे इतिहास मे अफगानिस्तान का भारत से नजदीकी रिश्ता रहा था। लेकिन वह कटकर अलग जा पडा।

सत्रह वर्ष के भीतर ही दिल्ली पर एक और धावामार लुटेरा चढ़कर आया। यह अहमदशाह दुर्रानी था, जो अफगानिस्तान मे नादिरशाह का उत्तरधिकारी था। लेकिन इन हमलो के होते हुए भी मराठो की शक्ति लगातार बढती ही गई, और १७५८ ई० मे पजाब पर भी इनका कब्जा हो गया। उन्होंने इन सब जीते हुए हिस्सो पर कोई सगठित सरकार कायम करने की कोशिश नही की। वे तो अपनी मशहूर 'चौथ' वसूल कर लेते थे और राज्य का भार वही के लोगो पर छोड देते थे। इस प्रकार उनको एक तरह से दिल्ली का सारा साम्राज्य विरासत मे मिल

## भारत में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की लड़ाइयां
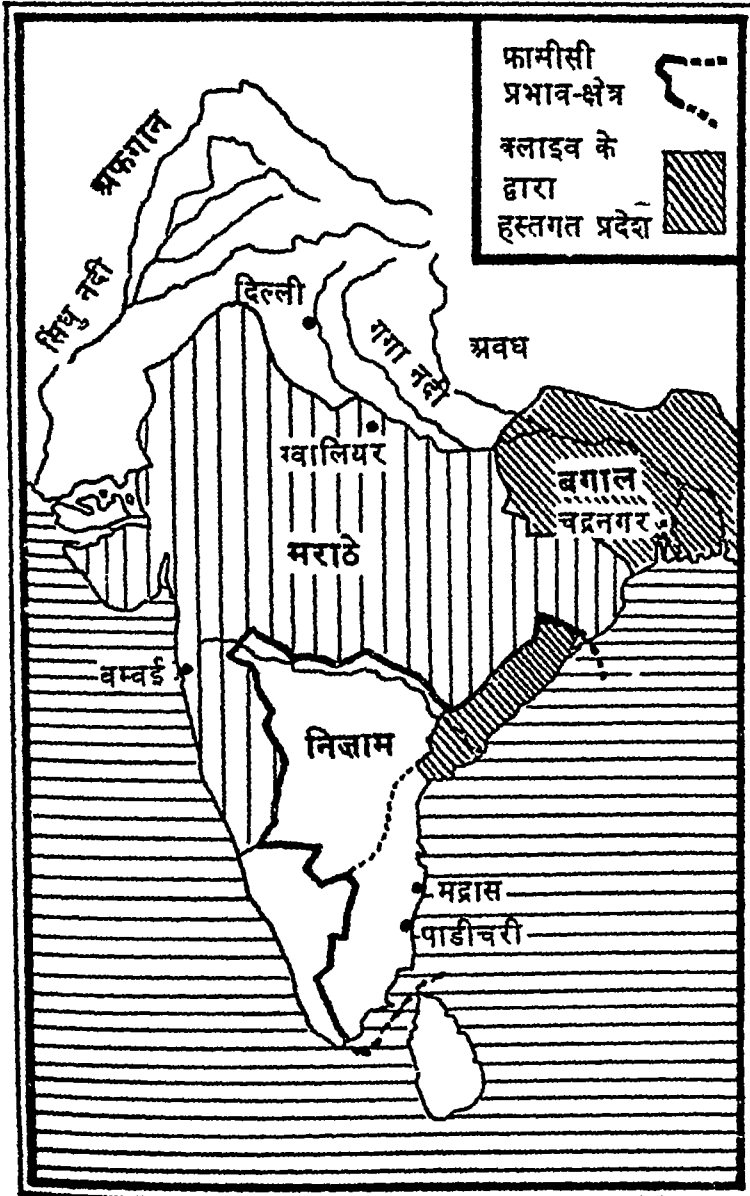
गया। लेकिन इसके बाद ही एक बडी रुकावट सामने आई। उत्तर-पश्चिम से दुर्रानी फिर चढ आया और उसने १७६१ ई० मे पानीपत के पुराने जगी मैदान मे औरो की मदद से मराठो की एक बडी भारी फौज को बुरी तरह हराया। अब दुर्रानी तमाम उत्तर-भारत का मालिक बन बैठा और उसे रोकनेवाली कोई शक्ति न थी। लेकिन विजय की इस घडी मे उसे खुद अपने ही आदमियो मे झगडे और विद्रोह का सामना करना पडा और वह अपने देश लौट गया।

कुछ दिनो तक तो ऐसा मालूम होता था कि मराठो की हुकूमत के दिन पूरे हो गये और उनकी कोई गिनती न रही। जो बडा फल वे हासिल करना चाहते थे वह उनके हाथ से जाता रहा। लेकिन उन्होंने धीरे-धीरे अपनी हालत फिर सुधार ली और वे एक बार फिर भारत मे सबसे जबर्दस्त अन्दरूनी ताकत बन गये। मगर इसी अर्से मे, जैसा कि मैं आगे बताऊंगा, इनसे भी ज्यादा जबर्दस्त दूसरी शक्तियाँ प्रकट हुई, जो कुछ पीढियो तक के लिए भारत के भाग्य का निबटारा करनेवाली थी। इसी समय मे कई मराठे सरदार पैदा हो गये, जो पेशवा के मातहत समझे जाते थे। इनमे सबसे प्रमुख ग्वालियर का सिन्धिया था, बडौदा का गायकवाड और इन्दौर का होल्कर भी इन्हीमे से थे।

अब हमे दूसरी घटनाओ पर विचार करना चाहिए, जिनका ज़िक्र मैंने ऊपर किया है। दक्षिण भारत मे इस जमाने की सबसे बडी हकीकत अंग्रेजो और फ्रान्सीसियो की लडाई है। अठारहवी सदी मे यूरोप मे इग्लैण्ड और फ्रान्स की अक्सर मुठभेडे होती रहती थी और उनके प्रतिनिधि भारत मे भी एक दूसरे से लडते थे। लेकिन कभी-कभी यूरोप मे दोनो देशो मे बाकायदा सुलह होने पर भी भारत मे ये लडते रहते थे। दोनो तरफ दुस्साहसी और भले-बुरे का विचार न करनेवाले हौसलेबाज़ थे, जिनकी हद से ज्यादा कामना थी धन और शक्ति हासिल करना। इसलिए इनके बीच घोर प्रतियोगिता होना कुदरती बात थी। फ्रान्सीसियो मे उस समय सबसे ज्यादा ज़ोरदार आदमी डूप्ले था और अंग्रेजो मे क्लाइव। डूप्ले ने दो रियासतो के आपसी झगडो मे दखल देने का फायदेमन्द खेल शुरू किया, पहले तो वह अपने सिखाये हुए सिपाही किराये पर दे देता और बाद मे रियासत हडप जाता। फ्रान्सीसियो का प्रभाव बढने लगा, लेकिन अंग्रेजो ने भी बहुत जल्दी उनके तरीको को अपना लिया और उससे भी आगे बढ गये। भूखे गिद्धो की तरह दोनो गडबडी की ताक मे रहते थे और उस वक्त ऐसी गडबड काफी मिल भी जाती थी। दक्षिण मे जब कभी उत्तराधिकार के बारे मे झगडा होता तो शायद अंग्रेज एक दावेदार की और फ्रान्सीसी दूसरे की तरफदारी करते दिखाई पडते थे। पन्द्रह साल के लडाई-झगडे (१७४६–१७६१ ई०) के बाद इंग्लैण्ड ने फ्रान्स पर विजय पाई। भारत मे अंग्रेज हौसलेबाजो को अपने देश की पूरी हिमायत थी,

लेकिन डूप्ले और उसके साथियों को फ्रान्स से ऐसी कोई सहायता नहीं मिली। यह ताज्जुब की बात नहीं है। भारत में रहनेवाले अंग्रेजों की पीठ पर ब्रिटिश व्यापारी लोग और ईस्ट इंडिया कम्पनी के हिस्सेदार दूसरे लोग थे, और वे पार्लमेण्ट और सरकार पर असर डाल सकते थे; लेकिन फ्रान्सीसियों के ऊपर उस वक्त पन्द्रहवाँ लुई (महान् सम्राट् चौदहवें लुई का पोता और उत्तराधिकारी) था, जो मजे के साथ सत्यानाश की ओर दौड़ रहा था। समुद्र पर अंग्रेजों के कब्जे ने भी इसमें बहुत मदद पहुँचाई। अंग्रेज और फ्रान्सीसी दोनों ही भारतीय सैनिकों को, जो सिपाही कहलाते थे, फौजी तालीम देते थे, और चूँकि इन सिपाहियों के पास देशी फौजों से अच्छे हथियार होते थे, और इनका अनुशासन भी इनसे अच्छा होता था, इसलिए इनकी बड़ी माँग रहती थी।

बस, अंग्रेजों ने भारत में फ्रान्सीसियों को हरा दिया और चन्द्रनगर व पाडिचेरी के फ्रान्सीसी शहरों को बिल्कुल तहस-नहस कर डाला। यह बर्बादी ऐसी हुई कि दोनों जगह एक भी मकान साबित न बचा। इस समय से फ्रान्सीसियों का भारत की रंगभूमि से हटना जारी हो गया, हालाँकि बाद में उन्हें पाडिचेरी और चन्द्रनगर फिर मिल गये और आज भी उनके कब्जे में हैं, लेकिन उनका महत्व कुछ नहीं है।[1]

इस जमाने में अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों का जंगी-मैदान सिर्फ भारत ही न था। यूरोप के अलावा वे कनाडा और दूसरी जगहों में भी लड़े। कनाडा में भी अंग्रेजों की जीत हुई। लेकिन थोड़े दिन बाद ही इंग्लैंड अमेरिका के उपनिवेशों से हाथ धो बैठा और फ्रान्स ने इन उपनिवेशों की मदद देकर अंग्रेजों से अपना बदला चुकाया। लेकिन इन सब बातों के बारे में हम आगे के किसी पत्र में विस्तार के साथ विचार करेंगे।

फ्रान्सीसियों को निकाल बाहर करने के बाद अंग्रेजों के रास्ते में और क्या रुकावटें रह गई थीं? पश्चिम में, मध्य-भारत में और कुछ हद तक उत्तर में भी मराठे तो थे ही। हैदराबाद का निज़ाम भी था। लेकिन उसकी ज्यादा बिसात नहीं थी। हाँ, दक्षिण में एक नया और शक्तिशाली दुश्मन हैदरअली था। वह पुराने विजयनगर-साम्राज्य के बचे-खुचे टुकड़ों का, जिनसे आजकल की मैसूर रियासत बन गई है, स्वामी बन बैठा। उत्तर में बंगाल सिराजुद्दौला नामक एक बिलकुल निकम्मे आदमी के मातहत था। दिल्ली का साम्राज्य तो, जैसा कि हम देख चुके हैं, एक खयाल-ही-खयाल रह गया था। लेकिन काफी मजेदार बात यह है कि १७५६ ई० तक, यानी नादिरशाह के हमले के बहुत बाद तक, जिसने केन्द्रीय सरकार की छाया तक मिटा दी थी, अंग्रेज लोग दिल्ली साम्राज्य को अपनी मातहती के

---

[1] सन् १९५४ में भारत की ये फ्रान्सीसी बस्तियाँ स्वतन्त्र भारत और फ्रान्स के आपसी सुलहनामे के अनुसार भारत के अधिकार में आ गई हैं।

चिह्न-रूप नज़राने भेंट करते रहे। तुम्हें याद होगा कि औरंगजेब के समय मे एक बार बगाल मे अग्रेज़ो ने सिर उठाने की कोशिश की थी। लेकिन वे बुरी तरह हारे थे और इस हार ने उनका दिमाग़ इतना ठडा कर दिया था कि दुबारा हिम्मत करने के लिए वे बहुत दिन तक आगा-पीछा सोचते रहे, हालांकि उत्तर की हालत तो मानो किसी पक्के इरादेवाले आदमी को खुला न्यौता दे रही थी।

क्लाइव नामक अग्रेज़, जिसकी उसके देशवासी एक महान् साम्राज्य-निर्माता की तरह तारीफ करते हैं, ऐसा ही पक्के इरादेवाला आदमी था। अपनी ज़ात से और अपने कारनामो से वह मिसाल पेश करता है कि साम्राज्य किस तरह खडे किये जाते हैं। वह बडा दिलेर, हौसलेबाज़ और हद दरजे का लालची था और अपने इरादे के सामने वह जालसाजी और धोखेबाज़ी से भी नही चूकता था। बगाल का नवाब सिराजुद्दौला, जो अग्रेज़ो की बहुत-सी कार्रवाइयो से चिढ गया था, अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से चढकर आया और उसने कलकत्ते पर कब्ज़ा कर लिया। 'काल-कोठरी' की कही जानेवाली दुखद घटना, कहते हैं, इसी समय हुई थी। किस्सा यो बताया जाता है कि नवाब के हाकिमो ने बहुत-से अग्रेज़ो को रात भर एक छोटी-सी और दम घोटनेवाली कोठरी मे बन्द कर दिया और उनमे बहुत-से आदमी दम घुटने से मर गये। यह हरकत बेशक जगली और दिल दहलानेवाली है, लेकिन यह सारा किस्सा एक ऐसे आदमी के बयान पर निर्भर है जो ज्यादा भरोसे के लायक नही माना जाता। इसलिए बहुत-से लोगो का खयाल है कि यह सारा किस्सा ज्यादातर झूठा है और कम-से-कम बढा-चढाकर बनाया हुआ तो ज़रूर है।

नवाब ने कलकत्ते पर कब्ज़ा करके जो कामयाबी हासिल की उसका बदला क्लाइव ने ले लिया। लेकिन इसके लिए इस साम्राज्य-निर्माता ने नवाब के वज़ीर मीर जाफर को गद्दारी करने के लिए घूस देकर और एक जाली दस्तावेज़, जिसका किस्सा बहुत लम्बा है, बनाकर अपने ही ढंग से काम किया। जालसाज़ी और धोखेबाज़ी के ज़रिये रास्ता साफ करके क्लाइव ने १७५७ ई० मे नवाब को पलासी की लडाई मे हरा दिया। जैसी लडाइयां हुआ करती हैं, उनके मुकाबले मे यह लडाई छोटी थी, और इसे तो क्लाइव ने असल में अपनी साज़िशो से, लडाई शुरू होने के पहले ही, करीब-क़रीब जीत लिया था। लेकिन पलासी की इस छोटी-सी लडाई का नतीजा बहुत बडा निकला। इसने बगाल के भाग्य का फैसला कर दिया। भारत मे ब्रिटिश राज्य की शुरुआत अक्सर पलासी से ही मानी जाती है। छल-कपट और जालसाज़ी की इस गन्दी नीव पर भारत मे ब्रिटिश-साम्राज्य की इमारत खडी हुई। लेकिन सब साम्राज्यो और साम्राज्य-निर्माताओ का करीब-करीब यही ढंग होता है।

भाग्यचक्र के इस अचानक परिवर्तन ने बगाल के हौसलेबाज़ और लालची

अंग्रेजो का दिमाग आसमान पर चढा दिया। वे बगाल के स्वामी बन बैठे और उनके हाथ रोकनेवाला कोई न रहा। बस, क्लाइव की सरदारी मे उन्होंने बगाल के खजाने पर हाथ मारना शुरू किया और उसे बिलकुल खाली कर डाला। क्लाइव ने क़रीब २५ लाख रुपये नकद अपनी नज़र किये और इतने पर भी सन्तोष न करके कई लाख रुपये साल की आमदनी की बडी कीमती जागीर भी हड़प कर ली। बाकी के सब अंग्रेजो ने भी इसी तरह अपना 'हर्जाना वसूल किया'। दौलत के लिए बडी शर्मनाक छीना-झपटी मची और ईस्ट इडिया कपनी के कर्मचारियो का लालच और अविवेक तो सब मर्यादाओ को पार कर गये। अंग्रेज लोग बगाल के नवाब-विधाता बन गये और अपनी मर्ज़ी के माफिक नवाबो को बदलने लगे। हरेक परिवर्तन के साथ घूस और भारी-भारी नज़राने चलते थे। शासन की जिम्मेदारी उनपर न थी, यह तो बेचारे बदलते हुए नवाब का काम था। उनका काम तो था जल्दी-से-जल्दी मालदार बन जाना।

कुछ वर्ष बाद, १७६४ ई० मे, अंग्रेजो ने बक्सर मे एक और लडाई जीती। इसका नतीजा यह हुआ कि दिल्ली के नाम के बादशाह ने भी उनकी मातहती क़बूल करली। उन्होंने उसे पेन्शन दे दी। अब बगाल और बिहार मे अंग्रेजो के प्रभुत्व को चुनौती देनेवाला कोई न रहा। देश से जो अपार धन वे लूट रहे थे, उससे उनको सन्तोष न हुआ और उन्होंने रुपया बटोरने के नये-नये तरीके निकालने शुरू किये। देश के अन्दरूनी व्यापार से उनको कुछ लेना-देना नही था। लेकिन अब वे उन ज़कातो को, जो देशी माल के व्यापारियो को देनी पडती थी, दिये बिना ही व्यापार करने पर उतारू हो गये। भारत की कारीगरी और व्यापार पर अंग्रेजो की यह पहली चोट थी।

उत्तर भारत मे अंग्रेजो की हैसियत अब ऐसी हो गई थी कि शक्ति और दौलत तो उनके हाथ मे थी, लेकिन जिम्मेदारी उनपर कुछ भी न थी। ईस्ट इडिया कपनी के व्यापारी-लुटेरो को यह पता लगाने की जरूरत न थी कि ईमानदारी के व्यापार, बेईमानी के व्यापार, और खुल्लम-खुल्ला लूट-मार मे क्या फर्क है। ये वे दिन थे जब अंग्रेज लोग भारत से मालामाल होकर इग्लैण्ड लौटते थे और 'नवाब' कहलाते थे। अगर तुमने थैकरे[1] का 'वैनिटी फेयर' पढा है तो उसमे आये हुए ऐसे ही एक घमण्डी आदमी का तुमको खयाल होगा।

राजनीतिक जोखिम और गडबडें, वर्षा की कमी, और अंग्रेजो की हडपने की नीति, इन सबका नतीजा यह हुआ कि १७७० ई० मे बगाल और बिहार मे एक बडा भयकर अकाल पडा। कहा जाता है कि इन इलाको की एक-तिहाई से ज्यादा आबादी खतम हो गई। इस दिल दहलानेवाली सख्या का खयाल तो

[1] विलियम मेकपीस थैकरे—इंग्लैण्ड का मशहूर उपन्यासकार।

करो ! कितने लाख आदमी भूख से तडप-तडपकर मर गये ! इलाके-के-इलाके वीरान हो गये और वहां जगल पैदा हो गये, जिन्होने उपजाऊ खेतो और गांवो को ढक दिया। भूख से मरनेवालो की मदद के लिए किसीने कुछ नही किया। नवाब के पास न तो ताकत थी, न सत्ता और न इरादा। ईस्ट इडिया कम्पनी के पास ताकत और सत्ता तो थी, लेकिन वे कोई ज़िम्मेदारी या इरादा महसूस नही करते थे। उनका काम तो रुपया इकट्ठा करना और मालगुज़ारी वसूल करना था और उन्होने यह काम अपनी जेबें भरने के लिए इतनी काबलियत और खूबी के साथ किया कि तुम्हे ताज्जुब होगा कि भयकर अकाल और एक-तिहाई आबादी के नाश के बावजूद भी उन्होंने बचे हुए लोगो से मालगुज़ारी की पूरी रकम वसूल कर ली ! असल मे उन्होने तो मालगुज़ारी से भी ज्यादा वसूली करली और सरकारी रिपोर्ट मे कहा गया कि यह काम उन्होंने 'ज़ोर-ज़बर्दस्ती के साथ' किया। भयानक आफत से बचे हुए भूख से अधमरे और कम्बख्त लोगो से जो ज़बर्दस्ती और ज़ुल्म के साथ वसूली की गई, उसके वहशीपन को पूरी तरह खयाल मे लाना भी मुश्किल है।

बगाल मे फ्रान्सीसियो पर विजय के बावजूद दक्षिण मे अग्रेज़ो को बडी दिक्कतो का सामना करना पडा। आखिरी विजय मिलने से पहले उनको कई बार हारना और नीचा देखना पडा। मैसूर का हैदरअली उनका कट्टर दुश्मन था। वह एक कुशल और खूंख्वार सेनानायक था और उसने अग्रेजी फौजो को बार-बार हराया। १७६९ ई० मे उसने ठेठ मद्रास के किले के नीचे अपने माफिक़ सुलह की शर्तें लिखवा ली। दस साल बाद उसे फिर बहुत हद तक सफलता मिली और उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र टीपू सुलतान अग्रेज़ो की राह का काटा बन गया। टीपू को पूरी तौर पर हराने मे मैसूर के दो युद्ध और हुए और कई साल लग गये। फिर मौजूदा मैसूर महाराजा का एक पुरखा अग्रेज़ो की छत्रछाया मे राजा की गद्दी पर बिठलाया गया।

१७८२ ई० मे दक्षिण मे मराठो ने भी अग्रेज़ो को हराया। उत्तर मे ग्वालियर के सिन्धिया का दबदबा था और दिल्ली का बेचारा अभागा सम्राट् उसकी मुट्ठी मे था।

इसी अर्से मे इग्लैण्ड से वॉरन हेस्टिंग्ज़ भेजा गया। वह यहां का पहला गवर्नर जनरल हुआ। ब्रिटिश पार्लमेंट अब भारत के मामलो मे दिलचस्पी लेने लगी। हेस्टिंग्ज़ भारत के अग्रेज शासको मे सबसे बडा माना जाता है, लेकिन उसके समय मे भी सरकारी इन्तज़ाम बहुत भ्रष्ट और बुराइयो से भरा हुआ मशहूर था। हेस्टिंग्ज़ की बहुत-सा रुपया ऐंठने की कई मिसालें मशहूर हो चुकी हैं। जब हेस्टिंग्ज़ इग्लैण्ड लौटा तो भारत के प्रशासन के बारे मे पार्लमेंट के सामने उसपर

इल्जाम लगाया गया, लेकिन बहुत दिन मुकदमा चलने के बाद वह बरी कर दिया गया। इससे पहले पार्लमेंट ने क्लाइव की भी निन्दा की थी और इसपर उसने तो सच-मुच आत्महत्या ही कर ली। इस तरह इन लोगों की निन्दा करके या इनपर मुकदमे चलाकर इंग्लैंड ने अपने मन को समझा लिया, लेकिन दिल-ही-दिल में वह इनकी कद्र करता था और इनकी नीति से फायदा उठाने के लिए हरदम तैयार था। क्लाइव और हेस्टिंग्ज की भले ही निन्दा की गई हो लेकिन ये लोग साम्राज्य-निर्माताओं के नमूने हैं, और जबतक गुलाम लोगों पर जबर्दस्ती साम्राज्य लादे जायँगे और उनका निचोड़ा जायगा, तबतक ऐसे लोग आगे आवेंगे और कद्र हासिल करेंगे। शोषण के तरीके अलग-अलग युगों में भले ही बदलते रहे, लेकिन भावना वही रहती है। ब्रिटिश पार्लमेंट ने क्लाइव की निन्दा भले ही की हो, लेकिन इन लोगों ने लन्दन के व्हाइट हाल[1] में इंडिया ऑफिस[2] के सामने ही, उसकी एक मूर्ति खड़ी कर रक्खी है, इंडिया ऑफिस के भीतर उसकी आत्मा आज तक निवास करती है और भारत में अंग्रेजों की नीति को ढालती है।

हेस्टिंग्ज ने अंग्रेजों के अँगूठे के नीचे भारतीय राजाओं को कठपुतलियों की तरह रखने की नीति शुरू की। आगे तड़क-भड़क व खाली दिमागवाले जो ढेरों महाराजा और नवाब भारत के रंगमंच पर अकड़ते फिर रहे हैं और अपने-आपको नफरत की चीज बना रहे हैं, उनके लिए हमें हेस्टिंग्ज की कुछ याद देनी चाहिए।

भारत में जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्य बढ़ा वैसे-ही-वैसे मराठों, अफगानों, सिक्खों, बरमियों, वगैरा से बहुत-से युद्ध हुए। लेकिन इन युद्धों के बारे में निराली बात यह थी कि हालाँकि ये इंग्लैण्ड के फायदे के लिए लड़े जाते थे, लेकिन इनका खर्चा भारत के सिर पड़ता था। इंग्लैण्ड या इंग्लैण्ड के निवासियों पर कोई बोझ नहीं पड़ता था। वे तो मजे से फायदा उठाते रहते थे।

याद रहे कि भारत पर ईस्ट इंडिया कम्पनी, जो एक व्यापारी कम्पनी थी, राज कर रही थी। ब्रिटिश पार्लमेंट का कब्जा बढ़ता जा रहा था, लेकिन भारत का भाग्य ज्यादातर व्यापारी मौका-परस्तों की एक मंडली के हाथों में था। शासन ज्यादातर व्यापार था और व्यापार ज्यादातर लूट था। इनके बीच में भेद की रेखा बड़ी बारीक थी। कम्पनी अपने हिस्सेदारों को हर साल १०० फी सदी, १५० फी सदी, और २०० फी सदी से ऊपर जबर्दस्त मुनाफे बाँटती थी। इसके अलावा भारत में उसके एजेंट अपने लिए अच्छी रकमें बना लेते थे, जैसा कि हम क्लाइव के मामले

[1] व्हाइट-हाल (White Hall) लन्दन का वह भाग है, जिसमें सरकारी दफ्तर हैं।

[2] इंडिया-ऑफिस—लंदन में भारत-सचिव का दफ्तर।

में देख चुके हैं। कम्पनी के कर्मचारी व्यापार के ठेके भी ले लेते थे और इस तरह बहुत जल्द बेशुमार दौलत बटोर लेते थे। भारत मे कम्पनी की हुकूमत इस तरह की थी।

## । ९३ ।

## चीन का एक महान् मंचू-शासक

१५ सितम्बर, १९३२

मैं बिलकुल घबरा गया हूं और मेरी समझ मे नही आता कि क्या करूं। बडी भयानक खबर यह आई है कि बापू ने अनशन करके जान दे देने का इरादा कर लिया है। मेरी छोटी-सी दुनिया, जिसमे उन्होने इतनी बडी जगह घेर रक्खी है, थरथरा रही है और लडखडा रही है, और मुझे चारो तरफ अंधेरा और सुनसान नज़र आ रहा है। एक साल से ज्यादा हुआ तब मैंने उनको उस जहाज़ के डेक पर खडे हुए देखा था, जो उन्हें भारत से दूर पश्चिम को ले जा रहा था—उसके बाद नही देखा, और उनकी वह तसवीर रह-रहकर मेरी आंखो के आगे आ जाती है। क्या उन्हे अब मैं दुबारा नही देखूंगा? जब मुझे शका होगी और नेक सलाह की ज़रूरत होगी या जब मैं मुसीबत और रज मे होऊंगा और मुझे प्यार-भरी तसल्ली की ज़रूरत होगी तब मैं किसके पास जाऊंगा? जब हमारा प्यारा सरदार, जिसने हमको प्रेरणा दी है और जो हमारा रहनुमा रहा है, चला जायगा तो हम सब क्या करेंगे? हाय! भारत एक बदकिस्मत देश है, जो अपने महान् पुरुषो को इस तरह मरने देता है, और भारत के लोग गुलाम हैं और उनके दिमाग भी गुलामी के-से हैं, जो खुद आज़ादी को तो भूल बैठे है और ज़रा-ज़रा-सी न-कुछ बातो पर झगडे-टटे करते रहते हैं।

मेरी तबीयत लिखने को बिलकुल नही कर रही है और मैंने तो पत्रो के इस सिलसिले को खत्म तक कर देने का विचार किया है। लेकिन यह एक बेवकूफी की बात होगी। इस कोठरी मे पडा-पडा मैं क्या कर सकता हूँ, सिवाय इसके कि पढ़ूं, लिखूं और विचार करूं? और जब मैं उकता जाता हूँ और परेशान हो जाता हूँ तो तुम्हारा खयाल करने और तुमको पत्र लिखने से ज्यादा तसल्ली मुझे और किस बात मे मिल सकती है? रज और आँसू इस दुनिया मे कोई अच्छे साथी नहीं हैं। बुद्ध ने कहा है कि "सागर मे जितना पानी है, उससे भी ज्यादा आंसू बह चुके हैं", और कमबख्त दुनिया जबतक ठीक-ठिकाने पर आवेगी तबतक न मालूम कितने आँसू और बहाये जायंगे। हमारा कर्तव्य अभी तक हमारे सामने पडा है। एक बडा काम हमको अब भी बुला रहा है, और जबतक वह काम पूरा न हो जाय तबतक हमको या हमारे पीछे आनेवालो को चैन नही मिल सकता। इसलिए

मैंने अपने मामूली ढर्रे को जारी रखने का इरादा कर लिया है और मैं पहले की तरह ही तुमको पत्र लिखता रहूँगा।

मेरे आखिरी कुछ पत्र भारत के बारे मे थे और जो बयान मैंने लिखा है उसका पिछला हिस्सा कुछ नसीहत देनेवाला नही है। भारत चारो खाने चित्त पडा था और हरेक लुटेरे और ले-भग्गू का शिकार हो रहा था। पूर्व मे उसके महान् भाई चीन की हालत इससे बहुत अच्छी थी और अब हमे चीन की तरफ ही चलना चाहिए।

तुम्हे याद होगा कि मैंने तुमको मिङ-काल के खुशहाल दिनो का हाल लिखा था और यह बतलाया था कि किस तरह उसमे खराबियाँ और फूट घुस गईं और चीन के उत्तरी पडौसी मचुओ ने हमला करके उसे जीत लिया। १६५० ई० से आगे के वर्षों मे सारे चीन मे मचू लोगो के कदम मजबूती के साथ जम गये। इस आधे-विदेशी राजवश के मातहत चीन मजबूत हो गया और दूसरो पर हमले तक करने लगा। मचू लोग एक नई स्फूर्ति लेकर आये, और जहाँ एक ओर वे चीन के घरू मामलो मे कम-से-कम रुकावटें डालते थे, वहाँ वे अपनी फालतू शक्ति को उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की तरफ अपना साम्राज्य बढाने मे खर्च करते थे।

नया राजवश शुरू-शुरू मे अक्सर कुछ समर्थ शासक पैदा करता है और बाद मे धीरे-धीरे नालायको मे उसका अन्त हो जाता है। इसी तरह मचुओ में भी कुछ असाधारण योग्यतावाले और लायक शासक और राजनीतिक पैदा हुए। काङ-ही दूसरा सम्राट हुआ। जब यह गद्दी पर बैठा तो इसकी उम्र सिर्फ आठ वर्ष की थी। इकसठ वर्षों तक वह ऐसे साम्राज्य का बादशाह रहा, जो अपने जमाने की दुनिया के किसी भी साम्राज्य से बडा और ज्यादा आबाद था। लेकिन इतिहास मे उसने जो जगह हासिल की है, वह न तो इस वजह से है, और न उसकी सिपाहियाना बहादुरी की वजह से। उसका नाम इसलिए अमर हुआ है कि वह एक राजनीतिज्ञ था और साहित्य मे खास रुचि लेता था। वह १६६१ से १७२२ ई० तक सम्राट् रहा, यानी चौव्वन वर्ष तक वह फ्रान्स के महान सम्राट चौदहवे लुई का समकालीन रहा। इन दोनो ने बहुत ही लम्बे अर्से तक राज किया, और रेकार्ड कायम करने की इस दौड मे बहत्तर वर्ष राज्य करके लुई ने बाजी मार ली। इन दोनो की तुलना एक दिलचस्प चीज है। लेकिन यह तुलना सब तरह से लुई को ही नीचे गिरानेवाली है। उसने अपने देश का सत्यानाश कर दिया और भारी कर्जों का बोझ उसके सिर पर लादकर उसे बिलकुल कमजोर बना दिया। मजहबी मामलो मे भी वह उदार नही था। काङ-ही कन्फ्यूशियस का पक्का अनुयायी था, लेकिन वह दूसरे मजहबो की तरफ उदार था। उसके राज मे, और असल मे पहले चार मचू सम्राटो के राज मे, मिङ-सस्कृति से कोई छेड-छाड नही की गई। उसका ऊंचा

आदर्श बना रहा और कुछ हद तक तो उसमे तरक्की भी हुई। उद्योग-धन्धे, कला-कौशल, साहित्य और शिक्षा उसी तरह फूलते-फलते रहे जैसे कि मिंडो के जमाने मे। चीनी मिट्टी के अद्भुत बरतनो का बनना जारी रहा। रगीन छपाई का आविष्कार हुआ और ताम्बे पर नक्काशी का काम जेजुइट लोगो से सीखा गया।

मचू शासको की नीतिकुशलता और सफलता का भेद इस बात मे था कि वे चीन की सस्कृति के पूरे हामी बन गये थे। चीन के विचारो और सस्कृति को अपनाकर भी उन्होंने कम सभ्य मचुओ की शक्ति और क्रियाशीलता को खोया नहीं। इस तरह मे काङ-ही एक असाधारण और अजीव खिचडी था, यानी दर्शन और साहित्य को लगन के साथ अध्ययन करनेवाला, सस्कृति की हलचलो मे डूबा हुआ और साथ ही कुशल सेनानायक, जिसे मुल्क जीतने का जरा ज्यादा शौक था। वह साहित्य और कला-कौशल का कोई नया शौकीन या दिखाऊ प्रेमी न था। उसकी गहरी दिलचस्पी और विद्वत्ता का कुछ अन्दाजा तुम उसके साहित्य से ताल्लुक रखनेवाले कामो में नीचे लिखी तीन रचनाओ से लगा सकती हो, जो उसकी सलाह से और ज्यादातर खुद उसी की देखरेख मे तैयार की गई थी।

तुम्हे याद होगा कि चीनी भाषा मे चिह्न हैं; शब्द नही। काङ-ही ने चीनी भाषा का एक कोश (डिक्शनरी) तैयार करवाया। यह एक जबर्दस्त ग्रथ था जिसमे चालीस हजार से ज्यादा चिह्न थे और उनका इस्तेमाल बतलानेवाले कितने ही फिकरे थे। आज तक भी उसकी जोड का कोई ग्रथ नही है।

काङ-ही के उत्साह ने हमे जो एक और रचना दी, वह एक वडा भारी सचित्र विश्वकोश है, जो कई सौ जिल्दोवाला एक अद्भुत ग्रथ है। यह एक पूरा पुस्तकालय था, इसमे हरेक बात को लिया गया था, हरेक विषय पर विचार किया गया था। काङ-ही की मृत्यु के बाद यह ग्रन्थ ताम्बे के ठप्पो से छापा गया।

महत्व की जिस तीसरी रचना का मैं यहाँ जिक्र करूंगा, वह थी सारे चीन के साहित्य का निचोड, यानी ऐसा कोश, जिसमे शब्दो को और पुस्तको के अशो को जमा किया गया और उनका मुकाबला किया गया था। यह भी एक असाधारण काम था, क्योंकि इसके लिए सारे चीनी साहित्य का गहरा अध्ययन जरूरी था। कवियो, इतिहास-लेखको और निवन्ध-लेखको की रचनाओ की पूरी-पूरी इबारतें इसमे दी गई थीं।

काङ-ही ने साहित्य के मैदान मे और भी कितने ही काम किये। लेकिन किसी पर भी छाप डालने के लिए ये तीन ही काफी हैं। इनमे से किसी की भी टक्कर का ऐसा कोई आधुनिक ग्रथ मेरी निगाह मे नही आता, सिवाय उस बडी 'ऑक्सफोर्ड इग्लिश डिक्शनरी' के, जिसे बनाने मे कितने ही विद्वानो ने पचास वर्ष से ज्यादा मेहनत की और जो अभी कुछ ही वर्ष हुए पूरी हुई है।

काङ-ही ईसाई मजहब और ईसाई मिशनरियो की तरफ काफी झुका हुआ था। वह विदेशो के साथ व्यापार को बढावा देता था और उसने चीन के सारे बन्दरगाह इसके लिए खोल दिए थे। लेकिन उसे जल्दी ही पता लग गया कि यूरोप के लोग बदमाशी करते है और उन पर पावन्दी लगाने की जरूरत है। उसे यह शक हो गया, जिसके लिए काफी सवूत थे, कि मिशनरी लोग चीन को आसानी से जीत लेने के लिए अपने-अपने देश की सरकारो के साम्राज्यवादियो के साथ साज़िशे कर रहे हैं। इससे उसे ईसाइयत की तरफ अपना उदार रवैया छोड देना पडा। वाद मे कैन्टन के चीनी फौजी अफसर से जो रिपोर्ट मिली, उससे उसके सन्देह मज़वूत हो गये। इस रिपोर्ट मे वतलाया गया था कि फिलिपाइन और जापान मे, यूरोप की सरकारो और उनके सौदागरो और मिशनरियो के बीच मे कितना नज़दीकी ताल्लुक था। इसलिए इस अफसर ने यह सिफारिश की थी कि वाहरी हमलो और विदेशियो की साज़िशो से साम्राज्य को वचाने के लिए विदेशी व्यापार पर पावन्दी लगाई जाय और ईसाइयत के प्रचार को वन्द किया जाय।

यह रिपोर्ट १७१७ ई० मे पेश की गई थी। पूर्वी देशो मे विदेशियो की साज़िशो पर और उनकी उन नीयतो पर यह काफी रोशनी डालती है, जिनकी वजह से इन देशो को विदेशी व्यापार और ईसाइयत के प्रचार पर पावन्दी लगानी पडी। तुम्हे शायद यह याद होगा कि जापान मे भी ऐसी ही घटना हुई थी, जिसकी वजह से इस देश को दूसरो के लिए वन्द कर दिया गया था। अक्सर यह कहा जाता है कि चीनी व दूसरे लोग पिछडे हुए और जाहिल हैं और विदेशियो से नफरत करते हैं और उनकी तिज़ारत के रास्ते मे दिक्कतें पैदा करते हैं। लेकिन सच तो यह है कि हमने इतिहास का जो सिंहावलोकन किया है, उससे यह साफ ज़ाहिर हो जाता है कि वहुत पुराने ज़माने से भारत, चीन व दूसरे देशो के बीच खूब आवा-जाई होती थी। विदेशियो या विदेशी व्यापार से नफरत करने का तो कोई सवाल ही न था। सच तो यह है कि वहुत वर्षों तक तो विदेशी मडियो पर भारत का ही कब्जा रहा। जब विदेशी व्यापारियो के रिसाले खुल्लम-खुल्ला पश्चिमी यूरोप की शक्तियो के साम्राज्य को वढाने के काम मे लाये जाने लगे, तभी जाकर पूर्व में उनको सन्देह की नज़र से देखा जाने लगा।

कैन्टन के अफसर की रिपोर्ट को चीन की वडी राज्य परिषद् ने विचार करके मजूर कर लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि सम्राट् काङ-ही ने उसके मुताबिक़ कार्रवाई करके विदेशी व्यापार और पादरियो के प्रचार पर सख्त पावन्दी लगाने के हुक्म जारी कर दिये।

अब मैं थोडी देर के लिए खास चीन को छोडकर तुम्हे एशिया के उत्तर की ओर, यानी साइबेरिया, ले जाना चाहता हूँ और यह बतलाना चाहता हूँ कि यहाँ

क्या हो रहा था। साइबेरिया का लम्बा-चौडा मैदान सुदूर-पूर्व के चीन को पश्चिम के रूस से मिलाता है। मैं कह चुका हूँ कि चीन का मचू साम्राज्य बडा सरज़ोर था। इसमे मचूरिया तो शामिल था ही, लेकिन यह मगोलिया और उसके परे तक भी फैला हुआ था। सुनहरे कबीले के मगोलो को बाहर निकालकर रूस भी एक मज़बूत केन्द्रीय राज्य बन गया था और पूर्व मे साइबेरिया के मैदानो की तरफ बढ़ रहा था। ये दोनो साम्राज्य अब साइबेरिया मे आकर मिलते हैं।

एशिया मे मगोलो का तेजी के साथ कमज़ोर होकर गिर जाना इतिहास की एक अजीब घटना है। ये लोग, जिनका डंका सारे एशिया और यूरोप मे बजता था और जिन्होंने चगेज़खा और उसके वशजो के मातहत उस वक्त की दुनिया का ज्यादातर हिस्सा जीत लिया था, बिलकुल भुला दिये गए। तैमूर के ज़माने मे कुछ दिनो तक उन्होंने फिर सिर उठाया था, लेकिन उसका साम्राज्य उसीके साथ खत्म हो गया। उसके बाद उसके वश के कुछ लोग, जो तैमूरिया कहलाते थे, मध्य एशिया मे हुकूमत करते रहे और हमको मालूम है कि उनके दरबारो मे चित्रकला की एक मशहूर 'कलम का विकास हुआ। भारत मे आनेवाला बाबर तैमूरिया था। लेकिन इन तैमूरिया शासको के बजाय रूस से लगाकर अपनी जन्मभूमि मगोलिया तक सारे एशिया मे मगोल जाति गिरकर अपना सारा महत्व खो बैठी। उसने ऐसा क्यो किया, यह कोई नही बतला सकता। कुछ लोगो की राय है कि आबहवा का इसमे कुछ हाथ है, दूसरे लोगो की दूसरी राय है। जो कुछ भी हो, आज तो इन पुराने विजेताओ और हमलावरो पर खुद ही सब तरफ से हमले हो रहे हैं।

मगोल साम्राज्य के तहस-नहस हो जाने के बाद करीब-करीब दो सौ वर्षों तक एशिया मे होकर जानेवाले खुश्की के रास्ते बन्द रहे। सोलहवी सदी के पिछले हिस्से मे रूसियो ने ज़मीन के रास्ते चीन को राजदूत भेजे। उन्होंने मिङ-सम्राटो से राजनयिक सम्बन्ध कायम करने की कोशिश की, लेकिन कामयाब नही हुए। थोडे दिन बाद ही यरमक नामक एक रूसी डाकू ने कज्जाको के एक दस्ते का नायक बनकर यूराल पहाडो को लाँघा और सिबिर के छोटे-से राज्य को जीत लिया। साइबेरिया का नाम इसी राज्य के नाम से निकला है।

यह घटना १५८१ ई० की है। इस तारीख से रूसी लोग पूर्व की तरफ लगातार आगे ही बढते गये, यहाँ तक कि लगभग पचास वर्ष मे वे प्रशान्त महासागर तक पहुँच गये। जल्द ही आमूर की घाटी मे उनकी चीनियो से मुठभेड हुई। दोनो मे लडाई हुई, जिसमे रूसियो की हार हुई। १६८९ ई० मे दोनो देशो में नरखिन्स की सन्धि हुई। सरहदें तय कर दी गई और व्यापार के बारे मे समझौता किया गया। यूरोप के एक देश के साथ चीनियो की यह पहली सन्धि थी। इस सन्धि से

रूस का आगे बढना तो रुक गया, लेकिन कारखानो के व्यापार मे बडी भारी तरक्की हुई। उस जमाने मे महान् पीटर रूस का जार था और वह चीन से नजदीकी ताल्लुक कायम करना बहुत चाहता था। उसने काङ-ही के पास दो बार राजदूत भेजे और बाद मे चीन के दरबार मे एक स्थायी राजदूत मुकर्रर कर दिया।

चीन मे तो बहुत पुराने जमाने से ही विदेशी राजदूत आते रहते थे। शायद मैं किसी पत्र मे जिक्र कर चुका हूँ कि रोमन सम्राट् मार्क ऑरेलो एन्तोनिन ने ईसा के बाद दूसरी सदी मे एक राजदूत-मडल भेजा था। यह भी दिलचस्पी की बात है कि जब १६५६ ई० मे हालैण्ड और रूस के राजदूत-मडल चीन के दरबार मे पहुचे तो वहाँ उन्होने महान् मुगल के राजदूत देखे। ये जरूर शाहजहाँ के भेजे हुए होगे।

## ९४

# चीनी सम्राट् का अग्रेज बादशाह को पत्र

१६ सितम्बर, १९३२

मालूम होता है कि मचू सम्राट् गैरमामूली तौर पर लम्बी उम्रवाले होते थे। काङ-ही का पोता चियन-लङ चौथा सम्राट् हुआ। इसने भी १७३६ से १७९६ ई० तक, यानी साठ वर्ष के बहुत ही लम्बे अर्से तक राज किया। दूसरी बातो मे भी यह अपने दादा के ही समान था। इसकी भी खास दिलचस्पी दो बातो मे थी, साहित्य के काम और साम्राज्य का विस्तार। इसने रक्षा करने लायक साहित्य के सब ग्रथो की बडी भारी खोज करवाई। इनको इकट्ठा किया गया और बडी तफसील के साथ इनका सूचीपत्र बनाया गया। इसके लिए सूचीपत्र शब्द मौजूं नही है, क्योकि हरेक ग्रथ के बारे मे जितनी भी बातें मालूम हो सकी, वे सब लिखी गई और साथ ही उनपर आलोचना की टिप्पणियाँ भी जोड दी गई। शाही पुस्तकालय का यह बडा तफसीली सूचीपत्र चार हिस्सो मे था—प्राचीन ग्रन्थ यानी कन्फ्यूशियन मत के ग्रथ, इतिहास, दर्शन और सामान्य साहित्य। कहा जाता है कि इस जोड का ग्रथ दुनिया मे और कही नही है।

इसी जमाने मे चीनी उपन्यासो, छोटी कहानियो और नाटको का विकास हुआ और ये बडे ऊंचे दर्जे तक जा पहुंचे। यह बात ध्यान देने लायक है कि उन दिनो इग्लैण्ड मे भी उपन्यास का विकास हो रहा था। चीनी के बरतनो और चीनी कला की दूसरी नफीस चीजो की यूरोप मे माँग थी और इसकी तिजारत का ताँता बन्ध रहा था। चाय के व्यापार की शुरुआत और भी दिलचस्प है। यह प्रथम मचू सम्राट् के जमाने मे शुरू हुआ। इग्लैण्ड मे चाय शायद चार्ल्स द्वितीय के जमाने मे पहुंची। अंग्रेजी के मशहूर डायरी-लेखक सेम्युएल पेपीज की डायरी मे

चिन-लुंग का साम्राज्य १७९६ ई०
मंगोलिया
तुर्किस्तान
तिब्बत
हिमालय
भारतवर्ष
चीन की दीवार
पीकिंग
चीन
नानकिंग
फूचो
कैन्टन
कोरिया
जापान
बर्मा
स्याम
अनाम
अधीन राज्य
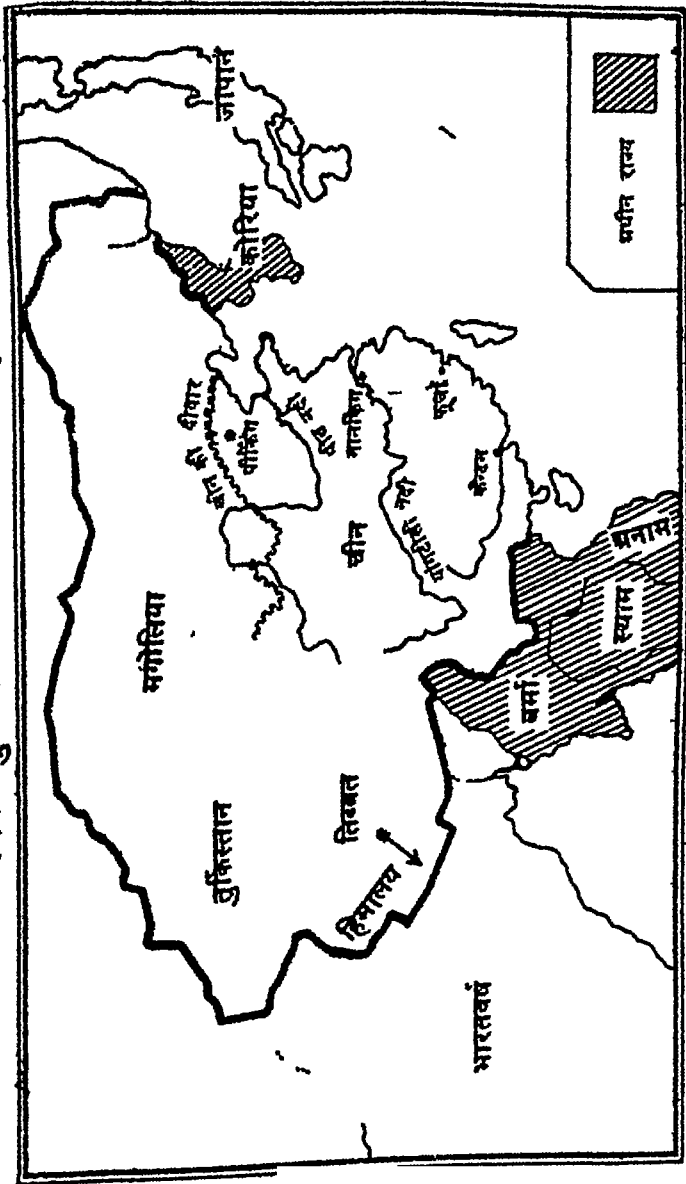
१६६० ई० में सबसे पहले 'टी' (एक चीनी पेय) पीने के बारे में एक इन्दिराज है। चाय के व्यापार में बड़ी जबर्दस्त तरक्की हुई और दो सौ वर्ष बाद, १८६० ई० में, अकेले फूचू नामक चीनी बन्दरगाह से, एक मौसम में, दस करोड़ पौंड चाय बाहर भेजी गई। बाद में दूसरी जगहों में भी चाय की खेती होने लगी, और जैसा कि तुमको मालूम है, आजकल भारत और लंका में चाय बहुतायत से पैदा होती है।

चियन-लुङ ने मध्य एशिया में तुर्किस्तान को जीतकर और तिब्बत पर कब्जा करके अपना साम्राज्य बढ़ाया। कुछ वर्ष बाद, १७९० ई०, में, नेपाल के गुरखों ने तिब्बत पर चढ़ाई की। इस पर चियन-लुङ ने न केवल गुरखों को तिब्बत से ही मार भगाया बल्कि हिमालय के ऊपर होकर नेपाल तक उनका पीछा किया और नेपाल को चीनी साम्राज्य की ताबेदार रियासत बनने को मजबूर कर दिया। नेपाल पर यह विजय एक मार्के की सफलता है। चीन की फौज का तिब्बत और फिर हिमालय को लाँघना, और गुरखों जैसी लड़ाका कौम को, खास उन्हींके घर में हरा देना अचम्भे की बात है। सिर्फ बाईस वर्ष बाद, १८१४ ई० में ऐसी घटना हुई कि भारत के अंग्रेजों का नेपाल से झगड़ा हो गया। उन्होंने नेपाल को एक फौज भेजी, लेकिन उसे बड़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ा, हालाँकि उसे हिमालय नहीं लाँघना पड़ा था।

चियन-लुङ के शासन के आखिरी वर्ष में यानी १७९६ ई० में जो साम्राज्य सीधा उसके कब्जे में था, उसमें मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत और तुर्किस्तान शामिल थे। उसकी सत्ता को माननेवाली ताबेदार रियासतें थीं कोरिया, अनाम, स्याम और बरमा। लेकिन देश-विजय और सैनिक कीर्ति की लालसा बड़े खर्चीले खेल हैं। इसमें बड़ा भारी खर्च होता है और टैक्सों का भार बढ़ता जाता है। यह भार सबसे ज्यादा गरीबों पर ही पड़ता है। उस वक्त आर्थिक परिवर्तन भी हो रहे थे, जिससे असन्तोष की आग और भी बढ़ी। देशभर में राज्य के खिलाफ गुप्त समितियाँ कायम हो गईं। इटली की तरह चीन भी गुप्त समितियों के लिए काफी मशहूर रहा है। उनमें से कुछ के नाम भी मजेदार थे, जैसे श्वेत-कमल समिति, दैवी-न्याय समिति, श्वेत-पंख समिति, स्वर्ग और पृथ्वी समिति।

इस दौरान में सब तरह की पाबन्दियों के होते हुए भी विदेशी व्यापार बढ़ रहा था। पाबन्दियों के कारण विदेशी व्यापारियों में बड़ा भारी असन्तोष था। व्यापार का सबसे बड़ा हिस्सा ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में था, जिसने कैन्टन तक पैर फैला रक्खे थे, इसलिए पाबन्दियाँ सबसे ज्यादा इसी को अखरती थीं। जैसा कि हम आगे के पत्रों में देखेंगे, यह जमाना वह था, जबकि औद्योगिक क्रान्ति के नाम से पुकारी जानेवाली क्रान्ति शुरू हो रही थी और इंग्लैण्ड इसका

अगुआ बन रहा था। भाप का इजन ईजाद हो चुका था और नये तरीको और मशीनो के इस्तेमाल से काम आसान होरहा था और पैदावार बढ रही थी—खासकर सूती माल की। यह जो फालतू माल बन रहा था, उसका बिकना भी ज़रूरी था, इसलिए नई-नई मण्डियां तलाश की जाती थी। इग्लैण्ड बडा खुशकिस्मत था कि ठीक इसी वक्त भारत उसके कब्ज़े मे था, जिससे वह यहां अपने माल को ज़बर्दस्ती बिकवाने का इन्तज़ाम कर सकता था, जैसाकि उसने असल मे किया भी, लेकिन वह चीन के व्यापार को भी हथियाना चाहता था।

इसलिए १७९२ ई० मे ब्रिटिश सरकार ने लार्ड मैकार्टनी के नेतृत्व मे एक राजदूत-मडल पेकिंग भेजा। उस समय जार्ज तृतीय इग्लैण्ड का बादशाह था। चियन-लुङ ने राजदूतो को दरबार मे मुलाकात के लिए बुलाया और दोनो ओर से नज़राने दिये-लिये गए। लेकिन सम्राट् ने विदेशी व्यापार पर लगी हुई पुरानी पाबन्दियो मे कुछ भी हेर-फेर करने से इन्कार कर दिया। चियन-लुङ ने जो जवाब तीसरे जार्ज को भेजा था, वह बडा मजेदार खरीता है और मैं उसमे से एक लम्बा हिस्सा यहां देता हूं। उसमे लिखा है

> " ऐ बादशाह, तू बहुत-से समुद्रो की सीमाओ से परे रहता है, फिर भी हमारी सभ्यता से कुछ फायदा उठाने की विनीत इच्छा से मजबूर होकर तूने एक राजदूत-मडल भेजा है, जो अदब के साथ तेरी अर्ज़ी लेकर आया है । अपनी भक्ति का सबूत देने के लिए तूने अपने देश की बनी हुई चीज़े भी सौग़ात मे भेजी हैं। मैंने तेरी अर्ज़ी को पढा है। जिन हार्दिक शब्दो मे वह ढाली गई है उनसे तेरी आदर-भरी नम्रता ज़ाहिर होती है जो बहुत ज्यादा तारीफ के लायक है। . .
>
> "सारी दुनिया पर राज करनेवाला होते हुए भी मेरी निगाह मे सिर्फ एक ही लक्ष्य है, यानी बेदाग शासन कायम रखना और राज्य के कर्त्तव्यो को निभाना, अजीब और बेशकीमती चीजो से मुझे दिलचस्पी नही है। मुझे तेरे देश की बनी हुई चीजो की ज़रूरत नही है। ऐ बादशाह, तुझे मुनासिब है कि मेरी भावनाओ का आदर करे और भविष्य मे इससे भी ज्यादा भक्ति और वफादारी दिखलावे, ताकि तू सदा हमारे सिहासन की छत्रछाया मे रहकर अपने देश के लिए आगे को अमन और खुशहाली हासिल कर सके। . .
>
> "डर से कांपते हुए हुक्म बजा, और लापरवाही मत कर।"

तीसरे जार्ज और उसके मन्त्रियो ने जब यह उत्तर पढा होगा तो वे ज़रा सकते मे आ गये होंगे। लेकिन ऊंची सभ्यता मे जो पक्का विश्वास और शक्ति

का जो बड़प्पन इस जवाब मे झलकता है, उनका आधार असल मे टिकाऊ न था। मचू सरकार मजबूत दिखलाई पडती थी और लिन-लुङ के अधीन वह मजबूत थी भी। लेकिन बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था उसकी नीव को खोखला कर रही थी। जिन गुप्त समितियो का मैंने जिक्र किया है, वे इसी असन्तोष को बतलानेवाली थी। असली दिक्कत यह थी कि देश को इन नये आर्थिक परिवर्तनो के अनुकूल नही बनाया जा रहा था। दूसरी तरफ पश्चिम के देश इस नई व्यवस्था के अगुआ थे। वे बडी तेजी के साथ आगे बढ़ रहे थे और दिन-पर-दिन मजबूत होते जाते थे। सम्राट् चिनन-लुङ ने इग्लैण्ड के जार्ज तृतीय को जो बडा गर्वीला जवाब भेजा था उसके बाद सत्तर साल भी न बीतने पाये थे कि इग्लैण्ड और फ्रान्स ने चीन को नीचा दिखा दिया और उसके घमण्ड को धूल मे मिला दिया।

लेकिन चीन के बारे का यह किस्सा तो मैं अपने दूसरे पत्र मे बयान करूंगा। १७९६ ई० मे, चियन-लुङ की मृत्यु पर हम अठारहवी सदी के लगभग अन्त तक पहुंच जाते है। लेकिन इस सदी के खत्म होने मे पहले अमेरिका और यूरोप मे बहुत-सी असाधारण घटनाएँ हो चुकी थी। असल मे यूरोप मे होनेवाले युद्धो और झगडो के ही कारण लगभग पच्चीस वर्ष तक चीन मे यूरोप का दबाव कम रहा। इसलिए अगले पत्र मे हम यूरोप की तरफ रुख करेंगे और अठारहवी सदी के शुरू से कहानी का सिलसिला शुरू करेंगे। और भारत तथा चीन की घटनाओ से उसका मेल मिलावेंगे।

लेकिन इस पत्र को समाप्त करने के पहले मैं पूर्व मे रूस की प्रगति का हाल तुमको बतलाऊंगा। रूस और चीन के बीच १६८१ ई० की नरखिन्स की सन्धि के बाद करीब डेढ-सौ वर्ष तक पूर्व मे रूस का प्रभाव बढ़ता ही गया। १७२८ ई० में वितुस वेरिंग नामक एक डेनमार्क-निवासी कप्तान ने, जो रूस मे नौकर था, एशिया और अमेरिका को अलग करनेवाले जलडमरूमध्य की खोज की। शायद तुम जानती हो कि यह डमरूमध्य आज भी उसके नाम पर वेरिंग का जल-डमरूमध्य कहलाता है। वेरिंग समुद्र को पार करके अलास्का जा पहुँचा और उसे उसने रूसी इलाका घोषित कर दिया। अलास्का समूरो[1] के लिए बहुत मशहूर है, और चूंकि समूरी खालो की चीन मे बडी भारी मांग थी, इसलिए रूस और चीन के बीच समूरी खालो का एक खास व्यापार कायम हो गया। अठारहवी सदी के अन्त मे समूरी खालो वगैरा की मांग चीन मे इस कदर बढ़ गई कि रूस इनको कनाडा की हडसन खाडी से इग्लैण्ड के रास्ते मगवाकर, साइबेरिया मे बैकाल झील के पास

[1] समूर—अलास्का (उत्तरी अमेरिका) मे एक लोमड़ी होती है, जिसके बाल बहुत मुलायम होते हैं। इसकी खाल के गुलूबन्द बनते हैं, जो बड़े क़ीमती होते हैं। अंग्रेजी में समूर के बालों को फर (Fur) कहते हैं।

कियाख्ता की समूरी खालो की बडी भारी मडी को भेजने लगा। ये समूरी खालें कितनी ज़बर्दस्त यात्रा करके आती थी।

ज़रा परिवर्तन के लिए यह पत्र इस तरह के मेरे ज्यादातर पत्रो से छोटा है। मुझे उम्मीद है कि यह परिवर्तन तुम पसन्द करोगी।

: ९५ :

## अठारहवीं सदी के यूरोप में विचारों की लड़ाई

१० सितम्बर, १९३२

अब हम वापस यूरोप की तरफ चलेंगे और उसके बदलते हुए भाग्य पर गौर करेंगे। यह उन ज़बर्दस्त परिवर्तनो की शुरुआत का वक्त है, जिनका असर ससार के इतिहास पर पडा। इन परिवर्तनो को समझने के लिए हमको भीतरी तहो मे झाकना पडेगा और यह जानने की कोशिश करनी पडेगी कि लोगो के दिमाग़ मे क्या-क्या बाते चक्कर लगा रही थी। क्योकि जो कुछ क्रिया हमको दिखलाई पडती है, वह विचारो और आवेशो, निजी भावनाओ और अन्ध-विश्वासो, उम्मीदों और दहशतो की गुत्थी का नतीजा होती है, और जबतक कि हम किसी क्रिया के साथ-साथ उसके कारणो पर विचार न करें तबतक अकेले उसे समझना मुश्किल हो जाता है। लेकिन यह आसान नही है, और अगर मैं इतिहास की खास-खास घटनाओ को ढालनेवाले इन कारणो और प्रेरक ताकतो पर ठीक तौर से लिखने लायक भी होऊँ, तो भी मैं यह कभी न चाहूँगा कि इन पत्रो को और भी ज्यादा नीरस और बोझिल बना दूं। मुझे डर रहता है कि कभी-कभी किसी विषय के बारे में, या किसी नजरिये के बारे मे अपने जोश मे मैं ज़रूरत से ज्यादा गहराई मे न पहुँच जाऊँ। लेकिन मैं लाचार हूँ। तुम्हे यह बर्दाश्त करना पडेगा। फिर भी हम इन कारणो की ज्यादा गहराई मे नही जा सकते। लेकिन इनको छोड देना भी परले सिरे की बेवकूफी होगी, और अगर हम ऐसा करें भी तो इतिहास की मोहिनी और महत्व को नही देख पायेंगे।

सोलहवी सदी मे और सत्रहवी सदी के पहले हिस्से मे यूरोप मे जो उथल-पुथल और हलचलें मची उन पर हमने विचार कर लिया है। सत्रहवी सदी के बीच मे वैस्टफैलिया की सन्धि हुई (१६४८ ई०), जिससे उस भीषण 'तीस साला युद्ध' का अन्त हो गया। एक साल बाद ही इग्लैण्ड का गृह-युद्ध खत्म हो गया और चार्ल्स प्रथम का सिर उडा दिया गया। इसके बाद कुछ-कुछ शान्ति के दिन आये। यूरोप का महाद्वीप बिलकुल पस्त हो गया था। अमेरिका के और दूसरी जगहो के उपनिवेशो के साथ व्यापार से यूरोप मे धन आने लगा, जिससे कुछ राहत मिली और वर्गों की आपसी तनातनी कम हुई।

इग्लैण्ड मे ऐसी विना हिंसा की क्रान्ति हुई कि जिसने दूसरे जेम्स को निकाल बाहर किया और पार्लमेण्ट को विजयी बना दिया (१६८८ ई०)। असली लड़ाई तो पार्लमेण्ट ने चार्ल्स प्रथम के खिलाफ गृह-युद्ध मे जीती थी। इस अहिंसक क्रान्ति ने तो खाली उसी फैसले पर मुहर लगा दी, जो चालीस साल पहले तलवार के जोर से हासिल हुआ था।

इस तरह इग्लैण्ड मे बादशाह का महत्व कम हो गया। लेकिन यूरोप मे, सिवाय स्वीजरलैण्ड और हालैण्ड-जैसे कुछ छोटे-छोटे इलाको में हालत इससे उलटी थी। वहां तो अभी निरकुश और मनमौजी राजाओ का बोलबाला था और फ्रान्स के महान् बादशाह चौदहवें लुई को नमूना व आदर्श मानकर उसकी नकल की जाती थी। यूरोप मे सत्रहवी सदी करीब-करीब चौदहवें लुई की ही सदी थी। यूरोप के राजा लोग पूरी शान-शौकत व दौलतमन्दी व बेवकूफी के साथ निरकुशता का खेल खेल रहे थे, आगे आनेवाले बुरे नतीजे की उनको कोई फिक्र न थी, और न इग्लैण्ड के चार्ल्स प्रथम पर जो बीती उससे ही नसीहत लेना चाहते थे। उनका दावा था कि देश की सारी सत्ता और सारी दौलत उनकी ही है और देश तो मानो उनकी निजी जागीर है। चार सौ साल से ज्यादा हुए तब हालैण्ड के इरैस्मस नामक एक विद्वान् ने लिखा था

> "बुद्धिमानो को तमाम चिड़ियो मे एक ईगल ही बादशाह का नमूना नजर आया है, जो न तो सुन्दर है, न सुरीला, न खाने लायक, बल्कि मुर्दा-खोर, भुक्खड़, सबकी घृणा का पात्र, सबकी लानत का पात्र और नुकसान पहुंचाने की बहुत बड़ी ताकत रखनेवाला, बल्कि नुकसान पहुंचाने की इच्छा मे सबसे बढकर है।"

आज बादशाहो का करीब-करीब लोप हो चुका है और जो बचे हैं, वे कुछ पुराने जमाने के बचे-खुचे चिह्न हैं, उनके हाथ मे कुछ भी ताकत नही है। अब हम उनको दरगुजर कर सकते हैं। लेकिन उनकी जगह दूसरे और उनसे भी ज्यादा खतरनाक आदमियो ने ले ली है। और नये युग के इन लोहे, तेल, चादी व सोने के साम्राज्यवादी बादशाहो का सही चिह्न अब भी ईगल ही है।

यूरोप की बादशाहतें मजबूत केन्द्रीय सत्तावाले राज्य बन गये। सरदार और असामी के पुराने सामन्तशाही विचार खत्म हो चुके थे, या हो रहे थे। देश एक इकाई और एक हस्ती है—यह नया खयाल इसकी जगह ले रहा था। रिशेल्यू और मैज़ारिन नामक दो बहुत योग्य मन्त्रियो के समय मे फ्रान्स इसका अगुआ बना। इस तरह राष्ट्रीयता का और कुछ हद तक देशभक्ति का उदय हुआ। मजहब, जो अभी तक मनुष्यो के जीवन का सबसे ज्यादा महत्ववाला तत्व

था, अब ओझल होने लगा और उसकी जगह नये विचारो ने ले ली, जैसा कि मैं इसी पत्र मे आगे चलकर बताऊँगा।

सत्रहवी सदी का इस वजह से और भी ज्यादा महत्व है कि उसमे आधुनिक विज्ञान की नीव पडी और सारी दुनिया की हाट बन गई। इस विशाल नई हाट ने कुदरती तौर पर यूरोप की पुरानी अर्थ-व्यवस्था को उलट दिया और इसके बाद यूरोप, एशिया और अमेरिका मे जो कुछ भी हुआ वह तभी समझ मे आ सकता है जब इस नई हाट को नज़र के सामने रक्खा जाय। बाद मे विज्ञान की तरक्की हुई और इसने इस ससार-व्यापी हाट की मांग को पूरा करने के साधन पैदा कर दिये।

अठारहवी सदी मे उपनिवेश और साम्राज्य बढाने की होड का, जो खासकर इग्लैण्ड और फ्रान्स के बीच चली, नतीजा यह हुआ कि न सिर्फ यूरोप मे ही बल्कि कनाडा, और जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, भारत मे भी, युद्ध छिड गये। सदी के बीच मे इन युद्धो के बाद फिर कुछ कम अशान्ति का जमाना आया। यूरोप की ऊपरी सतह शान्त और बे-हलचल नजर आने लगी। यूरोप के सारे शाही दरबार बहुत ही सभ्य, शाइस्ता और मजे हुए भद्र पुरुषो और महिलाओ से भरे थे। लेकिन यह शान्ति सिर्फ ऊपरी सतह पर थी। भीतर-ही-भीतर खलबली मच रही थी और नये विचारो व भावनाओ से लोगो के दिमाग परेशान और उथल-पुथल हो रहे थे, और दरबारो की लुभावनी मडली और ऊपर के वर्गों को छोडकर, बाकी के ज्यादातर लोगो को बढती हुई गरीबी की वजह से दिन-पर-दिन ज्यादा मुसीबतें झेलनी पड रही थी। इसीलिए अठारहवी सदी के पिछले हिस्से मे यूरोप मे जो शान्ति नज़र आती थी वह बडी धोखा देनेवाली थी, वह तो आनेवाले तूफान की सूचना देनेवाली थी। १७८९ ई० की १४वी जुलाई को यूरोप की सबसे बडी बादशाहत की राजधानी पेरिस मे तूफान की शुरुआत हुई। इस तूफान मे यह बादशाहत और सैकडो ही दूसरे पुराने और काई-लगे रिवाज और रियायतें बह गये।

इस तूफान की और बाद मे होनेवाले परिवर्तन की तैयारी फ्रान्स मे, और कुछ-कुछ यूरोप के दूसरे देशो में भी, बहुत दिनो सें नये विचारों के कारण हो चुकी थी। मध्य युगो के शुरू से अखीर तक यूरोप मे मज़हब का ही सबसे ज्यादा बोलबाला था। बाद मे रिफार्मेशन के ज़माने मे भी यही हालत रही। हरेक सवाल पर, चाहे वह राजनीतिक हो या आर्थिक, मज़हबी नज़रियेसे विचार किया जाता था। मज़हब एक सगठित चीज़ था और उसका अर्थ था पोप और ईसाई सघ के दूसरे ऊँचे अधिकारियो की मर्ज़ी। समाज का सगठन बहुत-कुछ ऐसा ही था, जैसा भारत मे जातियो का। शुरू मे जाति का मतलब था समाज का पेशो या क़ौमो के मुताबिक बँटवारा। मध्य युगो मे समाज के बारे मे लोगो के जो विचार

थे उनकी जड मे पेशो के मुताबिक समाजी वर्गो की यही भावना थी। हरेक वर्ग मे, भारत की हरेक जाति की तरह, बराबरी की भावना थी। लेकिन किन्ही दो या ज्यादा जातियो के बीच मे विषमता थी। समाज का सारा ढाँचा ही इस विषमता की नीव पर खडा था और कोई इसपर ऐतराज़ करनेवाला न था। इस व्यवस्था से जिनको तकलीफ होती थी, उनसे कहा जाता था कि "इसका इनाम तुमको स्वर्ग मे मिलेगा। इस तरह मजहव इस अन्यायी समाजी व्यवस्था को कायम रखने की कोशिश करता था और परलोक की बात करके लोगो का ध्यान इस तरफ से हटाने की कोशिश करता था। जो अमानतदार का उसूल कहलाता है, उसका भी प्रचार करता था, यानी यह कि धनवान आदमी एक तरह से ग़रीबो का अमानतदार है, ज़मीदार अपनी ज़मीन को काश्तकार की 'अमानत' की तरह रखता है। एक वडी वेतुकी सूरत को समझने का ईसाई-सघ का यही तरीका था। इससे धनवानो का तो कुछ विगडता न था, पर गरीवो को कोई तसल्ली नही होती थी। भूखे पेट मे भोजन की जगह स्यानपत की समझावनो से काम नही चल सकता।

कैथलिको और प्रोटेस्टेण्टो के सख्त मज़हवी युद्ध, कैथलिको व कैलविन के अनुयाइयो का मजहवी-वैर-भाव और इनक्विज़िशन, ये सव इस घोर मज़हवी और सम्प्रदायी नज़रिये के ही नतीजे थे। ज़रा इसका विचार तो करो! कहा जाता है कि यूरोप मे ज्यादा करके प्यूरिटनो ने लाखो स्त्रियो को डायनें बतलाकर ज़िन्दा जला डाला। विज्ञान के नये विचारो को दवाया जाता था, क्योकि ये ईसाई-सघ के नज़रिये से टक्कर खानेवाले समझे जाते थे। जिन्दगी के वारे मे यह मत स्थिर और जड था, प्रगति का कोई सवाल ही न था।

हम देखते है कि सोलहवी सदी से लगाकर आगे ये विचार धीरे-धीरे वदलते हुए दिखाई देते हैं। विज्ञान का उदय होता है और मज़हव का सवको जकडनेवाला शिकजा ढीला पड जाता है, राजनीति और अर्थशास्त्र मज़हव से अलग समझे जाते हैं। कहते हैं कि सत्रहवी और अठारहवी सदियो मे वुद्धिवाद, यानी अन्धविश्वास के मुकावले मे तर्क, वढता है। यह माना जाता है कि मजहवी उदारता की विजय वास्तव मे अठारहवी सदी ने ही कायम की। कुछ हद तक यह सही भी है। लेकिन इस विजय का असली मतलब यह था कि लोग अपने मजहव को अव उतना महत्व नही देते थे जितना पहले दिया करते थे। यह उदारता करीव-करीव लापरवाही थी। जव लोगो मे किसी वात के लिए वहुत ज्यादा जोश होता है तो उस वारे मे सहनशील रहना उनके लिए दुश्वार होता है, लेकिन जव वे उस वात की परवाह नहीं करते सिर्फ तभी वे इनायत के साथ अपनी उदारता का ढिंढोरा पीटते हैं। उद्योगवाद और वडी मशीनो के प्रचार के साथ मज़हव की तरफ से लोग और भी ज्यादा लापरवाह हो गये। विज्ञान ने यूरोप की पुराने विश्वासों की जडे ही

खोखली कर दी; नये उद्योगो और नई अर्थ-व्यवस्था ने नये सवाल पैदा कर दिये, जिन्होने लोगो का ध्यान खीच लिया। इस तरह यूरोप मे लोगो ने मजहबी विश्वासो और रूढियो के सवालो पर एक दूसरे का सिर फोडने की आदत छोड दी (लेकिन पूरी तरह नही), इसके वजाय अब उनमे आर्थिक व समाजी मुद्दो पर सिर-फुटव्वल होने लगी।

यूरोप के इस मजहबी जमाने की तुलना आजकल के भारत से करना दिलचस्प भी है और नसीहत देनेवाला भी। तारीफ और मजाक दोनो मे अक्सर यह कहा जाता है कि भारत तो मजहबी और आध्यात्मिक देश है। उसका मुकावला यूरोप से किया जाता है, जो वेदीन और विलासी जीवन को जरूरत से ज्यादा पसन्द करनेवाला कहा जाता है। जहाँतक भारतीय नजरिये-पर मजहब का रग चढा हुआ है, वहाँतक तो वास्तव मे यह 'मजहबी' भारत सोलहवी सदी के यूरोप से गैर-मामूली तौर पर मेल खाता है। अलबत्ता इस मुकावले को बहुत ज्यादा नही वढाया जा सकता। लेकिन यह जाहिर है कि क्या तो हमारा मजहबी विश्वास और रूढियो पर जरूरत से ज्यादा जोर देना, क्या राजनीतिक और आर्थिक सवालो को मजहबी फिरको के हितो से जोडना, क्या हमारे साम्प्रदायिक झगडे और इसी तरह के सवाल, ये सब वैसी ही घटनाएँ हैं जैसी मध्यकालीन यूरोप मे हुई थी। व्यावहारिक व जडवादी यूरोप, और आध्यात्मिक व परलोकवादी पूर्व, इनका कोई सवाल ही नही है। पश्चिम और पूर्व के बीच यह फ़र्क इस बात मे है कि पश्चिम तो अपनी तमाम अच्छाइयो और बुराइयो के साथ उद्योग-प्रधान और मशीनो का खूब उपयोग करनेवाला प्रदेश है, और पूर्व मे अभी उद्योग-धन्धे प्रारम्भिक अवस्था मे है और वह कृषि-प्रधान प्रदेश हैं।

यूरोप मे मजहबी उदारता और बुद्धिवाद का विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ। शुरू-शुरू मे पुस्तको से इसे ज्यादा मदद नही मिली। क्योकि लोग ईसाइयत की खुल्लम-खुल्ला आलोचना करने से डरते थे। ऐसा करने का नतीजा था कैद या और कोई सजा। एक जर्मन दार्शनिक को प्रशिया से इसलिए निकाल दिया गया था कि उसने कनफ्यूशियस की बहुत ज्यादा तारीफ कर दी थी। यह ईसाइयत का अपमान समझा जाता था। लेकिन अठारहवी सदी मे, जबकि ये नये विचार ज्यादा साफ और व्यापक हो गये, तो इन विषयो के बारे मे पुस्तकें निकलने लगी। बुद्धिवाद व दूसरे विषयो पर उस समय का सबसे मशहूर लेखक वाल्तेयर नामक एक फ्रान्सीसी था, जिसको कैद करके देश से निकाल दिया गया और जो अन्त मे जिनेवा के पास फर्नी मे जाकर रहा। जेल मे उसे कागज और कलम-दवात नही दिये गए। इसलिए उसने पुस्तको की लाइनो के बीच-बीच मे सीसे के टुकडो से कविताएँ लिखी। बहुत थोडी उम्र मे ही वह मशहूर हो गया। वास्तव मे जब

उसकी असाधारण योग्यता ने लोगो का ध्यान खीचा तब वह सिर्फ दस ही साल का था। वाल्तेयर को अन्याय और कट्टरपन से सख्त नफरत थी और वह इनके खिलाफ बहुत लडा। उसकी मशहूर पुकार थी "इन बदनाम चीज़ो को नष्ट कर दो।"[1] वह बडी उम्र तक, यानी १६९४ से १७७८ ई० तक जिया और उसने बहुत सारी पुस्तकें लिखी। चूंकि वह ईसाइयत की आलोचना करता था, इसलिए कट्टर ईसाई उससे सख्त नफरत करते थे। अपनी एक पुस्तक मे उसने लिखा है कि "जो आदमी बिना जांच-पडताल किये किसी मज़हब को कबूल कर लेता है, वह उस बैल के समान है जो अपने कन्धे पर जुआ रखवा लेता है।" लोगो को बुद्धिवाद और नये विचारो की तरफ झुकाने मे वाल्तेयर की रचनाओ का बड़ा भारी असर पडा। फ़र्नी मे उसका पुराना मकान अब भी बहुत लोगो के लिए एक तीर्थस्थान है।

एक और महान् लेखक, जो वाल्तेयर का समकालीन लेकिन उम्र मे उससे छोटा था, जीन जैके रूसो था। उसका जन्म जिनेवा मे हुआ था और जिनेवा को उस पर बडा गर्व था। क्या तुमको वहांपर उसकी मूर्ति की याद है? धर्म और राजनीति पर रूसो के लेखो से बडा हो-हल्ला मच गया। लेकिन फिर भी उसके नये और बहुत कुछ निडर समाजी और राजनीतिक मतो ने बहुतो के दिमाग़ मे नये विचारो और नये इरादो की आग सुलगा दी। उसके राजनीतिक विचार आज पुराने पड गये हैं, लेकिन उन्होंने फ्रान्स के लोगो को महान् राज्य-क्रांति के लिए तैयार करने मे ज़बर्दस्त हिस्सा लिया। रूसो ने राज्यक्रान्ति का प्रचार नही किया। शायद उसे किसी क्रान्ति की उम्मीद भी न थी। लेकिन उसकी पुस्तको और उसके विचारो ने लोगो के दिमाग मे ऐसा बीज ज़रूर बो दिया, जिसका फल क्रान्ति के रूप मे प्रकट हुआ। इसकी सबसे मशहुर पुस्तक 'सोशल कान्ट्रैक्ट' यानी 'समाजी मुआहिदा' है और वह इस मशहूर वाक्य से शुरू होती है (मैं याददाश्त से लिख रहा हूं), "मनुष्य जन्म से मुक्त है, लेकिन वह सब जगह जज़ीरो मे जकडा हुआ है।"[2]

रूसो एक महान् शिक्षा-शास्त्री भी था और उसके सुझाये हुए शिक्षा के बहुत से नये तरीके आजकल स्कूलो मे बरते जाते है।

अठारहवी सदी मे फ्रान्स मे वाल्तेयर और रूसो के अलावा और भी बहुत से नामी विचारक और लेखक हुए। मैं सिर्फ मान्तेस्क्यू[3] के नाम का ज़िक्र और

---

[1] Ecrasez I infame.

[2] Man is born free, but is everywhere in chains

[3] मान्तेस्क्यू—(१६८९-१७५५) फ्रान्स का प्रसिद्ध विचारक, तत्त्ववेत्ता और इतिहासकार। १७४८ ई० मे इसकी मशहूर किताब 'Esprit des Lois' प्रकाशित हुई, जिससे उसके गहरे अध्ययन का पता लगता है। यह पुस्तक इतनी

करूंगा जिसने कई पुस्तकें लिखी। पेरिस मे इसी के समय मे एक विश्वकोश भी प्रकाशित हुआ जो दिदरो और राजनीतिक व समाजी विषयो के दूसरे विद्वान् लेखकों के लेखो से भरा था। सच तो यह है कि फ्रान्स दार्शनिको और विचारकों से भरा हुआ नजर आता था। इतना ही नही, इनकी रचनाएं भी खूब पढ़ी जाती थी और इन्हें यह सफलता हासिल हुई कि हजारों साधारण लोग इन्ही की तरह सोचने-विचारने लगे और इनके मतों पर चर्चा करने लगे। इस तरह फ्रान्स मे एक ऐसा जोरदार लोकमत पैदा हो गया, जो मजहबी वैर-भाव और राजनीतिक व समाजी रियायतों के खिलाफ था। लोगों पर स्वतन्त्रता की एक धुंधली इच्छा का भूत-सा सवार हो गया। लेकिन अजीब बात तो यह है कि न तो जनता ही और न दार्शनिक लोग ही बादशाह से पिण्ड छुडाना चाहते थे। उस समय गणराज्य की भावना आम नही थी, और जनता तो सिर्फ यही उम्मीद करती थी कि उसे अफलातून के बताये हुए दार्शनिक बादशाह से मिलता-जुलता एक आदर्श राजा मिले, जो उनकी तकलीफों को दूर करे और उनको इन्साफ और थोडी-बहुत स्वतन्त्रता दे दे। कम-से-कम दार्शनिकों ने ऐसा ही लिखा है। इस बारे मे शक होने लगता है कि आखिर मुसीबतों की मारी जनता बादशाह को कितना चाहती थी!

इंग्लैण्ड मे फ्रान्स की तरह राजनीतिक विचारो का कोई विकास नही हुआ। कहा जाता है कि अंग्रेज राजनीतिक जन्तु नही होता, लेकिन फ्रान्सीसी होता है। इसके अलावा १६८८ ई० की क्रान्ति ने भी तनाव कुछ कम कर दिया था। लेकिन कुछ वर्ग अब भी काफी रियायतों का उपभोग कर रहे थे। नई आर्थिक घटनाओ ने, जिनका जिक्र जल्दी ही किसी अगले पत्र मे करूंगा, और व्यापार और अमेरिका व भारत की उलझनों मे, अंग्रेजों का दिमाग लगा हुआ था। जब सामाजिक तनातनी बहुत बढ गई तो एक काम-चलाऊ समझौते ने जुदा होने के खतरे को दूर कर दिया। फ्रान्स मे इस तरह के समझौते की गुंजाइश न थी, और इसीलिए तख्ता उलट गया।

यह भी ध्यान देने की बात है कि इंग्लैण्ड मे आजकल के उपन्यास का विकास अठारहवी सदी के बीच मे हुआ। 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' और 'रॉबिन्सन क्रूसो' अठारहवीं सदी के शुरू मे लिखे गए थे, जैसा कि मैं पहले ही बतला चुका हूं। इनके बाद असली उपन्यास निकले। इस वक्त इंग्लैण्ड मे पुस्तकें पढ़नेवालो की एक नई जनता सामने आई।

अठारहवी सदी मे ही गिबन नामक एक अंग्रेज ने अपना मशहूर ग्रन्थ[1]

---

लोकप्रिय हुई कि उस जमाने में भी, १८ महीने के अन्दर उसके २२ संस्करण हो गये। उसके विचारो के कारण चर्च ने उसपर जबर्दस्त आक्रमण किया था।

[1] Decline and Fall of the Roman Empire.

लिया। रोमन साम्राज्य का बयान करते समय अपने किसी पिछले पत्र में मैं गिबन और उसकी पुस्तक का ज़िक्र कर चुका हूँ।

: ९६ :

## महान् परिवर्तनों के पहले का यूरोप

२४ सितम्बर, १९३२

हमने अठारहवीं सदी में यूरोप के, और खासकर फ्रान्स के, नर-नारियों के दिलों में ज़रा झाँकने की कोशिश की है। यह सिर्फ एक झाँकी ही रही है, जिसने हमको कुछ नये विचारों को पैदा होते हुए और पुराने विचारों से टक्कर लेते हुए दिखलाया है। अभी तक हम पर्दे के पीछे रहे हैं, लेकिन अब हम यूरोप के आम रंगमंच के खिलाड़ियों पर निगाह डालेंगे।

फ्रान्स में बूढ़ा चौदहवाँ लुई आखिरकार १७१५ ई० में मरने में कामयाब हो ही गया। वह कई पीढ़ियों का लाँघकर ज़िन्दा रहा। और उसके बाद उसका पोता पन्द्रहवाँ लुई के नाम से गद्दी पर बैठा। फिर उनसठ वर्ष का लम्बा शासन चला। इस तरह चौदहवें और पन्द्रहवें लुई, फ्रान्स के इन दो एक के बाद दूसरे बादशाहों ने कुल १३१ वर्ष राज किया। बेशक यह दुनिया का एक रिकार्ड है। चीन के दो मञ्चू बादशाह काङ्-ही और चिएन-लुङ, हरेक ने साठ-साठ वर्ष राज किया, लेकिन ये एक सिलसिले में नहीं हुए और इन दोनों के बीच में एक तीसरे का भी राज रहा।

असाधारण लम्बाई के अलावा पन्द्रहवें लुई का शासन-काल खास तौर पर घिनौने भ्रष्टाचार और साज़िशों के लिए मशहूर है। राज्य के सारे साधन बादशाह के ऐश-आराम के लिए इस्तेमाल होते थे। दरबारी लोग अपना उल्लू सीधा करने में लगे रहते थे, जिसमें अनाप-शनाप खर्च होता था। दरबार के जो स्त्री या पुरुष बादशाह को खुश कर लेते थे उनको मुफ्त की जमींदारियाँ और फ़ालतू ओहदे बख्शे जाते थे, जिनका मतलब था बिना मेहनत की आमदनी। और इन सबका बोझ जनता पर बराबर बढ़ता जाता था। निरंकुशता, निकम्मापन और भ्रष्टाचार बड़े मज़े से हाथ मिलाये हुए, आगे बढ़ रहे थे। फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है अगर सदी के खतम होते-होते वे अपने रास्ते के किनारे पर पहुँच गये और गहरी खाई में जा गिरे! ताज्जुब तो यह है कि रास्ता इतना लम्बा निकला और गिरावट इतनी देर बाद आई। पन्द्रहवाँ लुई जनता के इन्साफ और बदले से बच गया। इसका सामना तो उसके उत्तराधिकारी सोलहवें लुई को १७७४ ई० में करना पड़ा।

निकम्मेपन और नीचपन के बावजूद भी पन्द्रहवें लुई को राज्य मे अपनी परम सत्ता के बारे मे कोई सन्देह न था। वह सबकुछ था और उसे अपनी मर्ज़ी के मुताबिक करने से रोकनेवाला कोई न था। पेरिस मे १७७६ ई० मे एक सभा के सामने बोलते हुए उसने जो शब्द कहे थे, वे सुनने लायक हैं:

> "राज्य-सत्ता पूरे तौर पर सिर्फ मेरे ही अपने मे निवास करती है . . .। सिर्फ मुझको ही, बिना किसी का सहारा या मदद लिये, कानून बनाने का पूरा हक़ है। प्रजा के बन्दोबस्त का एकमात्र स्रोत मैं ही हूं, मै ही उसका सबसे बड़ा रक्षक हूं। मेरी प्रजा की मुझसे अलहदा कोई हस्ती नही है, राष्ट्र के अधिकार और हित, जो कुछ लोगो के दावे के मुताबिक बादशाह से कोई अलग चीज़ हैं, वे ज़रूरी तौर पर मेरे ही अधिकार और हित है और मेरी ही मुट्ठी मे रहते हैं।"

अठारहवीं सदी के ज़्यादातर समय मे फ्रान्स का शासक इस तरह का था कुछ दिनो तक तो यूरोप मे उसका दबदबा मालूम होने लगा था। लेकिन बाद म दूसरे राजाओ और राष्ट्रों के ऊँचे हौसलो से उसकी टक्कर हुई और उसे हार माननी पड़ी। फ्रान्स के कुछ पुराने प्रतिद्वन्द्वियो का भी यूरोप के रंगमच पर कोई प्रमुख पार्ट न रहा। लेकिन उनकी जगह लेनेवाले और फ्रान्स की शक्ति को चुनौती देनेवाले दूसरे पैदा हो गये। थोड़े दिन की शाही शान-शौकत भुगतकर घमण्डी स्पेन यूरोप मे, और दूसरी जगहों मे भी, नीचे गिर गया। लेकिन अमेरिका और फिलिपाइन टापुओं मे बड़े-बड़े उपनिवेश अब भी उसके कब्ज़े मे थे। आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग भी, जिन्होंने साम्राज्य के सिरमौर होने का और उसके जरिये यूरोप की नेतागिरी का ठेका-सा ले रक्खा था, अब पहले जैसे बड़े नही रह गये थे। आस्ट्रिया अब साम्राज्य की अगुआ रियासत नही थी, एक दूसरी रियासत प्रशिया आगे बढ गई थी और आस्ट्रिया के बराबर महत्ववाली बन गई थी। आस्ट्रिया की राजगद्दी के उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुए और बहुत दिनो तक मेरिया थैरेसा नाम की एक महिला उस पर बैठी रही।

तुम्हे याद होगा कि १६४८ ई० की वैस्टफैलिया की सन्धि ने प्रशिया को यूरोप की एक महत्वशाली शक्ति बना दिया। वहां पर हॉयनत्सोलर्न का घराना राज कर रहा था और दूसरे जर्मन राजवश, आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग घराने, की सत्ता को चुनौती दे रहा था। छियालीस वर्ष तक, यानी १७४० से १७८६ ई० तक, प्रशिया पर फ्रेडरिक ने राज किया, जो फौजी कामयाबियो के कारण महान् कहलाता है। यूरोप के दूसरे राजाओ की तरह यह भी एक स्वेच्छाचारी राजा था, लेकिन उसने दार्शनिक का चोगा पहन लिया था और वाल्तेयर से दोस्ती करने की कोशिश की थी। उसने एक बलशाली फौज तैयार कर ली थी और वह एक सफल सेनापति

था। वह अपने-आपको बुद्धिवादी कहता था और सुनते हैं कि वह कहा करता था कि "हरेक को यह छुट्टी रहनी चाहिए कि वह जिस तरह चाहे स्वर्ग मे जाय।"

सत्रहवी सदी से यूरोप मे फ्रान्स की सस्कृति का बोलबाला रहा। अठारहवी सदी के बीच के समय मे इसने और भी जोर पकडा और वाल्तेयर को सारे यूरोप मे जबर्दस्त शोहरत मिली। वास्तव मे कुछ लोग तो इस सदी को 'वाल्तेयर की सदी' कहते हैं। यूरोप के तमाम राजदरबारो मे, यहांतक कि पिछडे हुए सेंट पीटर्सबर्ग मे भी, फ्रान्सीसी साहित्य पढा जाता था। और सभ्य और शिक्षित लोग फ्रान्सीसी भाषा मे लिखना और बोलना पसन्द करते थे। मसलन प्रशिया का फ्रेडरिक महान् करीब-करीब हमेशा फ्रान्सीसी भाषा मे ही लिखता और बोलता था। उसने तो फ्रान्सीसी भाषा मे कविता भी लिखने की कोशिश की और वाल्तेयर से प्रार्थना की कि उसे ठीक कर दे व निखार दे।

प्रशिया के पूर्व मे रूस था, जो आगे आनेवाले जमाने का भय बनना शुरू हो गया था। चीन के इतिहास की चर्चा करते वक्त हम लिख चुके हैं कि किस तरह रूस साइबेरिया मे फैलकर प्रशान्त महासागर तक जा पहुँचा और सागर पार करके अलास्का तब भी पहुँच गया। सत्रहवी सदी के अन्त में रूस मे महान् पीटर नामक जोरदार शासक था। रूस मे परम्परा से जो पुराने मगोली रक्त-जब्त और नजरिये चले आ रहे थे, पीटर उनको खत्म करना चाहता था। वह रूस का, आजकल की भाषा मे, 'पश्चिमीकरण' चाहता था, यानी उसे पश्चिम जैसा सभ्य व उन्नत बनाना चाहता था। इसलिए उसने पुरानी परम्पराओ से भरी हुई पुरानी राजधानी मास्को को छोड दिया और अपने लिए एक नया शहर और नई राजधानी बसाई। यह उत्तर मे नीवा नदी के किनारे और फिनलैण्ड की खाडी के मुहाने पर सेंटपीटर्सबर्ग था। यह शहर सुनहरी गुम्बजदार छतो व गुम्बजोवाले मास्को से बिलकुल अलग तरह का था, वह ज्यादातर पश्चिमी यूरोप के बडे शहरो-जैसा था। पीटर्सबर्ग पश्चिमीकरण का प्रतीक बन गया और रूस यूरोप की राजनीति मे ज्यादा हिस्सा लेने लगा। शायद तुम्हे मालूम होगा कि पीटर्सबर्ग नाम अब नही रहा है। पिछले बीस वर्षो मे उसका नाम दो बार बदला है। पहली बार उसका नाम बदल कर पेत्रोग्राद किया गया और दूसरी बार लेनिनग्राद हुआ। आजकल यही नाम चालू है।

पीटर महान् ने इस रूस मे बहुत-से परिवर्तन किये। उनमे से एक का मैं यहाँ पर जिक्र करूँगा, जो तुम्हे दिलचस्प मालूम होगा। उसने स्त्रियो को घरो मे बन्द रखने के रिवाज को, जिसे 'तरेम' कहते थे, और जो उन दिनो रूस मे जारी था, खत्म कर दिया। पीटर का ध्यान भारत की तरफ भी था और वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे भारत के महत्व को समझता था। उसने अपने वसीयतनामे

मे लिखा है; "याद रखो कि भारत का व्यापार सारी दुनिया का व्यापार है, और जो अकेला उसे मुट्ठी मे रख सकता है, वही यूरोप का डिक्टेटर होगा।" भारत पर प्रभुत्व हासिल करने के बाद इंग्लैण्ड की शक्ति जिस तेजी से बढ़ी उससे पीटर के आखिरी शब्दों की सचाई साबित हो जाती है। भारत के शोषण से इंग्लैण्ड को गौरव और धन मिला, जिसने कई पीढ़ियों तक उसे ससार की सबसे बडी शक्ति बना दिया।

एक तरफ प्रशिया और आस्ट्रिया तथा दूसरी तरफ रूस के बीच मे पोलैण्ड था। वह एक पिछडा हुआ देश था, जहाँ के किसान बहुत गरीब थे। वहाँ कोई व्यापार और उद्योग-धन्धे न थे और न बडे-बडे शहर थे। उसका सविधान भी अजीब-सा था, जिसमे बादशाह चुना हुआ होता था और सत्ता सामन्ती अमीरो के हाथो म रहती थी। जैसे-जैसे आसपास के देश ताक्तवर होते गये, पोलैण्ड कमजोर होता गया। प्रशिया, रूस और आस्ट्रिया तीनो ही उसे हडपना चाहते थे।

लेकिन वह पोलैण्ड का ही बादशाह था, जिसने १६८३ ई० मे वियेना पर आखिरी हमला करनेवाले तुर्कों को मार भगाया था। उस्मानी तुर्क फिर सिर न उठा सके। उनकी जीवट खत्म हो चुकी थी और पलडा धीरे-धीरे पलट रहा था। आगे से वे अपना बचाव करने मे ही रहे और धीरे-धीरे यूरोप में तुर्की साम्राज्य सिकुडने लगा। लेकिन जिस जमाने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, यानी अठारहवी सदी के पहले हिस्से मे, तुर्की दक्षिण-पूर्वी यूरोप मे एक शक्तिशाली देश था और उसका साम्राज्य बल्कान की रियासतो से लगाकर हगरी के परे पोलैण्ड तक फैला हुआ था।

दक्षिण मे इटली कई रियासतो मे बँटा हुआ था और यूरोप की राजनीति मे उसकी कोई गिनती न थी। पोप का पहलेवाला दबदबा नही रहा था और राजा और बादशाह उसकी इज्जत तो करते थे, लेकिन राजनीतिक मामलो म उसे कुछ पूछते भी न थे। धीरे-धीरे यूरोप मे एक नया ढाँचा, यानी बडी शक्तियो का ढाँचा, पैदा हो रहा था। जैसा कि मैं बतला चुका हूँ केन्द्रीय सत्तावाले राजशाही राज्य राष्ट्रीयता की भावना के विकास मे मदद कर रहे थे। लोग अपने-अपने देशो का विचार एक निराले तरीके से करने लगे थे, जो आजकल तो बहुत फैल गया है। लेकिन इस जमाने के पहले एक असाधारण बात थी। फ्रान्स, इगलैण्ड या ब्रिटैनिया, इतालिया और इसी तरह की दूसरी सूरतें प्रकट होने लगी थी। ये राष्ट्र के प्रतीक-से मालूम होने लगे। कुछ दिन बाद उन्नीसवी सदी मे, ये शक्लें लोगो के दिमाग मे मूर्त्तिमान होने लगी और उनके दिलो पर अजीब तौर से असर डालने लगी। ये प्रतीक नई देवियाँ बन गये, जिनकी वेदी पर हरेक देश-भक्त को पूजा करनी पडती है और जिसके नाम पर और जिसके लिए देश-भक्त

लोग लड़ते हैं और एक दूसरे की हत्या करते हैं। तुम जानती हो कि 'भारत-माता' की भावना किस तरह हमारे दिलों को हिलाती है और किस तरह लोग इस पौराणिक और खयाली मूरत के लिए खुशी-खुशी मुसीबतें झेलते हैं और मर मिटते हैं। दूसरे देशों के लोग भी अपनी मातृभूमि के लिए इसी तरह की भावना महसूस करते थे। लेकिन ये सब तो बाद की बातें हैं। अभी तो मैं तुमको यह बतलाना चाहता हूँ कि अठारहवीं सदी में राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की इस भावना ने जड़ पकड़ी। फ्रान्सीसी दार्शनिकों ने इस प्रगति को बढ़ाया और फ्रान्स की महान् राज्य-क्रान्ति ने इस भावना पर मुहर लगा दी।

ये राष्ट्र ही 'शक्तियाँ' थे, बादशाह आते-जाते रहते थे, लेकिन राष्ट्र बना रहता था। इन शक्तियों में से कुछ धीरे-धीरे दूसरी शक्तियों से ज्यादा महत्ववाली बन गईं। मसलन अठारहवीं सदी के शुरू में फ्रान्स, इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस साफ तौर पर 'बड़ी शक्तियाँ' थीं। स्पेन की तरह कुछ और भी शक्तियाँ कहने को बड़ी थीं, लेकिन उनका पतन हो रहा था।

इंग्लैण्ड बहुत तेजी के साथ दौलत में और महत्व में बढ़ रहा था। एलिजाबेथ के वक्त तक वह यूरोप के लिहाज से कोई महत्व का देश न था और दुनिया के लिहाज से तो और भी कम महत्व का था। उसकी आबादी थोड़ी थी, शायद उस वक्त वह साठ लाख से ज्यादा न थी, जो आज लन्दन की आबादी से भी बहुत कम है। लेकिन प्यूरिटन क्रान्ति और बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय के बाद इंग्लैण्ड ने अपने-आपको नई परिस्थितियों के मुताबिक बना लिया और वह आगे बढ़ने लगा। स्पेन से पिण्ड छुड़ाने के बाद हालैण्ड ने भी ऐसा ही किया।

अठारहवीं सदी में अमेरिका और एशिया में उपनिवेशों के लिए छीना-झपटी मची। इसमें यूरोप की कई शक्तियों ने हिस्सा लिया, मगर खास होड़ सिर्फ इंग्लैण्ड और फ्रान्स इन दोनों में ही रही। इस दौड़ में, अमेरिका में भी और भारत में भी, इंग्लैण्ड बहुत आगे हो लिया था। पन्द्रहवें लुई के निकम्मे शासन में होने के अलावा फ्रान्स, यूरोप की राजनीति में बहुत ज्यादा उलझा हुआ था। १७५६ से १७६३ ई० तक यूरोप, कनाडा और भारत में भी इन दोनों शक्तियों में व औरों में इस बात का निपटारा करने के लिए युद्ध हुए कि किसका प्रभुत्व हो। यह युद्ध 'सात साल का युद्ध' कहलाता है। इसके एक टुकड़े को हम भारत में देख चुके हैं, जिसमें फ्रान्स की हार हुई थी। कनाडा में भी इंग्लैण्ड की विजय हुई। यूरोप में इंग्लैण्ड ने वह नीति बरती जिसके लिए वह मशहूर हो चुका है, यानी पैसा देकर अपनी ओर से दूसरों को लड़वाना। फ्रेडरिक महान् इंग्लैण्ड का साथी था।

इस सात साल के युद्ध का नतीजा इंग्लैण्ड के लिए बहुत फायदेमन्द रहा।

भारत और कनाडा, दोनो ही देशो मे उसका कोई भी यूरोपीय प्रतियोगी बाकी न रहा। समुद्रो पर भी उसकी नौ-सेना का दबदबा कायम हो गया। इस तरह इंग्लैण्ड की ऐसी हैसियत हो गई कि वह अपने साम्राज्य को जमावे और बढ़ावे और ससार की एक बडी शक्ति बन जाय। प्रशिया का भी महत्व बढा।

इस लडाई-झगडे से यूरोप फिर पस्त हो गया और सारे महाद्वीप मे फिर पहले से कुछ ज्यादा शान्ति नजर आने लगी। लेकिन यह शान्ति प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस को पोलैण्ड की रियासत हडपने से न रोक सकी। पोलैण्ड की ऐसी हालत न थी कि इन शक्तियो से लडता, इसलिए ये तीनो भेडिये उस पर टूट पडे और इन्होंने बार-बार उसके हिस्से बाँट कर पोलैण्ड के आजाद देश का अन्त कर दिया। सन् १७७२, १७९३ और १७९५ ई०, मे तीन बार बंटवारे हुए। पहले बंटवारे के बाद पोलैण्ड के लोगो ने, जो पोल कहलाते हैं, अपने देश को सुधारने और मजबूत बनाने के लिए जबर्दस्त कोशिश की। उन्होंने पार्लमेण्ट कायम की और वहाँ कला और साहित्य का उद्धार हुआ। लेकिन पोलैण्ड के चारो तरफ के निरकुश राजाशाहो के मुँह खून लग चुका था और वे रुकनेवाले न थे। इसके अलावा पार्लमेण्टो से उनको नफरत थी। इसलिए पोलो की देश-भक्ति और महान् वीर कोसियस्को के नेतृत्व मे बहादुरी के साथ लडाई के बावजूद १७९५ ई० मे यूरोप के नकशे पर पोलैण्ड का निशान बाकी न रहा। उस वक्त पोलैण्ड तो मिट गया, लेकिन पोलो ने अपनी देश-भक्ति को जिन्दा रक्खा और आजादी का सपना फिर भी देखते रहे। एक सौ तेईस वर्ष बाद उनका सपना सच्चा हुआ और यूरोप के महायुद्ध के बाद पोलैण्ड फिर एक स्वाधीन देश के रूप मे प्रकट हुआ।

मैं लिख चुका हूँ कि अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से मे यूरोप मे थोडा-बहुत अमन था। लेकिन वह ज्यादा टिक न सका, क्योकि वह ज्यादातर ऊपरी सतह पर ही था। उस सदी मे जो बहुत-सी घटनाएँ हुईं उनको भी मैं बतला चुका हूँ। लेकिन असल मे अठारहवी सदी तीन घटनाओ, तीन क्रान्तियो, के लिए मशहूर है, और इन सौ वर्षों मे यूरोप मे और जो कुछ भी हुआ, वह इन तीन घटनाओ के सामने हेच मालूम होता है। ये तीनो क्रान्तियाँ इस सदी के आखिरी पच्चीस वर्षों मे हुईं। ये क्रान्तियाँ तीन अलग-अलग किस्मो की थी—राजनीतिक, उद्योगी और समाजी। राजनीतिक क्रान्ति अमेरिका मे हुई। यह वहाँ के अंग्रेजी उपनिवेशो का विद्रोह था, जिसका नतीजा यह हुआ कि 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका', यानी अमेरिका का सयुक्त राज्य, का स्वाधीन गणराज्य बना, जो हमारे आज के जमाने मे इतना शक्तिशाली होनेवाला था। उद्योगी क्रान्ति इंग्लैण्ड मे शुरू हुई। वहाँ से पहले तो वह पश्चिम... के दूसरे देशो मे फैली

और फिर दूसरी जगहो मे। हालाँकि यह क्रान्ति बिना किसी मारकाट के हुई, लेकिन बहुत दूर तक असर डालनेवाली थी और सारी दुनिया की जिन्दगी पर जितना इसका असर पडा उतना इससे पहले इतिहास मे लिखी हुई किसी भी घटना का नही पडा। इसका नतीजा हुआ भाप और बडी मशीन और आखिर मे उद्योगवाद की उन अनगिनती शाखाओ का आना, जो आज हम अपने चारो तरफ देख रहे हैं। फ्रान्स की महान् राज्य-क्रान्ति समाजी क्रान्ति थी, जिसने न केवल फ्रान्स की राजाशाही का ही अन्त कर दिया, बल्कि बहुत-सी रियासतो को भी खत्म कर दिया और नये-नये वर्गो को आगे ला दिया। इन तीनो क्रान्तियो पर हम ज़रा खुलासा तौर पर अलग-अलग विचार करेंगे।

हम देख चुके है कि इन परिवर्तनो की शुरुआत से पहले यूरोप मे राजाशाही का ज़ोर था। इग्लैण्ड और हालैण्ड मे पार्लमेण्ट तो थी, लेकिन उनकी बागडोर अमीरो और धनवानो के हाथ मे थी। कानून बनाये जाते थे तो धनवानो के लिए और उनके माल, अधिकारो और हको की हिफाजत के लिए। शिक्षा भी सिर्फ धनवान और हकदार वर्गो के लिए थी। असल मे खुद सरकार ही इन वर्गों के लिए थी। उस ज़माने की एक सबसे बडी समस्या गरीबो की समस्या थी। हालाँकि ऊपर के लोगो की हालत मे कुछ सुधार हुआ, लेकिन गरीबो की मुसीबतें वैसी ही बनी रहीं, बल्कि ज्यादा बढ गईं।

अठारहवी सदी भर मे यूरोप के राष्ट्र गुलामो का बे-रहम और बे-दर्द व्यापार करते रहे। वैसे तो यूरोप मे गुलामी खत्म हो चुकी थी, हालाँकि काश्तकारो की हालत, जिन्हे असामी कहते थे, गुलामो से बेहतर न थी। लेकिन अमेरिका की खोज के बाद गुलामो का पुराना व्यापार अपनी सबसे ज्यादा बे-रहम सूरत मे फिर चेत गया। स्पेनियो और पुर्तगालियो ने इसकी इस तरह शुरुआत की कि वे अफ्रीका के किनारों पर से हब्शियो को पकड-पकडकर अमेरिका ले जाने लगे और उनसे खेतो मे काम लेने लगे। इस कमीने व्यापार मे इग्लैण्ड ने भी भरपूर हिस्सा लिया। जिन अफ्रीकियो को जगली जानवरो की तरह शिकार करके और पकडकर और फिर जज़ीरो मे कसकर अमेरिका को लादा जाता था, उनकी भयकर तकलीफो का अन्दाज़ा लगाना तुम्हारे लिए, या किसी के लिए भी मुश्किल है। हज़ारो तो वहां पहुँचने के पहले ही चल बसते थे। इस दुनिया मे जितने लोगो ने मुसीबतें झेली हैं, उनमे सबसे ज्यादा मुसीबतो का भार शायद हब्शियो पर ही पडा है। उन्नीसवी सदी मे गुलामी की प्रथा कानूनन मिटा दी गई और इग्लैण्ड इस बात मे अगुआ रहा। अमेरिका मे इस सवाल का निपटारा करने के लिए एक गृह-युद्ध हुआ। आज अमेरिका के सयुक्त राज्य मे बसनेवाले करोडो हब्शी इन्ही गुलामो की सन्तान हैं।

मैं इस पत्र को यह बतलाकर अच्छे सुर मे खतम करूंगा कि इस सदी मे जर्मनी और आस्ट्रिया मे सगीत का बडा भारी विकास हुआ। तुम जानती हो कि यूरोपीय संगीत में जर्मन लोग आगे है। इनमे से कुछ बडे-बडे सगीतज्ञो के नाम सत्रहवी सदी मे भी सामने आते हैं। दूसरे देशो की तरह ही यूरोप मे भी सगीत करीब-करीब मजहबी रस्मों का अग था। धीरे-धीरे ये दोनो अलग होने लगे और सगीत खुद ही कला बन गया, जिसका मजहब से कोई रिश्ता न रहा। मोत्सार्त (मोजार्ट) और बीथोवन—ये दो नाम अठारहवी सदी मे रोशन होते हैं। दोनो बाल-गन्धर्व थे. दोनो ही प्रतिभाशाली राग रचनेवाले थे। यह अजीब बात है कि बीथोवन, जो शायद पश्चिम का सबसे महान् राग रचनेवाला माना जाता है, बिलकुल बहरा हो गया था, और जिस अद्‌भुत सगीत की रचना उसने दूसरो के लिए की उसे वह खुद नही सुन सकता था। लेकिन उस सगीत को पकडने से पहले उसके हृदय ने जरूर उसे गाकर सुनाया होगा।

## : ९७ :

# बड़ी मशीन का आगमन

२६ सितम्बर, १९३२

अब हम उसकी चर्चा करेंगे जो औद्योगिक क्रान्ति कहलाती है। इसकी शुरुआत इग्लैण्ड में हुई, इसलिए इग्लैण्ड मे ही हम सक्षेप मे इस पर गौर करेंगे। मैं इसके लिए कोई ठीक सन नही बतला सकता, क्योकि यह परिवर्तन जादू की तरह किसी खास साल मे नही हुआ। लेकिन फिर भी वह काफी तेजी के साथ हुआ और अठारहवी-सदी के बीच से लगाकर आगे के सौ वर्षों से कम मे ही उसने जिन्दगी की सूरत बदल दी। इन पत्रो मे तुमने और मैंने, दोनो ने दुनिया की शुरुआत से लगाकर हजारो वर्षों के इतिहास के सिलसिले का सिंहावलोकन किया है और बहुत-से परिवर्तन हमारी निगाह मे आये हैं। लेकिन ये सब परिवर्तन, जो कभी-कभी बहुत बडे भी हुए, लोगो की जिन्दगी और रहन-सहन के ढँग को गहराई के साथ नहीं बदल सके। अगर सुकरात या अशोक या जूलियस सीजर भारत मे अकबर के दरबार मे अचानक चले आते, या अठारहवी सदी के शुरू मे इग्लैण्ड या फ्रान्स मे पहुंच जाते, तो बहुत-से परिवर्तन उनकी नजर मे आते। इनमे से कुछ परिवर्तनो को वे पसन्द करते और कुछ को नापसन्द। लेकिन सरसरी तौर पर, कम-से-कम बाहर से, वे दुनिया को पहचान लेते, क्योकि विचारो मे उन्हें बहुत फर्क नही मालूम होता। और जहां तक ऊपरी बातो से ताल्लुक है वे अपने को बिलकुल अजनबी नही महसूस करते। अगर वे सफर... चाहते तो घोडे पर या घोडा-गाडी पर करते, जैसाकि

अपने ज़माने मे किया करते थे, और सफर मे वक्त भी करीव-करीव उतना ही लगता।

लेकिन इन तीनो मे से एक भी अगर हमारे ज़माने की दुनिया मे आ जाय तो उसे वडा जबर्दस्त अचम्भा होगा। और यह अचम्भा वहुत करके उसके लिए दर्दभरा भी हो सकता है। वह देखेगा कि आजकल लोग तेज-से-तेज घोडे से भी ज्यादा तेजी के साथ, या शायद कमान से छूटे हुए तीर से भी ज्यादा तेजी के साथ, सफ़र करते है। रेल, स्टीमर, मोटर और हवाई-जहाज़ मे वे अद्भुत तेजी के साथ सारी दुनिया मे दौडते-फिरते हैं। फिर उसकी दिलचस्पी तार, टेलीफोन, वेतार के तार, छापेखानो से प्रकाशित होनेवाली अनगिनती किताबो, अख़वारो और सैंकडो दूसरी चीज़ो मे होगी, जो सव अठारहवी सदी और उसके वाद की उद्योगो की क्रान्ति के लाये हुए उद्योगो के नये तरीको के नतीजे है। सुकरात या अशोक या जूलियस सीजर इन नये तरीको को पसन्द करेंगे या नापसन्द, यह मैं नही कह सकता, लेकिन इसमे शक नही कि वे उनको अपने ज़माने के तरीको से विलकुल अलग तरह के पायेंगे।

औद्योगिक क्रान्ति ने दुनिया को वडी मशीन दी। उसने मशीन-युग या यान्त्रिक युग की शुरुआत की। पहले भी मशीनें ज़रूर थी, लेकिन इतनी वडी नही, जितनी कि नई मशीनें। मशीन है क्या? वह इन्सान को उसके काम मे मदद देनेवाला वडा औज़ार है। आदमी औज़ार वनानेवाला जन्तु कहा जाता है और अपनी जिन्दगी के शुरू से वह औज़ार वनाता रहा है और उनको अच्छा वनाने की कोशिश करता रहा है। दूसरे जानवरो मे, जिनमे से वहुत-से उससे ज्यादा ताकतवर थे, उसका प्रभुत्व औज़ारो की ही वजह से कायम हुआ था। औज़ार उसके हाथ का ही वढा हुआ रूप है, या उसे तीसरा हाथ भी कह सकते हैं। मशीन औज़ार का वढा हुआ रूप है। औज़ार और मशीन ने मनुष्य को पशु-जगत् से ऊपर उठा लिया। इन्होंने मनुष्य-समाज को प्रकृति की गुलामी से छुडाया। औज़ार और मशीन की मदद से मनुष्य के लिए चीज़े वनाना आसान हो गया। वह ज्यादा चीज़ें वनाने लगा और फिर भी उसे ज्यादा फुरसत रहने लगी। और इसका नतीजा यह हुआ कि सभ्यता की कलाओ मे और विचारो मे व विज्ञान मे प्रगति हुई।

लेकिन वडी मशीन और उसके सव साथी निरी वरकते ही नही साबित हुए। अगर इसने सभ्यता की तरक्की मे मदद दी है तो लडाई और वर्वादी के भयकर हथियार ईजाद करके वहशीपन को वढाने मे मदद की है। अगर इसने चीजो की वहुतायत पैदा की है तो यह वहुतायत जनता के लिए नही वल्कि कुछ थोडे-से लोगो के लिए हुई है। इसने तो दौलतमन्दो के ऐश-आराम और गरीवो की गरीवी के अन्तर को पहले से भी ज्यादा वढा दिया है। यह मनुष्य का औज़ार और सेवक

होने के वजाय उसका स्वामी वनने का दावा करने लगी है। एक तरफ तो इसने सहयोग, सगठन, समय की पावन्दी वगैरा गुण सिखाये हैं, दूसरी तरफ लाखो की जिन्दगी को एक ऐसा नीरस ढर्रा और ऐसा मशीनी वोझ वना दिया है, जिसमे जरा भी खुशी और आजादी नही है।

लेकिन मशीन से जो वुराइयां पैदा हुई हैं, उसके लिए हम उस वेचारी को क्यो दोप दें ? दोप तो मनुष्य का है जिसने उसका दुरुपयोग किया है, और समाज का है, जिसने उससे पूरा फायदा नही उठाया। यह तो ध्यान मे भी नहीं आ सकता कि दुनिया या कोई देश, उद्योग की क्रान्ति से पहले के पुराने ज़माने को लौट जाय, और यह वात न तो जरूरी मालूम होती है, न वुद्धिमानी की कि हम लोग कुछ वुराइयो से छुटकारा पाने के लिए उद्योगवाद की लाई हुई वहुत सारी अच्छी चीज़ो को फेंक दें। चाहे जो हो, मशीन तो अव आ गई और वनी रहेगी। इसलिए हमारे सामने सवाल यही है कि उद्योगवाद की लाभकारी चीज़ो को रख लें और उसके साथ जो वुराइयां चिपक गई हो, उनसे पिण्ड छुडायें। इसमे पैदा होने वाली दौलत से हमको फायदा उठाना चाहिए, लेकिन इस वात का खयाल रखना चाहिए कि यह दौलत उन लोगो मे वरावर वंट जाय जो उसे पैदा करते हैं।

इस पत्र मे मेरा इरादा तुम्हें इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के वारे में कुछ वतलाने का था। लेकिन जैसी कि मेरी आदत है, मैं असली वात से अलग हट गया हूँ और उद्योगवाद के नतीजो की चर्चा करने लगा हूँ। मैंने तुम्हारे सामने वह समस्या रख दी है, जो आज लोगो को परेशान कर रही है, लेकिन यहाँ तक आ पहुँचने से पहले हमको पिछले कल की वातो से निवटना है, उद्योगवाद के नतीजो पर विचार करने से पहले हमको यह जाँच करना है कि वह कव और कैसे आया। मैंने यह भूमिका इतनी लम्वी इसलिए की है कि तुमको इस क्रान्ति का महत्व महसूस करा सकूँ। यह कोरी राजनीतिक क्रान्ति न थी, जिससे चोटी पर के वादशाह और शासक बदल गये हो। यह ऐसी क्रान्ति थी, जिसका असर सव वर्गों पर और असल मे हर आदमी पर पडा। मशीन और उद्योगवाद की विजय का मतलव था मशीन पर कब्ज़ा रखनेवाले वर्गों की विजय। जैसा कि मैं पहले वता चुका हूँ, राज वही वर्ग करता है, जो पैदावार के साधनो पर कब्ज़ा रखता है। पुराने ज़माने मे उपज का सबसे वडा ज़रिया सिर्फ ज़मीन थी, इसलिए जो लोग ज़मीन के मालिक यानी ज़मीदार थे, उन्हीका वोलवाला था। सामन्तशाही के ज़माने मे भी यही हाल रहा। इसके वाद ज़मीन के अलावा दूसरी तरह की दौलत सामने आई और ज़मीदार-वर्ग के लोगो की सत्ता मे पैदावार के नये साधनो के मालिको का साझा हो गया और अव वडी मशीन आती है, जिससे उसपर कब्ज़ा रखनेवाले वर्ग कुदरती तौर पर आगे आ जाते हैं और मालिक वन बैठते हैं।

इन पत्रो के सिलसिले मे मैं कई बार तुमको बतला चुका हूं कि शहरो के बुर्जुआ यानी मध्यमवर्गो का महत्व किस तरह बढा और किस तरह वे सामन्ती अमीर-सरदारो से लडते रहे और कहीं-कही कुछ हदतक विजयी भी हुए। मैंने तुमको सामन्तशाही के पतन का हाल बतलाया है और शायद तुम्हारे दिल मे यह खयाल पैदा कर दिया है कि इस नये मध्यमवर्ग ने उसकी जगह ले ली। अगर ऐसा है तो मैं अपनी गलती सुधारना चाहता हूं, क्योकि मध्यमवर्ग ने बहुत धीरे-धीरे तरक्की की और यह तरक्की उस जमाने मे नही हुई, जिसका हम ज़िक्र कर रहे हैं। फ्रान्स मे राज्य-क्रान्ति ने और इग्लैण्ड मे इसी तरह की क्रान्ति के डर ने कही जाकर मध्यमवर्ग को ऊपर उठने का मौका दिया। इंग्लैण्ड की १६८८ ई० की क्रान्ति का नतीजा यह हुआ कि पार्लमेण्ट की विजय हो गई, लेकिन तुम्हे याद होगा कि खुद पार्लमेण्ट भी लोगो की एक छोटी-सी सख्या की, और खासकर ज़मीदारो की, प्रतिनिधि थी। शहरो के कुछ बडे-बडे व्यापारी उसमे भले ही घुस जाते हो, लेकिन असल मे व्यापारी-वर्ग, यानी मध्यमवर्ग के लिए उसमे कोई जगह न थी।

इसलिए राजनीतिक सत्ता उन लोगो के हाथो मे थी, जो ज़मीदारियो के मालिक थे। इग्लैण्ड मे ऐसा ही था और दूसरे देशो मे तो और भी ज्यादा था। जमीदारी पिता से पुत्र को विरासत मे मिलती थी। इसलिए राजनीतिक सत्ता खुद भी एक मौरूसी हक बन गई। मैं इग्लैण्ड के 'जेबी निर्वाचन क्षेत्रो' यानी पार्लमेण्ट मे प्रतिनिधि भेजनेवाले ऐसे चुनाव-क्षेत्रो के बारे मे पहले ही लिख चुका हूं, जिनमे सिर्फ कुछ गिने-चुने निर्वाचक होते थे। ये गिने-चुने निर्वाचक आमतौर पर किसी की मुट्ठी मे होते थे और इसलिए वह निर्वाचन-क्षेत्र उसकी जेब मे समझा जाता था। ऐसे चुनाव लाज़िमी तौर पर एक तमाशा होते थे, खूब रिश्वतें चलती थी और वोट व पार्लमेण्ट की सीटें बिकती थी। बढते हुए मध्यमवर्ग के कुछ मालदार लोग इस तरह से पार्लमेण्ट की सीट खरीद सकते थे। लेकिन जनता के लोग दोनो मे से एक तरफ भी निगाह नही डाल सकते थे। उनको तो कोई मौरूसी हक या सत्ता मिलती न थी, और ज़ाहिर है कि वे सत्ता खरीद भी नही सकते थे। इसलिए जब धनवान और हकदार लोग उनकी छाती पर बैठकर उन्हें चूसते थे तो वे कर ही क्या सकते थे? पार्लमेण्ट मे या पार्लमेण्ट के मेम्बरो के चुनाव मे भी उनकी कोई आवाज़ न थी। सत्ताधारी लोग उनके बाहरी प्रदर्शनो तक से बहुत नाराज़ होते थे और इन्हे बलपूर्वक दबा दिया जाता था। वे बिखरे हुए, कमज़ोर और असहाय थे। लेकिन जब जुल्मो और मुसीबतो का प्याला भर गया तो वे कानून और व्यवस्था को भूलकर दगा कर बैठे। इस तरह इग्लैण्ड मे अठारहवी सदी मे गैर-कानूनी हरकतो का बहुत ज़ोर रहा। जनता की माली हालत आमतौर पर बहुत खराब थी। छोटे-छोटे काश्तकारो की ज़मीनें छीनकर और उन्हे ज़बर्दस्ती बेदखल करके बडे-बडे ज़मीदार अपनी जागीरें बढाने की कोशिशें कर रहे थे,

जिससे यह हालत और भी बुरी होती जा रही थी। गाँवो की शामलाती जमीन भी हड़प ली जाती थी। ये सब बातें जनता की मुसीबतो को बढानेवाली थी। शासन मे कोई आवाज न होने के कारण भी आम लोग नाराज थे और कुछ ज्यादा स्वतन्त्रता के लिए दबीदबी-सी माँग करते थे।

फ्रान्स मे तो हालत और भी खराब थी, जिसने वहाँ राज्य-क्रान्ति करा दी। इग्लैण्ड में बादशाह का महत्व कुछ नही रहा था और सत्ता ज्यादा लोगो के हाथ मे आ गई थी। इसके अलावा इग्लैण्ड मे फ्रान्स की तरह के राजनीतिक विचारो का विकास नही हुआ था। इसलिए इग्लैण्ड एक बडे भारी विस्फोट से बच गया और वहाँ परिवर्तन जरा धीरे-धीरे हुए। इसी अर्से मे उद्योगवाद और नये आर्थिक ढाँचे की वजह से जल्दी-जल्दी होनेवाले परिवर्तनो ने चाल को तेज कर दिया।

अठारहवी सदी मे इग्लैण्ड की राजनीतिक हालत का पिछवाडा यही था। खासकर विदेशी कारीगरो के आ बसने से इग्लैण्ड घरेलू उद्योग-धन्धो मे बहुत आगे बढ गया। यूरोप के मजहबी युद्धो ने बहुत-से प्रोटेस्टेण्टो को अपने देश और घर छोडकर इग्लैण्ड मे शरण लेने के लिए मजबूर किया। जिस समय स्पेनवाले नीदर-लैण्ड के विद्रोह को कुचलने की कोशिश कर रहे थे उस समय बहुत-से कारीगर नीदरलैण्ड से भागकर इग्लैण्ड आ गये। कहा जाता है कि इनमें से तीस हजार इग्लैण्ड के पूर्वी भाग मे बस गये और रानी एलिजाबेथ ने उनको इस शर्त पर वहाँ बसने की आज्ञा दी कि हरेक घर मे एक अग्रेज को काम सिखाने के लिए रक्खा जाय। इससे इग्लैण्ड को अपने कपडा-उद्योग को बनाने मे मदद मिली। जब यह उद्योग जम गया तो अग्रेजो ने नीदरलैण्ड के बने हुए कपडे का इग्लैण्ड मे आना रोक दिया। उधर नीडरलैण्ड अभी तक आजादी के भयानक युद्ध मे फँसा हुआ था, जिससे उसके उद्योग-धन्धो को नुकसान पहुँच रहा था। नतीजा यह हुआ कि जह पहले नीडरलैण्ड के कपडो से भरे हुए जहाज-के-जहाज इग्लैण्ड आया करते थे, वहाँ बहुत जल्दी न सिर्फ यह बन्द हो गया—बल्कि उलटे अग्रेजी कपडे नीदरलैण्ड की तरफ जाने लगे और इनकी मिकदार बढती ही गई।

इस तरह बेलजियम के वॉलून लोगो ने अग्रेजो को कपडा बुनना सिखाया। बाद मे फ्रान्स से प्रोटेस्टेण्ट शरणार्थी ह्यूजिनॉट आये और इन्होने अग्रेजो को रेशमी कपडा बुनना सिखाया। सत्रहवी सदी के पिछले हिस्से मे यूरोप के बहुत-से होशियार कारीगर इग्लैण्ड चले आये और अग्रेजो ने इनसे बहुत-से धन्धे सीखे, जैसे—कागज, कांच, चाभी के खिलौने और जेबी व दीवार की घडियाँ, बनाना।

इस तरह इग्लैण्ड, जो अभी तक यूरोप का एक पिछडा हुआ देश था, महत्व मे और दौलत मे बढने लगा। लन्दन की भी बढोतरी हुई और वह सौदागरो और व्यापारियो की मालामाल होती हुई आबादीवाला काफी महत्व का बन्दरगाह बन

गया। एक दिलचस्प कहानी से हमको पता लगता है कि सत्रहवी सदी के रूप मे ही लन्दन एक बड़ा भारी बन्दरगाह और व्यापार का केंद्र था। इग्लैण्ड का बादशाह जेम्स प्रथम, जो चार्ल्स प्रथम का—जिसका सिर उड़ा दिया गया था—पिता था, बादशाह की निरकुशता व दैवी अधिकार को पूरी तरह माननेवाला था। वह पार्लमेण्ट और लन्दन के इन कल के छोकरे व्यापारियो को पसन्द नहीं करता था। और उसने गुस्से मे आकर लन्दन के नागरिको को, अपनी राजधानी ऑक्सफोर्ड ले जाने की, धमकी दी। लन्दन के लार्ड मेयर पर इस धमकी का कुछ भी असर न हुआ और उसने कहा—"मुझे उम्मीद है कि हिज़ मैजेस्टी हमारे लिए टेम्स नदी तो छोड जाने की इनायत करेंगे।"

पार्लमेण्ट की मदद पर यही मालदार व्यापारी-वर्ग था और इसीने चार्ल्स प्रथम के साथ होनेवाली लड़ाई मे उसे खूब रुपया दिया था।

इग्लैण्ड मे जो सब उद्योग-धन्धे पैदा हुए वे घरेलू उद्योग या कुटीर-उद्योग कहलाते हैं। यानी कारीगर या दस्तकार लोग आमतौर पर अपने घरो मे या छोटे-छोटे गिरोहो मे काम करते थे। हरेक धन्धे के दस्तकारो की 'गिल्ड' या समितियाँ होती थी, जो भारत की बहुत-सी जातियो से मिलती-जुलती थी, लेकिन जिनमे इन जातियो का-सा मजहबी तत्व नही होता था। दस्तकारियो के उस्ताद शागिर्द रखते थे और उनको अपने हुनर सिखलाते थे। जुलाहो के निजी करघे होते थे, कातनेवाले निजी चरखे रखते थे? कताई का खूब प्रचार था और यह धन्धा लडकियाँ और औरतें फालतू वक्त मे करती थी' कही-कही छोटे-छोटे कारखाने होते थे जहाँ बहुत-से करघे इकट्ठे कर लिये जाते थे और जुलाहे मिलकर काम करते थे। लेकिन हरेक बुनकर अपने करघे पर अलग ही काम करता था, और चाहे वह इस करघे पर अपने घर ही काम करता या दूसरे बुनकरो और उनके करघो के साथ किसी दूसरी जगह काम करता, इन दोनो बातो मे कोई असली फर्क न था। यह छोटा कारखाना बडी मशीनोवाले आधुनिक कारखानो से बिलकुल अलग तरह का था।

उस ज़माने मे उद्योग-धन्धो का यह घरेलू दर्जा सिर्फ इग्लैण्ड मे ही नही बल्कि दुनिया भर के हरेक देश मे, जहाँ उद्योग-धन्धे होते थे, फूल-फल रहा था। मसलन भारत में ये घरेलू उद्योग-धन्धे बहुत उन्नत थे। इग्लैण्ड मे घरेलू-उद्योग-धन्धे क़रीब-क़रीब बिलकुल खत्म हो गये, लेकिन भारत मे अब भी बहुत-से मौजूद हैं। भारत में बड़ी मशीन और घरेलू करघा दोनो साथ-साथ चल रहे है, और इन दोनो का मिलान और फर्क देखा जा सकता है। तुम जानती हो कि हम जो कपडा पहनते हैं वह खादी है। यह हाथ-कता और हाथ-बुना है। और इसलिए पूरी तरह भारत की कुटीरो व कच्ची झोपड़ियों में बना हुआ है।

नये मशीनी आविष्कारो ने इंग्लैण्ड के घरेलू उद्योग-धन्धो की काया ही पलट दी। मशीनें आदमी का काम दिन-पर-दिन ज्यादा करने लगी और उनके ज़रिये कम मेहनत से ज्यादा माल पैदा करना आसान हो गया। ये आविष्कार अठारहवी सदी के बीच मे शुरु हुए और इनका ज़िक्र हम अगले पत्र मे करेंगे।

मैंने थोडे मे अपने खादी-आन्दोलन का ज़िक्र किया है। इसके बारे मे यहाँ मैं ज्यादा नही लिखना चाहता। लेकिन मैं तुमको बतला देना चाहता हूँ कि यह आन्दोलन या चरखा बडी मशीन से मुकाबला करने के लिए नही है। बहुत-से लोग इस गलती मे पड जाते है और यह ख़याल करने लगते हैं कि चरखे का अर्थ है मध्य-युगो को लौट जाना और मशीनो व उद्योगवाद के सब फलो को रद्दी समझकर फेंक देना। यह सब गलत है। हमारा आन्दोलन यकीनी तौर पर न तो उद्योगवाद के ही खिलाफ है और न मशीनो और कारख़ानो के। हम तो चाहते हैं कि भारत को सबसे अच्छी चीज़ें मिले और जहाँतक हो सके बहुत जल्दी मिले। लेकिन भारत की मौजूदा हालत को, और खासकर अपने किसानो की भयकर गरीबी को देखते हुए, हम उनसे अनुरोध करते हैं कि वे अपने फालतू समय मे सूत कातें। इस तरह वे न सिर्फ कुछ हद तक अपनी हैसियत सुधारते हैं, बल्कि विदेशी कपडे पर हमारी उस निर्भरता को भी कम करते हैं, जिसकी वजह से हमारे देश की इतनी दौलत बाहर जाती रहती है।

: ९८ :

## इंग्लैण्ड में उद्योगी क्रान्ति की शुरुआत

२२ सितम्बर, १९३२

अब मैं तुमको कुछ मशीनी आविष्कारो के बारे मे बतलाना चाहता हूँ, जिनकी वजह से पैदावार के तरीको मे बडा जबर्दस्त फर्क पड गया। आज हम उनको किसी मिल या कारख़ानो मे देखते हैं तो वे हमको कुछ ज्यादा पेचीदा नही लगते। लेकिन पहले-पहल उनका विचार करना और उनका आविष्कार करना बडी मुश्किल बात थी। सबसे पहला आविष्कार १७३८ ई० मे हुआ जब 'के' नामक एक अंग्रेज ने कपडा बुनने की सरकवाँ ढरकी बनाई। इस आविष्कार के पहले बुनकर के हाथ की ढरकी का धागा लम्बे फैले हुए ताने के तारो मे धीरे-धीरे गिराया जाता था। सरकवाँ ढरकी के ज़रिये यह काम बहुत जल्दी होने लगा, जिससे बुनकर दूना माल तैयार करने लगे। इसका मतलब यह हुआ कि अब बुनकर पहले से बहुत ज्यादा सूत काम मे ला सकता था। सूत की इस बढती हुई माँग को पूरा करने मे कतवालों को बडी दिक्कत हुई और वे भी अपनी पैदावार बढाने की कुछ तरकीब निकालने

की कोशिश करने लगे। १७६४ ई० मे हारग्रीव्ज ने कातने की 'जेनी' का आविष्कार करके इस समस्या को कुछ-कुछ हल कर दिया। इसके बाद रिचर्ड आर्कराइट और दूसरे लोगो ने और-और आविष्कार किये, जल-शक्ति का और बाद मे भाप-शक्ति का इस्तेमाल होने लगा। शुरू मे ये सब आविष्कार सूती कपडे के उद्योग मे काम मे लाये गए और सूती कपडे के कारखाने या मिलें घडा-घड खडे होने लगे। इसके बाद इन नये तरीको को उपयोग मे लानेवला ऊनी कपडो का उद्योग था।

इसी अर्से मे, १७६५ ई० मे, जेम्स वाट ने भाप का इजन बनाया। यह एक बडी भारी घटना थी और इसका नतीजा यह हुआ कि कारखानो को चलाने मे भाप का इस्तेमाल होने लगा। इन नये कारखानो के लिए कोयले की ज़रूरत पडी, इसलिए कोयले के उद्योग की तरक्की हुई। कोयले के इस्तेमाल से लोहा गलाने के, यानी कच्चे लोहे को गलाकर शुद्ध धातु अलग करने के, नये तरीके ईजाद हुए। इसपर लोहे का उद्योग बडी तेजी से बढने लगा। नये-नये कारखाने कोयले की खानो के पास बनाये जाने लगे, क्योकि वहाँ कोयला सस्ता पडता था।

इस तरह इग्लैण्ड मे तीन नये उद्योगो—कपडा, लोहा और कोयला—का विकास हुआ और कोयले के क्षेत्रो और दूसरी माकूल जगहो मे कारखाने खडे होने लगे। इग्लैण्ड की काया ही पलट गई। हरे-हरे खुशनुमा देहात के बजाय अब बहुत-सी जगह ये कारखाने पैदा हो गये, जिनकी लम्बी-लम्बी चिमनियाँ धुआँ उगलकर आस-पास अंधेरा करने लगी। कोयलो के ऊँचे टीलो और कूडे-कचरे के ढेरो से घिरे हुए ये कारखाने कुछ सुन्दर चीजें नही थी। इन कारखानो के पास बसनेवाले उद्योगी नगर भी कोई सुन्दर चीजें न थे। वे तो किसी तरह खडे कर लिये गये थे, क्योकि मिल-मालिको का तो असली मकसद था रुपया बनाते रहना। ये नगर भद्दे, बडे और गन्दे थे, और भूखो मरते मजदूरो को मजबूरी से इन नगरो और कारखानो की बडी बुरी और तन्दुरुस्ती खराब करनेवाली हालतो मे रहना पडता था।

तुम्हे याद होगा कि मैं लिख चुका हूँ कि बडे जमीदारो ने छोटे-छोटे काश्तकारो को ज़बर्दस्ती बेदखल कर दिया था और बेकारी बढी, इससे इग्लैण्ड मे दगे हुए और गदर मच गया। शुरू-शुरू मे इन नये उद्योगो ने हालत और भी खराब कर दी। खेती-बाडी को नुकसान पहुँचा और बेकारी बढने लगी। वास्तव मे जैसे ही कोई नया आविष्कार होता, वैसे ही उसका नतीजा यह होता कि हाथ के काम की जगह मशीनें ले लेती। उसका फल यह होता था कि बहुत बार मजदूर लोग नौकरी से निकाल दिये जाते थे, जिससे उनमे बहुत असन्तोष पैदा हो जाता था। इनमे से बहुत-से नई मशीनो से नफरत करने लगे और उनको तोड डालने की भी कोशिशें करने लगे। ये लोग 'मशीन-तोड' कहलाने लगे।

यूरोप में 'मशीन-तोड़ी' का एक लम्बा इतिहास है, जो सोलहवीं सदी से शुरू होता है, जबकि जर्मनी में एक मामूली मशीनी करघा ईजाद हुआ था। इटली के एक पादरी की १५७९ ई० में लिखी गई एक पुरानी पुस्तक में इस करघे के बारे में लिखा है कि डैनजिग की नगर-परिषद् ने "इस डर से कि आविष्कार सैकड़ों कारीगरों को दर-दर का भिखारी बना देगा, मशीन को नष्ट करवा दिया और आविष्कार करनेवाले को चुपचाप गला घोंटकर या पानी में डुबोकर मरवा डाला।" इस आविष्कार करनेवाले का इस तरह झटपट सफ़ाया कर दिये जाने पर भी सत्रहवीं सदी में यह मशीन फिर प्रकट हुई और इसकी वजह से सारे यूरोप में दंगे-फ़साद हुए। इसके इस्तेमाल को रोकने के लिए कितनी ही जगह क़ानून बनाये गए और कहीं-कहीं तो बीच बाजार में सब लोगों के सामने इसमें आग लगाई गई। अगर यह मशीन जिस समय ईजाद हुई थी उसी समय इस्तेमाल में आ जाती तो सम्भव है इसके बाद दूसरे आविष्कार होते और मशीन-युग ज़रा जल्दी आ जाता। लेकिन सिर्फ़ यही बात कि इसका इस्तेमाल नहीं किया गया यह साबित करती है कि उस समय की हालतों में इसका वक्त नहीं आया था। जब वक्त आ गया तो इंग्लैण्ड में बहुत-से दंगे-फ़साद होने पर भी मशीन की सत्ता क़ायम हो गई। मजदूरों की मशीन के लिए नाराजगी कुदरती बात थी। लेकिन धीरे-धीरे वे जान गये कि दोष मशीन का नहीं, बल्कि उस तरीक़े का था, जिससे वह थोड़े-से लोगों के फ़ायदे के लिए काम में लाई जाती थी। लेकिन अब हमको इंग्लैण्ड में मशीन और कारखानों के विकास की तरफ़ लौटना चाहिए।

नये कारख़ाने बहुत-से कुटीर-उद्योगों और घरेलू काम करनेवालों को खा गये। इन घरेलू काम करनेवालों के लिए मशीन से होड़ करना सम्भव न था, इसलिए या तो उनको अपने पुराने हुनरों और धन्धों को छोड़कर उन्हीं कारखानों में मजदूरी तलाश करनी पड़ती थी, जिनसे वे नफ़रत करते थे, या बेकारों में शामिल होना पड़ता था। कुटीर-उद्योगों का विनाश एकदम तो नहीं हुआ, लेकिन हुआ काफ़ी तेजी के साथ। सदी के अन्त तक, यानी करीब १८०० ई० तक बहुत-से बड़े-बड़े कारखाने नज़र आने लगे। तीस साल बाद इंग्लैण्ड में स्टीफ़ेन्सन के 'रॉकेट' नामक मशहूर इंजन के साथ भाप से चलनेवाली रेलें शुरू हुईं। इस तरह सारे देश में, और उद्योग-धन्धों व जीवन के लगभग सारे कामों में, मशीन दिन-पर-दिन आगे बढ़ती गई।

यह दिलचस्प बात है कि सारे आविष्कार करनेवाले, जिनमें से बहुतों का जिक्र मैंने नहीं किया है, दस्तकारों के वर्ग में पैदा हुए थे। इसी वर्ग में से शुरू-शुरू के बहुत-से उद्योगी नेता निकले। लेकिन उनके आविष्कारों का, और इनकी वजह से पैदा होनेवाले कारखानों के ढंग का, नतीजा यह हुआ कि मालिक और मजदूर

के बीच की खाई और भी ज्यादा चौडी हो गई। कारखाने का मजदूर मशीन का सिर्फ एक किर्रा बन गया और उन जबर्दस्त आर्थिक ताकतों के हाथ मे असहाय हो गया, जिनको वह समझ तक नही सकता था; उनपर काबू पाना तो दूर रहा। दस्तकार और कारीगर को सबसे पहले खटका तो तभी हुआ था जब उन्हें पता लगा कि नये कारखाने उन लोगो से होड कर रहे हैं और चीजें इतनी सस्ती बनाकर बेच रहे हैं, जितनी सस्ती अपने सादे और आदिम औजारो से घर पर बनाकर बेचना उनके लिए सम्भव न था। कोई कसूर न होते हुए भी उनको अपनी छोटी-छोटी दूकाने बन्द करनी पडीं। अगर वे अपने ही हुनर को नही चला सकते थे, तो नये हुनर मे सफल होना तो दूर की बात थी। बस, वे बेकारो की फौज मे शामिल हो गये और भूखो मरने लगे। अंग्रेजी कहावत है कि "भूख कारखानेदार का ड्रिल-सारजैण्ट[1] है," और इसी भूख ने आखिर इन कारीगरो को नौकरी की तलाश मे नये कारखानो के दरवाजो पर ला पटका। मालिको ने उनकी तरफ जरा भी दया नही दिखाई। उन्होंने इन्हें काम तो दिया, लेकिन सिर्फ कौडी भर मजदूरी पर, जिसके लिए इन कम्बख्त मजदूरो को कारखानो मे अपना खून पानी कर देना पडता था। औरतें और छोटे-छोटे बच्चे तक भी दम घोटनेवाली और गन्दी जगहो मे, दिन-रात पिसते थे। यहांतक कि उनमे से बहुत-से तो थकान के मारे गश खाकर गिर पडते थे। लोग कोयले की खानो के अन्दर ठेठ नीचे सारे-सारे दिन काम करते थे और महीनो तक उनको सूरज के दर्शन न होते थे।

लेकिन यह खयाल न कर बैठना कि इन सबकी वजह मालिको का जुल्म ही थी। वे दिल से बेरहम कभी न थे, दोष तो उस प्रणाली का था। वे तो जिस तरह हो अपना व्यापार बढाना चाहते थे और दुनिया की दूर-दूर की मंडियां दूसरे देशो से छीनना चाहते थे, और ऐसा करने के लिए वे सब कुछ करने को तैयार थे। नये कारखानो के बनाने मे और मशीनें खरीदने में बहुत रुपया खर्च होता है। यह रुपया तभी वापस मिलता है, जब कारखाना चालू हो जाय और उसका माल बाजार में बिकने लगे। इसलिए नये कारखाने बनाने के लिए इन कारखानों के मालिकों को किफायत से चलना पडता था और जब माल बिककर रुपया आ जाता था तो भी नये-नये कारखाने डालते चले जाते थे। इंग्लैण्ड मे जल्दी उद्योगीकरण होने से ये लोग दुनिया के दूसरे देशों से आगे बढे हुए थे और इससे फायदा उठाना चाहते थे—और वास्तव मे उन्होंने फायदा उठाया भी। बस, अपना व्यापार बढाने और ज्यादा धन कमाने की बदहवास लालसा मे वे उन बेचारे

---

[1] ड्रिल-सारजैण्ट यानी फौज को ड्रिल—कवायद करानेवाला अफसर, जिसकी आज्ञा पर फौज चलती है।

मजदूरो का खून चूसते थे, जिनकी मेहनत उनकी दौलत पैदा करने का ज़रिया थी।

उद्योग-धन्धो की यह नई प्रणाली वलवानो के हाथो निर्बलो के शोषण के लिए खासतौर पर अनुकूल थी। सारे इतिहास मे हम बलवानो के हाथो निर्बलो को चूसा जाता देखते हैं। कारखानो की प्रणाली ने इसे और भी आसान कर दिया। क़ानून मे तो गुलामी नही थी, लेकिन सच तो यह है कि भूखो मरनेवाला मजदूर, यानी कारखाने का मज़दूर गुलाम, पुराने जमाने के गुलामो से किसी तरह अच्छी हालत मे न था। कानून हमेशा मालिको का ही साथ देता था। मजहब भी उन्ही के पक्ष मे था और गरीबो से कहता था कि इस जन्म मे अपने फूटे भाग्य को बर्दाश्त करो और अगले जन्म मे स्वर्गीय मुआवज़े की आशा करो। शासक वर्गों ने तो वास्तव मे अपने सुभीते की फिलासफी वना ली थी कि समाज के लिए ग़रीबो का होना ज़रूरी है और इसलिए कम मजदूरी देना नेकी है। अगर अच्छी मज़दूरी दी जायगी तो गरीब लोग मौज उडाने की कोशिश करेंगे और कडी मेहनत न करेंगे। विचार करने का यह तरीका बडा तसल्ली देनेवाला और फायदेमन्द था। क्योंकि कार-खानेदारो और दूसरे मालदार लोगो के दौलत बटोरने के स्वार्थ से यह बिलकुल ठीक मेल खाता था।

इस ज़माने का इतिहास वडा दिलचस्प और नसीहत देनेवाला है। इससे कितनी जानकारी हासिल होती है। हम देख सकते हैं कि अर्थशास्त्र पर और समाज पर पैदावार के इन मशीनी तरीक़ों का कितना ज़बर्दस्त असर पडता है। सारा समाजी तख्ता ही उलट जाता है, नये-नये वर्ग आगे आते हैं और सत्ता हासिल करते जाते हैं, कारीगरो का वर्ग कारखानो का मज़दूरी कमानेवाला वर्ग बन जाता है। साथ-ही-साथ नई अर्थ-व्यवस्था से मज़हब और नीति के बारे मे भी लोगो के विचार नये साँचे मे ढल जाते हैं। मनुष्य-जाति के आम लोगो के यक़ीन उनके हितो या वर्ग-भावनाओ के साथ-साथ दौडते हैं, और जब कानून बनाने की ताकत उनके हाथ मे आ जाती है तो वे अपने हितो की हिफाज़त के लिए कानून बनाने मे खूब सावधानी रखते हैं। अलबत्ता इस सारी नेकी को, हर तरह की दिखावट के साथ किया जाता है, और हर तरह से भरोसा दिया जाता है कि कानून की तह मे सिर्फ मनुष्य-जाति की भलाई करने का ही मकसद है। हम भारत वासियो को भारत के अंग्रेज वाइसरायो और दूसरे अफसरो की ऐसी दिखावटी नेक भावनाओ का काफी तजुर्बा है। हमसे हमेशा कहा जाता है कि भारत की भलाई के लिए वे लोग कितनी मेहनत करते हैं। लेकिन दूसरी तरफ वे आर्डिनेन्सो और सगीनो के ज़ोर से हम पर राज करते हैं और हमारे देशवासियो के कलेजे का खून चूसते हैं। हमारे ज़मीदार लोग कहते हैं कि वे काश्तकारो से कितनी मुहब्बत करते हैं, लेकिन उनको निचोडने और उनसे कसकर लगान वसूल करने मे ज़रा भी नही हिचकते, यहाँतक

कि उन वेचारो के पास सिवाय भुखमरे शरीरो के और कुछ नही छोडते। हमारे पूजीपति और वडे-वडे मिल-मालिक मज़दूरो के लिए अपनी नेक-नीयती का भरोसा दिलाते हैं, लेकिन यह नेक-नीयत अच्छी मजदूरी या मज़दूरो को ज्यादा सहूलियतें देने मे प्रकट नही होती। सारे मुनाफे नये-नये महल वनवाने मे खर्च हो जाते हैं, मज़दूरो की कच्ची झोपडियो को सुधारने मे नही।

ताज्जुव है कि लोग अपने-आपको और दूसरो को किस कदर धोखा देते हैं, अगर ऐसा करना उनके हित मे हो। इसलिए हम अठारहवी सदी और उसके वाद के अंग्रेज़ मालिको को मज़दूरो की हालत सुधारने की सारी कोशिशो मे अडगा डालते हुए पाते है। उन्होंने कारखानो के वारे मे कानून और मजदूरो के लिए अच्छे मकान बनाने पर ऐतराज़ किया और यह मानने से इन्कार किया कि उनकी मुसीवतो के इन कारणो को दूर करना समाज का फर्ज है। वे तो यह सोचकर तसल्ली कर लेते थे कि सिर्फ निकम्मे लोग ही दुःख उठाते हैं। कुछ भी हो, वे तो मज़दूरो को अपने-जैसा आदमी भी नही समझते थे। उन्होंने 'मुक्त-व्यापार'[1] की एक नई फिलासफी वनाई, यानी वे चाहते थे कि अपने व्यापार मे वे जो मन मे आवे सो करें और सरकार उसमे कोई दखल न दे। उन्होंने दूसरे देशो से पहले चीज़ बनाने के कारखाने खोले थे, इसलिए वे उनसे आगे थे और अव तो वे सिर्फ यही चाहते थे कि रुपया कमाने के लिए उनको खुली छूट मिल जाय। मुक्त-व्यापार का न्याय करीव-करीव एक दैवी मत वन गया, जिसमे यह माना जाता था कि इसमे हरेक को मौका मिलता था, वशर्ते कि वह फायदा उठा सके। आगे वढने के लिए हरेक स्त्री और पुरुष को वाकी ससार से लडना पडता था और अगर इस लडाई मे वहुत-से काम आ जाते थे तो इसमे हर्ज क्या था?

इन पत्रो के दौरान मे मैं तुमको आदमी-आदमी के आपसी सहयोग की प्रगति के वारे मे लिख चुका हूँ, जो सभ्यता का आधार रहा था। लेकिन 'मुक्त-व्यापार' के न्याय और नये पूँजीवाद ने जगल का कानून[2] चालू कर दिया। कार्लाइल ने इसे 'शूकर-नीति'[3] नाम दिया है। जीवन और व्यापार का यह नया कानून किसने वनाया? मज़दूरो ने तो नही। उन वेचारो की तो सुनता ही कौन था। इसके वनाने-वाले तो ऊँचे वर्ग के सफल मिल-मालिक थे, जो इसे वेवकूफी की भावना वताकर

---

[1] Laissez Faire

[2] जंगल का कानून—बलवानों के द्वारा निर्बलों के नाश का नियम, जिसके अनुसार मनुष्य के सिवा संसार के सब प्राणी आचरण करते हैं। जगल मे छोटे जानवरो को बडे जानवर मारकर खा जाते है और उनसे बडे उनको मारकर खा जाते हैं।

[3] 'Pig Philosophy.

अपनी सफलता मे किसी तरह की दस्तदाजी नही चाहते थे। बस, स्वतन्त्रता की और मिल्कियत के हक की दुहाई देकर वे इसका भी विरोध करते थे कि लोगो के निजी मकानो की कानून के जोर से सफाई कराई जाय और माल मे मिलावट करना रोका जाय।

मैने अभी पूंजीपति शब्द का इस्तेमाल किया है। किसी-न-किसी रूप मे पूंजीवाद बहुत दिनो से सब देशो मे चला आ रहा था, यानी जमा किये हुए धन से उद्योग चलाये जाते थे। लेकिन बडी मशीन और उद्योगवाद के आने का नतीजा यह हुआ कि कारखानो मे माल तैयार करने के लिए बहुत ज्यादा रुपये की जरूरत पडने लगी। यह 'उद्योग की पूंजी' कहलाती थी और पूंजीवाद शब्द आजकल उस अर्थ-व्यवस्था के लिए काम मे लाया जाता है, जो उद्योगी क्रान्ति के बाद पैदा हुई। इस व्यवस्था के अन्दर पूंजीपति, यानी पूंजी के मालिक, कारखानो के मालिक थे और उनके मुनाफे कमाते थे। उद्योगीकरण के साथ-साथ पूंजीवाद सारी दुनिया मे फैल गया, सिवाय सोवियत रूस और शायद कुछ दूसरे देशो के। पूंजीवाद अपनी शुरुआत के दिनो से ही अमीर और गरीब के भेद पर जोर देता रहा है। उद्योग-धन्धो के मशीनीकरण से माल की पैदावार बहुत ज्यादा बढ गई और इसलिए दौलत भी खूब पैदा होने लगी। लेकिन यह नई दौलत एक छोटी-सी जमात ही की जेब मे जाती थी—यानी नये उद्योगो के मालिको की जेबो मे। मजदूर गरीब के गरीब ही बने रहे। इग्लैण्ड मे मजदूरो की हालत बहुत ही धीरे-धीरे सुधरी, और वह भी ज्यादातर भारत व दूसरे देशो की लूट की बदौलत, लेकिन उद्योगो के मुनाफे मे मजदूरो का हिस्सा बहुत कम था। उद्योगी क्रान्ति और पूंजीवाद ने पैदावार की समस्या को हल कर दिया। लेकिन जो नई दौलत पैदा हुई, उसके बंटवारे की समस्या इनसे हल नही हुई। धनवानो और धनहीनो की पुरानी कशमकश सिर्फ जारी ही न रही, बल्कि और भी तीखी हो गई।

उद्योगो की क्रान्ति अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से मे हुई। यह वही समय था, जब अंग्रेज लोग भारत व कनाडा मे लड रहे थे। यही सात साल की लडाई का भी समय था। इन घटनाओ का एक-दूसरी पर बहुत बडा असर पडा। ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके नौकर-चाकरो (तुम्हे क्लाइव का नाम याद होगा) ने प्लासी की लडाई के बाद जो बेशुमार रुपया भारत से लूटा उससे इन नये उद्योग-धन्धो को चालू करने मे बडी मदद मिली। मैं इस पत्र मे पहले लिख चुका हूं कि उद्योगीकरण शुरू-शुरू मे बडे खर्च का काम है। इसमें जो रुपया फंस जाता है, कुछ दिन तक उससे कुछ फायदा नही मिलता। अगर बहुत-सा धन हाथ मे न आ जाय, चाहे कर्ज से या दूसरी तरह से, तो जबतक उद्योग चल न निकले और रुपया न पैदा करने लगे तबतक उसका नतीजा गरीबी और मुसीबत ही होता है। इग्लैण्ड

का यह असाधारण सौभाग्य था कि ठीक जिस वक्त उसे अपने उद्योग-धन्धों और कारखानों को बढ़ाने के लिए रुपये की सबसे ज्यादा जरूरत हुई तभी भारत से उसे बेशुमार रुपया मिल गया।

इन नये कारखानों के बन जाने पर नई जरूरतें पैदा हुई। कारखानों की बनी हुई चीजें तैयार करने के लिए कच्चे माल की जरूरत हुई। मसलन, कपड़ा बनाने के लिए रूई की जरूरत पड़ी। इससे भी ज्यादा जरूरत थी नये-नये हाट-बाजारों की, जिनमे कारखानों मे तैयार किया हुआ नया माल बेचा जा सके। कारखाने पहले खोलकर इंग्लैण्ड दूसरे देशो से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। लेकिन इस पेशकदमी के होते हुए भी उसे ऐसे हाट-बाजार मुश्किल से मिलते थे, जहाँ माल आसानी से बेचा जा सके। एक बार फिर भारत ने, अपनी मर्जी के बिलकुल खिलाफ, इंग्लैण्ड की यह दिक्कत दूर कर दी। भारत मे अंग्रेजों ने भारतीय उद्योग-धन्धो का सत्यानाश करने और भारत पर विलायती कपड़ा लादने के लिए सब तरह की चालबाजियों से काम लिया। इसका ज्यादा हाल मैं आगे बताऊँगा। यहाँ यह बात खास तौर पर ध्यान देने की है कि अंग्रेजों ने भारत पर जो कब्जा कर रक्खा था और उसे जबर्दस्ती अपनी योजनाओं मे बिठा लिया था, इससे इंग्लैण्ड की उद्योगी क्रान्ति को कितनी मदद मिली।

उन्नीसवी सदी मे उद्योगवाद सारी दुनिया मे फैल गया और पूँजीवादी उद्योग का दूसरे देशो मे भी उसी मोटे ढँग से विकास हुआ, जो इंग्लैण्ड मे शुरू किया गया था। पूँजीवाद ने लाज़िमी तौर पर एक नये साम्राज्यवाद को जन्म दिया क्योंकि हर जगह तैयार माल बनाने के लिए कच्चे माल की और तैयार माल को बेचने के लिए हाट-बाजारों की माँग बढ़ने लगी। बाजार और कच्चा माल हासिल करने का सबसे आसान तरीका यही था कि उस देश पर कब्जा कर लिया जाय। बस, ज्यादा शक्तिशाली देशो मे नये उपनिवेशो के लिए आपस मे जंगलियो जैसी छीना-झपटी होने लगी। इस मामले मे भी भारत पर कब्जा और समुद्री ताक़त, इन दोनो वजहो मे इंग्लैण्ड फायदे मे था। लेकिन साम्राज्यवाद और उसके नतीजो के बारे मे मुझे आगे चलकर कुछ कहना है।

उद्योगों की क्रान्ति के आने से अंग्रेजी दुनिया पर लंकाशायर के बड़े-बड़े कपड़ा बनानेवालो, और लोहे के मालिको और खानो के मालिको का प्रभुत्व दिन-पर-दिन बढ़ता गया।

— ९९

## अमेरिका का इंग्लैण्ड से नाता तोड़ना

२ अक्तूबर, १९३२

अब हम अठारहवी सदी की दूसरी बड़ी क्रान्ति पर विचार करेंगे—यानी

मेंस १
न्यू हेमिस्फियर २
न्यू यार्क ३
कॉन ४
रोड द्वीप ५
पेन्सलवेनिया ६
न्यू जर्सी ७
मेरीलेंड ८
डेल ९
वर्जीनिया १०
उ केरोलिना ११
द केरोलिना १२
जार्जिया १३
स्पेनिश
ब्रिटिश
मिसौरी नदी
केनाडा
ओहियो नदी
इंडियन
कैलीफोर्निया
न्यू स्पेन
फ्लोरिडा
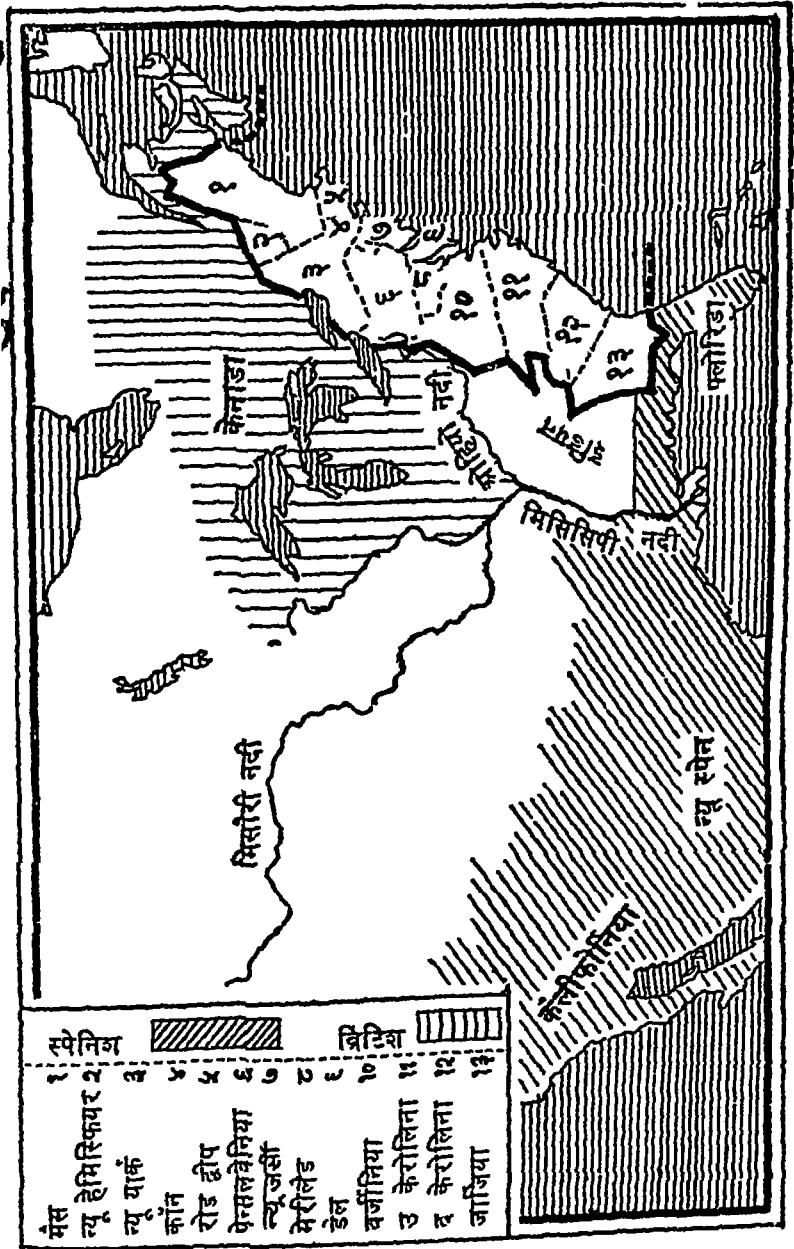
अमेरिकी उपनिवेशो का इंग्लैण्ड से विद्रोह । यह तो निरी राजनीतिक क्रान्ति थी, जो न तो उद्योगी क्रान्ति जैसे बुनियादी महत्व की थी, जिस पर हम विचार कर चुके हैं, और न फ्रान्स की उस राज्य-क्रान्ति की तरह थी, जो इसके थोडे ही दिनो वाद होनेवाली थी और जिसने यूरोप की समाजो नीव को ही हिला डाला। लेकिन फिर भी अमेरिका मे होनेवाला यह राजनीतिक परिवर्तन महत्व का था और इससे बड़े-वडे नतीजे निकलनेवाले थे। उस वक्त जो अमेरिकी उपनिवेश आजाद हो गये थे वे आज वढकर दुनिया का सवसे शक्तशाली, सबसे मालदार और उद्योगो के लिहाज़ से सवसे ज्यादा वढा हुआ देश वन गये हैं।

तुम्हें 'मे' फ्लावर' जहाज़ का नाम याद होगा, जो १६२० ई० मे प्रोटेस्टेण्टो का एक जत्था इग्लैण्ड से अमेरिका ले गया था। वे जेम्स प्रथम की निरकुशता को नापसन्द करते थे, और उसके मजहव को भी। इसलिए ये लोग, जो तबसे 'पिल्ग्रिम-फादर्स' (यान्त्रिक-पितागण) कहलाते हैं, इग्लैण्ड की ज़मीन को हमेशा के लिए सलाम करके अतलान्तिक समुद्र के पार एक नये अजनबी देश को चले गए। उनका इरादा वहाँ ऐसा उपन्निवेश कायम करने का था, जिसमे उनको ज्यादा आज़ादी रहे। वे उत्तर मे उतरे और उस जगह का नाम उन्होने न्यू-प्लाइमाउथ रक्खा। उत्तरी अमेरिका के समुद्री किनारे के दूसरे हिस्सो मे इनसे पहले भी उप-निवेशी लोग जा वसे थे। इनके वाद वहुत-से और लोग भी जा पहुंचे और पूर्वी किनारे पर उत्तर से लगाकर दक्षिण तक बहुत-से छोटे-छोटे उपनिवेश कायम हो गये। वहा कैथलिक उपनिवेश थे, इग्लैण्ड से आये हुए 'कैवेलियर' अमीर-सरदारो के क़ायम किये हुए उपनिवेश थे, और 'क्वेकर'[1] उपनिवेश थे—पैनसिलवेनिया शहर का नाम पैन नामक क्वेकर नेता के ऊपर ही पडा है। वहाँ डच लोग भी वसते थे, जर्मनी व डेनमार्क के निवासी भी, और कुछ फ्रान्सीसी भी। इसमे सभी देशो के निवासी मिले हुए थे, लेकिन सवसे ज्यादा सख्या अग्रेज़ उपनिवेशियो की थी। डचो ने एक शहर वसाया और उसका नाम न्यू-एमस्टर्डम रक्खा। वाद मे जव यह अंग्रेजो के हाथ मे आया तो उन्होंने इसका नाम वदलकर न्यूयार्क कर दिया जो आजकल इतना मशहूर है।

अग्रेज उपनिवेशी इग्लैण्ड के वादशाह और पार्लमेण्ट को मानते रहे।

---

[1] सन १६४९ ई० में विलियम फ्रॉक्स ने एक 'सोसाइटी आफ़ फ्रेण्ड्स' (मित्र-मण्डली) क़ायम की थी, जिसका उद्देश्य धर्म के 'ढकोसलो' को छोड़ देना और शान्ति स्थापित करना था। इन लोगो का मुंह-बोला नाम 'क्वेकर' पड गया। अमेरिका मे इस सोसाइटी का सगठन विलियम पैन ने किया था। इन लोगों का जबर्दस्त अन्तर्राष्ट्रीय और सामाजिक प्रभाव रहा है।

बहुत-से लोगो ने अपने घर इसलिए छोड दिये थे कि वे इग्लैण्ड मे अपनी हालात से बेजार थे और बादशाह या पार्लमेण्ट के बहुत-से कामो को नापसन्द करते थे। लेकिन उनसे नाता तोडने की इच्छा बिलकुल न थी। दक्षिण के उपनिवेश, जिनमे कैवेलियर लोग और बादशाह के समर्थको का जोर था, इग्लैण्ड से और भी ज्यादा चिपके हुए थे। ये सब उपनिवेश अपनी-अपनी अलग-अलग जिन्दगी बिताते थे और एक-दूसरे से अलग तरह के थे। अठारहवी सदी तक पूर्वी किनारे पर तेरह उपनिवेश थे, और ये सब इग्लैण्ड के मातहत थे। उत्तर मे कनाडा था और दक्षिण मे स्पेन का इलाका। इन तेरहो उपनिवेशो मे जितनी डचो की या डेनमार्कवालो की या दूसरी बस्तियाँ थी, वे सब इन्ही मे शामिल कर ली गई थी और अग्रेजो के कब्जे मे थी। लेकिन याद रहे कि ये सब उपनिवेश किनारे पर ही और किनारे के पास ही कुछ भीतर की तरफ थे। इनके परे पश्चिम मे प्रशान्त महासागर तक विशाल देश फैला हुआ था, जो आकार मे इन तेरहो उपनिवेशो से करीब दस गुना बडा था। इन इलाको मे कोई यूरोपीय उपनिवेशी बसे हुए न थे। इनमे तो 'रेड इण्डियनो'[1] के जुदे-जुदे कबीले या राष्ट्र बसते थे, और ये उन्हीके कब्जे मे थे। इनमे मुख्य 'आइरोकोइस' थे।

अठारहवी सदी के बीच मे, जैसा कि तुम्हे खयाल होगा, इग्लैण्ड और फ्रान्स की ससार-व्यापी लडाई हुई। यह 'सात साल का युद्ध' (१७५६-१७६३ ई० तक) कहलाता है जो सिर्फ यूरोप मे ही नही, बल्कि भारत और कनाडा में भी लडा गया। इग्लैण्ड की जीत हुई और फ्रान्स को कनाडा उसके हवाले करना पडा। इस तरह अमेरिका से फ्रान्स का पत्ता कट गया और उत्तरी अमेरिका के सारे उपनिवेश इग्लैण्ड के कब्जे मे आ गये। कनाडा के सिर्फ क्यूबेक प्रान्त मे ही कुछ फ्रान्सीसी लोगो की आबादी थी, बाकी उपनिवेशो में अग्रेज ही ज्यादा थे। अजीब बात है कि क्यूबेक अभी तक 'ऐंग्लो-सैक्सन'[2] आबादी से घिरा हुआ फ्रान्सीसी भाषा और सस्कृति का एक टापू-सा है। क्यूबेक प्रान्त के सबसे बडे शहर माण्ट्रील

---

[1] कोलम्बस जब हिन्दुस्तान की तलाश मे निकला तो अमेरिका जा पहुँचा। वहाँ के निवासियो को देखकर उसने उनको हिन्दुस्तानी समझा और तभी से उनको 'इडियन' कहा जाने लगा। लेकिन जब मालूम हुआ कि ये लोग हिन्दुस्तानी न थे तो उनका ताम्बे जैसा रग होने के कारण 'रेड इडियन' का नाम दे दिया गया। ये लोग अब भी थोडी-बहुत तादाद मे उत्तरी अमेरिका में पाये जाते हैं।

[2] इंग्लैण्ड के निवासी ऐंग्लो-सैक्सन जाति के माने जाते हैं। कहते हैं कि पहले-पहल जर्मनी के सैक्सनी प्रान्त से लोग यहाँ आकर बसे थे।

(मॉण्ट रायल का बिगडा हुआ रूप) मे, मैं समझता हूँ, फ्रान्सीसी भाषा बोलने-वाले इतने ज्यादा लोग हैं, जितने पेरिस के सिवा और किसी शहर मे नही होगे।

पिछले किसी पत्र मे मैं गुलामो के उग्र व्यापार का जिक्र कर चुका हूँ जो यूरोप के देशो ने अफ्रीका से हब्शी मजदूर पकड-पकडकर अमेरिका भेजने के लिए चला रक्खा था। यह भयानक और हौलनाक व्यापार ज्यादातर स्पेनियो, पुर्तगालियो और अंग्रेजो के हाथो मे था। अमेरिका मे मजदूरो की जरूरत थी, खासकर दक्षिणी राज्यो मे, जहाँ तमाखू की खेती खूब होने लगी थी। अमेरिका के मूल निवासी 'रेड-इण्डियन' कहलानेवाले लोग, घुमक्कड थे और एक जगह टिककर रहना पसन्द नही करते थे। इसके अलावा उन्होने गुलामो की हालत मे काम करने से भी इन्कार किया। वे झुकनेवाले न थे; तबाह हो जाना उन्होने बेहतर समझा, और बाद मे वे तबाह हो भी गये। उनका करीब-करीब सफाया कर दिया गया और नई हालतो मे वे जिन्दा न रह सके। इन लोगो मे से, जो किसी समय सारे महाद्वीप मे बसे हुए थे, आज बहुत कम बाकी बचे हैं।

चूंकि रेड-इडियन लोग तो खेतो मे काम करने के लिए मजबूर नही किये जा सके, और मजदूरो की बडी भारी जरूरत थी, इसलिए अफ्रीका के कम्बख्त निवासियो को भयानक नर-आखेटो के जरिये पकडा जाता था, और जिस तरीके से उनको समुद्र पार भेजा जाता था, उसकी बेरहमी पर विश्वास करना मुश्किल है। ये अफ्रीकी हब्शी वर्जिनिया, कैरोलिना और जॉर्जिया के दक्षिणी राज्यो को भेजे जाते थे, जहाँ इनकी टोलियाँ बनाकर इनसे ज्यादातर तमाखू की बडी-बडी वाडियो मे काम लिया जाता था।

उत्तरी राज्यो मे हालतें इससे जुदा थी। 'मे-फ्लावर' जहाज मे आये हुए 'पिल्ग्रिम फादर्स' की पुरानी प्यूरिटन परम्पराएँ अभी तक चल रही थी। वहाँ छोटे-छोटे घने फार्म थे, दक्षिण की तरह विशाल वाडियाँ न थी। इन फार्मो मे गुलामो की या मजदूरो की ज्यादा सख्या की जरूरत न थी। चूंकि नई जमीन की कमी न थी, इसलिए हरेक आदमी की कोशिश यही रहती थी कि अपना निजी फार्म रखकर खुद-मुख्तार बना रहे। इसलिए इन बसनेवालो मे बराबरी की भावना बढने लगी।

इस तरह हम इन उपनिवेशो मे दो आर्थिक प्रणालियो का विकास देखते हैं, एक तो उत्तर मे, जो छोटे-छोटे फार्मों और बराबरी के कुछ विचारो पर टिकी हुई थी, और दूसरी दक्षिण मे, जिसका आधार बडी-बडी वाडियाँ और गुलामी था। रेड-इडियनो के लिए इन दोनो मे से किसी मे भी जगह न थी। इसलिए ये लोग, जो इस देश के मूल निवासी थे, धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ खदेड दिये गए। रेड-

इडियनो के आपसी झगडो और आपसी फूट ने इस सिलेसिले को और भी आसान कर दिया।

इग्लैण्ड के वादशाह और वहुत-से अग्रेज़ जमीदारो का इन उपनिवेशो मे, खासकर दक्षिण मे, वहुत रुपया फँसा हुआ था। वे इनसे जितना फायदा हो सके, उठाने की कोशिश करते थे। सात साल के युद्ध के वाद अमेरिका के उपनिवेशो से रुपया वसूल करने के लिए खासतौर पर कोशिश की गई। इग्लैण्ड की पार्लमेण्ट, जिसमे ज़मीदारो की ही तूती वोलती थी, उपनिवेशो के शोषण को तैयार वैठी थी और उसने वादशाह का साथ दिया। टैक्स लगा दिये गए और व्यापार पर पावन्दियाँ लगा दी गईं। तुम्हे याद होगा कि इसी समय मे भारत मे भी अग्रेज़ो ने वगाल की गहरी लूट शुरू कर दी थी और भारत के व्यापार के रास्ते मे हर तरह की रुकावटें डाली गई थी।

उपनिवेशियो ने इन पावन्दियो और नये टैक्सो का विरोध किया, लेकिन सात साल के युद्ध मे विजय के वाद ब्रिटिश सरकार को अपनी ताक़त का इतना भरोसा हो गया था कि उसने इनके विरोध की ज़रा भी परवाह न की। उधर इस सात साल के युद्ध से उपनिवेशो ने भी वहुत-सी वातें सीख ली थी। अलग-अलग उपनिवेशो या राज्यो के लोग आपस में मिले और एक दूसरे को जानने-पहचानने लगे। वे सिखाई हुई अग्रेज़ी फौजो के साथ फ्रान्सीसी फ़ौजो के खिलाफ लड चुके थे और इस तरह लडने के तरीको से और युद्ध के हौलनाक खेल से जानकार हो गये थे। इसलिए अपनी तरफ से ये उपनिवेशी भी ऐसी वात को सीधी तरह मानने के लिए तैयार न थे, जिसे वे अपने साथ अन्याय और ज्यादती समझते थे।

१७७३ ई० मे जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इडिया कम्पनी की चाय जवरन उनके सिर थोपनी चाही तो मामला काबू से बाहर हो गया। ईस्ट इडिया कम्पनी मे इग्लैण्ड के वहुत-से मालदारो के हिस्से थे, जिससे वे उसकी कमाई मे दिलचस्पी रखते थे। सरकार इन्ही लोगो की मुट्ठी मे थी, और शायद सरकार के मन्त्रियो का खुद भी ईस्ट-इडिया कम्पनी के व्यापार मे कुछ साझा था। इसलिए सरकार ने ईस्ट इडिया कम्पनी को अमेरिका चाय भेजने और वहाँ उसे वेचने की सहूलियत देकर व्यापार को मदद पहुँचाने की कोशिश की। लेकिन इससे उपनिवेशों के चाय के मुकामी व्यापार को धक्का पहुँचा और लोग वहुत नाराज़ हुए। इसलिए इस विदेशी चाय के वायकाट का फैसला किया गया। दिसम्वर, १७७३ ई० मे जव ईस्ट इडिया कम्पनी की चाय वोस्टन पर उतारी जाने लगी तो उसे रोका गया। कुछ उपनिवेशी रेड-इडियानो का भेष वनाकर माल के जहाज़ो पर चढ गये और उन्होने चाय को समुद्र मे फेंक दिया। यह काम खुल्लमखुल्ला और उनका समर्थन

करनेवाली एक भारी भीड़ के सामने किया गया। यह एक चुनौती थी, जिसका नतीजा यह हुआ कि बागी उपनिवेशों और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध ठन गया।

इतिहास की घटनाएँ ठीक उसी तरह दुबारा कभी नहीं होतीं, फिर भी यह अजीब बात है कि कभी-कभी वे कितनी मिलती-जुलती होती हैं। बोस्टन में १७७३ ई० में चाय के समुद्र में फेंके जाने की यह घटना बड़ी मशहूर हो गई है। यह 'बोस्टन टी-पार्टी' कहलाती है। ढाई साल हुए, जब बापू ने अपनी नमक की लड़ाई और दाँडी की महान् यात्रा और नमक पर धावे शुरू किये थे तो अमेरिका के बहुत-से लोगों को 'बोस्टन टी पार्टी' का खयाल आ गया था और वे इस नई 'साल्ट-पार्टी' का उससे मिलान करने लगे। लेकिन असल में इन दोनों में बहुत बड़ा फर्क था।

डेढ़ साल बाद, १७७५ ई० में, इंग्लैण्ड और उसके अमेरिकी उपनिवेशों के बीच युद्ध ठन गया। उपनिवेश किस बात के लिए लड़ाई लड़ रहे थे? आजादी के लिए नहीं, न इंग्लैण्ड से अलहदा होने के लिए, यहाँतक कि जब लड़ाई शुरू हो गई और दोनों तरफ खून बह चुका, तब भी उपनिवेशियों के नेता, इंग्लैण्ड के जार्ज तृतीय को 'मोस्ट ग्रेशस सॉवरेन'[1] कहते रहे और अपने-आपको उसकी वफादार प्रजा मानते रहे। यह बात बड़ी दिलचस्प है, क्योंकि ऐसी बात तुम्हें अक्सर होती हुई दिखाई देगी। हालैण्ड में स्पेन का फिलिप द्वितीय बादशाह कहलाता था, हालाँकि उसकी फौज के साथ भीषण लड़ाई छिड़ी हुई थी। बहुत वर्षों की लड़ाई के बाद कहीं जाकर हालैण्ड को मजबूर होकर अपनी स्वाधीनता की घोषणा करनी पड़ी। भारत में भी बहुत वर्षों तक शंका और हिचकिचाहट और उपनिवेशी स्वराज्य के खयाल से खिलवाड़ करने के बाद, हमारी राष्ट्रीय कांग्रेस ने, पहली जनवरी, १९३० ई० को पूर्ण स्वराज्य के हक में घोषणा की। अब भी कुछ लोग ऐसे हैं, जो, मालूम होता है, स्वाधीनता के विचार से घबराते हैं और भारत में उपनिवेशी शासन की बातें करते हैं। लेकिन इतिहास हमको बतलाता है और हालैण्ट और अमेरिका की मिसालें जाहिर कर देती हैं कि ऐसी लड़ाई का नतीजा सिर्फ स्वाधीनता ही हो सकता है।

१७७४ ई० में, उपनिवेशों और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध छिड़ने से कुछ ही दिन पहले, वाशिंगटन ने कहा था कि उत्तरी अमेरिका का कोई समझदार आदमी स्वाधीनता नहीं चाहता; और यही वाशिंगटन बाद में अमेरिका के गणराज्य का सबसे पहला राष्ट्रपति होनेवाला था। १७७४ ई० में युद्ध छिड़ जाने के बाद, उपनिवेशी

[1] 'महा कृपालु नरेश'—इंग्लैण्ड के बादशाह को सम्बोधन करने का पुराना तरीक़ा।

कांग्रेस के छियालीस प्रमुख सदस्यों ने वफादार प्रजा की हैसियत से बादशाह जार्ज तृतीय की खिदमत में सुलह की और 'खून बहना' रोकने की अर्जी भेजी। इंग्लैण्ड और उसकी अमेरिकी सन्तान के बीच दुबारा मेल-जोल और अच्छी भावना कायम करने की उनकी जोरदार तमन्ना थी। वे तो सिर्फ किसी तरह की उपनिवेशी सरकार चाहते थे और वाशिंगटन के शब्दों में ऐलान करते थे कि कोई भी समझदार आदमी स्वाधीनता नहीं चाहता। यह 'ओलिव-ब्राच-पिटीशन'[1] कहलाई।

लेकिन दो साल भी न बीतने पाये थे कि इस अर्जी पर दस्तखत करनेवालों में से पच्चीस ने एक दूसरे ही खरीते पर दस्तखत किये—वह थी 'स्वाधीनता की घोषणा।'

जाहिर है कि उपनिवेशों ने कोई स्वाधीनता की खातिर लड़ाई नहीं छेड़ी थी। उनकी शिकायतें तो टैक्सों और व्यापार पर पाबन्दियों के बारे में थीं। वे लोग उन पर उनकी मर्जी के खिलाफ टैक्स लगाने के पार्लमेण्ट के हक को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनका मशहूर नारा यह था कि 'बिना प्रतिनिधित्व के कोई टैक्स नहीं'[2], क्योंकि ब्रिटिश पार्लमेण्ट में उनका कोई प्रतिनिधि न था।

इन उपनिवेशों के पास कोई फौज न थी, लेकिन एक विशाल देश जरूर था, जिसमें से जरूरत पड़ने पर पीछे हटकर शरण ले सकते थे। उन्होंने एक फौज तैयार की और आगे जाकर वाशिंगटन उनका प्रधान सेनापति हुआ। उनको कुछ सफलताएं भी मिलीं। और फ्रान्स भी अपने पुराने दुश्मन इंग्लैण्ड से बदला निकालने का अच्छा मौका देखकर उपनिवेशों से मिल गया। स्पेन ने भी इंग्लैण्ड के खिलाफ युद्ध का ऐलान कर दिया। अब इंग्लैण्ड का पासा हलका हो गया, लेकिन युद्ध बहुत वर्षों तक चलता रहा। १७७६ ई० में उपनिवेशों का मशहूर 'स्वाधीनता का घोषणा-पत्र' निकला। १७८२ ई० में युद्ध खत्म हो गया, और १७८३ ई० में लड़नेवाले देशों ने पेरिस के सुलहनामे पर दस्तखत कर दिये।

इस तरह अमेरिका के ये तेरह उपनिवेश एक स्वाधीन गणराज्य बन गये, जिनको 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका' यानी अमेरिका का संयुक्त राज्य नाम दिया गया। लेकिन बहुत दिनों तक इन राज्यों में आपसी फूट बनी रही और हरेक राज्य अपने-आपको करीब-करीब स्वाधीन मानता रहा। सबकी समान राष्ट्रीयता की भावना बहुत धीरे-धीरे पैदा हुई। यह एक विशाल देश था, जो पश्चिम की तरफ

---

[1] 'ओलिव-ब्राच' यानी जैतून के पेड़ की डाली। यूरोप में जैतून का पेड़ शान्ति का चिह्न समझा जाता है। इसलिए जैतून के पेड़ की डाली पेश करने का मतलब होता है शान्ति का प्रस्ताव करना।

[2] No taxation without representation

फैलता ही जा रहा था। आज की दुनिया का यह सबसे पहला बडा गणराज्य था—छोटा-सा स्वीजरलैण्ड ही उस समय का दूसरा असली गणराज्य था। हालैण्ड गणराज्य जरूर था, लेकिन वह अमीर-वर्ग के हाथ मे था। इग्लैण्ड सिर्फ बादशाहत ही न था बल्कि वहाँ की पार्लमेण्ट एक छोटे-से ध रवान जमीदार-वर्ग के हाथो मे थी। इसलिए यूनाइटेड स्टेट्स का गणराज्य एक नई तरह का देश था। यूरोप और एशिया के देशो की तरह उसका पुराना इतिहास कुछ नही था। सामन्तशाही का भी वहाँ कोई निशान न था, सिवाय दक्षिण मे बागान प्रणाली और गुलामी के। वहाँ पुश्तैनी अमीर-उमरा न थे। इसलिए मध्यम-वर्ग की तरक्की के रास्ते मे कोई रुकावटें न थी और वह तेजी के साथ बढा। स्वाधीनता के युद्ध के समय वहाँ की आबादी चालीस लाख से भी कम थी। दो साल पहले, १९३० मे, यह १२ करोड ३० लाख के करीब थी।

जार्ज वाशिंगटन सयुक्त राज्य का पहला राष्ट्रपति हुआ। यह वर्जिनिया राज्य का एक बडा जमीदार था। इस जमाने के और महापुरुष, जो गणराज्य की नीव डालनेवाले माने जाते हैं, टामस पेन, बेन्जामिन फ्रैंकलिन, पैट्रिक हेनरी टॉमस जेफरसन,[1] जॉन एडम्स,[2] और जेम्स मैडिसन[3] हैं। बैन्जामिन फ्रैंकलिन, तो खास तौर पर नामी आदमी था और यह बडा भारी वैज्ञानिक था। बच्चो की पतगें उडाकर इसने यह साबित कर दिया कि बादलो की कौध और बिजली एक ही चीज हैं।

१७७६ ई० की गणराज्य की घोषणा मे कहा गया था कि "जन्म से सब मनुष्य बराबर हैं।" अगर बारीकी से देखा जाय तो यह बयान पूरी तौर पर सही नही है, क्योकि कुछ कमजोर होते हैं, कुछ बलवान, कुछ दूसरो से ज्यादा चतुर और समर्थ होते हैं। लेकिन इस बयान की तह मे जो विचार है, वह बिलकुल साफ और तारीफ के लायक है। उपनिवेशी लोग यूरोप के सामन्तशाही वर्ग-भेद से छुटकारा पाना चाहते थे। यह अकेली ही बहुत आगे बढी हुई बात थी। शायद 'स्वाधीनता की घोषणा' की रचना करनेवालो मे से बहुतो पर फ्रान्स के वाल्तेयर व रूसो और इनके बाद होनेवाले अठारहवी सदी के दार्शनिको और विचारको का असर पडा था।

"सब लोग जन्म मे बराबर हैं"—लेकिन फिर भी बेचारा हब्शी था, एक

---

[1] जेफरसन (१७४३–१८२६); अमेरिका का तीसरा राष्ट्रपति।
[2] एडम्स (१७३५–१८२६); अमेरिका का दूसरा राष्ट्रपति।
[3] मैडिसन (१७५१–१८३६); अमेरिका का चौथा राष्ट्रपति।

गुलाम, जिसे कोई हक न थे ! उसे कौन पूछता था ? सविधान मे उसकी क्या जगह थी ? उसके लिए कोई जगह न थी, और अभी तक भी नही हो पाई है। बहुत साल बाद उत्तर और दक्षिण के राज्यो मे भीषण गृह-युद्ध हुआ, जिसके नतीजे से गुलामी की प्रथा तोड दी गई। लेकिन हब्शियो की समस्या अमेरिका मे अभी तक चली आती है।

## : १०० :

## बास्तील का पतन

७ अक्तूबर, १९३२

हम बहुत थोडे मे अठारहवी सदी की दो क्रान्तियो का बयान कर चुके हैं। इस पत्र मे मैं तुमको तीसरी , यानी फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के बारे मे कुछ बतलाऊँगा। तीनो क्रान्तियो मे फ्रान्स की इस क्रान्ति ने सबसे ज्यादा हलचल पैदा की। इग्लैण्ड मे शुरू होनेवाली उद्योगी क्रान्ति आमतौर पर महत्वभरी थी, लेकिन वह धीरे-धीरे आई और ज्यादातर लोगो की तो वह निगाह मे भी न आ सकी। उस समय उसका असली महत्व किसी ने महसूस नही किया। लेकिन दूसरी तरफ़ फ्रान्स की राज्यक्रान्ति चकित यूरोप पर एकदम बिजली की तरह गिर पडी। यूरोप अभी तक बहुत-से स्वेच्छाचारी राजाओ और सम्राटो के मातहत था। पुराने पवित्र रोमन साम्राज्य की हस्ती मिट चुकी थी, लेकिन कागज़ी तौर पर वह अब भी चल रहा था और उसके प्रेत की छाया अभी तक सारे यूरोप पर पड रही थी। बादशाहो व सम्राटो और दरबारो व राजमहलो की इस दुनिया मे आम जनता की गहराई मे से यह अद्भुत और डरावना जीव निकल पडा, जिसने सडे हुए रिवाजो और हको की ज़रा भी परवाह न की, और जिसने एक बादशाह को तख्त से उठा फेंका तो दूसरो की भी यही हालत कर डालने का खौफ पैदा कर दिया। फिर इसमे क्या ताज्जुब है, अगर यूरोप के बादशाह व खास हकदार तमाम लोग उस जनता के इस विद्रोह के आगे थर्राने लगे, जिसे उन्होंने इतने दिनो तक नाचीज़ समझा और कुचला था !

फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ज्वालामुखी की तरह फट पडी। लेकिन क्रान्तियाँ और ज्वालामुखी बिना सबब या बिना बहुत दिनो की तैयारी के अचानक नही फूट पडते। हम अचानक होनेवाले विस्फोट को देखकर ताज्जुब करते हैं, लेकिन ज़मीन की सतह के नीचे युगो तक बहुत-सी ताकतें आपस मे टकराया करती हैं और आगें सुलगा करती हैं। अन्त मे ऊपर की पपडी उनको ज्यादा देर दबाकर नही रख सकती और ये ज्वालाएँ आकाश तक उठनेवाली विकट लपटो के साथ फूट

पड़ती हैं और पिघला हुआ पत्थर पहाड़ से नीचे बहने लगता है। ठीक इसी तरह ये ताकतें, जो अन्त मे क्रान्ति की शक्ल मे फूटती है, समाज की सतह के नीचे बरसो तक खेला करती हैं। पानी गरम करने पर उबलता है, लेकिन तुम जानती हो कि खूब गर्म होने के बाद ही उसमे उबाल आता है।

विचार और आर्थिक हालतें ही क्रान्तियाँ पैदा करते हैं। बेवक़ूफ़ सत्ताधारी लोग, जिन्हे अपने विचारो से मेल न खानेवाली कोई चीज़ नज़र नही आती, यह समझते हैं कि क्रान्तियाँ बेचैनी फैलानेवालो के सबब से होती हैं। बेचैनी फैलानेवाले वे लोग होते हैं, जो मौजूदा हालतो से नाराज़ होते हैं और परिवर्तन चाहते हैं और उसके लिए जतन करते हैं। क्रान्ति के हरेक ज़माने मे इनकी बहुतायत होती है, वे तो खुद ही उस ज़माने की उथल-पुथल और बेचैनी का नतीजा होते हैं। लेकिन हज़ारो और लाखो आदमी खाली एक बेचैनी फैलानेवाले के इशारे पर ही नही नाचने लगते हैं। ज्यादातर लोग सलामती को दुनिया मे सबसे ज्यादा चाहते हैं, जो कुछ उनके पास है उसे वे छिन जाने के खतरे मे नही डालना चाहते, लेकिन जब आर्थिक हालतें ऐसी हो जाती है कि इनकी रोज़मर्रा की मुसीबतें बढ़ती जाती हैं और जीवन बर्दाश्त से बाहर का बोझ बन जाता है, तो कमज़ोर-से-कमज़ोर भी जोखिम उठाने के लिए तैयार हो जाते हैं। तभी जाकर बेचैनी फैलानेवाले की आवाज पर कान देते हैं, जो उनको उनकी मुसीबत से निकालने का रास्ता बतलाता हुआ मालूम होता है।

अपने बहुत-से पत्रो मे मैंने जनता की मुसीबतो और किसानो के बलबो का ज़िक्र किया है। एशिया और यूरोप के हरेक देश मे किसानो के ऐसे विद्रोह हुए हैं, जिनकी वजह से बहुत खून-खराबी और ज़ुल्मी दमन हुए हैं। किसानो को उनकी मुसीबतो ने क्रान्तिकारी कार्रवाइयो की ओर ज़बर्दस्ती ढकेला, लेकिन आम तौर पर उनको अपने लक्ष्य का ठीक-ठीक भान नही था। विचारो के इस धुंधलेपन, विचारधारा के इस अभाव के सबब से उनकी कोशिशें अक्सर बेकार हो गईं। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति मे हम एक नई बात देखते हैं, कम-से-कम इतने बड़े पैमाने पर, और वह क्रान्ति करने की आर्थिक ढकेल के साथ विचारो का सगम। जहाँ ऐसा सगम होता है वही सच्ची क्रान्ति होती है, और सच्ची क्रान्ति जीवन और समाज की सारी रचना—राजनीतिक, समाजी, आर्थिक और मज़हबी—पर असर डालती है। अठारहवी सदी के आखिरी वर्षों मे हम फ्रान्स मे ऐसा ही होता हुआ पाते हैं।

मैं तुमको फ्रान्स के बादशाहो के विलासी जीवन, निकम्मेपन व भ्रष्टाचार के बारे मे, और आम जनता को पीसनेवाली गरीबी के बारे मे पहले ही लिख चुका हूँ। फ्रान्स की जनता के दिमाग मे जो उथल-पुथल मच रही थी, उसका भी कुछ ज़िक्र मैं कर चुका हूँ, और उन नये विचारो का भी, जिन्हे वाल्तेयर, रूसो और

मातेस्क्यू और बहुत-से लोगो ने चलाया था। इस तरह आर्थिक मुसीवत, और विचारधारा का निर्माण, ये दो प्रक्रियाएँ साथ-साथ चल रही थी और एक-दूसरी पर असर व जवावी असर डाल रही थी। किसी कौम की विचारधारा को बनाने मे वहुत समय लगता है, क्योकि नये विचार धीरे-धीरे छन-छनकर लोगो के पास पहुँचते हैं, और पुरानी रूढियो व रायो को त्यागने के लिए लोग तैयार नही होते। अक्सर ऐसा होता है कि जवतक कोई नई विचारधारा कायम हो, और लोग विचारो के नये मेल को आखिर कवूल करने लगें, तवतक खुद वे विचार ही समय से कुछ पिछडे रह जाते है। यह दिलचस्पी की वात है कि अठारहवीं सदी के फ्रान्सीसी दार्शनिको के विचारो का आधार यूरोप के उद्योगी युग से पहले का ज़माना था, और फिर भी करीव-करीव ठीक उसी समय मे इंग्लैण्ड मे उद्योगी क्रान्ति शुरू हो रही थी, जो उद्योग-धन्धो को और जीवन को इस कदर वदल रही थी कि वास्तव मे वह वहुत-से फ्रान्सीसी मतो की नींव ही खोखली कर रही थी। उद्योगी क्रान्ति का विकास असल मे वाद मे हुआ और फ्रान्सीसी विचारक दरअसल यह अन्दाज़ा न कर सके कि आगे क्या होनेवाला था। लेकिन फिर भी वडे-वडे उद्योग-धन्धो के आने के साथ-साथ उनके विचार, जिनपर फ्रान्स की राज्यक्रान्ति की विचारधारा वहुत हद तक टिकी हुई थी, कुछ ज़माने से पिछड गये थे।

कुछ भी हो, यह साफ है कि फ्रान्सीसी दार्शनिको के इन विचारो और मतो का राज्यक्रान्ति पर वडा ज़वर्दस्त असर पडा। वलवो और विद्रोहो के रूप मे जनता की कार्रवाइयो की वहुत-सी मिसालें पहले ही हो चुकी थी, अव जगी हुई जनता के आन्दोलन की, या यो कहिये कि समझ-बूझकर आगे वढ़नेवाली जनता के आन्दोलन की, निराली मिसाल सामने आई। फ्रान्स की इस महान् राज्यक्रान्ति का महत्व इसी सवव से है।

मैं वतला चुका हूँ कि १७१५ ई० मे पन्द्रहवाँ लुई अपने पडदादा चौदहवें लुई का गद्दीनशीन हुआ और उसने उनसठ वर्षों तक राज किया। कहते हैं कि वह कहा करता था—'आप मरे जग प्रलय', और इसी के मुताविक वह वर्ताव भी करता था। वडे मज़े के साथ वह अपने देश को गहरे गड्ढे मे गिरा रहा था। उसने इंग्लैण्ड की क्रान्ति और वहाँ के वादशाह का सिर उडा दिये जाने की घटना से भी कुछ सवक नही सीखा। उसके वाद, १७७४ ई० मे उसका पोता सोलहवाँ लुई गद्दी पर वैठा, जो वडा वेवकूफ और काठ का उल्लू था। उसकी रानी मेरी एन्तोइनेत आस्ट्रिया के हैप्सवर्ग सम्राट् की वहन थी। यह भी विलकुल वेवकूफ थी, लेकिन उसमे एक तरह की ज़िद का वल था, जिससे सोलहवाँ लुई पूरी तरह उसकी मुट्ठी मे था। उसमे 'वादशाहो के दैवी अधिकार' का खयाल लुई से भी ज़्यादा भरा हुआ था, और वह आम लोगों से नफरत करती थी। पति और पत्नी दोनो ही ने मिलकर

बादशाहत के खयाल को लोगो के लिए नफरतभरा बनाने मे कोई कसर न रक्खी। राज्यक्रान्ति शुरू होने के बाद तक भी फ्रान्स के लोगो का दिमाग बादशाहत के वारे मे साफ नही था, लेकिन लुई और मेरी एन्तोइनेत ने अपने कारनामो से और वेवकूफियो से गणराज्य को लाज़िमी कर दिया। लेकिन इनसे ज्यादा बुद्धिमान लोग भी कुछ नही कर सकते थे। ठीक इसी तरह १९१७ ई० की रूसी राज्यक्रान्ति की शुरुआत के समय रूस के ज़ार और ज़रीना ने अजीब वेवकूफी का बर्ताव किया था। यह विचित्र बात है कि जैसे-जैसे सकट गहरा होता जाता है वैसे-वैसे ये लोग और भी ज्यादा वेवकूफियाँ करते जाते हैं और इस तरह खुद अपने ही विनाश का सामान तैयार करते हैं। एक प्रसिद्ध लातीनी कहावत इन पर ठीक तरह लागू होती है—"ईश्वर जिसका नाश करना चाहता है उसको पहले दीवाना बना देता है।" ठीक ऐसी ही कहावत सस्कृत मे भी है—"विनाशकाले विपरीत बुद्धि।"

लडाइयो की जीत बादशाहत और तानाशाही की अक्सर एक थूनी रही है। जब कभी देश मे गडवड पैदा होती है तो बादशाह या सरकारी गुट्ट, जनता का ध्यान उस तरफ से हटाने के लिए बाहर के देशो मे फौजी धावे मारने की ओर खीचता है, लेकिन फ्रान्स मे इन फौजी कारनामो का नतीजा वुरा हुआ था। सात साल के युद्ध मे फ्रान्स की हार हुई और इससे बादशाहत को धक्का पहुँचा। दिवालियापन की दिन-पर-दिन नौबत आ रही थी। अमेरिका के स्वाधीनता-युद्ध मे फ्रान्स ने जो हिस्सा लिया, उसमे और रुपया खर्च हुआ। यह सब रुपया कहाँ से आता? अमीर-सरदारो व पादरियो को खास रियायतें मिली हुई थी। वे वहुत-से टैक्सो से बरी थे और अपनी रियायतो को ज़रा भी नही छोडना चाहते थे। लेकिन न सिर्फ कर्ज़े चुकाने के लिए, वल्कि दरबार की फिजूलखर्ची के लिए भी, रुपया तो वसूल होना ही चाहिए था। जनता की या आम लोगो की कौन परवाह करता था? फ्रान्स की राज्यक्रान्ति पर लिखनेवाले थामस कार्लाइल नामक एक अग्रेज लेखक ने इनका जो बयान किया है, वह मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ। तुम देखोगी कि उसकी एक निराली शैली है, लेकिन वह अपनी कलम से बडे असर डालनेवाले खाके खीचता है—

"श्रमजीवियो की हालत फिर खराब हो रही है। दुर्भाग्य की बात है! क्योंकि इनकी सख्या दो-ढाई करोड है। जिनको हम एक तरह की धुँधली घनी एकता के हैवानी, लेकिन धुँधले, बहुत दूर के, गँवारू भीड जैसे लोंदे मे इकट्ठा करके कमीन, या ज्यादा मनुष्यता से, 'जनता' कहते हैं। सचमुच जनता, लेकिन फिर भी यह अजीब बात है कि अगर अपनी कल्पना पर ज़ोर डालकर आप इनके साथ-साथ सारे फ्रान्स मे, इनकी मिट्टी की मडैयो मे, इनकी कोठरियो और झोपडियो मे, चलें, तो मालूम होगा कि जनता सिर्फ इकाइयो की बनी हुई है। इसकी हरेक

इकाई का अपना अलग-अलग दिल है और रग है, वह अपनी ही खाल मे खडा है और अगर तुम उसे नोचोगे तो खून बहने लगेगा।"

यह बयान १७८९ ई० के फ्रान्स पर ही नही बल्कि १९३२ ई० के भारत पर कितनी अच्छी तरह फबता है! क्या हममे से बहुत-से लोग भारत की 'जनता' को, बीसियो करोड किसानो और मजदूरो को, एक ढेर मे इकट्ठा करके उन्हे एक दुखी और बेढंगा जानवर नही समझते? वे लोग बडे लम्बे समय से बोझ ढोनेवाले जानवर ही रहे हैं, और अब भी हैं। हम उनके साथ 'सहानुभूति' दिखलाते हैं और उनकी भलाई करने की इनायतभरी बातें बनाते हैं। और फिर भी हम उनको अपनी ही तरह के व्यक्ति और मानव खयाल नही करते। यह खूब याद रखना चाहिए कि अपनी कच्ची झोपडियो मे वे अलग-अलग जिन्दगी बिताते हैं और तुम-सबकी ही तरह भूख और सर्दी और तकलीफ महसूस करते हैं। हमारे बहुत-से राजनीतिज्ञ, जो कानून के पडित हैं, सविधानो वगैरा की बातें करते हैं, लेकिन उन इन्सानो को भूल जाते हैं, जिनके लिए सविधान और कानून बनाये जाते हैं। हमारे देश की करोडो कच्ची झोपडियो और शहरो के गन्दे मोहल्लो के निवासियो की राजनीति का अर्थ है भूखो को भोजन, पहनने को कपडा और रहने को मकान।

सोलहवे लुई के राज मे फ्रान्स की यही हालत थी। उसके शासन-काल के ठीक शुरू मे ही भुक्खडो के दगे हुए। ये कई साल तक जारी रहे और फिर कुछ दिन शान्ति रही और बाद मे फिर किसानो के बलवे हुए। दिजो मे भोजन के लिए इसी तरह के एक दगे के दौरान मे वहाँ के गवर्नर ने भुखमरो से कहा—"घास उग आई है, खेतो मे जाकर उसे चरो!" हजारो आदमी भीख माँगने का पेशा करने लगे। सरकारी तौर पर यह बतलाया गया था कि १७७७ ई० मे फ्रान्स मे ग्यारह लाख भिखमगे थे। जब हम इस गरीबी और कम्बख्ती पर विचार करते है तो भारत की तस्वीर किस तरह बरबस हमारे सामने आ जाती है!

किसान लोग सिर्फ भोजन के ही भूखे न थे, जमीन के भी भूखे थे। सामन्त-प्रथा मे अमीर-सरदार जमीन के मालिक थे और उसकी आमदनी का ज्यादातर हिस्सा उन्ही की जेबो मे जाता था। किसानो के कोई सुलझे हुए विचार न थे, न उनका कोई ठीक लक्ष्य था। लेकिन वे जमीन पर अपनी मिल्कियत चाहते थे और उन्हे कुचलनेवाली इस सामन्त-प्रथा से नफरत करते थे। सामन्तो से, पादरियो से और (भारत का फिर खयाल करो!) नमक-कर से उन्हें सख्त नफरत थी, जो खास तौर पर गरीबो पर पडता था।

किसान-वर्ग की यही हालत थी, लेकिन फिर भी बादशाह और बेगम रुपये के लिए हल्ला मचाते थे। सरकार के पास खर्च के लिए ही रुपया न था, इसलिए कर्जे बढ़ते चले जा रहे थे। मेरी एन्तोइनेत का उपनाम 'मदाम दैफिसित' यानी

'घाटा देवी' रख दिया गया। ज्यादा रुपया वसूलने का कोई ढंग नज़र न आता था। आखिरकार लाचार होकर सोलहवें लुई ने मई, १७८९ ई० मे, 'स्टेट्स जनरल' की बैठक बुलाई। इस सभा मे अमीर-सरदार, पादरी व साधारण लोग, इन तीन वर्गों के, जो राज्य की जागीरें कही जाती थी, प्रतिनिधि होते थे। उसकी रचना ब्रिटिश पार्लमेण्ट से मिलती-जुलती थी जिसमे अमीर-सरदारो व पादरियो का 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' होता है और दूसरा 'हाउस ऑफ कामन्स' होता है। लेकिन इन दोनो मे फर्क भी बहुत थे। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की बैठकें कई सौ वर्षों से करीब-करीब कायदे से होती चली आई थी, और अपनी परम्पराओ, नियमो व काम करने के तरीको के साथ वह अच्छी तरह जम चुकी थी। 'स्टेट्स जनरल' की बैठकें बहुत ही कम होती थी और उसकी कोई परम्पराएँ नही थी। दोनो सस्थाओ मे ऊँचे वर्गों के ही प्रतिनिधि होते थे, ब्रिटिश 'हाउस ऑफ कामन्स' मे तो 'स्टेट्स जनरल' से भी ज्यादा प्रतिनिधि थे। किसान-वर्ग का प्रतिनिधि किसी मे भी नही होता था।

४ मई, १७८९ ई० को वर्साई मे बादशाह ने 'स्टेट्स जनरल' का उद्घाटन किया। लेकिन जल्दी ही बादशाह को पछतावा होने लगा कि उसने इन तीनो जागीरो के प्रतिनिधियो को इकट्ठा क्यो बुलाया। तीसरी जागीर यानी 'कामन्स' या मध्यमवर्ग खुल्लम-खुल्ला विरोध करने लगे और इस बात पर जोर देने लगे कि उनकी मर्ज़ी के बिना कोई टैक्स नही लगाया जा सकता। उनके सामने इंग्लैण्ड की मिसाल थी, जहाँ कामन्स सभा ने अपना यह हक़ कायम कर लिया था। अमेरिका की ताज़ी मिसाल भी उनके सामने थी। वे इस गलत-फहमी मे थे कि इग्लैण्ड आज़ाद मुल्क था। असल मे यह एक धोखा था, क्योंकि इग्लैण्ड पर अमीर-वर्ग और ज़मीदार-वर्गों का कब्ज़ा व शासन था। खुद पार्लमेन्ट पर भी इनका इजारा था, क्योंकि वोट देने का अधिकार बहुत ही कम लोगो को था।

बहरहाल, तीसरी जागीर या 'कामन्स' ने जो कुछ भी ज़रा-सी हिम्मत दिखाई वही बादशाह लुई की बर्दाश्त से बाहर हो गई। उसने उनको सभा-भवन से बाहर निकलवा दिया। डिप्टी लोगो का वहाँ से चले जाने का कोई इरादा नही था। वे फौरन ही नज़दीक के एक टैनिस कोर्ट पर इकट्ठे हुए और उन्होने यह कसम ली कि जबतक एक सविधान कायम न कर लेंगे तबतक न टलेंगे। यही 'टैनिस कोर्ट की शपथ' कहलाती है। इसके बाद वह खतरनाक घडी आई जब बादशाह ने ज़ोर-ज़बर्दस्ती करनी चाही और खुद उसी के सिपाहियो ने उसका हुक्म मानने से इन्कार कर दिया। क्रान्ति मे हमेशा नाज़ुक घडी तभी आती है जब फौज, जो सरकार का खास पाया होती है, भीड मे अपने भाइयो पर गोलियाँ चलाने से इन्कार कर देती है। लुई ने घबराकर हार मान ली और इसके बाद उसने अपनी आदत की बेवकूफी से, विदेशी सेनाओ को बुलाने की साज़िश की कि वे उसकी प्रजा पर गोलियाँ चलावें।

जनता इसे वर्दाश्त न कर सकी और १४ जुलाई, १७८९ ई० को उन्होंने वास्तील[1] के पुराने जेलखाने पर कब्जा करके कैदियो को रिहा कर दिया। यह दिन फ्रान्स के इतिहास मे हमेशा याद रहेगा।

वास्तील का पतन इतिहास की एक महान् घटना है। इसने क्रान्ति की शुरुआत की, यह सारे देश मे जनता के वलवो का लक्षण था, इसका अर्थ था फ्रान्स मे पुरानी व्यवस्था, सामन्तशाही, महान् वादशाही और खास रियायतो का अन्त, यह यूरोप के तमाम वादशाहो और सम्राटो के लिए ज़वर्दस्त और डरावना वदशगुन था। जिस फ्रान्स ने शानदार वादशाहो का फैशन चलाया था, वही अव एक नया फैशन चला रहा था, जिसने तमाम यूरोप को हैरत मे डाल दिया। कुछ लोग इस कारनामे को देख कर डर मे कांपने लगे। लेकिन वहुत-से लोग इसमे आशा की किरण और अच्छे दिनो के लक्षण देख रहे थे। चौदहवी जुलाई आज तक फ्रान्स का राष्ट्रीय त्योहार है और यह हर साल सारे देश मे मनाया जाता है।

चौदहवी जुलाई को पेरिस की वलवाई भीड के कब्जे मे वास्तील आ गया। लेकिन सत्ताधारी लोग इतने अन्धे होते हैं कि इसके पहले दिन की, यानी १३ जुलाई की, शाम को वर्साई मे एक शाही जलसा किया गया था। नाच और गाने के साथ वादशाह और रानी के सामने वागी पेरिस पर होनेवाली भावी विजय की खुशी मे 'टोस्ट'[2] पिये गए। अजीव वात है कि यूरोप मे वादशाह की भावना कितनी ज़वर्दस्त थी। इस युग मे हम लोग गणराज्यो के आदी हो गये हैं और वादशाहों पर ज्यादा ध्यान नही देते। दुनिया के कुछ वचे-खुचे वादशाह वहुत फूंक-फूंककर कदम रखते हैं कि उन पर कही मुसीवत न आ जाय। फिर भी ज्यादातर लोग वादशाहत के विचार के विरोधी हैं। क्योकि यह वर्ग-भेदो को वनाये रखती है और अलगाव व वडप्पन की झूठी अकड की भावना को वढाती है। लेकिन अठारहवी सदी के यूरोप मे यह वात न थी। उस समय के लोगो के लिए विना वादशाह के देश की कल्पना करना ज़रा कठिन था। इसलिए हुआ यह कि लुई की वेवकूफी और लोगो की मर्ज़ी के खिलाफ जाने की कोशिश के वावजूद भी उसे गद्दी से उतार

---

[1] वास्तील (Bastille) पेरिस शहर के बीच मे एक पुराना और बहुत मज़बूत क़िला था, जिसमें राजनीतिक क़ैदी वन्द किये जाते थे और उनको तकलीफें दी जाती थीं। पेरिस के लोगो ने इसपर हमला किया। लेकिन वे इसका कुछभी नहीं विगाड सकते थे, अगर क़िले के भीतर सैनिक उनका साथ न देते।

[2] टोस्ट—शराब के प्याले को हाथ में लेकर, किसी व्यक्ति या घटना के उपलक्ष में पीना 'टोस्ट' पीना कहलाता है। यह रिवाज यूरोप मे और यूरोप के रहनेवालों में अब भी मनाया जाता है और आजकल अंग्रेज़ी सभ्यता के भक्त भारतीय लोग भी इसकी नक़ल करने लगे हैं।

देने की कोई चर्चा न थी। करीब दो साल तक लोगों ने उसको और उसकी साजिशों को बर्दाश्त किया और फ्रान्स ने बिना बादशाह के काम चलाने का फैसला तभी किया जब वह भागने की कोशिश करता हुआ पकड़ा गया।

लेकिन यह बाद की बात है। इस अर्से में 'स्टेट्स जनरल', राष्ट्रीय सभा बन गई और यह मान लिया गया कि बादशाह सविधान के मातहत चलनेवाला राजा है और उसके अधिकार सीमित हैं, यानी ऐसा राजा जो सभा के कहने के मुताबिक चले। लेकिन वह इस बात से नफरत करता था और मेरी ऐन्तोइनेत तो और भी ज्यादा नफरत करती थी। पैरिस के लोग भी उनसे कोई ज्यादा मोहब्बत नहीं करते थे और उन पर तरह-तरह की साजिशें करने का शक भी करते थे। वर्साई, जहाँ बादशाह और रानी दरबार करते थे, पैरिस से इतनी दूर था कि राजधानी के लोग उन पर निगाह नहीं रख सकते थे। वर्साई की दावतों और ऐशआराम के किस्सों और अफवाहों ने भी पैरिस के भूखे लोगों को भड़का दिया। बस, बादशाह और रानी पैरिस की त्विल्री[1] में एक बहुत-ही अजीब जुलूस में ले जाये गए।

क्रान्ति की यह कहानी मैं अपने अगले पत्र में भी जारी रक्खूंगा।

: १०१ :

## फ़्रान्स की राज्य-क्रान्ति

१० अक्तूबर, १९३२

फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के बारे में लिखने में मुझे जरा दिक्कत मालूम होती है। इस सबब से नहीं कि उसके लिए मसाला कम है, बल्कि इसलिए कि मसाला बहुत ज्यादा है। यह क्रान्ति हैरत में डालनेवाले और सदा बदलते रहनेवाले एक नाटक की तरह थी, और ऐसी असाधारण घटनाओं से भरी हुई थी जो आज भी मोह लेती है, सहमा देती है और थर्रा देती हैं। राजाओं और राजनीतिज्ञों की राजनीति कोठरियों और खानगी कमरों में रहती है और उसपर रहस्य की चादर ढकी रहती है। बहुत से पाप चतुराई के पर्दे में ढँक जाते हैं, और ऊँचे हौसलों व हविसों का आपसी रगड़ा-झगड़ा शिष्टाचार की भाषा में छिप जाता है। यहाँ तक कि जब इस रगड़े-झगड़े की वजह से युद्ध छिड़ जाता है, और इन लोगों की हविस व हौसले की खातिर हजारों नौजवान मौत के मुँह में भेज दिये जाते हैं, तब भी ऐसी किन्हीं कमीनी नीयतों की चर्चा हमारे कानों को बुरी नहीं लगती। इसके बजाय हमसे तो ऐसे ऊँचे आदर्शों और महान् हितों की बातें की जाती हैं, जो भारी-से-भारी कुर्बानी चाहते है।

---

[1] त्विलरी (Tuilleries)—पैरिस का राजमहल, जिसमें सोलहवें लुई को क़ैद किया गया था।

लेकिन क्रान्ति इससे बिल्कुल अलग तरह की चीज है। उसका घर तो खेत, गली और बाजार में है और उसके तरीके भोंडे और गँवारू होते हैं। क्रान्ति करनेवालों को राजाओं और राजनीतिज्ञों जैसी शिक्षा नहीं मिली हुई होती। उनकी भाषा दरबारी और शिष्ट नहीं हुआ करती, जिसमें ढेरों साजिशें और चालबाजियाँ छिपी रहती हों। उनमें कोई रहस्य की बात नहीं होती, न उनके दिमाग की दौड़ किसी परदे में ढकी रहती है, यहाँ तक कि उनके शरीर पर भी ढकने को काफी कपड़ा नहीं होता। राज्य-क्रान्ति में राजनीति खाली राजाओं और पेशेवर राजनीतिज्ञों का खेल नहीं रह जाती। उसका ताल्लुक तो असलियतों से होता है और उनके पीछे होता है मनुष्य-स्वभाव और भूखे लोगों का खाली पेट।

इसलिए १७८९ से १७९४ ई० तक इन बदशगुन पाँच वर्षों में हम फ्रान्स में भूखी जनता के कारनामे देखते हैं। यही लोग डरपोक राजनीतिज्ञों को मजबूर करते हैं और उन्हीं के हाथों से बादशाहत, सामन्तशाही और ईसाई-संघ की रियायतों का अन्त करवाते हैं। यही लोग खूंख्वार 'मदाम गिलोतीन'[1] को भेंट चढ़ाते हैं, और जिन लोगों ने इनको पहले कुचला है और जिन लोगों पर ये अपनी नई मिली हुई आजादी के खिलाफ साजिशें करने का सन्देह करते हैं, उनसे बड़ी बेरहमी के साथ बदला लेते हैं। यही फटे-हाल और नंगे पैरोंवाले लोग, कामचलाऊ हथियार लेकर अपनी राज्यक्रान्ति की खातिर लड़ने के लिए जंगी-मैदान की ओर दौड़ते हैं और अपने खिलाफ एक होकर आनेवाली यूरोप की सिखाई हुई फौजों को पीछे खदेड़ देते हैं। फ्रान्स के ये लोग अद्भुत काम कर दिखाते हैं। लेकिन जबर्दस्त तनाव और लड़ाई-झगड़े के कुछ ही साल बाद क्रान्ति की शक्ति बीत जाती है और वह अपने ही खिलाफ उलटकर खुद अपनी ही सन्तान को खाने लगती है। और इसके बाद उलट-क्रान्ति होती है, जो क्रान्ति को हड़प कर जाती है और जिस आम जनता ने इतनी हिम्मत की थी और इतनी मुसीबतें झेली थीं, उसको दुबारा फिर 'ऊँचे' वर्गों के अधीन कर देती है। इस उलट-क्रान्ति में से तानाशाह और सम्राट् नेपोलियन का उदय होता है। लेकिन न तो यह उलट-क्रान्ति और न नेपोलियन, जनता को उसकी पुरानी जगह पर लौटा सके। क्रान्ति की बड़ी-बड़ी सफलताओं को कोई न मिटा सका, और उस दिन की प्यारी यादगार को, जब थोड़ी देर के लिए सही, सताये हुओं ने अपने जुये को उतार फेंका था, फ्रान्सीसियों से, और वास्तव में यूरोप की दूसरी कौमों से, कोई न छीन सका।

क्रान्ति के शुरू के दिनों में बहुत-से दल और गिरोह प्रभुत्व के लिए लड़ रहे थे। एक तो बादशाह के हिमायती थे जो सोलहवें लुई को पूरा स्वेच्छाचारी बादशाह बना

---

[1] Guillotine—मध्यकालीन यूरोप में अपराधियों के सिर उड़ाने के काम में आनेवाली एक मशीन।

रखने की थोथी आशा लगा रहे थे, दूसरे मद्धिम विचारोंवाले उदार लोग थे, जो संविधान चाहते थे और बादशाह को एक सीमित अधिकारोंवाला शासक बनाकर रखने को तैयार थे; तीसरे मद्धिम विचारोंवाले गणराज्यवादी थे, जो 'जिरोंद'[1] का दल कहलाते थे, चौथे गरम गणराज्यवादी थे, जो जैकोबिन[2] कहलाते थे, क्योंकि वे जैकोबिन कॉन्वेन्ट के भवन में अपनी सभाएँ किया करते थे। मुख्य दल यही थे और इन सबमें और इनके अलावा भी, बहुत-से हाँकलेवाज थे। इन सब दलों और व्यक्तियों के पीछे थी फ्रान्स की, और खासकर पैरिस की जनता, जो अपनी ही जमात के कितने ही गुमनाम नेताओं के इशारों पर चलती थी। विदेशों में, और खासकर इंग्लैण्ड में, वे प्रवासी फ्रेंच अमीर-सरदार थे, जो क्रान्ति से मुँह छिपाकर भाग गये थे और लगातार उसके खिलाफ साज़िश कर रहे थे। यूरोप के सारे शक्तिशाली राज्य क्रान्तिकारी फ्रान्स के खिलाफ एक-जुट हो रहे थे। पार्लमेण्ट वाला लेकिन उच्चवर्ग की सत्तावाला इंग्लैण्ड, और यूरोप के बादशाह व सम्राट् भी आम जनता के इस अद्भुत धड़ाके से बहुत डर गये थे और इसे कुचल डालने की कोशिश में थे।

बादशाहवादियों और बादशाह ने मिलकर साज़िश की, लेकिन इससे उन्होंने अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारी। नेशनल असेम्बली में शुरू-शुरू में जिस दल का ज़ोर था वह मद्धिम उदार लोगों का था, जो कुछ-कुछ इंग्लैण्ड या अमेरिका की तरह का कोई संविधान चाहता था। उनका नेता था मिराबो[3]। लगभग दो वर्ष तक असेम्बली में इन्हींका ज़ोर रहा और क्रान्ति के शुरू के दिनों की सफलताओं के जोश में इन्होंने कितनी ही बहादुराना घोषणाएँ की और कुछ महत्व के परिवर्तन भी किये। बास्तील के पतन के बीस दिन बाद, ४ अगस्त, १७८९ ई० को, असेम्बली में एक ऐसी घटना हुई, जिसका किसीको गुमान भी न था। असेम्बली में सामन्ती अधिकारों और खास रियायतों के तोड़ दिये जाने के सवाल पर विचार हो रहा था। उस समय फ्रान्स की हवा में कुछ ऐसी तासीर थी, जो लोगों के दिमाग में चढ़ गई थी,

---

[1] Girondci—यह फ्रान्स के एक प्रान्त का नाम है। जिरोंद दल के नेता ज़्यादातर इसी प्रान्त के निवासी थे।

[2] फ्रान्स की राज्यक्रांति में भाग लेनेवाला एक शक्तिशाली राजनीतिक दल। ये लोग जेलियों की-सी टोपी पहनते थे, जो 'जैकोबिन कैप' के नाम से मशहूर हो गई और क्रान्ति का चिह्न मानी जाने लगी। इस दल की स्थापना १७८९ ई० में वर्साई में हुई और रोब्सपीयरी की हार के बाद इसका अन्त हो गया।

[3] १७४९–१७९१ के बीच का एक फ्रेंच राजनीतिज्ञ (बादशाह का विरोधी); नेशनल असेम्बली का प्रधान (१७९१)।

यहाँतक कि सामन्ती सरदार भी कुछ देर के लिए आज़ादी की नई शराव के नशे मे मतवाले हो गये थे। वडे-वडे अमीर-सरदार और ईसाई-सघ के नेता असेम्वली के भवन में उठ खडे हुए और अपने सामन्ती अधिकारो और खास-हको को छोडने मे एक दूसरे से होड करने लगे। यह एक सच्चा और उदार सकेत था, हालाँकि कुछ साल तक इसका ज्यादा असर न हुआ। हकदार-वर्ग के दिल मे ऐसी उदार भावनाएँ कभी-कभी, लेकिन वहुत ही कम, उठती हैं, या शायद यह वात हो कि उसे यह महसूस होने लगता है कि ख़ास हको का अन्त तो होनेवाला है ही, इसलिए वहती गगा मे हाथ धोने में ही भलाई है। थोडे ही दिन हुए जबकि वापू ने छुआछूत को मिटाने के लिए अनशन किया था, तव भारत के सवर्ण हिन्दुओं ने इसी तरह का एक आसानी कदम उठाया था और जादू की तरह सारे देश मे सहानुभूति की लहर फैल गई थी। हिन्दुओ ने जिन जजीरो मे अपने वहुत-से भाइयो को जकड रक्खा था वे कुछ हद तक टूट गईं और हजारो मदिरो के दरवाजे, जो युगो से अछूतो के लिए वन्द थे, उनके लिए खुल गये।

वस, क्रान्तिकारी फ्रान्स की नेशनल असेम्वली ने जोश मे आकर कम-से-कम प्रस्ताव तो पास कर ही दिया कि किसानो की गुलामी और रियायतें और सामन्ती अदालतें और अमीर-सरदारो व पादरियो को टैक्स की छूट और उपाधियाँ भी, ये सब मिटा दी जायँ। यह अजीव वात है कि वादशाह तो वना रहा, लेकिन अमीर-वर्ग की उपाधियाँ छिन गईं।

तव असेम्वली ने आगे चलकर मानव-अधिकारो की एक घोषणा मजूर की। इस मशहूर घोषणा का विचार शायद अमेरिका की स्वाधीनता की घोषणा से लिया गया था। लेकिन अमेरिका की घोषणा छोटी-सी व सीधी-सादी है, फ्रान्स की लम्वी और ज़रा पेचीदा है। मानव-अधिकार वे अधिकार थे जो मनुष्य को समानता, स्वतन्त्रता और सुख दिलानेवाले माने गये थे। उस समय मानव-अधिकारो की यह घोषणा वडी ही दिलेर और हिम्मतभरी मालूम होती थी, और वाद के लगभग सौ वर्षों तक यह यूरोप के उदारो और लोकतन्त्रियो का परवाना वनी रही। लेकिन फिर भी आज यह ज़माने के माफिक नही है, और हमारे समय की किसी भी समस्या को हल नही करती। लोगो को यह पता लगाने मे वहुत दिन लगे कि सिर्फ़ क़ानून की रू से समानता और वोट देने का हक सच्ची समानता, या स्वतन्त्रता या सुख नही दिला सकते, और यह कि जिनके हाथ मे सत्ता है, उनके पास उनका शोषण करने के और भी तरीके हैं। फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति से अवतक राजनीतिक विचार वहुत आगे वढ गये हैं या वदल गये हैं, और शायद मानव-अधिकारो की घोषणा के उन लम्वे-चौडे सिद्धान्तो को वहुत-से रूढिवादी भी आज मजूर कर लेंगे। लेकिन इसका यह मतलव नही है, जैसा कि हम आसानी से देख सकते हैं, कि ये लोग सच्ची

समानता और स्वतन्त्रता देने को तैयार हैं। वास्तव मे यह घोषणा निजी मिल्कियत को बचाती थी। बडे-बडे अमीर-सरदारो की और ईसाई-सघ की जागीरे सामन्ती हको और रियायतो से ताल्लुक रखनेवाले दूसरे सबबो से जब्त की गई थी। लेकिन सम्पत्ति रखने का हक पवित्र और अटल माना गया था। तुम शायद जानती हो कि आजकल के प्रगतिशील राजनीतिक विचारो के मुताबिक निजी सम्पत्ति एक बुराई है जो, जहाँतक हो सके, मिटा दी जानी चाहिए।

मानव-अधिकारो की घोषणा आज हमको शायद एक मामूली दस्तावेज़ मालूम पडे। कल के दिलेर आदर्श अक़्सर आज की एक मामूली-सी बात बन जाते हैं। लेकिन जिस समय इसका ऐलान किया गया था, उस समय इससे सारे यूरोप मे खुशी की लहर दौड गई थी और तमाम पीडितो व रौदे हुओ को इसमे बेहतर दिनो की काफी आशा नज़र आने लगी थी। लेकिन बादशाह ने इसे पसन्द नही किया, वह बदतमीजी से हैरत मे आ गया और उसने इसपर मज़ूरी देने से इन्कार कर दिया। वह अभी वर्साई मे ही था। इसी समय हुआ यह कि पैरिस के लोगो की उपद्रवी भीड, जिसके आगे स्त्रियाँ थी, वर्साई के महलो पर चढ आई और उसने बादशाह से न सिर्फ यह घोषणा ही मजूर कराली, बल्कि उमे पैरिस चले जाने के लिए भी मजबूर कर दिया। जिस अजीब जुलूस का ज़िक्र मैंने पिछले पत्र के अन्त मे किया है, वह यही था।

असेम्बली ने और भी बहुत-से उपयोगी सुधार किये। ईसाई-सघ की बडी लम्बी-चौडी मिल्कियत राज्य ने ज़ब्त कर ली। फ्रान्स का अस्सी इलाको मे नया बँटवारा किया गया और मेरा खयाल है कि यह बँटवारा आज तक चालू है। पुरानी सामन्ती अदालतो की जगह अच्छी कानूनी अदालते कायम की गईं। यह सब अच्छे के लिए था, लेकिन इससे कुछ ज्यादा मतलब हल नही हुआ। इससे न तो ज़मीन के भूखे किसान-वर्ग का ज्यादा फायदा हुआ और न शहरो के मामूली लोगो का, जो रोटी के भूखे थे। ऐसा मालूम होता था कि क्रान्ति की चाल रोक दी गई। जैसा मैं तुम्हे बतला चुका हूँ, जनता, किसान-वर्ग और शहरो के आम लोगो का असेम्बली मे कोई प्रतिनिधि नही था। असेम्बली पर मध्यमवर्ग का कब्ज़ा था, जिसका नेता मिराबो था, और ज्योही उन्हे महसूस हुआ कि उनका मतलब पूरा हो गया, त्योही उन्होंने क्रान्ति को रोकने की भरसक कोशिश की। वे तो बादशाह लुई तक से साँठ-गाँठ करने लगे और सूबो के किसानो को गोलियो से भूनने लगे। उनका नेता मिराबो तो वास्तव मे बादशाह का गुप्त सलाहकार बन गया। जिस जनता ने बास्तील पर हमला करके उस पर कब्ज़ा कर लिया था और जो यह सोचने लगी थी कि इस तरह उसने अपनी जजीरें तोड डाली हैं, वही अब ताज्जुब के साथ देखने लगी कि क्या हो रहा है। उसकी आज़ादी अब भी उतनी

ही दूर मालूम होती थी जितनी पहले थी, और नई असेम्बली उसकी गर्दन पर इसी तरह सवार थी जिस तरह पुराने सरदार लोग।

असेम्वली मे मात खाकर, क्रान्ति के केन्द्र पैरिस की जनता ने अपनी क्रान्तिकारी शक्ति के निकास का दूसरा रास्ता तलाश कर लिया। यह थी पैरिस की 'कम्यून' या म्यूनिसिपैलिटी। कम्यून ही नही वल्कि कम्यून को कई प्रतिनिधि भेजनेवाले शहर के हरेक हलके मे एक जिंदा सस्था थी, जो जनता से सीधा सम्पर्क रखती थी। कम्यून, और खासकर हलके, क्रान्ति के झण्डा-वरदार और उदार व मध्यमवर्गी असेम्बली के मुकावलेदार वन गये।

इसी वीच वास्तील के पतन की साल-गिरह आ गई और १४ जुलाई को पैरिस के निवासियो ने वडा भारी जलसा मनाया। इसे 'फेडरेशन का जलसा' कहा गया, और पैरिसवालो ने शहर को सजाने मे दिल खोलकर मेहनत की, क्योंकि वे इस जलसे को अपना ही समझते थे।

१७९० और १७९१ ई० मे क्रान्ति की ऐसी हालत थी। असेम्वली का सारा क्रान्तिकारी जोश ठडा पड चुका था और वह सुधार करते-करते उकता गई थी, लेकिन पैरिस के लोग अभी तक क्रान्तिकारी जोश से खौल रहे थे, किसान-वर्ग अभी तक भूखो की तरह जमीन की तरफ ताक रहा था। यह हालत वहुत दिनो तक नही रह सकती थी, या तो क्रान्ति आगे वढती या खत्म हो जाती। उदारदली नेता मिरावो १७९१ ई० मे मर गया। वादशाह से गुपचुप साजिशें करते रहने पर भी वह लोकप्रिय था और उसने लोगो को रोक रक्खा था। २१ जून, १७९१ ई० को ऐसी घटना हुई,जिसने क्रान्ति की किस्मत का फैसला कर दिया। यह था वादशाह लुई और रानी मेरी एन्तोइनेत का भेष वदलकर भाग जाना। वे किसी तरह सरहद तक पहुँच भी गये। लेकिन वेर्दून के पास वेरनीस के कुछ किसानो ने उन्हें पहचान लिया और उन्हे रोककर फिर पैरिस भेज दिया।

जहाँ तक पैरिस के निवासियो का ताल्लुक था वहाँतक वादशाह और रानी की इस हरकत ने उनकी किस्मत का फैसला कर दिया। अब गणराज्य का विचार खूब जोर पकडने लगा। लेकिन फिर भी असेम्वली और उस समय की सरकार इतनी अनुदार थी और जनता की भावनाओ से इतनी दूर थी कि जो लोग लुई को राजगद्दी से उतार देने की माँग करते थे उनको वे गोलियो से भूनती रही। क्रान्ति के महान् नेता मारत के पीछे सत्ताधारी लोग वुरी तरह पड गये, क्योंकि उसने वादशाह की, भाग जाने के कारण, देशद्रोही कहकर निन्दा की थी। उसे पैरिस की जमींदोज नालियो मे छिपना पडा, जिसकी वजह से उसे भयकर चर्म-रोग हो गया।

ताज्जुब है कि फिर भी एक साल से ज्यादा तक नाम के लिए लुई वादशाह

माना जाता रहा। सितम्बर, १७९१ ई० मे नेशनल असेम्बली का काल पूरा हो गया और उसकी जगह लेजिस्लेटिव असेम्वली ने ले ली। यह भी उसीकी तरह मद्धिम विचारोवाली थी और सिर्फ ऊँचे वर्गों की ही प्रतिनिधि थी। वह फ्रान्स के वढते हुए जोश की प्रतिनिधि न थी। क्रान्ति का यह बुखार जनता मे फैल गया और गरम प्रजातन्त्रवादी जैकोबिन लोगो की, जो जनता के ही लोग थे, ताकत वढने लगी।

उधर यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्र इन अजीव घटनाओ को चौकन्ने होकर देख रहे थे। थोडे दिनो तक तो प्रशिया और आस्ट्रिया और रूस दूसरी जगह लूटमार मे लगे रहे। वे पोलैण्ड के पुराने राज्य को खत्म करने मे लगे हुए थे, लेकिन फ्रान्स मे घटनाएँ वडे ज़ोरो से आगे दढ रही थी और उनका ध्यान खीच रही थी। १७९२ ई० मे फ्रान्स का आस्ट्रिया और प्रशिया मे युद्ध छिड गया। मैं तुम्हे यह वतला दूं कि आस्ट्रिया इन दिनो नीदरलैण्ड के वेलजियमवाले हिस्से पर कब्ज़ा किये हुए था और उसकी सरहद फ्रान्स से लगी हुई थी। विदेशी फौजें फ्रान्स के इलाके मे घुस आईं और उन्होंने फ्रान्स की फौजो को हरा दिया। लोगो का यह ख़याल था, और जिसके लिए सवव भी था, कि वादशाह उनसे मिला हुआ है, और सारे वादशाहवादियो पर दगावाज़ी का सन्देह किया जाने लगा। जैसे-जैसे उनके चारो तरफ खतरे वढने लगे वैसे-ही-वैसे पैरिस के लोग ज्यादा-ज्यादा भडकने और घवराने लगे। उन्हे चारो तरफ भेदिये और देशद्रोही नज़र आने लगे। पैरिस की क्रान्तिकारी कम्यून ने इस सकट की घडी मे आगे वढकर लाल झण्डा फहरा दिया, और यह ज़ाहिर कर दिया कि राज-दरवार की गद्दारी के खिलाफ जनता ने फौजी कानून यानी मार्शल-ला जारी कर दिया है। उसने १० अगस्त, १७९२ ई० को वादशाह के महल पर भी धावा वोल दिया। वादशाह ने अपने स्विस[1] अग-रक्षको के हाथो जनता पर गोलियाँ चलवा दी। लेकिन जीत आखिर जनता की ही हुई और कम्यून ने असेम्वली को मजवूर किया कि वादशाह को गद्दी से उतार कर कैद करे।

सब लोग जानते है कि आज यह लाल झण्डा सव जगह मजदूरो का, समाजवाद और साम्यवाद का, झण्डा है। लेकिन पहले यह जनता के खिलाफ फौजी कानून की घोषणा का सरकारी झण्डा हुआ करता था। मेरा ख़याल है, लेकिन मैं यकीन के साथ नही कह सकता, कि पैरिस कम्यून ने जव इस झण्डे का इस्तेमाल किया, तो जनता की ओर से उमका यही सवसे पहला इस्तेमाल था। और तभी से यह धीरे-धीरे मज़दूरो का झण्डा वनता गया।

वादशाह को गद्दी से उतारना और कैद करना काफी न था। स्विस अग-

[1] स्विट्जरलैण्ड के निवासी स्विस कहलाते हैं।

रक्षकों की गोलियाँ चलाने व बहुतों को मार डालने की कार्रवाई से भड़के हुए और देश के दुश्मनों व भेदियों के खिलाफ डर व गुस्से में भरे हुए, पैरिस के लोग, जिन पर सन्देह करते उनको पकड़-पकड़ कर जेलों में ठूँसने लगे। गिरफ्तार लोगों में बहुत-से जरूर कसूरवार थे, लेकिन बहुत-से बेकसूर आदमियों को भी गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिया गया। कुछ दिन बाद लोगों पर एक भयंकर जुनून सवार हुआ। उन्होंने कैदियों को जेल से निकालकर उनपर झूठ-मूठ का मुकदमा चलाया और उनमें से बहुतों को मौत के घाट उतार दिया। ये 'सितम्बर की हत्याएँ' कहलाती हैं और इनमें एक हजार से ज्यादा आदमी मार डाले गए। पैरिस की उपद्रवी भीड़ को बड़े पैमाने पर खून बहाने का यह पहला ही तजुर्बा था। खून की प्यास बुझाने के लिए अभी तो और बहुत खून बहना बाकी था!

सितम्बर में ही फ्रान्स की फौजों को आस्ट्रिया और प्रशिया की हमलावर फौजों पर पहली बार जीत मिली। यह जीत वाल्मी की छोटी-सी लड़ाई में मिली, जो छोटी तो थी लेकिन उसका नतीजा बहुत बड़ा निकला, क्योंकि उसने क्रान्ति को बचा लिया।

२१ सितम्बर, १७९२ ई० को नेशनल कन्वेन्शन बुलाया गया। यह असेम्बली की जगह लेनेवाली नई सभा थी। यह अपने पहले की दोनों असेम्बलियों से ज्यादा आगे बढ़ी हुई थी। लेकिन कम्यून से फिर भी पिछड़ी हुई थी। कन्वेन्शन ने पहला काम यह किया कि गणराज्य की घोषणा कर दी। इसके बाद ही सोलहवें लुई का मुकदमा हुआ, उसे मौत की सजा दी गई और २१ जनवरी, १७९३ ई० को उसे बादशाहत के पापों का बदला अपना सिर देकर चुकाना पड़ा। उसे गिलोतीन पर चढ़ा दिया गया, यानी गिलोतीन से उसका सिर उड़ा दिया गया। फ्रान्स की जनता अब अपना पीछे लौटने का रास्ता बन्द कर चुकी थी। उसने आखिरी कदम बढ़ा दिया था और यूरोप के बादशाहों और सम्राटों को चुनौती दे दी थी। वे लोग अब पीछे नहीं लौट सकते थे। बादशाह के खून से सनी हुई गिलोतीन की सीढ़ियों पर से ही क्रान्ति के महान् नेता दान्तों[1] ने जमा हुई भीड़ के सामने बोलते हुए इन दूसरे बादशाहों को अपनी ललकार सुनाई। उसने पुकारकर कहा—"यूरोप के बादशाह हमको चुनौती देना चाहेंगे, हम एक बादशाह का सिर उनके आगे फेंकते हैं।"

---

[1] दान्तो—(१७५९–१७९४); फ्रान्स का एक वकील और क्रान्तिकारी नेता। 'सितम्बर की हत्याओं' का हुक्म इसीने दिया था। रोबेसपीर ने इसे हटा दिया और इसको गिलोतीन पर चढ़ाकर मार डाला गया।

## १०२ :

# क्रान्ति और उलट-क्रान्ति

१ अक्तूबर, १९३२

बादशाह लुई मर चुका था, लेकिन उसकी मौत से पहले ही फ्रान्स मे अद्भुत रिवर्तन हो चुका था। उसके निवासियो का खून क्रान्ति की गर्मी से भभक रहा , उनकी नसो मे सनसनी दौड रही थी और उनपर धधकते हुए जोश का भूत वार था। गणराज्यवादी फ्रान्स तलवार खीचे खडा था, बाकी का यूरोप— ादशाही यूरोप'—उसके खिलाफ था। गणराज्यवादी फ्रान्स इन बोदे बादशाहो ौर राजाओ को बतला देना चाहता था कि स्वतन्त्रता के सूरज की गर्मी पाकर शभक्त लोग किस तरह लड सकते है। वे लोग केवल अपनी नई मिली हुई स्वतन्त्रता लिए ही नही, बल्कि बादशाहो और अमीर-सरदारो के सताये हुए दूसरे सब लोगो ी स्वतन्त्रता के लिए लडने को तैयार थे। फ्रान्स के लोगो ने यूरोप के राष्ट्रो ो अपना सन्देश भेजकर उनसे अनुरोध किया कि वे अपने शासको के खिलाफ उठ डे हो, और यह घोषणा की कि ये लोग सब देशो की जनता के दोस्त और सब बाद- ाही सरकारो के दुश्मन हैं। उनकी पितृभूमि[1] फ्रान्स स्वतन्त्रता की जननी बन ई, जिसकी वेदी पर बलिदान हो जाना आनन्द की बात थी और इस खूंख्वार जोश ी घडी मे उन्हे एक अद्भुत गीत मिल गया, जिसका स्वर उनके धधकते हुए भावो ा मिला हुआ था और जिसने उन्हे खतरो की जरा भी परवाह न करते हुए और ीत गाते-गाते लडाई के मोर्चे की ओर दौडने के लिए और सब अडचनो को लांघने े लिए उकसाया। यह रूजे द लिल का राइन की फौजो के लिए रचा हुआ युद्ध-गीत ा, जो तबसे 'मार्सेलास'[2] कहलाता है, और आज भी फ्रान्स का राष्ट्रीय गीत है। ान्सीसी भाषा के इस गीत का भावार्थ यह है

पितृभूमि के बच्चो, आओ !
गौरव का दिन आया है !
निष्ठुरता का खूनी झडा,
अपने सिर पर छाया है !
सुनो खून के प्यासे सैनिक,
चारो ओर दहाड़ रहे ।
गोदी के लालो, ललनाओ,
की हत्या को उमड रहे ।

---

[1] यूरोप के लोग देश को मातृभूमि के बजाय पितृभूमि कहते हैं।
[2] Marseillaise.

सैन्य सजाओ ! ओ नागरिको !
कर मे तलवारें खींचो !
इन सबके अपवित्र खून से,
अपने खेतो को सींचो !

वे लोग बादशाहो की बडी उम्र मनाने के निरर्थक गीत नही गाते थे। इनके बजाय वे मातृभूमि के पुनीत प्रेम और प्यारी स्वतन्त्रता के गाने गाते थे।

ओ पितृभूमि के पुण्य प्रेम !
आगे बढने की राह दिखा !
प्रतिहिंसा के प्यासे शस्त्रो
को तू रण मे कर बल प्रदान !
प्रिय स्वतन्त्रते ! तू समर बीच
निज रक्षक-जन के प्राण बचा ।

चीजो की जबर्दस्त तगी थी। न तो काफी खाना था, न कपडे, न जूते। यहाँ-तक कि हथियार भी न थे। कितनी ही जगहो के नागरिको मे फौज के लिए बूट और जूते दे देने को कहा गया। देशभक्तो ने बहुत तरह की ऐसी चीजें खाना छोड दिया, जिनकी फौज के लिए जरूरत थी, और जिनकी कमी पड गई थी। कुछ लोग तो अक्सर उपवास भी करने लगे। चमडा, रसोई के बरतन, कटाइयाँ, बाल्टियाँ वगैरा, तरह-तरह की घरू काम की चीजे माँग ली गईं। पैरिस की गलियो मे हजारो लुहारो के यहाँ हथौडे चल रहे थे, क्योंकि सारी जनता, सारे नागरिक, नर-नारी, हथियार भी बनाने मे मदद दे रहे थे। लोग बडी भारी तगी उठा रहे थे, लेकिन इसकी क्या परवाह थी जब उनकी पितृभूमि फ्रान्स, सुन्दर फ्रान्स, फटे-हाल मगर आजादी का मुकुट पहने, खतरे मे थी और दुश्मन उसके दरवाजे पर खडा था ? बस, फ्रान्स के नौजवान उसे बचाने को दौडे और भूख-प्यास की परवाह न करते हुए, विजय के लिए कूच करने लगे। कार्लाइल लिखता है, "ऐसा बहुत कम देखा जाता है कि राष्ट्र की सारी-की-सारी जनता मे जरा-सा भी भरोसे का होना माना जा सके, सिवाय उन चीजो मे जिन्हें वह खा सके या धर-उठा सके। जब कभी कोई भरोसा मिल जाता है तो उसका इतिहास जोश भरनेवाला और ध्यान देने के काबिल बन जाता है।" एक महान् उद्देश्य मे यही भरोसा क्रान्ति के नर-नारियो मे पैदा हुआ और याद रखने लायक दिनो मे उन्होंने जो इतिहास रचा और जो कुर्बानियाँ बर्दाश्त की, उनमे अब भी हमे जोश दिलाने की और हमारे खून की हरकत तेज करने की पूरी ताकत है।

नये रगरूटो की इन क्रान्तिकारी फौजो ने, पूरी तरह फौजी तालीम न मिलने पर भी, फ्रान्स की धरती पर से सब विदेशी फौजो को मार भगाया और उसके बाद

नीदरलैण्ड के दक्षिणी हिस्से (बेलजियम, वगैरा) को भी आस्ट्रिया के चगुल से छुडा दिया। हैप्सवर्गों ने हमेशा के लिए नीदरलैण्ड छोड दिया और वे फिर वापस न आये। यूरोप की सिखाई हुई और पेशेवर फौज इन क्रान्तिकारी रगरूटो के मुकाबिले मे न ठहर सकी। सीखा हुआ सिपाही तनख्वाह की खातिर लडता था और बडी सावधानी से लडता था, क्रान्तिकारी रगरूट एक आदर्श के लिए लडता था और विजय के लिए भारी-से-भारी जोखिम उठाने को तैयार था। सीखा हुआ सिपाही ढेर-का-ढेर सामान लादे धीरे-धीरे चलता था, रगरूट के पास लादने को कुछ सामान न था और वह तेजी के साथ चलता था। यानी क्रान्तिकारी फौज युद्ध मे एक नया ही नमूना थी और उनके लडने का ढँग भी बिलकुल नया था। उन्होंने युद्ध-कला के पुराने तरीको को बदल दिया और कुछ हद तक वे यूरोप मे अगले सौ वर्षों की फौजो के लिए नमूना बन गईं। लेकिन इन फौजो का असली बल इनके जोश और हौसले मे था। इनका नारा, और असल मे उस समय क्रान्ति का भी नारा, दान्तो के इस मशहूर वाक्य मे आ जाता है "पितृभूमि के दुश्मनो को परास्त करने लिए हममे दिलेरी, और भी ज्यादा दिलेरी, हमेशा दिलेरी, चाहिए।"

युद्ध फैलने लगा। जल-सेना के सबब से इग्लैण्ड एक ताकतवर दुश्मन साबित हुआ। गणराज्यी फ्रान्स ने बडी भारी थल-सेना बना ली थी, लेकिन समुद्र पर वह कमज़ोर था। इग्लैण्ड ने फ्रान्स के सारे वन्दरगाहो की नाकावन्दी शुरू कर दी। फ्रान्स से भागे हुए लोग इग्लैण्ड से ही करोडो की सख्या मे जाली 'असाइनेत्स' या फ्रान्सीसी गणराज्य के नोट धडा-धड फ्रान्स भेजने लगे। इस तरह उन्होने फ्रान्स की सिक्का-प्रणाली और अर्थ-व्यवस्था को बर्बाद करने की कोशिश की।

विदेशो के साथ यह युद्ध सबसे ज्यादा महत्ववाली चीज वन गया और राष्ट्र की सारी ताकत उसमे खर्च होने लगी। ऐसे युद्ध क्रान्तियो के लिए खतरनाक हुआ करते हैं, क्योकि ये समाजी समस्याओ से ध्यान हटाकर उमे विदेशी शत्रु से लडने की तरफ लगा देते हैं, जिससे क्रान्ति का असली उद्देश्य घपले मे पड जाता है। क्रान्ति के जोश की जगह युद्ध का जोश ले लेता है। फ्रान्स मे ऐसा ही हुआ और जैसा कि हम देखेंगे, आखिरी दर्जा फ्रान्स का यह हुआ कि वहाँ एक ज़बर्दस्त जगी सेनापति की तानाशाही कायम हो गई।

घरू झगडे भी साथ-साथ चल रहे थे। फ्रान्स के पश्चिम मे वान्दे मे, कुछ तो वहाँ के किसानो के नई फौजो मे भरती होने से इन्कार करने की वजह से और कुछ बादशाहवादी नेताओ और फ्रान्स से भागे हुए लोगो की कोशिशो से, किसानो का ज़बर्दस्त विद्रोह उठ खडा हुआ। क्रान्ति को सम्भालनेवाले और चलानेवाले तो असल मे पैरिस के शहरी लोग थे, किसान-वर्ग राजधानी मे तेजी से होनेवाले

परिवर्तनो को और उनके महत्व को न समझ सके और पिछड गये। वान्दे का विद्रो बडी बेहरमी के साथ दवा दिया गया। युद्ध मे और खासकर गृह-युद्ध मे लोगो हलके-से-हलके आवेग जाग उठते हैं और हमदर्दी तो दर-दर मारी फिरती है। लिय मे क्रांति-विरोधी वलवा हुआ। इसे दवा दिया गया और किसीने यह प्रस्ता किया कि सजा के तौर पर लियो का वडा शहर ही नष्ट कर दिया जाय। "लिय ने स्वतन्त्रता के खिलाफ युद्ध छेडा है; लियो अव नही वच सकता!" सौभाग से यह प्रस्ताव मजूर नही किया गया, मगर फिर भी लियो को वडी मुसीब झेलनी पडी।

इसी बीच मे पैरिस मे क्या हो रहा था? वहाँ किसका कब्जा था? नई चु हुई कम्यून और उसके हलको का शहर मे अभी तक बोलबाला था। नेशनल कन्वे न्शन मे शक्ति के लिए सारे गिरोहो मे कशमकश चल रही थी, जिसमे खा जिरोदी यानी मद्धिम गणराज्यवादी और जैकोविनी यानी गरम गणराज्यवादी जैकोविनी दल की जीत हुई और जून १७९३ ई० के शुरू मे ही ज्यादात जिरोदी डिप्टी कन्वेन्शन से निकाल दिये गए। कन्वेन्शन ने अब सामन्ती हकों क हमेशा के लिए उठा देने की कारंवाई की और जो जमीनें सामन्ती सरदारो के कब्जे मे थी, वे मुकामी कम्नो यानी म्यूनिसिपैलिटियो को वापस लौटा दी गईं यानी ये जमीनें जनता की सम्पत्ति हो गईं।

कन्वेन्शन ने, जिसमे अब जैकोविनी लोगो की तूती बोलती थी, दो कमेटिय मुकर्रर कीं, एक तो सार्वजनिक कल्याण की और दूसरी सार्वजनिक बचाव की और इनको लम्बे-चौडे अधिकार दे दिये। ये कमेटियाँ—खासकर सार्वजनिक बचाव कमेटी, जल्दी ही बडी शक्तिशाली बन बैठी और लोग इनसे खौफ खाने लगे इन्होंने कन्वेन्शन को एक-एक कदम आगे हाँकना शुरू किया, यहाँतक कि क्रान्ति 'आतक'[1] के गहरे गड्ढे मे जा पडी। भय की छाया अभी तक हरेक के ऊपर पडी हु थी, विदेशी दुश्मनो का भय, जो उनको चारो तरफ से घेरे हुए थे, भेदियो औ देश-द्रोहियो का भय, जिनकी सख्या बहुत थी। भय लोगो को अन्धा और खतरनाक बना देता है, और लगातार सिर पर सवार रहनेवाले इस भय से मजबूर होकर सितम्बर, १७९३ ई० मे कन्वेन्शन ने एक भयकर कानून पास किया, जो 'सन्देह भाजनो का कानून' कहलाया। जिस किसीपर सन्देह या शक होता उसकी खैर न थी। और सन्देह किये जाने से कौन बच सकता था? एक महीने बाद कन्वेन्शन के बाईस जिरोदी डिप्टियो पर क्रान्ति की अदालत के सामने मुक़दमा चलाया गया और उनको फौरन मौत की सजा दे दी गई।

---

[1]आतंक—क्रान्ति के बाद पैरिस में जो आतंक यानी दहशत का राज रहा, अंग्रेजी में उसे The Terror कहा जाता है।

इस तरह 'आतंक' का राज शुरू हुआ। मौत की सजा पाये हुए लोग हर रोज़ गिलोतीन पर ले जाये जाते थे, हर रोज़ इन कुर्बानी के बकरों से भरी हुई गाड़ियाँ जिन्हें 'तम्ब्रिल' कहते थे, पैरिस की गलियों की रोड़ी पर चूं-चूं करती और लड़खड़ाती हुई जाती थीं और लोग इन अभागों को चिढ़ाते थे। कन्वेन्शन में भी शासक-गुट्ट के खिलाफ बोलना खतरनाक था, क्योंकि इससे सन्देह पैदा होता था और सन्देह का नतीजा था मुकदमा और गिलोतीन। कन्वेन्शन की बागडोर सार्वजनिक कल्याण और सार्वजनिक बचाव की कमेटियों के हाथों में थी। ये कमेटियाँ, जिनके हाथों में जिन्दगी और मौत का पूरा अधिकार था, अपने अधिकार दूसरों को नहीं बाँटना चाहती थीं। इन्होंने पैरिस की कम्यून पर भी ऐतराज़ किया। असल में जो इनकी हाँ-में-हाँ नहीं मिलाते थे, उन सब पर इनको ऐतराज़ था। सत्ता में लोगों को भ्रष्ट कर देने की अजीब तासीर होती है। इसलिए इन कमेटियों ने उस कम्यून को कुचलना शुरू कर दिया, जो अपने हलकों समेत क्रान्ति की रीढ़ रही थी। पहले इन्होंने हलकों को कुचला और इन सहारों को काटकर फिर कम्यून को कुचल डाला। इस तरह क्रान्ति अक्सर अपने आपको ही खा जाती है। पैरिस के हरेक हिस्से के ये हलके जनता को चोटी के नेताओं से मिलानेवाली कड़ियाँ थे। ये वे नसें थीं, जिनमें होकर क्रान्ति का उसे बल और जीवन देनेवाला लाल खून बहता था। १७९४ के शुरू में हलकों और कम्यून के कुचल दिये जाने का अर्थ था इस जीवन देनेवाले खून का रोक दिया जाना। अब से कन्वेन्शन और ये कमेटियाँ अपने ऊपर की सरकार का अंग बन गईं, जिनका जनता से कोई असली सम्पर्क न था और जो 'आतंक' के ज़रिये अपनी मर्ज़ी दूसरों पर लादती थीं—जैसा कि सब सत्ताधारियों का रवैया हुआ करता है। यह असली क्रान्तिकारी ज़माने के अन्त की शुरुआत थी। छः महीने तक यह 'आतंक' और जारी रहनेवाला था और क्रान्ति लस्टम-पस्टम चलनेवाली थी। लेकिन उसका अन्त तो दिखाई देने लगा था।

उथल-पुथल और परेशानी के इन दिनों में पैरिस और फ्रान्स के नेता कौन थे? बहुत-से नाम सामने आते हैं। कैमिल देम्यूला, जो १७८९ ई० में बास्तील के हमले का नेता था और जिसने दूसरे बहुत-से मौकों पर भी महत्व का हिस्सा लिया था। 'आतंक' के दिनों में नरमी की नीति का समर्थन करते हुए यह खुद गिलोतीन का शिकार हुआ। कुछ ही दिन बाद इसकी युवा पत्नी लूसिल भी इसके कदमों पर चली और उसने पति के बिना जिन्दा रहने से मौत को बेहतर समझा। फ़ैब्र दि इग्लैंतीन और सरकारी वकील फोकिये तिनविल, जिससे सब भय खाते थे। मारत, क्रान्ति का शायद सबसे महान् और काबिल आदमी, जिसे एक नौजवान लड़की शारलौत कॉरदे ने छुरा भोंककर मार डाला, दान्तो, जिसका ज़िक्र मैं पहले भी दो बार कर चुका हूँ, जो दिलेर और शेरदिल था और बड़ा अच्छा व लोकप्रिय

भाषण देनेवाला था, लेकिन फिर भी उसका अन्त गिलोतीन पर हुआ, और इन सबसे ज्यादा मशहूर रोबेसपीर, जैकोबिनी दल का नेता और 'आतंक' के दिनों में कन्वेन्शन का करीब-करीब तानाशाह। यह तो एक तरह से 'आतंक' की मूर्ति ही बन गया था और लोग इसका नाम लेते हुए थर्राते थे। लेकिन इस व्यक्ति की ईमानदारी और देशभक्ति के बारे मे कोई उंगली नही उठा सकता, लोग इसे 'शुद्ध' यानी कभी भ्रष्ट न होनेवाला कहते थे। लेकिन जीवन मे इतना सादगी-पसन्द होते हुए भी वह ज़रूरत से ज्यादा अहंकारी था। और शायद वह यह ख़याल करता था कि उससे मतभेद रखनेवाला हरेक आदमी गणराज्य व क्रान्ति का गद्दार है। क्रान्ति के बहुत-से बडे-बडे नेता, जो इसके साथी रह चुके थे, इसीके इशारे पर गिलोतीन के घाट उतार दिये गए, यहाँतक कि वह कन्वेन्शन, जो भेड की तरह इसके पीछे-पीछे चल रहा था, आख़िर इसीके ख़िलाफ खडा हो गया। उन्होंने इसे जालिम और अत्याचारी करार दिया और इसका व इसके अत्याचारो का अन्त कर दिया।

क्रान्ति के ये तमाम नेता नौजवान लोग थे; क्रान्तियाँ बुड्ढे आदमियो से नही हुआ करती। इन नेताओ मे बहुत-से भारी-भरकम ज़रूर थे, लेकिन इस महान् नाटक मे किसीका भी पार्ट, यहाँतक कि रोबेसपीर का भी, ज़ोरदार न रहा। क्रान्ति के तथ्य के सामने ये हेच मालूम पडते हैं, क्योंकि इन लोगो ने न तो क्रान्ति पैदा की थी और न उसकी बागडोर ही इनके हाथो मे थी। वह तो एक ऐसा क़ुदरती इन्सानी भूचाल था जैसे कि इतिहास मे समय-समय पर हुआ करते हैं, और जिनको समाजी हालतें व वर्षों की लगातार मुसीबतें और अत्याचार धीरे-धीरे, लेकिन न लौटनेवाले रास्ते पर तैयार करते हैं।

यह न समझना कि कन्वेन्शन ने लडने-भिडने और गिलोतीन पर चढाने के सिवा और कुछ न किया। सच्ची क्रान्ति से पैदा होनेवाली शक्ति हमेशा बहुत ज़ोरदार होती है। इसका बहुत-सा हिस्सा तो विदेशियो से युद्ध मे खप गया था, लेकिन फिर भी बहुत-कुछ बच रहा था, और इसके जरिये काफी ठोस काम किया गया। ख़ासकर राष्ट्रीय शिक्षा का सारा तरीका ही बदल दिया गया। मीट्रिक-प्रणाली, जिसे आज स्कूल के सब बच्चे सीखते हैं, इसी समय जारी की गई थी और इसने तमाम बाटो को और लम्बाई व आयतन के तमाम नापो को आसान कर दिया। यह प्रणाली अब दुनिया के लगभग सारे सभ्य देशो मे फैल गई है, लेकिन कट्टर-पन्थी इंग्लैण्ड अभी तक गज़ो, फर्लांगो, पौण्डो और हण्डरवेटो वग़ैरा की पुरानी प्रणाली से चिपका हुआ है। हम भारतवासियो को सेरो और मनो वग़ैरा[1] के अलावा इन पेचीदा लम्बाइयों और तोलो को भी बर्दाश्त करना पडता है।

---

[1] अब स्वतन्त्र भारत ने भी मीट्रिक-प्रणाली अपना ली है।

कायदे से, मीट्रिक प्रणाली का लाज़िमी नतीजा था कि गणराज्य का एक नया कैलेंडर भी बने। यह २२ सितम्बर, १७९२ ई० से, यानी जिस दिन गणराज्य का ऐलान हुआ उस दिन से, शुरू किया गया। सात दिन के सप्ताह की जगह दस दिन का सप्ताह कर दिया गया और दसवां दिन छुट्टी का रक्खा गया। महीने तो बारह ही रहे, मगर उनके नाम बदल दिये गए। कवि फ़ैब्र ने ऋतुओ के मुताबिक महीनो को बडे प्यारे नाम दिये। वसन्त के तीन महीने 'जर्मिनल', 'फ्लोरेआल', 'प्रेरिआल' थे, गरमी के महीने 'मेसिदोर' 'थर्मिदोर', 'फ्यूक्तिदोर' थे, पतझड के महीने 'वान्देम्यार', 'ब्रूमार', 'फ्रिमार', रक्खे गये, सरदी के 'निवोज', 'प्ल्यूविओज़', 'वान्तोज़', रक्खे गये। पर यह कैलेंडर गणराज्य के बाद ज्यादा दिन न टिका।

कुछ दिन ईसाइयत के खिलाफ एक ज़बर्दस्त आन्दोलन हुआ और 'विवेक'[1] की पूजा तजवीज़ की गई। 'सत्य' के मन्दिर बनाये गए। यह आन्दोलन प्रान्तो मे बहुत जल्द फैल गया। १७९३ ई० के नवम्बर मे पैरिस के नोत्रदाम गिरजे मे 'स्वतन्त्रता' और 'विवेक' का बडा भारी उत्सव मनाया गया और एक सुन्दर स्त्री को देवी बनाया गया। लेकिन रोबेसपीर इन मामलो मे कट्टर था। उसने इस आन्दोलन को पसन्द नही किया। दान्तो ने भी नही किया। सार्वजनिक कल्याण की जैकोबिनी कमेटी भी इसके खिलाफ थी, इसलिए आन्दोलन के नेताओ को गिलोतीन पर चढा दिया गया। सत्ता और गिलोतीन के बीच मे कोई ठहरने की जगह न थी। 'स्वतन्त्रता' और 'विवेक' उत्सव का तुर्की-बतुर्की जवाब देने के लिए रोबेसपीर ने 'सर्वोपरि' सत्ता के दूसरे जलसे का आयोजन किया। कन्वेन्शन के वोट से यह तय किया गया कि फ्रान्स एक 'सर्वोपरि सत्ता' मे विश्वास करता है। रोमन कैथलिक मत फिर पसन्द किया जाने लगा।

पैरिस के हलको को और कम्यून को कुचल दिये जाने के बाद हालत बडी तेजी मे बिगड रही थी। जैकोबिनी दल सब पर हावी हो रहा था, सरकार की बागडोर उनके हाथो मे थी, लेकिन उसमे आपसी फूट फैल रही थी। 'स्वतन्त्रता' और 'विवेक' के उत्सव के अगुआ हीबर्त और उसके समर्थको को गिलोतीन पर चढाया जाना जैकोबिनी दल मे फूट का पहला बडा सबब हुआ। इसके बाद फैब्र दि इग्लैंतीन का नम्बर आया, और जब १७९४ ई० के शुरू मे दान्तो, कैमिली, देस्मूला, वगैरा ने रोबेसपीर के हाथो बेहद लोगो को गिलोतीन पर चढाये जाने का विरोध किया, तो इनको भी मौत के घाट उतार दिया गया। अप्रैल, १७९४ ई० मे दान्तो को फुर्ती के साथ कत्ल कर दिया गया कि कही लोग दखल न डाल दें। इससे पैरिस की और प्रान्तो की जनता यह समझ गई कि क्रान्ति का अन्त हो चुका।

---

[1] विवेक (Reason)—भले-बुरे का, सत्य-असत्य का, ज्ञान।

क्रान्ति का एक शेर मारा गया और अब एक तग-दिल गुट्ट का अधिकार हो गया। शत्रुओ से जो घिरा हुआ था और जनता से जिसका सम्पर्क टूट गया था, ऐसे इस गुट्ट को चारो तरफ दगाबाजी ही नजर आने लगी, और 'आतक' को जोरदार बनाने के सिवा इसे अपने बचाव का कोई रास्ता न सूझा।

बस, आतक का राज हो गया और गिलोतीन की तरफ जानेवाली तम्ब्रिल गाडियो मे कुर्बानी के बकरो की सख्या पहले से भी ज्यादा हो गई। जून मे एक नया कानून पास किया गया जो 'बाईसवी प्रेरिआल' का कानून कहलाता है और जिसमे झूठी खबरे उडाना, लोगो को लडाना या भडकाना, सदाचार की जड काटना, और जनता के ईमान को बिगाडना, वगैरा जुर्मों के लिए मौत की सजा तजवीज़ की गई थी। जो कोई भी रोबेसपीर और उसके हिमायतियो से मतभेद रखता, वही इस कानून के लम्बे-चौडे जाल मे पकडा जा सकता था। झुण्ड-के-झुण्ड लोगो पर एक साथ मुकदमे चलाएँ जाते थे और उन्हे सज़ाएँ दे दी जाती थी। एक बार तो डेढ-सौ आदमियो पर एक साथ मामला चलाया गया, जिनमे सज़ाएँ पाये हुए कैदी, बादशाहवादी, वगैरा, शामिल थे।

इस नये 'आतक' का राज छियालीस दिन रहा। आखिरकार नवी थर्मिदोर यानी २७ जुलाई १७९४ ई० को दबी हुई बिल्ली ने झपट्टा मारा। कन्वेन्शन अचानक रोबेसपीर और उसके समर्थको के खिलाफ हो गया और 'ज़ालिम-मुर्दाबाद' के नारे लगाते हुए उन्होने इन सबको गिरफ्तार कर लिया और रोबेसपीर को तो बोलने तक नही दिया। दूसरे दिन तम्ब्रिल उसे भी उसी गिलोतीन पर ले गई, जहाँ वह बहुतो को भेज चुका था। इस तरह फ्रान्स की राज्यक्रान्ति का अन्त हो गया।

रोबेसपीर की मृत्यु के बाद उदारदली क्रान्ति शुरू हुई। अब उदारदली आगे आये और इन लोगो ने जैकोबिनी लोगो को सताना और उनपर आतक जमाना शुरू किया। 'लाल आतक' के बाद 'सफेद आतक' की बारी आई। पन्द्रह महीने बाद, अक्तूबर, १७९५ ई० मे कन्वेन्शन टूट गया और पाँच सदस्यो की एक 'डायरेक्टरी', सरकार बन गई। यह पूरी तरह मध्यमवर्ग की सरकार थी और इसने आम लोगो को दबाकर रखने की कोशिश की। इस डायरेक्टरी ने फ्रान्स पर चार साल से ज्यादा शासन किया और अन्दरूनी झगडो के बाद भी गणराज्य की इतनी धाक और ताकत थी कि वह देश के बाहर भी युद्धो मे जीतती रही। इसके खिलाफ कुछ बगावतें भी हुई, लेकिन वे सब दबा दी गईं। इसी तरह के एक विद्रोह को दबानेवाला गणराज्य की फौज का एक नौजवान सेनानायक नेपोलियन बोना-पार्त था, जिसने पेरिस की भीड पर गोलियाँ चलाने की हिम्मत की और बहुतो को मार डाला। यह घटना 'छर्रों का झोका' करके मशहूर है। जब खुद गणराज्य की

पुरानी फौज ही फ्रान्स की जनता को मारने के काम मे लाई जा सकती थी, तो ज़ाहिर है कि क्रान्ति की छाया तक भी बाकी न रही होगी।

बस, क्रान्ति का अन्त हो गया और उसके साथ ही आदर्शवादियो के मीठे सपनो का और गरीबो की आशाओ का भी अन्त हो गया। लेकिन फिर भी जो बाते वह हासिल करना चाहती थी, उनमे से बहुत-सी हासिल हो गई। कोई भी उलट-क्रान्ति अब किसानो की गुलामी को वापस नही ला सकती थी, और बोर्बन बादशाह भी—बोर्बन फ्रान्स का एक राजवंश था—जब वापस आये तो उस जमीन को वापस न छीन सके जो किसान-वर्ग मे बॉट दी गई थी। खेत मे या शहर मे काम करनेवाले साधारण आदमी की हालत इतनी अच्छी हो गई कि जितनी पहले कभी नही रही थी। सच तो यह है कि 'आतंक' के दिनो मे भी उसकी हालत क्रान्ति के पहले से बेहतर थी। 'आतंक' उसके खिलाफ न था। वह तो ऊँचे वर्गों के खिलाफ था, हालाँकि आखिरी वक्त मे कुछ गरीब लोगो को भी इसमे तकलीफें उठानी पडी।

क्रान्ति धराशायी हो गई, लेकिन गणराज्य का खयाल यूरोप भर मे फैल गया और उसके साथ ही उन सिद्धान्तो का भी प्रचार हुआ, जिनका ऐलान 'मानव-अधिकारो की घोषणा' मे किया गया था।

## . १०३ .

## हुकूमतों के ढंग

२७ अक्तूबर, १९३२

मैंने दो हफ्तो मे कुछ नही लिखा। कभी-कभी मैं सुस्त हो जाता हूँ। यह ख़याल कि अब मेरी इस कहानी का अन्त नज़दीक आ रहा है, मुझे ज़रा रोक देता है। हम अठारहवी सदी के अन्त तक तो पहुँच ही चुके है, अब उन्नीसवी सदी के सौ वर्षो पर गौर करना बाकी है। फिर हम ठेठ आज तक पहुँचने मे बीसवी सदी के ठीक बत्तीस वर्ष रह जायँगे। लेकिन इन बचे हुए एक सौ बत्तीस वर्षों का बयान बडा लम्बा होगा। बहुत नज़दीक होने के सबब से ये बहुत बडे नज़र आते है और हमारे दिमागो मे भर जाते है, और पहले की घटनाओ से हमको ज्यादा भारी मालूम होते हैं। जो कुछ आज हम अपने चारो तरफ देखते हैं, उसके ज्यादातर हिस्से की जडें इन्ही वर्षों के भीतर हैं, और वास्तव मे पिछली सदी और उससे आगे की घटनाओ के घने जँगल मे होकर तुमको ले जाना मेरे लिए आसान काम न होगा। शायद इससे मेरे जी चुराने की यही वजह हो! लेकिन मै इस असमंजस मे पड जाता हूँ कि जब अन्त मे मनुष्य-जाति की यह कहानी १९३२ ई० तक आ पहुँचेगी और भूतकाल वर्तमान मे मिलकर भविष्य की छाया के सामने ठहर जायगा, तब

मैं क्या करूँगा ? प्यारी बेटी, तब मैं तुमको क्या लिखूंगा ? उस वक्त मेरे लिए क्या बहाना रहेगा कि मैं कलम लेकर बैठूं और तुम्हारा ख़याल करूँ, या कल्पना करूँ कि तुम मेरे पास बैठकर बहुत-से सवाल पूछ रही हो, जिनका जवाब देने की मैं कोशिश करता हूँ ?

फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के बारे मे मैं तीन पत्र लिख चुका हूँ, फ्रान्स के इतिहास के थोडे-से पांच वर्षों के बारे मे तीन लम्बी चिट्ठियाँ हैं। युगो की इस यात्रा के दौरान मे हमने सदियो को एक-एक डग मे पूरा कर दिया है और महाद्वीपो पर सरसरी निगाह डाली है। लेकिन यहाँ फ्रान्स मे, १७८९ से १७९४ ई० तक, हम काफी देर ठहरे हैं, और फिर भी यह जानकर तुम्हें ताज्जुब होगा कि मैंने अपने बयान को छोटा करने की सख्त कोशिश की है, क्योंकि मेरे दिमाग मे यह विषय भरा हुआ था और मेरी कलम आगे दौडना चाहती थी। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति इतिहास मे महत्व रखती है। वह इतिहास के एक जमाने का अन्त और दूसरे की शुरूआत बतलाती है। लेकिन उसका नाटक-जैसा रूप हमको और भी ज्यादा मोहता है और यह हम सबको बहुत-सी नसीहतें देती है। दुनिया मे आज फिर उथल-पुथल हो रही है और हम लोग महान् परिवर्तनो के दरवाज़े पर खडे हैं। अपने देश मे भी हम क्रान्ति के समय मे रह रहे है, फिर यह क्रान्ति मारकाट से चाहे कितनी ही दूर क्यो न हो। इसलिए हम फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति से और उस दूसरी महान् क्रान्ति से, जो रूस मे हमारे ही समय मे हमारी आँखो के सामने हुई है, बहुत कुछ सीख सकते हैं। इन दोनो क्रान्तियां जैसी जनता की सच्ची क्रान्तियाँ जीवन की कठोर असलियतो पर बडी तेज रोशनी डालती हैं। बिजली की चमक की तरह वे सामने की सारी ज़मीन को, और खासकर अन्धेरी जगहो को, रौशन कर देती हैं। कम-से-कम कुछ देर के लिए अपना लक्ष्य बहुत साफ और अजीब तौर पर पास दिखाई देता है। दिल मे विश्वास और शक्ति भर जाते हैं। शका और हिचकिचाहट दूर हो जाती हैं। दूसरे नबर की चीज पर समझौता करने का कोई सवाल नही रहता। क्रान्ति को बनानेवाले लोग तीर की तरह सीधे लक्ष्य की ओर आगे बढते हैं, दायें-बायें नही देखते, और जितनी सीधी और तेज उनकी नज़र होती है, उतनी ही क्रान्ति आगे बढती है। लेकिन यह सिर्फ क्रान्ति के चढाव के वक्त मे ही होता है जबकि उसके नेता पहाड की चोटी पर होते हैं और जनता पहाड की ढाल पर चढती है। लेकिन अफसोस ! एक वक्त ऐसा आता है जब उनको पहाड से उतरकर नीचे की अन्धेरी घाटियो मे भी आना पडता है। उस वक्त विश्वास मन्दा पड जाता है और क्रिया-शक्ति कम हो जाती है।

१७७८ ई० मे वाल्तेयर, जो करीब-करीब ज़िन्दगी भर देश-निकाले मे रहा था, मरने के लिए पैरिस लौटा। उस समय वह चौरासी साल का था। पैरिस के

नौजवानों को सम्बोधन कर उसने कहा था—"नौजवान बड़े भाग्य शाली हैं, वे आगे महान् बातें देखेंगे।" वास्तव मे उन्होंने महान् बातें देखी और उनमे भाग लिया क्योंकि ग्यारह साल बाद ही क्रान्ति शुरू हो गई। वह जरूरत से ज्यादा इन्तज़ार कर चुकी थी। सत्रहवी सदी मे महान् बादशाह चौदहवें लुई का कहना था कि "मैं ही सबसे बड़ा हूँ," अठारहवी सदी मे उसके उत्तराधिकारी पन्द्रहवें लुई ने कहा—"मेरे बाद प्रलय हो जायगी", और इस न्यौते के बाद सचमुच ही रेला आया, जो सोलहवें लुई और उसके साथियो को बहा ले गया। पाउडर लगे नकली बालो और रेशमी बिरजिसोंवाले अमीर-सरदारो के बजाय 'साक्यूलौत' यानी बिना बिरजिसवाले लोग आगे आये, और फ्रान्स का हरेक निवासी 'नागर' या 'नागरी' कहलाने लगा। नये गणराज्य का नारा था—"स्वतन्त्रता, समानता, भाईचारा", जो सारे ससार को पुकार-पुकारकर सुनाया गया।

क्रान्ति के दिनो मे 'आतक' का खूब जोर रहा। क्रान्ति की खास अदालत मुकर्रर किये जाने से लगाकर रोबेसपीर की मृत्यु तक के सोलह से भी कम महीनों मे, लगभग चार हज़ार आदमी गिलोतीन पर चढा दिये गए। यह एक बडी सख्या है, और जब यह खयाल होता है कि कितने ही बेकसूर आदमी गिलोतीन पर चढा दिये गए होंगे तो दिल को बडा सदमा और रज पहुँचता है। लेकिन फिर भी कुछ घटनाएँ याद रखने लायक हैं, जिससे हम फ्रान्स के इस 'आतक' को तसवीर मे ठीक जगह बिठाकर देख सकें। गणराज्य चारो तरफ शत्रुओं, देश-द्रोहियो और भेदियो से घिरा हुआ था और गिलोतीन पर चढाये जानेवालो मे से बहुत-से लोग गणराज्य के खुल्लमखुल्ला विरोधी थे, जो उसके सत्यानाश की कार्रवाइयाँ कर रहे थे। 'आतक' के आखिरी दिनो मे कसूरवारो के साथ बेकसूर भी पिस गये। जब दहशत सवार होती है तो आँखो पर पर्दा पड जाता है और तब कसूरवार और बेकसूर का भेद पहचानना मुश्किल हो जाता है। फ्रान्स के गणराज्य को एक नाजुक घडी मे लाफेअत[1] जैसे अपने बडे-बडे सेनापतियो के भी विरोध और दगाबाजी का सामना करना पडा, तब अगर नेता लोग घबरा गये हो और उन्होंने अन्धाधुन्ध इधर-उधर मार-काट करनी शुरू कर दी हो तो इसमे अचम्भा ही क्या है ?

जैसा कि एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास मे बतलाया है, यह बात भी ध्यान मे रखने की है कि उस वक्त इग्लण्ड, अमेरिका और दूसरे देशो मे क्या हो रहा था। फौजदारी क़ानून, खासकर सम्पत्ति को बचाने के बारे मे, वहशियाना

---

[1] लाफेअत—(१७५७–१८३४); फ्रान्सीसी सेनापति और राजनीतिज्ञ। यह अमेरिका के स्वाधीनता-संग्राम मे अंग्रेजों के विरुद्ध लडा था। १७८९ ई० में यह फ्रान्स की राज्यक्रान्ति का नेता था, लेकिन १७९२ ई० में वहाँ से भाग गया। नेपोलियन के बाद यह फिर राष्ट्रीय फौज का सेनापति हुआ।

था और छोटे-छोटे अपराधो के लिए लोग फांसी पर चढा दिये जाते थे। कही-कही अब भी सरकारी तौर पर लोगो को यन्त्रणाएँ दी जाती थी। वेल्स ने लिखा है कि फ्रान्स मे 'आतक' के राज मे जितने आदमी गिलोतीन पर चढाये गए, उतने ही समय मे इग्लैण्ड और अमेरिका मे इससे कही ज्यादा आदमी इसी तरह फाँसी पर चढा दिये गए थे।

उन दिनो जिस खौफनाक बेरहमी व बेदर्दी के साथ गुलामो का शिकार किया जाता था उसका भी खयाल करो। और युद्ध का और खासकर आधुनिक युद्ध का खयाल करो, जो हजारो नौजवानो को उठती ज्वानी मे मटिया-मेट कर देता है। ज़रा और पास आकर अपने ही देश की तरफ देखो और हाल की घटनाओ पर विचार करो। तेरह साल हुए जब अमृतसर के जलियावाला बाग मे अप्रैल की एक शाम को, बसन्त के त्यौहार के दिन, सैकडो लोग मार डाले गए थे और हजारो बुरी तरह घायल कर दिये गए थे। और षड्यन्त्रो के ये सब मुकदमे और खास अदालतें और आर्डिनेन्स, लोगो को डराने और दबाने की कोशिशो के सिवा और क्या हैं? दमन और आतक की तेजी हुकूमत की हौलदिली का नाप हुआ करती है। हरेक हुकूमत, चाहे वह प्रतिगामी हो या क्रान्तिवादी, विदेशी हो या स्वदेशी, आतक का सहारा तब लेती है जब उसे खुद अपनी ही हस्ती खतरे मे मालूम पडती है। प्रतिगामी हुकूमत कुछ खास रियायतोंवाले लोगो की ओर से जनता के खिलाफ कार्रवाई करती है, क्रान्तिवादी हुकूमत जनता की तरफ से गिने-चुने खास रियायतियो के खिलाफ करती है। क्रान्तिवादी हुकूमत ज्यादा खरी और ईमानदार होती है, वह अक्सर जालिम और कठोर तो होती है, लेकिन उसमे छल-कपट या धोखा-धडी नही होते। प्रतिगामी हुकूमत धोखेबाजी की हवा मे रहती है, क्योकि वह जानती है कि अगर उसका भेद खुल गया तो वह टिक न सकेगी। वह स्वतन्त्रता की बातें करती है, और इस स्वतन्त्रता का यह अर्थ लगाती है कि वह खुद मनमानी करने के लिए स्वतन्त्र है। वह इन्साफ की बात करती है जिसका मतलब होता है मौजूदा व्यवस्था को कायम रखना, जिसके अन्दर वह पनपती है, हालाँकि दूसरे लोग मरते है। तुर्रा यह कि वह कानून और व्यवस्था की दुहाई देती है, लेकिन इस फिकरे की आड मे गोलियाँ चलाना, मारना, कैद करना, ज़बानबन्द करना, वगैरा, हरेक गैरकानूनी और बेकायदा कार्रवाई करती है। 'कानून और व्यवस्था' के नाम पर हमारे सैकडो भाइयो को खास अदालतो के सामने पेश करके मौत की सजा दे दी गई है। इसीके नाम पर ढाई साल पहले अप्रैल के महीने मे एक दिन, पेशावर मे मशीनगनो ने हमारे सैकडो बहादुर पठान देश-भाइयो को निहत्था होने पर भी भून डाला। और इसी 'कानून और व्यवस्था' की दुहाई देकर ब्रिटिश हवाई फौज हमारे सरहदी गाँवो मे और इराक मे बम बरसाती है और स्त्रियो, पुरुषो और छोटे-छोटे बच्चो को अन्धाधुन्ध मार डालती है या जिन्दगी भर के लिए अपा-

दिमाग भटक गया और मेरी कलम दूसरी तरफ दौड गई और नेपोलियन परग़ौर करना अभी बाकी है। उसे हमारे दूसरे पत्र का इन्तज़ार करना पडेगा।

: १०४ :

## नेपोलियन

४ नवम्बर, १९३२

फ्रान्स की राज्यक्रान्ति मे से नेपोलियन का उदय हुआ। जिस गणराज्यी फ्रान्स ने यूरोप के बादशाहो को चुनौती दी थी और उनसे लोहा लिया था, उसने इस नन्हे से कोर्सिका-निवासी के आगे घुटने टेक दिये। फ्रान्स मे उस समय एक अजीब तरह की जगली खूबसूरती थी। फ्रान्सीसी कवि बार्बिये ने फ्रान्स की तुलना एक जगली जानवर—सिर उठाये हुए व चमकदार, खालवाली एक शानदार और मनमौजी घोडी से, की है, जो खूबसूरत बदजात, ज़ीन, जोत और लगाम से ज़बर्दस्त भडकनेवाली, ज़मीन पर पाँव पटकनेवाली, और अपनी हिनहिनाहट से दुनिया को डरानेवाली थी। यह शानदार घोडी कोर्सिका के इस नौजवान को सवारी देने के लिए राजी हो गई और उसने इससे बडे-बडे अजीब करतब करवाये। लेकिन उसने इसे सधा भी लिया और इस जगली, मनमौजी जानवर का सारा जगलीपन और अल्हडपन दूर कर दिया। और उसने इससे इतना फायदा उठाया और इसे इतना थका दिया कि इसने उसे भी गिरा दिया और खुद भी गिर पडी।

तो नेपोलियन किस तरह का आदमी था ? क्या वह ससार का कोई महान् पुरुष था या, जैसा कि कहा जाता है, 'तकदीर-देवी का पुत्र' या ज़बर्दस्त वीर था, जिसने इन्सानियत को बहुत-से बन्धनो से छुटकारा दिलाने मे मदद दी ? या, जैसा कि एच० जी० वेल्स वग़ैरा कहते हैं, वह खाली एक हौसलेबाज़ था, जिसने यूरोप को और उसकी सभ्यता को बडा भारी नुकसान पहुँचाया ? शायद इन दोनो बातो मे सचाई है, या दोनो मे सचाई का कुछ अश है। हम सबमे अच्छाई और बुराई, बडप्पन और छुटपन की अजीब मिलावट होती है। वह भी ऐसी ही एक मिलावट था, लेकिन इस मिलावट मे ऐसे असाधारण गुण मिले हुए थे, जो हममे से बहुतो मे न मिलेंगे। उसमे साहस था और आत्म-विश्वास था, कल्पना थी और अद्भुत क्रिया-शक्ति थी और बडे ऊँचे हौसले थे। वह बहुत बडा सेनानायक था और पुराने ज़माने के सिकन्दर और चगेज़ जैसे सेनानियो की टक्कर का युद्ध-कला का उस्ताद था। लेकिन वह कमीना था और स्वार्थी और घमण्डी भी था। उसकी ज़िन्दगी की सबसे बडी उमग किसी आदर्श के पीछे दौडना नही थी, बल्कि खुद अपने लिए ‒‒ा की तलाश थी। उसने एक बार कहा था "मेरी रखैल ! सत्ता मेरी रखैल

योरप पर नैपोलियन की छाया
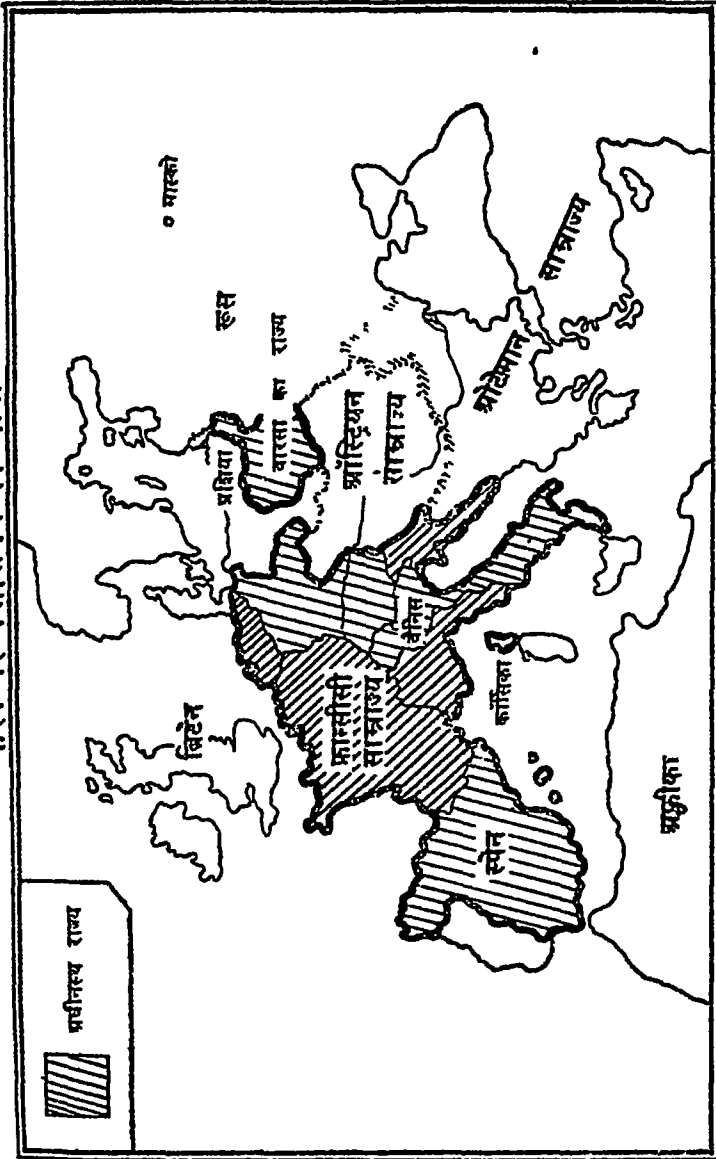
है ! इसे वश मे करने के लिए मुझे इतनी दिक्कत उठानी पडी है कि मैं न तो उसे किसीको छीनने दूंगा और न अपने साथ भोगने दूंगा !" वह क्रान्ति मे से पैदा हुआ था लेकिन फिर भी वह एक विशाल साम्राज्य के सपने देखता था और सिकन्दर की जीतें उसके दिमाग मे भर रही थी। उसे यूरोप भी छोटा मालूम होता था। पूर्व उसे ललचा रहा था, खासकर मिस्र और भारत। अपनी ज़िन्दगी के शुरू के दौर मे, जब वह सत्ताइस साल का था, तब उसने कहा था "महान् साम्राज्य और ज़बर्दस्त परिवर्तन सिर्फ पूर्व मे ही हुए हैं, उस पूर्व मे जहाँ साठ करोड लोग बसते है। यूरोप तो एक छोटी-सी टेकरी है !"

नेपोलियन बोनापार्त का जन्म १७६९ ई० मे कोर्सिका टापू मे हुआ था जो फ्रान्स के मातहत था। उसकी रगो मे फ्रान्स, कोर्सिका और इटली के खून मिले हुए थे। उसने फ्रान्स के एक फौजी स्कूल मे तालीम पाई थी और राज्यक्रान्ति के समय मे वह जैकोबिनी क्लब का सदस्य था। लेकिन शायद वह जैकोबिनी लोगो मे अपना ही उल्लू सीधा करने के लिए शामिल हुआ था, इसलिए नही कि वह उनके आदर्शों मे विश्वास करता था। १७९३ ई० मे तूलो मे उसे पहली जीत हासिल हुई। इस जगह के मालदार लोगो ने इस ड-- मे कि कही क्रान्ति के राज मे उनकी सम्पत्ति न छिन जाय, सचमुच अंग्रेजो को बुला लिया और बाकी बचा हुआ फ्रान्सीसी जगी-बेडा उनके हवाले कर दिया। इस आफत ने और ऐसी ही दूसरी आफतो ने नई-उम्र के गणराज्य को ज़बर्दस्त धक्का पहुँचाया और हरेक फालतू आदमी को, और औरतो को भी, फौज मे भर्ती होने का हुक्म दिया गया। नेपोलियन ने बागियो को पीस डाला और तूलो की लडाई मे बडी उस्तादी के साथ हमला करके अंग्रेज़ो को हरा दिया। अब उसका सितारा बुलन्द होने लगा और चौबीस साल की उम्र मे वह सेनापति बन गया। कुछ ही महीनो मे जब रोबेसपीर गिलोतीन पर चढा दिया गया तो यह आफत मे फंस गया, क्योकि इस पर रोबेसपीर के दल का आदमी होने का सन्देह किया गया। लेकिन सच तो यह है कि जिस दल मे वह शामिल था उस दल का सिर्फ एक ही सदस्य था, और वह था खुद नेपोलियन ! इसके बाद डायरेक्टरी का राज आया और नेपोलियन ने साबित कर दिया कि जैकोबिनी होना तो दरकिनार वह तो उलट-क्रान्ति का नेता था और बिना किसी हिचकिचाहट के जनता को गोलियो से भून सकता था। यह १७९५ ई० का वही मशहूर 'छर्रों का झोका' था, जिसका ज़िक्र मैं एक पिछले पत्र मे कर चुका हूँ। उस दिन नेपोलियन ने गणराज्य को घायल कर डाला। दस वर्षों के भीतर ही उसने गणराज्य का अन्त कर डाला और वह फ्रान्स का सम्राट् बन बैठा।

१७९६ ई० मे वह इटली की फौज का सेनापति हो गया और इटली के उत्तरी हिस्से पर बडी चतुराई से धावा करके उसने सारे यूरोप को चकित कर

दिया। फ्रान्स की फौजो मे क्रान्ति का जोश अभी कुछ बाकी था। लेकिन वे फटे-हाल थी, और उनके पास न ठीक कपडे थे, न जूते, न खाना और न रुपया। वह इस फटेहाल और पांवो मे छाले पडे हुए जत्थे को आल्प्स के पहाडो के ऊपर होकर ले गया और उनको आशा दिलाई कि इटली के उपजाऊ मैदानो मे पहुँचकर उनको खाना और आराम की चीजें सब मिलेंगी। दूसरी तरफ इटली के निवासियो को उसने आजादी का वचन दिया, वह उनको ज़ालिमो से छुडाने आ रहा था। लूट-खसोट के नजारे के साथ क्रान्तिवादी गपड-सपड की यह कैसी विचित्र मिलावट थी! इस तरह उसने फ्रान्स और इटली दोनो के निवासियो की भावनाओ से वडी चालाकी के साथ फायदा उठाया। चूंकि वह खुद भी आधा इटालवी था, इसलिए उसका खूब सिक्का जम गया। जैसे-जैसे उसे विजय मिलती गई, उसका रौब बढने लगा और उसकी कीर्ति फैलने लगी। अपनी फौज मे भी वह बहुत-सी बातो मे साधारण सिपाहियो के साथ तकलीफें उठाता था और खतरे मे उनके साथ रहता था, क्योकि धावे मे जहाँ कही सबसे ज्यादा खतरा होता वही वह पहुँच जाता था। वह हमेशा सच्ची लियाकत की तलाश मे रहता था और इसके लिए वह तुरन्त लडाई के मैदान ही मे इनाम दे देता था। अपने सिपाहियो के लिए वह पिता—एक बहुत नौजवान पिता!—के समान था, जिसे वे प्यार से 'छोटा-सा कार्पोरल' कहते थे और 'तू' करके सम्बोधन करते थे। फिर इसमे ताज्जुब की क्या बात, जो बीस-पच्चीस साल का यह नवयुवक सेनापति फ्रान्सीसी सिपाहियो का प्राणप्यारा बन गया हो?

तमाम उत्तरी इटली को विजय करके, आस्ट्रिया को हराकर, और वेनिस के पुराने गणराज्य का अन्त करके और वहाँ वडी भद्दी साम्राज्यशाही सुलह करके वह एक महान् विजयी और वीर बनकर पैरिस लौटा। फ्रान्स मे उसका दबदबा क़ायम होना शुरू हो ही गया था। लेकिन उसने सोचा कि शायद अभी सत्ता हथियाने का ठीक वक्त नही आया है, इसलिए उसने एक फौज लेकर मिस्र जाने का ढंग रचा। जवानी से ही पूर्व की यह पुकार उसके दिल मे उठ रही थी और अब वह इसे पूरी कर सकता था। एक लम्बे-चौडे साम्राज्य के सपने उसके दिमाग मे चक्कर लगाने लगे होगे। भूमध्यसागर मे अंग्रेज़ी जगी-बेडे से किसी तरह बाल-बाल बचकर वह सिकन्दरिया जा पहुँचा।

मिस्र उन दिनो तुर्कों के उस्मानी साम्राज्य का हिस्सा था, लेकिन इस साम्राज्य का पतन हो चुका था और मिस्र मे असली राज ममलूक्रो[1] का था, जो सिर्फ नाम

[1] ममलूक—तुर्कों के सुलतान अयूब के शरीर-रक्षक गुलाम, जो उसकी मृत्यु (१२५१) के बाद १५१७ ई० तक मिस्र मे राज करते रहे। सुलतान सलीम प्रथम ने इनको निकाल बाहर कर दिया था, लेकिन अठारहवीं सदी मे इन्होने फिर

के लिए तुर्की के सुलतान के मातहत थे। क्रान्तियो और आविष्कारो ने यूरोप को भले ही हिला डाला हो, लेकिन ये ममलूक अभी तक मध्य-युगों का ही ढंग अपनाये हुए थे। कहते हैं कि जब नेपोलियन काहिरा पहुँचा तो एक ममलूक सूरमा रेशम के भडकीले कपडे और दमिश्क का जिरह-बख्तर (कवच) पहने घोडे पर सवार होकर फ्रान्स की फौज के सामने आया और उसके नेता को द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारा! उस बेचारे पर गोलियो की बौछार की गई। इसके बाद जल्द ही नेपोलियन ने 'पिरैमिड्स की लडाई' जीती। वह नाटक-जैसे हाव-भाव बहुत पसन्द करता था। एक पिरैमिड के नीचे अपनी फौज के सामने घोडे पर खडे होकर उसने कहा—"सिपाहियो! देखो, चालीस सदियाँ तुम्हारे ऊपर निगाह डाल रही हैं!"

नेपोलियन थल-युद्ध का उस्ताद था और वह जीतता ही गया। लेकिन समुद्र पर उसका बस न चला। वह जल-युद्ध लडना नही जानता था और शायद उसके पास योग्य समुद्री-सेनानायक भी नही थे। ठीक उन्ही दिनो भूमध्यसागर मे इंग्लैण्ड के जंगी-बेडे की कमान एक ग़ैर-मामूली प्रतिभावाले आदमी के हाथो मे थी। वह होरेशियो नेल्सन[1] था। नेल्सन बडी हिम्मत करके एक दिन ठेठ बन्दरगाह मे घुस आया और नील नदी की लडाई मे उसने फ्रान्स के जगी बेडे को तबाह कर दिया। इस तरह परदेश मे नेपोलियन फ्रान्स से बिछुड गया। वह तो किसी तरह चुपचाप बचकर निकल भागा और फ्रान्स पहुँच गया, लेकिन ऐसा करके उसने अपनी 'पूर्व की फौज' को कुर्बान कर दिया।

इन जीतो मे और कुछ फौजी नामवरी के बावजूद पूर्वी देशो का यह ज़बर्दस्त धावा असफल रहा। लेकिन दिलचस्पी की यह बात ध्यान मे रखने लायक है कि नेपोलियन अपने साथ विशेषज्ञो, विद्वानों और प्रोफेसरो की भीड-की-भीड़, बहुत-सी किताबो और तरह-तरह के औजारो के साथ, मिस्र देश को ले गया था। इस 'इन्स्टीट्यूट' मण्डली मे रोज चर्चाएँ होती थी, जिनमें नेपोलियन भी बराबरी की हैसियत से भाग लेता था। इन विशेषज्ञो ने विज्ञान की खोजो का बहुत-सा अच्छा काम किया। यूनानी लिपि और मिस्र की चित्र-लिपि के दो भेद—इन तीन लिपियो मे खुदा हुआ एक शिलालेख मिलने से तसवीरी लिखावट की पुरानी पहेली हल हो गई। यूनानी लिपि की सहायता से दूसरी दोनो लिपियो को पढ लिया गया। यह भी

---

अधिकार प्राप्त कर लिया। १७९८ ई० में नेपोलियन ने इन्हे हराया और १८११ ई० मे सुलतान मुहम्मद अली ने इनका अन्त कर दिया।

[1] नेल्सन (१७५८–१८०५)—इंग्लैण्ड का बड़ा प्रसिद्ध और योग्य नौ-सेनापति। इसने कई समुद्री लड़ाइयाँ जीती थीं और इंग्लैण्ड का समुद्री गौरव बढ़ाया। यह ट्राफल्गार के युद्ध मे मारा गया।

दिलचस्प बात है कि स्वेज़ पर नहर काटने की एक तजवीज़ मे नेपोलियन ने भी बहुत दिलचस्पी दिखलाई थी।

जब नेपोलियन मिस्र मे था तो उसने ईरान के शाह और दक्षिण भारत के टीपू सुलतान के साथ कुछ बातचीत चलाई थी। लेकिन इनका फल कुछ न निकला क्योंकि उसके पास समुद्री ताकत बिलकुल न थी। अन्त मे समुद्री ताकत ने ही नेपोलियन को पछाड दिया और उन्नीसवी सदी मे इंग्लैण्ड को ज़बर्दस्त बनानेवाली भी समुद्री ताकत ही थी।

मिस्र से जब नेपोलियन लौटा तो फ्रान्स की हालत बहुत खराब हो रही थी। डायरेक्टरी बदनाम और लोगो को नापसन्द हो चुकी थी, इसलिए हरेक की आँखें नेपोलियन की तरफ लगी हुई थी। वह तो सत्ता हथियाने को तैयार ही बैठा था। नवम्बर, १७९९ ई० मे, अपनी वापसी के एक महीने बाद, नेपोलियन ने अपने भाई ल्यूशन की सहायता से असेम्बली को ज़बर्दस्ती भग कर दिया, और उस समय के जिस सविधान के मातहत डायरेक्टरी हुकूमत कर रही थी, उसका अन्त कर दिया। इस ज़बर्दस्ती के राजनीतिक धडाके[1] मे, नेपोलियन ने हालत को काबू मे कर लिया। वह ऐसा इसलिए कर सका कि लोग उसे चाहते थे और उसमे भरोसा रखते थे। क्रान्ति का तो बहुत दिन पहले ही दिवाला निकल चुका था, लोकतन्त्र का भी अब लोप हो रहा था और एक लोकप्रिय सेनापति का डंका बज रहा था। एक नये सविधान का मसविदा बनाया गया, जिसमे तीन 'कौंसल' (यह शब्द प्राचीन रोम से लिया गया था) रक्खे गये, लेकिन इन तीनो मे प्रधान नेपोलियन था, जिसे पूरे अधिकार थे। वह प्रथम 'कौंसल' कहलाया और दस वर्ष के लिए नियुक्त किया गया। सविधान पर चर्चा के दौरान मे किसीने यह सुझाव दिया कि एक ऐसा राष्ट्रपति होना चाहिए, जिसके हाथ मे कोई असली सत्ता न हो और जिसका मुख्य काम कागज़-पत्रो पर हस्ताक्षर करना हो और जो रस्मी तौर पर गणराज्य का प्रतिनिधि माना जाय, जैसे आजकल सवैधानिक बादशाह होते हैं या फ्रान्स का राष्ट्रपति है। मगर नेपोलियन तो सत्ता चाहता था, सिर्फ शाही पोशाक नही। उसे ऐसे शाही लेकिन बिना सत्तावाले राष्ट्रपति की कोई दरकार नही थी। उसने कहा—"इस मोटे सूअर को दूर करो!"

यह सविधान, जिसमे नेपोलियन को दस साल के लिए प्रथम कौंसल बनाया गया था, जनता की राय के लिए पेश किया गया और तीस लाख से ज्यादा वोटरो ने उसे लगभग एक राय से मान लिया। इस तरह फ्रान्स की जनता ने इस झूठी आशा

---

[1] इसे फ्रान्सीसी भाषा में 'कू देता' (Coup d'etat) कहते हैं, और यह पद अंग्रेज़ी भाषा में भी प्रयोग किया जाता है।

मे कि वह उन्हे स्वतन्त्रता और सुख दिलायेगा, खुद ही सारी सत्ता नेपोलियन को भेंट कर दी।

लेकिन हम नेपोलियन के जीवन-इतिहास की सारी बातें नही लिख सकते। वह तो और सत्ता की दिन-पर-दिन बढती हुई भूख से भरा पडा है। 'राजनीतिक धडाके' के बाद पहली ही रात को, जबकि नया सविधान बनने और मजूर होने भी न पाया था, उसने कानूनी जाब्ते का मसविदा बनाने के लिए दो कमेटियाँ मुकर्रर कर दी। उसकी तानाशाही का यह पहला काम था। लम्बे वादविवाद के बाद, जिसमे नेपोलियन भी शामिल होता था, यह जाब्ता १८०४ ई० मे आखिरी तौर पर मजूर कर लिया गया। यह 'नेपोलियन कोड' नेपोलियन का कानूनी जाब्ता कहलाया। क्रान्ति के विचारो या आज के पैमाने के लिहाज़ से यह कानून कुछ आगे बढा हुआ नही था। लेकिन वह उस समय की हालतो से जरूर आगे बढ़ा हुआ था और सौ साल तक कई बातो मे यह सारे यूरोप के लिए क़रीब-क़रीब नमूना बना रहा। नेपोलियन ने और भी कई तरह से प्रशासन मे सादगी और मुस्तैदी पैदा की। वह हरेक काम मे दख़ल देता था और छोटी-छोटी बातो को याद रखने की उसमे अजीब शक्ति थी। अपनी अद्भुत कार्यशक्ति और जीवट से वह साथियो और मन्त्रियो को थका डालता था। उस समय का उसका एक सहयोगी उसके बारे मे लिखता है· "अपनी ढँग से चलनेवाली समझ-बूझ के साथ राज करता हुआ, प्रशासन करता हुआ और मोल-तोल करता हुआ, वह दिन मे अठारह घटे काम करता है। जितना शासन दूसरे बादशाहो ने सौ वर्षों मे किया होगा उससे ज्यादा इसने तीन वर्षों मे कर लिया है।" यह बात जरूर बढाकर कही गई है, लेकिन यह सही है कि अकबर की तरह नेपोलियन की भी याददाश्त असाधारण थी और उसका दिमाग़ पूरी तरह ढँग से चलनेवाला था। वह अपने बारे मे कहता था· "जब मैं किसी बात को दिमाग़ से हटाना चाहता हूँ तो उसकी दराज़ बन्द कर देता हूँ और दूसरी दराज़ खोल देता हूँ। इन दराज़ो मे रखी हुई चीज़े कभी गडबड नही होने पाती और न वे मुझे परेशान करती हैं। मैं जब सोना चाहता हूँ सब दराज़ें बन्द कर देता हूँ और सो जाता हूँ।" वास्तव मे यह देखा गया था कि लडाई होती रहती थी और वह ज़मीन पर लेट जाता था और आधा घटे के करीब सो लेता था, और उसके बाद उठकर फिर लम्बे समय के लिए लगन के साथ काम मे जुट जाता था।

वह दस वर्ष के लिए प्रथम कौंसल बनाया गया था। सत्ता के ज़ीने की दूसरी सीढ़ी तीन साल बाद, १८०२ ई० मे आई, जब उसने अपने-आपको उम्र भर के लिए कौंसल बनवा लिया और उसके अधिकार बढ़ा दिये गए। गणराज्य का अन्त हो चुका था, और वह सब तरह से राजा बन गया था, हालांकि नाम के लिए राजा नही कहलाता था। और फिर जैसा कि होना ही था, उसने १८०४ ई० मे जनता के

राय लेकर अपने-आपको सम्राट् ऐलान कर दिया। फ्रान्स मे वह ही सर्वेसर्वा था, लेकिन फिर भी इसमे और पुराने जमाने के निरकुश राजाओ मे बहुत फर्क था। वह परम्परा और दैवी अधिकार को अपनी सत्ता का आधार नही बना सकता था। उसे तो अपनी सत्ता अपनी मुस्तैदी और जनता मे अपनी लोकप्रियता के आधार पर रखनी थी। और वह भी खासकर किसानो मे लोकप्रियता के आधार पर, जो हमेशा से उसके सबसे ज्यादा हिमायती रहे थे, क्योकि वे जानते थे कि इसी ने उनकी जमीनो को छिनने नही दिया था। नेपोलियन ने एक बार कहा था "मैं गोल कमरो मे बैठनेवालो और बकवास करनेवालो की राय की क्या परवाह करता हूँ। मैं तो सिर्फ एक ही राय को मानता हूँ, जो किसानो की राय है।" लेकिन लगभग लगातार चलनेवाले युद्धो के लिए अपने बेटो को भेंट देते-देते अन्त मे किसान लोग भी तग आ गये। जब यह सहारा छिन गया तो जो विशाल भवन नेपोलियन ने खडा किया था, वह लडखडाने लगा।

दस वर्ष तक वह सम्राट् रहा और इन वर्षो मे वह मार्के की चढाइयाँ करता हुआ, और याद रखने लायक लड़ाइयाँ जीतता हुआ यूरोप के सारे महाद्वीप मे दौडता फिरा। सारा यूरोप उसके नाम से थर्राता था और उसका ऐसा दबदबा था जैसा उसके पहले और बाद मे आजतक किसी का न हुआ। मारेंगो (यह लडाई १८०० ई० में हुई, जब उसने अपनी फौज के साथ स्वीजरलैण्ड की तरफ मे ढकी हुई सेंट बर्नार्ड की घाटी को पार किया), उल्म, आस्तरलित्स, येना, ईलू, फ्रीदलैंद, वाग्रम, वगैरा, उसकी जमीन पर जीती हुई मशहूर लडाइयो के नाम हैं। आस्ट्रिया, प्रशिया, रूस वगैरा, सब उसके सामने भरभराकर गिर पडे। स्पेन, इटली, नीदरलैण्ड, राइन का कान्फेडरेशन कहलानेवाला जर्मनी का बडा हिस्सा, पोलैण्ड, जो वारसा की डची कहलाता था, ये सब राज्य उसके मातहत हो गये। पुराना पवित्र रोमन साम्राज्य, जो बहुत दिनो से नाम के लिए रह गया था, अब बिलकुल खत्म हो गया।

यूरोप की बडी शक्तियो मे से सिर्फ इग्लैण्ड ही आफत से बच गया। इग्लैण्ड को उसी समुद्र ने बचाया, जो नेपोलियन के लिए हमेशा एक रहस्य रहा। और समुद्र की दी हुई हिफाजत के सबब से इग्लैण्ड उसका सबसे जबर्दस्त और कट्टर दुश्मन बन गया। मैं बतला चुका हूँ कि किस तरह नेपोलियन की जिन्दगी के शुरू मे ही नेल्सन ने नील नदी की लडाई मे उसके जगी बेडे को तबाह कर दिया था। २१ अक्तूबर, १८०५ ई० को स्पेन के दक्षिणी किनारे पर ट्रेफलगार अन्तरीप के पास नेल्सन ने फ्रान्स और स्पेन के शामिल जगी बेडे पर और भी जबर्दस्त विजय हासिल की। इसी समुद्री लडाई के शुरू होने के पहले नेल्सन ने अपने बेडे को यह मशहूर सन्देश दिया था "इग्लैण्ड को आशा है कि हरेक आदमी अपना फर्ज अदा

करेगा।" नेल्सन तो विजय की घडी मे मारा गया। लेकिन इस विजय ने, जिसे अग्रेज़ लोग वडे अभिमान से याद करते हैं और जिसकी यादगार लदन के ट्रेफल्गार स्क्वायर मे नेल्सन-मीनार के रूप मे वनी हुई है, नेपोलियन के इग्लैण्ड पर घावा वोलने के सपने को नष्ट कर दिया।

नेपोलियन ने यूरोप के महाद्वीप के सारे वन्दरगाहो को इग्लैण्ड के लिए रोक देने का हुक्म निकालकर इसका वदला लिया। इग्लैण्ड की किसी तरह की भी आवा-जाही की मनाही कर दी गई और 'वनियो के राष्ट्र' इग्लैण्ड को इस तरह क़ाबू मे लाने का इरादा किया गया। उधर इग्लैण्ड ने इन वन्दरगाहो की नाकावन्दी कर दी और नेपोलियन के साम्राज्य व अमेरिका वगैरा दूसरे देशो के वीच होने-वाले व्यापार को रोक दिया। यूरोप मे लगातार साजिशें करके और नेपोलियन के दुश्मनो को तटस्थ (गैर-तरफदार) राज्यो को दिल खोलकर सोना वाँट कर इग्लैण्ड ने नेपोलियन से लडाई लटी। इस काम मे उसे यूरोप के कई वडे-वडे मालदार घरानो से, खासकर रॉथ्सचाइल्ड घराने से, वडी मदद मिली।

इग्लैण्ड ने नेपोलियन के खिलाफ एक और भी तरीका काम मे लिया, जो प्रचार का था। हमला करने का यह नया ही ढंग था, लेकिन तवसे यह वहुत आम हो गया है। फ्रान्स के, और खासकर नेपोलियन के खिलाफ अखवारो मे आन्दोलन शुरू किया गया। तरह-तरह के लेख, पुस्तिकाएँ, समाचार-पत्रिकाएं, नये सम्राट् का मखौल उडानेवाले कार्टून, और झूठी वातो से भरे हुए वनावटी संस्मरण लदन से जारी होते थे और चोरी-छिपे फ्रान्स मे दाखिल कर दिये जाते थे। अखवारो के जरिये झूठी वातो का प्रचार आजकल के युद्धो का वाकायदा अग वन गया है। १९१४-१८ ई० के महायुद्ध के दौरान, युद्ध मे भाग लेनेवाले सव देशो की सरकारो ने वडी वेहयाई के साथ अजीव-से-अजीव झूठी वातें फैलाईं और मालूम होता है इनको गढने और प्रचार करने की कला मे इग्लैण्ड आसानी से सबसे आगे रहा। उसे तो नेपोलियन के समय से अवतक एक सदी की लम्वी तालीम भी मिल चुकी थी। हम भारत के लोग अच्छी तरह जानते हैं कि किस तरह हमारे देश के वारे मे सच्ची वातें दवा दी जाती हैं और यहाँ इग्लैण्ड मे ऐसी झूठी वातो का प्रचार किया जाता है कि देखकर हैरत होती है।

## १०५

## नेपोलियन का कुछ और हाल

६ नवम्वर, १९३२

पिछले पत्र मे हमने नेपोलियन की कहानी जहाँ छोडी है, वही से सिलसिला जारी रखना चाहिए।

नेपोलियन जहाँ कहीं गया वहीं वह अपने साथ फ्रान्स की राज्यक्रान्ति की कुछ बातें लेता गया और जिन देशों को उसने जीता वहाँ लोग उसके आने से नाखुश नहीं हुए। वे लोग अपने बोदे और आधे सामन्ती शासकों से तंग आ गये थे, जो उनकी गरदन पर सवार थे। इससे नेपोलियन को बहुत मदद मिली और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता गया, सामन्तशाही उसके सामने टूटकर गिरने लगी। जर्मनी में तो खासतौर पर सामन्तशाही का सफाया हो गया। स्पेन में उसने इनक्विज़िशन का अन्त कर दिया। लेकिन राष्ट्रीयता की जिस भावना को उसने अनजान में पैदा किया था, वही उलटकर उसके पीछे पड़ गई और अन्त में इसी ने उसे परास्त कर दिया। वह पुराने बादशाहों और सम्राटों को नीचा दिखा सकता था, लेकिन अपने खिलाफ भड़के हुए सारे राष्ट्र को नहीं। इस तरह स्पेन के लोग खिलाफ उठ खड़े हुए और वर्षों तक उसकी शक्ति और उसके साधनों को निचोड़ते रहे। जर्मन लोग भी बैरन वॉन स्टीअन नामक एक बड़े देशभक्त के झण्डे के नीचे संगठित हो गये। यह नेपोलियन का कट्टर दुश्मन बन गया। जर्मनी में मुक्ति का संग्राम हुआ। इस तरह राष्ट्रीयता, जिसे खुद नेपोलियन ने ही जगाया था, समुद्री-शक्ति से मेल करके उसके पतन का सबब बन गई। लेकिन किसी भी सूरत में यह मुश्किल था कि सारा यूरोप तानाशाह को बर्दाश्त कर लेता, या शायद खुद नेपोलियन की ही बात सही थी, जो उसने बाद में कही थी "मेरे पतन का दोष मेरे सिवा किसी पर नहीं है। मैं खुद ही अपना सबसे बड़ा दुश्मन रहा हूँ, और जो गाज मुझपर गिरी उसका कारण भी मैं खुद ही हूँ।"

इन अद्‌भुत प्रतिभावाले व्यक्ति में कमजोरियाँ भी बहुत ही अनोखी थी। उसमें हमेशा कुछ नई नवाबी का ठाठ रहा और उसके दिल में यह अजीब लालसा रही कि पुराने और बोदे बादशाह और सम्राट् उससे बराबरी का बर्ताव करें। उसने अपने भाई-बहनों को बड़े भद्दे तरीके से बढ़ाया, हालाँकि वे बिलकुल नालायक थे। ल्यूशन ही एक लायक भाई था, जिसने १७९९ ई० के राजनीतिक धड़ाके के दौरान एक संकट की घड़ी में नेपोलियन की सहायता की थी, लेकिन बाद में वह खटपट हो जाने के कारण इटली में जाकर बस गया। दूसरे भाइयों को, जो घमण्डी और बेवकूफ थे, नेपोलियन ने कहीं का राजा और कहीं का शासक बना दिया। अपने कुटुम्ब को आगे बढ़ाने की उसमे एक अजीब और बेहूदा धुन थी। जब उस पर मुसीबत पड़ी तो इनमें में करीब-करीब सबने उसे धोखा दिया और उसमें किनाराकशी की। नेपोलियन को अपना राजवंश कायम करने की भी बड़ी चाह थी। अपने जीवन के शुरू में, इटली पर चढ़ाई करने और नामी होने से पहले ही उसने जोज़ेफीन दे बोहार्नाई नामक एक सुन्दर लेकिन चंचल औरत से विवाह कर लिया था। जब उससे कोई सन्तान न हुई तो नेपोलियन को बड़ी निराशा हुई, क्योंकि उसके दिल में तो राजवंश चलाने की लालसा थी। बस उसने

जोज़ेफीन को तलाक देकर दूसरी स्त्री से विवाह करने का इरादा कर लिया, हालांकि जोज़ेफीन से वह प्रेम करता था। उसकी इच्छा रूस की एक ग्राड-डचैस से विवाह करने की थी, लेकिन ज़ार ने इसकी इजाज़त नही दी। नेपोलियन भले ही लगभग सारे यूरोप का स्वामी हो, लेकिन रूस के शाही खानदान मे विवाह का ऊंचा हौसला करना ज़ार की राय मे कुछ गुस्ताखी की बात थी। तब नेपोलियन ने किसी तरह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट् को मजबूर किया कि वह अपनी पुत्री मेरी लुइसी का विवाह उसके साथ कर दे। उसकी कोख से एक लडका पैदा हुआ, लेकिन वह मूढ और मूर्ख थी और उसे बिलकुल नही चाहती थी और नेपोलियन के लिए वह बहुत बुरी पत्नी साबित हुई। जब नेपोलियन पर आफत आई तो वह उसे छोडकर भाग गई और उसे बिलकुल ही भूल गई।

बडे अचम्भे की बात है कि यह व्यक्ति जो कई बातो मे अपनी पीढी के लोगो से बहुत ऊंचा था, बादशाहत के पुराने विचारो से पैदा होनेवाली थोथी तडक-भडक का शिकार हो गया। और फिर भी बहुत बार, वह क्रान्ति की-सी बातें करता था और इन बोदे बादशाहो का मखौल उडाया करता था। उसने क्रान्ति और नई व्यवस्था से जान-बूझकर पीठ मोड ली थी, पुरानी व्यवस्था न तो उसके अनुकूल थी और न उसे अपनाने के लिए तैयार थी। इसलिए इन दोनो के बीच उसका पतन हो गया।

धीरे-धीरे फौजी नामवरी की इस जिन्दगी का दु खभरा अन्त होता है, जो होना ही था। खुद उसके ही कुछ मन्त्री दग़ाबाज हो जाते हैं और उसके खिलाफ साज़िशें करते हैं, तैलीरैंद रूस के ज़ार से मिलकर साज़िश करता है और फ्यूशे इग्लैण्ड से मिलकर। नेपोलियन उनकी दगाबाजी पकड लेता है, लेकिन फिर भी ताज्जुब है कि उनकी सिर्फ लानत-मलामत करके उन्हें मन्त्रियो के पद पर रहने देता है! बर्नादोत नामक एक सेनापति उसके खिलाफ हो जाता है और उसका कट्टर दुश्मन बन जाता है। माता और ल्यूशन के सिवा उसके कुटुम्ब के सारे लोग बदमाशियाँ करते चले जाते है और उसकी जड भी काटते रहते हैं। फ्रान्स मे भी बेचैनी बढ़ती चली जाती है और उसकी तानाशाही बडी कठोर और बेदर्द हो जाती है और कितने ही लोग बिना मुकदमे के जेलो मे डाल दिये जाते हैं। उसका सितारा साफतौर पर नीचे गिरता हुआ मालूम होता है और तालाब को सूखता देख कर बहुत-सी मछलियाँ उसे छोड जाती हैं। उम्र ज्यादा न होने पर भी वह शरीर से और दिमाग से कमजोर होता जाता है। ठेठ लडाई के बीच मे कभी-कभी उसके पेट मे वायु गोले का दर्द उठ खडा होता है। सत्ता भी उसे भ्रष्ट कर देती है। पुरानी चतुराई तो उसमे मौजूद है, लेकिन अब उसकी अक्ल मारी पड जाती है। वह अक्सर

आगा-पीछा सोचने मे रह जाता है और वहम करने लगता है। उसकी फौजें भी पहले से ज्यादा भारी-भरकम हो गई हैं।

१८१२ ई० मे जबर्दस्त फौज के साथ वह रूस पर चढाई करने के लिए रवाना होता है। वह रूसवालो को हरा देता है और बिना ज्यादा लडाई के आगे बढता चला जाता है। रूस की फौजे लगातार पीछे हटती जाती हैं और लडने के लिए सामने नही आती। नेपोलियन की 'ग्रान्ड आर्मी' उनकी बेकार तलाश करती-करती अन्त मे मास्को पहुँच जाती है। जार तो घुटने टेकने के लिए तैयार हो जाता है, लेकिन दो व्यक्ति, एक तो फ्रान्सीसी बर्नादोत, नेपोलियन का पुराना सहयोगी और सेनापति, और दूसरा जर्मन राष्ट्रवादियो का नेता बैरन वान स्तीअन, जिसे नेपोलियन ने बागी ऐलान कर दिया था, ज़ार को ऐसा करने से रोक देते हैं। रूसी लोग दुश्मन को धुएं से भगा देने के लिए अपने प्यारे मास्को शहर मे ही आग लगा देते हैं। जब मॉस्को के जलने की खबर सेंट पीटर्सबर्ग पहुँचती है तो स्तीअन, जो उस वक्त खाना खा रहा था, अपना शराब का प्याला उठाकर कहता है "इससे तीन-चार बार पहले भी मैं अपना सामान गँवा चुका हूँ। हमे तो ऐसी चीजो को फेंक देने का अभ्यासी बन जाना चाहिए। चूंकि हमे मरना तो है ही, इसलिए हमको बहादुरी दिखानी चाहिए।"

सर्दी का मौसम शुरू हो रहा था। नेपोलियन जलते हुए मास्को को छोडकर फ्रान्स लौटने का फैसला करता है। 'ग्रान्डआर्मी' बर्फ मे होकर थकी-मान्दी धीरे-धीरे वापस घिसटती है। उधर रूस के कज्ज़ाक, जो बराबर उसके दोनो ओर व पीछे-पीछे लगे हुए हैं, उसपर हमला करते हैं और छापे मारते हैं और पिछड जाने-वालो को मौत के घाट उतार देते हैं। कडी सर्दी और कज्ज़ाक, दोनो मिलकर हजारो जानें ले लेते हैं और 'ग्रान्ड आर्मी' भूतो का-सा जुलूस बन जाती है, जिसमे सब लोग पैदल, फटेहाल, पाँवो मे छाले पडे हुए और ठड से गले हुए, थकावट से लडखडाते हुए चलते हैं। अपने गोलन्दाजो के साथ नेपोलियन को भी पैदल चलना पडता है। यह यात्रा बडी भयकर और दिल तोडनेवाली साबित होती है और वह जबर्दस्त फौज कम होती-होती अन्त मे करीब-करीब गायब हो जाती है। सिर्फ मुट्ठी-भर लोग वापस लौट पाते हैं।

रूस की यह चढाई जबर्दस्त चोट साबित हुई। इसने फ्रान्स की जन-शक्ति को खत्म कर दिया और उससे भी ज्यादा यह हुआ कि इससे नेपोलियन पर बुढापा छा गया, चिन्ताओ ने उसे पस्त कर दिया और वह लडाई-झगडो से ऊब गया। लेकिन फिर भी उसे चैन से नही बैठने दिया गया। दुश्मनो ने उसे घेर लिया और हालाँकि अभी तक वह फतह हासिल करनेवाला चतुर सेनापति था, लेकिन

फन्दा अब धीरे-धीरे कसने लगा। तैलीरँदे की साज़िशें बढ़ने लगी और नेपोलियन के कुछ भरोसेदार मार्शल तक भी उसके खिलाफ हो गये। अन्त मे उकताकर और तग आकर नेपोलियन ने अप्रैल, १८१४ ई० मे गद्दी छोड दी।

नेपोलियन के रास्ते से हटते ही यूरोपीय शक्तियो की एक बडी काग्रेस यूरोप का नया नक्शा तय करने के लिए वियेना मे की गई। नेपोलियन को भूमध्य सागर से एक छोटे-से टापू एल्वा मे भेज दिया गया। वोर्बन राजवश का एक और लुई, जो गिलोतीन पर मारे गए लुई का भाई था, जहाँ कही छिपा पडा था, वहाँ से निकालकर लाया गया और अठारहवें लुई के नाम मे फ्रान्स की राजगद्दी पर विठाया गया। इस तरह वोर्बन फिर वापस आ गये और उनके साथ वहुत-सी पुरानी जालिमशाही भी वापस आ गई। वास्तील के पतन से लगातार अवतक पच्चीस वर्ष के सारे दिलेर कारनामो का बस यह अन्त हुआ! वियेना मे बादशाह लोग और उनके मन्त्री लोग आपस मे वहसें करते और लडते-झगडते थे, और जब इन बातो से फुरसत पाते तो मौज उडाते थे। उन्होने अब आराम की साँस ली। एक वडी भारी दहशत दूर हो गई थी और वे लोग खुलकर साँस ले सकते थे। नेपोलियन के साथ गद्दारी करनेवाला देश-द्रोही तैलीरँदे बादशाहो और मन्त्रियो की इस भीड मे वडा लोकप्रिय था और काग्रेस मे उसने वडा भारी भाग लिया। काग्रेस मे एक दूसरा मशहूर कूटनीतिज्ञ मैतर्गनिख था, जो आस्ट्रिया का पर-राष्ट्र-मन्त्री था।

एक वर्ष से कम समय मे ही नेपोलियन तो एल्वा से तग आगया और फ्रान्स वोर्वनो से। वह किसी तरह एक छोटी-सी नाव मे वहाँ से भाग निकला और २६ फरवरी, १८१५ ई० को शायद अकेला ही रिवियरा पर कॅन्स नामक जगह मे किनारे पर आ गया। किसानो ने वडे उत्साह से उसका स्वागत किया। उसके खिलाफ़ भेजी गई फौजो ने जब अपने पुराने सेनापति 'पेतित कार्पोरल' को देखा तो उन्होंने 'सम्राट् जिन्दावाद' का नारा लगाया और उससे मिल गई। बस, वह पैरिस पहुंचा और वोर्वन बादशाह जान बचाकर भाग गया। लेकिन यूरोप की बाकी सब राजधानियो मे दहशत और घबडाहट फैल गई। वियेना मे, जहाँ काग्रेस अभी तक लस्टम-पस्टम चल रही थी, नाच-गान और दावतें एकदम बन्द हो गये। सबके ऊपर आनेवाले इस खतरे से बादशाह और मन्त्री अपने आपसी झगडो-टटो को भूल गये और उनका सारा ध्यान नेपोलियन को दुबारा फिर कुचल डालने के एक ही काम की तरफ़ लग गया। बस सारे यूरोप ने उसके ऊपर धावा बोल दिया। लेकिन फ्रान्स तो लडाइयो से उकता गया था। और नेपोलियन, जो अभी छियालीस वर्ष का ही था, और जिसे उसकी स्त्री मेरी लुई तक छोड भागी थी, अब एक थका हुआ बूढा था। कुछ लडाइयो मे उसकी जीत हुई, लेकिन अन्त मे फ्रान्स मे उतरने के ठीक सौ

दिन बाद, वेलिंगटन[1] और ब्लूशार[2] के मातहत अंग्रेजी और प्रशियाई फौजों ने ब्रसेल्स नगर के पास वाटरलू मे उसे हरा दिया। इसलिए उसकी वापसी का यह समय 'सौ दिन' कहलाता है। वाटरलू की लडाई मे दोनों तरफ करारा मुकाबला था और यह बतलाना कठिन था कि जीत किसकी होगी। नेपोलियन की क़िस्मत बुरी निकली। उसके लिए इस लडाई मे विजय हासिल करना बहुत सम्भव था, लेकिन अगर वह जीत भी जाता तो कुछ दिन बाद उसे सारे संगठित यूरोप के आगे घुटने टेकने पडते। अब चूंकि वह हार चुका था, इसलिए उसके बहुत-से मददगारों ने उसके खिलाफ होकर अपनी जानें बचानी चाहीं। अब लडना बेकार था, इसलिए उसने दुबारा राजगद्दी छोड दी और फ्रान्स के एक बन्दरगाह मे पडे हुए एक अंग्रेजी जहाज पर जाकर अपने-आपको यह कहकर उसके कप्तान के हवाले कर दिया कि वह शान्ति के साथ इंग्लैण्ड मे रहना चाहता है।

लेकिन अगर वह इंग्लैण्ड या यूरोप से उदार और भद्र बर्ताव की उम्मीद रखता था, तो यह उसकी भूल थी। वे उससे बहुत ज्यादा डरे हुए थे और एल्बा से उसके निकल भागने से वे खूब समझ गये थे कि उसे बहुत दूर और कडे पहरे मे रक्खा जाना जरूरी है। इसलिए उसके विरोध करने पर भी उसे कैदी करार दिया गया और कुछ साथियों के साथ दक्षिण अतलान्तिक महासागर के सुदूर टापू सेन्ट हेलेना भेज दिया गया। वह 'यूरोप का कैदी' माना गया और कई राष्ट्रों ने सेन्ट हेलेना मे उसपर निगरानी रखने के लिए कमिश्नर भेजे। लेकिन उसपर निगरानी रखने की पूरी जिम्मेदारी असल मे इंग्लैण्ड पर थी। सारी दुनिया से अलग उस सुदूर टापू मे भी उसपर पहरा देने के लिए एक अच्छी-खासी फौज रक्खी गई। उस समय वहाँ के रूसी कमिश्नर काउन्ट बालमेन ने सेन्ट हेलेना की इस एकान्त चट्टान के बारे मे लिखा है कि यह "संसार की वह जगह है, जो सबसे ज्यादा उदास, सबसे ज्यादा अलग, सबसे ज्यादा पहुँच से बाहर, बचाव के लिए सबसे ज्यादा आसान, हमले के लिए सबसे ज्यादा मुश्किल, और सबसे कम माफिक आनेवाली है।" इस टापू का अंग्रेज गवर्नर एक बिलकुल उजड्ड और जंगली व्यक्ति था और वह नेपोलियन के साथ बडा गन्दा बर्ताव करता था। उसे टापू के

---

[1] ड्यूक आफ वेलिंगटन (१७६९–१८५२)। यह हिन्दुस्तान के गवर्नर लार्ड वैलजली का छोटा भाई आर्थर वैलजली था, जिसने उस जमाने मे हिन्दुस्तान में भी कई लड़ाइयाँ जीती थीं। १८२८ ई० मे यह इंग्लैण्ड का प्राइम मिनिस्टर भी रहा था।

[2] प्रशिया का सेनापति (१७४२–१८१९)। इसने फ्रान्स मे कई बार नेपोलियन को हराया था। इसकी मदद के बिना वेलिंगटन के लिए वाटरलू का युद्ध जीतना असम्भव था।

सबसे ज्यादा खराब हिस्से मे एक बहुत बुरे मकान मे रक्खा गया और उसपर व उसके साथियो पर तरह-तरह की खिझानेवाली पाबन्दियाँ लगा दी गईं। कभी-कभी तो उसे पेट भर के अच्छा खाना भी नही मिलता था। उसे यूरोप मे रहनेवाले मित्रो से पत्र-व्यवहार नही करने दिया जाता था, यहाँ तक कि अपने नन्हे पुत्र से भी नही, जिसे अपनी सत्ता के दिनो मे उसने रोम के बादशाह की उपाधि दी थी। पत्र-व्यवहार तो क्या, उसके पुत्र की खबर तक उसके पास नही पहुँचने दी जाती थी।

यह अचम्भे की बात है कि नेपोलियन के साथ कैसा कमीना वर्ताव किया गया! लेकिन सेन्ट हेलेना का गवर्नर तो सिर्फ अपनी सरकार का औजार था, और मालूम होता है कि अंग्रेज सरकार की जान-बूझकर यह नीति थी कि कैदी के साथ बुरा वर्ताव किया जाय और उसे नीचा दिखाया जाय। यूरोप की दूसरी शक्तियाँ इससे सहमत थी। नेपोलियन की माता बूढी होने पर भी सेन्ट हेलेना मे अपने पुत्र के साथ रहना चाहती थी, लेकिन इन बडी शक्तियो ने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता। नेपोलियन के साथ जो कमीना वर्ताव किया गया, वह उस खौफ़ का माप था, जो अभी तक यूरोप मे उसके नाम से फैला हुआ था, हालांकि उसके पर काट दिये गए थे और वह एक बहुत दूर के टापू मे बेबस होकर पडा था।

साढे पाँच वर्ष तक उसने सेन्ट हेलेना मे यह जिन्दा मौत बर्दाश्त की। छोटी-सी चट्टान से उस टापू मे पिंजरा-बन्द होकर और रोज़ कमीनी ज़िल्लतें उठाकर, ज़बर्दस्त जीवट और ऊँचे हौसलेवाले इस व्यक्ति ने जो तकलीफें उठाई होंगी, उनकी कल्पना करना मुश्किल नही है।

नेपोलियन मई, १८२१ ई० मे मरा। मरने के बाद भी गवर्नर की नफरत उसके पीछे पडी रही और उसके लिए एक बहुत बुरी कब्र बनवाई गई। धीरे-धीरे नेपोलियन के साथ किये गए बुरे वर्ताव और अत्याचार की खबर जैसे ही यूरोप पहुँची (उन दिनो खबरें बहुत देर मे पहुँचा करती थी) वैसे ही उसके ख़िलाफ इग्लैण्ड समेत बहुत-से देशो मे शोर मच गया। इग्लैण्ड का पर-राष्ट्रमन्त्री केसलरे, जो इस बुरे वर्ताव के लिए सबसे ज्यादा ज़िम्मेदार था, इस वजह से, और अपनी कठोर बरू-नीति की वजह से बहुत बदनाम हो गया। उसे इसका इतना पछतावा हुआ कि उसने आत्महत्या कर ली।

महान् और गैर-मामूली व्यक्तियो को आँकना मुश्किल होता है, और कोई शक नहीं है कि नेपोलियन अपनी तरह का एक महान् और अनोखा व्यक्ति था। वह एक बवडर जैसा था, मानो कुदरत का कोई ज़ोर हो। विचारो और कल्पनाओ से भरा हुआ होने पर भी वह आदर्शों और बेगरज़ी भावनाओ के मूल्यो की कद्र नही करता था। वह लोगो को कीर्ति और दौलत देकर वश मे

और उनपर असर डालने की कोशिश करता था। इसलिए जब कीर्ति और सत्ता का यह भण्डार खाली हो गया, तो जिन लोगो को उसने बढाया था उन्हीको अपना बनाये रखने के लिए उसके पास कोई आदर्श व इरादे नही रहे। इसलिए बहुत-से उमे कमीनेपन के साथ दगा दे गये। मज़हब को तो वह गरीबो और दुखियो को उनकी कम्बख्ती पर तसल्ली देनेवाला एक ज़रिया समझता था। ईसाइयत के बारे मे उसने एक बार कहा था, "मैं ऐसे मज़हब को कैसे कबूल कर सकता हूँ जो सुक़रात और अफ़लातून की निन्दा करता है।" जब वह मिस्र मे था, उसने इस्लाम की तरफ़ रुझान इसलिए दिखलाया था कि उसके विचार से शायद ऐसा करने से वहाँ वह लोकप्रिय हो जाय। वह निपट ग़ैर-मज़हबी था, लेकिन फिर भी मज़हब को बढावा देता था। क्योकि वह इसे उस समय की समाजी व्यवस्था की थूनी समझता था। वह कहता था, "मज़हब ने स्वर्ग के साथ बराबरी की भावना का विचार जोड रक्खा है, जो गरीबो को धनवानो की हत्या करने से रोकता है। मज़हब का वही उपयोग है, जो चेचक के टीके का। वह चमत्कारो के लिए हमारी रुचि को खुराक देता है और हमे नीम-हकीमो से बचाता है । सम्पत्ति की असमानता से ही समाज टिकता है और सम्पत्ति की असमानता बिना मजहब के ठहर नही सकती थी। जो भूख से मर रहा है, लेकिन जिसका पडौसी ज़ायकेदार भोजनो की दावत उडा रहा है, उसे तसल्ली देनेवाली एक बात तो है आसमानी सत्ता मे विश्वास और दूसरा यह विश्वास कि परलोक मे माल का बँटवारा दूसरे ही ढँग से होगा।" सुनते हैं, अपनी ताकत के घमण्ड मे उसने कहा था—"अगर आकाश हमारे ऊपर गिरने लगे तो हम उसे अपने भालो की नोको पर रोक लेंगे।"

उसमे महान् व्यक्तियो की-सी आकर्षण-शक्ति थी और उसने बहुत-से लोगो की वफादार दोस्ती हासिल कर ली थी। अकबर की तरह उसकी निगाह मे आकर्षण था। एक बार उसने कहा था—"मैंने तलवार बहुत कम खीची है। मैंने लडाइयाँ अपनी आँखो से जीती हैं, हथियारो से नही।" जिस आदमी ने सारे यूरोप को युद्ध मे फँसा दिया, उसके मुँह से ये शब्द विचित्र मालूम होते हैं। बाद मे, जबकि वह देश-निकाले मे था, उसने कहा था कि ज़ोर-ज़बर्दस्ती करना कोई इलाज नही है और मनुष्य की आत्मा तलवार से भी ज़ोरदार है। उसने कहा था—"तुम जानते हो, मुझे सबसे ज्यादा अचम्भा किस बात पर होता? इस बात पर कि किसी चीज़ का सगठन ज़बर्दस्ती के ज़ोर पर नही किया जा सकता। दुनिया मे सिर्फ दो ही ताकतें हैं—एक तो आत्मा और दूसरी तलवार। बहुत दूर चलकर आत्मा सदा तलवार पर विजय हासिल करेगी।" लेकिन बहुत दूर जाना उसके लिए नही बदा था। वह तो जल्दी मे था, और अपनी ज़िन्दगी के शुरू मे ही उसने तलवार का रास्ता चुन लिया था, तलवार से ही उसने विजय पाई और तल्वार ही उसके

पतन का कारण हुई। फिर उसका कहना था—"युद्ध अब समय की चीज नहीं है; एक दिन ऐसा आयेगा जब बिना तोपों और संगीनों के जीतें हासिल हुआ करेंगी।" परिस्थितियों ने उसे दबा दिया था—छलांग भरनेवाले ऊँचे हौसले, युद्धों की जीतों में आसानी, और यूरोप में शासकों की इस मर्द के तोड़ने के लिए ताकत और उनका जोर, इन सबने उसे शान्ति के साथ जमने नहीं दिया। लड़ाइयों में यह बड़ी बेपरवाही के साथ लोगों की जानें झोंक देता था, लेकिन फिर भी यह कहा जाता है कि घायलों की तकलीफों को देखकर उसका दिल बहुत पसीज जाता था।

अपने निजी जीवन में वह बहुत सादा मिजाज था और काम के सिवा कभी किसी बात में ज्यादती नहीं करता था। उसके शब्द में "कोई मनुष्य चाहे जितना कम खाये, वह हमेशा जरूरत से ज्यादा खाता है। ज्यादा खाने से आदमी बीमार पड़ सकता है, कम खाने से कभी नहीं।" यही सादा जीवन था, जिसके सबब से उसकी तन्दुरुस्ती इतनी अच्छी थी और उसमें जबर्दस्त कार्य-शक्ति थी। वह जब चाहता, और जितना कम चाहता, सो सकता था। सुबह से लगातार तीसरे पहर तक घोड़े पर सौ मील का सफर कर लेना उसके लिए कोई अनोखी बात न थी।

जैसे-जैसे उसके ऊँचे हौसले यूरोप के महाद्वीप को लांघते हुए आगे बढ़ते गये, वैसे-वैसे वह यह सोचने लगा कि यूरोप एक राज्य है, एक इकाई है, जहाँ एक कानून और एक ही सरकार होनी चाहिए। "मैं सब राष्ट्रों को मिलाकर एक कर दूंगा।" बाद में सेन्ट हेलेना में अकेला रहते-रहते जब उसका दिमाग ठिकाने आया तो यह विचार फिर उसके दिल में अधिक विशाल रूप में पैदा हुआ। "कभी-न-कभी घटना-चक्र के बल से (यूरोप के राष्ट्रों का) यह मेल होगा। पहला धक्का लग चुका है और मुझे तो लगता है कि मेरी प्रणाली का अन्त होने के बाद यूरोप में संतुलन कायम करने का अगर कोई रास्ता है तो वह राष्ट्रों के संघ के द्वारा है।" सौ वर्ष से भी ज्यादा समय के बाद यूरोप अब भी अंधेरे में टटोल रहा है और राष्ट्रों के संघ (लीग ऑफ नेशन्स) का प्रयोग कर रहा है।

उसने अपना आखिरी वसीयतनामा लिखा, जिसमें अपने उस नन्हे पुत्र के नाम एक सन्देश छोड़ा, जिसे वह रोम का बादशाह कहता था और जिसके समाचार तक भी इतनी बेरहमी से उसके पास पहुँचने से रोक दिए गये थे। उसे आशा थी कि उसका पुत्र एक दिन राज करेगा इसलिए उसने उसे उपदेश दिया था कि वह शान्ति के तरीकों से राज करे और जोर-जबर्दस्ती कभी न करे। मैं "यूरोप को हथियारों के जोर से डराने को मजबूर हो गया था, लेकिन आजकल का तरीका यह है कि दलील से समझा कर यक़ीन दिलाया जाय।" लेकिन पुत्र के भाग्य

मे राज करना नही लिखा था। नेपोलियन की मृत्यु के ग्यारह वर्ष बाद वह जवानी मे ही वियेना मे मर गया।

लेकिन ये सब विचार उसके दिमाग मे तब आये जब वह देश-निकाले मे था और जब उसकी अक्ल ठिकाने आ गयी थी। या शायद उसने आगे के लोगो को अपने पक्ष मे करने के लिए ऐसा लिखा हो। अपनी महानता के दिनो मे वह इतना ज्यादा क्रियाशील आदमी था कि उसे दार्शनिक बनने की फुरसत नही थी। वह तो सत्ता की वेदी पर पूजा करता था, उसका सच्चा और अकेला प्रेम सत्ता से था और वह उसमे भोंडे तौर पर नही बल्कि एक कलाकार की तरह प्रेम करता था। उसने कहा था—"मैं सत्ता से प्रेम करता हूँ, हाँ, प्रेम करता हूँ, लेकिन उस तरह जैसे एक कलाकार करता है, जैसे फिड्ल[1] बजानेवाला अपनी फिड्ल मे करता है ताकि उसमें से चमत्कारी राग, स्वर और स्वर-लहरियाँ पैदा करे।" लेकिन बहुत ज्यादा सत्ता की लालसा खतरनाक होती है और जो व्यक्ति या राष्ट्र इसके पीछे पडते हैं, उनका कभी-न-कभी पतन और नाश हो ही जाता है। बस नेपोलियन का भी अन्त हो गया, और यह अच्छा ही हुआ।

इधर फ्रान्स मे बोर्बन राज कर रहे थे। लेकिन यह कहा जाता है कि बोर्बनो ने न तो कुछ नसीहत ली और न वे पुरानी बातो को भूले। नेपोलियन के मरने के नौ साल बाद फ्रान्स उनसे तग आ गया और उसने उन्हे उखाड फेंका। एक दूसरी राजाशाही कायम हुई और नेपोलियन की यादगार पर इज्जत ज़ाहिर करने के लिए उसकी मूर्ति, जो वान्दोम मीनार के ऊपर से हटा दी गई थी, फिर वहीं रख दी गई। नेपोलियन की दुखिया माता ने, जो बुढापे मे अन्धी हो गई थी, कहा—"सम्राट् एक बार फिर पेरिस लौट आया है।"

: १०६ :

## संसार का सिंहावलोकन

१९ नवम्बर, १९३२

इस तरह नेपोलियन दुनिया के रगमच से, जिस पर वह इतने दिनो से हावी हो रहा था, विदा हुआ। इस बात को एक सदी से ज्यादा वक्त हो चुका है, और बहुत-से पुराने विवाद ठडे पड चुके हैं। लेकिन, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, नेपोलियन के बारे मे अभी तक लोगो मे बडा मतभेद है। अगर वह किसी दूसरे ज्यादा शान्ति के जमाने मे पैदा हुआ होता तो एक नामी सेनापति

---

[1] सारगी की तरह का एक बाजा, जिसे वायोलिन भी कहते हैं।

से ज्यादा कुछ न होता, और वह लोगो की नजर मे आये बिना ही चल बसा होता। लेकिन क्रान्ति और परिवर्तन ने उसे आगे बढने का मौका दिया, और उसने भी इससे पूरा लाभ उठाया। उसके पतन से और यूरोपीय राजनीति के मैदान से हट जाने से यूरोपवासियो को बडी राहत मिली होगी, क्योंकि वे लोग युद्ध से उकता गये थे। पूरी एक पीढी मे उन्होने सच्ची शान्ति के दर्शन नही किये थे, और वे उसके लिए तरस रहे थे। वर्षों से उसके नाम से थर्राते रहने वाले बादशाहो और राजाओ को तो इससे जितनी राहत मिली होगी, उतनी किसी दूसरे को नही।

हमने फ्रान्स और यूरोप मे बहुत वक्त लगा दिया और अब हम उन्नीसवी सदी मे काफी दूर तक आगे बढ आये है। आओ, अब हम दुनिया पर एक सरसरी नजर डालें और देखें कि नेपोलियन के पतन के समय उसकी क्या हालत थी।

तुम्हे याद होगा कि यूरोप मे पुराने बादशाह और उनके मन्त्री वियेना की काग्रेस मे इकट्ठा हुए थे। नेपोलियन का हौवा दूर हो गया था, और अब ये लोग अपना वही पुराना खेल खेल सकते थे और लाखो आदमियो के भाग्यो का अपनी मर्जी के माफिक फैसला कर सकते थे। न तो उन्हे इसकी कुछ परवाह थी कि लोग क्या चाहते हैं और न इस बात की कि कुदरती तौर पर और भाषा के लिहाज से किसी देश की सीमाएं क्या थी। रूस का जार, इग्लैण्ड (प्रतिनिधि केसलरे), आस्ट्रिया (प्रतिनिधि मैतरनिख) और प्रशिया, इस काग्रेस मे मुख्य शक्तियां थी। और हां, चतुर, हाजिर-जवाब और लोकप्रिय तैलीरेन्द भी, जो एक समय नेपोलियन का मन्त्री रह चुका था, और अब फ्रान्स के बोर्बन बादशाह का मन्त्री था। इन लोगो ने नाचो और दावतो मे मिली फुरसत मे यूरोप के उस नक्शे को फिर नये सिरे से बदल डाला, जिसे नेपोलियन ने इतना बदल दिया था।

अठारहवां बोर्बन लुई फिर फ्रान्स की गद्दी पर थोप दिया गया। स्पेन मे इन्क्विजिशन फिर से जारी कर दी गई। वियेना की काग्रेस मे इकट्ठे हुए बाद शाह गणराज्यो को पसन्द नही करते थे, इसलिए उन्होने हालैण्ड के पुराने डच गणराज्य को फिर से कायम नही किया। इसके बजाय उन्होने हालैण्ड और बेल-जियम को मिलाकर नीदरलैण्ड नामक राज्य बना दिया। पोलैण्ड की फिर कोई अपनी अलग हस्ती न रही, प्रशिया, आस्ट्रिया, और खासकर रूस, उसे हड़प गये। वेनिस और उत्तरी इटली आस्ट्रिया को मिल गये। स्वीजरलैण्ड और रिवेयरा के बीच का एक टुकडा फ्रान्स का, और एक टुकडा इटली का मिलाकर सार्डीनिया की रियासत बना दी गई। मध्य यूरोप मे एक अजीब और धुधला-सा जर्मन महा-सघ था, लेकिन प्रशिया और आस्ट्रिया ही उसकी दो प्रधान शक्तियां बनी रही। इनके अलावा और भी परिवर्तन हुए। ... वियेना काग्रेस के अक्लमन्दो ने

यह व्यवस्था दी कि लोगो को उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ ज़बर्दस्ती इधर-उधर बाँट दिया, उन्हे ऐसी भाषा को बोलने के लिए मजबूर किया, जो उनकी अपनी न थी, और इस तरह आमतौर पर भविष्य के झगडो और युद्धो के बीज बो दिये।

१८१४-१५ ई० की वियेना कांग्रेस का ख़ास विषय था बादशाहो की हैसियत को एकदम मज़बूत बनाना। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति से वे बेहद दहल गये थे, इसलिए अब यह बेवकूफी का खयाल बना बैठे कि इन नये क्रान्तिकारी विचारो का फैलना रोक सकेंगे। रूस के ज़ार, आस्ट्रिया के सम्राट् और प्रशिया के बादशाह ने तो अपनी और दूसरे बादशाहो की हैसियत बचाने के लिए 'पवित्र मित्र-मडल' नाम का एक गुट्ट तक बना लिया था। बिलकुल ऐसा मालूम होने लगा मानो हम फिर चौदहवें और पन्द्रहवे लुई के ज़माने मे पहुँच गये हैं। सारे यूरोप मे, यहाँ-तक कि इंग्लैण्ड तक मे, तमाम उदार विचारो को दबाया जाने लगा। यूरोप के प्रगतिशील विचारो के लोगो को यह देखकर कितनी निराशा हुई होगी कि फ्रान्स की राज्यक्रान्ति की सख्त तडपन फिज़ूल गई।

यूरोप के पूर्व मे तुर्की बहुत कमज़ोर हो गया था। वह धीरे-धीरे गिरावट की ओर जा रहा था। कहने को तो मिस्र तुर्की साम्राज्य मे था, लेकिन असल मे वह था आधा-स्वाधीन। १८२१ ई० मे यूनान ने तुर्की शासन के ख़िलाफ विद्रोह किया और आठ वर्ष के युद्ध के बाद इंग्लैण्ड, फ्रान्स और रूस की सहायता से आज़ादी हासिल कर ली। इसी युद्ध मे अंग्रेज़ कवि बायरन यूनान की तरफ से एक स्वयसेवक की तरह लडता हुआ मारा गया था। उसने यूनान के बारे मे कुछ बहुत ही सुन्दर कविताएँ लिखी हैं, जिन्हें शायद तुम जानती भी हो।

यहाँ मैं दो राजनीतिक परिवर्तनो का भी ज़िक्र कर दूं, जो १८३० ई० मे यूरोप मे हुए। बोर्बन बादशाहो के दमन और अत्याचारो से तग आकर फ्रान्स ने उन्हें फिर निकाल बाहर किया। लेकिन गणराज्य के बजाय एक दूसरा बादशाह बिठा दिया गया। यह था लुई फिलिप, जिसने कुछ अच्छा, और किसी हद तक एक सवैधानिक बादशाह की तरह, बर्ताव किया। उसने १८४८ ई० तक किसी तरह राज चलाया और फिर एक दूसरा व पहले से भी ज्यादा बडा विस्फोट हो गया। बेलजियम मे भी १८३० ई० मे विद्रोह हुआ। इसका नतीजा यह हुआ कि बेलजियम और हालैण्ड अलग-अलग हो गये। यूरोप की बडी-बडी शक्तियाँ तो गणराज्य प्रणाली की ज़बर्दस्त विरोधी थी ही, इसलिए उन्होंने एक जर्मन राज-कुमार को बेलजियम की भेंट किया और उसे वहाँ का बादशाह बना दिया। एक और जर्मन राजकुमार यूनान का बादशाह बना दिया गया। मालूम होता है कि जर्मनी की ढेर सारी रियासतो मे ऐसे राजकुमारो की हमेशा बहुतायत रहती

थी, जो किसी गद्दी के खाली होते ही गिर जाते थे। तुम्हें याद होगा कि इंग्लैण्ड का मौजूदा राजवंश जर्मनी की ही एक छोटी-सी रियासत हैनोवर से आया हुआ है।

१८३० ई० का साल यूरोप मे व दूसरी कई जगहो—जर्मनी और इटली और खासकर पोलैण्ड—मे विद्रोहो का था। लेकिन बादशाहो ने इन विद्रोहो को कुचल दिया। पोलैण्ड मे रूसियो ने बडी बेरहमी से दमन किया, यहाँतक कि पोली भाषा का इस्तेमाल भी रोक दिया। १८३० ई० का यह साल, एक तरह से १८४८ ई० की भूमिका था और, जैसा कि आगे चलकर हम देखेंगे, यूरोप मे यह वर्ष क्रान्ति का था।

इतना तो हुआ यूरोप के बारे मे। अतलान्तिक महासागर के उस पार सयुक्त राज्य अमेरिका धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ फैल रहा था। वह यूरोप की आपसी लागडाटो और युद्धो से बहुत दूर था और उसके पास बेहद फालतू जमीन थी, इसलिए यह बडी तेजी से तरक्की करता हुआ यूरोप की बराबरी मे आता जा रहा था। उधर दक्षिण अमेरिका मे भी बडे परिवर्तन हुए। सीधी तरह तो नही लेकिन हिर-फिराकर ये नेपोलियन की वजह से हुए। जब नेपोलियन ने स्पेन जीता और अपने एक भाई को वहाँ की गद्दी पर बिठाया, तो दक्षिण अमेरिका के स्पेनी उपनिवेशो ने विद्रोह कर दिया। विचित्र बात है कि स्पेनी राजवंश के लिए अमेरिका के इन स्पेनी उपनिवेशो की वफादारी ही उनकी स्वाधीनता का सबब बनी। लेकिन यह तो एक उसी वक्त का बहाना था। चाहे कुछ देर बाद ही सही, लेकिन उपनिवेशो का स्पेन से जरूर नाता टूटता, क्योकि दक्षिण अमेरिका मे सब जगह स्वाधीनता की भावना जोर पकड रही थी। दक्षिण अमेरिका की स्वाधीनता का बडा नायक था साइमन बोलिवर जो 'देशोद्धारक' के नाम से मशहूर है। दक्षिण अमेरिका के बोलिविया गणराज्य का नाम उसीके नाम पर रखा गया है। इस तरह जब नेपोलियन का पतन हुआ तब स्पेनी अमेरिका स्पेन से कट चुका था और अपनी स्वाधीनता के लिए लड रहा था। नेपोलियन के विदा हो जाने से इस लडाई मे कोई फर्क नही पडा और यह स्पेन की नई सरकार के खिलाफ कई वर्षो तक चलती रही। यूरोप के कुछ बादशाह अमेरिकी उपनिवेशो के क्रान्तिकारियो को दबाने मे अपने दोस्त स्पेन के बादशाह की मदद करना चाहते थे। लेकिन सयुक्त राज्य ने इस तरह के दखल को बिलकुल रोक दिया। उस समय मुनरो सयुक्त राज्य का राष्ट्रपति था। उसने यूरोपीय शक्तियो को साफ-साफ कह दिया कि अगर उन्होने उत्तर या दक्षिण अमेरिका की किसी भी जगह टाँग अडाई तो उन्हे सयुक्त राज्य से लोहा लेना पडेगा। इस धमकी ने यूरोपीय शक्तियो को डरा दिया और तब से वे दक्षिण अमेरिका से बहुत-कुछ अलग

ही रही हैं। यूरोप को दी गई मुनरो की यह धमकी 'मुनरो सिद्धान्त'[1] के नाम से मशहूर है। इसने दक्षिण अमेरिका के नये गणराज्यो को बहुत वर्षों तक लालची यूरोप के चगुल से बचाये रक्खा और उन्हे विकास करने का मौका दिया। यूरोप से तो उनकी अच्छी तरह रक्षा हो गई, लेकिन रक्षा करनेवाले—सयुक्त राज्य—से उनको बचानेवाला कोई न था। आज उनपर सयुक्त राज्य का ही दवदबा है, और छोटे-छोटे गणराज्यो मे बहुत-से तो बिलकुल उसीकी मुट्ठी मे हैं।

ब्राज़ील का विशाल देश पुर्तगाल का उपनिवेश था। स्पेन के अमेरिकी उपनिवेश जिस समय स्वाधीन हुए लगभग उसी वक्त यह भी स्वाधीन हो गया। इस तरह हम देखते हैं कि १८३० ई० के आस-पास सारा दक्षिण अमेरिका यूरोप के पजे से निकल गया। उत्तरी अमेरिका मे अलबत्ता कनाडा अंग्रेजो का उपनिवेश था।

अव हम एशिया की तरफ आते हैं। इस समय अंग्रेज भारत मे पूरी तरह सबसे ज़बर्दस्त शक्ति बन गये थे। जिस वक्त यूरोप मे नेपोलियनी युद्धो का घमासान चल रहा था, अंग्रेजो ने इधर अपनी हैसियत को मजबूत बना लिया और जावा पर भी कब्ज़ा कर लिया। मैसूर का टीपू सुलतान परास्त किया जा चुका था। और १८१९ ई० मे मराठों की सत्ता भी बिलकुल उखाड फेंकी गई थी। हाँ, पजाब मे रणजीतसिंह के अधीन एक सिक्ख रियासत थी। सारे भारत में अंग्रेज घुस-पैंठ कर रहे थे और फैलते जा रहे थे। पूर्व मे असम मिला लिया गया था, और अराकान—बरमा—भी अगला निवाला बननेवाला था।

जबकि इधर भारत मे अंग्रेज़ बढ रहे थे, उधर मध्य-एशिया मे एक दूसरी यूरोपीय शक्ति—रूस आगे बढ़ रहा था। पूर्व मे प्रशान्त महासागर तक और चीन तक तो वह पहुँच ही चुका था। अव यह मध्य-एशिया की छोटी-छोटी रियासतो को कुचलता हुआ ठेठ अफगानिस्तान की सीमा तक आ गया था। भारत के अंग्रेज इस रूसी दैत्य को अपनी तरफ आता देख इतने डर गये कि घबराहट मे, बिना रत्ती-भर हीले-बहाने के ही, अफगानिस्तान से यद्ध छेड बैठे। लेकिन इसमे उनको बुरी तरह मुंह की खानी पडी।

चीन मे मचुओ का राज था। व्यापार और मजहब के नाम से आनेवाले विदेशियो की नीयत पर सन्देह करने की काफी वजह होने से वे इन्हें रोकने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन विदेशी लोग चीन के दरवाज़े पर चिल्लाते-पुकारते और गडबडी मचाते ही रहे, और अफीम के व्यापार को खासतौर पर बढावा

---

[1] Munroe Doctrine.

देते रहे। ईस्ट इंडिया कम्पनी को ब्रिटिश-चीन के व्यापार का ठेका मिला हुआ था। चीनी सम्राट् ने चीन मे अफीम का आना रोक दिया, लेकिन चोरी-छिपे उसका आयात जारी रहा और विदेशी लोग इस तरह अफीम का ग़ैरक़ानूनी व्यापार करते रहे। इसका नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड से युद्ध छिड गया, जिसे 'अफ़ीम का युद्ध' ठीक ही कहा जाता है, और अन्त मे अंग्रेज़ो ने चीन के लोगों को अफीम खरीदने के लिए मजबूर कर दिया।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हें बतलाया था कि १६३४ ई० मे जापान ने अपने-आपको बिलकुल बन्द कर लिया था। उन्नीसवी सदी के शुरू तक भी इस देश का दरवाज़ा सब विदेशियो के लिए बन्द था। लेकिन इसके बन्द परकोटे के अन्दर पुरानी शोगुनशाही कमजोर हो रही थी और नई हालतें पैदा हो रही थीं, जो पुरानी प्रणाली का एकदम खातमा करनेवाली थीं। दक्षिण-पूर्व एशिया के सुदूर दक्षिण मे यूरोपीय शक्तियाँ ज़मीनो को हड़प करती जा रही थी। फिलीपाइन द्वीप-समूह पर अभी तक स्पेनियो का क़ब्ज़ा बना हुआ था। अंग्रेज़ो और डचो ने पुर्तगालियो को वहाँ से मार भगाया था। वियेना की कांग्रेस के बाद डचो को जावा व दूसरे टापू वापस मिल गये। अंग्रेज सिंगापुर और मलाया प्रायद्वीप की तरफ़ फैलते जा रहे थे। अनाम, स्याम और बरमा अभी तक स्वाधीन थे, हालांकि वे मौके-मौके पर चीन को ख़िराज दिया करते थे। मोटे तौर पर वाटरलू-युद्ध से १८३० ई० तक के पन्द्रह वर्षों के बीच दुनिया की राजनीतिक दशा इस तरह की थी। यूरोप साफ तौर पर दुनिया का मालिक बनता जा रहा था, और खुद यूरोप मे पीछे लौटने की क्रिया ज़ोर पकड रही थी। सम्राटो और बादशाहो का, और इंग्लैण्ड की दकियानूसी पार्लमेण्ट तक का, यह खयाल बन गया था कि उन्होने उदार विचारो को बिलकुल कुचल दिया है। उन्होंने इन विचारो को डिब्बे मे बन्द कर देने की कोशिश की। लेकिन वे असफल ही रहे, और रह-रहकर विद्रोह होने लगे।

राजनीतिक परिवर्तन सारे क्षेत्र पर छाये हुए मालूम देते थे। लेकिन इनसे भी कहीं ज्यादा भारी बात थी उत्पादन, वितरण और आवागमन के तरीको मे क्रान्ति, जिसकी शुरुआत इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के साथ हुई। चुपचाप, लेकिन बिना किसी रोक-टोक के, यह क्रान्ति यूरोप और उत्तरी अमेरिका मे फैल रही थी और करोडो मनुष्यो के नज़रियो और ढंगो को, और जुदा-जुदा वर्गों के आपसी सम्बन्धो को बदल रही थी। मशीनो की खटाखट मे से नये-नये विचार निकलते जा रहे थे और एक नई दुनिया तैयार हो रही थी। यूरोप दिन-पर-दिन ज्यादा कार्य-कुशल और तग-दिल—ज्यादा लोभी, साम्राज्यवादी और बेदर्द बनता जा रहा था। नेपोलियन की आत्मा इसमे घर कर गई मालूम

होती थी। लेकिन यूरोप मे भी ऐसे विचार पैदा हो रहे थे, जो आगे जाकर साम्राज्यवाद से टक्कर लेनेवाले और उसे उखाड फेंकनेवाले थे।

इस युग का साहित्य, काव्य और सगीत भी ऐसा है, जो चित्त को मोहित करता है। लेकिन मैं अपनी कलम को अब ज्यादा दौडने न दूंगा। आज के लिए इसने काफी काम कर लिया है।

## : १०७ :

# महायुद्ध से पहले के सौ वर्ष

२२ नवम्बर, १९३२

नेपोलियन का पतन १८१४ ई० मे हुआ, अगले साल वह एल्बा से लौटा और फिर उसकी हार हुई, लेकिन उसका सारा ढाँचा १८१४ ई० मे ही ढह चुका था। इसके ठीक सौ वर्ष बाद, १९१४ ई० मे, महायुद्ध शुरू हुआ, जो लगभग सारी दुनिया मे फैल गया और अपने चार वर्षों के समय मे इसने जबर्दस्त तबाही और तकलीफें पहुँचाईं। सौ वर्ष के इस काल पर हमे कुछ विस्तार के साथ विचार करना है। इस काल के शुरू मे दुनिया की जैसी हालत थी, उसकी कुछ मोटी-मोटी बातें मैं तुम्हें अपने पिछले पत्र मे बतला चुका हूँ। मैं समझता हूँ कि अपने लिए यह मुनासिब होगा कि अलग-अलग देशो मे इस सदी के अलग-अलग टुकडो की जाँच करने से पहले कुल मिलाकर पूरी सदी पर एक निगाह डाल ली जाय। इस तरह शायद हमे इन सौ वर्षों की खास-खास हलचलो का ज्यादा अच्छा ज्ञान हो जाय, और तब हम सारे दृश्य की सब चीजो को एक साथ देख सकें।

तुम्हे अपने-आप ही नजर आ जायगा कि १८१४ से १९१४ ई० तक के ये सौ वर्ष ज्यादातर उन्नीसवी सदी मे पडे हैं। इसलिए अगर हम इन वर्षों को उन्नीसवी सदी कहकर पुकारें तो कोई हर्ज नही है, हालांकि यह बिलकुल सही तो नही होगा।

उन्नीसवी सदी एक दिलकश जमाना है। लेकिन हमारे लिए उसका अध्ययन कोई आसान काम नही है। यह सामने फैला हुआ एक लम्बा-चौडा दृश्य है, एक बडा चित्र है, और चूंकि हम उसके इतने नजदीक हैं, इसलिए वह हमे पहले की सदियो की बनिस्बत ज्यादा बडा और ज्यादा घना मालूम होता है। जब हम इस सदी को गूंथनेवाले हजारो धागो को सुलझाने की कोशिश करते हैं, तो इसका बडप्पन और इसकी पेचीदगी कभी-कभी तो हमको चकरा देती है।

यह सदी चमत्कारी मशीनी उन्नति की है। औद्योगिक क्रान्ति के पीछे-पीछे मशीनी क्रान्ति आई, और मशीनें मनुष्य के जीवन मे दिन-पर-दिन ज्यादा ज़रूरी होती गईं। मशीनो ने उससे बहुत ज्यादा काम कर दिखाया, जितना मनुष्य ने पहले किया था। उनसे मनुष्य के काम की मशक्कत दूर हो गई, कुदरती ताक़तो पर उसका आसरा कम हुआ और उसके लिए दौलत पैदा होने लगी। विज्ञान ने बहुत ज्यादा सहायता दी और आवा-जाई व माल-ढुलाई के साधनो की रफ्तार तेज-पर-तेज होती चली गई। रेलगाडी आई और उसने घोड़ा-गाडियो की जगह ले ली, भाप के जहाजो ने हवा से चलनेवाले जहाजो की जगह ले ली, और उसके बाद आया जबर्दस्त और शानदार समुद्री जहाज, जो एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप को तेज रफ्तार से और बिना नागा किये जाने आने लगा। इस सदी के अन्त मे अपने-आप चलनेवाली गाडियाँ आईं और मोटरकारें तमाम दुनिया में फैल गईं। और इसके बाद आया हवाई जहाज। इसी समय मनुष्य एक नये चमत्कार—बिजली—को काबू मे करके अपने काम मे लेनें लगा और तार व टेलीफोन प्रकट हुए। इन बातो ने दुनिया का रूप बहुत बदल दिया। जैसे-जैसे संचार के साधनो का विकास हुआ और लोग दिन-पर-दिन ज्यादा तेज रफ्तार से यात्रा करने लगे वैसे-ही-वैसे दुनिया सिकुडती हुई और छोटी होती हुई मालूम पडने लगी। आज तो हम इन सबके आदी हो गये हैं और इनपर ध्यान ही नहीं देते। लेकिन पुरानी बातो मे ये सब सुधार और परिवर्तन हमारे इस जगत मे नये आये हैं, ये सब पिछले सौ वर्षों मे ही आये है।

साथ ही यह सदी यूरोप की, या यो कहो कि पश्चिमी यूरोप की, और खासकर इंग्लैण्ड की, सदी थी। औद्योगिक और मशीनी क्रान्तियाँ वही शुरू हुईं और आगे बढ़ी, और इनके सबब से पश्चिमी यूरोप दूसरे देशो से बहुत आगे बढ गया। समुद्री शक्ति और उद्योग-धन्धो में इंग्लैण्ड सबसे आगे था, लेकिन पश्चिमी यूरोप के दूसरे देश धीरे-धीरे इसकी बराबरी पर आ पहुँचे। इस नई मशीनी सभ्यता के सहारे अमेरिका का सयुक्त राज्य भी आगे बढ चला और रेलो ने उसे पश्चिम की तरफ प्रशान्त महासागर तक पहुंचा दिया, और इस तरह इस विशाल देश को एक राष्ट्र बना दिया। यह अपनी ही समस्याओ मे और अपना विस्तार करने मे इतना ज्यादा फँसा हुआ था कि यूरोप व बाक़ी दुनिया की झझटो की तरफ ध्यान देने की उसे फुरसत ही न थी। लेकिन यूरोप के किसी भी तरह के दखल का विरोध करने और रोकने की उसमे काफी ताकत थी। 'मुनरो सिद्धान्त' ने, जिसके बारे मे मैं तुम्हें अपने पिछले पत्र मे लिख चुका हूँ, दक्षिण अमेरिका के गणराज्यो को यूरोप की लालची निगाहो से बचा लिया। इन गणराज्यो की नीव स्पेनियो और पुर्तगालियो ने डाली थी, इसलिए ये लातीनी गणराज्य कहलाते हैं। ये दोनो देश, और इटली व फ्रान्स, लातीनी राष्ट्र कहलाते

हैं। दूसरी तरफ यूरोप के उत्तरी देश ट्यूटानी हैं, इंग्लैण्ड ट्यूटनों[1] की ऐंग्लो सेक्सन शाखा है। सयुक्त राज्य अमेरिका के लोग शुरू मे इसी ऐंग्लो-सेक्सन नस्ल के थे, लेकिन बाद मे तो सभी तरह के परदेसी वहाँ जा पहुँचे।

औद्योगिक और मशीनी मैदान मे बाकी दुनिया पिछडी हुई थी और पश्चिम की नई मशीनी सभ्यता से होड नही कर सकती थी। पुराने कुटीर उद्योगो की बनिस्वत यूरोप के नये मशीन-उद्योगो से माल कही ज्यादा तेजी के साथ और ज्यादा बहुतायत से पैदा होने लगा। लेकिन इस माल को तैयार करने के लिए कच्चे माल की जरूरत थी, जो पश्चिमी यूरोप मे नही मिलता था। साथ ही जब माल तैयार होता था, तो उसे बेचना भी जरूरी था, और इसलिए उसकी बिक्री के लिए हाट-बाजार जरूरी थे। इसलिए पश्चिमी यूरोप ऐसे मुल्को की तलाश करने लगा जो उसे कच्चा माल दे सकें और उनका तैयार माल खरीद सकें। एशिया और अफ्रीका कमजोर थे, इसलिए यूरोप उन पर भूखे भेडिये की तरह टूट पडा। अपनी समुद्री-शक्ति और उद्योग-धन्धो मे पहल के कारण इंग्लैण्ड साम्राज्य की दौड मे सहज ही सबसे आगे रहा।

तुम्हे याद होगा कि गरम मसाले और अपनी जरूरत की दूसरी चीजें खरीदने के लिए यूरोपवाले पहले-पहल भारत और पूर्व-एशिया मे पहुँचे थे। इस तरह पूर्व का माल यूरोप मे आया और साथ ही पूर्व के करघो का बना हुआ तरह-तरह का कपडा पश्चिम मे पहुँचा। लेकिन अब मशीन के विकास से यह सिलसिला उलटा हो गया। पश्चिमी यूरोप का सस्ता माल पूर्व मे पहुँचने लगा और अंग्रेजी माल की बिक्री को बढावा देने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इरादा करके भारत के कुटीर उद्योगो की हत्या कर डाली।

यूरोप बडे लम्बे-चौडे एशिया पर जमकर बैठ गया। उत्तर मे एक सिरे से दूसरे सिरे तक सारे महाद्वीप पर रूसी साम्राज्य पसर गया। दक्षिण मे इंग्लैण्ड लूट के सबसे बडे माल भारत पर मजबूत शिकजा जमाये बैठा था। पश्चिम मे तुर्की साम्राज्य तीन-तेरह हुआ जा रहा था, और तुर्की का हवाला "यूरोप का मरीज' कह कर दिया जाता था। नाम के स्वाधीन ईरान पर इंग्लैण्ड और रूस हावी थे। स्याम के एक छोटे-से टुकडे को छोडकर सारे दक्षिण-पूर्वी एशिया—बरमा, हिंदचीन, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलीपाइन वगैरा—को यूरोप निगल चुका था। सुदूर पूर्व मे यूरोप की सभी शक्तियाँ चीन को कुतर रही थी और उससे एक के बाद दूसरी रियायते जबर्दस्ती ऐंठी जा रही थी।

---

[1] जर्मनो की एक प्राचीन आदि-वासी क़ौम।

सिर्फ जापान तना हुआ खडा रहा और बराबरी की हैसियत से यूरोप से मुक़ाब
मे डटा रहा। वह अपने अलगाव से बाहर निकल आया था और उसने अद्भु
तेजी के साथ अपने को नई हालतो के मुताबिक ढाल लिया था।

मिस्र के सिवा बाकी अफ्रीका बहुत पिछडा हुआ था। वह यूरोप व
कोई जोरदार मुकाबला नही कर सकता था, इसलिए यूरोप की शक्तिय
साम्राज्य की अन्धी दौड मे इसपर टूट पडी, और इस विशाल महाद्वीप को बाँ
कर खा गईं। इग्लैण्ड ने मिस्र पर कब्जा कर लिया, क्योकि यह भारत के रास
मे था, और फिर तो भारत पर कब्जा जमाये रखने की लालसा ब्रिटिश नीति प
हावी हो गई। १८६९ ई० मे स्वेज नहर खोली गई। इससे यूरोप और भारत
बीच का रास्ता बहुत छोटा हो गया। इस नहर के सबब से इग्लैण्ड के लिए मि
की कीमत और भी बढ गई, क्योकि वह नहर मे गडबड कर सकता था औ
इस तरह भारत के समुद्री-रास्ते पर उसका अधिकार था।

इस तरह, मशीनी क्रान्ति के नतीजे से सारी दुनिया मे पूँजीवादी सभ्यत
फैल गई और यूरोप का दबदबा हर जगह कायम हो गया। इसलिए इस सद
को साम्राज्यवाद की सदी भी कह सकते है। लेकिन यह नया साम्राज्यवादी यु
रोम और चीन, भारत और अरब, और मगोलो की पुरानी साम्राज्यशाही
बहुत अलग ढँग का था। यह तो नये ढँग का साम्राज्य था, जो कच्चे माल औ
हाट-बाजारो का भूखा था। नया साम्राज्यवाद नये उद्योगवाद का बच्चा था
कहा जाता था कि "झण्डे के पीछे-पीछे व्यापार चलता है," और अक्सर करके
बाइबिल के पीछे-पीछे झण्डा चल रहा था। मजहब, विज्ञान, स्वदेश-प्रेम, सभी
को एक ही उद्देश्य के लिए भ्रष्ट किया जा रहा था, यानी दुनिया की ज्यादा कमजो
और उद्योगो के मैदान मे ज्यादा पिछडी हुई जातियो का शोषण करना ताकि
बडी-बडी मशीनो के स्वामी और उद्योग-धन्धों के सरदार मालदार होते चले
जायँ। सत्य और प्रेम के नाम की दुहाई देनेवाला ईसाई मिशनरी अक्सर
साम्राज्यवाद की चौकी का काम करता था, और अगर कही उसका कुछ बिगड
जाता, तो उसका देश इसी को वहाँ की जमीन हडपने का और जबर्दस्ती रियायतें
ऐंठने का बहाना बना लेता था।

उद्योग और सभ्यता के पूँजीवादी सगठन से इस तरह के साम्राज्यवाद
का पैदा होना लाजिमी था। पूँजीवाद ने ही राष्ट्रीयता की भावना को गहरा
किया, और इसलिए इस सदी को तुम राष्ट्रीयता की सदी भी कह सकती हो।
यह राष्ट्रीयता सिर्फ स्वदेश-प्रेम ही नही थी, बल्कि दूसरे सब देशो से नफरत
करनेवाली थी। अपनी जमीन के टुकडे की शान के गीत गाने और दूसरो को
हिकारत से निन्दा करने का यही नतीजा हो सकता था कि जुदा-जुदा देशो मे

आपसी झगड़े और लड़ाइयाँ हो। यूरोप के देशो की उद्योगी और साम्राज्यवादी होड़ ने हालत को और भी बिगाड़ दिया। १८१४-१५ ई० की वियेना की कांग्रेस ने यूरोप का जो नक़शा तय किया था वह भी एक और खिझानेवाला कारण था। इस नकशे मे कुछ कौमो को दबा दिया गया था और उन्हे जबर्दस्ती दूसरी कौमो की हुकूमत के नीचे रख दिया गया था। एक राष्ट्र के रूप मे पोलैंड की हस्ती नही रही थी। आस्ट्रिया-हंगरी ठोक-पीटकर बनाया हुआ साम्राज्य था, जिसमे तरह-तरह की कौमे रहती थी, जो एक दूसरे से दिली नफरत रखती थी। दक्षिण-पूर्व यूरोप के तुर्की-साम्राज्य के बलकानी देशो मे बहुत-सी ग़ैर-तुर्की कौमे थी। इटली के टुकड़े करके बहुत-सी रियासतो मे बाँट दिया गया था, और उसका एक हिस्सा आस्ट्रिया के अधीन था। यूरोप के इस नक्शे को बदल डालने के लिए युद्धो और क्रान्तियो के ज़रिये बार-बार कोशिशें की गई। अपने पिछले पत्र मे मैने इनमे से कुछ का ज़िक्र किया है, जो वियेना के फैसले के फौरन ही बाद हुए थे। इस सदी के पिछले हिस्से मे इटली ने अपने उत्तरी भाग से आस्ट्रिया का और मध्य-भाग से पोप का जुआ उतार फेका और वह एक सगठित राष्ट्र बन गया। इसके थोड़े ही दिनो बाद प्रशिया के नेतृत्व मे जर्मनी का एकीकरण हुआ। जर्मनी ने फ्रान्स को हराया और नीचा दिखाया और उसकी सरहद के दो प्रान्त आलसस और लॉरेन छीन लिये, और उसी दिन से वह बदला चुकाने के सपने देखने लगा। पचास वर्ष के भीतर-ही-भीतर खूनी और भयकर बदला लिया जाने-वाला था।

दूसरे देशो से बहुत आगे बढ़ा हुआ होने की वजह से इंग्लैण्ड यूरोपीय देशो मे सबसे ज्यादा भाग्यशाली था। सारी बढ़िया चीज़े उसके कब्ज़े मे थी और वह उस समय की हालत से खूब राज़ी था। भारत नये ढंग से साम्राज्य का नमूना था और ऐसा दौलतमन्द देश था कि जिसके शोषण से सोने की नदी लगातार इंग्लैण्ड को बहती रहती थी। भारत पर इंग्लैण्ड की इस हुकूमत को दूसरे सब साम्राज्य बनानेवाले डाह की नज़र से देखते थे। वे दूसरी जगहो मे भारत के नमूने का साम्राज्य बनाने की सोचने लगे। फ्रान्सीसी तो किसी हद तक सफल भी हो गये, जर्मनी ज़रा देर से मैदान मे आया, और उसके लिए अब कुछ भी नहीं बचा था। इस तरह दुनिया भर मे इन यूरोपीय "महाशक्तियो" के बीच राज-नीतिक तनाव पैदा हो गया। हरेक शक्ति ज्यादा-से-ज्यादा देशो को हड़प जाने की कोशिश मे थी, और इसी उधेड़-बुन मे लगी हुई एक शक्ति दूसरी शक्ति से टक्कर खा जाती थी। खासकर इंग्लैण्ड और रूस के बीच तो बराबर तना-तनी बनी रहती थी, क्योकि इंग्लैण्ड के भारतीय साम्राज्य को मध्य-एशिया की ओर से रूस का खतरा मालूम पड़ता था। इसलिए इंग्लैण्ड हमेशा रूस को मात देने की कोशिश करता रहता था। उन्नीसवी सदी के मध्य मे, जब रूस ने तुर्की को

हराकर कुस्तुन्तुनिया पर दान्त लगाये, तो इंग्लैण्ड तुर्की की मदद के लिए मैदान मे उतर आया और उसने रूस को पीछे खदेड दिया। तुर्की से कोई खास प्रेम की वजह से इंग्लैण्ड ने ऐसा किया हो सो बात नही, बल्कि रूस का डर और भारत से हाथ धो बैठने का अन्देशा ही इसकी वजह थी।

जर्मनी, फ्रान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका धीरे-धीरे इंग्लैण्ड के बराबर आ पहुँचे, इसलिए उद्योगो मे इंग्लैण्ड की सबसे आगे रहने की हैसियत दिन-पर-दिन घटती गई। इस सदी के आखिरी दिनो मे मामला तूल पकडने लगा था। यूरोप की इन शक्तियो के ऊँचे हौसलो को पूरा करने के लिए दुनिया बहुत छोटी थी। ये शक्तियाँ आपस मे एक दूसरी से डरती थी और नफरत व डाह करती थी, और इसी डर और नफरत ने उन्हे अपनी फौजो और जगी-जहाजो की सख्या बढाने के लिए मजबूर किया। विनाश के इन साधनो के लिए बडी सरगर्मी से होड शुरू हुई। दूसरे मुल्को से लडने के लिए अलग-अलग देशो मे एक दूसरे से गठ-बधन होने लगे और अन्त मे यूरोप मे दो तरह के गठ-बधन आमने-सामने खडे हो गये—एक का मुखिया था फ्रान्स, जिसमे इंग्लैण्ड भी गुप्त रूप से शामिल था, और दूसरे का मुखिया बना जर्मनी। यूरोप एक फौजी छावनी बन गया था। उद्योग-धन्धो, व्यापार और हथियारो मे दिन-पर-दिन भयकर लाग-डॉट बढती जा रही थी। हरेक पश्चिमी देश मे धीरे-धीरे तग राष्ट्रीयता की भावना जगाई जा रही थी, ताकि जनता को गुमराह करके उसमे पडौसी देशो के खिलाफ नफरत पैदा की जा सके और इस तरह उसे युद्ध के लिए तैयार रक्खा जा सके।

इस तरह अन्धी राष्ट्रीयता यूरोप पर हावी होने लगी। यह अजीब बात थी, क्योंकि आवा-जाई के साधनो की बढ़ती हुई रफ्तार अलग-अलग देशो को एक-दूसरे के ज्यादा नज़दीक ले आई थी और लोग भी बहुत ज्यादा सख्या मे जाने-आने लगे थे। खयाल तो यह था कि जैसे-जैसे लोग अपने पडौसियो को ज्यादा पहचानते जायँगे, उनकी तरफदारी कम होती जायगी और तग खयाली के बजाय उनका नजरिया चौडा हो जायगा। कुछ हद तक ऐसा हुआ जरूर, लेकिन इस नये उद्योगी पूंजीवाद मे समाज का समूचा ढाँचा ही ऐसा था कि उसने राष्ट्र-राष्ट्र, वर्ग-वर्ग और मनुष्य-मनुष्य मे आपसी झगडा पैदा कर दिया।

पूर्व मे भी राष्ट्रीयता बढी। यहाँ इसका स्वरूप हुआ उन विदेशियो का डटकर मुकाबला करना, जो देश पर अधिकार जमाये हुए थे और उसका शोषण कर रहे थे। शुरू मे पूर्वी देशो के बचे-खुचे पुराने सामन्तो ने विदेशी सत्ता का मुकाबला किया, क्योकि उन्हे अपनी हैसियत छिन जाने का अन्देशा था। वे असफल रहे जैसा कि होना लाज़िमी था। अब एक [illegible] मज़हबी नजरिये मे रगी हुई राष्ट्रीयता उठी। धीरे-धीरे यह मजहबी [illegible] गया और पश्चिमी ढंग

की राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। जापान विदेशी हुकूमत से तो बच गया, लेकिन वहाँ एक ज़ोरदार आधी-सामन्ती राष्ट्रीयता को बढावा दिया गया।

एशिया ने तो शुरू से ही यूरोपीय हमलो का डटकर मुकाबला शुरू कर दिया था। लेकिन जब उसे पता लगा कि यूरोपीय फौजो के हथियार बहुत शक्तिवाले और कारगर है, तो यह मुक़ाबला ठडा पड गया। विज्ञान के विकास और मशीनी तरक्की ने इन यूरोपीय फौजों को-पूर्व की उस समय की फौजो से बहुत ज्यादा शक्तिशाली बना दिया था। इसलिए पूर्वी देश उनके सामने अपने को बिलकुल बेबस महसूस करने लगे और उन्होंने निराश होकर यूरोप के सामने सिर झुका दिया। कुछ लोगो का कहना है कि पूर्व आत्मा पर ज़ोर देता है और पश्चिम दुनिया की चीज़ो पर। इस तरह का कथन बहुत भ्रम मे डालनेवाला है। अठारहवी और उन्नीसवी सदी मे, जिस समय यूरोप हमलावर बनकर आया, उस समय पूर्व और पश्चिम का असली फर्क था पूर्व की मध्यकालीन हालत और पश्चिम की उद्योगी और मशीनी प्रगति। भारत और दूसरे पूर्वी देश शुरू-शुरू मे सिर्फ यूरोप की फौजी होशियारी से ही नही, बल्कि विज्ञान और उद्योगो मे उसकी प्रगति से भी चौंधिया गये थे। इस सबके नतीजे से वे अपने-आपको फौजी और उद्योगो के मामलो मे गिरा हुआ महसूस करने लगे। लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी राष्ट्रीयता पनपी और साथ ही विदेशी हमलो का विरोध करने और विदेशियो को निकाल बाहर करने की इच्छा ने भी ज़ोर पकडा। बीसवी सदी के शुरू मे ही एक घटना ऐसी घटी, जिसका एशिया के दिमाग पर जबर्दस्त असर पडा। यह थी जापान का ज़ार-शाही रूस को हराना। छोटे-से जापान ने यूरोप की एक सबसे बडी और सबसे ज़बर्दस्त शक्ति को हरा दिया, इस बात ने बहुत लोगो को अचम्भे मे डाल दिया, और पूर्व के लिए तो यह अचम्भा बहुत ही ख़ुशी का था। जापान को अब विदेशी हमलावरी के ख़िलाफ लडनेवाला एशिया का प्रतिनिधि माना जाने लगा, और उस समय तो वह सारे एशिया मे बहुत लोकप्रिय हो गया। पर वास्तव मे जापान एशिया का ऐसा कुछ प्रतिनिधि था नही, वह तो यूरोप की किसी भी शक्ति की तरह सिर्फ अपने ही स्वार्थ के लिए लडा था। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब जापान की जीतो की ख़बरें आती थी, तो मुझमे कितना जोश भर जाता था। उस वक्त मैं लगभग तुम्हारी ही उम्र का था।

इस तरह, जैसे-जैसे यूरोप का साम्राज्यवाद ज्यादा हमलावर होता गया, वैसे-ही-वैसे पूर्व मे उसका जवाब देने और विरोध करने के लिए राष्ट्रीयता बढती गई। पश्चिम मे अरब राष्ट्रो से लेकर सुदूर पूर्व मे मगोली राष्ट्रो तक, तमाम एशिया मे राष्ट्रीय आन्दोलन खडे होने लगे? शुरू मे ये फूंक-फूंककर और मद्धिम चाल से आगे बढे और फिर अपनी मांगो मे दिन-पर-दिन परले दर्जे के सरगर्म

होते गये। भारत में ये राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म और बालपन के दिन थे। एशिया का विद्रोह शुरू हो चुका था।

उन्नीसवीं सदी का हमारा सिंहावलोकन अभी पूरा होने को बहुत बाक़ी है लेकिन यह पत्र काफी लम्बा हो गया है, इसलिए खत्म होना चाहिए।

: १०८ :

## उन्नीसवीं सदी की कुछ और बातें

२४ नवम्बर, १९३२

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें उन्नीसवीं सदी को खासियत देनेवाले कुछ लक्षणों का और बड़ी-बड़ी मशीनों के आविष्कार होने के बाद पश्चिमी यूरोप के सिर पर सवार उद्योगी पूंजीवाद से पैदा हुई बहुत-सी बातों का हाल बताया था। इन सबमें पश्चिमी यूरोप आगे क्यों बढ़ गया, इसका एक सबब था उसके पास कोयले और कच्चे लोहे की खानों का होना। बड़ी-बड़ी मशीनों के बनाने और चलाने के लिए कोयला और लोहा बहुत जरूरी थे।

जैसा कि हम देख चुके हैं, इस पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता को पैदा किया। वैसे तो राष्ट्रीयता कोई नई चीज नहीं थी। यह पहले भी मौजूद थी, लेकिन अब ज्यादा सरगर्म और तंग होती गई। इसने एक ही साथ लोगों को एक डोरे में बांधा भी और जुदा-जुदा भी किया, एक ही राष्ट्रीय इकाई में रहनेवाले आपस में एक-दूसरे के ज्यादा नजदीक आ गये, लेकिन साथ ही उन लोगों से और भी ज्यादा दूर और अलग होते गये, जो दूसरी राष्ट्रीय इकाई में रहते थे। एक तरफ हरेक मुल्क में देश-भक्ति बढ़ी, तो दूसरी तरफ उसके साथ ही विदेशियों को नापसन्द किया जाने लगा और उन पर सन्देह किया जाने लगा। यूरोप के उद्योग-धन्धों में आगे बढ़े हुए देश एक दूसरे को शिकारी जानवरों की तरह घूर रहे थे। इंग्लैण्ड को लूट का माल सबसे ज्यादा मिल गया था, इसलिए वह जरूर उससे चिपका रहना चाहता था। लेकिन दूसरे देशों के, खासकर जर्मनी के, विचार में इंग्लैण्ड को हर जगह जरूरत से ज्यादा मिला हुआ था। इसलिए टकराहट बढ़ते-बढ़ते अन्त में खुली लड़ाई की नौबत आ गई। उद्योगी पूंजीवाद का सारा ढांचा और उसमें पैदा होनेवाले साम्राज्यवाद का नतीजा यही टकराहट और मुठभेड़ होता है। इनके भीतर ऐसी परस्पर-विरोधी बातें रहती हैं, जिनका आपस में कभी मेल ही नहीं हो सकता, क्योंकि उनका आधार होते हैं टक्कर, होड़ और शोषण। इस तरह पूर्व में साम्राज्यवाद ने जिस राष्ट्रीयता को पैदा किया, वही उसकी कट्टर दुश्मन बन गई।

लेकिन इन विरोधी बातो के बावजूद भी पूंजीवादी सभ्यता ने बहुत-से काम के सबक सिखाये। इसने सगठन का पाठ पढाया, क्योंकि बडी-बडी मशीनें और बडे पैमाने के उद्योग तभी चल सकते हैं जब पहले उनका खूब अच्छी तरह सगठन कर लिया जाय। इसने बडे-बडे कारोबारो मे आपसी सहयोग करना सिखाया। इसने कार्य-कुशलता और वक्त की पाबन्दी सिखाई।

इन गुणो के बिना बडे कारखाने या रेलें चलाना सम्भव नही है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि ये गुण खास पश्चिमी हैं और पूर्व मे इनका अभाव है। लेकिन बहुत-सी दूसरी बातो की तरह इसमे भी पूर्व और पश्चिम का कोई सवाल नही है। इन गुणो का विकास उद्योगवाद की वजह से हुआ है, और क्योंकि पश्चिम का औद्योगीकरण हो गया है, इसलिए उसे ये गुण मिल गये हैं, उधर पूर्व अभी तक ज्यादातर कृषि-प्रधान है, उद्योग-प्रधान नही, इसलिए उसमे इनका अभाव है।

उद्योगी पूंजीवाद ने एक और महान् सेवा की। इसने यह सिखाया कि मशीनी उत्पादन से यानी बडी-बडी मशीनो और कोयले और भाप की सहायता से दौलत किस तरह पैदा की जा सकती है। इससे उस पुराने अन्देशे की भी जड कट गई कि दुनिया मे सब ज़रूरतें पूरी करने के साधन काफी नही हैं और इसलिए ग़रीबो की बहुत बडी सख्या हरदम बनी रहेगी। विज्ञान और मशीनो की मदद से दुनिया की आबादी के लिए काफी खाना और कपडा और ज़रूरत की हरेक चीज़ तैयार की जा सकती है। इस तरह उत्पादन की समस्या कम-से-कम खयाली तौर पर तो हल हो गई, लेकिन वह बस यही ठहर गई। दौलत तो बेशक बहुतायत से होने लगी, लेकिन फिर भी गरीब गरीब ही बने रहे, बल्कि और भी ज्यादा ग़रीब हो गये। यूरोपीय राज मे तो पूर्वी और अफ्रीकी देशो मे एकदम नगा और बेहया शोषण हो रहा था। वहाँ के अभागे निवासियो की परवाह करनेवाला कोई न था। लेकिन पश्चिमी यूरोप मे भी गरीबी बनी ही रही और दिन-पर-दिन ज्यादा ज़ाहिर होती गई। कुछ समय के लिए तो बाकी दुनिया के शोषण से पश्चिमी यूरोप मे खूब दौलत आई। इस दौलत का ज्यादा हिस्सा उच्च वर्ग के कुछेक मालदार लोगों के पास रहा, हाँ, उसका थोडा-सा हिस्सा निचुडकर गरीब वर्गों के पास भी पहुंच गया, और उनके रहन-सहन का स्तर कुछ ऊँचा हो गया। आबादी भी बहुत ज्यादा बढी।

लेकिन यह दौलत और रहन-सहन के स्तर मे यह उन्नति, एशिया, अफ्रीका और बिना उद्योग-धन्धोवाले देशो के शोषित लोगो को मारकर आई। इस शोषण ने और दौलत की नदी ने कुछ अर्से के लिए पूंजीवादी प्रणाली की परस्पर-विरोधी बातो को ढक दिया। फिर भी धनवानो और ग़रीबो के बीच का फ़र्क़ बढ़ता गया,

वे एक-दूसरे से और भी दूर हो गये। ये दोनों दो अलग-अलग कौमें हो गईं, दो अलग-अलग राष्ट्र बन गये। उन्नीसवीं सदी के एक महान् अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ बेन्जामिन डिसरैली ने इनका बयान इस तरह किया है:

> "ये दो राष्ट्र, जिनमें कोई आपसी सम्पर्क नहीं है, कोई सहानुभूति नहीं है, जो एक दूसरे की आदतों, विचारों और भावनाओं से ऐसे अपरिचित हैं, मानों वे अलग-अलग भू-खण्डों के रहनेवाले हों या अलग-अलग ग्रहों के निवासी हों, जो अलग-अलग तरह के व्यवहारों से बने हैं, जिनका पोषण, अलग-अलग तरह के भोजन से हुआ है, जिनके आचार-व्यवहार के ढंग अलग-अलग हैं, और जिनका शासन भी एकसे कानूनों से नहीं होता. . मालदार और गरीब!"

उद्योग-धन्धों की नई हालतें मजदूरों की एक बड़ी संख्या को बड़े कारखानों में लाईं, और इस तरह कारखाने के मजदूरों का एक नया वर्ग पैदा हुआ। ये लोग किसानों और खेत पर काम करने वाले मजदूरों से बहुत-सी बातों में जुदा थे। किसान को बहुत-कुछ मौसमों और वर्षा के आसरे रहना पड़ता है। ये बातें उसके वश में नहीं हैं, और इसलिए वह सोचने लगता है कि उसकी मुसीबत और गरीबी दैवी कारणों से है। वह अन्धविश्वासी हो जाता है, आर्थिक कारणों का विचार नहीं करता, एक नीरस और निराश जीवन बिताने लगता है और अपने-आपको एक ऐसे निर्दयी भाग्य के भरोसे छोड़ देता है जिसे वह बदल नहीं सकता। लेकिन कारखाने का मजदूर मशीनों पर, इन्सान की बनाई हुई चीज पर, काम करता है, मौसमों और वर्षा की परवाह किये बिना वह माल तैयार करता रहता है, वह दौलत पैदा करता है, लेकिन वह देखता है कि इस दौलत का बड़ा हिस्सा दूसरों के पास चला जाता है और वह गरीब-का-गरीब ही बना रहता है। कुछ हद तक वह आर्थिक नियमों को भी काम करते हुए देखता है। इसलिए वह दैवी कारणों का विचार नहीं करता और किसान की तरह अन्ध-विश्वासी नहीं होता। अपनी गरीबी के लिए वह देवी-देवताओं को दोष नहीं देता, वह दोषी ठहराता है समाज को या सामाजिक व्यवस्था को, और खासकर कारखाने के पूंजीपति मालिक को, जो उसकी मजदूरी के मुनाफे का इतना बड़ा हिस्सा हजम कर जाता है। वह वर्ग-चेतन बन जाता है, उसे कई तरह के वर्ग दिखाई देने लगते हैं, और वह देखता है कि ऊंचे वर्ग उसके वर्ग को नोच-नोचकर खा रहे हैं। इसका नतीजा होता है बेज़ारी और विद्रोह। बेज़ारी की शुरुआती शिकायतें धुंधली और धीमी होती हैं, शुरू के बलवे अन्धे, विचार-हीन और कमजोर होते हैं और सरकार उन्हें आसानी से कुचल देती है। क्योंकि वह भी तो अब बड़े कारखानों और उनकी शाखाओं को चलानेवाले मध्यम वर्ग के हितों की ही पूरी प्रतिनिधि होती है। लेकिन पेट की आग

को ज्यादा दिनों तक दबाकर नहीं रखा जा सकता, और जल्द ही गरीब मजदूर को अपने साथियों की एकता में ताकत का एक नया भण्डार मिल जाता है। इसलिए मजदूरों को बचाने और उनके अधिकारों की लड़ाई के वास्ते ट्रेड यूनियनें (मजदूर संघ) बनती हैं। शुरू में खुफिया तौर पर काम करती हैं, क्योंकि सरकार मजदूरों को अपना संगठन भी नहीं करने देना चाहती। यह दिन-पर-दिन जाहिर होता जाता है कि सरकार पूरी तरह से एक वर्ग की सरकार है, और हर तरह से उसी वर्ग की हिफाजत करने पर तुली होती है, जिसकी वह प्रतिनिधि होती है। कानून भी उसी वर्ग के लिए बनाये जाते हैं। धीरे-धीरे मजदूर मजबूती हासिल करते जाते हैं और उनकी ट्रेड-यूनियनें ताकतवर संगठन बनती जाती हैं। अलग-अलग किस्म के मजदूर देखते हैं कि सत्ताधारी शोषक-वर्ग के खिलाफ उनके हित असल में एक ही हैं। इसलिए अलग-अलग ट्रेड-यूनियनें आपस में सहयोग करने लगती हैं और एक देश के कामगरों का एक संगठित समुदाय बन जाता है। इसके अगला कदम है अलग-अलग देशों के मजदूरों का आपस में मिल जाना, क्योंकि वे भी यह महसूस करते हैं कि उनके भी हित एक ही हैं और सबका एक ही दुश्मन है। इस तरह 'दुनिया के मजदूरो एक हो जाओ' का नारा उठता है, और मजदूरों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कायम होते हैं। इस बीच पूंजीवादी उद्योग भी आगे बढ़ता है और अन्तर्राष्ट्रीय बन जाता है। इस तरह जहां कहीं भी उद्योगी पूंजीवाद फैलता-फूलता है, वहीं मजदूर-वर्ग पूंजीवाद के मुकाबले में खड़ा हो जाता है।

मैं बड़ी तेजी से आगे बढ़ गया हूं और अब मुझे पीछे लौटना चाहिए। लेकिन उन्नीसवीं सदी की यह दुनिया, बहुत-से परस्पर-विरोधी झुकावों का जंजाल है, जिन सबको नजरों में रखना मुश्किल है। मैं सोचता हूं कि पूंजीवाद और साम्राज्य-वाद और राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता और दौलत और गरीबी की इस अजीब खिचड़ी से तुम क्या समझोगी? लेकिन जीवन खुद ही एक अजीब खिचड़ी है। यह जैसा भी है, वैसा ही इसे मानना चाहिए और समझना चाहिए, और तब सुधारना चाहिए।

बेमेल बातों के इस जंजाल ने यूरोप और अमेरिका के बहुत-से लोगों को सोच में डाल दिया। सदी की शुरूआत में नेपोलियन के पतन के बाद किसी यूरोपीय देश में स्वतन्त्रता का नाम भी नहीं था। कुछ देशों में तो बादशाहों का निरंकुश शासन था, और इंग्लैण्ड जैसे कुछ देशों में छोटे-से अमीर वर्ग और मालदार वर्ग के हाथों में हुकूमत थी। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूं, उदार तत्वों का हर जगह दमन किया जा रहा था। लेकिन इस पर भी अमेरिका और फ्रान्स की राज्य-क्रान्तियों ने उदार विचारकों को लोकतन्त्र और राजनीतिक स्वतन्त्रता के विचारों का बोध करा दिया था, और वे उसकी कद्र करने लगे थे। वास्तव में लोकतन्त्र ही

राज्य को और जनता की सब बुराइयों और तकलीफों का अकेला इलाज समझा जाने लगा। लोकतन्त्री आदर्श यह था कि कोई खास रियायतें न हों, राज्य हरेक व्यक्ति को राजनीतिक और समाजी हैसियत में बराबर हैसियत का समझकर बर्ताव करे। यह ठीक है कि लोग कई बातों में एक-दूसरे से बहुत फर्क रखते हैं, कुछ लोग दूसरों की बनिस्बत ज्यादा मजबूत होते हैं, कुछ ज्यादा बुद्धिमान और कुछ कम स्वार्थी होते हैं। लेकिन लोकतन्त्र में विश्वास रखनेवालों का कहना था कि मनुष्यों में चाहे जो फर्क हो, उनका राजनीतिक दर्जा एक ही रहना चाहिए और इसे वह हरेक को वोट का हक देकर कायम करना चाहते थे। आगे बढ़े हुए विचारक और उदार विचारोंवाले लोग लोकतन्त्र की खूबियों में दिली विश्वास रखते थे, और उसे कायम करने के लिए सिर-तोड़ कोशिशें करते थे। पुरातन-पंथी और प्रगतिगामी लोगों ने उनका विरोध किया, जिससे हर जगह जबर्दस्त खींच-तान शुरू हो गई। कुछ देशों में क्रान्तियाँ भी हो गईं। वोट का अधिकार बढ़ाने, यानी पार्लमेण्ट के सदस्यों को चुनने का अधिकार कुछ ज्यादा लोगों को दिये जाने से पहले इंग्लैण्ड भी गृह-युद्ध के किनारे ही खड़ा था। लेकिन धीरे-धीरे ज्यादातर जगहों में लोकतन्त्र की विजय हुई, और इस सदी के अन्त तक पश्चिमी यूरोप और अमेरिका में ज्यादातर लोगों को कम-से-कम वोट का अधिकार तो मिल ही गया। लोकतन्त्र उन्नीसवीं सदी का एक महान् आदर्श रहा है, यहाँतक कि इस सदी को लोकतन्त्र की सदी भी कहा जा सकता है। अन्त में लोकतन्त्र की जीत हुई, लेकिन जब यह अन्त आया तो लोगों का इस पर से विश्वास ही उठने लगा। उन्होंने देखा कि यह गरीबी और मुसीबतों और पूंजीवादी प्रणाली की बहुत-सी परस्पर-विरोधी बातों को खत्म करने में नाकामयाब रही। भूखे आदमी को वोट का अधिकार मिलने से क्या फायदा हुआ? और अगर उसका वोट या उसकी सेवाएँ एक समय के भोजन की कीमत में खरीदी जा सकती थीं तो उसे मिली हुई स्वतन्त्रता का क्या नाप था? इसलिए लोकतन्त्र बदनाम हो गया या यों कहना ठीक होगा कि राजनीतिक लोकतन्त्र लोगों की निगाह में गिर गया। लेकिन यह बात उन्नीसवीं सदी के दायरे से बाहर की है।

लोकतन्त्र का ताल्लुक स्वतन्त्रता के राजनीतिक पहलू के साथ था। निरंकुशता व दूसरी स्वेच्छाचारी हुकूमतों के खिलाफ यह एक उलटी-क्रिया थी। उस समय पैदा होनेवाली उद्योगी समस्याओं का या गरीबी का या वर्ग-संघर्ष का इसके पास कोई हल नहीं था। इस आशा से कि व्यक्ति निजी हितों को ध्यान में रखकर अपने को हर तरह से सुधारने की कोशिश करेगा और इस तरह समाज तरक्की करेगा, इसने हरेक व्यक्ति को अपने रुझान के अनुसार काम करने की खयाली आजादी पर जोर दिया। यह दखल न देने की नीति थी, जिसके बारे में, मैं शायद अपने किसी पहले पत्र में लिख चुका हूँ। लेकिन व्यक्ति की आजादी का मत

भला नहीं, क्योंकि जिस आदमी को मजदूरी पर काम करने के लिए मजबूर होना पड़ता हो, उसका आजाद रहना बहुत दूर की बात है।

उद्योगी पूंजीवाद की प्रणाली में बड़ी भारी दिक्कत यह पैदा हुई कि जो लोग काम करने और इस तरह समाज की सेवा करते थे, उन्हें बहुत कम मजदूरी मिलती थी, सारा मुनाफा मिलता था उन दूसरे लोगों को जो बिलकुल काम नहीं करते थे। इस तरह मुनाफ़ों का मेहनत से नाता तोड़ दिया गया। इनका नतीजा एक तरफ़ तो हुआ मेहनतकशों का पतन और गरीबी, और दूसरी तरफ़ ऐसे वर्ग का जन्म, जो उद्योग में किसी तरह का काम किये बिना, या उनकी दौलत में किसी तरह की तरक्क़ी किये बिना ही, उसके आसरे जीता था या यों कहो कि उसका खून चूसकर पनपता था। यह ऐसा था जैसे कि एक तो किसान-वर्ग, जो खेत पर काम करता है, और दूसरा जमींदार, जो खुद खेत पर काम किये बिना ही किसानों की मेहनत का फ़ायदा उठाता है। मेहनत के फल का यह बँटवारा बिलकुल अन्यायपूर्ण था, अन्याय को सदियों से सहते हुए किसान ने तो महसूस नहीं किया था, लेकिन मजदूर ने महसूस किया, और बहुत नापसन्द किया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, उसकी यह नाराजगी बढ़ती चली गई। पश्चिम के सभी उद्योग-प्रधान देशों में ये फ़र्क़ साफ़ नजर आने लगा और विचारवान व लगनवाले लोग इस उलझन को सुलझाने की कोशिश करने लगे। इस तरह वह विचारधारा पैदा हुई, जिसे समाजवाद कहा जाता है, और पूंजीवाद की उपज है और उसका दुश्मन भी है, और जो शायद किसी दिन उसको उखाड़कर उसकी जगह ले लेगा। इंग्लैण्ड में तो इसने मद्धिम रूप ले लिया, लेकिन फ्रान्स और जर्मनी में यह ज्यादा क्रान्तिकारी था। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसके विस्तार के मुकाबले में आबादी कम होने की वजह से बढ़ोतरी की काफी गुंजाइश थी, इसलिए पूंजीवाद ने पश्चिमी यूरोप में जो अन्याय किये और जो मुसीबतें ढाईं वे उस हद तक अमेरिका में बहुत दिनों तक दिखाई नहीं दिये।

उन्नीसवीं सदी के बीच में जर्मनी में एक व्यक्ति पैदा हुआ, जो आगे चलकर समाजवाद का पैग़म्बर और समाजवाद के उस रूप का जनक माना जानेवाला था जो साम्यवाद कहलाता है। उसका नाम था कार्ल मार्क्स। वह सिर्फ धुंधले विचारोंवाला दार्शनिक या इल्मी सिद्धान्तों की चर्चा करनेवाला प्रोफेसर नहीं था। वह एक व्यावहारिक दार्शनिक था और उसका तरीका था विज्ञान की तकनीक को राजनीतिक व आर्थिक समस्याओं के अध्ययन में लगाकर दुनिया के दुखों का इलाज खोज निकालना। उसका कहना था—"अबतक फिलासफी का काम सिर्फ संसार की व्याख्या करना रहा है, साम्यवादी फिलासफी का लक्ष्य होना चाहिए दुनिया को बदल देना।" एंजेल्स नामक एक दूसरे व्यक्ति के सहयोग से उसने 'साम्यवादी

घोषणापत्र"[1] निकाला, जिसमे उसकी फिलासफी की रूप-रेखा दी गई थी। बाद मे उसने जर्मन भाषा मे एक मोटी पुस्तक 'पूजी'[2] लिखी, जिसमे उसने वैज्ञानिक ढंग से दुनिया के इतिहास की आलोचना की और यह बताया कि समाज का विकास किस दिशा मे हो रहा है और इस प्रक्रिया की रफ्तार किस तरह बढ़ाई जा सकती है। यहाँ मैं मार्क्स की फिलासफी समझाने की कोशिश नहीं करूँगा। लेकिन तुम्हें यह जरूर याद रखना चाहिए कि मार्क्स के इस महाग्रंथ का साम्यवाद के विकास पर जबर्दस्त असर पडा और आज यह साम्यवादी रूस की 'बाइबिल' बन गया है।

दूसरी मशहूर पुस्तक, जो इस सदी के बीच के लगभग इंग्लैण्ड मे निकली, और जिसने बडी खलबली पैदा कर दी, डार्विन की 'ओरिजिन ऑफ स्पीशीज'[3] थी। डार्विन प्रकृति शास्त्री था, यानी वह प्रकृति (कुदरत) के और खासकर बनस्पतियो व जीव-जन्तुओ के, निरीक्षण व अध्ययन मे लगा रहता था। बहुत-से नमूनो की मदद से उसने यह बतलाया कि प्रकृति मे वनस्पतियो और जीव-जन्तुओ का विकास कैसे हुआ, प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया से किस तरह एक वर्ग दूसरे मे बदल गया और किस तरह जीवो के सरल रूप धीरे-धीरे ज्यादा पेचीदा बन गये। इस तरह का वैज्ञानिक तर्क ससार की और जीव-जन्तुओ व मनुष्य की सृष्टि के बारे मे कुछ मजहबी उपदेशो के बिलकुल खिलाफ पडता था। इसलिए उस समय वैज्ञानिको और इन उपदेशो मे विश्वास रखनेवालो के बीच एक बडा वाद-विवाद पैदा हो गया। तथ्यो के बारे मे असली झगडा इतना नही था, जितना सारी जिन्दगी की तरफ रुख के बारे मे। लग मजहबी रुख ज्यादातर भय, जादू-टोना और अन्ध-विश्वास का था। तर्क को बढ़ावा नही दिया जाता था और लोगो से कहा जाता था कि जो कुछ उन्हे बतलाया जाय, उसी मे विश्वास करें, यह सवाल न करे कि ऐसा क्यो होता है। बहुत-से विषय पवित्रता और दीनदारी के रहस्यवादी गिलाफ मे लपेट दिये गए थे और उन्हे खोलने या छूने की मनाही थी। विज्ञान की भावना व तरीके इमसे बिलकुल जुदा थे। विज्ञान तो हरेक चीज की खोज करना चाहता था, किसी बात को बिना किसी ननु-नच के मानने के लिए तैयार नही था, न किसी विषय की मानी हुई पवित्रता से डरकर भागनेवाला था। वह हरेक बात की गहराई मे जाता था, अन्ध-विश्वासो को दूर भगाता था और सिर्फ उन्ही बातो मे विश्वास करता था, जो प्रयोग या तर्क से साबित की जा सकती हो।

पथराये हुए इस मजहबी रुख के साथ लडाई मे विज्ञान की भावना की जीत हुई। इन बातो पर विचार करनेवाले ज्यादातर लोग पहले ही, शायद अठारहवी

---

[1] Communist Manifesto by Marx and Engels
[2] Das Capital. [3] Origin of Species—"प्राणिवर्ग की उत्पत्ति"

सदी से ही, बुद्धिवादी हो गये थे। तुम्हे याद होगा कि क्रान्ति से पहले फ्रान्स में दार्शनिक विचारो की लहर का मैंने तुमसे ज़िक्र किया था। लेकिन अब यह परिवर्तन समाज के अन्दर और भी गहरा पहुँच गया। औसत दर्जे के पढे-लिखे आदमी पर भी अब विज्ञान की प्रगति का असर पडने लगा। वह शायद इस विषय पर बहुत गहराई से विचार नही करता था और न विज्ञान के बारे मे उसकी ज्यादा जानकारी ही थी। लेकिन फिर भी वह अपने सामने खुलनेवाले आविष्कारो और खोजो के हजूम से चकित हुए बिना न रह सका। रेल, बिजली, तार, टेलीफोन, ग्रामोफोन और ऐसी ही बहुत-सी चीजें एक के बाद दूसरी निकलती रही और ये सब विज्ञान के तरीको की ही सन्तानें थी। इनका विज्ञान की कामयाबियो के रूप मे उत्साह से स्वागत किया गया। लोगो ने देखा कि विज्ञान ने सिर्फ मनुष्य का ज्ञान ही नही बढाया बल्कि प्रकृति पर मनुष्य का काबू भी बढा दिया। इसमे ताज्जुब की कोई बात नही कि अन्त मे विज्ञान की जीत हुई और लोगो ने इस सारी शक्तियोवाले नये देवता के सामने भक्ति-भाव से सिर झुका दिया। उन्नीसवी सदी के वैज्ञानिक बिलकुल निचन्त हो गये और अपने को अफलातून समझने लगे और उन्होंने अपनी पक्की रायें बना ली। पचास वर्ष पहले के उन दिनो से अब तक विज्ञान ने बडी भारी प्रगति कर ली है, लेकिन आज का रुख, उन्नीसवी सदी के उस निचन्ती व अफलातूनी रुख से बहुत जुदा है। आज का सच्चा विज्ञानी महसूस करता है कि ज्ञान का महासागर बहुत लम्बा-चौडा और असीम है, और हालांकि वह इसे पार करने की कोशिश मे है, फिर भी वह पहले के वैज्ञानिको की बनिस्वत कम घमण्डी और कम हठी है।

उन्नीसवी सदी का दूसरा मार्के का पहलू था पश्चिम मे लोक-शिक्षा की भारी प्रगति। शासक वर्गों के बहुत-से लोगो ने इसका बडे ज़ोरो से विरोध किया। उनका कहना था कि इससे आम लोग अपनी हालत से बेज़ार हो जायँगे, और राज-द्रोही, गुस्ताख व अ-ईसाई बन जायँगे। इस दलील के मुताबिक ईसाइयत का अर्थ है अज्ञान, और मालदारो व सत्ताधारियो का हुक्म राज़ी-राज़ी बजाना। लेकिन इस विरोध के बावजूद प्राइमरी स्कूल खोले गये और लोक-शिक्षा का फैलाव हुआ। उन्नीसवी सदी की दूसरी बहुत-सी ख़ास बातो की तरह यह भी नये उद्योगवाद का ही एक नतीजा था। क्योंकि बडे-बडे कारखानो और बडी मशीनो के लिए उद्योगी कुशलता की जरूरत थी और यह सिर्फ शिक्षा से ही पैदा की जा सकती थी। उस ज़माने के समाज को सब तरह के कारीगर मज़दूरो की सख्त ज़रूरत थी, उसकी यह ज़रूरत लोक-शिक्षा से पूरी हुई।

प्रारम्भिक शिक्षा के इस चौ-तरफा फैलाव ने पढ़े-लिखे लोगो का एक बहुत बडा वर्ग पैदा कर दिया। ये शिक्षित तो नही कहे जा सकते थे, लेकिन पढ-लिख

सकते थे, और इस तरह अख़बार पढ़ने की आदत चल पड़ी। सस्ते अखबार निकले और उनका बडा भारी प्रचार हुआ। लोगों के दिमागों पर ये जबर्दस्त असर डालने लगे। यह असर ऐसा हुआ कि अक्सर लोगों मे ग़लतफ़हमियाँ फैला देते थे और उनकी भावनाओं को किसी पड़ोसी देश के खिलाफ उभाड देते थे, जिससे युद्ध ठन जाता था। लेकिन कुछ भी हो, 'प्रेस' यानी 'अखबारी-वर्ग' पक्के तौर पर ऐसी शक्ति बन गया, जिसे दर-गुजर नही किया जा सकता था।

जो कुछ मैंने इस पत्र मे लिखा है, वह ज्यादातर यूरोप पर, और खासकर पश्चिमी यूरोप पर, लागू होता है। कुछ हद तक उत्तरी अमेरिका पर भी लागू होता है। दुनिया के बाकी हिस्से और जापान व अफीका को छोडकर तमाम एशिया और यूरोप की नीति को चुपचाप देखनेवाले और उसकी मार को सहनेवाले एजेण्ट रह गये। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, उन्नीसवीं सदी यूरोप की सदी थी। सारी तसवीर यूरोप से ही भरी हुई दिखाई देती थी, यूरोप दुनिया के रगमच के बीच मे खडा हुआ था। पुराने जमाने मे ऐसे भी लम्बे-लम्बे अर्से हो चुके हैं, जबकि यूरोप पर एशिया का दबदबा था। ऐसे भी जमाने थे जब मिस्र, ईरान, भारत, चीन, यूनान, रोम या अरब मे सभ्यता और उन्नति के केन्द्र थे। मगर पुरानी सभ्यताओं की जान निकल गई और वे पथरा गईं और उनके सिर्फ़ निशान बाकी रह गये। परिवर्तन और उन्नति के जानदार तत्व उनमे से निकल गये और जान दूसरे मुल्को मे चली गई। अब यूरोप की बारी थी, और यूरोप इसलिए और भी ज्यादा हावी हो गया कि आवा-जाई के साधनो की प्रगति ने दुनिया के सब हिस्सों मे आसानी से और बहुत जल्दी पहुँचना सम्भव कर दिया था।

उन्नीसवी सदी ने यूरोपीय सभ्यता को फूलते-फलते देखा। इसे मध्यम-वर्गी (बुर्जुआ) सभ्यता कहा जाता है, क्योकि उद्योगी पूंजीवाद से पैदा हुआ मध्यमवर्ग ही इस पर हावी था। मैं तुम्हें इस सभ्यता की बहुत-सी परस्पर-विरोधी और खराब बातें बतला चुका हूँ। हम भारत और पूर्व के निवासियो ने खास तौर पर इन खराबियो को देखा और उनकी मार सही। लेकिन कोई भी देश या कौम महानता के दर्जे पर नही पहुँच सकती, जबतक कि उसमे महानता का थोडा-बहुत माद्दा न हो। पश्चिमी यूरोप मे वह माद्दा था। यूरोप की शान आखिर उसकी फौजी ताकत पर इतनी टिकी हुई नही थी, जितनी उन गुणो पर, जिन्होंने कि उसे महान् बनाया। यहाँ सब जगह जान और जानदारी और रचना-शक्ति की बहुतायत थी। बडे-बडे कवि, लेखक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, सगीतज्ञ, इजीनियर और कर्मवीर वहाँ पैदा हुए। और इसमे कोई शक नही कि पश्चिमी यूरोप मे एक अदना आदमी की हालत भी इतनी अच्छी थी, जितनी पहले कभी नही रही। लन्दन, पेरिस, बर्लिन, न्यूयार्क आदि राजधानियाँ दिन-पर-दिन

बढ़ते गई, उनकी इमारतें दिन-पर-दिन ऊँची होती गईं, विलास बढ़ता गया, और विज्ञान ने मनुष्य की कड़ी मेहनत और मशक्कत को कम करनेवाले और जीवन का सुख व आनन्द बढ़ानेवाले हजारो तरीके ढूंढ निकाले। आसूदा लोगो के जीवन मे मिठास और संस्कृति आ गई और वे कुछ हाल-मस्त मगरूर और नाजुक-मिजाज बन गये। यह सभ्यता की एक सुहावनी तिपहरी या शाम जैसी मालूम होती है।

इस तरह उन्नीसवी सदी के पिछले हिस्से मे यूरोप की खुशनुमा और खुशहाल शक्ल बन गई थी, और कम-से-कम ऊपर से ऐसा मालूम होता था कि यह मधुर संस्कृति और सभ्यता कायम रहेगी और सफलता-पर-सफलता हासिल करती जायगी। लेकिन अगर कोई इसकी तह के नीचे झांककर देखता तो उसे एक अजीब हलचल और बहुत-से बदनुमा नजारे दिखाई देते। क्योंकि, बहुत करके यह खुशहाल संस्कृति सिर्फ यूरोप के ऊँचे वर्गों के लिए थी और बहुत-से देशो और बहुत-सी कौमो के शोषण पर टिकी हुई थी। तुम्हे इसमे कुछ परस्पर-विरोधी बातें, जिनका जिक्र मैंने किया था, और राष्ट्रीय वैर-भाव व साम्राज्यवाद की कठोर व जालिम शक्ल दिखाई देगी। तब तुम्हारा उन्नीसवी सदी की इस सभ्यता के टिकाऊपन मे या जादू मे इतना विश्वास न रहेगा। इसका ऊपरी शरीर तो काफी सुन्दर था, लेकिन इसके भीतर एक नासूर था, इसकी सेहत और प्रगति की तो बड़ी चर्चा थी, लेकिन इस मध्यमवर्गी सभ्यता के मर्म-स्थानो मे दीमक लग गई थी।

और १९१४ ई० मे एकदम धड़ाका हुआ। सवा चार वर्ष की लड़ाई के बाद यूरोप उसमें से बच जरूर निकला, लेकिन ऐसे भयकर घावो के साथ, जो अभी तक भरे नही है। लेकिन इस बारे मे मैं तुम्हे फिर बताऊँगा।

: १०९ :

## भारत में युद्ध और विद्रोह

२७ नवम्बर, १९३२

हमने उन्नीसवी सदी का काफी लम्बा सिंहावलोकन किया है। आओ, अब हम दुनिया के कुछ हिस्सो पर ज्यादा बारीकी से गौर करें। हम भारत से शुरू करेंगे।

कुछ समय पहले मैंने तुम्हें बताया था कि अंग्रेजो ने किस तरह अपने मुकाबलेदारो पर विजय पाई। नेपोलियनी युद्धो के दिनो मे फ्रान्सीसी यहाँ से पूरी तरह उखाड़ फेंके गये थे। मराठो, मैसूर के टीपू सुलतान और पंजाब के सिक्खो ने अंग्रेजो को कुछ समय तक रोके रक्खा, लेकिन वे ज्यादा दिनो तक उनका मुकाबला नही कर सके। जाहिर है कि अंग्रेज सबसे ज्यादा ताकतवर और हरबे-हथियारो से

भारत १८५७ की क्रान्ति के समय
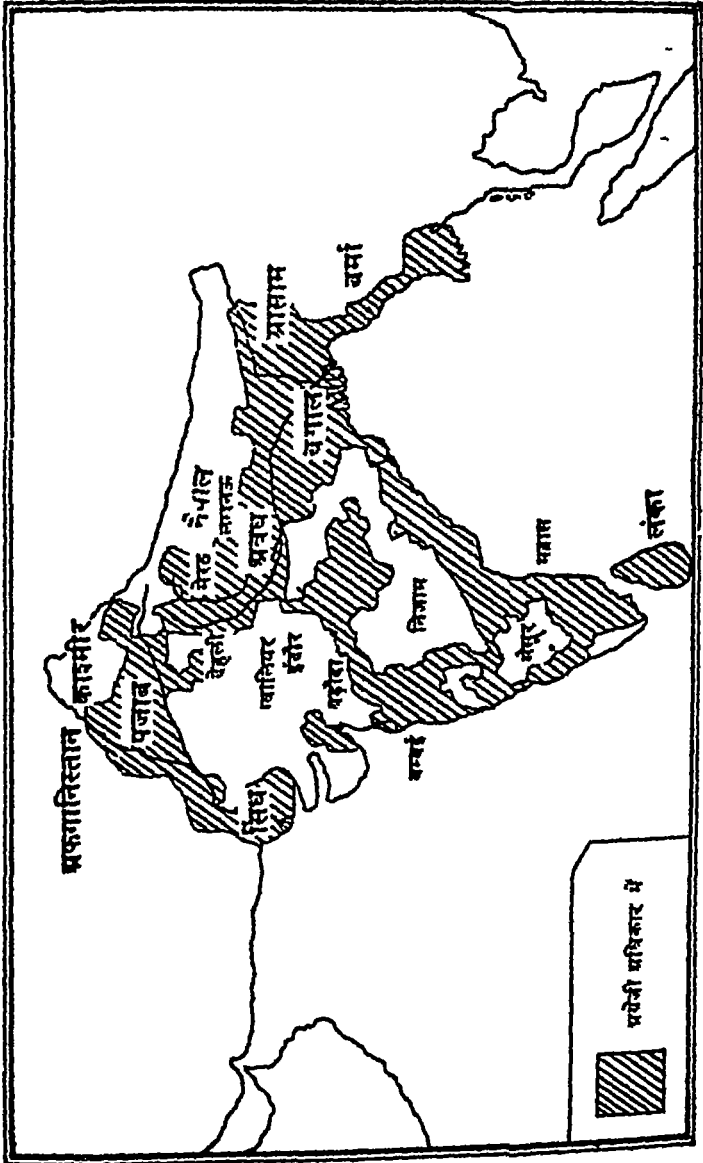
लैस शक्ति थे। उनके हथियार बढिया थे, उनका सगठन बढिया था, और इन सबसे ऊपर उनकी समुद्री शक्ति थी, जिसका वे सहारा ले सकते थे। अगर वे हार भी जाते, जैसा कि अक्सर होता था, तो भी उन्हे उखाड़ा नही जा सकता था, क्योंकि समुद्री रास्तो पर उनका कब्ज़ा होने की वजह से वे दूसरे साधनो की मदद ले सकते थे। लेकिन देशी ताकतों के लिए तो हार का अक्सर मतलब था पूरी तबाही, जिसका कोई इलाज नही हो सकता था। अंग्रेज़ सिर्फ ज्यादा सामान से लैस, लडाके और अच्छी सगठन-शक्तिवाले ही न थे, बल्कि वे अपने मुकामी मुकाबलेदारो से कही ज्यादा चालाक भी थे, और उनकी आपसी दुश्मनियो से पूरा फायदा उठाते रहते थे। इसलिए अंग्रेजो की ताकत होनहार की तरह बढती गई और एक-एक करके सब मुक़ाबलेदार पछाड दिये गए। एक को पछाडने मे अक्सर दूसरो की भी मदद ली गई और फिर इनकी भी बारी आ गई। ताज्जुब की बात है कि भारत के ये सामन्ती सरदार उस समय ज़रा भी दूरन्देश न थे। बाहरी दुश्मन के खिलाफ आपस मे मिलकर एक हो जाने का उन्होने खयाल तक नही किया। हरेक अकेले हाथो लडता था और हार जाता था, और यही उसका मानना था।

जैसे-जैसे अंग्रेजो की ताकत बढती गई, वह दिन-पर-दिन ज्यादा हमलावर और सरकश होती गई। वह किसी बहाने से, या बिना किसी बहाने के ही युद्ध छेडने लगी। ऐसे बहुत-से युद्ध हुए। उन सबका हाल लिख कर मैं तुम्हे उकताना नही चाहता। युद्ध कोई सुहावने विषय नही हैं, और इन्हे इतिहास मे ज़रूरत से बहुत ज्यादा महत्व दे दिया गया है। लेकिन अगर मैं इनके बारे मे थोडा-बहुत भी न कहूँ तो तसवीर अधूरी रह जायगी।

मैसूर के हैदरअली और अंग्रेजो के बीच हुए दो युद्धो का हाल मैं तुम्हे पहले बता चुका हूँ। इनमे हैदरअली बहुत हद तक सफल रहा। उसका पुत्र टीपू सुलतान अंग्रेजो का कट्टर दुश्मन था। उसे ख़त्म करने के लिए दो और युद्ध हुए, एक १७९० से १७९२ ई० तक और दूसरा १७९९ ई० मे। टीपू लडता हुआ मारा गया। मैसूर शहर के पास अब भी तुम उसकी पुरानी राजधानी श्रीरंगपट्टम के खण्डहर देख सकती हो, जहाँ वह दफ़नाया गया था।

अब अंग्रेजो की सत्ता को चुनौती देनेवाले मराठे बाकी रह गये। पश्चिम मे पेशवा था, और ग्वालियर का सिन्धिया, इन्दौर का होल्कर व कुछ दूसरे सरदार भी थे। लेकिन दो बडे मराठे राजनीतिज्ञो की मृत्यु—ग्वालियर के महादजी सिन्धिया की १७९४ ई० मे और पेशवा के मन्त्री नाना फडनवीस की १८०० ई०—के बाद, मराठो की ताकत तहस-नहस हो गई। फिर भी मराठो ने बहुत-सी टक्करें ली, और १८१९ ई० मे आखिरी हार के पहले, उन्होंने अंग्रेज़ो को कई बार हराया। मराठे सरदार एक-एक करके हरा दिये गए, हरेक सरदार दूसरे को मदद न

पहुँचाकर उसका पतन देखता रहा। सिन्धियाँ और होल्कर अंग्रेजो की प्रभुता कबूल करके मातहती शासक बन गये। बड़ौदा के गायकवाड़ ने तो पहले ही विदेशी शक्ति के साथ समझौता कर लिया था।

मराठो का हाल खत्म करने के पहले मैं एक नाम का जिक्र कर देना चाहता हूँ, जो मध्य-भारत मे काफी मशहूर हो चुका है। यह नाम है अहिल्याबाई का, जो १७६५ से १७९५ ई० तक यानी तीस वर्ष तक, इन्दौर की रानी थी। जिस समय वह गद्दी पर बैठी, वह तीस वर्ष की नौजवान विधवा थी, और अपने राज्य के प्रशासन मे वह बडी खूबी से सफल रही। अलबत्ता उसने पर्दा कभी नही किया। मराठो ने कभी पर्दे को नही माना। वह खुद राज्य का कारोबार देखती थी, खुले दरबार मे बैठती थी, और उसने इन्दौर को एक छोटे-से गाँव से बढाकर मालदार शहर बना दिया। उसने युद्धो को टाला, शान्ति कायम रक्खी, और अपने राज्य को ऐसे समय मे खुशहाल बनाया, जबकि भारत का ज्यादातर हिस्सा उथल-पुथल की हालत मे था। इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं है कि आज भी वह मध्य-भारत मे सती की तरह पूजी जाती है।

आखिरी मराठा-युद्ध ने कुछ ही पहले, १८१४ से १८१६ ई० तक, अंग्रेजो का नेपाल से एक युद्ध हुआ था। पहाडी इलाके मे उन्हे बडी दिक्कतें उठानी पडी, लेकिन आखिर मे उनकी जीत हुई और देहरादून का यह ज़िला, जहाँ पर जेल में बैठा हुआ मैं यह लिख रहा हूँ, और कुमायूं और नैनीताल, अंग्रेजी हुकूमत मे आ गये। तुम्हे शायद याद होगा कि चीन के बारे मे एक पत्र मे मैंने तुम्हें चीन की फौज के अद्भुत कारनामो का हाल लिखा था कि वह तिब्बत को लाँघकर हिमालय के ऊपर होकर चली आई और गुरखो को उन्ही के घर, नेपाल मे, हरा गई। यह घटना ब्रिटिश-नेपाल युद्ध से सिर्फ बाईस बरस पहले की है। तबसे नेपाल ने बाकायदा चीन की अधीनता कबूल कर ली, लेकिन मेरा खयाल है कि अब वह बात नही है। नेपाल एक निराला देश है, जो बहुत पिछडा हुआ और बाकी दुनिया से बहुत कटा हुआ है। लेकिन फिर भी उसकी जगह बडी सुहावनी है और यह कुदरती दौलत का भण्डार है। कश्मीर और हैदराबाद की तरह यह मातहती राज्य नही है। यह स्वाधीन राज्य कहलाता है। लेकिन अंग्रेज इस बात की सावधानी रखते हैं कि इसकी स्वाधीनता सीमा के अन्दर ही रहे और नेपाल के बहादुर और रण-बाँकुरे लोग—गुरखे—भारत की अंग्रेजी फौजो मे भरती किये जाते है और उनका इस्तेमाल भारतवासियो को दबाये रखने के लिए किया जाता है।

पूर्व मे बरमा असम तक फैल गया था। इसलिए लगातार आगे बढनेवाले अंग्रेजों से उसकी टक्कर होना लाज़िमी था। बरमा से तीन युद्ध हुए, और हर बार अंग्रेज उसका कोई-न-कोई इलाका छीनते गये। १८२४-२६ ई० मे होनेवाले

पहले युद्ध का नतीजा हुआ असम का अंग्रेजो की अधीनता मे आना। १८५२ ई० के दूसरे युद्ध मे दक्षिणी बरमा कब्जे मे किया गया। उत्तरी बरमा, जिसकी राजधानी मांडले के पास आवा मे थी, समुद्र से बिलकुल दूर कर दिया गया, और इस तरह कट जाने पर अंग्रेजो की मुट्ठी मे आ गया। १८८५ ई० मे, बरमा से तीसरा और आखिरी युद्ध हुआ, और सारे देश पर अंग्रेजो ने अपना कब्ज़ा करके उसे ब्रिटिश साम्राज्य मे मिला लिया। लेकिन फर्जी तौर पर बरमा चीन का तावेदार था और बराबर चीन को खिराज भेजता रहता था। ध्यान देने की अनोखी बात यह है कि बरमा को साम्राज्य मे शामिल करते वक्त अंग्रेज लोग चीन भेजे जानेवाले इस खिराज को जारी रखने के लिए रजामन्द हो गये। इससे जाहिर होता है कि १८८५ ई० मे भी वे चीन की ताकत से काफ़ी घबराते थे, हालांकि चीन अपनी अन्दरूनी मुसीबतो मे ऐसा फंसा हुआ था कि वह अपने तावेदार बरमा पर हमला होते वक्त उसकी मदद न कर सका। अंग्रेजो ने १८८५ ई०, के बाद एक बार तो चीन को यह खिराज दिया और फिर बन्द कर दिया।

बरमा के युद्ध हमे १८८५ ई० तक ले आये हैं। मैं इन सबको एक साथ लेना चाहता था। लेकिन अब हमे दुबारा उत्तरी भारत की तरफ़, और इसी सदी के शुरू के भाग में, चलना चाहिए। पजाब में रणजीतसिह के मातहत एक महान् सिक्ख-राज्य कायम हो गया था। सदी के शुरू मे ही रणजीतसिह अमृतसर का स्वामी हुआ, और १८२७ ई० के करीब तमाम पजाब और कश्मीर का मालिक बन गया। १८३९ ई० मे उसकी मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बाद ही सिक्ख राज्य कमजोर हो गया और टूटने लगा। सिक्ख लोग इस पुरानी कहावत की मिसाल पेश करते हैं कि "मुसीबत मे आदमी ऊँचा उठता है, और सफलता मिलने के बाद गिर जाता है।" जब-तक सिक्ख एक अल्पसंख्यक गिरोह थे, जो जान बचाने के लिए भागे फिरते थे, तब-तक पिछले मुग़ल बादशाहो के लिए भी उन्हे दबाना मुमकिन नही हुआ। लेकिन राजनीतिक सफलता मिलते ही उनकी इस सफलता की बुनियाद कमजोर पड गई। सिक्खो और अंग्रेजो के बीच दो युद्ध हुए, पहला १८४५-४६ ई० मे और दूसरा १८४८-४९ ई० मे। दूसरे युद्ध में अंग्रेजो की चिलियावाला मे करारी हार हुई। लेकिन अन्त मे अंग्रेज पूरी तौर पर जीत गए और पजाब अंग्रेजी राज्य मे मिला लिया गया। क्योंकि तुम कश्मीरी हो, इसलिए तुम्हे यह जानकर दिलचस्पी होगी कि अंग्रेजो ने कश्मीर को जम्मू के एक राजा गुलाबसिह को पिचहत्तर लाख रुपये मे बेचा था। गुलाबसिह के लिए यह बढ़िया सौदा था, इस सौदे मे बेचारे कश्मीरियों की तो कुछ पूछ ही नही थी। कश्मीर अब अंग्रेजो की एक मातहत रियासत है और वहाँ के मौजूदा महाराजा इसी गुलाबसिह के वंशज हैं।

पजाब के उत्तर की ओर, बल्कि उत्तर-पश्चिम की ओर, अफगानिस्तान

था, और अफगानिस्तान के नजदीक ही दूसरी ओर था रूस। मध्य-एशिया में रूसी साम्राज्य के विस्तार ने अंग्रेजों का दिल दहला दिया। उन्हें डर था कि रूस कहीं भारत पर हमला न कर बैठे। करीब-करीब उन्नीसवीं सदी भर में 'रूसी खतरे' की चर्चा रही। १८३९ ई० के करीब भारत के अंग्रेजों ने अफ़गानिस्तान की तरफ़ से रत्तीभर भी छेड़-छाड़ हुए बिना उनपर हमला कर दिया। उस वक्त अफगानिस्तान की सरहद ब्रिटिश भारत से दूर थी, और पंजाब का स्वाधीन सिक्ख राज्य बीच में पड़ता था। लेकिन फिर भी सिक्खों को अपना दोस्त बनाकर अंग्रेजों ने काबुल पर धावा बोल दिया। लेकिन अफ़गानिस्तान ने भी मार्के का बदला लिया। बहुतेरी बातों में अफगान लोग चाहे कितने ही पिछड़े हुए हों, लेकिन उन्हें अपनी आजादी से प्रेम है, और उनकी हिफाज़त के लिए वे अखीर दम तक लड़ने को तैयार रहते हैं। और इसीलिए, अफ़ग़ानिस्तान किसी भी हमलावर विदेशी फौज के लिए हमेशा 'बर्रों का छत्ता' बना रहा है। हालांकि अंग्रेजों ने काबुल पर और अफगानिस्तान के कई हिस्सों पर कब्ज़ा कर लिया था, लेकिन अचानक चारों तरफ विद्रोह भड़क उठे, अंग्रेज़ वापस खदेड़ दिये गए और सारी-की-सारी अंग्रेज़ी फौज तहस-नहस हो गई। बाद में इस हार का बदला लेने के लिए एक और ब्रिटिश-हमला हुआ। अंग्रेजों ने काबुल पर कब्ज़ा करके, शहर के बड़े सायबानदार बाज़ार को बारूद से उड़ा दिया, और अंग्रेजी सिपाहियों ने शहर के बहुत-से हिस्सों में लूटमार की और आग लगा दी। लेकिन यह साफ ज़ाहिर हो गया कि अंग्रेजों के लिए बराबर युद्ध किये बिना अफगानिस्तान पर कब्ज़ा बनाये रखना आसान नहीं था। इसलिए वे वहाँ से वापस लौट आये।

करीब चालीस वर्ष बाद, १८७८ ई० में, अफगानिस्तान के अमीर या शासक ने रूस से दोस्ती कर ली तो अंग्रेज़ फिर घबराये। बहुत हद तक इतिहास दोहराया गया। एक दूसरा युद्ध हुआ, अंग्रेजों ने इस देश पर हमला किया और उनकी जीत होती हुई दिखाई दे रही थी कि इतने में ही अफ़ग़ानों ने ब्रिटिश-राजदूत और उसके दल को मौत के घाट उतार दिया और अंग्रेजी फौज को हरा दिया। अंग्रेजों ने इसका थोड़ा-बहुत बदला ले लिया और फिर इस 'बर्र के छत्ते' से दूर हट गये। इसके बहुत वर्षों बाद तक अफ़ग़ानिस्तान की अजीब हैसियत थी। अंग्रेज़ उसके अमीर को दूसरे विदेशों के साथ सीधा सम्बन्ध तो रखने नहीं देते थे, लेकिन साथ ही उसे हर साल बहुत बड़ी रकम भी देते थे। तेरह वर्ष हुए, १९१९ ई० में, तीसरा अफगान युद्ध हुआ, जिसके नतीजे से अफगानिस्तान पूरी तरह स्वाधीन हो गया। लेकिन जिस ज़माने की हम इस समय चर्चा कर रहे हैं, यह बात उसके दायरे से बाहर है।

और भी कई छोटे-छोटे युद्ध हुए। इनमें से एक युद्ध, जो बहुत ही बे-गैरती का

था, १८४३ ई० मे सिन्ध पर थोपा गया। वहाँ के ब्रिटिश एजेण्ट ने सिन्धियो को खूब धमकाया और झगड़ा मोल लेने के लिए उकसाया और फिर उन्हे कुचल कर प्रान्त को अपने राज्य मे मिला लिया। और इस कारगुजारी के लिए अंग्रेजी अफसरो को ऊपरी मुनाफे के तौर पर इनाम का रुपया भी बाँटा गया। एजेण्ट (सर चार्ल्स नेपियर) के हिस्से की रकम थी करीब सात लाख रुपये! ऐसी हालत मे यह कोई ताज्जुब की बात नही है कि उस जमाने के भारत मे बे-उसूले और हौसलेबाज अंग्रेज खिंचे चले आते थे।

१८५६ ई० मे अवध भी मिला लिया गया। इस समय अवध के शासन की हालत बहुत ही बुरी थी। कुछ समय से यहाँ का शासन नवाब-वजीर कहे जानेवाले लोगो के हाथों मे था। शुरू मे दिल्ली के मुगल बादशाह ने नवाब-वजीर को अवध मे अपना नायब मुकर्रर किया था। लेकिन मुगल साम्राज्य के पतन के बाद अवध स्वाधीन हो गया। पर ज्यादा दिन के लिए नही। पिछले नवाब-वजीर बिलकुल निकम्मे और हलके थे, और अगर वे कुछ भलाई करना भी चाहते थे, तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की दस्तन्दाजी की वजह से कर नही सकते थे। उनके हाथ मे कोई असली अधिकार बाकी नही रह गया था और अंग्रेजो को अवध के अन्दरूनी शासन मे कोई दिलचस्पी नही थी। बस, अवध टूक-टूक हो गया, और जैसा कि होना ही था, अंग्रेजी राज्य का हिस्सा बन गया।

युद्धो और राज्यो पर कब्जे किये जाने की मैं काफी ही नही, शायद काफी से भी ज्यादा चर्चा कर चुका हूँ। लेकिन ये सब एक बड़ी प्रक्रिया के ऊपरी संकेत थे, जो हो रही थी और जो रुक नही सकती थी। अंग्रेज जिस समय भारत मे आये, यहाँ की पुरानी अर्थ-व्यवस्था का टूटना शुरू हो चुका था। सामन्तीशाही की दीवारें तड़कने लगी थी। अगर उस समय विदेशी न भी आये होते तो भी सामन्ती व्यवस्था इस देश मे ज्यादा दिन टिकनेवाली न थी। यूरोप की तरह यहाँ भी धीरे-धीरे कोई नई व्यवस्था इसकी जगह ले लेती, जिसमे नये उत्पादक-वर्गो के हाथो मे ज्यादा सत्ता होती। लेकिन यह परिवर्तन होने से पहले ही, जबकि दरार ही पड़ी थी, अंग्रेज आ पहुँचे और बिना किसी खास दिक्कत के इस दरार मे घुस पड़े। भारत मे जिन राजाओ से वे लड़े और जिन्हे उन्होने हराया, वे बीते हुए और अस्त होते हुए जमाने की चीजे थी। उनके सामने कोई ठोस भविष्य नही था। इस तरह इन परिस्थितियो मे, अंग्रेजो को सफल होना ही था। उन्होने भारत मे सामन्ती व्यवस्था का अन्त जल्दी ला दिया। लेकिन, जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह अजीब बात है कि उन्होने ऊपरी तौर से इसे सहारा लगाने की कोशिश की और इस तरह भारत को नई व्यवस्था की तरफ बढ़ने मे रुकावटें डाली।

इस तरह अंग्रेज भारत मे इतिहास की एक ऐसी प्रक्रिया के कर्त्ता बन गये, जो सामन्ती भारत को नये ढंग के उद्योगी पूंजीवादी राज्य मे बदल देनेवाली

था। खुद अंग्रेजो ने इस बात को नही महसूस किया, और इसमे कोई शक नही कि वे सब राजा लोग भी, जो इनसे लडे थे, इस बारे मे कुछ नहीं जानते थे। काल के गाल मे पडी हुई कोई भी व्यवस्था जमाने की चेतावनियो को बहुत कम देख पाती है, बहुत कम महसूस करती है कि उसका उद्देश्य और काम पूरा हो चुका है, और इसलिए महाबली घटनाचक्र के हाथो बेइज्जती से खदेडे जाने के पहले ही उसे शराफत के साथ हट जाना चाहिए। इतिहास की नसीहत को भी वह बहुत कम समझ पाती है, और इस बात को भी बहुत कम महसूस करती है कि दुनिया उसे, किसी के शब्दो मे, 'इतिहास के कूडा-दान' पर छोडती हुई आगे बढती चली जा रही है। इसी तरह भारत की सामन्ती व्यवस्था ने इन सब बातो को नही समझा और व्यर्थ ही अंग्रेजो से लडती रही। इसी तरह आज भारत मे और पूर्व के दूसरे देशो मे जमे हुए अंग्रेज भी यह नही समझते कि उनके दिन बीत चुके हैं, उनके साम्राज्य के दिन बीत चुके हैं, और दुनिया ब्रिटिश साम्राज्य पर जरा भी तरस न खाती हुई उसे 'इतिहास के कूडादान' मे फेंकती हुई आगे बढती जा रही है।

लेकिन भारत मे चालू सामन्ती व्यवस्था ने उस वक्त, जबकि अंग्रेज लोग भारत मे पैर पसार रहे थे, एक बार फिर सत्ता हासिल करने का और विदेशियो को निकाल बाहर करने का आखिरी जतन किया। यह था १८५७ का महान् विद्रोह। देश भर मे अंग्रेजो के खिलाफ बडा असन्तोष और गुस्सा था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति थी रुपया बटोरना और इसके सिवा कुछ नही करना। इस नीति ने उसके बहुत-से अफ़सरो की बेखबरी और लुटेरेपन के साथ मिलकर चारो तरफ घोर तबाही मचा दी। यहाँतक कि अंग्रेजो की भारतीय फौज पर भी इसका असर पडा और कई छोटी-छोटी बग़ावतें हुईं। कितने ही सामन्ती सरदार और उनके वशज अपने इन नये स्वामियो से कुदरती तौर पर सख्त नाराज थे। इसलिए खुफिया तरीके से एक जबर्दस्त विद्रोह का संगठन किया गया। यह सगठन खासतौर से उत्तर प्रदेश के आस-पास और मध्य भारत मे फैल गया, लेकिन, भारतवासी क्या करते हैं और क्या सोचते हैं, इस बारे मे भारत के अंग्रेज इतने अन्धे रहते है कि सरकार को इसका गुमान तक नही हुआ। मालूम होता है कि कई जगहो पर एक ही साथ विद्रोह छिडने की तारीख मुकर्रर की गई थी। लेकिन मेरठ की भारतीय फौज की कुछ टुकडियो ने बहुत जल्दबाजी करके १० मई १८५७ ई० को गदर कर दिया। इस अचपके विस्फोट ने विद्रोह के नेताओ के कार्यक्रम को गडबड कर दिया, क्योकि इससे सरकार चौकन्नी हो गई। फिर भी यह विद्रोह तमाम उत्तर प्रदेश और दिल्ली मे और मध्य भारत व बिहार के कुछ हिस्सों मे फैल गया। यह सिर्फ फौजी विद्रोह नही था, बल्कि इन प्रदेशो मे अंग्रेजो के खिलाफ एक आम सार्वजनिक बग़ावत थी। महान् मुगलो के सिलसिले

के आखिरी मुगल कमजोर, बूढे और शायर बहादुरशाह को कुछ लोगो ने सम्राट् ऐलान कर दिया। इस विद्रोह ने बढकर नफरत के पात्र विदेशी के खिलाफ भारतीय स्वाधीनता-सग्राम का रूप ले लिया, लेकिन यह स्वाधीनता उसी पुराने सामन्ती ढंग की थी, जिसके सरताज निरकुश सम्राट् हुआ करते थे। आम लोगो के लिए इसमे कोई आजादी न थी। लेकिन फिर भी वह बहुत बडी सख्या मे इसमे शामिल हो गये, क्योकि एक तो वे अग्रेजो के आने को ही अपनी तबाही और गरीबी का सबब समझते थे, और दूसरे कई जगहो मे उनपर बडे-बडे जमीदारो का काबू था। मजहबी अदावतो ने भी लोगो को उकसाया। इस सग्राम मे हिन्दुओ और मुसलमानो, दोनो ने पूरा हिस्सा लिया।

कई महीनो तक उत्तर व मध्यभारत मे अग्रेजी राज मानो कच्चे धागे के सहारे लटका रहा। लेकिन विद्रोह की किस्मत का फैसला खुद भारतवासियो ने ही कर दिया। सिक्खो और गोरखों ने अग्रेजो को मदद दी। दक्षिण मे निजाम, उत्तर मे सिन्धिया, और दूसरी कई रियासतें भी उनके साथ हो गई। इन सब विमुखताओ के अलावा भी, खुद विद्रोह मे ही असफलता के बीज मौजूद थे। वह उस सामन्ती व्यवस्था के लिए लड रहा था, जिसके दिन बीत चुके थे, इसमे अच्छे नेताओ का अभाव था, इसका सगठन ठीक ढँग से नही हुआ था, और हर वक्त आपसी कलह होती रहती थी। कुछ विद्रोहियो ने अग्रेजो की बेरहमी से हत्याएँ करके भी अपने पक्ष पर कलक लगा दिया। इस जगली बर्ताव ने कुदरती तौर पर भारत के अग्रेजो को कमर कसकर खडा कर दिया और उन्होंने उसी ढंग से, बल्कि उससे भी सैकडो-हजारो गुना ज्यादा, बदला ले लिया। कहा जाता है कि कानपुर में पेशवा के वशज नानासाहब ने सुरक्षा का वादा करके भी दगा करके अग्रेज पुरुषो, स्त्रियो और बच्चो की हत्या का हुक्म दे दिया। इस घटना से अग्रेज बहुत ज्यादा गुस्से मे भर गये। इस भयानक दुर्घटना की याद दिलाने-वाला कानपुर मे एक यादगार कुआ है।

दूर-दूर की कई जगहो पर अग्रेजो को फिसादी भीडो ने घेर लिया। कभी-कभी तो उनके साथ अच्छा बर्ताव किया गया, लेकिन बहुत बार खराब। जबर्दस्त कठिनाइयाँ होते हुए भी वे खूब लडे और बहादुरी से लडे। अग्रेजो के साहस और सहन-शक्ति की एक निराली मिसाल लखनऊ का घेरा है, जिसके साथ आउटरम और हेवलॉक के नाम जुडे हुए हैं। १८५७ ई० मे दिल्ली के घेरे ने और पतन ने विद्रोह का पासा ही पलट दिया। इसके बाद और कई महीनो तक अग्रेज विद्रोह को कुचलते रहे। ऐसा करने मे उन्होने हर जगह दहशत फैला दी। बहुत बडी सख्या मे लोगो को बडी बेदर्दी के साथ गोलियो से मार दिया गया, बहुत-से लोगो की तोप के मुँह धज्जियाँ बिखेर दी गई और हजारो को सडक के किनारे के पेडो पर फाँसी चढा दिया गया। कहा जाता है कि नील नामक

एक अंग्रेज सेनापति इलाहाबाद से कानपुर तक रास्ते-भर आदमियो को फांसी पर लटकाता हुआ चला गया, यहांतक कि सडक के किनारो का एक भी पेड़ ऐसा न बचा, जो फांसी का झूला न बना दिया गया हो। हरे-भरे गांव जड-मूल से नष्ट कर दिये गए। यह सब एक बहुत ही भयानक और दर्दनाक क़िस्सा है और मुझमे इस सारे कडवे सत्य का बखान करने की हिम्मत नही है। अगर नानासाहब ने जगलीपन और दग़ाबाज़ी का बर्ताव किया, तो कितने ही अंग्रेज अफसर जगलीपन मे उससे सैकडो गुना आगे बढ गये। अगर अफसरो और नेताओ के अभाव मे बागी सिपाहियो के गिरोह बेरहम और नागवार करतूतो के दोपी ठहरते है, तो अपने अफसरो के मातहत सीखे हुए अंग्रेज़ सिपाही बेरहमी और जगलीपन मे उनसे कही आगे बढ गये थे। मै दोनो की तुलना नही करना चाहता। दोनो ही तरफ की बातें अफसोस के काबिल है। लेकिन हमारे एक-तरफा इतिहास मे भारतवासियो की दगाबाज़ी और बेरहमी का तो खूब बढा-चढाकर बखान किया गया है, लेकिन दूसरी तरफ का जिक्र तक नही किया गया है। यह भी याद रखने की बात है कि एक सगठित सरकार फिसादी भीड की तरह बर्ताव करने लगे, तो उसकी बेरहमी के मुक़ाबल्ले मे फिसादी भीड की बेरहमी कुछ भी नही है। अगर आज भी तुम अपने प्रान्त के गांवो मे घूमो, तो तुम्हें ऐसे लोग मिलेंगे, जिन्हे रोगटे खडी करनेवाली उन जुल्मो की तसवीर और भयानक याद अभी तक बनी हुई है, जो विद्रोह को कुचलने मे उनपर ढाये गए।

इस विद्रोह की दिल दहलानेवाली बातो, और उसके दमन के बीच, एक नाम सामने आता है, जो काली पृष्ठ-भूमिपर चमकता है। यह नाम है बीस साल की बाल-विधवा झासी की रानी लक्ष्मीबाई का, जो मर्दों का बाना पहनकर अंग्रेजो के ख़िलाफ़ अपनी प्रजा की नेता बनकर मैदान मे निकल आई। उसके जोश, उसकी लियाकत और उसके बेधडक साहस की बहुत-सी कहानियाँ कही जाती हैं। यहांतक कि जिस अंग्रेज सेनापति ने उसका मुकाबला किया था, उसने भी उसे बागी नेताओ मे "सबसे श्रेष्ठ और सबसे बहादुर" कहा है। वह लडती हुई मैदान मे काम आई।

१८५७-५८ ई० का विद्रोह सामान्ती भारत की आखिरी टिमटिमाहट थी। इसने बहुत-सी बातो का अन्त कर दिया। इसने महान् मुगलवश का सिल-सिला खत्म कर दिया, क्योकि बहादुरशाह के दोनो पुत्रों और एक पोते को हडसन नामक एक अंग्रेज अफसर ने दिल्ली ले जाते वक्त बिना किसी वजह या उत्तेजना के, बडी बेदर्दी के साथ गोलियो से उडा दिया। इस तरह ज़लील होकर तैमूर, बाबर और अकबर के वश का सिलसिला खत्म हो गया।

विद्रोह ने भारत मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का भी अन्त कर

दिया। शासन की वागडोर ब्रिटिश सरकार ने सीधी अपने हाथ मे ले ली और अंग्रेज़ी गवर्नर-जनरल अव 'वाइसराय' के रूप मे खिला। उन्नीस वर्ष वाद, १८७७ ई० मे, इंग्लैण्ड की रानी ने, विज़ैन्तीन साम्राज्य और सीज़रो की पुरानी उपाधि के भारतीय रूप 'कैसरे हिन्द' की उपाधि ले ली। मुग़ल राजवंश अव खत्म हो गया था। लेकिन निरंकुशता की भावना ही नही बल्कि उसके चिह्न भी बाक़ी रह गये, और इंग्लैण्ड मे एक दूसरा महान् मुगल वैठ गया।

## ११०

# भारतीय कारीगर की रोज़ी छिन जाती है

१ दिसम्बर, १९३२

भारत मे उन्नीसवी सदी के युद्धो का हाल हम खत्म कर चुके। मुझे इससे खुशी है। अव हम इस समय की दूसरी वडी-वडी घटनाओ पर विचार कर सकते हैं। लेकिन यह याद रखना कि इंग्लैण्ड को फायदा पहुंचानेवाले ये युद्ध भारत के ही खर्चे पर लड़े गये थे। अंग्रेजो ने भारतवासियो को जीतने का खर्चा उन्ही-से वसूलने का तरीका वडी सफलता के साथ वरता। अपने पडोसी वरमियो और अफ़ग़ानो से भारतवासियो का कोई झगडा नही था, लेकिन इन्हे जीते जाने की क़ीमत भी उन्होंने अपनी जाने और अपना माल देकर चुकाई। इन युद्धो ने कुछ हद तक भारत को ग़रीव वना दिया, क्योंकि युद्ध का मतलव ही है दौलत का नाश। जैसा कि हम सिन्ध के मामले मे देख चुके है, युद्ध का मतलव जीतनेवालो को लूट का माल मिलना भी है। ऐसे ही व दूसरे कारणो से पैदा हुई गरीवी के वावजूद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के खज़ाने मे सोने और चांदी की नदी वहती रही, जिससे कि उसके हिस्सेदारो को भारी मुनाफे मिलते रहे।

मेरा खयाल है कि मैं तुम्हे वतला चुका हूँ कि भारत मे अंग्रेज़ी सत्ता की शुरुआत के दिन उन किस्मत आज़मानेवाले व्यापारियो के दिन थे, जिन्होंने यहां तिजारत और लूटमार की अन्धाधुन्धी मचा रक्खी थी। इस तरह ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके कारिन्दे भारत की वेशुमार जमा दौलत ले गये। इसके वदले में भारत को वास्तव मे कुछ भी नही मिला। मामूली तिजारत मे कुछ आपसी देन-लेन हुआ करता है। लेकिन अठारहवी सदी के पिछले हिस्से मे, पलासी की लडाई के वाद से, सारी दौलत एक ही तरफ—इंग्लैण्ड—को जाने लगी। इस तरह भारत की पुरानी सम्पत्ति का ज़्यादा हिस्सा छिन गया, और इसने परिवर्तन के गाढ़े समय मे इंग्लैण्ड के औद्योगिक विकास मे मदद पहुंचाई। भारत मे तिजारत और नंगी-लूट पर टिका हुआ यह पहला ब्रिटिश-काल मोटे तौर पर, अठारहवीं सदी के अन्त के साथ खत्म हुआ।

अंग्रेजी राज का दूसरा काल सारी उन्नीसवी सदी है, जिसमे भारत इग्लैण्ड के कारखानो को भेजे जानेवाले कच्चे माल का एक जबर्दस्त भण्डार और वहाँ के तैयार माल की बिक्री के लिए एक हाट-बाजार बन गया। यह सब भारत की प्रगति और उसके आर्थिक विकास का खून करके किया गया था। इस सदी के पहले भाग मे भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन था, जो एक व्यापारी कम्पनी थी और जो रुपया पैदा करने के उद्देश्य से कायम हुई थी। लेकिन बाद में ब्रिटिश पार्लमेण्ट भारतीय मामलो पर दिन-पर-दिन ज्यादा ध्यान देने लगी। अन्त मे, जैसा कि हमने पिछले पत्र मे देखा है, १८५७-५८ ई० के विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत के राज को सीधा अपने हाथ मे ले लिया। लेकिन इससे बुनियादी नीति मे कोई बडा फर्क नही पडा, क्योकि सरकार उसी वर्ग की प्रतिनिधि थी, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मालिक था।

भारत और इग्लैण्ड के आर्थिक हितो के बीच साफ टक्कर थी। चूंकि सारी सत्ता इग्लैण्ड के हाथ मे थी, इसलिए इस टक्कर का फैसला हमेशा इंग्लैण्ड के ही हक मे होता था। इग्लैण्ड के उद्योगीकरण से पहले ही एक मशहूर अंग्रेज लेखक ने भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज के नुकसान पहुँचानेवाले नतीजों की तरफ इशारा कर दिया था। यह व्यक्ति था एडम स्मिथ, जिसे राजनीतिक अर्थशास्त्र का जन्मदाता कहा जाता है। 'वैल्थ ऑफ् नेशन्स'—यानी 'राष्ट्रो की सम्पत्ति' नामक अपनी मशहूर किताब मे, जो १७७६ ई० मे ही प्रकाशित हो गई थी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी का जिक्र करते हुए, वह कहता है—

> "चाहे किसी भी देश के लिए हो, ऐसी सरकार जो सिर्फ व्यापारियो की कम्पनी से ही बनी हो, सबसे बुरी सरकार होती है। राजा होने के नाते तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हित इसीमे है कि उसके भारतीय उपनिवेश को भेजा जानेवाला यूरोपीय माल वहाँ सस्ते-से-सस्ता बिके और वहाँ से लाया हुआ माल यहाँ महगा-से-महगा बिके। लेकिन व्यापारी की हैसियत से उसका हित इससे बिलकुल उलटी बात मे है। राजा के नाते तो उसके हित बिलकुल वही होने चाहिए, जो उसके राज के देश के हैं। लेकिन व्यापारियो की हैसियत से उसका हित उस देश के हितो से बिलकुल उलटा है।"

मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि जब अंग्रेज भारत मे आये, उस समय यहाँ की पुरानी सामन्ती व्यवस्था नष्ट हो रही थी। मुगल-साम्राज्य के पतन ने भारत के कई हिस्सो मे राजनीतिक हगामा व गडबडी पैदा कर दिये थे। लेकिन फिर भी, जैसा कि भारतीय अर्थशास्त्री रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है—"अठारहवीं सदी मे भारत एक बड़ा उद्योग-प्रधान और साथ ही बडा कृषि-प्रधान देश था,

और भारतीय करघो का माल एशिया और यूरोप के बाजारो मे बिकता था।" अपने इसी पत्र-व्यवहार मे मैं तुम्हें बतला चुका हूं कि प्राचीन काल मे विदेशी बाजारो पर भारत का कब्जा था। मिस्र की चार हजार वर्ष पुरानी मोमियाइयाँ बढिया भारतीय मलमल मे लपेटी हुई मिली हैं। भारतीय कारीगरो की दस्तकारी पूर्व मे और पश्चिम मे मशहूर थी। देश का राजनीतिक पतन होने पर भी यहाँ के कारीगर अपने हाथ के हुनर को भूले नही थे। अग्रेज और दूसरे विदेशी व्यापारी, जो भारत मे तिजारत की तलाश मे आते थे, यहाँपर विदेशी माल बेचने के लिए नही, बल्कि यहाँ की बनी हुई बढिया और नफीस चीजे खरीदकर यूरोप मे खूब मुनाफे पर बेचने के लिए ले जाने को आते थे। इस तरह शुरू मे अग्रेज व्यापारी यहाँ के कच्चे माल से नही, बल्कि यहाँ के तैयार माल से खिचकर यहाँ आये थे। यहां हुकूमत हासिल करने से पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत के बने सूती, ऊनी, रेशमी और जरी के माल का बडा लाभदायक व्यापार करती थी। कपडे के उद्योग मे, यानी सूती, रेशमी और ऊनी माल बनाने मे इस देश की कला खास तौर पर ऊँचे दर्जे को पहुँच गई थी। रमेशचन्द्र दत्त के शब्दो में—"बुनाई लोगो का राष्ट्रीय उद्योग था और कताई लाखो स्त्रियो का धन्धा था।" भारत के बने हुए कपडे इग्लैण्ड और यूरोप के दूसरे हिस्सो को, और चीन, जापान, बरमा, अरब, फ्रान्स और अफ्रीका के कुछ हिस्सो को भेजे जाते थे।

क्लाइव ने बगाल के शहर मुर्शिदाबाद का, १७५७ ई० के समय का, बयान करते हुए लिखा है कि "यह नगर लन्दन के समान लम्बा-चौडा, घनी आबादीवाला और मालदार है। लेकिन फर्क यह है कि इस शहर मे ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके पास लन्दन के मुकाबले मे बहुत ही ज्यादा सम्पत्ति है।" यह पलासी की लडाई के साल की बात है जब अग्रेजो ने अपने कदम बगाल मे पूरी तरह जमा लिये थे। राजनीतिक गिरावट के इस क्षण मे भी बगाल मालदार था और बहुत-से उद्योग-धन्धो से भरा-पूरा था और दुनिया के कई हिस्सो मे अपना बढिया कपडा भेजता रहता था। ढाका शहर अपनी नफीस मलमलो के लिए खास तौर पर मशहूर था और इन मलमलो का विदेशी व्यापार बहुत बढा-चढा था।

मतलब यह कि इस जमाने का भारत निरे कृषि-प्रधान और देहाती दर्जे से बहुत ऊँचा बढा हुआ था। यह ठीक है कि यह देश ज्यादातर कृषि-प्रधान था, अब भी है, और आगे भी बहुत दिनो तक रहेगा। लेकिन उस समय यहाँ देहाती-जीवन और खेती के साथ-साथ नागरिक जीवन का भी विकास हो चुका था। इन नगरो मे कारीगर और दस्तकार जमा होते थे। और सामूहिक रूप से माल तैयार करते थे, यानी छोटे-छोटे कारखाने थे, जिनमे सौ या सौ से ज्यादा कारीगर काम करते थे। अलबत्ता इन कारखानो का मुकाबला बाद मे आनेवाले मशीन

युग के बडे-बडे कारखानो से नही किया जा सकता। लेकिन उद्योगवाद के आने से पहले पश्चिमी यूरोप मे, और खासकर नीदरलैण्ड मे, इस तरह के बहुत-से छोटे-छोटे कारखाने थे।

भारत इस समय परिवर्तनो की अवस्था मे था। यह माल तैयार करनेवाला देश था और शहरो मे एक मध्यम-वर्ग तैयार हो रहा था। इन कारखानो के मालिक पूंजीपति थे, जो कारीगरो को कच्चा माल देकर उनसे माल तैयार करवाते थे। इसमे शक नही कि समय आने पर ये लोग भी इतने शक्तिशाली हो जाते कि यूरोप की तरह सामन्ती वर्ग को हटाकर उसकी जगह ले लेते। लेकिन ठीक इसी समय अग्रेज बीच मे आ कूदे और नतीजा यह हुआ कि भारत के उद्योग-धन्धो को सख्त चोट लगी।

शुरू-शुरू मे तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय उद्योग-धन्धो को बढावा दिया, क्योकि इनसे वे पैसा पैदा करते थे। विदेशो मे भारतीय माल की बिक्री से इग्लैण्ड मे सोना-चादी आते थे। लेकिन इग्लैण्ड के कारखानेदार इस होड को पसन्द नही करते थे, इसलिए अठारहवी सदी के शुरू मे उन्होने अपनी सरकार को इग्लैण्ड मे आनेवाले भारतीय माल पर चुगी लगाने पर आमादा कर दिया। कुछ भारतीय चीजो का इग्लैण्ड मे आना बिलकुल रोक दिया गया, और मेरे खयाल से भारत के बने कुछ कपडो को पहनकर निकलना जुर्म तक करार दिया गया था। वे लोग अपने बायकाट पर कानून की मदद से अमल करा सकते थे। और यहाँ भारत मे इन दिनो अग्रेजी कपडे के बायकाट की चर्चा ही किसीको जेल पहुँचा देने के लिए काफी है! भारतीय माल के बायकाट की इंग्लैण्ड की यह नीति इतने ही तक रहती तो भी ज्यादा नुकसान की बात न थी, क्योकि भारत के लिए और भी बहुत हाट-बाजार थे, लेकिन उस समय सयोग से ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मारफत इग्लैण्ड का भारत के बहुत बडे हिस्से पर कब्जा था, इसलिए उसने अब इरादा करके भारतीय उद्योगो का गला घोटकर ब्रिटिश उद्योगो को आगे बढाने की नीति शुरू की। अब अग्रेजी माल बिना किसी चुगी के भारत मे आने लगा। यहाँ के दस्तकारो और कारीगरो को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कारखानो मे काम करने के लिए तरह-तरह से सताया और मजबूर किया गया। यहाँ तक कि कितनी ही रवानगी चुगियाँ, जो माल को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने पर चुकानी पडती थी, लगाकर भारत के अन्दरूनी व्यापार के हाथ-पैर काट दिये गए।

भारत का कपडे का उद्योग इतने अच्छे ढंग का था कि इग्लैण्ड का बढता हुआ मशीन उद्योग भी उससे बाजी न ले सका और उसकी रक्षा करने के लिए भारतीय माल पर अस्सी फीसदी के करीब चुगी लगानी पडी। शुरू उन्नीसवी सदी मे भारत

सिलसिला जारी रहा, और वास्तव मे कुछ हद तक, अब भी चल रहा है। हां, पिछले कुछ वर्षों मे इसमे रोक-थाम ज़रूर हुई, जिसपर हम आगे विचार करेंगे।

ब्रिटिश माल की, खासकर कपडे की, इस फ़ैलती और पसरती प्रगति ने भारत के हाथ-उद्योगो की हत्या कर दी। लेकिन एक और पहलू इससे भी ज्यादा खतरनाक था। उन लाखो कारीगरो का क्या हुआ, जो बेकार बना दिये गए? बुनकरो और दूसरे कारीगरो की उस बडी सख्या का क्या हुआ, जो बेरोज़गार हो गये थे? इग्लैण्ड मे भी जब बडे-बडे कारखाने खुले तो कारीगर बेकार हो गये थे। उनको सख्त मुसीबतें उठानी पडी। लेकिन उनको नये कार-खानो मे काम मिल गया, और इस तरह उन्होंने अपने को नई हालतो के अनु-कूल बना लिया। भारत मे इस तरह का कोई दूसरा उपाय नही था। यहाँ काम करने के लिए कोई कारखाने न थे। अग्रेज नही चाहते थे कि भारत एक आधु-निक उद्योगी देश बन जाय, और इसलिए कारखानो को बढावा नही देते थे। इसलिए बेचारे गरीब, बेघर, बेरोज़गार और भूखो मरते कारीगरो को धरती की शरण लेनी पडी। लेकिन धरती ने भी उनका स्वागत नही किया, उसपर पहले से ही काफ़ी आदमी थे, और अब फालतू ज़मीन नही थी। कुछ तबाह कारीगरो ने तो किसी तरह खेती का काम अपना लिया, लेकिन ज्यादातर तो धरती-हीन मजदूर बन गये और रोज़गार की तलाश मे डोलने लगे। और अन-गिनती लोग भूख से तडप-तड़पकर ही मर गये होंगे। बतलाते हैं कि १८३४ ई० मे भारत के अग्रेज गवर्नर-जनरल ने यह रिपोर्ट की—"वाणिज्य के इतिहास मे ऐसी तबाही का शायद ही कोई दूसरी मिसाल मिले। सूती कपडा बुननेवाले जुलाहो की हड्डियो से भारत के मैदानो पर सफेदी छा गई है।"

इन बुनकरो और कारीगरो मे से ज्यादातर कस्बो और शहरो मे रहते थे। अब चूंकि उनका रोज़गार जाता रहा, इसलिए उन्हें फिर धरती और गांवो की तरफ लौटाना पडा। इससे शहरो की आबादी कम होती गई और गाँवो की बढती गई। दूसरे शब्दो मे, भारत शहरी कम और देहाती ज्यादा हो गया। देहातीकरण का यह सिलसिला उन्नीसवी सदी भर जारी रहा, और अभी भी बन्द नही हुआ है। इस ज़माने के भारत के बारे मे यह बडी ही अजीब बात है। तमाम दुनिया मे मशीनी उद्योग और उद्योगीकरण का असर यह हुआ कि लोग गाँवो से खिच-खिचकर शहरों में आ गये। लेकिन भारत में उलटी गगा बही। शहर और कस्बे छोटे होते गये और उजड़ गये। और दिन-पर-दिन ज्यादा आदमी खेती के सहारे आ पडे और बडी कठिनाई से गुज़ारा करने लगे।

बडे उद्योगो के साथ-साथ उनके सहारे चलनेवाले बहुत-से छोटे-छोटे

धन्धे भी गायब होने लगे। धुनाई, रँगाई और छीट-छपाई के काम कम होते गये, हाथ-कताई बन्द हो गई और लाखो घरो से चरखा उठ गया। इसका अर्थ यह हुआ कि किसान-वर्ग की आमदनी का अतिरिक्त साधन जाता रहा, क्योकि किसान को कुनबे के लोगो की कताई से खेती की आमदनी के अलावा ऊपर की आमदनी मे मदद मिलती थी। मशीनी उद्योग के शुरू होने पर यही सब कुछ पश्चिमी यूरोप मे भी हुआ था। लेकिन वहाँ परिवर्तन अपने-आप हुआ और अगर एक व्यवस्था का अन्त हुआ तो उसी समय दूसरी नई व्यवस्था का जन्म भी हो गया। लेकिन भारत मे यह परिवर्तन जोर-जबर्दस्ती से हुआ। माल तैयार करनेवाले कुटीर-उद्योगो की पुरानी व्यवस्था मार डाली गई, लेकिन नई व्यवस्था का जन्म नहीं हुआ, ब्रिटिश उद्योगो के फायदे की खातिर अग्रेज सत्ताधारियो ने ऐसा होने ही नही दिया।

हम देख चुके हैं कि जिस समय अग्रेजो ने यहाँ हुकूमत हासिल की, उस समय भारत माल तैयार करनेवाला खुशहाल देश था। कुदरती तौर से तो दूसरी मजिल यही होनी चाहिए थी कि देश को उद्योगोवाला बनाया जाता और बडी-बडी मशीनें चालू की जाती। लेकिन ब्रिटिश नीति के सबब से भारत आगे बढने के बजाय पीछे चला गया। वह तो अब माल तैयार करनेवाला देश तक भी न रहा, और पहले से भी ज्यादा कृषि-प्रधान हो गया।

इस तरह बेरोजगार कारीगरो और दूसरे लोगो की इतनी बडी सख्या का बोझ बेचारी अकेली खेती के सिर आ पडा। धरती पर जबर्दस्त बोझा पड़ गया, और फिर भी यह बराबर बढता ही गया। भारत की ग़रीबी की समस्या की यही बुनियाद है और यही आधार है। हमारी ज्यादातर तकलीफें इसी नीति के नतीजे हैं। और जबतक यह बुनियादी समस्या हल नही हो जाती, तबतक भारतीय किसान-वर्ग की और ग्राम-वासियो की ग़रीबी और मुसीबतो का अन्त नही हो सकता।

बहुत ज्यादा लोगो के पास खेती के सिवा और कोई दूसरा पेशा न होने और जमीन के सहारे ही लटके होने के कारण, उन्होंने अपने खेतो और अपने कब्जे की जमीनो को छोटे-छोटे टुकडो मे बाँट डाला। गुजारे के लिए और ज्यादा जमीन थी ही नही। जमीन का छोटा-सा टुकडा, जो हर किसान-कुनबे के पल्ले पडा, इतना छोटा था कि उससे उसका अच्छी तरह गुजारा नही हो सकता था। सुकाल के दिनो मे भी गरीबी और आधा-पेट भोजन की हालत उनके सामने खडी रहती थी। और अक्सर करके तो अकाल की ही हालत रहती थी। इन लोगो को मौसमो, कुदरत की ताकतो और बरसाती हवाओ की दया के ही आसरे रहना पडता था। अकाल पडते, भयकर बीमारियाँ फैलती और ये लाखो को उठा ले

जाते। ये लोग गाँव के सूदखोर बनिये के पास पहुँचकर उससे रुपया उधार लेते थे, और इनका कर्ज़ दिन-पर-दिन बढ़ता जाता और उसकी अदायगी की आशा और सम्भावना दूर होती जाती, और जीवन एक कमर-तोड भार बन जाता। भारत की आबादी के बहुत बडे हिस्से की, उन्नीसवी सदी मे, अग्रेज़ो के राज़ मे यह हालत हो गई।

## : १११ :

# भारत के गाँव, किसान और ज़मींदार

२ दिसम्बर, १९३२

मैंने अपने पिछले पत्र मे भारत मे बरती गई अग्रेज़ो की उस नीति का हाल बताया था, जिसका नतीजा हुआ यहाँ के कुटीर-उद्योग-धन्धो की मौत और कारीगरो का खेती और गाँवो की ओर खदेडा जाना। जैसा कि मैं बता चुका हूँ, भारत की सबसे बडी समस्या है धरती पर इतने ज्यादा ऐसे लोगो का बहुत ज्यादा दबाव या भार पडना, जिनके पास और कोई धन्धा नही है। भारत की ग़रीबी का सबसे बडा कारण यही है। अगर ये लोग धरती से हटाकर दौलत पैदा करने वाले दूसरे पेशो मे लगा दिये जा सकें तो वे न सिर्फ देश की दौलत को बढायेंगे, बल्कि धरती पर दबाव बहुत कम हो जायगा और खेती भी चमक उठेगी।

अक्सर यह कहा जाता है कि धरती पर यह ज़रूरत से ज्यादा दबाव भारत की आबादी मे बढोतरी की वजह से है, न कि अग्रेज़ो की नीति के सबब से। लेकिन यह दलील सही नही है। यह सच है कि भारत की आबादी पिछले सौ वर्षों मे बढ गई है, लेकिन और भी तो बहुत-से देशो की आबादी बढी है। वास्तव मे यूरोप मे, और खासकर इग्लैंण्ड, बेलजियम, हालैण्ड और जर्मनी मे, इस बढोतरी का अनुपात बहुत ज्यादा रहा है। किसी देश की या सारे ससार की आबादी की बढ़ोतरी और उसके गुज़ारे का, और जब ज़रूरत हो तब इस बढोतरी को रोकने का, सवाल बडे महत्व का है। मैं इस जगह इस सवाल को नही छेडना चाहता, क्योकि इससे दूसरे मुद्दो मे उलझन पैदा हो सकती है। लेकिन यह मैं ज़रूर साफ कर देना चाहता हूँ कि भारत मे धरती पर दबाव पडने का असली कारण खेती के सिवा दूसरे पेशो की कमी होना है, न कि आबादी मे बढोतरी होना। भारत की मौजूदा आबादी के लिए शायद आसानी से गुजाइश हो सकती है, और वह फूल-फल भी सकती है, बशर्ते कि दूसरे पेशे और उद्योग खुले हुए हो। हो सकता है कि आगे चलकर हमें आबादी की बढोतरी के सवाल पर विचार करना पडे।

आओ, अब हम भारत मे ब्रिटिश नीति के दूसरे पहलुओ की जाँच करें। पहले हम गाँवो मे चलेंगे।

मैंने अक्सर तुम्हें भारत की ग्राम-पचायतो के बारे मे लिखा है और यह बताया है कि किस तरह हमलो और परिवर्तनो के बीच भी उन्होंने अपनी हस्ती को कायम रक्खा। अभी करीब सौ वर्ष पहले, १८३० ई० मे, भारत के अंग्रेज गवर्नर सर चार्ल्स मेटकाफ ने इन ग्राम-पचायतो का इस तरह बयान किया था—

> "ग्राम-पचायतें छोटे-छोटे गणराज्य है, अपनी जरूरत की करीब-करीब हरेक चीज उनमे मौजूद है, और बाहरी सम्बन्धो से वे हर तरह स्वाधीन हैं। ऐसा मालूम होता है कि जहाँ कोई दूसरी चीज़ नहीं ठहर पाती, उनकी हस्ती कायम रहती है। ग्राम-पचायतो का यह सघ, जिसमे हरेक पचायत खुद एक अलग छोटे-से राज्य के समान है, उनके सुख-शान्ति मे रहने मे, और उन्हे आज़ादी व स्वाधीनता से रहने मे, बहुत हद तक सहायक होता है।"

वह बयान इस पुरानी गाँव प्रणाली की बडाई करनेवाला है। गाँवो की हालत का यह एक बिलकुल काव्यमय वर्णन है। इसमे कोई शक नही कि स्थानीय आज़ादी और स्वाधीनता, जो गाँवो को हासिल थी, अच्छी चीजे थी, और इनके सिवा और भी कई अच्छी बातें थी। लेकिन साथ ही हमे इस प्रणाली के दोषो को भी नही भुला देना चाहिए। सारी दुनिया से बिलग, अपने ही आसरे गाँव का जीवन बिताना किसी प्रगति मे सहायक नही हो सकता था। बडी-बडी और उनसे बडी-बडी इकाइयो के आपसी सहयोग मे ही उन्नति और प्रगति है। जितना ही ज्यादा कोई व्यक्ति या समुदाय अपने ही हाल मे मस्त रहता है, उतना ही ज्यादा उसके अहकारी, स्वार्थी और तगदिल होते जाने का अन्देशा रहता है। शहरो के निवासियो के मुकाबले मे गाँवो के लोग अक्सर तगदिल और अन्ध-विश्वासी होते हैं। इसलिए ग्राम-सस्थाएँ अपनी तमाम अच्छाइयो को रखते हुए भी, प्रगति के केन्द्र नही बन सकती थी। बल्कि वे किसी हद तक ठेठ पुरानी और पिछडी हुई थी। दस्तकारियाँ और उद्योग-धन्धे तो नगरो मे ही फूलते-फलते थे। हाँ, बुनकर बहुत बडी सख्या मे गाँवो मे ज़रूर फैले हुए थे।

ग्राम-समुदाय एक दूसरे से ज्यादा सम्पर्क रखे बिना ही अपना अलग जीवन क्यो बिताते थे, इसका असली कारण था आवा-जाई के साधनो का अभाव। गाँवो को एक दूसरे से जोडनेवाली अच्छी सडकें थी ही नही। वास्तव मे अच्छी सडको के इस अभाव ने ही देश की केन्द्रीय सरकार के लिए गाँवो के मामलो मे बहुत ज्यादा दखल देना कठिन बना दिया था। बडी नदियो के किनारो के, या आस-पास के कस्बो और गाँवो के बीच तो नावो के जरिये आवा-जाई हो सकती थी। लेकिन ऐसी बडी नदियाँ भी तो नही थी, जो इस तरह का साधन बन सकती। आवा-जाई के आसान साधनो की इस कमी ने अन्दरूनी व्यापार मे भी रुकावट डाली।

बहुत वर्षों तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का उद्देश्य सिर्फ रुपया कमाना और अपने हिस्सेदारो मे मुनाफा बांटना ही रहा। सडको पर वह बहुत कम खर्च करती थी और शिक्षा, सफाई व अस्पतालो वगैरा पर तो बिलकुल ही नही। लेकिन बाद में जब अंग्रेजो ने कच्चा माल खरीदने और अंग्रेजी मशीनो का बना माल बेचने पर अपना सारा ध्यान लगाया, तब आवा-जाई के साधनो के बारे मे उन्होंने दूसरी नीति अपनाई। बढ़ते हुए विदेशी व्यापार की जरूरतें पूरी करने के लिए भारत के समुद्र-तट पर नये-नये शहर पैदा हो गये। ये शहर, जैसे बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और बाद में करांची,-विदेशो को भेजने के लिए रुई वग़ैरा कच्चा माल जमा करते और मशीनो का बना विदेशी माल, खासकर इंग्लैण्ड से आया हुआ, भारत मे वितरण और बिक्री के लिए मगाते थे। पश्चिम मे जो लिवरपूल, मन्चेस्टर, बर्मिंघम, शेफील्ड, जैसे बडे-बडे उद्योगी शहर बढ़ रहे थे, उनमें व इन नये शहरो मे बहुत फर्क था। यूरोपीय शहर माल तैयार करने के बडे-बडे कारखानों वाले उत्पादक केन्द्र थे और इस माल को बाहर भेजने के लिए बन्दरगाह थे। इधर भारत के ये नये शहर कुछ भी उत्पादन नही करते थे। वे तो सिर्फ विदेशी तिजारत के गोदाम और विदेशी राज के चिह्न थे।

मैं अभी बता आया हूं कि अंग्रेजो की नीति के कारण भारत दिन-पर-दिन देहाती बनता जा रहा था और लोग शहरो को छोड़-छोडकर गांवो की ओर धरती की तरफ़ जा रहे थे। इसके बावजूद और इस सिलसिले पर बिना कुछ असर डाले, समुद्र के किनारे ये नये शहर पैदा हो गये। ये शहर गांवो को नही, बल्कि छोटे शहरों और कस्बो को मिटाकर पैदा हुए थे। देहातीकरण का आम सिलसिला चलता ही रहा।

कच्चे माल को इकट्ठा करने और विदेशी सामान के वितरण में मदद देने के लिए समुद्र के किनारे के इन नये शहरो को देश के अन्दरूनी हिस्सो से जोडा जाना जरूरी था। राजधानियो और प्रान्तो के प्रशासन-केन्द्रो के रूप मे कुछ दूसरे शहर भी खडे हो गये। इस तरह आवा-जाई के अच्छे साधनो की ज़रूरत बहुत बढ गई। अब सडकें बनाई गई, और बाद मे रेलें भी। सबसे पहला रेलमार्ग १८५३ ई० मे बम्बई में डाला गया।

भारतीय उद्योग-धन्धो के नाश से पैदा होनेवाली बदलती हुई हालतो के अनुकूल ढलने में पुराने ग्राम-समुदायो को बडी कठिनाई हुई। लेकिन जब अच्छी सडकें व रेलमार्ग और ज्यादा बने, और सारे देश मे फैल गये, तब अन्त मे गांवो की पुरानी व्यवस्था भी, जो इतने अर्से से टिकी हुई थी, टूटकर खत्म हो गई। जब दुनिया उनके यहां पहुंचकर दरवाज़े खटखटाने लगी, तो गांवो के छोटे-छोटे

गणराज्य उससे विलग होकर न रह सके। एक गांव में चीजों की कीमतों का असर फौरन ही दूसरे गांवों की कीमतों पर पड़ने लगा, क्योंकि अब एक गांव से दूसरे को चीजें आसानी से भेजी जा सकती थीं। वास्तव में, जैसे-जैसे दुनिया में सब जगह आवा-जाई के साधन बढ़ने गये, वैसे ही संयुक्त राज्य अमेरिका या कनाडा के गेहूं की कीमत का असर भारत के गेहूं की कीमत पर पड़ने लगा। इस तरह जोरदार घटना-चक्र ने भारतीय ग्राम-प्रणाली को खींचकर अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों के दायरे में ला पटका। गांवों की पुरानी अर्थ-व्यवस्था टूक-टूक हो गई, और जब किसानों पर एक नई व्यवस्था जबर्दस्ती लाद दी गई, तो वे अचम्भा करते ही रह गये। अब यह किसान-वर्ग अपने गांवों की हाट के बजाय दुनिया के हाट-बाजार के लिए अनाज व दूसरा सामान तैयार करने लगा। वह संसार-व्यापी उत्पादन और कीमतों के भंवर में फंस गया और दिन-पर-दिन ज्यादा डूबता गया। पहले जमानों में फसल बिगड़ जाने पर भारत में अकाल पड़ते थे, और न तो लोगों के पास जमा किया हुआ कुछ होता था और न कोई ऐसे अच्छे साधन थे जिनसे देश के दूसरे भागों से अनाज मंगवाया जा सकता। इस तरह भोजन के अकाल पड़ते थे। लेकिन अब एक अजीब बात हुई। अब लोग बहुतायत के बीच या अनाज उपलब्ध होने पर भी भूखे मरने लगे। अगर अकाल के इलाके में अनाज उपलब्ध न हो तो रेलगाड़ियों या जल्दी के दूसरे साधनों के जरिये दूसरी जगहों से लाया जा सकता था। अनाज तो मौजूद था, लेकिन उसे खरीदने के लिए पैसा नहीं था। इस तरह अब अकाल पैसे का था, अनाज का नहीं। इससे भी ज्यादा अजीब बात यह थी कि, जैसा मन्दी के पिछले तीन वर्षों में हमने देखा है, कभी-कभी फसल का बहुत ज्यादा होना ही किसान-वर्ग की मुसीबत का कारण बन जाता था।

इस तरह पुरानी ग्राम-व्यवस्था खत्म हो गई, और पंचायतों की हस्ती मिट गई। लेकिन हमें इसके लिए कोई ज्यादा अफसोस करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि इस प्रणाली के दिन बीत चुके थे और यह आजकल की हालतों से मेल नहीं खाती थी। लेकिन यहां भी यह प्रणाली तो टूट गई, लेकिन नई हालतों से मेल खानेवाली कोई नई ग्राम-व्यवस्था पैदा नहीं हुई। दुबारा तामीर और नये जन्म का यह काम अब भी हमारे करने के लिए बाकी है।

अभी तक हमने जमीन व किसानों पर ब्रिटिश नीति के अप्रत्यक्ष नतीजों का विचार किया है। अब हमको ईस्ट इण्डिया कम्पनी की असली नीति पर, यानी उस नीति पर, विचार करना है, जिसका किसान पर और धरती से ताल्लुक रखने-वाले सभी लोगों पर, सीधा असर पड़ा। मुझे डर है कि तुम्हारे लिए यह एक पेचीदा और जरा रूखा विषय होगा। लेकिन हमारा देश इन गरीब किसानों से भरा पड़ा है, इसलिए हमें यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि उनकी क्या तकलीफें

हैं और किस तरह हम उनकी सेवा कर सकते हैं और उनकी बुरी हालत को सुधार सकते हैं।

हम लोग ज़मींदारो, ताल्लुकेदारो और उनके असामियो के बारे मे सुना करते है। असामी भी कई तरह के होते हैं, और असामियो के भी असामी होते हैं। मैं इन सबकी पेचीदगियो मे तुम्हें नही ले जाना चाहता। मोटे तौर पर आजकल के ज़मींदार बिचौलिये है, यानी उनका दर्जा सरकार और काश्तकारो के बीच मे है। काश्तकार उनका असामी है और वह उन्हें धरती के इस्तेमाल के बदले लगान देता है, क्योंकि धरती ज़मींदार की मिलकियत समझी जाती है। ज़मींदार इस लगान का कुछ हिस्सा मालगुज़ारी के रूप मे अपनी ज़मीन के टैक्स के तौर पर सरकार को अदा करता है। इस तरह ज़मीन की उपज तीन हिस्सो मे बँट जाती है, एक हिस्सा ज़मींदार को मिलता है, दूसरा सरकार को जाता है, और तीसरा जो बचता है, असामी-काश्तकार के पल्ले पडता है। यह खयाल न करना कि ये हिस्से सब बराबर-बराबर होते होंगे। किसान खेत पर काम करता है, और यह उसीकी मेहनत, जुताई, बुआई और दर्जनो तरह की दूसरी कार्रवाइयो का नतीजा है कि ज़मीन से कुछ पैदा होता है। ज़ाहिर है कि अपनी मेहनत का फल उसे मिलना चाहिए। राज्य के सारे समाज के प्रतिनिधि की हैसियत से हरेक व्यक्ति के फायदे के लिए बहुत-से ज़रूरी काम पूरे करने होते हैं। सरकार का काम है कि सारे बच्चो की शिक्षा का इन्तज़ाम करे, अच्छी सडकें और आवा-जाई के दूसरे साधन बनावे, अस्पताल और सफाई की सेवाएं रक्खे, बाग-बगीचे और अजायबघर और बहुत-सी दूसरी बातो का इन्तज़ाम करे। इसके लिए उसे रुपयो की ज़रूरत होती है, और इसलिए यह मुनासिब ही है कि ज़मीन की पैदावार मे से वह एक हिस्सा ले ले। वह हिस्सा कितना होना चाहिए, यह सवाल दूसरा है। किसान जो कुछ राज्य को देता है, वह तो असल मे सडको, शिक्षा, सार्वजनिक सफाई, वग़ैरा, सरकारी सेवाओ के रूप मे उसे वापस मिल जाता है या मिल जाना चाहिए। आजकल भारत की सरकार विदेशी है, और इसलिए हम उसे पसन्द नहीं करते। ठीक तरह से सगठित और आज़ाद देश मे तो जनता ही राज्य होती है।

इस तरह ज़मीन की पैदावार के दो हिस्सो से तो हम निबट चुके—एक हिस्सा काश्तकार का और दूसरा राज्य का। तीसरा, जैसा कि हम देख चुके हैं, ज़मींदार या बिचौलिये को मिलता है। इसको पाने या इसका हकदार होने के लिए वह क्या करता है? बिलकुल कुछ भी नही, या असल मे कुछ भी नही। पैदावार के काम मे बिना किसी तरह की मदद पहुंचाये ही वह पैदावार का एक बडा हिस्सा—अपना लगान—ले लेता है, इस तरह वह बग्घी का पांचवा पहिया हो जाता है, जो न सिर्फ ग़ैर-ज़रूरी ही है, बल्कि एक रुकावट और ज़मीन पर बोझ भी है। और

ज़ाहिर है कि जो व्यक्ति इस गैर-ज़रूरी बोझ से सबसे ज़्यादा तकलीफ उठाता है वह है वेचारा काश्तकार, जिसे अपनी कमाई का हिस्सा निकालकर देना पडता है। यही कारण है कि बहुत-से लोगो का खयाल है कि जमीदार या ताल्लुकेदार बिलकुल गैर-ज़रूरी बिचौलिया है, और जमीदारी एक बुरी प्रथा है, इसलिए बदल दी जानी चाहिए, जिसमे कि यह बिचौलिया उड जाय। इस समय यह ज़मींदारी प्रथा खासकर भारत के तीन प्रान्तो मे, यानी बगाल, बिहार और सयुक्त प्रान्त मे, जारी है।

दूसरे प्रान्तो मे काश्तकार अपना लगान आमतौर पर सीधा राज्य को अदा करते हैं, कोई बिचौलिये वहाँ नही हैं। कभी-कभी ये लोग भू-स्वामी किसान कहलाते हैं; कही-कही, जैसे पजाब मे, उन्हे ज़मीदार कहा जाता है, लेकिन ये सयुक्त-प्रान्त, बगाल और बिहार के बडे-बडे ज़मीदारो से जुदा होते हैं।

इस लम्बी-चौडी व्याख्या के बाद अब मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि बगाल, बिहार और संयुक्त प्रान्त मे पनपनेवाली यह जमीदारी प्रथा, जिसके बारे मे हम इन दिनो इतना सुनते रहते हैं, भारत मे एक बिलकुल नई चीज है। यह अग्रेजो की पैदा की हुई है। उनके आने से पहले इसकी हस्ती नही थी।

पुराने ज़माने मे इस तरह के कोई जमीदार, ताल्लुकेदार या बिचौलिये नही होते थे। काश्तकार अपनी पैदावार का एक हिस्सा सीधा राज्य को देते रहते थे। कभी-कभी ग्राम-पचायत गाँव के काश्तकारो की तरफ से यह काम कर देती थी। अकबर के ज़माने में उसके नामी वित्त-मत्री राजा टोडरमल ने बडी सावधानी से ज़मीन की पैमाइश करवाई थी। सरकार या राज्य काश्तकार से पैदावार का तीसरा हिस्सा लेता था, जिसे काश्तकार चाहता तो नकदी मे भी अदा कर सकता था। आमतौर पर करो का बोझ ज़्यादा नही था और वे बहुत धीरे-धीरे बढाये गए थे। इसके बाद मुगल साम्राज्य के पतन का ज़माना आया। केन्द्रीय शासन कमज़ोर हो गया और करो की वसूली ठीक-ठीक नही हो सकी। तब वसूली का एक नया तरीका पैदा हुआ। लगान वसूल करनेवाले तनख्वाह पर नही, बल्कि एजेण्ट के तौर पर नियुक्त किये गए, जो वसूल हुई रकम का दसवाँ हिस्सा अपने लिए रख सकते थे। इन्हे मालगुज़ार, या कभी-कभी ज़मीदार या ताल्लुकेदार कहा जाता था, लेकिन खयाल रहे कि इन शब्दो का तब वह अर्थ नहीं होता था, जो आज किया जाता है।

जैसे-जैसे केन्द्रीय शासन ढीला पडता गया, यह प्रथा भी दिन-पर-दिन बिगडती गई। हालत यहाँतक पहुँची कि हर इलाके की मालगुज़ारी का नीलाम होने लगा और सबसे ऊँची बोली लगानेवाले को यह काम मिलने लगा। इसका अर्थ यह था कि जिसे यह काम मिलता, उसको बदनसीब काश्तकार से जितना चाहे उतना रुपया ऐंठने की खुली छूट रहती थी, और अपनी इस छूट का वह भर-

पूर फायदा उठाता था। धीरे-धीरे ये मालगुज़ार मौरूसी होने लगे, क्योंकि सरकार इतनी कमज़ोर हो गई थी कि इन्हें हटा न सकी।

वास्तव मे पहले-पहल बगाल मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मानी जानेवाली कानूनी हैसियत मुगल बादशाह की तरफ स काम करनेवाले मालगुज़ार की थी। १७६५ ई० मे कम्पनी को दिये गए 'दीवानी' के पट्टे का यही मतलब था। इस तरह कम्पनी दिल्ली के मुगल बादशाह की दीवान-जैसी बन गई। लेकिन यह सब धोखा था। १७५७ ई० की पलासी की लडाई के बाद बगाल मे अग्रेज़ो की ही तूती बोलती थी, बेचारे मुगल-सम्राट् के पास कही भी नाम को या बिल्कुल अधिकार नही रहा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके अफसर बेहद लालची थे। जैसा कि मैं तुम्हे बता चुका हूँ, इन लोगो ने बगाल का खज़ाना खाली कर डाला, और जहाँ कही भी मौका लगता पैसे पर ज़बर्दस्ती पजा मारने मे न चूकते थे। उन्होंने बगाल और बिहार को निचोड डालने और ज्यादा-से-ज्यादा लगान वसूल करने की कोशिश की। उन्होंने छोटे-छोटे मालगुज़ार पैदा किये और लगान की माँग बहुत बुरी तरह बढा दी। ज़मीन का लगान थोडे ही दिनो मे दुगुना हो गया और बडी बेदर्दी से वसूल किया जाने लगा और अगर कोई वक्त पर लगान अदा न करता तो फौरन बेदखल कर दिया जाता था। मालगुज़ार अपनी तरफ़ से यह बेरहमी और लालची लुटेरापन काश्तकारो पर ढाते; उनपर भारी-से-भारी लगान लगा दिया जाता, और उनके पट्टे छीन लिये जाते। पलासी की लडाई के बाद बारह वर्षों मे यानी दीवानी की सनद दिये जाने के चार वर्षों मे ही, ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति से, और साथ ही वर्षा न होने से, बगाल और बिहार मे ऐसा भयकर अकाल पडा कि उसमे कुल आबादी का एक-तिहाई हिस्सा मर-खप गया। १७६९-७० ई० के इस अकाल की चर्चा मैं एक पिछले पत्र मे कर चुका हूँ, और यह भी बता चुका हूँ कि इस अकाल के होते हुए भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लगान की पाई-पाई वसूल करके छोडी। इस बारे मे ईस्ट इडिया कम्पनी के अफसरो की अनोखी मुस्तैदी का ज़िक्र खास तौर पर किये जाने के लायक़ है। बीसियो लाख पुरुष, स्त्री और बच्चे मर गये, पर उन्होंने लाशो तक से रुपया वसूल कर लिया, ताकि इग्लैण्ड के मालदारो को भारी-से-भारी मुनाफे बाँटे जा सकें।

इस तरह अगले बीस या कुछ अधिक वर्षों तक यही सिलसिला चलता रहा। अकाल होने पर भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी रुपया ऐंठती रही और उसने बगाल के सुन्दर प्रान्त को तबाह कर दिया। बडे-बडे मालगुज़ार तक भिखारी हो गये, और सिर्फ इसीसे इस बात का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि मुसीबत के मारे काश्तकारों की क्या दुर्गति हुई होगी। हालत इतनी खराब हो गई कि खुद ईस्ट

इण्डिया कम्पनी को चेतना पडा, और उसे सुधारने की कोशिश करनी पडी। उस समय का गवर्नर-जनरल लार्ड कार्नवालिस, जो खुद इग्लैण्ड का एक बडा ज़मीदार था, भारत मे अग्रेजी ढग के जमीदार पैदा करना चाहता था। पिछले कुछ अर्से से मालगुज़ार लोग ज़मीदारो की ही तरह वर्ताव कर रहे थे। कार्नवालिस ने इनके साथ समझौता करके इन्हे ज़मीदार ही मान लिया। नतीजा यह हुआ कि पहली वार भारत को यह नया विचौलिया मिला, और वेचारे काश्तकार महज़ असामी रह गये। अग्रेज़ो ने इन ज़मीदारो से अपना सीधा सम्वन्ध रक्खा और उन्हे अपने असामियो के साथ मनमानी करने को खुला छोड दिया। ज़मीदार की लालची लूट से वेचारे किसान को वचाने का कोई उपाय न था।

वगाल और विहार के ज़मीदारो के साथ १७९३ ई० मे कार्नवालिस ने जो वन्दोवस्त किया था, वह 'दायमी वन्दोवस्त' कहलाता है। 'वन्दोवस्त' शब्द का अर्थ है हरेक जमीदार सरकार को जो लगान दे, उसकी रकम तय किया जाना। वगाल और विहार के लिए यह वन्दोवस्त स्थायी या हमेशा के लिए कर दिया गया। उसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता था। वाद मे जव उत्तर-पश्चिम मे अवध और आगरा तक अग्रेज़ी राज्य वढ गया, तव उनकी नीति वदल गई। फिर ज़मीदारो के साथ वगाल की तरह स्थायी वन्दोवस्त न करके, अस्थायी यानी थोडे समय का वन्दोवस्त किया गया। यह अस्थायी वन्दोवस्त समय-समय पर, आमतौर पर हर तीसवें साल, दुरुस्त किया जाता था और लगान की रकम फिर नये सिरे से तय की जाती थी। वैसे हर वन्दोवस्त मे यह रकम वढती ही जाती थी।

दक्षिण मे मद्रास मे और उसके आस-पास ज़मीदारी प्रथा चालू नही थी। वहाँ मौरूसी काश्तकारी थी और इसलिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सीधा किसानो से वन्दोवस्त कर लिया। लेकिन वहाँ और हर जगह, कम्पनी के अफसरो की न वुझने-वाली हविस ने लगान की रकमे वहुत ऊँची तय कर दी, और उन्हें वडी वेरहमी से ऐंठा गया। न देने पर फौरन वेदखली थी, लेकिन वेचारा किसान कहाँ जाता? धरती पर ज़रूरत से ज्यादा दवाव होने की वजह से हमेशा उसकी माँग रहती थी, इसलिए भूखो मरते आदमी किन्ही भी शर्तो पर उसे लेने को तैयार रहते थे। जव मुसीवतें झेलते-झेलते किसान और ज्यादा वर्दाश्त न कर सकते तो अक्सर लडाई-झगडे और किसानी दगे हो जाया करते थे।

उन्नीसवी सदी के वीच मे वगाल मे एक नया अत्याचार शुरू हुआ। कुछ अग्रेज़ नील का व्यापार करने की गरज़ से ज़मीदार वन वैठे। उन्होने अपने असा-मियो से नील की खेती के वारे मे वडी सख्त शर्ते की। उन्हें अपनी जोतो के कुछ नियत हिस्से से नील की खेती के लिए, और फ़िर उसे प्लाण्टर्स कहानेवाले अग्रेज़ ज़मीदारो के हाथ एक वन्धी दर पर वेचने के लिए मजवूर किया गया। यह प्रथा वागान

(प्लाण्टेशन) प्रथा कहलाती है। असामियों पर लादी गई शर्तें इतनी सख्त थीं कि उनके लिए उनको पूरा करना बहुत मुश्किल था। तब बागानियो की मदद के लिए अंग्रेज सरकार आ पहुंची और उसने बेचारे किसानो से इन शर्तों के मुताबिक़ ज़बर्दस्ती नील की खेती कराने के लिए खास कानून बना दिये। इन कानूनो और इनके मातहत सजाओ के ज़रिये नील की खेती करनेवाले असामी कुछ बातो मे इन बागानियो के चाकर और गुलाम हो गये। नील के कारखानो के कारिन्दे उनको डराते-धमकाते रहते थे, क्योंकि सरकार का सहारा पाकर ये अंग्रेज या भारतीय कारिन्दे अपने-आपको बिलकुल सुरक्षित समझते थे। अक्सर, जब नील की क़ीमत गिर जाती, तब काश्तकार को चावल या कोई दूसरी फसल बोने मे ज्यादा फायदा रहता, लेकिन उसे ऐसा नही करने दिया जाता था। काश्तकार के लिए सख्त मुसीबत और तबाही थी। अन्त मे इन जुल्मो से बेहद तग आकर कीडे ने भी करवट बदली। किसान वर्ग बागानियो के खिलाफ उठ खडा हुआ और उन्होंने एक कारखाने को लूट लिया। लेकिन वे कुचलकर दबा दिये गए।

इस पत्र मे मैंने कुछ विस्तार के साथ उन्नीसवी सदी के किसानो की हालत की एक तसवीर तुम्हे दिखाने की कोशिश की है। मैंने यह समझाने की कोशिश की है कि किस तरह भारतीय किसान की बुरी हालत बिगडती चली गई, किस तरह उसके सम्पर्क मे आनेवाले हर आदमी ने उसे निचोडा, क्या लगान वसूल करनेवाले ने, क्या ज़मीदार ने, क्या बनिये ने, क्या बागानी और उसके कारिन्दो ने और क्या सबसे बडे बनिये खुद अंग्रेज़ सरकार ने—चाहे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मार्फत, चाहे सीधी तौर पर। क्यो कि इस सारे शोषण की जड मे थी अंग्रेज़ो की वह नीति जो वे भारत मे जान-बूझकर बरत रहे थे। कुटीर-उद्योगो का, उनकी जगह दूसरे उद्योग जारी करने की कोशिश किये बिना ही, उजाड दिया जाना, बेरोज़गार कारीगर को गाँव मे खदेड दिया जाना, जिसकी वजह से ज़मीन पर ज़रूरत से ज्यादा दबाव पडता, ज़मीदारी, नील की खेती की बागान प्रथा; ज़मीन पर भारी टैक्स, जिसकी वजह से कसकर लगान लगाया जाना और बेरहमी से वसूल किया जाना, किसानो को सूदखोर बनियो के पास जाने के लिए मजबूर करना, जिनके फौलादी पजे से वे कभी न निकल सकें, वक्त पर लगान या मालगुज़ारी अदा न कर सकने की हालत मे बेशुमार बेदखलियाँ, और इन सबके ऊपर पुलिस के सिपाही का, लगान वसूलनेवाले का और ज़मीदार और कारखाने के कारिन्दो का हमेशा अत्याचार जिसने किसानो की रही सही जान और आत्मा को भी नष्ट-जैसी कर दिया, इस सबका नतीजा न टलनेवाली दुर्दशा और ज़बर्दस्त आफत के सिवा और क्या हो सकता था?

भयकर अकाल पडे, जिनसे लाखो की आबादी मौत के मुह मे चली गई।

और अजीब बात तो यह कि जब गल्ले की कमी थी और लोग उसके बिना भूखों मर रहे थे, उसी समय गेहूँ और दूसरे अनाज मालदार व्यापारियों के मुनाफे के लिए देश के बाहर भेजे जा रहे थे। लेकिन वास्तव में दुःख की बात अनाज की कमी की नहीं थी, क्योंकि अनाज तो रेल के जरिये देश के दूसरे हिस्सों से भी मँगाया जा सकता था, बल्कि खरीदने के साधनों के अभाव की थी। १८६१ ई० में उत्तर भारत में, खासकर हमारे प्रान्त में, भारी अकाल पड़ा, और कहा जाता है कि उस अकालवाले इलाके की ८½ फीसदी आबादी मौत की भेंट हुई। पन्द्रह साल बाद, १८७६ ई० में, और दो वर्ष तक, एक और भयानक अकाल उत्तर, मध्य व दक्षिण भारत में पड़ा। सयुक्त प्रान्त की फिर सबसे ज्यादा तबाही हुई और साथ ही मध्यभारत और पजाब के कुछ हिस्सों की भी। करीब-करीब एक करोड़ आदमी काल के गाल में चले गए! बीस वर्ष बाद, १८९६ ई० में, लगभग इसी अभागे इलाके में, एक और भयकर अकाल पड़ा, जैसा भारत के इतिहास में पहले कभी नहीं पड़ा था। भयकर मार ने उत्तर व मध्य-भारत की कमर तोड़ दी और उसे बिलकुल पस्त कर दिया। १९०० ई० में फिर एक और अकाल पड़ा।

इस छोटे-से पैरा में मैंने तुम्हें चालीस साल के अन्दर होनेवाले चार जबर्दस्त अकालों का हाल बताया है। इस दर्दनाक कहानी में जो भयानक मुसीबतें और दिल दहलानेवाली बातें भरी हुई हैं, उन्हें न तो मैं बयान कर सकता हूँ, न तुम महसूस कर सकती हो। असल बात यह है कि शायद मैं यह चाहता भी नहीं कि तुम यह महसूस करो, क्योंकि इससे गुस्सा व कड़वाहट पैदा होंगे, और मैं नहीं चाहता कि इस छोटी-सी उम्र में तुम्हारे मन में कड़वाहट पैदा हो।

तुमने उस दिलेर अंग्रेज महिला फ्लोरेन्स नाइटिंगेल का नाम सुना है, जिसने पहले-पहल युद्ध में घायलों की सेवा का कारगर सगठन किया था। बहुत पहले ही, १८७८ ई० में, उसने लिखा था—"हमारे पूर्वी साम्राज्य का किसान पूर्व में, नहीं-नहीं शायद सारी दुनिया में, सबसे ज्यादा दर्दभरा नजारा है।" "हमारे कानूनों के नतीजों" की चर्चा करते हुए उसने लिखा है कि "इन्होंने दुनिया के सबसे ज्यादा उपजाऊ मुल्क में, और बहुत-सी ऐसी जगहों पर जहाँ अकाल नाम की कोई चीज ही नहीं है, एक पीस डालनेवाली, राज-रोग के समान आधी-भुखमरी की हालत" पैदा कर दी।

हमारे किसानों की धँसी हुई आँखों में शिकार किये जानेवाले जानवर जैसा डर झलकता है और मायूसी झलकती है। यह सच है कि इससे ज्यादा दर्द-भरा नजारा कोई दूसरा नहीं हो सकता। हमारा किसान-वर्ग इतने वर्षों से कितना बोझ उठाता चला आ रहा है! और हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि हममें से जो थोड़े-बहुत खुशहाल हो पाये हैं, उन्होंने तो इस बोझ को कुछ बढ़ाया है। क्या

विदेशी और क्या भारतवासी, सभी लोगो ने सदियो से सताये हुए इस किसान का शोषण करने की कोशिश की है, और सभी इसकी पीठ पर सवारी गाँठे बैठे हैं। ऐसी हालत मे उसकी कमर टूट रही हो तो इसमे ताज्जुब क्या है?

लेकिन, अन्त मे बहुत दिन बाद, किसान को आशा की एक झलक दिखाई दी, अच्छे दिन आने और बोझा हलका होने की धीमी-सी आवाज़ उसके कानो मे सुनाई दी। एक छोटा-सा व्यक्ति आया, जिसने उसकी आँखो मे आँखें मिलाईं, उसके मुरझाये हुए दिल की तह तक पहुँचकर उसकी लम्बी पीडा को महसूस किया। इसकी नजर मे जादू था, छूने मे आग थी, आवाज़ मे सहानुभूति थी और दिल मे एक जलन थी, और छलकता हुआ प्रेम था और जान निछावर करनेवाली वफ़ादारी थी। और जब किसानो ने, मजदूरो ने, और उन सबने, जो पैरो तले रौंदे जा रहे थे, उसे देखा और उसकी आवाज़ सुनी, तो उनके मुर्दा दिलो मे चेतना जाग उठी और वे खुशी से भर उठे, उनमे एक नई आशा का उदय हुआ और वे हर्ष के मारे चिल्ला उठे—"महात्मा गाधी की जय", और अपने कष्टो की घाटी से बाहर निकलने के लिए चल खड़े हुए। लेकिन जो पुरानी चक्की इतने दिनो तक इन्हे पीस रही थी, वह उन्हें आसानी से छोडनेवाली नही थी। वह फिर चली, और उन्हे कुचलने के लिए उसने नये हथियार, नये कानून और आर्डिनेन्स निकाले, और जकडने के लिए नई ज़जीरें तैयार की। और आगे?—यह मेरे किस्से या इतिहास का भाग नही है। यह अभी आगे आनेवाले 'कल' की बात है और जब वह 'कल' 'आज' हो जायगा, तब हम सब कुछ जान जायेंगे। क्या इसमे किसी को शक है?

## : ११२ :

## ब्रिटेन ने भारत पर राज कैसे किया?

५ दिसम्बर, १९३२

उन्नीसवी सदी के भारत के बारे मे तुम्हें मैं तीन लम्बे पत्र लिख चुका हूँ। यह एक लम्बी कहानी है और लम्बी छटपटाहट है, और अगर मैं इसे छोटी कर दूँ, तो मुझे डर है कि तुम्हारे लिए उसका समझना और भी ज्यादा मुश्किल हो जायगा। दूसरे देशो या ज़मानो की बनिस्बत मैं भारत के इतिहास के इस ज़माने पर शायद ज्यादा जोर दे रहा हूँ। यह कोई अनोखी बात नही है। भारतवासी होने के नाते मेरी इसमे ज्यादा दिलचस्पी है, और इसके बारे मे ज्यादा जानकारी होने की वजह से, मैं अच्छी तरह लिख भी सकता हूँ। इसके अलावा यह ज़माना हमारे लिए ऐतिहासिक दिलचस्पी से बहुत ज्यादा महत्व रखता है। जिस आधुनिक भारत को आज हम पाते हैं, वह उन्नीसवी सदी की इसी छटपटाहट मे बना

हुआ और गढा हुआ है। इस समय भारत जैसा है, उसे अगर हमे समझना है, तो हमे उन कारणो को भी जरूर समझना होगा, जिन्होंने इसे बनाया या विगाडा है। तभी हम समझदारी के साथ सेवा कर सकेंगे और तभी यह जान सकेंगे कि हमे क्या करना चाहिए और कौन-सा रास्ता अपनाना चाहिए।

भारत के इतिहास के इस काल का बयान अभी मैंने खत्म नहीं किया है। अभी तो मुझे बहुत-कुछ कहना है। इन पत्रो मे मैं इसके एक या ज्यादा पहलुओ को लूंगा और उसके बारे मे कुछ बताने की कोशिश करूंगा। हरेक पहलू पर मैं अलग-अलग चर्चा करूँगा, ताकि उसे समझने मे आसानी हो। अलबत्ता तुम देखोगी कि जिन प्रगतियो और परिवर्तनो का जिक्र मैं कर चुका हूँ और जिनकी चर्चा इस पत्र मे और अगले पत्रो मे करूगा, वे सब कम-बढ एक ही साथ हुए हैं, एक का दूसरे पर असर पडा है और इन्ही दोनो ने उन्नीसवी सदी के भारत को जन्म दिया है।

भारत मे अग्रेजो की इन करतूतो और काली करतूतो का हाल पढकर कभी-कभी तो तुम उनकी बरती हुई नीति पर और उससे पैदा हुई आम तबाही पर गुस्सा करने लगोगी। लेकिन जो कुछ हुआ उसमे कुसूर किसका था ? क्या यह सब हमारी ही कमजोरी और ना-जानकारी का नतीजा नही था ? कमजोरी और बेवकूफी हमेशा अत्याचारी शासन को न्यौता देनेवाली हुआ करती हैं। अगर अग्रेज हमारी आपसी फूट से फायदा उठा सकते हैं, तो यह हमारी ही गलती है कि हम आपस मे झगडते हैं। जुदा-जुदा दलो की खुदगर्जी का सहारा लेकर अगर वे हममे फूट डाल सकते हैं और यूं हमे कमजोर बना सकते हैं, तो ऐसा होने देना खुद इस बात की निशानी है कि अग्रेज हमसे ऊँचे हैं। इसलिए, अगर तुम्हे नाराज होना हो तो इस कमजोरी और आपसी लडाई पर नाराज होना, क्योकि ये ही चीजें हमारी मुसीबतो के लिए जिम्मेदार हैं।

हम लोग अग्रेजो के अत्याचार की बात करते हैं। लेकिन असल मे यह अत्याचार है किसका ? कौन इससे फायदा उठाता है ? सारी अग्रेज जाति नही, क्योंकि खुद उस जाति मे लाखों बदनसीब और सताये हुए लोग हैं। और भारत-वासियो के कई छोटे-छोटे दल और वर्ग ऐसे हैं, जिन्होंने भारत के ब्रिटिश शोषण से कुछ-न-कुछ फायदा उठाया है। तब हम भेद कहाँ करें ? वास्तव मे यह सवाल व्यक्तियो का नही प्रणाली का है। हम एक भारी-भरकम मशीन के नीचे दबे रहे हैं, जिसने भारत के लाखो-करोडो को निचोडा और कुचला है। यह मशीन है उद्योगी पूंजीवाद से पैदा हुए नये साम्राज्यवाद की। इस शोषण का मुनाफा ज्यादातर इंग्लैण्ड को जाता है, लेकिन इंग्लैण्ड मे उसका लगभग सारा मुनाफा कुछ खास वर्गों को ही पहुंचता है। इसी तरह इस शोषण के मुनाफ़े का कुछ हिस्सा

भारत मे भी रहता है, और कुछ वर्ग उससे फायदा उठाते हैं। इसलिए हमारा व्यक्तियो से या सारी अंग्रेज़-जाति से नाराज़ होना बेवकूफी है। अगर कोई प्रणाली गलत है और हमे नुकसान पहुँचाती है, तो उसीको बदलना चाहिए। इस बात से कोई फर्क नही पडता कि उस प्रणाली को कौन चलाता है, और अक्सर भले आदमी भी किसी बुरी प्रणाली मे पडकर लाचार हो जाते हैं। दुनिया भर की नेकनीयती से भी कोई बालू और पत्थर को अच्छे भोजन मे नही बदल सकता, चाहे जितना कोई उन्हे पकावे। मेरे ख़याल से यही बात साम्राज्यवाद और पूंजीवाद पर भी लागू होती है। इनमे सुधार हो नही सकता, इनका अकेला असली सुधार है इनको जड से उखाड फेंकना। लेकिन यह मेरी अपनी राय है। कुछ लोग इससे मतभेद रखते है। तुम्हे किसी बात को ज्यो-का-त्यो मान लेने की जरूरत नही। जब समय आयगा, तुम अपने-आप अपने नतीजे निकाल सकोगी। लेकिन एक बात से ज्यादातर लोग सहमत हैं कि जो चीज़ खराब है, वह प्रणाली है, और इसलिए व्यक्तियो से खीझना बेकार है। अगर हम कोई परिवर्तन चाहते हैं, तो हमे इस प्रणाली पर हमला करके उसे बदल डालना चाहिए। इस प्रणाली के कुछ बुरे नतीजे हम भारत मे देख चुके है। जब हम चीन, मिस्र और बहुत-से दूसरे देशो का विचार करते है, तो वहाँ भी हम उसी प्रणाली को, पूंजीवादी साम्राज्यवाद की उसी मशीन को, काम करते हुए और लोगो का शोषण करते हुए देखते हैं।

अब हम अपनी कहानी पर आते हैं। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि जिस समय अंग्रेज भारत मे आये, यहाँ के कुटीर-उद्योगो की हालत बहुत ऊँचे दर्जे पर थी। उत्पादन के तरीको की कुदरती प्रगति के साथ, अगर उसमे बाहरी दखल न होता, तो सम्भव था कि कभी-न-कभी भारत मे भी मशीनो का उद्योग आ जाता। लोहा और कोयला इस देश मे मौजूद थे, और जैसा कि हम इंग्लैण्ड मे देख चुके हैं, इन चीज़ो ने नये उद्योगवाद को बहुत मदद पहुँचाई और वास्तव मे कुछ हद तक उसे पैदा किया। अन्त मे यही भारत मे भी हुआ होता। राजनीतिक हालतो मे गडबडी के सबब मे शायद इसमे कुछ देर लग जाती। लेकिन इसी बीच अंग्रेज़ो ने टाँग अडा दी। ये लोग ऐसे देश और ऐसी कौम के प्रतिनिधि थे, जिसने अपने यहाँ के पुराने तरीको को बदलकर बडी मशीन के नये उत्पादन को अपना लिया था। इसमे यह ख़याल किया जा सकता था कि ये लोग भारत मे भी इसी तरह का परिवर्तन पसन्द करेंगे और यहाँ जिस वर्ग के लोगो के ज़रिये इस तरह का परिवर्तन पैदा होने की सम्भावना हो उसे बढावा भी देंगे। लेकिन उन्होंने ऐसा कुछ नही किया। बल्कि उन्होंने वास्तव मे इससे बिलकुल उल्टा ही किया। भारत को अपना होनेवाला मुकाबलेदार मानकर उन्होंने उसके उद्योगो को नष्ट कर डाला और मशीनो के उद्योग को सचमुच चलने ही नही दिया।

इस तरह हम भारत मे एक निराली हालत पाते हैं। हम देखते हैं कि कि इस समय यूरोप मे सबसे आगे बढे हुए ये अंग्रेज भारत मे सबसे ज्यादा पिछडे हुए और दकियानूसी वर्गों के साथ गठ-बन्धन कर रहे हैं। वे मरते हुए सामन्ती वर्ग को टेक देकर खडा कर रहे है, जमीदार पैदा कर रहे हैं, सैकडो अधीन देशी राजाओ को उनकी आधी-सामन्ती 'रियासतो मे सहारा दे रहे हैं। वे भारत मे जान-बूझकर सामन्तशाही को मजबूत बना रहे है। ये ही अंग्रेज यूरोप मे मध्यम-वर्ग की उस क्रान्ति के अगुआ थे, जिसने उन की पार्लमेण्ट को अधिकार दिलाया था, ये ही उस उद्योगी क्रान्ति मे भी अगुआ थे, जिसके नतीजे से ससार में उद्योगी पूंजीवाद जारी हुआ। इन बातो मे अगुआ होने के कारण ही वे अपने मुकाबलेदारो से कही आगे बढ गये और एक लम्बा-चौडा साम्राज्य कायम कर पाये।

अंग्रेजो ने भारत मे इस तरह का व्यवहार क्यो किया, यह समझना मुश्किल नही है। पूंजीवाद की सारी बुनियाद गर्दन-मार होड और शोषण पर है, और साम्राज्यवाद इससे आगे के दर्जे का नाम है। इसलिए हाथ मे सत्ता होने से अंग्रेजो ने अपने असली मुकाबलेदारो की हत्या कर डाली, और दूसरे मुकाबले-दारो की बढोतरी को जान-बूझकर रोक दिया। जनता से मेल बढा सकना उनके लिए सम्भव नही था, क्योकि भारत मे उनके रहने का सारा प्रयोजन ही जनता का शोषण करना था। शोषको व शोषितो के हित कभी एक नही हो सकते। इसलिए उन्होंने—अंग्रेजो ने—भारत मे तबतक मौजूद सामन्तशाही के बचे-खुचे टुकडो का सहारा लिया। जब अंग्रेज यहां आये तभी इन लोगो मे असली ताकत कुछ भी बाकी नही थी, लेकिन इन्हे सहारा देकर खडा किया गया और देश की लूट का कुछ हिस्सा इन्हे दिया जाने लगा। लेकिन ऐसे वर्ग को, जिसकी उपयोगिता पहले ही खतम हो चुकी थी, इस तरह का सहारा कुछ ही समय के लिए राहत पहुँचा सकता था, सहारे के हटते ही या तो वे जरूर धराशायी हो जाते या फिर अपने को नई हालतो के अनुकूल बना लेते। अंग्रेजो की कृपा के आसरे इस तरह की कुछ नही तो सात सौ छोटी-बडी देशी रियासतें थी। इन बडी रिया-सतो मे से हैदराबाद, कश्मीर, मैसूर, बडौदा, ग्वालियर, वगैरा, कुछको तुम जानती हो। लेकिन यह विचित्र बात है कि इन रियासतो के ज्यादातर देशी नरेश पुराने सामन्ती सरदारो के वंशज नही हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह कि ज्यादातर बडे जमीदारो की कोई बहुत प्राचीन परम्पराएँ नही हैं। हाँ, उदयपुर का महा-राणा, जो सूर्यवशी राजपूतो मे सबसे बडा माना जाता है, जरूर एक ऐसा राजा है, जो अपनी वशावली का पिछला सम्बन्ध इतिहास शुरू होने से पहले के एक धुंधले जमाने के साथ जोड सकता है। जापान का राजा मिकादो ही शायद एक ऐसा मौजूदा व्यक्ति है, जो इस बात मे उसकी बराबरी कर सकता है।

अंग्रेजी राज ने मजहबी वैर-भावो को भी बढावा दिया। यह बात कुछ अजीब-सी मालूम होती है, क्योकि अंग्रेज लोग ईसाइयत का दावा करते थे, फिर भी उनके आने से भारत मे हिन्दू-धर्म और इस्लाम और भी ज्यादा कट्टर बन गये। कुछ हद तक यह प्रतिक्रिया लाजिमी भी थी, क्योकि विदेशी हमले से अपनी रक्षा करने के लिए किसी देश के मजहब और संस्कृति कठोर बनने लगते हैं। इसी तरह से मुसलमानो के हमलो के बाद हिन्दू-धर्म मे कट्टरपन आ गया, और जात-पांत का भेद बढ गया। अब हिन्दू-धर्म और इस्लाम दोनो ही मे इस ढग की प्रतिक्रिया हो गई। लेकिन इसके अलावा भी, ब्रिटिश सरकार ने दोनो मजहबो के कट्टरपन्थी तत्वो को, सचमुच जानबूझकर और अनजान मे, दोनो तरह से मदद पहुंचाई। अंग्रेजो को मजहब मे या मजहब बदलने के मामलो मे कोई दिलचस्पी नही थी। वे तो हर तरह रुपया पैदा करना चाहते थे। मजहबी मामलो में किसी तरह की दस्तन्दाजी करने से डरते थे, कि कही लोग गुस्से में आकर उनके खिलाफ खडे न हो जायं। इसलिए दस्तन्दाजी का शुबहा तक न होने देने के लिए वे यहां तक आगे बढ़ गये कि देश के मजहबो को, या यो कहो कि मजहबो के ऊपरी रूप को सचमुच बचाने व मदद देने लगे। इसका नतीजा अक्सर यह हुआ कि यह ऊपरी रूप तो बना रहा, लेकिन भीतर कुछ न रहा।

कट्टर-पन्थियो की नाराजगी के इस डर से सुधारो के मामले मे भी सरकार इन्ही लोगो का पक्ष लेने लगी। इस तरह सुधार का काम रुक गया। विदेशी सरकार के लिए कोई सामाजिक सुधार करना बहुत कठिन होता है, क्योकि वह जो कुछ भी परिवर्तन करना चाहेगी, उसीका लोग विरोध करेंगे। हिन्दू-धर्म और हिन्दू-शास्त्र कई बातो मे परिवर्तनशील और प्रगतिशील थे, यह बात दूसरी है कि पिछली सदियो मे यह प्रगति बहुत धीमी रही। खुद हिन्दू-शास्त्र मे ज्यादातर रिवाज ही हैं, और रिवाज हमेशा बदलते और पैदा होते रहते हैं। हिन्दू-शास्त्र का यह लचीलापन अंग्रेजी राज मे गायब हो गया और उसकी जगह घोर कट्टर-पन्थियो की सलाह से बनाये गए कठोर कानूनी जाब्तो ने ले ली। इस तरह हिन्दू-समाज की वह धीमी प्रगति भी अब रुक गई। मुसलमान तो नई हालतो से और भी ज्यादा नाराज हुए और वे कूप-मण्डूक बन गये।

सती-प्रथा को, जिसमे हिन्दू विधवा अपने पति की चिता पर जल जाती थी, मिटाने के लिए अंग्रेज अपने को बहुत ज्यादा नेकनामी देते हैं। कुछ हद तक वे इसके हकदार हैं भी, लेकिन सच तो यह है कि सरकार ने सिर्फ तभी क़दम उठाया जब राजा राममोहन राय के नेतृत्व मे भारतीय सुधारको ने इस प्रथा के खिलाफ बरसो आन्दोलन किया। इससे पहले दूसरे राजाओ ने भी, और खासकर मराठो ने, इसे बन्द कर दिया था। गोवा मे वहां के पुर्तगाली शासक

अल्बूकर्क ने इस प्रथा को उठा दिया था। अंग्रेजों ने जो इस प्रथा को बन्द किया वह भारतवासियों के आन्दोलन और ईसाई पादरियों की कोशिशों का नतीजा था। जहां तक मुझे याद है, मजहबी महत्त्व का सिर्फ यही एक सुधार है, जो ब्रिटिश सरकार ने किया है।

इस तरह अंग्रेजों ने देश के सब पिछड़े हुए और दकियानूसी वर्गों के साथ गठ-बन्धन कर लिया और उन्होंने यह कोशिश की कि भारत उनके उद्योगों के लिए कच्चा माल पैदा करनेवाला बिल्कुल कृषि-प्रधान देश बन जाय। भारत में कारखाने तरक्की न पा सकें, इसलिए उन्होंने यह किया कि भारत में मशीनों की आमद पर चुंगी लगा दी। दूसरे देशों ने अपने उद्योग-धन्धों को खूब बढ़ावा दिया। जैसा कि हम आगे देखेंगे, जापान ने उद्योगीकरण की सरपट दौड़ लगाई। लेकिन भारत में ब्रिटिश सरकार ने उसकी मनाही कर दी। मशीनों पर इस चुंगी के कारण, जोकि १८६० ई० तक हटाई नहीं गई थी, भारत में कारखाना खोलने का खर्च, यहां पर मजदूरी कहीं ज्यादा सस्ती होने पर भी, इंग्लैण्ड से चौगुना पड़ता था। रुकावटें डालने की यह नीति प्रगति में देर भले ही कर सकती थी, घटनाओं के लाजिमी बहाव को नहीं रोक सकती थी। सदी के बीच के करीब भारत में मशीन का उद्योग बढ़ने लगा। बंगाल में अंग्रेजी पूंजी से पटसन का उद्योग शुरू हुआ। रेलों के निकलने से उद्योगों की तरक्की में सहायता मिली और १८८० ई० में बम्बई और अहमदाबाद में कपड़े की मिलें खुलीं, जिनमें ज्यादातर भारतीय पूंजी लगी थी। इसके बाद खनिज उद्योगों की बारी आई। धीरे-धीरे होनेवाला यह उद्योगीकरण कपड़े की मिलों के सिवा, ज्यादातर अंग्रेजी पूंजी से हो रहा था। और यह सब कुछ हो रहा था सरकारी नीति के बावजूद भी। सरकार तो दखल न देने की नीति की दुहाई देती थी और कहती थी कि घटनाओं को अपने ढंग पर चलने दिया जाय और निजी तौर पर शुरू किये जानेवाले उद्योगों में दखल न दिया जाय। जब अठारहवीं और शुरू-उन्नीसवीं सदियों में भारतीय व्यापार ब्रिटिश व्यापार का मुकाबलेदार था, तब तो ब्रिटिश सरकार ने इंग्लैण्ड में उसमें दखल देकर और उस पर भारी चुंगियां और पाबन्दियां लगाकर उसे कुचल दिया। और सबकुछ काबू कर लेने के बाद वह अपनी दखल न देने की नीति की बात कर सकती थी। लेकिन असली बात तो यह है कि इस मामले में केवल उदासीन हो ऐसी बात नहीं थी। बल्कि उन्होंने तो कई भारतीय उद्योगों को, खासकर बम्बई और अहमदाबाद के बढ़ते हुए कपड़ा-उद्योग को, सचमुच पनपने ही नहीं दिया। इन भारतीय मिलों के उत्पादन पर एक तरह का टैक्स या चुंगी लगाई गई, जिसे कपास पर उत्पादन-चुंगी का नाम दिया गया। इसका उद्देश्य था लंकाशायर के बने अंग्रेजी कपड़े को भारतीय कपड़े का मुकाबला करने में मदद पहुंचाना। करीब-करीब सभी देश अपने उद्योगों की रक्षा के लिए या

आमदनी बढाने की गरज़ से विदेशी माल पर चुगी लगाते हैं। लेकिन भारत मे अंग्रेजो ने एक बहुत ही अनोखी और निराली बात की। उन्होंने खुद भारतीय माल पर ही चुगी लगा दी। जबर्दस्त आन्दोलन होने पर भी, कपास पर यह चुगी कुछ साल पहले तक जारी रही।

इस तरह सरकार की अडगा-नीति के बावजूद भी भारत मे धीरे-धीरे आधुनिक उद्योग-धन्धो की उन्नति होती गई। भारत के मालदार वर्ग उद्योगो के विकास के लिए दिन-पर-दिन ज्यादा पुकार मचाते रहे। जहाँ तक मेरा खयाल है, १९०५ ई० मे कही जाकर सरकार ने एक 'वाणिज्य और उद्योग विभाग' कायम किया। लेकिन फिर भी, महायुद्ध छिडने से पहले तक, इस दिशा मे उसने कुछ नही किया। औद्योगिक हालत की इस उन्नति ने शहरो के कारखानो मे काम करने-वाले औद्योगिक मजदूरो का एक वर्ग पैदा कर दिया। ज़मीन पर पडनेवाला दबाव, जिसकी चर्चा मैं कर चुका हूँ, और देहाती इलाको की अकाल-जैसी हालत, इन दोनो ने मिलकर बहुत-से गाँववालो को इन कारखानो मे और बगाल और असम मे बढनेवाले बडे-बडे बागानो मे ला पटका। इस दबाव की वजह से बहुत-से लोग दूसरे देशो का प्रवास करने को राज़ी हो गये, क्योकि वहाँ उन्हे ज्यादा मज़दूरी मिलने की आशा दिलाई गई थी। ज्यादातर प्रवासी दक्षिण अफ्रीका, फिजी, मॉरिशस और लका गये। लेकिन इस परिवर्तन से मजदूरो का कोई फायदा नही हुआ। कुछ देशो मे इन प्रवासी भारतीयो के साथ बिलकुल गुलामो का-सा वर्ताव किया गया। असम के चाय-बागानो के मजदूरों की हालत भी कुछ बहुत अच्छी न थी। बाद मे हिम्मत हारकर और निराश होकर बहुतो ने चाय-बागानो को छोडकर फिर अपने गांवो को लौट जाना चाहा। लेकिन अपने गांवो मे भी उन्हे किसी ने नही अपनाया, क्योकि उनके लिए अब कोई ज़मीन बाकी नही रही थी।

कारखानो के मजदूरो को जल्दी ही मालूम हो गया कि थोडी-सी ज्यादा मजदूरी मिलने से उनका कुछ भला नही हुआ। शहर मे हरेक चीज़ की कीमत ज्यादा देनी होती थी, और शहरो का सारा रहन-सहन ही बहुत ज्यादा खर्चीला था। रहने की जो जगहे उन्हे मिलती थी, वे गन्दी, सीली, अँधेरी और तन्दुरुस्ती को बिगाडनेवाली तग कोठरियाँ होती थी। जिन हालतो मे उन्हे काम करना पडता था, वे भी बुरी थी। गाँवो मे उन्हे अक्सर भूखो मरना पडता था, लेकिन धूप और ताजी हवा तो भरपूर मिल जाती थी। लेकिन कारखाने के मज़दूर के लिए न तो ताज़ी हवा थी, न काफी धूप। उसकी मजदूरी इतनी नही होती थी जो शहरी रहन-सहन के बढे हुए खर्चे को पूरा कर सके। स्त्रियो और बच्चो तक को बहुत घण्टो तक काम करना पडता था। गोदी के बच्चोवाली माताएँ अपने बच्चो को अफीम खिलाने लगी, जिससे कि वे उनके काम मे रुकावट न

मे रहे, और अभी भी हैं। फौजी अफ़सरो को छोडकर बाकी के ये सब ऊँचे अफसर इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य होते थे। इस तरह भारत के सारे शासन की बागडोर इसी आई० सी० एस० सेवा के हाथो मे थी। एक-दूसरे को मुकर्रर करने वाले और अपने कामो के लिए जनता के कोई जवाबदार न होनेवाले अफसरो की ऐसी सरकार नौकरशाही कहलाती है।

इस आई० सी० एस० के बारे मे हम बहुत-कुछ सुनते रहते हैं। इन लोगो का एक निराला दल बन गया है। कुछ बातो मे वे बडे मुस्तैद होते थे। वे शासन की व्यवस्था करते थे, ब्रिटिश हुकूमत को मजबूत बनाते थे, और उसी सिलसिले मे खुद भी उससे खूब फायदा उठाते थे। ब्रिटिश-राज को जमाने मे और टैक्स वसूल करने मे सहायता देनेवाले सब सरकारी विभाग बडी होशियारी के साथ सगठित किये गए थे। दूसरे विभागो पर ध्यान नही जाता था। आई० सी० एस० के अफसरो को न तो जनता मुकर्रर करती थी और न वे उसके जवाबदार थे, इसलिए वे उन दूसरे विभागो पर कोई ध्यान नही देते थे, जिनका जनता से सबसे ज्यादा ताल्लुक था। जैसा कि ऐसी हालतो मे होना लाजिमी था, ये लोग मगरूर और ढीठ हो गये और लोकमत को तुच्छ समझने लगे। अपने तग और हद-बन्द नज़रिये की वजह से ये लोग अपने-आपको दुनिया मे सबसे ज्यादा अक्लमन्द समझने लगे। उनके लिए भारत के हित का अर्थ था सबसे पहले अपनी नौकरशाही का हित। उन्होने एक किस्म का आपसी तारीफों का गुट्ट बना लिया और वे हमेशा एक-दूसरे की तारीफें करते रहते थे। बेलगाम सत्ता और अधिकार का यही लाजिमी नतीजा हुआ करता है, इसलिए ये इण्डियन सिविल सर्विस-वाले ही भारत के असली मालिक थे। ब्रिटिश पार्लमेण्ट इतनी दूर थी कि इनके कामो मे दखल दे नही सकती थी, और देखा जाय तो उसे दखल देने का कोई मौका भी न था, क्योंकि ये लोग उसके हितो को और ब्रिटिश उद्योग के हितो को साधते रहते थे। जहाँ तक भारतीय जनता के हितों का प्रश्न था, उनके बारे मे उनपर कुछ ज्यादा असर डालने का कोई रास्ता न था। वे इतने चिडचिडे हो गये थे कि अपनी मामूली-से-मामूली आलोचना को भी बर्दाश्त नही कर सकते थे।

फिर भी इण्डियन सिविल सर्विस मे कुछ भले, ईमानदार और काबिल लोग भी हुए हैं। लेकिन वे न तो उस नीति के बहाव को बदल सकते थे और न उस धारा का रुख पलट सकते थे, जो भारत को अपने साथ खीचे लिये जा रही थी। आखिर ये आई० सी० एस० वाले इग्लैण्ड के उन औद्योगिक और आर्थिक हितो के एजेण्ट ही तो थे, जिनका खास प्रयोजन था भारत का शोषण करना।

जहाँ-जहाँ इसके अपने और ब्रिटिश उद्योग के हितो का मामला था, वहाँ तो भारत की यह नौकरशाही हुकूमत मुस्तैद बन गई। लेकिन शिक्षा, सफाई और

अस्पतालों पर और एक मजबूत व प्रगतिशील राष्ट्र बनानेवाली दूसरी बहुत-सी कार्रवाइयों पर ध्यान नही दिया गया। वर्षो तक इन बातो का खयाल तक नही किया गया। पुरानी गाव-पाठशालाएं खत्म हो गई। फिर कही धीरे-धीरे और बडी बेदिली से कुछ शुरुआत की गई। शिक्षा की शुरुआत भी उन्होने अपनी खुद की गरज से ही की थी। तमाम ओहदो पर तो अग्रेज लोग भरे हुए थे, लेकिन जाहिर है कि छोटे ओहदो को और क्लर्को यानी दफ्तर के बाबुओ की जगहो को वे नही भर सकते थे। बाबुओ की जरूरत थी, सो इन बाबुओ को तैयार करने के लिए ही शुरू मे अग्रेजो ने स्कूल और कॉलेज खोले। तभी से, भारत मे शिक्षा की खास मशा यही रही है, और इस शिक्षा से तैयार हुए ज्यादातर लोग सिर्फ बाबू ही बनने के लायक है। लेकिन बाबुओ की सख्या जल्दी ही सरकारी व दूसरे दफ्तरो की माग से ज्यादा बढने लगी। बहुतो को नौकरी नही मिली, और इस तरह इन पढे-लिखे बेकारो का एक नया वर्ग बन गया।

इन नई अग्रेजी शिक्षा मे बगाल सबमे आगे बढ गया और इसलिए शुरू मे ज्यादातर बाबूओं की भरती बगालियो मे से हुई। १८५७ ई० मे तीन विश्व-विद्यालय कलकत्ता, बम्बई और मद्रास मे खोले गए। ध्यान देने लायक एक बात यह है कि मुसलमानो ने इस नई शिक्षा को दिल से नही अपनाया। इसलिए बाबू-गिरी और सरकारी नौकरियो की इस दौड मे वे पिछड गये। बाद मे यही उनकी शिकायतो का एक सबब बन गया।

एक और ध्यान देने लायक बात यह है कि जब सरकार ने शिक्षा की शुरुआत की तो लडकियो को बिलकुल भुला दिया गया। यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है। जो शिक्षा दी जा रही थी, उसकी मशा थी बाबू लोग तैयार करना, और सिर्फ मर्द-बाबुओ की ही जरूरत थी, और पिछडे हुए सामाजिक रिवाजो की वजह से उस समय सिर्फ मर्द ही मिलते थे। इसलिए लडकियो की तरफ बिलकुल ध्यान नही दिया गया और बहुत वर्षो के बाद जाकर कही उनके लिए छोटी-सी शुरुआत की गई।

## ११३
## भारत की नई चेतना

७ दिसम्बर, १९३२

भारत मे अग्रेजी राज की नीव जिस तरह जमी और जिस नीति ने भारत की जनता मे गरीबी और मुसीबत पैदा कर दी, यह मै तुम्हे बतला चुका हू। देश मे शान्ति जरूर आई और बाकायदा शासन भी आया और मुगल साम्राज्य

के टूटने मे पैदा हुई गडबडी के वाद ये दोनो ही वाते अच्छी हुई। चोर-डाकुओ के सगठित दलो को दवा दिया गया। लेकिन खेतो और कारखानो मे काम करने-वाले किसानो और मजदूरो के लिए इस शान्ति और व्यवस्था का कोई मूल्य न था, क्योकि अव वे नई हुकूमत की भारी चक्की मे पीसे जा रहे थे। लेकिन मै तुम्हे एक बार याद दिलाऊँगा कि किसी देश पर या कौम पर—इग्लैण्ड पर या अग्रेजो पर, नाराज होना ठीक नही है, क्योकि वे भी हमारी ही तरह परिस्थितियो के शिकार थे। इतिहास के अध्ययन ने हमे वताया है कि जीवन अक्सर वडा निर्दयी और कठोर होता है। उसपर तैश मे आना या लोगो पर खाली दोप लगाना वेवकूफी है, और उससे कुछ नही वनता। वुद्धिमानी इसीमे है कि गरीवी, मुसीवत और शोपण के कारणो को समझने की और उन्हे दूर करने की कोशिश की जाय। अगर हम ऐसा नही करते हैं और घटना-क्रम की दौड मे पिछड जाते हैं, तो लाजिमी तौर पर मुसीवतें भुगतनी पडती है। भारत इसी तरह पिछड गया। वह एक तरह से पथरा-सा गया, उसका समाज पुरानी लकीर का फकीर वन गया, और उसकी सामाजिक व्यवस्था वेताकत और वेजान हो गई और वहाव रुक जाने से गन्दी होने लगी। ऐसी हालत मे भारत को मुसीवतें झेलनी पडी तो उसमे अचम्भे की वात नहीं है। सयोग से अग्रेज इन मुसीवतो के निमित्त वन गये। अगर वे यहाँ न होते, तो शायद कोई दूसरे लोग इसी तरह का वर्ताव करते।

लेकिन अग्रेजो ने भारत को एक वडा फायदा जरूर पहुँचाया। उनकी नई और जोरदार जिन्दगी की टक्कर ने ही भारत को हिला दिया और उसमे राज-नीतिक एकता और राष्ट्रीयता पैदा कर दी। हालाँकि यह धक्का दुखदाई था, लेकिन हमारे प्राचीन देश और कौम मे नई जिन्दगी पैदा करने के लिए शायद इसकी जरूरत भी थी। वावू लोग तैयार करने के इरादे से दी जानेवाली अग्रेजी शिक्षा ने भारतवासियो को पश्चिम मे चालू विचारो के सम्पर्क मे भी ला दिया। इससे अव अग्रेजी पढे-लिखो का एक नया वर्ग वनने लगा। ये लोग हालाँकि सख्या मे कम और जनता से अलग से थे, लेकिन फिर आगे चलकर नये राष्ट्रीय आन्दोलनो की रहनुमाई करनेवाले थे। ये लोग शुरू मे तो इग्लैण्ड के, और स्वतन्त्रता के वारे मे अग्रेजी विचारो के वडे कद्रदान थे। उन दिनो इग्लैण्ड मे लोग स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के वारे मे वडी चर्चाएँ कर रहे थे। लेकिन ये सव वाते वे-सिर-पैर की थी, और यहाँ भारत मे इग्लैण्ड सिर्फ अपने फायदे के लिए अत्याचारी राज कर रहा था। लेकिन फिर भी कुछ अच्छी उम्मीदें लेकर यह आशा की जाती थी कि ठीक वक्त आ जाने पर इग्लैण्ड भारत को आजादी प्रदान कर देगा।

भारत पर पश्चिमी विचारो की टक्कर का कुछ असर हिन्दू-धर्म पर भी पडा। जनता पर तो कोई असर नही हुआ वल्कि, जैसा कि मैं पहले तुम्हे वता चुका हूँ,

खासकर पजाब मे। लेकिन इसके दायरे मे ज्यादातर मध्यम-वर्ग के ही लोग थे। आर्यसमाज ने शिक्षा के मैदान मे बहुत बडा काम किया है, और लडको व लड़कियो दोनो ही के लिए स्कूल और कॉलेज खोले हैं।

इस सदी मे धर्म मे निष्ठा रखनेवाले एक और नामी व्यक्ति हुए—रामकृष्ण परमहस। ये उन दूसरो जैसे बिल्कुल नही थे, जिनका इस पत्र मे मैंने जिक्र किया है। उन्होंने सुधार के लिए किसी खण्डन-मण्डन करनेवाले समाज की स्थापना नही की। उन्होंने सेवा पर ज़ोर दिया, और "रामकृष्ण सेवाश्रम' देश के कई भागो मे निर्बलो व गरीबो की सेवा की यह परम्परा आज भी चला रहे हैं। रामकृष्ण के एक मशहूर शिष्य स्वामी विवेकानन्द हुए हैं, जिन्होंने व्याख्यान देने के बडे मोहक और जोरदार ढग से राष्ट्रीयता के मन्त्र का प्रचार किया। यह राष्ट्रीयता किसी तरह भी इस्लाम-विरोधी या दूसरो की विरोधी नही थी, न आर्यसमाज की नग राष्ट्रीयता की तरह की थी। फिर भी विवेकानन्द की राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता ही थी और इसका आधार हिन्दू-धर्म व हिन्दू-सस्कृति ही थी।

इस तरह यह एक दिलचस्प बात मालूम होती है कि उन्नीसवी सदी मे भारत मे राष्ट्रीयता की शुरू की लहरो का रूप मजहबी और हिन्दू था। इस हिन्दू राष्ट्रवाद मे मुसलमान लाज़िमी तौर पर कोई हिस्सा नही ले सकते थे। वे अलग ही रहे। अग्रेजी शिक्षा से अपनेको दूर रखने के कारण नये विचारो का उनपर कम असर हुआ और उनमे दिमागी हलचल बहुत ही कम थी। कई दशाब्दियो बाद उन्होंने अपने तग दायरे से बाहर निकलना शुरू किया, और तब हिन्दुओ की तरह उनकी राष्ट्रीयता ने इस्लामी जामा पहन लिया। वे इस्लामी परम्पराओ व सस्कृति की तरफ मुडकर देखने लगे और उन्हे यह डर हो गया कि हिन्दुओ के बहुमत के कारण कही वे इन्हे खो न बैठें। लेकिन मुसलमानो का यह आन्दोलन बहुत दिन बाद, सदी के अन्त मे, ज़ाहिर हुआ।

हिन्दू-धर्म और इस्लाम के इन सुधारक और प्रगतिशील आन्दोलनो के बारे मे एक और मज़ेदार बात यह है कि इन्होंने अपने पुराने मजहबी विचारो और दस्तूरो को, जहाँतक हो सका, पश्चिम से आनेवाले नये वैज्ञानिक व राजनीतिक विचारो के मुताबिक ढालने की कोशिश की। न तो वे निडर होकर इन पुराने विचारो और दस्तूरो को चुनौती देने को और उन्हें कसौटी पर कसने को तैयार थे, न वे विज्ञान की दुनिया को और अपने चारो तरफ के और राजनीतिक व सामाजिक विचारो को दरगुज़र कर सकते थे। इसलिए उन्होंने यह साबित करने की कोशिश करके दोनो का मेल मिलाने का जतन किया, कि तमाम आधुनिक विचारो और प्रगति का मूल उनके मजहबो की पुरानी पवित्र पुस्तको मे मिल सकता है। यह जतन लाज़िमी तौर पर विफल होना ही था। इसने लोगो को सही विचार करने से रोक

दिया। साइन्स के साथ विचार करने और दुनिया को बदलनेवाली नई ताकतो व विचारो को समझने के बजाय ये प्राचीन दस्तूरों और परम्पराओं के बोझ से दब गये थे। आगे देखने और आगे बढ़ने के बजाय ये हर वक्त लुक-छिपकर पीछे की तरफ़ ताकते थे। अगर कोई अपनी गर्दन हमेशा मोड़े रहे और पीछे की तरफ देखता रहे, तो वह आसानी से आगे नही बढ़ सकता।

शहरो मे धीरे-धीरे अंग्रेज़ी पढ़े-लिखो का वर्ग बढ़ गया, और साथ-ही-साथ वकीलो, डॉक्टरो, वगैरा पेशेवर लोगो का, और सौदागरो व व्यापारियो का एक नया मध्यम वर्ग पैदा हो गया। पहले भी एक मध्यम-वर्ग था, लेकिन उसे अंग्रेज़ो की शुरू की नीति ने बहुत-कुछ कुचल दिया था। यह नया मध्यम-वर्ग अंग्रेज़ी-राज का सीधा नतीजा था, एक तरह से ये इस राज के टुकड़-खोर थे। जनता की लूट मे से इन लोगो को भी थोड़ा-सा हिस्सा मिल जाता था, अंग्रेज़ शासक-वर्ग की रकाबियो भरी मेज़ से गिरी हुई जूठन के कुछ टुकड़े ये लोग उठा लेते थे। इस वर्ग मे थे देश के अंग्रेज़ी प्रशासन मे सहायता देनेवाले छोटे-छोटे अहलकार, अदालतो की कानूनी कार्रवाइयो मे मदद देनेवाले और मुकदमेबाज़ी से मालदार बननेवाले वकील-बैरिस्टर, और इंग्लैण्ड के व्यापार व उद्योग के आढ़तिये सौदागर, जो अपने मुनाफे या दलाली के लिए अंग्रेज़ी माल बेचते थे।

इस नये मध्यम-वर्ग के इन लोगो मे ज्यादातर हिन्दू थे। इसकी एक वजह तो यह थी कि मुसलमानो की बनिस्बत इनकी माली हालत कुछ बेहतर थी, और दूसरी यह थी कि इन लोगो ने अंग्रेज़ी शिक्षा को अपना लिया, जो सरकारी नौक-रियो मे और पेशो मे घुसने का एक परवाना थी। मुसलमान आमतौर पर ज्यादा ग़रीब थे। अंग्रेज़ो के हाथो यहाँ के उद्योग-धन्धो की बर्बादी के कारण जिन बुनकरो की रोज़ी जाती रही थी, उनमे ज्यादातर मुसलमान जुलाहे थे। बंगाल मे, जहाँ की मुस्लिम आबादी भारत के दूसरे सब प्रान्तो से ज्यादा है, ये लोग गरीब काश्तकार और छोटे-छोटे भूमिया थे। ज़मीदार आमतौर पर हिन्दू थे, इसी तरह गाँव का बनिया भी हिन्दू होता था, जो लोगो को सूद पर रुपया उधार देता था, और गाँव का दूकानदार होता था। इस तरह ज़मीदार और महाजन दोनो ही काश्तकार को सताने और निचोड़ने की हैसियत मे थे और अपनी इस हैसियत का वे पूरा फ़ायदा उठाते थे। इस तथ्य को अच्छी तरह ध्यान मे रखना चाहिए, क्योकि हिन्दू-मुस्लिम तनाज़े की जड़ इसीमे है।

इसी तरह ऊँची जातियो के हिन्दू, खासकर दक्षिण मे, दलित कही जाने-वाली जातियो का, जो ज्यादातर खेतो पर काम करती थी, शोषण करते थे। पिछले दिनो, और खासकर बापू के उपवास के बाद से, दलित जातियो की यह समस्या बहुत ज़ोरो से हमारे सामने है। छुआछूत पर आज चारो तरफ से हमले हो रहे

हैं और सैकडो मन्दिर व दूसरे स्थान अछूतो के लिए खोल दिये गए हैं। लेकिन असली बुनियादी सवाल तो आर्थिक शोषण का है, और जबतक यह दूर नही होता, तबतक दलित जातियाँ दलित ही रहेगी। अछूत लोग खेतिहर चाकर रहे हैं, जिन्हे जमीन का मालिक नही बनने दिया जाता था। उन्हे और भी कितने ही हक नही हैं।

हालाँकि सारा भारत और उसकी जनता दिन-पर-दिन गरीब होते गये, फिर भी नये मध्यम-वर्ग के मुट्ठी भर लोग कुछ हद तक खुशहाल हो गये, क्योंकि देश के शोषण मे इनको भी हिस्सा मिलता था। वकील-बैरिस्टरो व दूसरे पेशेवर लोगो व साहूकारो ने कुछ धन जमा कर लिया। इस धन को वे कारोबार मे लगाना चाहते थे, ताकि उनकी सूद की आमदनी होती रहे। बहुतो ने गरीबी के शिकार जमीदारो से जमीनें खरीद ली और खुद उनके मालिक बन गये। दूसरे लोग अंग्रेजी उद्योगो की अद्भुत सफलता देखकर भारत मे भी कारखानो मे रुपया लगाने की सोचने लगे। इस तरह भारतीय पूँजी इन बडी मशीनो के कारखानो मे लगी और एक नया भारतीय उद्योगी पूँजीपति वर्ग पैदा होने लगा। यह हुआ करीब पचास साल पहले, यानी १८८० ई० के बाद।

जितने ये मध्यम-वर्गी लोग बढते गए, उतनी ही उनकी हविस भी बढती गई। उनकी इच्छा अब आगे-आगे बढने की, ज्यादा रुपया पैदा करने की, सरकारी नौकरियो मे ज्यादा जगहे पाने की, और कारखाने खोलने के लिए ज्यादा सहूलियतें हासिल करने की होती गई। उन्होंने अंग्रेजो को अपने हर रास्ते मे रुकावटें डालते हुए पाया। सब ऊँचे-ऊँचे ओहदो पर अंग्रेजो ने अपना ठेका जमा रक्खा था और तमाम उद्योग-धन्धे उन्हीके फायदे के लिए चलाये जा रहे थे। इसलिए उन्होंने हलचल मचाई और नये राष्ट्रीय आन्दोलन की यही से शुरुआत हुई। १८५७ ई० के विद्रोह और उसके बेरहमी से दमन के बाद लोगो की कमर ऐसी टूट गई कि उनके लिए कोई भी हल्ला-गुल्ला या सरगर्म आन्दोलन करना कठिन हो गया। फिर से कुछ जान आने मे उन्हे बहुत वर्ष लग गये।

लेकिन राष्ट्रीय भावनाएँ जल्दी ही फैलने लगी और बगाल इसमे सबसे आगे कदम उठा रहा था। बगाल मे नई-नई पुस्तकें निकलने लगी, जिनका बगला साहित्य पर और साथ ही बगाल मे राष्ट्रीयता के विकास पर जबर्दस्त असर पडा। हमारा मशहूर राष्ट्रीय गीत 'वन्देमातरम्' बकिमचन्द्र चटर्जी की ऐसी ही एक बगला पुस्तक 'आनन्द मठ' से लिया गया है। 'नील दर्पण' नामक एक बगला कविता ने भी बडी हलचल पैदा कर दी थी। इसमे नील की खेती की बागान-प्रथा से, जिसका कुछ हाल मैं तुम्हे बता चुका हूँ, बगाल के किसानो की तबाही का बडा ही दर्दभरा वर्णन किया गया था।

इसी बीच भारतीय पूँजीपतियो की शक्ति भी बढ़ रही थी, और वे हाथ-

हमारे साथ है और इसके लिए हमारी तारीफ करती है, तब बहादुरी के साथ आजादी की बातें करना बडा आसान है। लेकिन किसी बडे प्रयत्न मे अगुआ बनना बडा कठिन है।

पहली काग्रेस १८८५ ई० मे बम्बई मे हुई। बगाल के उमेशचन्द्र बनर्जी इसके पहले अध्यक्ष थे। उन शुरू दिनो के दूसरे नामी व्यक्तियो के नाम हैं सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बदरुद्दीन तैयबजी और फीरोजशाह मेहता। लेकिन इन सबके ऊपर नजर आनेवाला नाम है दादाभाई नौरोजी का, जो 'भारत के वृद्ध पितामह' कहलाये और जिन्होने सबसे पहले भारत के लक्ष्य के लिए 'स्वराज्य' शब्द का इस्तेमाल किया। एक नाम मैं और बताऊँगा, क्योकि काग्रेस के पुराने सेनानियो मे से आज एक वही जिन्दा है और उन्हे तुम अच्छी तरह जानती हो। वह हैं पण्डित मदन-मोहन मालवीय[1]। पचास वर्ष से भी ज्यादा समय से वह भारत के हित के लिए जूझ रहे हैं, और बुढापे व चिन्ताओ से जर्जर हो जाने पर भी अपनी जवानी के सपने को सच्चा बनाने के काम मे अभी तक जुटे हुए हैं।

इस तरह काग्रेस साल-दर-साल आगे बढती गई, और मजबूती हासिल करती गई। इससे पहले के दिनो की हिन्दू राष्ट्रीयता की तरह इसका नजरिया तग नही था। फिर भी यह बहुत-कुछ हिन्दू ही थी। कुछ मुसलमान नेता इसमे शामिल हुए, और इसके अध्यक्ष तक बने, लेकिन कुल मिलाकर मुसलमान इससे दूर ही रहे। उस समय के एक बडे मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ थे। उन्होने देखा कि शिक्षा की कमी ने, खासकर आधुनिक शिक्षा की कमी ने, मुसलमानो का बहुत नुकसान किया है, और उन्हे पिछडा हुआ रक्खा है। इसलिए उन्होने यह महसूस किया कि राजनीति मे टाँग अडाने से पहले मुसलमानो को इस शिक्षा के लिए रजामन्द करना चाहिए और अपनी सारी ताकत इसीपर लगानी चाहिए। इसलिए उन्होने मुसलमानो को काग्रेस से अलग रहने की सलाह दी, सरकार के साथ सहयोग किया और अलीगढ मे एक बढिया कॉलेज कायम किया, जो अब विश्वविद्यालय बन गया है। मुसलमानो की बहुत बडी सख्या ने सर सैयद की राय मानकर अपनेको काग्रेस से अलग रक्खा। लेकिन उनकी छोटी-सी सख्या हमेशा काग्रेस के साथ रही। यह याद रहे कि जब मैं बडी सख्या या छोटी सख्या की चर्चा करता हूँ तो उससे मेरा मतलब ऊँचे मध्यम-वर्ग के अग्रेजी पढे-लिखे हिन्दुओ और मुसलमानो की बडी-सख्या या छोटी सख्या से होता है। हिन्दू जनता और मुसलमान जनता, दोनो ही का काग्रेस से कोई वास्ता न था, और उन दिनो इनमे से बहुतो ने तो इसका नाम तक न सुना था। नीचे के मध्यम वर्गों तक पर उस समय इसका कोई असर नही हुआ था।

[1] पण्डित मदनमोहन मालवीय का देहान्त १९४६ ई० मे हो गया।

कांग्रेस बढी, लेकिन कांग्रेस मे भी तेज रफ्तार से राष्ट्रीयता के विचार और आजादी की चाह बढी। कांग्रेस की पहुंच का दायरा लाजिमीतौर पर छोटा था, क्योंकि इस दायरे मे सिर्फ अंग्रेजी पढे-लिखे लोग ही शामिल थे। कुछ हद तक इसने अलग-अलग प्रान्तो को एक-दूसरे के ज्यादा नजदीक लाने मे और एकसा नजरिया बनाने मे मदद दी। लेकिन जनता मे इसकी पैठ गहरी न होने के कारण इसकी ताकत कुछ नही थी। एक पिछले पत्र मे मैंने तुमसे एक घटना का जिक्र किया है, जिसने एशिया भर मे भारी हलचल मचा दी थी। यह १९०४–५ ई० मे छोटे-से जापान की भारी-भरकम रूस पर विजय थी। दूसरे एशियाई देशो के साथ-साथ भारत पर भी इसकी गहरी छाप पडी, यानी यहां के अंग्रेजी पढे-लिखे मध्यम-वर्गों पर असर पडा और उनका आत्म-विश्वास बढ गया। अगर यूरोप के एक सबसे ज्यादा शक्तिशाली देश के खिलाफ जापान सफल हो सकता है तो भारत क्यो नही हो सकता ? बहुत अर्से से भारत के लोग अंग्रेजो के सामने छोटेपन की भावना के शिकार हो रहे थे। अंग्रेजो की लम्बी हुकूमत ने, और १८५७ के विद्रोह के वहशियाना दमन ने, उनकी हिम्मत पस्त कर दी थी। हथियार न रखने का कानून बनाकर उन्हे हथियार रखने से रोक दिया गया था। भारत मे होनेवाली हरेक बात उन्हें यह याद दिलाती थी कि वे एक पराधीन जाति हैं, एक हीन जाति हैं। उन्हे दी जानेवाली शिक्षा तक भी उनमे हीनता की यही भावना भरती थी। बिगडे हुए और झूठे इतिहास के जरिये उन्हे पढाया जाता था कि भारत ऐसी भूमि है जहां सदा से अराजकता फैली रही है, और हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे का गला काटते रहे हैं और अन्त मे अंग्रेजो ने ही आकर इस देश को इस बदनसीब बुरी हालत से छुटकारा दिलाया, और इसे अमन व खुशहाली दी। तथ्यो की और इतिहास की कोई परवाह न करके यूरोप के लोग यह समझते और ढिंढोरा पीटते रहते थे कि सारा-का-सारा एशिया वास्तव मे एक पिछडा हुआ महाद्वीप है, और इसलिए इसे यूरोपीय लोगो की ही हुकूमत मे रहना चाहिए।

इसलिए जापान की विजय ने एशियावालो के लिए ताजगी देनेवाली जबर्दस्त दवा का काम किया। भारत मे हमारे बहुत-से लोगो मे हीनता की जो भावना घर किये हुए थी, वह इससे कम हुई। राष्ट्रीयता के विचार, खासकर बगाल और महाराष्ट्र मे, चारो तरफ फैलने लगे। इसी समय एक घटना घटी, जिसने बगाल को जड से हिला दिया और देश भर मे हलचल मचा दी। सरकार ने बगाल के बडे प्रान्त को (जिसमे उस समय बिहार भी शामिल था) दो हिस्सो मे बांट दिया, जिनमे एक हिस्सा पूर्वी बगाल था। बगाल के मध्यम-वर्ग की बढती हुई राष्ट्रीयता ने इस पर नाराजी जाहिर की। उसे डर था कि अंग्रेज बगाल के इस तरह टुकडे कर-के उसे कमजोर करना चाहते हैं। पूर्वी बगाल मे मुसलमानो की सख्या ज्यादा थी, इसलिए इस बंटवारे से हिन्दू-मुस्लिम सवाल भी उठ खडा हुआ। बगाल भर मे

एक ज़बर्दस्त ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन चल पड़ा। ज़्यादातर ज़मींदार और भारतीय पूँजीपति भी इसमें शामिल हो गये। सबसे पहले इसी समय 'स्वदेशी' का नारा उठाया गया और इसके साथ ही ब्रिटिश माल के बायकाट का भी, जिससे भारतीय उद्योग और पूँजी को अलबत्ता सहायता मिली। कुछ हद तक जनता में भी यह आन्दोलन फैल गया, और हिन्दू धर्म से भी इसने कुछ प्रेरणा ली। इसके साथ-साथ बंगाल में क्रान्तिकारी हिंसा की विचार-धारा भी पैदा हुई और भारतीय राजनीति में पहली बार 'बम' सामने आया। बंगाल में आन्दोलन के एक नामी नेता अरविन्द घोष थे। वह अभी भी मौजूद हैं, लेकिन बहुत वर्षों से फ्रान्सीसी भारत के पाण्डिचेरी शहर में आध्यात्मिक जीवन बिता रहे हैं।[1]

पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र प्रदेश में भी इस समय भारी खलबली फैली हुई थी, और हिन्दू-धर्म के ही रंग में रँगी हुई जोशीली राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था। यहाँ बालगंगाधर तिलक नामक एक महान् नेता हुए, जो भारत भर में लोकमान्य करके मशहूर हैं। तिलक एक बड़े विद्वान् थे; वह पूर्व की पुरानी परिपाटियों के भी उतने ही जानकार थे, जितने पश्चिम की नई परिपाटियों के, वह बड़े भारी राजनीतिज्ञ थे, लेकिन सबसे बड़ी बात यह कि वह जनता के एक महान् नेता थे। कांग्रेस के नेताओं की पहुँच अभी सिर्फ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों तक ही थी; जनता उन्हें नहीं जानती थी, लेकिन तिलक नये भारत के पहले राजनीतिक नेता हुए, जो जनता तक पहुँचे और जिन्होंने उससे बल हासिल किया। उनके व्यक्तित्व से मज़बूती और न दबनेवाली दिलेरी का एक नया बल पैदा हुआ जिसने बंगाल में राष्ट्रीयता और बलिदान की नई भावना से जुड़कर भारतीय राजनीति की शक्ल ही बदल दी।

१९०६, १९०७ और १९०८ ई० के इन हलचल-भरे दिनों में कांग्रेस क्या कर रही थी? राष्ट्रीय भावना की जागृति के इस समय में कांग्रेस के नेता राष्ट्र की रहनुमाई करने के बजाय, पीछे लटक रहे थे। उन्हें एक ठंडी किस्म की राजनीति की आदत हो गई थी, जिसमें जनता का दखल नहीं था। बंगाल का धधकता हुआ जोश उन्हें पसन्द नहीं था और न उन्हें महाराष्ट्र की वह नई और न झुकनेवाली नीति ही भाती थी जो तिलक के रूप में खड़ी थी। 'स्वदेशी' आन्दोलन को तो उन्होंने सराहा, लेकिन ब्रिटिश माल के बायकाट से वे हिचकते थे। कांग्रेस में अब दो दल हो गये—एक तिलक और कुछ बंगाली नेताओं के नीचे गर्म दल, और दूसरा कांग्रेस के पुराने नेताओं का नर्म दल। लेकिन नर्म दल के सबसे बड़े नेता एक नवयुवक गोपालकृष्ण गोखले थे, जो बड़े काबिल व्यक्ति थे और जिन्होंने अपना जीवन सेवा के लिए अर्पित कर दिया था। गोखले भी महाराष्ट्रीय थे। अपने-अपने दलों

---

[1] महर्षि अरविन्द की मृत्यु दिसम्बर, १९५० में हो गई।

को लेकर तिलक और गोखले एक दूसरे के सामने डटकर खडे हो गये। इसका लाज़िमी नतीजा यह हुआ कि १९०७ ई० मे काग्रेस के दो टुकडे हो गये और उसमे फूट पड गई। नर्म दलवालो का काग्रेस पर अधिकार बना रहा, गर्म दलवाले निकाल वाहर किये गए। नर्म दलवाले जीत तो गये, लेकिन देश मे अपनी लोकप्रियता खोकर, क्योंकि तिलक का दल ही जनता मे वहुत ज्यादा लोकप्रिय था। काग्रेस कमज़ोर हो गई, और कुछ वर्षों तक उसका प्रभाव नाम को रह गया।

और इन वर्षों मे सरकार का क्या हाल था ? वढती हुई भारतीय राष्ट्रीयता ने उसमे क्या प्रनिक्रिया पैदा की ? सरकारो के पास, किसी ऐसी दलील या माँग का, जिसे वह पसन्द नही करती, जवाब देने का सिर्फ एक ही तरीका हुआ करता है—डडे का इस्तेमाल। वस, सरकार दमन पर उतर आई। उसने लोगो को जेलो मे भरना शुरू किया, प्रेस-कानूनो से अखवारो पर लगाम लगा दी गई और हरेक ऐसे आदमी के पीछे, जिसे कि वह पसन्द नही करती थी, खुफिया पुलिस और जासूसो के दल-के-दल लगा दिये। उसी समय से सी० आई० डी० के आदमी भारत के वडे-वडे राजनीतिक नेताओ के हरदम के साथी बने हुए हैं। वगाल के वहुत-से नेताओ को कैद की सजा दी गई। सबसे अधिक मार्के का मुकदमा लोकमान्य तिलक का था, जिन्हे छै वर्ष की कैद की सजा दी गई थी, और जिन्होंने माडले जेल मे अपनी कैद के दिनो मे एक प्रसिद्ध ग्रन्थ[1] लिखा था। लाला लाजपतराय को भी देश-निकाला देकर वरमा भेज दिया गया।

लेकिन दमन से वगाल को कुचलने मे सफलता नही मिली। इसलिए कम-से-कम कुछ लोगो को तसल्ली देने के लिए झट-पट प्रशासन-सुधार का एक कदम उठाया गया। उस समय की नीति, जो कि बाद मे भी रही और आज भी है, राष्ट्रवादी दलो मे फूट डालने की थी। यानी नर्म दलवालो को वढावा देना और मिलाना, और गर्म दलवालो को कुचल देना। १९०८ ई० मे मार्ले-मिन्टो-सुधारो के नाम से मशहूर नये सुधारो का ऐलान किया गया। इनसे नर्म दलवालो को मिलाने मे सफलता हुई और वे इन सुधारो को पाकर खुश हो गये। नेताओ के जेल मे होने के कारण गर्म दलवालो के हौसले टूट गये और राष्ट्रीय आन्दोलन कमज़ोर पड गया। लेकिन वगाल मे वग-भग के खिलाफ आन्दोलन जारी रहा और अन्त मे सफल हुआ। १९११ ई० मे ब्रिटिश सरकार ने वग-भग को फिर उलट दिया। इस विजय ने वगालियो मे नया साहस पैदा कर दिया। लेकिन १९०७ का आन्दोलन ठडा पड चुका था, और भारत फिर राजनीतिक उदासीनता मे जा पडा।

---

[1] गीता-रहस्य—तिलक ने यह ग्रन्थ मराठी मे लिखा था, परन्तु इसका हिन्दी मे तथा भारत की दूसरी भाषाओं में भी अनुवाद हो गया है। इस ग्रन्थ में गीता के ऐतिहासिक, आध्यात्मिक, नैतिक, आदि पहलुओं पर बड़ी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की गई है।

१९११ ई० मे ही यह ऐलान किया गया कि दिल्ली भारत की नई राजधानी होगी। दिल्ली—बहुत-से साम्राज्यो की राजधानी और बहुत-से साम्राज्यो की कब्र !

१९१४ ई० मे, जिस समय यूरोप मे महायुद्ध शुरू हुआ और सौ वर्ष का जमाना खत्म हुआ, भारत की हालत इस तरह की थी। महायुद्ध का भारत पर भी जबर्दस्त असर पडा, लेकिन उसके बारे मे मैं आगे कुछ कहूँगा।

आखिरकार उन्नीसवीं सदी के भारत का हाल मैंने खत्म कर ही दिया। मैं अब तुमको आज से अठारह साल पहले तक ले आया हूँ। अब हम भारत को छोडकर अगले पत्र मे चीन चलेंगे, और दूसरे ढग के साम्राज्यशाही शोषण की जाँच करेंगे।

## : ११४ :

## ब्रिटेन का चीन पर जबर्दस्ती अफ़ीम लादना

१४ दिसम्बर, १९३२

मैंने तुम्हे काफी विस्तार के साथ भारत मे हुई औद्योगिक व मशीनी क्रान्तियो का असर समझाया है और यह भी बताया है कि नये साम्राज्यवाद ने भारत मे किस तरह काम किया। भारतवासी होने के नाते मैं तरफदार हूँ, इसलिए मुझे डर है कि मैं तरफदारी की नजर मे देखे बिना नहीं रह सकता। लेकिन मैंने यही कोशिश की है, और मैं चाहता हूँ कि तुम भी यही कोशिश करो कि इन सवालो पर, तथ्यो की सही जाँच करनेवाले वैज्ञानिक की तरह, विचार किया जाय, मामले के पक्ष को साबित करने पर तुले हुए राष्ट्रवादी की तरह नही। राष्ट्रीयता अपनी जगह पर अच्छी चीज है, लेकिन वह बेवफा दोस्त है और खतरनाक इतिहासकार है। कितनी ही घटनाओ के बारे मे वह हमे अन्धा बना देती है, और कई बार सचाई को तोड-मरोड देती है, खासकर जब उससे हमारा या हमारे देश का ताल्लुक हो। इसलिए हाल के भारतीय इतिहास पर विचार करते समय हमे सावधान रहना होगा, वरना कही ऐसा न हो जाय कि हम अपनी तमाम आफतो का दोष अंग्रेजो के सिर मढने लगें।

उन्नीसवी सदी मे अंग्रेज उद्योगपतियो और पूंजीपतियो ने भारत का किस तरह शोषण किया, यह देख चुकने के बाद अब हम एशिया के दूसरे बडे देश, भारत के पुराने दोस्त और राष्ट्रो मे प्राचीन, चीन की तरफ चलते हैं। यहाँ हम पश्चिमवालो को एक दूसरे ही ढग का शोषण करते पायेंगे। भारत की तरह चीन किसी यूरोपीय देश का उपनिवेश या अधीन-राज्य नही बना। उन्नीसवीं

## ब्रिटेन और चीन

कोरिया
पेकिंग
तितसिन
पीत नदी
नानकिंग
शाघाई
निंग्पो
हैंकाऊ
याग्सी नदी
फूचू
अमॉय
कंटन
हागकाग
इंडो-चायना
ब्रिटिश घुसपैठ के
मुख्य प्रदेश
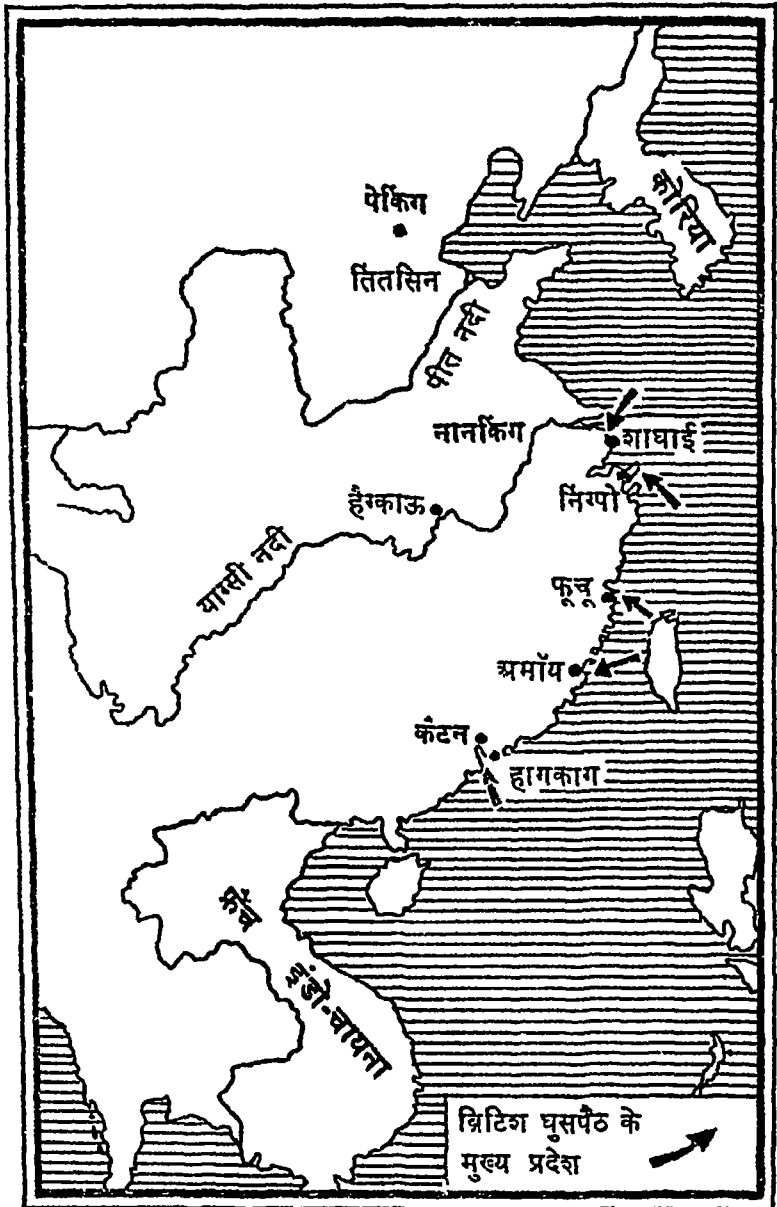
सदी के करीब बीच तक, वहाँ का केन्द्रीय शासन अपने देश को एक सूत्र में बाँधे रखने के लिए काफी ताकतवर था, इसलिए वह इससे बच गया। जैसा कि हम देख आये हैं, भारत इससे सौ साल से भी ज्यादा पहले, मुगल साम्राज्य के अन्त के साथ ही टुकडे-टुकडे हो चुका था। चीन उन्नीसवी सदी मे कमजोर तो हो गया, लेकिन फिर भी वह अन्त तक जमा रहा, और विदेशी शक्तियो की आपसी जलन ने उन्हे चीन की कमजोरी से बहुत ज्यादा फायदा नही उठाने दिया।

चीन-के बारे मे आखिरी पत्र (पत्र-सख्या ९४) मे मैंने तुम्हे बताया था कि अग्रेजो ने चीन के साथ अपना व्यापार बढाने के लिए क्या-क्या कोशिशें की। इंग्लैण्ड के बादशाह जार्ज तृतीय के पत्र के उत्तर मे मचू-सम्राट् शियन-लुङ ने, जो बडा ऊँचा और कृपा दिखानेवाला पत्र लिखा था, उसका एक लम्बा हिस्सा मैंने तुम्हे बताया था। यह १७९२ ई० की बात है। यह वर्ष तुम्हें यूरोप के उस समय के तूफानी दिनो की याद दिलायेगा—यह फ्रान्सीसी क्रान्ति का ज़माना था। इसके बाद ही नेपोलियन और उसके युद्ध आये। इस पूरे जमाने मे इग्लैण्ड को दम मारने को भी फुरसत न थी, वह जान हथेली पर लेकर नेपोलियन से लड रहा था। इस तरह नेपोलियन का अन्त होने तक और जान-मे-जान आने तक चीन म अपना व्यापार बढाने का इग्लैण्ड के सामने सवाल ही न था। इसके फौरन बाद, १८१६ ई० मे, एक दूसरा ब्रिटिश राजदूत-मडल चीन भेजा गया। लेकिन दरबारी अदब-कायदे पूरा करने के बारे मे कुछ दिक्कत पडने की वजह से चीनी सम्राट् ने ब्रिटिश राजदूत लार्ड एमहर्स्ट से मुलाकात करना नामजूर कर दिया और उसे वापस चले जाने का हुक्म दिया। इस कायदे का नाम 'कोतो' था, जो ज़मीन पर लेटकर दण्डवत् करने के समान था। शायद तुमने 'को-तोइङ' शब्द सुना होगा।

इसलिए यह बात यही खत्म हो गई। इसी बीच एक नया व्यापार, यानी अफीम का व्यापार, तेजी से बढ रहा था। इसे नया व्यापार कहना तो शायद ठीक न होगा, क्योकि अफीम पहले-पहल पन्द्रहवी सदी में ही भारत से चीन पहुँच चकी थी। पुराने जमाने मे भारत ने चीन को बहुत-सी अच्छी चीजे भेजी थी। पर भारत ने जितनी चीज़ें भेजी, उनमे अफीम वास्तव मे एक बुरी चीज थी। लेकिन यह व्यापार बहुत थोडा था। उन्नीसवी सदी मे यूरोपीय लोगो की वजह से, खासकर ब्रिटिश व्यापार की ठेकेदार ईस्ट इडिया कम्पनी की वजह से, यह बढने लगा। कहा जाता है कि पूर्व मे डच लोग मलेरिया से बचने के लिए तम्बाकू के साथ अफीम मिलाकर पिया करते थे। इन्होकी मार्फत चीन मे भी तम्बाकू की तरह अफीम पीने का रिवाज पहुँचा, लेकिन उससे भी ज्यादा नुकसान पहुँचाने-वाले रूप मे, क्योकि यहाँ सिर्फ अफीम पी जाने लगी। चीनी सरकार इस आदत

को छुडाना चाहती थी, क्योकि लोगो पर इसका बुरा असर पड रहा था, और अफीम का व्यापार देश का बहुत-सा धन बाहर खीचे ले जा रहा था।

१८०० ई० मे चीनी सरकार ने एक शाही फरमान जारी करके अपने देश मे किसी भी काम के लिए अफीम का आना रोक दिया। लेकिन इस व्यापार से विदेशियो को बडा फायदा होता था। इसलिए वे चोरी-छिपे अफीम लाते रहे, और चीनी अहलकारो को रिश्वतें देकर अपना काम बनाते रहे। इस पर चीन-सरकार ने यह नियम बना दिया कि उसका कोई भी अहलकार विदेशी व्यापारियो से न मिलने पाये। किसी भी विदेशी को चीनी या मचू भाषा सिखाने पर भी सख्त सज़ाएँ लगा दी गईं। लेकिन इन सब का कोई नतीजा नही निकला। अफीम का व्यापार चलता ही रहा और रिश्वत और भ्रष्टाचार का बाज़ार गर्म हो गया। १८३४ ई० के बाद, जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ठेका छीन-कर तमाम अंग्रेजो के लिए यह व्यापार खोल दिया, तब तो वास्तव मे हालत और भी खराब हो गई।

चोरी-छिपे गैर कानूनी तौर पर अफीम का लाया जाना एकदम बढ़ गया। तब आखिरकार चीन-सरकार ने इसे रोकने के लिए सख्त कार्रवाई करने का फैसला किया। इस काम के लिए एक ईमानदार आदमी चुना गया। चोरी से आनेवाली इस अफ़ीम की रोक के लिए लिन-सी-हो को स्पेशल कमिश्नर मुकर्रर किया गया और उसने फौरन ही तेजी और मुस्तैदी के साथ कार्रवाई की। वह दक्षिण के कैंटन नगर पहुँचा, जो इस गैर-कानूनी व्यापार का सबसे बडा केन्द्र था, और वहाँ के तमाम विदेशी व्यापारियो को हुक्म दिया कि जितनी भी अफीम उनके पास हो वह सब उसे सौंप दें। शुरू मे तो उन्होंने इस हुक्म को मानने से इन्कार कर दिया। इस पर लिन ने इसके लिए उन्हें मजबूर किया। उसने उन्हें उनकी फैक्टरियो मे बन्द कर दिया, उनके चीनी मजदूरो और नौकरो से उनका काम छुडवा दिया और बाहर से उनके पास रसद जाना रोक दिया। इस सख्ती और मुस्तैदी का नतीजा यह हुआ कि विदेशी व्यापारियो ने घुटने टेक दिये और अफ़ीम की बीस हजार पेटियाँ निकालकर उसके सामने धर दी। अफीम के इस भारी ढेर को, जो चोरी से भेजने के लिए ही इकट्ठा किया गया था, लिन ने नष्ट करवा दिया। उसने विदेशी व्यापारियो से यह भी कह दिया कि जब-तक जहाज़ का कप्तान अफीम न लाने का वचन न दे देगा, तबतक कोई जहाज़ कैंटन मे घुसने न पायेगा। अगर कोई इस वचन को तोडेगा तो चीनी सरकार जहाज़ और उसके सारे माल को जब्त कर लेगी। लिन काम को पूरी तरह करने-वाला आदमी था। उसने सौंपे हुए काम को अच्छी तरह कर दिखाया, लेकिन उसने यह नही सोचा कि इसके नतीजे चीन के लिए कितनी मुश्किल पैदा करनेवाले थे।

नतीजे ये हुए कि इग्लैण्ड के साथ लडाई छिड गई, जिसमे चीन की हार हुई, उसे बेइज्ज़ती की सुलह करनी पडी, और वही अफीम, जिसे चीन की सरकार रोकना चाहती थी, ज़बर्दस्ती चीन के हलक मे ठूँसी गई। अफ़ीम चीन के लिए अच्छी चीज़ थी या बुरी, इस बात से कोई वास्ता न था। चीन की सरकार क्या चाहती थी, इससे भी कोई ज्यादा सरोकार न था। असली बात यह थी कि अफीम के इस ग़ैरकानूनी व्यापार से अग्रेज़ व्यापारियो को बडा भारी मुनाफा होता था, और ब्रिटेन अपनी इस आमदनी का मारा जाना सहने को तैयार न था। कमिश्नर लिन ने जो अफीम नष्ट करवादी थी, उसमे सबसे ज्यादा अग्रेज व्यापारियों की थी। इसलिए राष्ट्रीय इज्ज़त के नाम पर अग्रेज़ो ने १८४० ई० मे चीन से युद्ध छेड दिया। इस युद्ध को 'अफीम का युद्ध' नाम दिया जाना ठीक ही है, क्योंकि यह चीन पर अफीम लादने के हक के लिए लडा और जीता गया था।

कैंटन व दूसरी जगहो की नाकेबन्दी करनेवाले ब्रिटिश जगी-बेडे के खिलाफ चीन का कुछ बस न चल सका। दो वर्ष बाद उसे हार माननी पडी, और १८४२ ई० मे नानकिंग का सुलहनामा हुआ, जिसके मुताबिक पाँच बन्दरगाह विदेशी व्यापार के लिए, जिसका उस समय मतलब था खासकर अफीम का व्यापार, खोल दिये गए। ये पाँच बन्दरगाह थे कैंटन-शाघाई, अमॉय, निंगपो, और फ़्यूचू। इन्हें 'सुलहनामे के बन्दरगाह' कहा जाता था। कैंटन के पास के हाग-काग टापू पर भी अग्रेज़ो ने कब्ज़ा कर लिया, और जो अफ़ीम नष्ट करदी गई थी उसके हर्जाने के तौर पर और चीन पर जो युद्ध ज़बर्दस्ती डाला गया था, उसके खर्चे के रूप मे उन्होंने चीन से भारी रकम ऐंठी।

इस तरह इग्लैण्ड ने अफीम की जीत हासिल की। चीन के सम्राट् ने इग्लैण्ड की मलिका विक्टोरिया से, चीन पर ज़बर्दस्ती लादे गए अफीम के व्यापार के भयकर नतीजो का बहुत नर्मी के साथ ज़िक्र करते हुए खुद अपील की। लेकिन मलिका की तरफ से कोई उत्तर न मिला। ठीक पचास वर्ष पहले इसी सम्राट् के पुरखे शियन-लुड ने इग्लैण्ड के बादशाह के नाम इससे बिलकुल दूसरे ही ढग का पत्र लिखा था।

पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियो के साथ चीन के बखेडो की यह शुरुआत थी। उसकी अलहदगी का अन्त हो गया। उसे विदेशी व्यापार मजूर करना पडा, और साथ ही मजूर करने पडे ईसाई मिशनरी। इन ईसाई मिशनरियो ने साम्राज्यवाद की हरावल के रूप मे चीन मे बडा महत्व का काम किया। बाद मे चीन पर जो-जो मुसीबतें आईं, उनका एक-न-एक कारण ये मिशनरी ही थे। इनका बर्ताव बडा गुस्ताखी भरा और गुस्सा दिलानेवाला होता था, लेकिन चीनी अदालतो मे उनपर मुकदमा नही चलाया जा सकता था। नये सुलहनामे

के अनुसार पश्चिमी विदेशियो पर चीनी कानून और चीनी न्याय लागू नही हो सकता था। उनपर उन्ही की अदालतो में मुकदमा चल सकता था। यह 'वाह्य राज्य-क्षेत्र' हक कहा जाता था, जो अब भी मौजूद है, और जिसका बहुत विरोध किया जाता है। मिशनरियो ने जिन चीनियो को ईसाई बनाया, वे भी अब इस 'वाह्य राज्य-क्षेत्र' की खास रियायतो की माँग करने लगे। वे किसी भी तरह इसके हकदार न थे, लेकिन इससे क्या होता था, क्योकि एक ताकतवर साम्राज्यशाही राष्ट्र का प्रतिनिधि वह बडा मिशनरी उनकी पीठ पर था। इस तरह एक गांव को दूसरे गांव के खिलाफ लडवा दिया जाता, और जब गाँववालो व दूसरे लोगो के धीरज की सीमा टूट जाती और वे मिलकर किसी मिशनरी पर टूट पडते और कभी-कभी उसकी हत्या भी कर देते, तब उसकी पीठ पर रहने वाली साम्राज्यशाही शक्ति आ धमकती, और कसकर बदला लेती। यूरोपीय शक्तियो के लिए चीन मे उनके मिशनरियो की हत्याओ से बढकर फायदेमन्द घटनाएँ और कोई नही हुई, क्योकि हरेक ऐसी हत्या को वे खास रियायतें माँगने और ऐंठ लेने का सबब बना लेते थे।

चीन मे एक सबसे भयकर और खूनी बलवा खडा करनेवाला भी एक नया ईसाई ही था। यह ताइपिंग का बलवा के नाम से मशहुर है, जो १८५० ई० के लगभग हुङ-सिन-च्वान नामक एक आधे-पागल ने शुरू किया था। इस मजहवी दीवाने को अनोखी सफलता मिली। वह "मूर्ति-पूजको को मारो" का जगी नारा लगाता हुआ सब तरफ़ गया और अनगिनती आदमी मारे गये। इस बलवे ने आधे से भी ज्यादा चीन को तबाह कर दिया, और बारह साल या इसीके करीब समय मे अन्दाजन दो करोड आदमी इसके कारण मौत के मुँह मे चले गये। अलबत्ता इस बलवे और उसके साथ होनेवाले हत्याकाण्डो के लिए ईसाई मिशनरियो को या विदेशी शक्तियो को जिम्मेदार ठहराना ठीक नही है। शुरू-शुरू मे तो मिशनरियो ने शायद इसकी खैर मनाई, लेकिन बाद मे उन्होने यह कह दिया कि हूङ से उनका कोई सरोकार नही है। लेकिन चीनी सरकार हमेशा यह विश्वास करती रही कि इसके जिम्मेदार मिशनरी लोग ही है। इस विश्वास से हम समझ सकते है कि ईसाई मिशनरियो की करतूतो से उस समय चीनी लोग कितने नाराज़ थे, और बाद मे भी रहे। उनके लिए मिशनरी कोई मजहव या नेकनीयती का दूत बनकर नही आया था, बल्कि साम्राज्यवाद का एजेण्ट था। जैसा कि किसी अंग्रेज लेखक ने कहा भी है—"चीनवालो के दिमाग मे घटनाओ का यह सिलसिला बना हुआ है कि पहले मिशनरियो का आना, फिर जगी जहाजो का पहुँचना, और उसके बाद जमीन हडपना।' ये बाते ध्यान मे रखनी चाहिए, क्योकि चीन के बखेडो मे मिशनरी बहुत बार सामने आता रहता है।

यह अनोखी बात है कि एक पागल मजहबी दीवाने का उठाया हुआ यह बलवा पूरी तरह दबाये जाने से पहले इतनी बड़ी कामयाबी हासिल कर गया। इसकी असली वजह यह थी कि चीन में पुरानी व्यवस्था टूट रही थी। मेरा खयाल है कि चीन पर जो पिछला पत्र मैंने तुम्हें लिखा था, उसमें मैंने तुम्हें वहाँ टैक्सों के बोझ का, बदलती हुई आर्थिक हालतों का और जनता के बढ़ते हुए असन्तोष का हाल बताया था। मंचू-सरकार के खिलाफ हर जगह गुप्त समितियाँ खड़ी हो रही थीं और हवा में बलवा भरा हुआ था। अफीम और दूसरी चीजों के विदेशी व्यापार ने हालत को और भी ज्यादा बिगाड़ दिया था। चीन में अलबत्ता पहले भी विदेशी व्यापार होता था, लेकिन इस समय हालत दूसरी थी। पश्चिम के बड़े-बड़े कल-कारखाने बड़ी तेजी से माल तैयार कर रहे थे, और वह सब-का-सब उन देशों में खप नहीं सकता था। इसलिए उन्हें बाहर के हाट-बाजार तलाश करने की जरूरत पड़ी। भारत में और चीन में बाजारों की तलाश के पीछे यही मजबूरी थी। इस विदेशी माल ने, और खासकर, अफीम ने पुरानी व्यापारी व्यवस्था को उलट दिया, और आर्थिक गुत्थी को और भी उलझा दिया। भारत की तरह चीनी बाजारों में भी चीजों की कीमतों पर दुनिया की कीमतों का असर पड़ने लगा। इन सब कारणों ने लोगों के असन्तोष और मुसीबतों को और भी बढ़ा दिया और ताइपिंग के बलवे को बल पहुँचाया।

यूरोपीय शक्तियों की बढ़ती हुई गुस्ताखी और दस्तन्दाजी के इन दिनों में चीन की यही हालत थी। इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नहीं थी कि यूरोपीय लोगों की माँगों का मुकाबला करने में चीन का कुछ बस न चला। इन यूरोपीय शक्तियों ने और जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, जापान ने, चीन से खास रियायतें और इलाके ऐंठने के लिए उसकी गड़बड़ और मुसीबतों से पूरा-पूरा फायदा उठाया। वास्तव में चीन का भी भारत जैसा ही हाल होता, और वह भी किसी एक या ज्यादा यूरोपीय शक्ति का या जापान का अधीन राज्य या साम्राज्य हो जाता, अगर इन शक्तियों में आपसी होड़ न होती और एक-दूसरे के लिए दिलों में जलन न होती।

उन्नीसवीं सदी में चीन की अर्थ-व्यवस्था का टूट जाना, ताइपिंग का बलवा, ईसाई मिशनरियों की करतूतों और विदेशी हमलों की इस आम हालत को बताने में मैं अपने असली किस्से से भटक गया हूँ। लेकिन घटनाओं की कहानी को समझदारी से जानने के लिए इन बातों के बारे में कुछ-न-कुछ जानना जरूरी है, क्योंकि इतिहास की घटनाएँ किसी चमत्कार की तरह अचानक नहीं हुआ करतीं। बहुत-से कारणों के नतीजे से ही वे घटित होती हैं। लेकिन ये कारण अक्सर जाहिर नहीं होते, वे घटनाओं की सतह के नीचे छिपे रहते हैं। चीन के मंचू-शासक,

जो अभी तक इतने महान् और शक्तिशाली थे, भाग्य-चक्र के इस अचानक परिवर्तन पर जरूर ही चकित रह गये होगे। उन्होंने शायद यह नहीं देखा कि उनके पतन की खास वजह उनके ही अतीत मे समाई हुई थी, उन्होने पश्चिम की औद्योगिक प्रगति को और चीन की अर्थ-व्यवस्था पर पडने वाले उसके सत्यानाशी नतीजो को अच्छी तरह नही समझा। 'बर्बर' विदेशियो के अपने यहाँ जबर्दस्ती घुस आने पर उन्हे बहुत गुस्सा आया। उस वक्त के सम्राट् ने विदेशियो के इस घुस आने का जिक्र करते हुए एक मजेदार पुराने चीनी मुहाविरे का इस्तेमाल किया। उसने कहा कि मैं किसी आदमी को अपने बिस्तर के पास खर्राटे न लेने दूंगा! हालांकि प्राचीन ग्रथो के ज्ञान और विनोद से मुसीबत के समय गम्भीर विश्वास और खूब धीरज की शिक्षा मिलती थी, लेकिन विदेशियो को पीछे हटाने के लिए वे काफी नही थे।

नानकिंग की सुलह ने ब्रिटेन के लिए चीन के दरवाजे खोल दिये। लेकिन यह नही हो सकता था कि सारे मोटे-मोटे निवाले अकेला ब्रिटेन ही हडप कर जाय। फ्रान्स और सयुक्त राज्य अमेरिका भी आ धमके और उन्होने भी चीन के साथ व्यापारी सुलहनामे किये। चीन लाचार था और उसपर की जानेवाली यह ज़ोर-जबर्दस्ती उसके दिलमे विदेशियो के लिए कोई प्रेम और आदर पैदा न कर सकी। अपने यहाँ इन 'बर्बरो' की मौजूदगी पर ही उसे बहुत गुस्सा था। इधर विदेशियो की भूख बुझना भी अभी बहुत दूर की बात थी। चीन के शोषण की उनकी भूख बढ ही रही थी। ब्रिटेन फिर इसमे अगुआ बना।

विदेशियो के लिए यह बडा अच्छा मौका था, क्योकि चीन ताइपिंग के बलवे मे उलझा होने के कारण कोई विरोध नही कर सकता था। इसलिए अब अग्रेज़ युद्ध का कोई बहाना ढूंढने लगे। १८५६ ई० मे कैंटन के चीनी वाइसराय ने एक जहाज़ के चीनी मल्लाहो को समुद्री डकैती के अपराध मे गिरफ्तार कर लिया। यह जहाज़ चीनियो का था और इस मामले से विदेशियो का कोई सरोकार न था। लेकिन हागकाग सरकार के दिये हुए परवाने की वजह से उसपर ब्रिटिश झण्डा फहराया हुआ था। इत्तफाक की बात यह थी कि उस समय तक इस परवाने की मियाद भी ख़त्म हो चुकी थी। लेकिन फिर भी, नदी-किनारे के मेमने और भेडिये के किस्से की तरह, ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इसीको युद्ध का बहाना बना लिया।

इग्लैण्ड से चीन को फौजे भेजी गई। ठीक इन्ही दिनो भारत मे १८५७ का विद्रोह शुरू हो गया, और इसलिए इन सब फौजो को भारत भेज दिया गया। विद्रोह के दबाये जाने तक चीन के युद्ध को इन्तजार करना पडा। १८५८ ई० मे यह दूसरा चीन-युद्ध शुरू हुआ। इसी बीच फ्रान्स ने भी इस युद्ध मे शरीक होने का

एक वहाना ढूँढ निकाला, क्योकि चीन मे किसी जगह कोई फ्रान्सीसी मिशनरी मार डाला गया था। इस तरह अंग्रेज और फ्रान्सीसी चीनियो पर टूट पडे, जो उस समय ताइपिंग के वलवे मे उलझे हुए थे। ब्रिटिश और फ्रासीसी सरकारो ने रूस और अमेरिका को भी इस युद्ध मे शामिल होने को उकसाया, लेकिन वे राजी न हुए। मगर लूट मे हिस्सा वँटाने को वे विल्कुल तैयार थे। असल मे कोई लडाई हुई ही नही, और इन चारो शक्तियो ने चीन के साथ नई सन्धि करके ज्यादा-से-ज्यादा रियायतें ऐंठ ली। विदेशी व्यापार के लिए और ज्यादा वन्दरगाह खुल गये।

लेकिन चीन के इस दूसरे युद्ध का किस्सा अभी खत्म नही हुआ है। इस नाटक का अभी एक और अक खेला जाना वाकी था, जिसका अन्त और भी ज्यादा दुखदाई हुआ। जव सन्धियाँ की जाती हैं तो दस्तूर के मुताविक उसमे ताल्लुक रखनेवाली सरकारो को उन्हें पक्का या सही करना होता है। यह तय पाया था कि एक वर्ष के अन्दर पेकिंग शहर मे इन नई सन्धियो को पक्का कर दिया जाय। जव इसका समय आया तो रूसी राजदूत तो खुश्की के रास्ते सीधा पेकिंग पहुँच गया। वाकी तीनो समुद्री-रास्ते से आये और उन्होंने अपनी नावो को पीहो नदी मे होकर पेकिंग तक लाना चाहा। उन दिनो इस शहर को ताइपिंग के वल-वाइयो से खतरा था और नदी पर किलेवन्दी की हुई थी। इसलिए चीन सरकार ने ब्रिटिश, फ्रान्स और अमेरिका के राजदूतो से नदी के रास्ते न आकर जरा उत्तर की तरफ होकर खुश्की के रास्ते आने की प्रार्थना की। यह प्रार्थना कुछ वेजा न थी। अमेरिकी राजदूत तो इसपर राजी हो गया, लेकिन ब्रिटिश और फ्रान्सीसी राजदूत नही हुए। किलेवन्दी होते हुए भी उन्होंने जवर्दस्ती नदी मे होकर आने की कोशिश की। इसपर चीनियो ने उनपर गोलियाँ चला दी और भारी नुकसान के साथ उन्हे वापस लौटने को मजवूर किया।

मगरूर और मदान्ध सरकारें, जो अपने सफर का रास्ता वदलने की चीन-सरकार की प्रार्थना तक सुनने को तैयार न थी, इसे वर्दाश्त न कर सकी। वदला लेने के लिए और ज्यादा फौजें वुला भेजी गईं। १८६० ई० मे उन्होने पेकिंग के प्राचीन नगर पर धावा वोल दिया, और अपना वदला ववादी, लूट और नगर की सवसे ज्यादा अद्भुत इमारत को जलाने के रूप ने निकाला। यह इमारत शाही ग्रीष्म महल, यून-मिग-यून थी जो शयिन-लुङ के शासन-काल मे पूरी हुई थी। इस महल मे साहित्य और कला के अनमोल रत्न भरे हुए थे, जो चीन की सवसे सुन्दर चीजें थी। काँसे की वडी सुन्दर मूर्तियाँ, चीनी मिट्टी के अद्भुत वढिया वर्तन, दुर्लभ हस्तलिखित पुस्तके, चित्र और हर तरह के विचित्र नमूने और हुनर के काम, जिनके लिए चीन एक हजार वर्ष से मशहूर था, इसमे रखे हुए थे। जाहिल

और हूश अंग्रेज़ और फ्रान्सीसी सिपाहियो ने इन वेशकीमती चीज़ो को लूटा और कई दिनो तक जलती रहनेवाली भयकर होलियो मे झोककर खाक कर दिया। ऐसी हालत मे हज़ारो वर्षों की सस्कृति के धनी चीनियो ने अगर इस वहशीपन पर अपने दिलो मे दर्द महसूस किया और इन तोड-फोड करनेवालो को सिर्फ हत्याएँ करनेवाले व वर्वाद करनेवाले जाहिल जंगली समझा तो इसमे क्या ताज्जुव है? इससे उन्हे हूणो, मगोलो और पुराने ज़माने के दूसरे वहुत-से जगली तवाहकारो की फिर याद हो आई होगी।

लेकिन विदेशी 'ववंरो' को इस वात की क्या परवाह थी कि चीनी उनके वारे मे क्या सोचते हैं। अपने जगी-जहाजो और नये ढंग के लडाई के हथियारो के बीच वे अपने को सुरक्षित समझते थे। अगर सैकडो वर्षों मे जमा की गई बहुमूल्य और दुर्लभ चीजें नष्ट हो गई, तो उन्हे इससे क्या मतलव था? चीन की कला और सस्कृति की उन्हे परवाह ही क्या थी? उनके शब्दो मे तो—

"चाहे कुछ भी हो, हमारे पास वडी तोप है, और उनके पास नहीं है।"

## ११५
## चीन पर मुसीबतें

२४ दिसम्बर, १९३२

अपने पिछले पत्र मे मैंने तुम्हे वताया था कि किस तरह १८६० ई० मे अंग्रेजो और फ्रान्सीसियो ने पेकिंग के अद्‌भुत ग्रीष्म-भवन को तहस-नहस कर दिया। कहा जाता है कि चीनियो ने सुलह के झण्डे को नही माना, इसलिए उनकी सज़ा के तौर पर यह किया गया था। यह सच हो सकता है कि कुछ चीनी फौजे इस तरह के अपराध की दोषी रही हो, लेकिन अंग्रेजो और फ्रान्सीसियो ने जान-वूझकर जो वहशीपन वताया, वह तो किसी की समझ मे आ ही नही सकता। कुछ नादान सिपाहियो का यह काम नही था, वल्कि ज़िम्मेदार अफसरो ने ही यह सवकुछ करवाया था। ऐसी वातें क्यो होती है? अंग्रेज़ और फ्रान्सीसी सभ्य और सुसस्कृत कौमे हैं, और कई वातो मे आधुनिक सभ्यता की अगुआ है। और फिर भी ये लोग जो निजी जीवन मे वडे भले और दूसरो का खयाल रखनेवाले होते है, सार्वजनिक व्यवहार मे और दूसरी कौमो के साथ लडाई मे अपनी सारी सभ्यता और भलमनसाहत भूल जाते हैं। व्यक्तियो के आपसी व्यवहार मे और राष्ट्रो के आपसी वर्ताव मे एक वडा अजीव भेद मालूम होता है। वच्चो, लडको और लडकियो को ज्यादा स्वार्थी न वनने, दूसरो का खयाल रखने और अच्छा वर्ताव करने की शिक्षा दी जाती है। हमारी सारी शिक्षा का इरादा हमे यही

सवक सिखाना होता है, और कुछ हद तक हम यह सीखते भी है। पर जब युद्ध आते हैं, तो हम अपना पुराना सवक भूल जाते हैं और हमारे भीतर छिपा हुआ जानवर बाहर आ जाता है। इस तरह भले आदमी जानवरो की तरह बर्ताव करने लगते है।

एक ही बिरादरी के दो राष्ट्र भी, जैसे जर्मनी और फ्रान्स जब एक-दूसरे से लडते हैं, तब भी ऐसा ही होता है। लेकिन जब जुदा-जुदा नस्लो के बीच लडाई होती है, एशिया और अफ्रीका की नस्लो और कौमो के साथ यूरोपीय लोगो का मुकाबला होता है, तब हालत इससे भी बुरी हो जाती है। अलग-अलग नस्लें एक-दूसरी से परिचित नही होती, क्योकि वे एक-दूसरी के लिए बन्द किताब की तरह होती हैं। और जहाँ अज्ञान है, वहाँ आपसी हमदर्दी नही होती। नस्लो की आपसी नफरत और दुश्मनी बढती जाती है, और जब दो नस्लो के बीच लडाई छिडती है तब वह सिर्फ राजनीतिक युद्ध नही होता, बल्कि उससे कही बदतर नस्लो का युद्ध बन जाता है। इससे किसी हद तक यह समझ मे आ जाता है कि १८५७ ई० के भारतीय विद्रोह मे जो दिल दहलानेवाली बाते हुईं, और एशिया व अफ्रीका मे हुकूमतें करनेवाली यूरोपीय शक्तियो ने जो जुल्म और वहशीपन किये, उनका क्या सबब था।

यह सब बहुत दुखभरा और बेहूदा नजर आता है। लेकिन जहाँ एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र पर, एक कौम की दूसरी कौम पर और एक वर्ग की दूसरे वर्ग पर हुकूमत होती है, वहाँ बेचैनी, रगड, और विद्रोह, और शोषित राष्ट्र, कौम या वर्ग का अपने शोषक से पीछा छुडाने की कोशिश, होना लाजिमी है। आज के हमारे समाज का आधार यही एक दूसरे का शोषण है। इसीको पूंजीवाद कहते हैं और इसीसे साम्राज्यवाद पैदा हुआ।

उन्नीसवी सदी के बडे-बडे कल-कारखानो ने और उद्योगो की उन्नति ने पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रो को और संयुक्त राज्य अमेरिका को मालदार और शक्तिशाली बना दिया था। वे समझने लगे थे कि वे ही दुनिया के मालिक हैं, और दूसरी नस्लें उनसे बहुत हीन हैं और इसलिए उन्हे उनके लिए रास्ता छोड देना चाहिए। कुदरत की ताकतो पर कुछ काबू हो जाने की वजह से वे दूसरो के लिए मग़रूर और घमण्डी हो गये। वे इस बात को भूल गये कि सभ्य आदमी को कुदरत पर ही नही, बल्कि खुद अपने पर भी काबू करना चाहिए। इसलिए हम देखते हैं कि इस उन्नीसवी सदी मे वे प्रगतिशील नस्लें, जो बहुत बातो मे दूसरी नस्लो से आगे थी, अक्सर ऐसे बर्ताव कर बैठती थी, जो पिछडे हुए जगली आदमी को भी शरमा दें। इससे तुमको यूरोपीय नस्लो का एशिया और

अफ्रीका मे न सिर्फ पिछली सदी का, बल्कि आज का भी, बर्ताव समझने मे शायद मदद मिलेगी।

यह खयाल न कर बैठना कि मैं अपने लोगो से या दूसरी नस्लों से यूरोपीय नस्लो की यह तुलना अपनी अच्छाई बताने की गरज से कर रहा हूं। हर्गिज़ नही। हम सबमे काले धब्बे मौजूद हैं, बल्कि हमारे कुछ धब्बे तो काफी बुरे हैं, वरना हम जितने नीचे गिर गये हैं, उतने न गिरते।

अब हम चीन वापस चलेंगे। ग्रीष्म-महल को नष्ट करके अंग्रेज और फ्रान्सीसी अपनी ज़बर्दस्त ताकत जतला चुके थे। इसके बाद उन्होंने चीन को पुरानी सन्धियो को पक्की करने के लिए मजबूर किया और उससे नई-नई रियायतें ऐंठ ली। इन सन्धियो के मुताबिक चीन-सरकार को शघाई मे विदेशी अफसरो की मातहती मे अपना एक तटकर विभाग बनाना पडा। इसका नाम रक्खा गया 'इम्पीरियल मैरिटाइम कस्टम्स' यानी शाही समुद्री तटकर।

इस बीच ताइपिंग का बलवा, जिसने चीन को कमजोर करके विदेशी ताक़तो को पैर फैलाने का मौका दिया था, चल ही रहा था। आखिरकार १८६४ ई० मे चीनी गवर्नर ली-हुङ-चाङ ने, जो चीन का एक प्रमुख राजनीतिज्ञ हो गया है, इसको पूरी तरह दबा दिया।

जब इग्लैण्ड और फ्रान्स चीन पर इस तरह आतक जमाकर उससे खास अधिकार और रियायतें ऐंठ रहे थे, उत्तर मे रूस ने बिना ज्यादा खून-खराबी के ही एक मार्के की कामयाबी हासिल कर ली। कुछ ही वर्ष पहले कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा जमाने के भूखे रूस ने यूरोप मे तुर्की पर हमला किया था। इग्लैण्ड और फ्रान्स दोनो ही रूस की बढती हुई ताकत से डरते थे, इसलिए वे तुर्कों से जा मिले और १८५४-५६ ई० को क्रीमियन युद्ध मे उन्होंने रूस को हरा दिया। पश्चिम मे हार खाकर रूस ने पूर्व पर नजर डालनी शुरू की और उसे बडी कामयाबी मिली। बिना लडाई के उपायो से चीन को फुसलाया गया कि वह ब्लादी-वोस्तोक के शहर व बन्दरगाह को समुद्र से लगे हुए उत्तर-पूर्वी प्रान्त समेत रूस के हवाले कर दे। रूस की इस कामयाबी की नामवरी एक नौजवान रूसी अफसर मुरावीफ को है। इस तरह तीन साल के युद्ध और पागलपन भरी बर्बादी के बाद भी इग्लैण्ड और फ्रान्स जितना फायदा न उठा सके, उससे कही बहुत ज्यादा रूस ने दोस्ताना तरीको से हासिल कर लिया।

१८६० ई० मे हालत इस तरह की थी। मचूवश का महान् चीनी साम्राज्य, जिसका फैलाव और दबदबा अठारहवी सदी के अन्त तक लगभग आधे एशिया पर छा गया था, अब दीन-हीन हो गया था। सुदूर यूरोप की पश्चिमी शक्तियो ने उसे हरा दिया था, नीचा दिखा दिया था। दूसरे अन्दरूनी झगडे-फिसादो ने

साम्राज्य को करीब-करीब उलट दिया था। इन सब बातो ने चीन को जड से हिला दिया। जाहिर था कि हालत अच्छी नही थी, इसलिए नई हालतो का और विदेशी खतरे का सामना करने के लिए देश के दुबारा सगठन का कुछ प्रयत्न किया गया। इसलिए १८६० ई० के वर्ष को, जबकि चीन ने विदेशियो के हमलो का मुकाबिला करने की तैयारी की, नये युग की शुरुआत समझनी चाहिए। चीन का पडोसी जापान भी इस समय इसी तरह की तैयारी मे लगा हुआ था। इसलिए यह भी उसके लिए मिसाल बन गया। चीन की बनिस्बत जापान को कही ज्यादा सफलता मिली, लेकिन कुछ देर के लिए चीन भी विदेशी शक्तियो को रोके रहा।

चीन के एक हमदर्द दोस्त बर्लिङ्गेम नामक अमेरिका-निवासी के साथ एक चीनी प्रतिनिधि-मण्डल सन्धिवाले राष्ट्रो के यहाँ भेजा गया और इसने चीन के लिए पहले से कुछ अच्छी शर्ते हासिल करने मे सफलता हासिल की। १८६८ ई० मे चीन और अमेरिका के बीच एक नई सन्धि हुई, और इसकी दिलचस्प बात यह है कि इसमे चीन सरकार ने सयुक्त राज्य अमेरिका पर मेहरबानी और रियायत के तौर पर अपने यहाँ के मजदूरो को अमेरिका ले जाया जाना मजूर कर लिया। सयुक्त राज्य अमेरिका अपने पश्चिमी प्रशान्त राज्यो को, खासकर कैलिफोर्निया को बढाने मे लगा हुआ था और वहाँ मजदूरो की बहुत कमी थी। इसलिए उसने चीनी मजदूरो को अपने यहाँ मँगवाया। लेकिन यह एक नये झगडे का सबब बन गया। अमेरिकी लोग सस्ते चीनी मजदूरो का विरोध करने लगे, इससे दोनो सरकारो के बीच तनातनी शुरू हो गई। बाद मे अमेरिकी सरकार ने चीनी मजदूरो का आना बन्द कर दिया। इस अपमानजनक बर्ताव पर चीनी जनता मे बहुत नाराजी फैली और उन्होने अमेरिकी माल का बायकाट कर दिया। लेकिन यह सब एक लम्बा किस्सा है, जो हमे बीसवी सदी मे पहुँचा देता है। हमे उसमे जाने की जरूरत नही।

ताइपिंग का बलवा अभी दब भी न पाया था कि मचू-शासको के खिलाफ एक और विद्रोह उठ खडा हुआ। यह खास चीन मे नही, बल्कि सुदूर पश्चिम मे, एशिया के बीच मे, तुर्किस्तान मे हुआ था। यहाँ की ज्यादातर आबादी मुसलमानो की थी, इसलिए १८६३ ई० मे यहाँ के मुस्लिम कबीलो ने, जिनका नेता याकूबबेग था, विद्रोह करके चीनी अधिकारियो को निकाल बाहर किया। यह मुकामी विद्रोह दो कारणो से हमारे लिए दिलचस्प है। रूस ने चीन का कुछ इलाका हडप करके इससे कुछ फायदा उठाने की कोशिश की। वास्तव मे जब कभी चीन मुसीबत मे फँसा होता तभी यूरोपीय शक्तियो की यही खूब सधी-सवाई चालबाजी होती थी। लेकिन, यह देखकर सबको बडा ताज्जुब हुआ कि इस बार चीन ने रूस की कार्रवाई को मानने से इन्कार कर दिया और आखिर-

कार हड़प की हुई जमीन उगलवा ली। इसकी वजह थी चीनी सेनापति त्सो-त्सुङ-ताङ का मध्य-एशिया में याकूबबेग के खिलाफ अनोखा मोर्चा। इस सेनापति ने बड़े इतमीनान के साथ मामले को शुरू किया। बागियों तक पहुँचने के पहले वह साल-पर-साल बिताता हुआ, धीरे-धीरे अपनी फौज आगे बढ़ाता रहा। दो बार तो उसने अपनी फौज को इतने दिनों तक एक जगह ठहराये रक्खा कि उसने अपने खाने के लिए अनाज बोकर फसल भी काट ली। फौज के लिए रसद की समस्या हमेशा कठिन रहती है, और गोबी के रेगिस्तान को पार करते वक्त तो यह भयानक हो गई होगी। इसलिए सेनापति त्सो ने इसे निराले ढँग से हल कर लिया। इसके बाद उसने याकूबबेग को हरा दिया और विद्रोह का अन्त कर दिया। कहा जाता है कि काशगर, तुरफान और यारकन्द में उसकी चढ़ाई भयानक और फ़ौजी लिहाज़ से अद्भुत है।

मध्य-एशिया में रूस के साथ सन्तोष के लायक फ़ैसला कर लेने के बाद चीनी सरकार को जल्दी ही अपने दूर तक फैले हुए, लेकिन टूक-टूक होनेवाले राज्य के दूसरे हिस्से में झगड़े का सामना करना पड़ा। यह झगड़ा चीन की मातहत रियासत अनाम में हुआ। फ्रान्स का इस पर बहुत दिनों से दाँत था और चीन और फ्रान्स के बीच लड़ाई छिड़ गई। इस बार फिर सबको ताज्जुब हुआ कि चीन ने अच्छा लोहा लिया और फ्रान्स से ज़रा भी नही दबा। १८८५ ई० में सन्तोष के लायक सन्धि हो गई।

चीन में इस नई मज़बूती के चिह्नों ने साम्राज्यवादी शक्तियों पर गहरी छाप पड़ी। ऐसा मालूम होने लगा कि चीन अपनी १८६० ई० और इसके पहले की कमज़ोरी को दूर करके पनप रहा था। सुधारों की चर्चा चली और बहुत-से लोग यह समझने लगे कि चीन अपनी नाजुक हालत को पार कर गया है। इसी कारण, १८८६ ई० में इंग्लैण्ड ने बरमा को अपने साम्राज्य में मिलाते वक्त चीन को हर दसवें साल दस्तूर के मुताबिक खिराज भेजने का वादा कर लिया।

लेकिन चीन की नाजुक हालत सुधरने में अभी बहुत कसर थी। अभी उसकी किस्मत में बहुत बेइज्ज़ती, मुसीबतें और टूट-फूट बदी थी। उसके अन्दर की ख़राबी सिर्फ उसकी फौज या जंगी बेड़े की कमज़ोरी नहीं थी, बल्कि कोई बहुत गहरी चीज थी। उसका सारा सामाजिक व आर्थिक ढाँचा चूर-चूर हो रहा था। मैं बतला चुका हूँ कि उन्नीसवीं सदी के शुरू में, जब मंचू-शासकों के खिलाफ गुप्त समितियाँ बन रही थी, चीन की हालत बहुत ख़राब थी। विदेशी व्यापार ने और उद्योगोंवाले देशों के सम्पर्क के असर ने हालत को और बिगाड़ दिया था। १८६० ई० के बाद चीन में जो मज़बूती दिखाई दी, उसके पीछे असलियत कुछ नहीं थी। कुछ उत्साही अफसरों ने, खासकर ली-हुङ-चाङ ने, इधर-उधर कुछ

मुकामी सुधार किये। लेकिन ये सुधार न तो समस्या की जड तक पहुँच सके, न चीन को कमज़ोर बनानेवाले रोग का इलाज ही कर सके।

इन वर्षों मे चीन मे जो ऊपरी मजबूती दिखाई दी, उसकी खास वजह यह थी कि शासन की लगाम एक ज़ोरदार शासक के हाथ मे थी। यह थी एक अनोखी महिला, सम्राज्ञी राजमाता त्जू-सी। जिस समय शासन की बागडोर उसके हाथो मे आई, उस समय उसकी उम्र सिर्फ २६ साल की थी, क्योकि नाम के लिए सम्राट् उसका दूध-मुँहा पुत्र था। सैंतालीस वर्ष तक उसने बडी मर्दानगी के साथ चीन पर शासन किया। उसने चुन-चुनकर मुस्तैद अफ़सर मुकर्रर किये, और उनपर अपनी मर्दानगी की कुछ छाप लगा दी। इन बातो की व इस महिला की ही वजह से चीन ने इतनी बहादुराना मजबूती दिखाई, जितनी वह बहुत वर्षों से नही दिखा सका था।

लेकिन इसी अर्से मे सँकडे समुद्र के उस पार जापान चमत्कार दिखा रहा था और ऐसा बदल रहा था कि बे-पहचान हुआ जा रहा था। इसलिए आओ अब हम जापान चलें।

: ११६ :

## जापान तेजी से आगे दौड़ता है

२७ दिसम्बर, १९३२

जापान का हाल लिखे मुझे बहुत दिन हो गये हैं। पाँच महीने हुए मैंने तुम्हें (पत्र स० ८१ मे) बताया था कि सत्रहवी सदी मे इस देश ने कैसे विचित्र ढंग से अपने-आपको चारो तरफ से बन्द कर लिया था। १६४१ ई० से लेकर २०० वर्षों से ज्यादा तक, जापानी लोग बाक़ी दुनिया से बिलकुल अलग होकर रहे। इन २०० वर्षों ने यूरोप, एशिया और अमेरिका और अफ्रीका तक मे बडे-बडे परिवर्तन देखे। इस ज़माने मे जो हलचल पैदा करनेवाली घटनाएँ हुईं, उनमे से कुछ का हाल मैं तुम्हें बता ही चुका हूँ। लेकिन इस एकान्तवासी राष्ट्र मे इन घटनाओं की कोई खबर नही पहुँची, जापान की पुरातन-युगी सामती हवा को छेडनेवाला कोई झोका बाहरी दुनिया से न आया। ऐसा मालूम होता था मानो समय और परिवर्तन की चाल रोक दी गई हो और सत्रहवी सदी बीच मे ही बन्दी बना दी गई हो। क्योकि, हालाँकि काल का पहिया घूम रहा था, लेकिन तसवीर वही ठहरी हुई मालूम देती थी। यह तसवीर थी सामन्ती जापान की, जिसमे जमीदार-वर्ग के हाथो मे सत्ता थी। सम्राट् के हाथ मे कोई अधिकार नही था, असली शासक शोगुन था, जो बडे फिरके का मुखिया होता था। भारत के क्षत्रियो की तरह वहाँ

जापान का उत्कर्ष
रूस
मंचूरिया
मंगोलिया
पीकिंग
पोर्टआर्थर
कोरिया
जापान
पीली नदी
चीन
नानकिंग
शंघाई
यांगटीसी नदी
कैन्टन
फारमूसा
चीन युद्ध (१८९५) और
रूसी युद्ध (१९०५) के बाद
जापान के अधिकार में प्रदेश
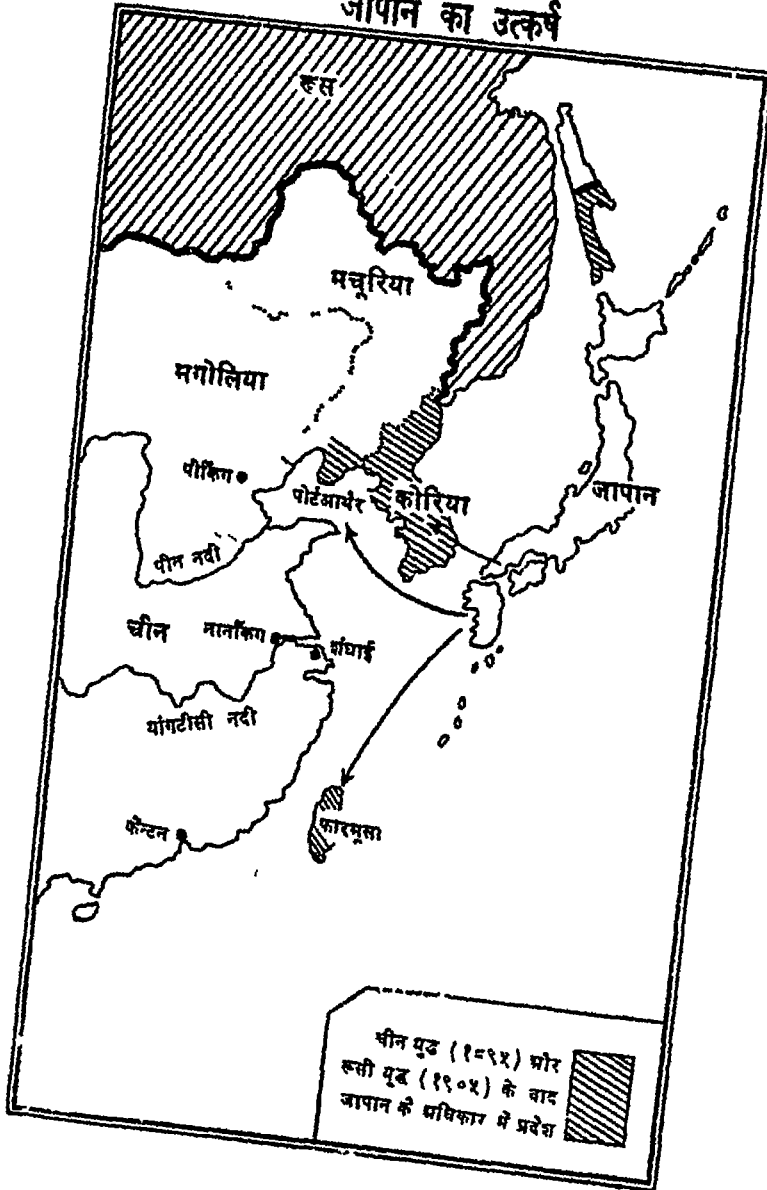
भी समूराई नाम की एक सैनिक जाति थी। सामन्ती सरदार और समूराई लोग ही शासक-वर्ग थे। सारे सरदार और फिरके अक्सर आपस मे लडते रहते थे। लेकिन किसानो और दूसरे लोगो को सताने मे और उनका शोषण करने मे ये सब मिलकर एक हो जाते थे।

फिर भी जापान मे शान्ति थी। लम्बे गृह-युद्धो के बाद, जिनसे देश पस्त हो गया था, वह शान्ति बडी सुखदाई थी। आपस मे हमेशा लडनेवाले बडे-बडे सरदारो मे से कुछ को—दाइम्यो सरदारो को—पूरी तरह दबा दिया गया। गृह-युद्ध की तबाही को जापान धीरे-धीरे दुरुस्त करने लगा। लोगो का ध्यान अब उद्योग, कला, साहित्य और मजहब की ओर ज्यादा खिचने लगा। ईसाई-मजहब दबाया जा चुका था; अब बौद्ध-धर्म का दुबारा जोर हुआ और बाद मे शिन्तो-मत का, जो खास जापानी ढंग की पितरो की पूजा है। सामाजिक व्यवहार और सदाचार के मामलो मे चीनी ऋषि कन्फ्यूशस को आदर्श माना जाने लगा। दरबार के और अमीर-सरदारो के मडलो मे कला खूब पनपी। कई बातो में मध्य-युगो के यूरोप की-सी तसवीर सामने आ गई।

लेकिन परिवर्तनो को रोके रखना आसान नही होता। हालाँकि बाहरी लगाव बन्द कर दिये गए थे, लेकिन खुद जापान के अन्दर ही परिवर्तन काम कर रहा था, हाँ, इस परिवर्तन की चाल उससे बहुत धीमी थी, जो बाहरी सम्पर्क से होती। दूसरे देशो की तरह यहाँ भी सामन्ती व्यवस्था आर्थिक तबाही की तरफ जाने लगी। असन्तोष बढ गया, और शासन का प्रमुख होने के सबब से शोगुन इसका शिकार होने लगा। शिन्तो-पूजा की उन्नति की वजह से अब जनता सम्राट् का आदर करने लगी, क्योकि उसे सूर्य का वंश-धर माना जाता था। इस तरह चारो ओर फैले हुए असन्तोषो से राष्ट्रीयता की भावना पैदा हुई और यही भावना, जिसकी नीव अर्थ-व्यवस्था के खण्डहरो पर थी, लाजिमी तौर पर परिवर्तन लाने-वाली और जापान के दरवाजे बाहरी दुनिया के लिए खोलनेवाली बन जाती।

जापान के दरवाजे खोलने के लिए विदेशी शक्तियो ने बहुतेरी कोशिशें की थी, लेकिन वे सब विफल रहीं। उन्नीसवी सदी के लगभग बीच में सयुक्त राज्य अमेरिका इसमे खासतौर से दिलचस्पी लेने लगा। वह इन दिनो पश्चिम मे कैलि-फोर्निया तक फैल गया था, और सैनफ्रान्सिस्को एक बडा बन्दरगाह बनता जा रहा था। चीन से जो नया व्यापार खुला था वह बडा आकर्षक था, मगर प्रशान्त महा-सागर को पार करना एक लम्बी यात्रा थी। इसलिए अमेरिकावाले चाहते थे कि इस लम्बी यात्रा मे किसी जापानी बन्दरगाह पर ठहरकर रसद ले सकें। अमेरिका-वालो ने बार-बार जापान के दरवाजे खुलवाने की जो कोशिशें की, उनकी यही वजह थी।

१८५३ ई० मे अमेरिकी जहाजो का एक दस्ता, अमेरिका के राष्ट्रपतिका पत्र लेकर जापान आया। जापान ने भाप से चलनेवाले इन्ही जहाजो को सबसे पहले देखा। साल भर बाद शोगुन दो बन्दरगाह खोलने के लिए राजी हो गया। जब अंग्रेजो, रूसियो और डचो ने यह सुना तो उन्होंने भी आकर शोगुन से इसी तरह सन्धियाँ की। इस तरह २१३ वर्ष बाद जापान के दरवाजे फिर बाहरी दुनिया के लिए खुल गये।

लेकिन झगडा खडा होनेवाला था। विदेशी शक्तियो के आगे शोगुन ने अपने-आपको सम्राट् जाहिर किया था। पर अब वह लोकप्रिय नही रहा था और उसके और उसकी विदेशी सन्धियो के खिलाफ जबर्दस्त खलबली मच गई। कुछ विदेशी मारे भी गये और इसका नतीजा यह हुआ कि विदेशी शक्तियो ने जहाजी हमला कर दिया। हालत दिन-पर-दिन बिगडती गई, अन्त मे, १८६७ ई० मे शोगुन को इस्तीफा देने के लिए मजबूर किया गया। इस तरह तोकुगावा शोगुनशाही का अन्त हुआ, जो तुम्हें याद हो या न हो, १६०३ ई० मे आयेयासू से शुरू हुई थी। यही नही, शोगुनशाही की सारी प्रथा ही, जो ७०० वर्षों से चली आ रही थी, खत्म हो गई।

नये सम्राट् को अब अपनी असली सत्ता मिल गई। मुत्सोहितो के नाम से उसी समय राजगद्दी पर बैठनेवाला यह सम्राट् सिर्फ चौदह वर्ष का लडका था। इसने १८६७ से १९१२ ई० तक, यानी पैंतालीस वर्ष, राज किया। यह जमाना 'मेईजी', यानी प्रबुद्ध शासन का युग कहलाता है। इसी सम्राट् के शासन-काल मे जापान ने तेजी से प्रगति की और वह पश्चिमी देशो की नकल करके बहुत बातो मे उनकी बराबरी करने लगा। एक पीढी मे पैदा किया हुआ यह परिवर्तन निराला है, और इतिहास मे बे-मिसाल है। जापान एक बडा औद्योगिक देश हो गया और पश्चिमी राष्ट्रो के ढंग का साम्राज्यशाही व लुटेरा राष्ट्र बन गया। प्रगति के तमाम लक्षण उसमे मौजूद थे। उद्योग-धन्धो मे तो वह अपने उस्तादो से भी आगे बढ गया। उसकी आबादी तेजी से बढने लगी। उसके जहाज दुनिया का चक्कर लगाने लगे। वह एक बडी शक्ति बन गया, जिसकी आवाज अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे इज्जत के साथ सुनी जाने लगी। लेकिन फिर भी यह जबर्दस्त परिवर्तन राष्ट्र के दिल मे ज्यादा गहरा न बैठ सका। परिवर्तनो को सिर्फ ऊपरी कहना भी गलत होगा, क्योकि ये इससे ज्यादा गहरे थे। लेकिन शासको का नजरिया वही सामन्तशाही बना रहा, वे इस सामन्ती खोल के साथ बुनियादी सुधारो का मेल मिलाना चाहते थे। बहुत हद तक वे कामयाब-से भी नजर आते थे।

जापान मे इन महान परिवर्तनो के लिए जो लोग जिम्मेदार थे, वे अमीर-सरदार-वर्ग के कुछ दूरदर्शी लोग थे, जो 'बुजुर्ग राजनीतिज्ञ' कहलाते थे। जब

जापान मे विदेशी-विरोधी दगो के वाद विदेशी जगी-जहाजो ने वम वरसाये तो जापानियो को अपनी वेकसी का भान हुआ और वे अपमान का कडवा घूंट पीकर रह गये। लेकिन अपनी किस्मत को कोसने और सिर पीटने के वजाय उन्होने इस हार और वेइज्जती से सवक सीखने का फैसला किया। 'वुजुर्ग राजनीतिज्ञो' ने सुधार का एक कार्यक्रम वनाया और उसपर अमल किया।

पुरानी सामन्ती दाइम्यो-प्रथा उठा दी गई। सम्राट् की राजधानी क्योतो से बदलकर जेदो कर दी गई, जिसका नया नाम तोक्यो (टोकियो) रक्खा गया। एक नये सविधान की घोपणा की गई, जिसमे पार्लमेण्ट की दो सभाओ की योजना थी। नीचेवाली सभा का चुनाव होता था, ऊपरवाली के सदस्य नामजद होते थे। शिक्षा, कानून, उद्योग, वगैरा, करीव-करीव हरेक चीज़ मे परिवर्तन हुए। कारखाने वने और आधुनिक ढंग की थल और जल-सेनाएँ तैयार की गई। विदेशो से विशेपज्ञ लोग वुलवाये गए और जापानी विद्यार्थियो को यूरोप व अमेरिका भेजा गया—जैसा भारतीय लोग पहले किया करते थे, उस तरह वैरिस्टर वगैरा वनने के लिए नही, वल्कि वैज्ञानिक और तकनीकी विशेपज्ञ वनने के लिए।

यह सव 'वुजुर्ग' राजनीतिज्ञो ने सम्राट् के नाम पर किया, जो नई पार्लमेण्ट और दूसरी वातो के वावजूद कानून के लिहाज से जापानी साम्राज्य का एकतन्त्री राजा वना रहा। साथ-ही-साथ जैसे-जैसे इन सुधारो की प्रगति होती जाती थी, सम्राट्-पूजा का पथ भी फैलता जाता था। यह भी एक अजीव गठजोडा था—एक तरफ तो कारखाने, आधुनिक उद्योग और कुछ-कुछ पार्लमेण्टी ढग का शासन और दूसरी तरफ दैवी सम्राट् की मध्यकालीन पूजा। यह समझना मुश्किल है कि ये दोनो वातें, थोडे समय के लिए भी, क्योकर साथ-साथ चल सकती थी। फिर भी दोनो साथ-साथ चली और आज दिन भी अलग नही हुई हैं। सम्राट् के लिए श्रद्धा की इस भावना का 'वजुर्ग राजनीतिज्ञो' ने दो तरह से फायदा उठाया। उन्होने सुधारो को उन कट्टरपथी और सामन्ती वर्गों पर लादा, जो वैसे तो उनका विरोध करते लेकिन साम्राट् के नाम की धाक के आगे ढीले पड गये। दूसरी तरफ उन्होने उन ज्यादा प्रगतिशील तत्वो को रोके रक्खा, जो तेजी से आगे वढकर सव तरह की सामन्तशाही से पिंड छुडाना चाहते थे।

उन्नीसवी सदी के इस पिछले भाग मे चीन और जापान का यह फर्क गौर करने लायक है। जापान तेजी के साथ पश्चिमी साँचे मे ढलता जा रहा था और चीन, जैसा कि हम देख चुके हैं और आगे भी देखेंगे, बहुत ही अजीव कठिनाइयो मे उलझता गया। ऐसा क्यो हुआ ? चीन देश के विस्तार, भारी आवादी और क्षेत्रफल ने परिवर्तन होना कठिन बना दिया। भारत भी इसी भारी आवादी और क्षेत्रफल का शिकार है, जो स्पष्ट रूप मे शक्ति के स्रोत मालूम होते हैं। चीन का शासन भी

काफी केन्द्रित नहीं था, यानी देश के हरेक हिस्से को बहुत हद तक स्थानीय शासन का अधिकार था। इसलिए केन्द्रीय सरकार के लिए देश के इन हिस्सों में दस्तन्दाजी करके जापान की तरह बड़े परिवर्तन करना आसान न था। एक बात यह भी है कि चीन की महान् सभ्यता हजारों वर्षों में बनी थी और उनके जीवन से ऐसी गुंथी हुई थी कि उसे सहज ही नहीं त्यागा जा सकता था। हम भारत और चीन की फिर इस बात से तुलना कर सकते हैं। दूसरी तरफ़ जापान ने चीन की सभ्यता की नकल की थी, इसलिए वह ज्यादा आसानी से उसे छोड़कर दूसरी को अपना सकता था। चीन की कठिनाइयों का एक और कारण था यूरोपीय शक्तियों का लगातार दखल। चीन एक लम्बा-चौड़ा महादेश था। जापान के टापुओं की तरह वह अपने-आपको बन्द करके नहीं रख सकता था। उत्तर और उत्तर-पश्चिम में इसकी सीमा रूस से लगती थी, दक्षिण-पश्चिम में ब्रिटिश साम्राज्य था और दक्षिण में फ्रान्स बढ़ा चला आ रहा था। ये यूरोपीय शक्तियां चीन से बड़ी-बड़ी रियायतें ऐंठने में कामयाब हो गई थीं और इन्होंने अपने बड़े व्यापारी हित बढ़ा लिये थे। इन हितों की वजह से उन्हें दस्तन्दाजी करने के बहुतेरे बहाने मिल जाते थे।

इस तरह जिस समय चीन अन्धे की तरह लड़खड़ा रहा था और अपने-आपको नई हालतों के अनुकूल बनाने की बेकार कोशिश कर रहा था, तब जापान तीर की तरह आगे बढ़ा जा रहा था। फिर भी एक और अजीब बात ध्यान देने लायक है। जापान ने पश्चिम की मशीनों और उद्योगों को तो अपना लिया, और आधुनिक थल व जल सेना बनाकर उन्नत औद्योगिक राष्ट्र का जामा पहन लिया। लेकिन यूरोप के नये विचारों और विचार-धाराओं को, व्यक्तिगत व सामाजिक आजादी की भावना को, और जीवन और समाज के बारे में वैज्ञानिक नजरिये को, उसने आसानी से नहीं अपनाया। भीतर से वह सामन्ती और एकसत्तावादी बना रहा, उस विचित्र सम्राट्-पूजा में बंधा रहा, जिसे संसार के दूसरे देश कभी की छोड़ चुके थे। जापानियों की जोशीली और जान-निछावर करनेवाली देशभक्ति का सम्राट् के लिए वफादारी से गहरा नाता था। राष्ट्रीयता और सम्राट्-पूजा का पथ, दोनों साथ-साथ चल रहे थे। दूसरी तरफ, चीन ने मशीनों को और उद्योगवाद को झटपट नहीं अपनाया। पर चीनियों ने, या कम से-कम आधुनिक चीन ने, पश्चिमी विचारों व विचार-धाराओं का और वैज्ञानिक नजरिये का स्वागत किया। ये विचार उन लोगों के अपने विचारों से ज्यादा दूर न थे। इस तरह हम देखते हैं कि हालांकि आधुनिक चीन पश्चिमी सभ्यता की भावना में ज्यादा घुल-मिल गया, पर जापान उससे आगे इसलिए बढ़ गया कि उसने भावना की परवाह न करके पश्चिमी सभ्यता का कवच पहन लिया। और चूंकि जापान यह कवच पहनकर मजबूत बन गया था, इसलिए तमाम यूरोप ने उसकी सराहना की और उसे अपना हमजोली बना लिया। लेकिन चीन कमजोर था, उसके पास मशीन-गनें वगैरा नहीं थीं। इसलिए यूरोप-

वालो ने उसका अपमान किया, उसे उपदेश सुनाया और उसका शोषण किया; उसके विचारो की और विचारधाराओ की तनिक भी परवाह न की।

जापान न सिर्फ उद्योगो के तरीको मे ही, बल्कि साम्राज्यशाही हमलावरी मे भी यूरोप के कदमो पर चला। वह यूरोपीय शक्तियो की लीक पर चलनेवाला चेला था, बल्कि उससे भी कुछ ज्यादा। उसने तो अक्सर उनके भी कान काट लिये। उसकी असली मुश्किल यही थी कि नया उद्योगवाद पुरानी सामन्तशाही के साथ मेल नही खाता था। दो घोडो पर सवारी करने की कोशिश में वह आर्थिक सतुलन कायम न रख सका। टैक्सो के भारी बोझ के नीचे लोगो के असन्तोष की आवाज़ सुनाई देने लगी। अन्दरूनी झगडा रोकने के लिए उसने वही पुरानी चाल चली—युद्धो व विदेशो मे साम्राज्यशाही कारनामो के ज़रिये लोगो का ध्यान बँटा दिया। उसके नये उद्योगो ने उसे कच्चे माल और बाज़ारो के लिए दूसरे देशो पर नज़र डालने के लिए मजबूर किया, जिस तरह कि औद्योगिक क्रान्ति ने इग्लैण्ड को और बाद मे पश्चिमी यूरोप की दूसरी शक्तियो को बाहर नज़र डालने व देश जीतने के लिए मजबूर किया था। उसका उत्पादन बढा और आबादी की भी तेजी के साथ बढोतरी हुई। खाने की चीज़ो और कच्चे माल की दिन-पर-दिन ज्यादा ज़रूरत होने लगी। ये सब उसे मिलें कहाँ से ? उसके सबसे नज़दीकी पडौसी थे चीन और कोरिया। चीन मे व्यापार की तो गुजाइश थी, पर वह बहुत घना आबाद देश था। अलबत्ता, मचूरिया मे, जो चीनी साम्राज्य के उत्तर-पूर्वी प्रान्तो का इलाका था, विकास के लिए, और उपनिवेश कायम करने के लिए, काफी गुजायश थी। इसलिए जापान की भूखी नज़र कोरिया और मचूरिया पर पडी।

इधर पश्चिमी शक्तियाँ चीन से तरह-तरह के खास अधिकार लेती जा रही थी, बल्कि ज़मीन तक हडप करने की कोशिश में थी। इसे भी जापान ने चिन्ता की नज़र से देखा। उसे यह चीज़ बिलकुल पसन्द न आई। अगर ये शक्तियाँ उसके ठीक सामने महाद्वीप मे जम जायँ तो उसकी सुरक्षा खतरे मे पड सकती थी और कम-से-कम महाद्वीप पर उसकी उन्नति मे तो बाधा पड ही सकती थी।

बाहरी दुनिया के लिए दरवाज़े खोले अभी बीस वर्ष भी न हुए थे कि जापान ने चीन की तरफ हमलावरी शुरू कर दी। कुछ मछुओ के बारे मे एक छोटा-सा झगडा खडा हो गया। इन मछुओ का जहाज़ नष्ट हो गया था और वे मार डाले गये थे। बस, जापान को चीन से हर्जाना माँगने का मौका मिल गया। पहले तो चीन ने इन्कार किया, इसपर उसे लडाई की धमकी दी गई। और चूँकि वह अनाम मे फ्रान्स के साथ युद्ध मे उलझा हुआ था, उसे जापान के आगे झुकना पडा। यह १८७४ ई० की बात है। जापान इस विजय से फूल उठा, और उसी दम इसी किस्म की और जीतें हासिल करने के लिए निगाह दौडाने लगा। कोरिया को देखकर उसके मुँह

मे पानी आ रहा था। वस, एक तुच्छ वहाने को लेकर जापान ने झगडा खडा कर दिया और उस पर हमला वोल दिया, और उसे कुछ रकम देने के लिए व जापानी व्यापार के लिए कुछ वन्दरगाहें खोलने के लिए मजवूर किया।

कोरिया वहुत अर्से से चीन का एक तावेदार राज्य था। उसने चीन का सहारा मांगा, पर चीन मदद देने मे असमर्थ था। जापान कही अपना प्रभाव वहुत ज्यादा न वढा ले, इस डर से चीनी सरकार ने कोरिया को सलाह दी कि फिलहाल तो जापान के आगे झुक जाय, लेकिन साथ ही जापान को मात देने के लिए यूरोपीय शक्तियो से भी सन्धियां कर ले। इस तरह कोरिया का फाटक दुनिया के लिए १८८२ ई० मे खुल गया। लेकिन जापान को इतने से ही तसल्ली होनेवाली न थी। चीन की कठिनाइयो का फायदा उठाकर, उसने फिर कोरिया का सवाल खडा किया और कोरिया को दोनो के शामिल इन्तजामवाली रियासत वनाने के लिए चीन को मजवूर कर दिया। इसका मतलव यह हुआ कि वेचारा कोरिया चीन और जापान दोनो का तावेदार राज्य वन गया। यह हालत तो तीनो के लिए वहुत ही असन्तोप का कारण थी। झगडे की सूरत लाजिमी थी। और जापान तो झगडा करता ही चाहता था। वस, उसने १८९४ ई० मे चीन को युद्ध के लिए मजवूर कर दिया।

१८९४-९५ ई० का चीन-जापान-युद्ध जापान के लिए तो एक खिलवाड-सा था। उसकी थल व जल सेनाएँ विलकुल आधुनिक ढँग की थी। चीनी लोग अभी तक पुराने ढँग के और ढीले-ढाले थे। जापान की हर तरफ विजय हुई और उसने चीन को ऐसी सन्धि करने के लिए मजवूर किया, जिसके मुताविक वह भी चीन से सन्धि करनेवाली पश्चिमी शक्तियो का वरावरीवाला वन गया। कोरिया को स्वाधीन घोषित कर दिया गया, पर यह तो जापानी कब्जे का सिर्फ एक पर्दा था। मचूरिया मे पोर्ट-आर्थर के साथ लाओतुग प्रायद्वीप, और साथ ही फारमूसा और कई दूसरे टापू भी, चीन को जापान की नजर करने पडे।

छोटे-से जापान के हाथो चीन की इस कडी पराजय ने दुनिया को अचम्भे मे डाल दिया। सुदूर-पूर्व मे एक शक्तिशाली देश के इस उठान को देखकर पश्चिमी शक्तियो को तो नाखुश होना ही था। चीन-जापान युद्ध के दौरान ही, जिस वक्त जापान जीतता हुआ मालूम होता था, इन शक्तियो ने उसे आगाह कर दिया था कि अगर उसने चीन के महादेश मे किसी वन्दरगाह पर कब्जा किया तो वे उसे न मानेंगे। इस सूचना के वावजूद जापान ने पोर्ट-आर्थर के वडे वन्दरगाहवाले लाओतुग प्रायद्वीप को ले लिया। लेकिन उसे उसके कब्जे मे नही रहने दिया गया। रूस, जर्मनी और फ्रान्स, इन तीनो वडी शक्तियो ने जोर दिया कि वह इस प्रायद्वीप को वापस दे दे और जापान को यह करना ही पडा, हालाँकि यह उसे वहुत

बुरा लगा और उसे गुस्सा भी आया, क्योंकि अभी रूस इन तीनों का सामना करने के लिए काफी बलवान न था।

लेकिन जापान ने इस अपमान को याद रक्खा। यह बात उसके दिल में खटकती रही और इसने उसे और भी बड़ी लड़ाई की तैयारी के लिए मजबूर कर दिया। नौ वर्ष बाद यह लड़ाई रूस के साथ हुई।

इधर जापान ने, चीन को जीतकर अपनी हैसियत ऐसी बना ली कि वह सुदूर-पूर्व का सबसे ताकतवर राष्ट्र बन गया। चीन की सारी कमजोरी जाहिर हो गई थी और पश्चिमी शक्तियों के दिल से उसका डर बिलकुल जाता रहा था। मुर्दे पर या असमर्थ शरीर पर टूटनेवाले गिद्धों की तरह वे उसपर टूट पड़ीं और अपने-अपने लिए ज्यादा-से-ज्यादा छीनने की कोशिशें करने लगीं। फ्रान्स, रूस, जर्मनी और इंग्लैण्ड, सभी चीनी समुद्र-तट पर बन्दरगाहों के लिए और खास अधिकारों के लिए छीना-झपटी करने लगे। रियायतों के लिए गंदा और बहुत ही भद्दा झगड़ा मच गया। छोटी-से-छोटी बात भी ज्यादा-से-ज्यादा खास अधिकार व रियायतें झपटने के लिए बहाना बनाई जाने लगी। चूंकि दो ईसाई मिशनरियों को किसी ने मार डाला, इसलिए पूर्व के शानतुग प्रायद्वीप में कियाचू को जर्मनी ने जबर्दस्ती छीन लिया। चूंकि जर्मनी ने इस मुकाम पर कब्जा कर लिया, इसलिए दूसरी शक्तियां भी लूट में अपने-अपने हिस्से के लिए जोर देने लगीं। जिस पोर्ट-आर्थर से तीन वर्ष पहले उसने जापान को हटाया था, उसको अब रूस ने ले लिया। पोर्ट-आर्थर पर रूस के कब्जे के जवाबी दावे के तौर पर इंग्लैण्ड ने वी-हाई-वी ले लिया। फ्रान्स ने अनाम से एक बन्दरगाह और कुछ इलाके हड़प कर लिये। रूस ने ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे को बढ़ाने के इरादे से उत्तरी मंचूरिया में होकर रेल निकालने की इजाजत भी ले ली।

यह बेशर्म छीना-झपटी एक अजीब-चीज थी। इस तरह इलाके या रियायतें देने में चीन को कुछ मजा थोड़े ही आ रहा था। जगी-बेड़े की ताकत बताकर और बमबारी की धमकी दिखा-दिखाकर उसे हर बार राजी होने के लिए मजबूर किया जाता था। इस बेहया बर्ताव को हम क्या कहें? दिन-दहाड़े की लूट? डाकेजनी? पर साम्राज्यशाही का यही तरीका है। कभी तो वह गुप्त रूप से काम करती है, कभी अपनी बदकारियों को नेक इरादों के और दूसरों की भलाई के मक्कारी-भरे दिखावे के गिलाफ से ढकती है। लेकिन १८९८ ई० में, चीन में कोई गिलाफ या ढकना न था। उसका नंगापन अपनी सारी बदसूरती जाहिर कर रहा था।

## : ११७ :
# जापान रूस को हराता है

२९ दिसम्बर, १९३२

पिछले पत्रो मे मैं सुदूरपूर्व के बारे मे लिखता आ रहा हूँ, और आज भी यही किस्सा जारी रखूंगा। तुम्हे शायद ताज्जुब होगा कि मैं बीते जमाने के इन लडाई-झगडो का बोझ तुम्हारे दिमाग पर क्यो लाद रहा हूं। ये कोई मजेदार विषय नहीं है और अब गये-गुज़रे हो चुके है। मैं उन्हे महत्व नही देना चाहता। लेकिन सुदूरपूर्व मे इन दिनो जो-कुछ हो रहा है, उसकी बहुत सारी बातो की जडे इन्ही झगडो मे हैं। इसलिए आजकल की समस्याओ को समझने के लिए भी इनका कुछ जानना ज़रूरी है। भारत की तरह चीन भी आज दुनिया की बडी समस्याओ मे से एक है। इस समय भी जब मैं यह पत्र लिख रहा हूँ, मचूरिया पर जापानी कब्ज़े के बारे मे बडी कडवी बहस चल रही है।

अपने पिछले पत्र मे मैंने तुम्हे बताया था कि १८९८ ई० मे चीन से रियायते ऐंठने के लिए कैसी छीना-झपटी मची हुई थी, जिनके पीछे पश्चिमी शक्तियो के जगी-जहाज़ो का बल था। इन शक्तियो ने सब अच्छे-अच्छे बन्दरगाहो पर कब्ज़ा कर लिया था और इन बन्दरगाहो के पीछे फैले हुए इलाको मे भी खाने खोदने, रेलें बनाने, वगैरा के सब प्रकार के हक हासिल कर लिये थे। और फिर भी ज्यादा रियायतो की माग जारी थी। विदेशी सरकारे चीन मे अपने 'प्रभाव के क्षेत्रो' की चर्चा करने लगी। आजकल की साम्राज्यशाही सरकारो के लिए किसी देश को बॉट खाने का यह एक मुलायम तरीका है। कब्जे और इख्तियार (नियत्रण) के भी कई दर्जे हुआ करते थे। किसी देश को या उसकी जमीन को जीतकर अपने राज्य मे शामिल कर लेना तो पूरा कब्ज़ा करने के बराबर है। किसी रियासत का इन्तजाम अपने हाथ मे रखना उससे कुछ उतरा हुआ है, 'प्रभाव का क्षेत्र' उससे भी कम है। लेकिन इन सबका रास्ता एक ही तरफ है। एक कदम के बाद दूसरा कदम अपने-आप उठ जाता है। वास्तव मे, जैसाकि शायद हमे आगे चर्चा करने का मौका आवे, कब्ज़ा करने का तरीका पुराना और करीब-करीब त्यागा हुआ है क्योकि इससे राष्ट्रीयता का झगडा खडा हो जाता है। किसी देश पर आर्थिक-नियत्रण कर लेना और बाकी झझटो मे न पडना इससे कही ज्यादा सहूलियत की चीज़ है।

मतलब यह है कि चीन का बँटवारा होने ही वाला नजर आ रहा था और जापान इससे पूरी तरह चौकन्ना हो उठा था। चीन पर उसकी विजय का फल पश्चिमी शक्तियो के हाथ मे गया हुआ दिखाई दे रहा था और जापान खिसियाना-

सा होकर चीन के इस बँटवारे को देख रहा था। सबसे ज्यादा गुस्सा तो उसे रूस के ऊपर आ रहा था, जिसने उसे तो पोर्ट-आर्थर नही लेने दिया और खुद हड़प लिया।

हाँ, एक बडी शक्ति ऐसी थी, जिसने चीन मे रियायतो की इस छीना-झपटी मे या उसके बँटवारे की योजनाओ मे भाग नही लिया था। यह था अमेरिका का सयुक्त राज्य। इसके अलग रहने का कारण यह नही था कि वह दूसरी शक्तियो की बनिस्बत ज्यादा नेकनीयत था, बल्कि बात यह थी कि वह अपने ही लम्बे-चौडे देश के विकास मे मशगूल था। जैसे-जैसे अमेरिका का राज्य पश्चिम में प्रशान्त महासागर की ओर बढ़ता जाता था, विकास के लिए नये-नये इलाके तैयार होते जाते थे और उसकी सारी शक्ति व दौलत इसी मे खप रही थी। यहाँ तक कि इस काम के लिए यूरोप की भी बहुत बडी पूँजी अमेरिका मे लगाई जा रही थी। लेकिन उन्नीसवी सदी के अन्त मे अपनी पूँजी लगाने के लिए अमेरिकावाले भी बाहर नज़र दौडाने लगे। उसकी निगाह चीन पर गई और यह देखकर उसे बुरा लगा कि शायद एक दिन उसपर कब्ज़ा कर लेने के इरादे से यूरोपीय शक्तियाँ उसे 'प्रभाव के क्षेत्रो' मे बाँटने पर उतारू थी। इस बँटवारे मे अमेरिका को हिस्सा नही मिल रहा था। सो अमेरिका ने चीन मे 'खुला दरवाज़ा' कहलानेवाली नीति पर जोर दिया। इसका मतलब यह था कि सभी देशो को चीन मे व्यापार और धन्धे के लिए एक-सी सहूलियतें दी जायँ। दूसरी शक्तियाँ भी इसपर राज़ी हो गई।

इस लगातार के आतक से चीन की सरकार बहुत भयभीत हो उठी। उसे विश्वास हो गया कि सुधार व नये सिरे से सगठन किये बिना गति नही है। उसने इस दिशा मे कोशिशें भी की, पर नई-नई रियायतो की लगातार माँगो के कारण सफलता मिलने का कोई ढँग नही था। कुछ वर्षों से राजमाता त्जू-सी ने वैराग्य-सा ले लिया था। चीनी लोगो ने उसे मुसीबतो से बचानेवाली समझकर आशा-भरी नज़र से उसकी ओर देखा। सम्राट् को इस वक्त कुछ साजिश का वहम हो गया, इसलिए वह राजमाता को कैद करना चाहता था। लेकिन इस बूढी महिला ने बदले मे सारे अधिकार उससे छीनकर शासन की बागडोर अपने हाथ मे ले ली। जापान की तरह उसने कोई बुनियादी सुधारो का तो कदम नही उठाया, पर सारा ध्यान एक आधुनिक सेना बनाने पर लगा दिया। उसने बचाव के लिए अन्दरूनी रक्षा-सेना के मुकामी दस्ते बनाने के लिए बढावा दिया। ये मुकामी दस्ते अपने को 'ई हो तुआन' यानी 'पवित्र एकता के दल' कहते थे। कभी-कभी वे 'ई हो चुआन' यानी 'पवित्र एकता की मुष्टिका' भी कहलाते थे। बन्दरगाहो मे रहनेवाले कुछ यूरोपीय लोगो ने इसी दूसरे नाम का अनुवाद कर डाला 'बाक्सर्स' यानी 'घूँसेबाज़'। एक कोमल पद का यह बडा भोंडा अनुवाद था।

ये 'घूँसेबाज़' विदेशी हमलो और चीन व चीनियो पर विदेशियो के छाये

गये अनगिनत अपमानो के खिलाफ चीनी देशभक्ति की प्रतिक्रिया थे। उन्हे बदमाशी के पुतले दिखाई देने वाले इन विदेशियो से अगर कोई प्रेम न था तो इसमे अचम्भे की कोई बात नही थी। खासकर ईसाई मिशनरी तो उन्हे बहुत ही बुरे लगते थे, क्योकि इन्होने बडा बुरा बर्ताव किया था। और चीनी ईसाइयो को तो वे देश-द्रोही मानते थे। वे उस पुरातन चीन के प्रतिनिधि थे, जो नई व्यवस्था से अपना बचाव करने का आखिरी जतन कर रहा था। लेकिन इस तरह इस जतन के कामयाब होने की आशा नही थी।

इन देशभक्त, विदेशियो के दुश्मन, मिशनरियो के दुश्मन, व कट्टर-पन्थी लोगो का पश्चिमी लोगो के साथ रगडा-झगडा होना लाजिमी था। लडाई-झगडे हुए, एक अंग्रेज़ मिशनरी मारा गया, बहुत-से यूरोपीय लोग और कितने ही चीनी ईसाई भी मौत के घाट उतार दिये गए। विदेशी सरकारो ने इन देशभक्त 'घूंसेबाज़' आन्दोलन के दमन की मांग पेश की। जो लोग हत्याओ के अपराधी थे, उनको तो चीन की सरकार ने सजाएँ दे दी, लेकिन खुद अपनी ही औलाद को वह इस तरह कैसे दबा सकती थी? इसी बीच 'घूंसेबाज' आन्दोलन तेजी से सब तरफ फैल गया। विदेशी राजदूतो ने घबराकर अपने जगी-जहाजो से फौजें बुला ली। इससे चीनियो को और भी खयाल हो गया कि विदेशी हमला शुरू हो गया है। बस, दोनो मे ठन गई। जर्मन राजदूत मारा गया और पेकिंग के विदेशी दूतावास घेर लिये गए।

'घूंसेबाज' आन्दोलन की सहानुभूति मे चीन का बहुत बडा भाग विदेशियो के खिलाफ हथियार लेकर उठ खडा हुआ। लेकिन कुछ प्रान्तो के नायबो ने किसी का पक्ष नहीं लिया और इस तरह विदेशी शक्तियो को मदद पहुँचाई। इसमे शक नही कि राजमाता की सहानुभूति इन 'घूंसेबाजो' के साथ थी, लेकिन उसने खुल्लम-खुल्ला उनका साथ नही दिया। विदेशियो ने यह साबित करना चाहा कि घूंसेबाज ठेठ लुटेरे है। पर सच तो यह है कि १९०० ई० की यह बगावत विदेशियो के चगुल को छुडाने के लिए देशभक्तो की एक कोशिश थी। राबर्ट-हार्ट चीन मे एक बडा अंग्रेज़ अफसर था। वह उस समय तट-कर के महकमे का इन्स्पेक्टर जनरल था और खुद भी दूतावासो के घेरे मे घिर रहा था। उसने लिखा है कि चीनियो की भावनाओ का अपमान करने का दोष विदेशियो पर और खासकर ईसाई मिशनरियो पर है। और यह कि इस बगावत का "मूल देशभक्ति थी, इसका बहुत-कुछ लक्ष्य वाजिब था, इस बात पर कोई सवाल नही उठ सकता और इसपर जितना भी ज़ोर दिया जाय, थोडा है।"

दबे हुए चीन के यो अचानक उलट पडने से यूरोप की शक्तियाँ बहुत चिढी। उनके लिए यह वाजिब ही था कि उन्होने पेकिंग मे घिरे हुए अपने आदमियो को बचाने के लिए चटपट फ़ौजें भेजी। दूतावासो को छुडाने के लिए एक जर्मन

सेनापति की मातहती मे एक अन्तर्राष्ट्रीय फौज चल पडी। जर्मनी के कैसर ने अपनी फ़ौजो को हिदायत की कि चीन मे जगली हूणो की तरह व्यवहार करना। शायद इसी बात को याद करके महायुद्ध के वक्त अंग्रेज़ लोग सब जर्मनो को हूण कहने लगे थे।

कैसर की हिदायत पर न सिर्फ उसीके सिपाहियो ने बल्कि सब विदेशी फौजो ने अमल किया। पेकिंग को कूच करते समय रास्ते मे जनता के साथ इन फौजो का बर्ताव ऐसा था कि बहुतो ने तो इनके हाथो मे पडने की बनिस्बत आत्महत्या कर लेना बेहतर समझा। उन दिनो चीनी औरतें अपने पैरो को छोटे-छोटे बना लिया करती थीं। इसलिए वे आसानी से भाग नही सकती थी। इससे बहुतेरी स्त्रियो ने आत्मघात कर लिया। इस तरह मित्र-राष्ट्रो की फौजें आगे कूच करती गईं अपने पीछे मौत, आत्महत्या और जलते हुए गावो की लीक छोडती गईं।

इन फौजो के साथ जानेवाला एक अंग्रेज़ युद्ध-सम्वाददाता लिखता है—

"ऐसी भी बाते है, जिन्हे मैं नही लिख सकता और जो इंग्लैण्ड मे नही छप सकेंगी, जो यह जता देंगी कि हमारी यह पश्चिमी सभ्यता जगलीपन के ऊपर चढा हुआ सिर्फ एक पतला खोल है। किसी भी युद्ध के बारे मे असली सच्ची बातें आज तक नही लिखी गईं। यह युद्ध भी इसका अपवाद नही होगा।"

इन सेनाओ ने पेकिंग पहुँचकर दूतावासो को घेरे से छुडाया। उसके बाद पेकिंग की लूट हुई, जो "पिज़ारो"[1] के समय के बाद लूट-पाट का सबसे ज़बर्दस्त धावा कहा जा सकता है। पेकिंग के कीमती कला-भण्डार उन उजड्डो व असभ्यों के हाथो मे पड गये, जिनको इनके मूल्य तक का ज्ञान न था। यह लिखते हुए खेद होता है कि मिशनरियो ने इस लूट-पाट मे सबसे बडा हिस्सा लिया। विदेशियो के झुण्ड-के-झुण्ड घरो के बाहर नोटिस चिपकाते फिरते थे कि ये घर हमारे है। एक घर की कीमती चीज़ें बेचकर वे दूसरे बडे मकान की तरफ बढ जाते थे।

इन शक्तियो की आपसी लाग-डाँट और कुछ सयुक्त राज्य अमेरिका के रुख के कारण भी, चीन का बँटवारा होने से रह गया। लेकिन उसको ज़िल्लत का कडवे से कडवा घूंट पीना पडा। उसपर हर तरह की बेइज्ज़तियां लादी गईं, एक स्थायी विदेशी सेना पेकिंग मे अड्डा जमाने और रेल-मार्ग का पहरा देने के लिए तैनात की गई, बहुत-से किले नष्ट कर दिये गए, किसी विदेशी-विरोधी समिति का सदस्य होनेवाले के लिए मौत की सज़ा तजवीज़ की गई, व्यापार के लिए और भी ज्यादा खास अधिकार लिये गए और हर्जाने के तौर पर एक

[1] एक स्पेनी नाविक (१४७१–१५४१ ई०)। इसने दक्षिण अमेरिका के पेरू देश को जीता था। वहाँ उसका जीवन हद से ज्यादा बेरहमी के कामो मे बीता। आखिर मे अपने ही एक सिपाही के हाथो उसकी मौत हुई।

बड़ी भारी रकम ऐंठी गई, और सबसे ज्यादा चोट यह हुई कि चीनी सरकार को मजबूर किया गया कि 'बॉक्सर'-आन्दोलन के तमाम देशभक्त नेताओं को 'बागी' करार देकर मौत की सजा दे। इसका नाम दिया गया था—''पेकिंग का मसविदा'', जिसपर १९०१ ई० में दस्तखत हुए।

सारे चीन में, और खासकर पेकिंग के आसपास, जब ये घटनाएँ घट रही थीं, उस समय रूसी सरकार ने इस आम गड़बड़ी से फ़ायदा उठाकर साइबेरिया होकर मंचूरिया में बहुत-सी फौजें भेज दीं। चीन लाचार था; विरोध ज़ाहिर करने के सिवा और कर ही क्या सकता था? लेकिन हुआ यह कि दूसरी शक्तियों को रूसी सरकार का इस तरह देश के एक बड़े टुकड़े को हड़प जाना बहुत अखरा। इस नई मुहिम के छिड़ने से जापान को सबसे ज्यादा चिन्ता और घबराहट हुई। बस, इन सब राष्ट्रों ने रूस को पीछे लौट आने के लिए दबाया। और रूस की सरकार ने इसपर पुण्य-प्रकोप और अचम्भा जताने की कोशिश की कि उसके नेक इरादों पर भी शंका-सन्देह किये गये! और उसने इन शक्तियों को भरोसा दिलाया कि चीन की प्रभुता के अधिकारों में हाथ डालने का उसका तनिक भी इरादा नहीं है, मंचूरिया में रूसी रेल-मार्ग पर शान्ति होते ही वह अपनी फौजें वहाँ से हटा लेगा। बस, सबकी तसल्ली हो गई, और इसमें सन्देह नहीं कि मित्र-राष्ट्रों ने एक दूसरे को इस निःस्वार्थ परोपकार और नेकी के लिए बधाइयाँ भी दी होंगी। लेकिन फिर भी, रूसी फौजें मंचूरिया में ही जमी रहीं, और ठेठ कोरिया तक फैल गईं।

मंचूरिया में और कोरिया तक इस तरह रूस के बढ़ जाने पर जापानियों को बड़ा गुस्सा आया। चुपचाप लेकिन सरगर्मी के साथ वे युद्ध की तैयारी करने लगे। उन्हें याद था कि किस तरह तीन शक्तियों ने मिलकर १८९५ ई० में चीन-युद्ध के बाद उन्हें पोर्ट-आर्थर वापस करने के लिए मजबूर किया था। ऐसा फिर न हो सके, इसकी वे अब कोशिश करने लगे। संयोग से उन्हें इंग्लैण्ड एक ऐसी शक्ति मिल गई, जिसे रूस के बढ़ने से अन्देशा था और उसे रोकना चाहती थी। इसलिए १९०२ ई० में आंग्ल-जापानी गठ-बन्धन हुआ, जिसका उद्देश्य यह था कि शक्तियों का कोई मेल सुदूरपूर्व में जापान या इंग्लैण्ड को जबर्दस्ती न दबा सके। जापान अब अपने-आपको खतरे से मुक्त समझने लगा और उसने रूस की तरफ ज्यादा गर्म रुख अख्तियार कर लिया। उसने माँग की कि रूसी फौजें मंचूरिया से हटा ली जायें। लेकिन उस समय की मूर्ख जारशाही सरकार जापान को हिकारत की नजर से देखती थी और उसे यह भरोसा ही न था कि जापान लड़ने की हिम्मत करेगा।

१९०४ ई० के शुरू में दोनों देशों में युद्ध ठन गया। जापान इसके लिए

बिलकुल तैयार था। अपनी सरकार के प्रचार और सम्राट्-पूजा के पथ से हाँके हुए जापानी लोग देशभक्ति के जोश से भर गये। दूसरी तरफ रूस बिलकुल तैयार न था और उसकी निरकुश सरकार बराबर अपनी प्रजा को दबाकर ही शासन चला सकती थी। डेढ़ साल तक युद्ध चलता रहा और तमाम एशिया, यूरोप और अमेरिका ने जल और थल पर जापान की जीतो को देखा। कुर्बानी के अद्‌भुत कारनामो और ज़बर्दस्त मारकाट के बाद जापानियो के हाथ पोर्ट-आर्थर लगा। यूरोप मे रूस ने जगी-जहाजो का एक बडा बेडा लम्बे समुद्री रास्ते से सुदूरपूर्व को भेजा। आधी दुनिया को पार करके, हज़ारो मील के सफर से थका-थकाया यह ज़बर्दस्त बेडा जापान के समुद्र मे पहुँचा और वहाँ जापान और कोरिया के बीच के सँकडे समुद्री रास्ते मे इसे इसके जलसेनानायक समेत जापानियो ने डुबो दिया। इस दुर्घटना मे करीब-करीब सारा-का-सारा बेडा नष्ट हो गया।

हार-पर-हार से रूस की—ज़ारशाही रूस की—बुरी गत हो रही थी। रूस के पास ताकत का बहुत बडा भण्डार था। क्या इसीने सौ वर्ष पहले नेपोलियन को नीचा नहीं दिखाया था? *लेकिन उस वक्त असली रूस, यानी रूस की जनता* बोल उठी थी।

इन पत्रो के सिलसिले मे मैं हमेशा रूस, इंग्लैण्ड, फ्रान्स, चीन, जापान, वगैरा का जिक्र किया करता हूँ, मानो इनमे से हरेक देश कोई जीती-जागती हस्ती हो। यह मेरी एक बुरी आदत है, जो किताबो और अखबारो से मुझमे आ गई है। मेरा मतलब वास्तव मे उस समय की रूसी सरकार, अंग्रेज़ी सरकार, वगैरा से है। ये सरकारे एक छोटे-से गिरोह के सिवा किसीकी भी प्रतिनिधि न हो, या किसी एक वर्ग की हो, लेकिन उनको सारी जनता का प्रतिनिधि कहना या समझना ठीक नही। उन्नीसवी सदी मे अंग्रेज़ी सरकार, पार्लमेंट को चलाने-वाले ज़मीदारो और ऊँचे मध्यम-वर्ग के आसूदा लोगो की प्रतिनिधि कही जा सकती थी। जनता के बहुमत की शासन मे कोई आवाज न थी। आज-कल कभी-कभी सुनते है कि भारत ने राष्ट्रसघ मे या गोलमेज परिषद् मे या ऐसे ही दूसरे जलसे मे अपना प्रतिनिधि भेजा है। यह बेहूदा बात है। ये नाम के प्रतिनिधि तबतक भारत के प्रतिनिधि नही हो सकते, जबतक कि भारत की जनता उनको न चुने। उनको तो भारत-सरकार नामज़द करती है, जो हालाँकि भारत-सरकार कहलाती है, पर है ब्रिटिश सरकार का ही एक विभाग। रूस मे, रूस-जापान-युद्ध के समय निरकुश शासन था। यह ज़ार "सारे रूसो का निरकुश शासक" था और यह निरकुश भी ऐसा कि महामूर्ख! मज़दूरो और किसानो को सेना के ज़ोर पर दबाकर रक्खा जाता था। मध्य-वर्गों तक की शासन मे कोई आवाज न थी। इस ज़ुल्म के खिलाफ बहुतेरे रूसी नौजवानो ने सिर उठाया और

हाथ उठाया और आजादी की लडाई मे अपना जीवन कुर्बान कर दिया। बहुतेरी लडकियो ने भी यही रास्ता अपनाया। इसलिए जब मैं कहता हूँ कि 'रूस' यह कर रहा था, वह कर रहा था, जापान से लड रहा था, तो मेरा मतलब सिर्फ जारशाही सरकार से होता है, इससे ज्यादा कुछ नही।

जापानी युद्ध और उससे होनेवाली तबाही ने रूस की आम जनता पर और भी मुसीबतें ढाईं। सरकार पर दबाव डालने के लिए अक्सर कारखानो के मजदूर हडताल कर बैठते। २२ जनवरी, १९०५ ई० को हजारो निहत्थे किसान और मजदूर एक पादरी के पीछे-पीछे जुलूस बनाकर जार के सर्दी के महल मे उसके पास पहुँचे कि अपने कष्टो से कुछ छुटकारा मिलने की प्रार्थना करें। उनकी बात सुनने के वजाय जार ने उनपर गोलियाँ चलवा दी। भयकर हत्याकाण्ड मच गया, दो सौ आदमी मारे गये, और पीटर्सबर्ग की वर्फ खून से लाल हो गई। उस दिन रविवार था और तभी से इस दिन को "खूनी रविवार" कहा जाने लगा। देश मे गहरी हलचल मच गई। मजदूरो ने हडतालें वोल दी, जो बढ़कर क्रान्ति का एक कदम वन गईं। १९०५ ई० की इस क्रान्ति को जार की सरकार ने वडी वेरहमी से दवा दिया। कई कारणो से हमारे लिए यह क्रान्ति बडी दिलचस्प है। बारह वर्ष वाद रूस की शक्ल को वदल डालनेवाली १९१७ ई० की महान् क्रान्ति के लिए इसने एक तरह से रास्ता तैयार किया। और १९०५ ई० को इसी विफल क्रान्ति मे क्रान्तिकारियो ने एक नया सगठन कायम किया, जो बाद मे इतना मशहूर हो गया। यह 'सोवियतो' का सगठन था।

जैसा कि मेरा ढंग है, मैं चीन और जापान और रूस-जापान-युद्ध का हाल तुम्हे बताते-वताते १९०५ ई० की रूसी राज्य-क्रान्ति की तरफ बहक गया। लेकिन मचूरिया के इस युद्ध के समय रूस की अन्दरूनी हालत को समझाने के लिए ये चन्द वातें वताना जरूरी था। क्रान्ति के इसी कदम की वजह से, और जनता मे फैले हुए गुस्से की वजह से जार को जापान से सन्धि करनी पडी।

सितम्बर, १९०५ ई० की पोर्ट्समाउथ की सन्धि से रूस-जापान के युद्ध का अन्त हुआ। पोर्ट्समाउथ सयुक्त राज्य अमेरिका मे है। अमेरिका के राष्ट्रपति ने दोनो पक्षो को वहाँ बुलाकर सन्धि-पत्र पर दस्तखत कराये। इस सन्धि से अन्त में जापान को पोर्ट आर्थर और ल्याओ-तुग प्रायद्वीप फिर मिल गये, जो चीन के युद्ध के वाद उसे वापस करने पडे थे। रूसियो ने जो रेल-मार्ग मचूरिया मे बनाया था, उसका भी एक वडा हिस्सा जापान को मिला। और जापान के उत्तर मे जो सैखैलीन टापू है, उसका भी आधा हिस्सा मिल गया। इसके अलावा रूस ने कोरिया के ऊपर अपने तमाम दावों को छोड दिया।

वस, जापान जीत गया और बडी-बडी शक्तियो के सुरक्षित घेरे मे जा घुसा।

एशियाई देश जापान की विजय का एशिया के तमाम देशो पर बड़ा गहरा असर पडा। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि लड़कपन मे मैं भी इस विजय पर खूब लहका करता था। ऐसा ही जोश एशिया के बहुतेरे लडको, लडकियो और बडों को आया करता था। यूरोप की एक महान् शक्ति हार गई, इसलिए एशिया यूरोप को अब फिर हरा सकता था, जैसा कि पहले वह कई बार कर चुका था। पूर्वी देशो मे राष्ट्रीयता की लहर तेजी से फैलने लगी और 'एशिया एशियावालो के लिए', यह नारा सुनाई देने लगा। लेकिन यह राष्ट्रीयता सिर्फ पुराने जमाने को लौट चलना या पुराने रिवाजो और विश्वासो से चिपके रहना न थी। लोगों ने देख लिया कि जापान की विजय का कारण यह था कि उसने यूरोप के नये औद्योगिक तरीको को अपना लिया था। और ये विचार व तरीके पूर्वी देशो मे दिन-पर-दिन लोगो मे ज्यादा फैलने लगे।

: ११८ :

## चीन गणराज्य बन जाता है

३० दिसम्बर, १९३२

हम देख चुके हैं कि रूस पर जापान की विजय से एशिया के राष्ट्र खुशी से कैसे फूल गये। लेकिन इसका तुरन्त नतीजा तो यह हुआ कि हमलावर साम्राज्य-शाही शक्तियो के छोटे-से दल मे एक शक्ति और शामिल हो गई। इसकी पहली चोट कोरिया पर पडी। जापान के उठने का अर्थ था कोरिया का गिरना। जबसे जापान ने अपने दरवाज़े दुनिया के लिए खोले, वह कोरिया को और मचूरिया के कुछ भाग को अपना माल समझने लगा था। अलबत्ता वह बार-बार यह तो ऐलान करता रहता था कि चीन की अखण्डता को और कोरिया की स्वाधीनता को मानेगा। साम्राज्यशाही शक्तियो का यही तरीका होता है कि वे लूटती भी जाती हैं और मक्कारी के साथ अपनी नेकनीयती का भरोसा भी दिलाती जाती हैं, गले भी काटती जाती हैं और यह ढिंढोरा भी पीटती जाती हैं कि जान बहुत पवित्र होती है। बस, जापान ने भी बडे आडम्बर के साथ यह ऐलान कर दिया कि वह कोरिया मे दखल न देगा, लेकिन साथ ही वह उसपर कब्ज़ा जमाने की अपनी पुरानी नीति पर भी अमल करता रहा। चीन और रूस दोनो से उसके जो युद्ध हुए थे वे भी कोरिया और मचूरिया ही के लिए थे। वह एक-एक कदम आगे बढ़ता जा रहा था और अब चीन व रूस की पराजय से उसका रास्ता साफ हो गया था।

अपनी साम्राज्यशाही नीति पर चलने मे जापान को कभी कोई हिचकिचाहट नही हुई। वह खुल्लम-खुला हाथ मारता गया, अपनी मंशा को पर्दे मे छिपाने

तक की उसने परवाह नही की। चीन का युद्ध शुरू होने से पहले ही, १८९४ ई० मे कोरिया की राजधानी सिओल के राजमहल मे जबर्दस्ती घुसकर जापानियो ने वहाँ की महारानी को गद्दी से उतारकर कैद कर लिया, क्योकि वह उनके कहे मुताबिक चलने को तैयार न थी। १९०५ ई० मे रूसी युद्ध के बाद जापान की सरकार ने कोरिया के बादशाह को अपने देश की स्वाधीनता बेच देने और जापानी सत्ता को मानने के लिए मजबूर कर दिया। लेकिन यही काफी न था। पाँच साल के अन्दर ही यह अभागा बादशाह गद्दी से उतार दिया गया और कोरिया जापानी साम्राज्य मे मिला लिया गया। यह १९१० ई० की बात है। तीन हज़ार वर्ष के लम्बे इतिहास के बाद कोरिया राज्य की अलग हस्ती मिट गई। जिस बादशाह को इस तरह हटाया गया था वह उस राजवश का था जो ५०० वर्ष पहले मगोलो को अपने यहाँ से खदेड चुका था। लेकिन कोरिया अपने बडे भाई चीन की तरह पथरा गया था और बँधे हुए पानी की तरह सड गया था, और इसकी उसे यह सज़ा भुगतनी पडी।

कोरिया को फिर उसका पुराना नाम दिया गया—'चोसेन' यानी सवेरे की शान्ति का देश। जापानियो ने वहाँ आधुनिक सुधार भी किये, पर कोरिया के लोगो की आत्मा को उन्होने बडी बेदर्दी से कुचल दिया। बहुत वर्षों तक स्वाधीनता के लिए लडाई चलती रही, और बहुत-से उफान भी आये। सबसे बडा उफान १९१९ ई० मे आया। कोरिया के लोग, ख़ासकर युवक और युवतियाँ, अपने से ज़बर्दस्त का मुकाबला होते हुए भी वीरता के साथ लडते रहे। एक बार की बात है कि स्वाधीनता के लिए लडनेवाले एक कोरियाई सगठन ने जब स्वाधीनता की बाकायदा घोषणा कर दी और जापानियो को ललकार बताई, तो कहते हैं कि उन लोगो ने पुलिस को टेलीफोन करके अपनी कार्रवाई की सूचना भी दे दी। इस तरह अपने आदर्श के लिए उन्होने जानबूझकर अपने-आपको बलिदान कर दिया। जापानियो ने कोरियाई लोगो का जिस तरह दमन किया, यह इतिहास का एक दुखभरा और काला अध्याय है। तुम्हे यह जानकर दिलचस्पी होगी कि कोरियाई नवयुवतियो ने, जिनमे से बहुत-सी कालेज से नई-नई निकली थी, इस लडाई मे बहुत बडा हिस्सा लिया।

अब चीन लौट चलना चाहिए। 'घूंसेबाज' आन्दोलन के दमन और १९०१ ई० की पेकिंग की सन्धि के बाद हमने उसे अचानक ही छोड दिया था। चीन पूरी तरह ज़लील हो चुका था। वहाँ सुधारो को फिर जन्म दिया गया। बूढ़ी राजमाता तक सोचने लगी कि कुछ-न-कुछ किया ही जाना चाहिए। रूस-जापान युद्ध के समय चीन चुपचाप खडा देखता रहा, हालाँकि लडाई चीन के ही प्रदेश मचूरिया मे हो रही थी। जापान की विजय ने चीन के सुधारको के हाथ मजबूत

कर दिये। शिक्षा को नया रूप दिया गया। आधुनिक विज्ञान के अध्ययन के लिए बहुत-से विद्यार्थी यूरोप, अमेरिका, और जापान भेजे गये। अफ़सरो की नियुक्ति के लिए साहित्य की परीक्षाओ का पुराना तरीका उठा दिया गया। यह अजीव तरीका, जो चीन का एक खास नमूना था, ठेठ हन् खानदान के समय से, दो हज़ार वर्ष से, चला आ रहा था। इसकी फायदेमन्दी तो बहुत पहले ही खत्म हो चुकी थी। और यह चीन की प्रगति को रोके हुए था। इसलिए इसका उठ जाना अच्छा ही हुआ। फिर भी अपनी तौर पर यह तरीका युगो तक एक अनोखी चीज़ बना रहा। यह ज़िन्दगी के बारे मे चीनियो के उस रवैये को प्रकट करता था, जो एशिया व यूरोप के बहुत-से देशो की तरह न तो सामन्ती था और न महन्ती। बल्कि इनका आधार विवेक पर था। चीनी लोग दुनिया के सब देशो के लोगो से कम मज़हबी रहे है, लेकिन नीति व कायदे के साथ ज़िन्दगी बिताने के अपने ढंग पर वे जिस कडाई से अमल करते रहे हैं वैसा किसी धर्म-परायण कौम ने भी नहीं किया। उन्होंने बुद्धिवादी समाज कायम करने का जतन किया। लेकिन चूंकि उन्होने इसे अपने प्राचीन साहित्य के परकोटे मे ही बन्द कर दिया, इससे प्रगति व ज़रूरी परिवर्तन रुक गये, और सडांद व पथरावट पैदा हो गई। हम भारत के लोग इस चीनी बुद्धिवाद से बहुत-कुछ सीख सकते हैं, क्योकि अभी तक हम लोग जात-पांत, रूढिवादी मज़हबो, पोप-लीला और सामन्ती विचारो के पजे मे फॅसे हुए हैं। चीन के महात्मा कन्फ्यूशस ने अपने देशवासियो को एक चेतावनी दी थी, जो याद रखने लायक है—"जो लोग अलौकिक या ग़ैबी बातो मे दखल रखने का ढोग रचते हो, उनके साथ कोई ताल्लुक मत रखो। अगर तुमने अपने देश मे अलौकिकवाद को पग जमाने दिया, तो उसका नतीजा भयकर आफत होगा।" दुर्भाग्य से हमारे देश मे चोटीधारी या जटा-जूटधारी या लम्बी दाढीवाले या टेढे-मेढे तिलकधारी या भगवां वस्त्रधारी बहुत-से लोग ग़ैबी दूत बने फिरते हैं और साधारण जनता को मूंडते हैं।

लेकिन अपने सारे पुरातन बुद्धिवाद और सस्कृति के होते हुए भी चीन का वर्तमान से नाता टूट गया, इसलिए मुसीबत की घडी मे उसे उसकी ये पुरानी सस्थाएँ कोई काम न आ सकी। घटनाचक्र ने चीन के बहुत-से नौजवानो मे नव-जीवन भर दिया और उन्हे बाहर जाकर लगन से ज्ञान-ज्योति तलाश करने के लिए मजबूर किया। इन घटनाओ ने बूढी राजमाता को भी हिला दिया, और अब वह सविधान और स्वराज्य देने की बातें करने लगी और उसने विदेशो को, वहाँ के सविधानो का अध्ययन करने के लिए, कमीशन भी भेजे।

यो बूढी राजमाता की मातहती मे चीनी सरकार ने भी आखिरकार आगे क़दम बढाया, लेकिन जनता इससे भी तेजी के साथ आगे बढ रही थी। १८९४

ई० मे ही, डा० सन-यात-सेन ने 'चीन-पुनरुद्धार समिति' कायम कर दी थी। और चीन पर विदेशी शक्तियो ने जो अन्यायी और एक-तरफा सन्धियाँ, जिन्हें चीनी लोग 'अनमान सन्धियाँ' कहा करते हैं, ज़बर्दस्ती लादी थी, उन पर विरोध ज़ाहिर करने के लिए बहुत-से लोग इस समिति मे शामिल हो गये। यह समिति बढ़ने लगी और देश के नवयुवक इसकी तरफ खिचने लगे। १९११ ई० मे इसका नाम बदलकर 'कुओ-मिन-तांग' यानी 'जनता का राष्ट्रीय दल' रक्खा गया और यह चीन की क्रान्ति का केन्द्र बन गया। इस आन्दोलन की जान डा० सन-यात-सेन सयुक्त राज्य अमेरिका को आदर्श मानते थे। वह गणराज्य चाहते थे, न कि इंग्लैण्ड-जैसी सविधानी राजशाही, और जापान-जैसी सम्राट्-पूजा तो हर्गिज़ भी नही। चीनियो ने अपने सम्राटो को पूजा की चीज कभी नही माना, फिर उनका मौजूदा शासक राजवश तो 'चीनी' भी नही था। यह राजवश मचू था और जनता मे मचू-विरोधी भावना खूब फैली हुई थी। जनता की इस खलबली ने ही बूढी राजमाता को मजबूर किया था। लेकिन यह बूढ़ी महिला भावी सविधान की घोषणा करने के थोडे ही दिन बाद मर गई। एक अजीब बात यह हुई कि राजमाता और उसका भतीजा सम्राट्, जिसे उसने गद्दी से उतारा था, दोनो नवम्बर, १९०८ ई० मे चौबीस घटो के अन्दर ही मर गये। अब एक दुध-मुहाँ बच्चा नाम के लिए सम्राट् हुआ।

अब फिर पार्लमेण्ट को बुलाने की माँग बुलन्द होने लगी। जनता की मचू-विरोधी और राजशाही-विरोधी भावना ज़ोर पकडने लगी। क्रान्तिकारी भी ज़ोर पकडने लगे। इस समय चीन के एक प्रान्त का हाकिम युआन-शी-काई ही ऐसा मज़बूत आदमी था, जो इनका मुकाबला कर सकता था। यह बूढी लोमडी की तरह चालाक था, और सयोग से चीन की अकेली आधुनिक व होशियार सेना, जिसका नाम 'आदर्श सेना' था, उसके हाथ मे थी। मचू-शासको ने बडी बेवकूफी में आकर इसे चिढा दिया और बर्ख़ास्त कर दिया, और इस तरह उन्होंने ऐसे अकेले व्यक्ति को खो दिया, जो उन्हें कुछ देर के लिए बचा सकता था। अक्तूबर, १९११ ई० मे, यागसी की घाटी मे क्रान्ति भडक उठी और बहुत जल्दी मध्य और दक्षिणी चीन के बडे हिस्से मे विद्रोह फैल गया। १९१२ ई० की पहली जनवरी को इन प्रान्तो ने गणराज्य का ऐलान कर दिया और नानकिंग को राजधानी बनाया। डा० सन-यात-सेन राष्ट्रपति चुने गये।

इधर युआन-शी-काई भी इस नाटक को देख रहा था कि ज्योही अपना मौक़ा मिले, हाथ मारे। रीजेन्ट ने (जो अपने पुत्र, नन्हे सम्राट् के ऐवज़ राजकर रहा था) युआन को बर्ख़ास्त करके बाद मे दुबारा बुलाया, इसका किस्सा भी दिल-चस्प है। पुराने चीन मे हरेक बात बडे तकल्लुफ व अदब के साथ की जाती थी।

जिस वक्त युआन को बर्खास्त करना जरूरी था, तब यह घोषणा की गई थी कि उसकी टॉग मे तकलीफ है। वास्तव मे सबको अच्छी तरह मालूम था कि उसकी टॉग बिलकुल मज़े मे थी। और उसे बर्खास्त करने का यह सिर्फ माना हुआ ढंग था। लेकिन युआन ने भी अपना बदला ले लिया। दो साल बाद, १९११ ई० मे, जब सरकार के खिलाफ गदर और विद्रोह उठ खडे हुए, तब रीजेन्ट ने घबराकर युआन को बुलवाया। लेकिन युआन का इरादा तबतक जाने का नही था जबतक उसकी शर्तें मजूर न करली जायें। उसने रीजेन्ट को जो जवाब भेजा, उसमे खेद के साथ कहा कि उसके लिए घर छोडना मुमकिन नहीं, क्योंकि टॉग मे तकलीफ होने की वजह से वह सफर नही कर सकता। लेकिन एक महीने बाद जब उसकी शर्तें मजूर कर ली गईं तो उसकी टॉग भी फौरन दुरुस्त हो गई।

लेकिन अब इतनी देर हो चुकी थी कि क्रान्ति नही रुक सकती थी। युआन भी इस कदर चालाक था कि दोनो मे से किसी पक्ष के साथ बँधकर अपनी हैसियत को खतरे मे नही डालना चाहता था। आखिरकार उसने मचुओ को गद्दी छोडने की सलाह दी। इधर तो गणराज्य उनके मुकाबले मे खडा था, और उधर उनके सेनापति ने उनका साथ छोड दिया था, इसलिए मचू-शासको के लिए दूसरा कोई चारा ही न था। १२ फरवरी, १९१२ ई० को गद्दी छोडने का फरमान निकाल दिया गया। इस तरह ढाई सदी से ज्यादा के याद रखने लायक शासन के बाद, मचू-राजवश ने चीन का रगमच खाली कर दिया। एक चीनी कहावत के अनुसार "वे सिह-जैसी गर्जना करते हुए आये और सॉप की पूंछ की तरह गायब हो गये।"

इसी १२ फरवरी के दिन नये गणराज्य की राजधानी नानकिंग मे, जहाँ प्रथम मिङ् बादशाह का मकबरा बना हुआ था, एक अजीब रस्म पूरी की गई, ऐसी रस्म जिसने पुरानी व नई बातो का भेद दर्शाते हुए उन्हे एक साथ ला दिया। गणराज्य के राष्ट्रपति सन-यात-सेन ने अपने मत्रिमडल के साथ मकबरे पर जाकर पुराने तरीके मे भेटें चढाईं। इस मौके पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा—"हम पूर्वी एशिया के लिए गणराज्य के ढंग के शासन का नमूना सबसे पहले पेश कर रहे हैं। जो लोग कोशिश करते हैं, उन्हे देर-सवेर सफलता मिलती ही है। नेकी का अन्त मे जरूर इनाम मिलता है। फिर हम आज यह पछतावा क्यो करें कि विजय इतनी देर से आई?"

बहुत वर्षों तक, अपने देश मे और निर्वासित रहकर, सन-यात-सेन चीन की आजादी के लिए जान लडाते रहे, और अन्त मे सफलता आती दिखाई दी। लेकिन आजादी एक बेवफा दोस्त है और सफलता हासिल करने से पहले उसकी पूरी कीमत चुकानी पडती है। अक्सर वह हमे झूठी उम्मीदें दिखा-दिखाकर बहलाती है, कठिनाइयां पैदा करके हमारी परीक्षा लेती है, और तब कही वह हासिल होती है।

चीन और डा० सेन की मंजिल पूरी होने मे अभी बहुत देर थी। बहुत वर्षों तक इस नये गणराज्य को अपनी जिन्दगी के लिए लड़ाई करनी पड़ी और आज इक्कीस वर्ष बाद भी, जबकि उसे बालिग़ हो जाना चाहिए था, उसका भविष्य डावांडोल हो रहा है।

मंचुओं ने तो राजगद्दी छोड़ दी, लेकिन गणराज्य के रास्ते में युआन अभी तक अड़ा हुआ था। पता नही उसका क्या इरादा था। उत्तरी भाग उसके हाथ मे था और दक्षिणी भाग गणराज्य के हाथ मे। शान्ति की खातिर और गृह-युद्ध बचाने के लिए, डा० सेन ने अपनेको मिटाकर राष्ट्रपति का पद छोड़ दिया और युआन को राष्ट्रपति चुनवा दिया। लेकिन युआन कोई गणराज्यवादी नही था। वह तो अपनी बुलन्दी के लिए सत्ता हथियाने की फिराक मे था। जिस गणराज्य ने उसे अपना राष्ट्रपति चुनकर इज्जत दी थी, उसीको कुचलने के लिए उसने विदेशी शक्तियो से रुपया उधार लिया। उसने पार्लमेण्ट को बर्खास्त कर दिया और कुओ-मिन्-तांग को तोड़ दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि दो दल हो गये और डा० सेन की अध्यक्षता मे दक्षिण मे एक मुकाबले की सरकार कायम हुई। जिस फूट को बचाने के लिए डा० सेन ने भरसक जतन किया था, वही पैदा हो गई, और जिस समय महायुद्ध शुरू हुआ, चीन मे दो सरकारें थी। युआन ने सम्राट् बनने की कोशिश की, लेकिन वह सफल नही हुआ और थोड़े ही दिनो बाद मर गया।

: ११९ :

## भारत के पूर्ववर्ती देश

३१ दिसम्बर, १९३२

फिलहाल हम सुदूरपूर्व की चर्चा को उठा रखते हैं। उन्नीसवी सदी मे हम भारत का भी कुछ हाल देख चुके हैं, और अब पश्चिम की तरफ यूरोप, अमेरिका और अफ्रीका को चलने का वक्त आ गया है। पर मैं चाहता हूँ कि इस लम्बे सफर से पहले तुम जरा एशिया के दक्षिण-पूर्वी कोने की भी एक झाँकी ले लो, ताकि हमे इनमे अबतक की जानकारी हो जाय। इन देशो पर गौर किये काफी समय हो चुका है। पिछले कुछ पत्रो मे मैंने सरसरी तौर पर, और अलग-अलग तौर पर, इन देशों का—मलेशिया, इन्दोनेशिया, पूर्वी द्वीप-समूह और सुदूर भारत के नामो का जिक्र किया है, जो शायद सही भी नहीं है। मुझे सन्देह है कि इनमे से कोई भी नाम इस सारे इलाके को शामिल करता हो। लेकिन जब हम-तुम एक दूसरे की बातें समझ लें, तो नामो से क्या, लेना-देना ?

अगर आसानी से मिल सके तो जरा नक्शे को देखो। तुम्हें एशिया के दक्षिण-पूर्व मे एक प्रायद्वीप दिखाई देगा, जिसमे बरमा, स्याम और आजकल का फ्रान्सीसी

भारत के पूर्ववर्ती देश
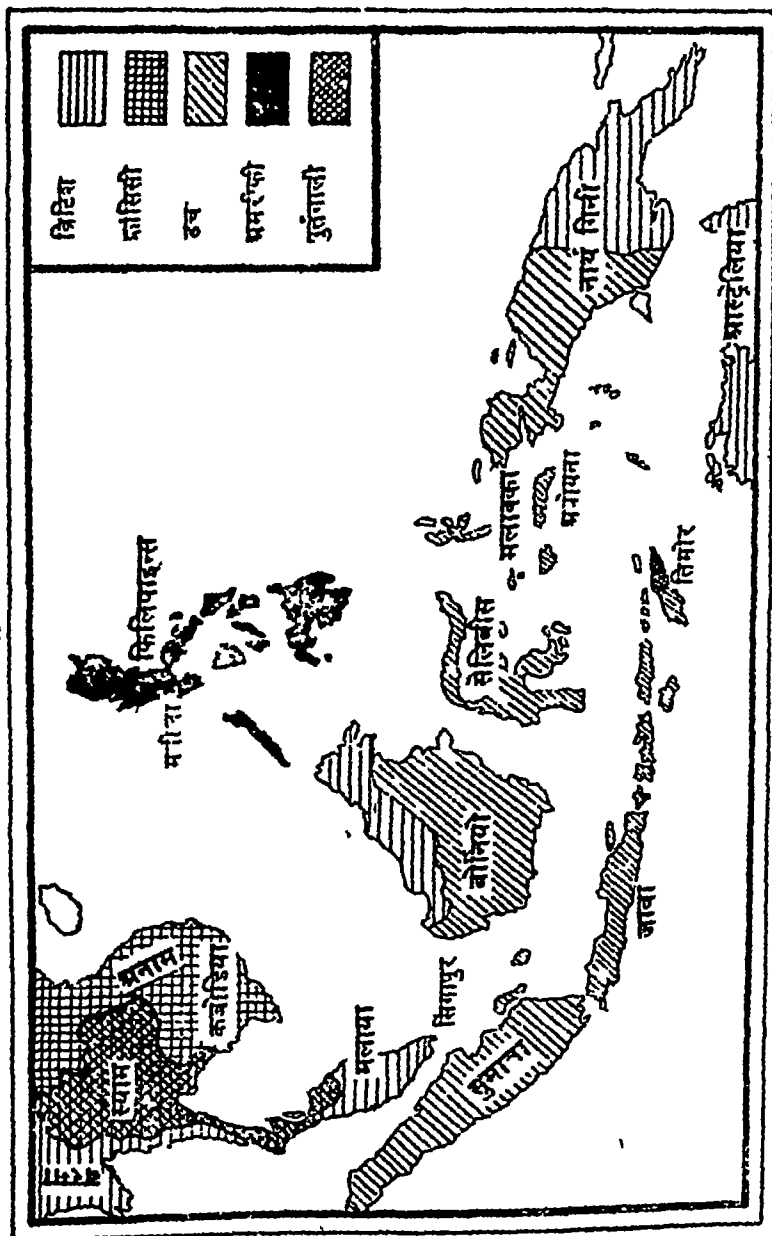
हिंद-चीन शामिल हैं। बरमा और स्याम के बीच जमीन की एक लम्बी ज़बान-सी निकली हुई है, जो आखरी छोर की तरफ़ चौडी होती गई है और जिसकी नोक पर सिंगापुर का शहर बसा हुआ है। यह मलाया प्रायद्वीप है। मलेशिया से लेकर आस्ट्रेलिया तक बहुत-से छोटे-बडे टापू बिखरे हुए हैं, जिनकी अजीव शक्लें हैं और जिन्हें देखकर ऐसा मालूम होता है कि ये एशिया और आस्ट्रेलिया को मिलानेवाले किसी बडे भारी पुल के खण्डहर हैं। इन्ही टापुओ का नाम पूर्वीद्वीप-समूह है। इनके उत्तर मे फिलीपाइन के टापू हैं। किसी आधुनिक नकशे से तुम्हें मालूम हो जायगा कि बरमा और मलाया अंग्रेजो के कब्जे मे हैं, हिंद-चीन फ्रान्स का है और इनके बीच मे स्याम एक स्वाधीन देश है। डचो के कब्जे मे इन्दोनेशिया, यानी सुमात्रा व जावा, और बोर्नियो, सेलिबीज़ व मलक्का के ज्यादातर हिस्से हैं। ये टापू मसालो के लिए मशहूर हैं, और इन्होंने यूरोप के नाविको को हजारो मील तूफानी सागरो को लांघकर आने के लिए खीचा है। फिलीपाइन टापू अमेरिका के अधीन हैं।

पूर्वी सागरो के इन देशो की यह मौजूदा हालत है। लेकिन तुम्हें याद होगा कि लगभग दो हजार वर्ष पहले भारतमाता के सपूतो ने इन देशो मे जाकर उपनिवेश बसाये थे, कई सदियो तक इनमे बडे-बडे साम्राज्य फूले-फले, खूबसूरत शहर और अद्भुत इमारतें बनी, बनिज-व्यापार की तरक्की हुई और भारतीय व चीनी सभ्यताओ व संस्कृतियो का मेल हुआ।

इन देशो का (इनकी संख्या ७९ है) बयान करते हुए मैंने अपने एक पिछले पत्र मे पूर्व मे पुर्तगाली साम्राज्य के पतन का और ब्रिटिश और डच ईस्ट इंडिया कम्पनियो के उदय का जिक्र किया था। फिलीपाइन मे तबतक स्पेनियो का ही राज था।

अंग्रेजो और डचो ने मिलकर पुर्तगालियो को मार भगाया था। वे कामयाब तो हो गये, लेकिन इन विजेताओ के बीच किसी तरह का प्रेम नही था और वे अक्सर आपस मे लडा करते थे। १६२३ ई० मे एक बार मलक्का मे अम्बोयना के डच गवर्नर ने, डच-सरकार के खिलाफ साजिश का इलजाम लगाकर ईस्ट इंडिया कम्पनी के तमाम अंग्रेज कर्मचारियो को गिरफ्तार करके मरवा डाला। यह थोकबन्द जल्लादी अम्बोयना का हत्याकाण्ड कहलाती है।

मैं चाहता हूँ कि तुम एक बात याद रक्खो। अपने शुरू के पत्रो मे मैंने इसका जिक्र किया है। इस जमाने मे, यानी सत्रहवी सदी के अन्दर और बाद मे, यूरोप औद्योगिक देश न था। बाहर भेजने के लिए वहाँ बडे पैमाने पर माल तैयार नही होता था। औद्योगिक क्रान्ति और बडी-बडी मशीनो के दिन अभी बहुत दूर थे। यूरोप की बनिस्बत एशिया ज्यादा माल तैयार और निर्यात करनेवाला देश था।

एशिया का जो माल यूरोप को जाता था, उसकी कीमत कुछ तो यूरोप के माल के रूप मे और कुछ स्पेनी अमेरिका से आनेवाले धन से दी जाती थी। एशिया और यूरोप की यह तिजारत बडे मुनाफ़े की थी। बहुत अर्से तक इसपर पुर्तगालियो का कब्ज़ा रहा, जिससे वे मालामाल हो गये। इसमे हिस्सा बँटाने के लिए ब्रिटिश और डच ईस्ट इडिया कम्पनियां बनी। लेकिन पुर्तगाली इस तिजारत को अपना ख़ास इजारा समझते थे, और उसमे किसी दूसरे को हिस्सा नही देना चाहते थे। फिलीपाइन मे स्पेनियो के साथ तो उनका निभाव होता रहा, क्योकि स्पेनियो की दिलचस्पी तिजारत की वनिस्वत ईसाइयत की तरफ ज्यादा थी। लेकिन नई कम्पनियो की तरफ से आनेवाले अंग्रेज़ और डच हौसलेवाज़ो मे रीति-नीति कुछ न थी। इसलिए बहुत जल्दी ही झडप हो गई।

पूर्व मे राज करते हुए पुर्तगालियो को सवा-सौ से ज्यादा वर्ष हो गये थे। जिनपर उनका शासन था, उनमे वे ज़रा भी लोकप्रिय न थे और चारो तरफ असन्तोष था। इग्लैण्ड और हालैण्ड की दोनो तिजारती कम्पनियो ने इस असन्तोष से फायदा उठा लिया और इन लोगो को पुर्तगालियो से पिंड छुडाने मे मदद दी। लेकिन पुर्तगालियो ने जैसे ही जगह ख़ाली की, ये फौरन ही उसमे जा बैठे। भारत और इन्दोनेशिया के राजा होने के नाते ये यहां के लोगो से भारी महसूलो और दूसरी सूरतो मे ख़िराज वसूल करते थे। इससे यूरोप पर ज्यादा बोझ पडे बिना ही इन्हे अपना विदेशी व्यापार चलाने मे मदद मिलती थी। पूर्वी देशो के माल की कीमत अदा करने मे जो बडी दिक्कत यूरोप को पहले महसूस होती थी, वह इस तरह कम हो गई। लेकिन फिर भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, इग्लैण्ड ने रोक लगाकर और भारी चुगियां लगाकर भारत के माल का अपने यहां आना बन्द करने की कोशिश की। औद्योगिक क्रान्ति के आने तक यही हालत थी।

अंग्रेजो के हट जाने की वजह से, इन्दोनेशिया मे डच-ब्रिटिश झगडा ज्यादा न चला। अंग्रेज लोग भारत मे उलझते जा रहे थे और उन्हें इसीसे फुरसत न थी। इसलिए फिलीपाइन के सिवा, जिसपर स्पेनियो का कब्ज़ा बना रहा, इन्दोनेशिया के टापू अकेली डच ईस्ट इडिया कम्पनी के हाथ मे आ गये। चूंकि स्पेनियो को तिजारत की ज्यादा परवाह न थी, और न वे आगे देश-विजय की ही कोशिश मे थे, इसलिए इस इलाके मे डचो का कोई मुकाबलेवाला न रहा।

भारत मे अपनी हमनाम ब्रिटिश कम्पनी की तरह, डच ईस्ट इडिया कम्पनी भी जितना हो सके धन बटोरने के लिए जम गई। डेढ-सौ वर्षों तक इस कम्पनी ने इन टापुओ पर राज किया। जनता की बेहतरी की तरफ इन लोगो ने ज़रा भी ध्यान नही दिया। उसकी छाती पर सवार होकर उन्होने जितना भी हो सका रुपया ऐंठा। जब ख़िराज के तौर पर रुपया पैदा करना आसान था, तो व्यापार दूसरे

दर्जे की चीज बन गया और मरने लगा। यह कम्पनी बिल्कुल निकम्मी थी। जो डच लोग इसमें नौकरी करने के लिए आते, वे भी उसी नमूने के थे, जिनका कोई उसूल नहीं होता था और जो महज तकदीर-आजमानेवाले होते थे, जैसे भारत की ब्रिटिश कम्पनी के गुमाश्ते या कारकून। नेकी से या बदी से धन कमाना उनका खास मतलब था। भारत में देश के साधन बहुत ज्यादा थे और काफी-सी बदइन्तजामी उनसे ढक जाती थी। इसके अलावा भारत में कुछ काबिल गवर्नरों ने ऊपर का प्रशासन मुस्तैद बना दिया था, हालांकि नीचे के लोगों को यह कुचलनेवाला था। खैर, तुम्हें याद होगा कि १८५७ के महान् विद्रोह ने ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अन्त कर दिया।

डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी की हालत दिन-पर-दिन खराब होती गई। आखिरकार, १७९८ ई० में नीदरलैण्ड की सरकार ने ईस्ट इण्डीज की हुकूमत खुद सम्हाल ली। कुछ ही दिनों बाद यूरोप में नेपोलियनी युद्धों के कारण, अंग्रेजों ने इन टापुओं पर कब्जा कर लिया, क्योंकि हालैण्ड भी नेपोलियन के साम्राज्य का हिस्सा बन गया था। पाँच साल तक ये ब्रिटिश भारत के ही प्रान्त समझे जाते रहे और इस अर्से में वहाँ बहुत-कुछ सुधार जारी किये गए। नेपोलियन का पतन होने पर पूर्वी द्वीप फिर हालैण्ड को वापस दे दिये गए। जिन पाँच वर्षों में जावा का सम्बन्ध भारत की ब्रिटिश सरकार से रहा, उन दिनों टामस स्टैम्फर्ड रैफल्स नामी एक काबिल अंग्रेज जावा का लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर था। रैफल्स की रिपोर्ट थी कि डचों के उपनिवेशी राज के इतिहास के साथ "दगाबाजी, रिश्वत, हत्याकाण्ड और कमीनेपन का एक बहुत ही असाधारण रिश्ता है।" दूसरी कुछ हरकतों के अलावा डच अफसरों का एक काम यह भी था कि वे जावा में गुलामों के तौर पर काम करने के लिए सेलीबीज से आदमियों को जबर्दस्ती पकड लाते थे। इस धर-पकड के साथ-साथ लूट-पाट और हत्याएँ भी होती थीं।

नीदरलैण्ड की सरकार की यह सीधी हुकूमत भी कम्पनी की हुकूमत से कुछ अच्छी न थी। कई बातों से तो जनता पर और भी ज्यादा अत्याचार होने लगे। तुम्हें शायद याद होगा कि मैंने बंगाल में इस नील-बागानों की प्रथा के बारे में कुछ बताया था, जिसने काश्तकारों पर बड़ी मुसीबतें ढाई थीं। इसी तरह की प्रथा, बल्कि इससे भी खराब, जावा वगैरा में जारी की गई। कम्पनी के जमाने में लोगों को माल देना पड़ता था। लेकिन अब 'काश्तकारी-प्रथा' के मुताबिक हर साल कुछ समय के लिए, जो किसानों के काम-काजी वक्त का लगभग एक-तिहाई या चौथाई हिस्सा माना जाता था, उनसे जबर्दस्ती काम कराया जाता था। व्यवहार में तो बहुत करके किसान का लगभग पूरा ही वक्त ले लिया जाता था। डच सरकार ठेकेदारों के मार्फत काम कराती थी, जिनको सरकार की तरफ से बिना सूद पर पेशगी रुपया दिया जाता था। ये ठेकेदार मजदूरों को बेगार में पकडकर जमीन से

खूब फायदा उठाते थे। कहा तो जाता था कि ज़मीन की पैदावार कुछ बँधे हुए हिस्सो मे सरकार, ठेकेदार और काश्तकार के बीच बाँट दी जाती थी। बेचारे काश्तकारो का हिस्सा शायद सबसे कम था; मुझे ठीक मालूम नही कि कितना होता था। सरकार ने यह भी हुक्म निकाल रक्खा था कि यूरोप मे खपनेवाली कुछ चीजें ज़मीन के कुछ भाग मे ज़रूर बोई जायँ। ये चीजें चाय, कहवा, गन्ना, नील, वगैरा थी। जैसा कि बगाल मे नील-बागानो का हाल था, यहां भी इन चीज़ो को ज़रूर ही बोना पडता था, चाहे दूसरी चीजें बोने के मुकाबले मे मुनाफा कम ही क्यों न होता हो।

डच सरकार खूब मुनाफा उठाती थी, ठेकेदार मौज करते थे; किसान भूखो मरते थे और मुसीबत की जिन्दगी बिताते थे। उन्नीसवी सदी के बीच मे एक भयकर अकाल पडा, जिसमे बड़ी सख्या मे लोग मौत के शिकार हुए। तब कहीं जाकर बेचारे किसानो के लिए कुछ करना जरूरी समझा गया। धीरे-धीरे उनकी हालत सुधरती गई, लेकिन बेगार की प्रथा १९१६ ई० तक भी चलती रही।

उन्नीसवी सदी के पिछले वर्षों मे डचो ने कुछ शिक्षा के मामले मे, और दूसरे भी कुछ सुधार जारी किये। एक नया मध्यम-वर्ग पैदा हो गया और राष्ट्रीय आन्दोलन आज़ादी की माँग करने लगा। भारत की तरह यहाँ भी बहुत रुक-रुककर कदम बढाया गया और ऐसी लचर विधान-सभाएँ कायम की गई, जिनके हाथ मे असली सत्ता कुछ भी न थी। करीब पाँच वर्ष हुए, डच इन्दोनेशिया मे क्रान्ति हुई, जिसे बेरहमी के साथ कुचल दिया गया। लेकिन जावा और दूसरे टापुओ मे आज़ादी की जो भावना जाग चुकी है, वह किसी तरह के जुल्मो या अत्याचारो से नही मर सकती।

ईस्ट इण्डीज आजकल 'नीदरलैण्ड का इडिया' कहलाते हैं।[1] हर पन्द्रहवें दिन, यूरोप और एशिया के ऊपर होता हुआ हवाई जहाज ठेठ हालैण्ड से जावा के बताविया शहर को जाया करता है।

ईस्ट इण्डीज़ की कहानी की रूपरेखा मैंने खत्म कर दी है और अब मैं तुमको एशिया के भू-भाग पर ले चलना चाहता हूँ। बरमा के बारे मे अब कुछ कहना बाकी नही है। अक्सर यह मुल्क उत्तरी और दक्षिणी दो हिस्सो मे बँटा रहा और ये दोनो आपस मे लडते-झगडते रहे। किसी समय कोई शक्तिशाली बादशाह हो गया तो उसने दोनो को मिला दिया और पडोसी स्याम को जीतने की भी हिम्मत कर डाली। फिर उन्नीसवीं सदी मे अंग्रेजो के साथ मुठभेडें शुरू हो गई। अपने बल के घमण्ड मे बरमा के बादशाह ने असम के ऊपर चढाई करके उसे अपने राज्य मे मिला

[1] अब इनका नाम इन्दोनेशिया हो गया है और इन्हें स्वाधीनता प्राप्त हो गई है।

लिया। भारत के अंग्रेज़ो के साथ बरमा का पहला युद्ध १८२४ ई० मे हुआ और असम अंग्रेजो को मिल गया। अंग्रेज़ो को अब मालूम हो गया कि बरमा की सरकार और सेना दोनो कमजोर हैं और वे सारे देश को हड़पने की इच्छा करने लगे। दूसरे और तीसरे युद्धो के लिए बेहूदा बहाने ढूंढ निकाले गये और १८८५ ई० तक सारे देश को जीतकर ब्रिटिश भारत के साम्राज्य का हिस्सा बना लिया गया। तबसे बरमा की किस्मत भारत के साथ जुड़ गई है।[1]

बरमा के दक्षिण मे मलाया प्रायद्वीप मे भी अंग्रेजो ने अपने पैर फैला दिये। सिंगापुर के टापू पर तो उन्होंने उन्नीसवी सदी मे ही कब्ज़ा कर लिया था। मौक़े की जगह पर होने की वजह से सिंगापुर जल्द एक बढ़ता हुआ व्यापारी शहर और सुदूर पूर्व को आनेवाले जहाज़ो के ठहरने का बन्दरगाह बन गया। इस प्रायद्वीप मे कुछ ऊपर मलक्का के पुराने बन्दरगाह का महत्व कम हो गया। सिंगापुर से अंग्रेज़ उत्तर की तरफ बढने लगे। मलाया प्रायद्वीप मे छोटी-छोटी बहुत-सी रियासतें थी, जिनमे से ज़्यादातर स्याम की ताबेदार थी। इस सदी के अन्त तक ये तमाम रियासतें अंग्रेज़ो की ताबेदारी मे आ गई और मलाया राज्यसघ (फेडरेटेड मलाया स्टेट्स) मे शामिल कर दी गई। कुछ रियासतो पर स्याम का जो कुछ कब्जा था, वह उसे मजबूर होकर इंग्लैण्ड को दे देना पड़ा।

इस तरह स्याम विरोधी शक्तियो से घिरता जा रहा था। पश्चिम और दक्षिण मे, बरमा और मलाया मे, इंग्लैण्ड की प्रभुता थी। पूर्व की तरफ फ्रान्स चढा आ रहा था और अनाम को हड़प रहा था। अनाम चीन की प्रभुता मानता था, लेकिन यह मानना बेकार था, जबकि चीन खुद ही कठिनाइयो मे फँसा हुआ था। तुम्हें याद होगा कि मैंने चीन के बारे मे हाल के किसी पत्र मे तुम्हे बताया था कि जब फ्रान्सीसियो ने अनाम पर हमला किया, तो फ्रान्स और चीन के बीच लड़ाई छिड़ गई। फ्रान्स की ज़रा रोक-थाम तो हुई, लेकिन कुछ ही दिनो के लिए। उन्नीसवी सदी के पिछले वर्षो मे अनाम और कम्बोडिया को शामिल करके फ्रान्स ने फ्रान्सीसी हिंद-चीन नामक एक बड़ा उपनिवेश बना डाला। कम्बोडिया, जहाँ पुराने ज़माने मे शानदार अंकोर का साम्राज्य था, स्याम की एक अधीन रियासत था। फ्रान्स ने स्याम को लड़ाई की धमकी देकर इसके ऊपर अपना राज जमा लिया। ध्यान देने की बात यह है कि इन देशो मे, फ्रान्सीसियो की सारी शुरुआती साज़िशें फ्रान्सीसी मिशनरियो की मार्फत की गई थी। किसी वजह से एक मिशनरी को मौत की सज़ा दी गई और इसीका हर्जाना वसूल करने के लिए पहला फ्रान्सीसी हमला १८५७ ई० मे हुआ। फ्रान्सीसी सेना ने दक्षिण मे सैगोन के बन्दरगाह पर

---

[1] बरमा अब भारत से अलग एक स्वाधीन देश है।

कब्ज़ा कर लिया और यहीं से फ्रान्सीसियों का कब्ज़ा उत्तर की तरफ बढ़ता गया।

मुझे दुःख है कि एशिया के इन देशों में साम्राज्यशाही की बढ़ती के वाहियात क़िस्से मैंने कई बार दोहराये हैं। हरेक जगह क़रीब-क़रीब एक-सी चालें चली गईं, और क़रीब-क़रीब हर जगह उन्हें सफलता मिली। एक के बाद दूसरे देश का बयान मैंने किया है, और किसी-न-किसी यूरोपीय शक्ति के अधीन उसे पटककर उसका किस्सा ख़त्म किया है। इस कम्बख़्ती का शिकार होने से सिर्फ़ एक देश बच गया। यह था एशिया के दक्षिण-पूर्व का स्याम।

सौभाग्य से स्याम इसलिए बच गया कि वह बरमा में अंग्रेज़ों और हिंद-चीन में फ्रान्सीसियों के बीच में फँसा हुआ था। शायद वह इसलिए बच गया कि ये दो यूरोपीय मुकाबलेदार उसके आजू-बाजू मौजूद थे। इसके सौभाग्य की एक वजह यह भी थी कि इसका प्रशासन कुछ समय से काफी अच्छा था, और दूसरे बहुत-से देशों की तरह यहाँ अन्दरूनी कलह नहीं थी। लेकिन अच्छा शासन विदेशियों के हमले रोकने की कोई गारण्टी न थी। बात यह थी कि इंग्लैण्ड तो बरमा में और भारत में उलझा हुआ था और फ्रान्स हिंद-चीन में। उन्नीसवीं सदी के पिछले दिनों में जब ये दोनों शक्तियाँ स्याम की सीमा तक पहुँचीं, तब जीतकर कब्ज़ा करने का ज़माना ही गुज़र चुका था। पूर्व में मुकाबला करने की भावना पैदा हो रही थी और उपनिवेशों व अधीन देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो रहे थे। कम्बोदिया के मामले पर स्याम और फ्रान्स में युद्ध का ख़तरा था, पर स्याम ने दबकर फ्रान्स से झगड़ा बचा लिया। पश्चिम की ओर पहाड़ों की एक मज़बूत बाड़ बरमा के मालिक अंग्रेज़ों से स्याम की रक्षा कर रही थी।

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि गये दिनों में कम-से-कम दो बार बरमा के बादशाहों ने स्याम पर हमला किया और उसे अपने राज्य में भी मिला लिया। आख़िरी हमले में, जो १७६७ ई० में हुआ, स्याम की राजधानी अयुथ्या या अयोध्या (इस भारतीय नाम पर ग़ौर करो) नष्ट कर दी गई। पर थोड़े ही दिन बाद जनता ने विद्रोह करके बरमी लोगों को निकाल बाहर किया और १७८२ ई० में राम-प्रथम नामक राजा से एक नया राजवंश शुरू हुआ। आज ठीक डेढ़ सौ साल बाद भी, यह राजवंश स्याम में राज करता है और शायद सभी राजाओं का नाम 'राम' होता है। इस नये राजवंश के राज में स्याम को अच्छा लेकिन बहुत-कुछ मौरूसी शासन मिला। साथ ही बड़ी बुद्धिमानी से विदेशी शक्तियों से भी अच्छे ताल्लुक पैदा करने की कोशिश की गई। विदेशी व्यापार के लिए बन्दरगाह खोल दिये गए, कुछ विदेशी शक्तियों से व्यापारिक सन्धियाँ की गईं, और प्रशासन में कुछ सुधार भी जारी किये गए। बैंकाक नई राजधानी बनाया गया। लेकिन ये सब बातें साम्राज्यशाही

भेड़ियों को दूर रखने के लिए काफी न थी। इंग्लैण्ड ने मलाया मे पैर पसार-कर स्याम की भूमि दवा ली। फ्रान्स ने कम्बोदिया और स्याम के दूसरे पूर्वी प्रदेशो पर कब्जा कर लिया। १८९६ ई० मे स्याम को लेकर इंग्लैण्ड और फ्रान्स मे झडप होते-होते रह गई। लेकिन, जैसा कि साम्राज्यशाहियो ने कायदा बना रक्खा है, इन दोनो ने आपस मे समझौता कर लिया कि स्याम के राज्य का जितना हिस्सा बचा हुआ है, उसे अखण्ड रहने दिया जाय। मगर साथ ही उन्होंने इसे तीन "प्रभाव-क्षेत्रो" मे भी बाँट लिया। पूर्वी हिस्सा फ्रान्स के दायरे मे आया, पश्चिमी अंग्रेजो के दायरे मे, और दोनो के बीच मे न्यारा क्षत्र था, जिसमे दोनो अपने दान्त गडा सकते थे। इस तरह आडम्बर के साथ स्याम की अखण्डता की गारण्टी कर चुकने पर, कुछ ही वर्षों के बाद फ्रान्स ने पूर्व की तरफ कुछ और भूमि दबा ली। और इसके ऐवज मे इंग्लैण्ड को भी दक्षिण मे कुछ मआवजा लेना ही पडा।

इतना सबकुछ होते हुए भी, स्याम का कुछ हिस्सा यूरोपीय लोगो के चगुल मे बच गया और एशिया के इस हिस्से मे इस तरह बचा रहनेवाला यही एक देश है। यूरोप की हमलावरी प्रवृत्ति का ज्वार अब रुक गया है और अब उसे एशिया मे ज्यादा प्रदेश हासिल होने का मौका नही रहा। वह समय जल्दी ही आनेवाला है जब यूरोप की शक्तियो को बिस्तर-बोरिया बान्धकर एशिया से कूच कर जाना होगा।

कुछ दिन पहले तक स्याम मे निरकुश राजाशाही थी और कुछ सुधारो के बावजूद भी काफी सामन्तशाही थी। कुछ महीने हुए, वहाँ खून-खराबी के बिना राज्यक्रान्ति हुई और मालूम होता है कि ऊपरी मध्यम-वर्ग आगे आ गये। एक किस्म की पार्लमेण्ट भी कायम हो गई है। राम प्रथम के राजवश के राजा ने बुद्धिमानी से इस परिवर्तन को मजूर कर लिया है, जिससे यह राजवश बना रह गया है। इस समय स्याम मे सविधान के मातहत राजशाही शासन है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के एक और देश—फिलीपाइन टापुओ पर विचार करना रह गया है। उनका हाल भी मैं इसी पत्र मे लिखना चाहता था, लेकिन अब समय ज्यादा हो गया है और मैं थक गया हूँ, और यह पत्र भी काफी लम्बा हो गया है। १९३२ ई० के इस साल का यह आखिरी पत्र है, जो मैं तुम्हें लिख रहा हूँ। क्योकि पुराने साल की जिन्दगी पूरी हो चुकी है और वह आखिरी साँसें ले रहा है। अबसे तीन घटे बाद यह साल न रहेगा और गुजरे हुए जमाने की एक याद बन जायगा।

## : १२० :

# नया साल फिर आया

नया दिन, १९३३

आज नये साल का पहला दिन है। पृथ्वी ने सूर्य की एक और परिक्रमा पूरी कर ली है। छुट्टी या त्यौहार मनाने को यह नही रुकती; आकाश मे लगातार दौडती चली जाती है। इसे जरा परवाह नही कि उसकी सतह पर रेंगनेवाले उन बेशुमार भुनगो का क्या हो रहा है, जो आपस मे लडते हैं, और क्या नर और क्या नारियाँ, बेवकूफी के अहकार मे अपने-आपको ससार का सार और सारे विश्व की धुरी समझते है। पृथ्वी अपनी सन्तान का लिहाज़ नहीं करती, लेकिन हम अपना लिहाज न करें, यह नही हो सकता। आज नये साल के दिन, सम्भव है, हममे से बहुतेरे लोग अपनी-अपनी जीवन-यात्रा मे ज़रा देर सुस्ताकर पुरानी बातें याद करने लग जायँ, और फिर आगे की तरफ देखकर उम्मीदें बान्धने की कोशिश करें। इस-लिए आज मैं भी बीती बातो को याद कर रहा हूँ। जेल मे मुझे नये साल का दिन यह तीसरी बार पड रहा है। हाँ, कुछ महीनो के लिए मैं बाहर की दुनिया मे ज़रूर रह आया हूँ। इससे भी पीछे जाने पर मुझे याद आता है कि पिछले ग्यारह वर्षों मे मैंने नये साल के दिन पाँच बार जेलो मे बिताये है। पता नही, ऐसे कितने नये-पुराने दिन इस जेल मे मुझे और देखने को मिलेंगे।

जेल की भाषा मे अब मैं बहुत बार का 'आदती' बन गया हूँ और मुझे जेल-जीवन की आदत हो गई है। बाहर के मेरे काम-काजी व हलचलभरे, और बडी-बडी सभाओ, सार्वजनिक भाषणो व इधर-उधर दौड-भागवाले जीवन मे, और जेल के जीवन मे कितना विचित्र अन्तर है! यहाँ की बात जुदा है, हर तरफ खामोशी है और कोई हलचल नही है। मैं देर-देर तक यो ही बैठा रहता हूँ, और घण्टो चुप रहता हूँ। एक-एक करके दिन और सप्ताह और महीने गुजरते चले जाते हैं और एक दूसरे मे विलीन होते जाते हैं। एक का दूसरे से भेद बतानेवाली कोई चीज नही। बीता हुआ समय एक धुँधली तसवीर की तरह लगता है, जिसमे कोई भी शक्ल साफ नही दीखती। कल की याद करते ही गिरफ्तारी का दिन याद आ जाता है, क्योकि बीच का अर्सा बिलकुल कोरा है, जिसमे कोई ऐसी बात ही नही जो दिमाग पर असर डालती हो। यहाँ का जीवन उस पौधे की तरह है, जो एक ही जगह जमा हो और वहाँ बिना किसी टीका या तर्क-वितर्क के, खामोशी के साथ और बिना हरकत के साथ बढ रहा हो। कभी-कभी बाहरी दुनिया की हलचले जेल के प्राणी को अजीब और चकरानेवाली-सी लगती हैं, वे बहुत दूर की और छायाओ के खेल की तरह हवाई जान पडती हैं। इससे हमारे दो तरह के स्वभाव बन जाते हैं—एक सक्रिय

और दूसरा निष्क्रिय। जीवन के ढंग दो तरह के हो जाते हैं और डॉ० जेकिल व मि० हाइड[1] की तरह व्यक्तित्व भी दो वन जाते हैं। रावर्ट लुई स्टीवेन्सन का यह किस्सा तुमने पढा है?

समय पाकर आदमी को हर चीज़ सुहाने लगती है—यहाँतक कि जेल का ढर्रा और एकसा-पन भी। आराम शरीर के लिए अच्छा है और शान्ति दिमाग के लिए, इससे आदमी विचार करने लगता है। अब शायद तुम समझ जाओगी कि तुम्हें इन पत्रो को लिखने से मुझे क्या फायदा हुआ है। इनकी बातें तुम्हें शायद नीरस, उकतानेवाली और तूल-तवील लगती होगी। लेकिन इन्होंने मेरे जेल-जीवन को भर दिया है और मुझे ऐसा शगल दे दिया है कि जिससे मुझे बहुत आनन्द मिला है। आज से ठीक दो वर्ष पहले नये साल के ही दिन मैंने इनको नैनी-जेल मे लिखना शुरू किया था और दुबारा जेल आने पर इन्हें फिर जारी कर दिया। कभी-कभी मैंने हफ्तो कुछ नही लिखा है, कभी-कभी हर रोज़ लिखा है। जब लिखने की धुन सवार होती है तो मैं कागज कलम लेकर बैठ जाता हूँ, और दूसरी ही दुनिया मे फिरने लगता हूँ। तब तुम मेरी प्रिय साथी होती हो, और जेल व उसके सारे कामो को मैं भूल जाता हूँ। इसलिए ये पत्र मेरे लिए ऐसे बन गये हैं मानो मैं जेल से निकलकर बाहर आ गया हूँ।

आज जो पत्र मैं तुम्हें लिख रहा हूँ, उसकी सख्या १२० है, और सख्या डालने का यह सिलसिला मैंने सिर्फ नौ महीने पहले बरेली-जेल मे शुरू किया था। मुझे हैरत है कि इतना सारा तो मैं लिख चुका हूँ और मै सोचता हूँ कि जब पत्रो का यह पहाड बडे ढेर की तरह तुम्हारे ऊपर गिरेगा तब तुम क्या कहोगी और क्या महसूस करोगी। लेकिन इस तरह मेरा जेल से बाहर निकलना और आना-जाना तुम्हें बुरा नही लग सकता। प्यारी बेटी! तुमको देखे मुझे सात महीने से ज्यादा हो गये हैं। यह समय कितना लम्बा बीता है?

इन पत्रो मे कही गई कहानी कुछ ज्यादा तबीयत खुश करनेवाली नही है। इतिहास सुहावना नही होता। अपनी जबर्दस्त और शेखीभरी प्रगति के बावजूद

---

[1] अंग्रेज उपन्यासकार स्टीवेन्सन का एक मशहूर उपन्यास—'Dr Jekyll and Mr Hyde'। डॉ० जेकिल एक बहुत ही नेक विद्वान् प्रोफेसर था। विज्ञान के प्रयोग करते समय किसी दवा से उसके शरीर में एक बदमाश मि० हाइड की रूह घुस आई। डॉक्टर को अच्छी दवा हाथ लगी। वह चाहे जब अपना रूप और प्रकृति बदल लेता। होते-होते मि० हाइड की आदत ही पड गई और वह बिना दवा के ही डॉ० जेकिल के शरीर मे घुस आता। आखिरकार मि० हाइड से छुटकारा पाना असम्भव समझकर डॉ० जेकिल ने आत्महत्या कर ली।

मनुष्य अभी तक एक बहुत बुरा और स्वार्थी जीव है। फिर भी उसके स्वार्थीपन, झगडालूपन और हैवानियत के लम्बे और दुखदायी इतिहास मे शुरू से अब तक प्रगति की प्रकाश-रेखा शायद बराबर दिखाई दे सकती है। मैं ज़रा आशावादी हूं और सब बातो को आशाभरी नज़र से देखने का आदी हूं। लेकिन आशावाद का यह अर्थ नही है कि हम अपने चारों ओर की बुराइयो मे आंखें मूंद ले और इस खतरे को भी न देखे कि बिना विचार का आशावाद कहीं खुद ही बहुत-कुछ कुठार मे न चला जाय। क्योंकि दुनिया जैसी अबतक रही है, और जैसी आज भी है, उसमे आशावाद के लिए ज़रा भी गुंजायश नही दिखाई देती। आदर्शवादी के लिए और ऐसे व्यक्ति के लिए जो श्रद्धा पर अपने विश्वास नही बनाता, इस दुनिया मे रहना कठिन है। हर तरह के सवाल यहां उठा करते हैं, जिनका कोई सीधा जवाब नहीं मिलता। मन मे हर तरह के सन्देह पैदा होते रहते हैं, जो आसानी से नही मिटते। दुनिया मे इतनी मुसीबत और बेवकूफी क्यो है? इसी पुराने प्रश्न ने हमारे देश के राजकुमार सिद्धार्थ को ढाई हज़ार वर्ष पहले परेशान किया था। कथा है कि 'बोध' प्राप्त करके 'बुद्ध' बनने से पहले यह प्रश्न बार-बार उनके दिल मे उठा रहता था। कहते हैं, वह अपने-आपमे पूछा करते थे

> "कैसे हो सकता कि ब्रह्म यह जगत बनाये
> किन्तु उसे दुख और मुसीबत मे रखवाये,
> क्योंकि अगर वह सर्वशक्तिमय हो यह करता,
> तो वह अच्छा कभी नही माना जा सकता
> और अगर वह ब्रह्म नही है सर्वशक्तिमय,
> तो वह ईश्वर कभी नही, यह जानो निश्चय?"

हमारे ही देश मे आजादी की लडाई चल रही है, पर हमारे बहुत-से भा उधर ज़रा भी ध्यान न देकर आपसी बहस और झगडो मे लगे हुए हैं, वे जन की भलाई को भूलकर अपने ही पथ या मज़हबी सम्प्रदाय के लिहाज़ से सोचते हैं। और कुछ लोग, जिन्हें आज़ादी का सपना नही दिखाई देता—

> "ज़ुल्मियो से मिल गये और हो गये बस शान्त
> कर इकट्ठे दूसरो के ताज और सिद्धान्त
> और चिथडे और कुछ टुकडे मुलम्मेदार
> पहनकर फिरने लगे सब लाज शर्म बिसार।"

कानून और व्यवस्था के नाम पर अत्याचारी शासन चल रहा है और उसके आगे सिर झुकाने से इन्कार करनेवालो को कुचल डालने की कोशिश कर रहा है। गज़ब तो यह है कि जो चीज़ कमज़ोरो और सताये हुओ का आसरा होनी चाहिए, वही अत्याचारियो के हाथो का हथियार हो रही है। इस पत्र मे कई

उद्धरण आ चुके हैं, लेकिन एक और मैं देना चाहता हूँ, क्योंकि वह मेरे दिल को छूता है और हमारी मौजूदा हालत से मेल खाता हुआ मालूम देता है। यह अठारहवीं सदी के फ्रान्सीसी विचारक मान्तेस्क्यू की एक किताब से लिया गया है। इस नाम का ज़िक्र मैं शुरू के किसी पत्र मे कर भी चुका हूँ।

"जिस तख्ते ने सहारा देकर डूबते हुए मुसीबत के मारे लोगो को बचाया हो, उसीके ज़रिये अगर उन्हे डुबा दिया जाय, तो कानून और न्याय का चाहे जितना रग चढाने पर भी इससे बढ़कर निर्दयी अत्याचार नही हो सकता।"

यह पत्र इतना दुखभरा हो गया है कि नये दिन का पत्र कहलाने लायक नहीं रहा। यह चीज बहुत अनुचित है। पर वास्तव मे मैं तो उदास नही, और हम उदास हो भी क्यो ? हमे तो खुशी होनी चाहिए कि हम एक महान् उद्देश्य के लिए जतन कर रहे और लड रहे हैं, हमे एक महान् नेता मिल हुआ है, जो एक प्यारा मित्र और भरोसे का रास्ता दिखानेवाला है, और जिसके दर्शन से हमे बल मिलता है और जिसका स्पर्श हमे प्रेरणा देता है। हमे पूरा यकीन है कि सफलता हमारा इन्तजार कर रही है और कभी-न-कभी हम उसे जरूर हासिल कर लेंगे। अगर पार करने के लिए ये रुकावटें न होती, और जीतने के लिए ये लडाइयाँ न होती, तो जीवन नीरस और बेरग हो जाता।

प्यारी बेटी, तुम जीवन की देहली पर खडी हो, तुम्हें तो उदासी व मलाल पैदा करनेवाली बातो से कोई सरोकार ही नही होना चाहिए। तुम्हें जीवन का और जो कुछ उसमे आ पडे, उसका सामना प्रसन्न व शान्त मुद्रा से करना होगा, रास्ते मे आनेवाली कठिनाइयो का स्वागत करना होगा ताकि उनपर विजय पाने का आनन्द हासिल करो। विदा, प्यारी बेटी! हमे आशा रखनी चाहिए कि हमे कामयाबी मिलने मे बहुत देर नही लगेगी।

## १२१ :

# फिलीपाइन और संयुक्त राज्य अमेरिका

३ जनवरी, १९३३

वर्ष के नये दिनपर कुछ इधर-उधर की बातो का ज़िक्र करके अब हम अपनी कहानी चालू करते हैं। अब हमे फिलीपाइन टापुओ को लेना चाहिए ताकि एशिया के पूर्वी हिस्से की तसवीर पूरी हो जाय। इन टापुओ की तरफ खास ध्यान देने की क्या ज़रूरत है ? एशिया मे व दूसरी जगह और भी बहुत-से टापू हैं, जिनका ज़िक्र भी मैं इन पत्रो के सिलसिले मे नही कर रहा हूँ। बात यह है

कि हम एशिया मे नई साम्राज्यशाही के विकास को, और पुरानी सभ्यताओ पर उसकी प्रतिक्रियाओ को समझने की कोशिश कर रहे हैं। इस अध्ययन के लिए भारत का साम्राज्य एक नमूना है। चीन हमको इस औद्योगिक साम्राज्यशाही के फैलाव का एक जुदा, लेकिन बहुत ही महत्व का पहलू दिखलाता है। इन्दोनेशिया, हिन्दचीन, वगैरा से भी हमे बहुत-कुछ सीखने को मिल सकता है। इसी तरह फिलीपाइन भी हमारे लिए दिलचस्पी की चीज़ है। यह दिलचस्पी और भी ज्यादा इसलिए बढ जाती है कि हम यहाँ एक नई शक्ति की यानी सयुक्त राज्य अमेरिका की कारगुज़ारियाँ देखते हैं।

हम देख चुके हैं कि चीन मे सयुक्त राज्य अमेरिका ने दूसरी शक्तियो की तरह हमलावर नीति इख्तियार नही की थी। कई मौको पर तो उसने दूसरी साम्राज्यशाही शक्तियो को रोककर चीन की मदद भी की थी। इसकी वजह यह नही थी कि उसे साम्राज्यशाही से नफरत थी, या चीन से कोई प्रेम था। असल मे कुछ ऐसे अन्दरूनी तथ्य थे, जिनके कारण अमेरिका का यूरोप के देशो से मतभेद था। यूरोप के ये देश छोटे-से महाद्वीप मे बहुत ही पास-पास सटे हुए थे और इनकी आबादी इतनी घनी थी कि पाँव रखने को भी जगह न थी। इसलिए यहाँ हमेशा लड़ाई-झगडे और गडबडे होती रहती थी। उद्योगवाद के आने से इनकी आबादी तेजी से बढी और वे दिन-पर-दिन इतना ज्यादा माल तैयार करने लगे कि उसकी खपत उनके घर मे नही हो सकती थी। बढती हुई आबादी के लिए खूराक की ज़रूरत हुई, कारखानो के लिए कच्चे माल की, और तैयार माल के लिए बाज़ारो की। इन ज़रूरतो को फौरन पूरा करने की आर्थिक ज़रूरत ने इन देशो को दूर-दूर देशो मे जाकर साम्राज्य के लिए आपस मे युद्ध करने को मजबूर किया।

ये बातें सयुक्त राज्य अमेरिका पर लागू नही होती थीं। इनका देश यूरोप के बराबर ही लम्बा-चौडा था, पर आबादी कम थी। यहाँ हर आदमी के लिए काफी गुजाइश थी। अपने ही देश के लम्बे-चौडे बजर इलाको के विकास मे सारा ज़ोर लगाने के इन लोगो को खूब मौके थे। जैसे-जैसे रेलें बनती गईं, ये लोग पश्चिम की तरफ बढते चले गये, यहाँतक कि प्रशान्त महासागर के किनारे तक जा पहुँचे। अपने ही देश के इन कामो मे अमेरिकावासी इतने मशगूल थे कि उपनिवेश बसाने का न तो उन्हें हौसला था और न फुरसत। वास्तव मे एक बार तो, जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, उन्हें कैलीफोर्निया के समुद्री किनारे पर काम करने के लिए चीन की सरकार से चीनी मज़दूरो की माँग करनी पडी थी। यह माँग पूरी कर दी गई, लेकिन बाद मे इसीकी वजह से दोनो देशो के बीच दुश्मनी पैदा हो गई। इस तरह अपने ही देश की चिन्ताओ मे फँसे रहने के कारण अमेरिकावाले साम्राज्य की उस दौड से अलग रहे, जिसमे यूरोप की सर-

कारें लगी हुई थी। चीन मे भी उन्होंने तभी दखल दिया जब मजबूरी ही आ पड़ी और उन्हें अन्देशा होने लगा कि दूसरी शक्तियाँ इस देश को आपस मे बाँट खायेंगी।

हाँ, फ़िलीपाइन टापू सीधे अमेरिका के कब्जे मे आ गये। ये हमे अमेरिका की साम्राज्यशाही की कहानी सुनाते हैं और इस वास्ते हमारे लिए दिलचस्पी रखते हैं। यह खयाल न करना कि सयुक्त राज्य अमेरिका का साम्राज्य फिलीपाइन टापुओ तक ही है। ऊपरी तौर पर तो उसके पास सिर्फ यही एक साम्राज्य है। पर दूसरी साम्राज्यशाही शक्तियो के अनुभवो और परेशानियो से फायदा उठाकर उसने पुराने तरीको पर क़लई चढ़ा दी है। अमेरिकावाले किसी देश पर कब्जा करने की झलत मे नही पड़ते, जैसा कि अंग्रेजो ने भारत पर कर रखा है। उनको तो सिर्फ़ मुनाफ़ो मे मतलब है, इसलिए ये दूसरे देश की दौलत को हाथ मे रखने की तरकीबें करते रहते हैं। दौलत पर कब्जा हो जाने से देश की जनता को और असल मे फिर खुद उन देशो को ही साथ मे रखना आसान हो जाता है। बस ज्यादा झगडे के बिना या सरगर्म राष्ट्रीयता से टकराये बिना, ये लोग देश पर अपना काबू रखते हैं और उसकी दौलत मे हिस्सेदार बन जाते हैं। इस चतुर उपाय को आर्थिक साम्राज्यवाद कहते हैं। नकशे मे इसका पता नही चलता। अगर भूगोल की पुस्तक मे या ऐटलस मे देखो तो देश आजाद और स्वाधीन दिखाई देगा। पर अगर पर्दे को हटाकर देखो तो पता लगेगा कि यह किसी दूसरे ही देश के चगुल मे है, या यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि वहाँ के साहूकारो और बडे-बडे व्यवसायियो के चगुल मे है। सयुक्त राज्य अमेरिका के हाथ मे इसी तरह का साम्राज्य है, जो नजर मे नही आता है। इग्लैण्ड जब किसी देश के लोगो को राज की मशीन सौंप देने का दिखावा करता है तो इसकी तह मे उसकी यही कोशिश होती है कि भारत मे व दूसरी जगह उसका इसी तरह का नजर मे न आनेवाला लेकिन फिर भी कारगर साम्राज्य बना रहे। यह खतरनाक चीज है, और हमे इससे सावधान रहना चाहिए।

खैर, नजर मे न आनेवाले इस आर्थिक साम्राज्य पर गौर करने की अभी जरूरत नही है, क्योकि फिलीपाइन टापू तो नजर मे आनेवाले साम्राज्य के ही भाग हैं।

फिलीपाइन मे हमारी दिलचस्पी का एक छोटा और कुछ भावुक सबब और भी है। आजकल फिलीपाइन का रूप स्पेनी-अमेरिकी है पर उसकी पुरानी सस्कृति की भारी पीठ भारतीय है। भारतीय सस्कृति सुमात्रा और जावा होती हुई वहाँ पहुँची थी तथा इसने जीवन के सामाजिक, राजनीतिक, मजहबी, वगैरा हर पहलू पर असर डाला था। प्राचीन भारतीय पुराणो की गाथाएँ, कथाएँ और

साहित्य का कुछ हिस्सा वहाँ पहुँचे थे। इन की भाषा मे संस्कृत के बहुतेरे शब्द हैं। इनकी कला पर और इनके कानूनों और दस्तकारियों पर भारत का असर पड़ा है। यहाँतक कि पोशाक व अलंकारों पर भी भारत की छाप है। स्पेनियों ने अपने तीन सौ साल से ज्यादा के लम्बे राज मे प्राचीन भारतीय संस्कृति के सारे सबूतों को मिटाने की कोशिशें कीं, इससे अब बहुत कम बाकी बचा है।

स्पेनियो ने इन टापुओं पर १५६५ ई० मे ही कब्जा करना शुरू कर दिया था। इस तरह ये टापू एशिया मे यूरोपवालों के पाँव जमने की सबसे पहली जगह है। इनका शासन पुर्तगाली, डच या ब्रिटिश उपनिवेशो से बिलकुल ही जुदा तरह का था। व्यापार को कोई बढ़ावा नही दिया जाता था। सरकारो का आधार मजहबी था और अधिकारी ज्यादातर ईसाई मिशनरी व पादरी हुआ करते थे। इसको 'मिशनरियों का साम्राज्य' कहा गया है। जनता की हालत को सुधारने की कोई कोशिश नही की जाती थी। बद-इन्तजामी, अत्याचार और टैक्सों के बोझ के साथ-साथ लोगो को जबर्दस्ती ईसाई बनाने की कोशिशें भी की जाती थीं। ऐसी हालत मे विद्रोहों का होना लाजिमी था। व्यापार के लिए बहुत-से चीनी लोग भी इन टापुओ मे आ बसे थे। ईसाई बनने मे इन्कार करने पर उनकी हत्याएँ कर दी गई। अंग्रेज और डच सौदागरो को यहाँ आने की इजाजत नहीं थी—कुछ तो इसलिए कि वे स्पेनियो के दुश्मन थे, और कुछ इसलिए कि वे प्रोटेस्टेण्ट ईसाई थे और इसलिए रोमन-कैथलिक स्पेनियो की नजरो मे काफ़िर थे।

हालतें बिगडती गईं, लेकिन एक अच्छा नतीजा भी निकला। इन टापुओ के बिखरे हुए हिस्सो और समूहो मे एका हो गया, और उन्नीसवी सदी मे राष्ट्रीय भावना जागने लगी। इसी सदी के बीच मे विदेशी व्यापारियो के लिए इन टापुओ के दरवाजे खुल जाने के सबब से शिक्षा और दूसरे विभागो मे कुछ सुधार भी हुए और व्यापार व व्यवसाय की उन्नति हुई। फिलीपाइनियो मे भी एक मध्यम वर्ग बन गया। स्पेनियो और फिलीपाइनियो के बीच आपसी विवाह होने की वजह से बहुत-से फिलीपाइनियो मे स्पेनी खून था। स्पेन को मातृभूमि के समान माना जाने लगा और स्पेनी विचार फैलने लगे। फिर भी राष्ट्रीयता की भावना बढती गई और जैसे-जैसे दमन हुआ, वह क्रान्तिकारी बनती गई। शुरू मे तो स्पेन से अलग होने का कोई विचार न था। स्वराज्य की, और स्पेन की कमजोर व बेकार पार्लमेण्ट 'कार्तेस' मे कुछ प्रतिनिधियो की माँग की गई। यह अनोखी बात है कि किस तरह हर जगह राष्ट्रीय आन्दोलन नर्मी के साथ शुरू होते हैं और लाजिमी तौर पर गर्म बन जाते हैं और अन्त मे अलग होने की व स्वाधीनता की माँग करने लगते हैं। आजादी की दबाई हुई माँग, बाद मे सूद-दर-सूद के साथ पूरी करनी पड़ती है। बस, फिलीपाइन मे भी यह माँग बढी, इसे पूरी करने के लिए

राष्ट्रीय मंगठन बनाये गए और गुप्त समितियां भी फैली। "नौजवान फिलीपाइनी दल" ने, जिसका नेता डॉ० जोस रिजल था, इस आन्दोलन मे बहुत बडा भाग लिया। स्पेनी अधिकारियो ने आतक से आन्दोलन को कुचलने की कोशिश की, क्योंकि मालूम होता है सरकारें सिर्फ यही एक तरीका जानती हैं। रिजल और बहुत-से दूसरे नेताओं को १८९६ ई० मे मौत की सजा देकर फांसी पर चढा दिया गया।

इससे मानो फूस मे चिनगारी पड गई। स्पेनी सरकार के खिलाफ खुली बगावत भडक उठी और फिलीपाइनियो ने अपना "स्वाधीनता का घोषणा-पत्र" निकाल दिया। पूरे साल भर लडाई चलती रही और स्पेनी लोग बगावत को कुचल नही सके। तब कुछ ठोस सुधारो के वादे पर लडाई रोक दी गई। लेकिन स्पेन ने कुछ नही किया, और १८९८ ई० मे बगावत फिर से भडक उठी।

इसी बीच किसी दूसरे मामले पर अमेरिका की सरकार का स्पेन से झगडा हो गया और दोनो देशो के बीच युद्ध छिड गया। अप्रैल, १८९८ ई० मे, अमेरिका के जगी बेडे ने फिलीपाइन पर हमला कर दिया। बागी फिलीपाइन नेताओ को पूरी आशा थी कि महान् अमेरिकी गणराज्य उनकी आजादी की हिमायत करेगा। इसलिए युद्ध मे उन्होंने अमेरिकावालो की मदद की। उन्होने अपनी स्वाधीनता की फिर घोषणा कर दी और एक गणराज्यी सरकार सगठित करली। सितम्बर, १८९८ ई० मे, फिलीपाइनी कांग्रेस बुलाई गई और नवम्बर के अन्त तक नया सविधान बना लिया गया। लेकिन इधर जब कांग्रेस मे नये सविधान पर बहस हो रही थी, तब उधर अमेरिका स्पेन को हरा रहा था। स्पेन कमजोर था, इसलिए साल का अन्त होते-होते उसने हार मान ली और युद्ध समाप्त हो गया। सन्धि की शर्तों के मुताबिक स्पेन ने फिलीपाइन टापू अमेरिका के हवाले कर दिये। यह उदार भेंट देने मे उसे लगता ही क्या था, क्योंकि फिलीपाइनी बागियो ने स्पेनी सत्ता का तो पहले ही अन्त कर दिया था।

अब सयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने इन टापुओ पर कब्जा करने की कार्रवाई की। फिलीपाइनियो ने इसका विरोध किया और बतलाया कि टापुओ को दूसरे को सौंपने का स्पेन को न तो कोई मतलब था और न कोई अधिकार ही, क्योंकि उस वक्त स्पेन के पास सौपने के लिए था ही क्या। लेकिन यह विरोध बेकार गया, और जब वे अपनी नई जीती हुई आजादी के लिए अपनेको बधाई दे ही रहे थे कि उन्हें स्पेन से कही ज्यादा जबर्दस्त सरकार से दुबारा लडाई छेडनी पडी। साढे तीन वर्ष तक ये वीरता से लडते रहे, कुछ महीनो तक तो सगठित सरकार के रूप मे और इसके बाद युद्ध के छापा-मार तरीके से।

अन्त मे विद्रोह दबा दिया गया और अमेरिकी राज कायम हुआ। बहुत-से चौमुखी सुधार किये गए, खासकर शिक्षा मे, लेकिन स्वाधीनता की मांग जारी

रही। १९१६ ई० मे सयुक्त राज्य की काग्रेस ने 'जोन्स-बिल' नामक एक बिल पास करके एक चुनी हुई विधान-सभा को कुछ अधिकार सौंप दिये। लेकिन अमेरिकी गवर्नर-जनरल को दखल देने का हक रहा, और अक्सर वह इस हक़ को काम मे भी लाता रहा।

सयुक्त राज्य के खिलाफ तो फिलीपाइन मे बलवे नही हुए, पर फिलीपाइनियो को अपने मौजूदा नसीब पर तसल्ली नही है और स्वाधीनता के लिए उनकी बेचैनी व माँग बराबर चल रही है। अमेरिकी लोग सच्चे साम्राज्यशाही ढँग से उन्हें अक्सर भरोसा दिलाते रहते हैं कि वे तो फिलीपाइनियो के ही फायदे के लिए वहाँ बने हुए हैं, और जैसे ही वे अपना काम-काज सम्भालने के काबिल हो जायँगे वैसे ही वे इन टापुओ को छोडकर चले जायँगे। १९१६ ई० के जोन्स बिल मे भी कहा गया था कि "अमेरिका के लोगो का हमेशा से यही उद्देश्य रहा है, और अ भी है, कि फिलीपाइन मे मजबूत सरकार कायम होने की सूरत पैदा होते ही फिलीपाइन टापुओ पर से अपना राज हटालें और उनकी स्वाधीनता क़बूल करलें।" फिर भी, अमेरिका मे बहुत-से लोग मौजूद हैं, जो फिलीपाइन की स्वाधीनता का खुल्लम-खुल्ला विरोध करते हैं।

मैं यह लिख ही रहा हूँ कि अखबारो मे खबर आ रही है कि अमेरिका की काग्रेस ने एक प्रस्ताव या ऐसी ही कोई घोषणा पास की है कि फिलीपाइन को दस साल मे स्वाधीनता दे दी जायगी।[1]

फिलीपाइन मे सयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ आर्थिक स्वार्थ हैं, जिनकी रक्षा की उसे फिक्र है। रबड-बागानो की खेती मे उसका खास स्वार्थ है, क्योकि यह एक ऐसी निहायत जरूरी चीज है, जो उसके यहाँ पैदा नही होती। लेकिन मेरे खयाल से इन टापुओ पर कब्ज़ा रखने का असली सबब है जापान का डर। जापान फिलीपाइन के बिलकुल नजदीक है, और जापान मे बढती हुई आबादी की बाढ आ रही है। यह बिलकुल सम्भव है कि जापानी सरकार की लालचभरी नजर इन टापुओ पर पड रही हो। अमेरिका और जापान की सरकारो के बीच काफी लाग-डाँट है इसलिए फ़िलीपाइन के भविष्य का सवाल प्रशान्त महासागर की शक्तियो व उनके आपसी सम्बन्धो के बडे सवाल का एक टुकडा है।

[1] अमेरिका ने १९४६ ई० मे फिलीपाइन को स्वाधीन कर दिया और अब वह एक गणराज्य है।

## : १२२ :

# तीन महाद्वीपों का संगम

१६ जनवरी, १९३३

नये साल के दिन की मेरी कामनाओं में से एक तो इतनी जल्द पूरी भी हो गई कि एक पखवाड़े पहले पत्र लिखते वक्त मुझे उनका गुमान भी न था। इतनी लम्बी बाट जोहने के बाद आखिर हमारी मुलाकात हुई और मैंने तुम्हें फिर देखा। तुम्हें और दूसरे लोगों को देखने की खुशी और लहर कई दिनों तक मेरे दिल में भरी रही और उसने मेरे ढर्रे में गड़बड़ डाल दी और रोज की बातों में मुझे ला-परवाह बना दिया। मुझे छुट्टियों जैसी मौज आ गई है। हमारी मुलाकात को चार ही दिन बीते हैं, पर कितना समय गुजर गया मालूम होता है। मैं तो भविष्य की भी सोचने लग गया हूँ और इस सोच में हूँ कि हमारी अगली मुलाकात कब और कहाँ होगी।

खैर, जेल का कोई कानून मुझे अपने मन-बहलाव के खेल से नहीं रोक सकता और मैं इन पत्रों का सिलसिला जारी रखूँगा।

कुछ समय से मैं तुम्हें उन्नीसवीं सदी का हाल लिखता आ रहा हूँ। पहले तो मैंने तुम्हें इस सदी का सरसरी सिंहावलोकन कराया, जो मोटे तौर पर नेपोलियन के पतन के बाद के सौ वर्ष हैं। उसके बाद हमने कई देशों पर बारीकी से गौर करना शुरू किया। भारत, फिर चीन, और जापान, और सबके बाद भारत के पूर्ववर्ती देशों की हमने अच्छी तरह सैर की। बारीकी के साथ इस सिंहावलोकन में हम अभी तक एशिया के एक हिस्से को ही देख सके हैं। बाकी दुनिया अभी बाकी है। यह एक लम्बा इतिहास है और इसे सीधा व साफ रखना कठिन है। मुझे एक-एक करके देशों और महाद्वीपों को लेना है और उनका अलग-अलग बयान करना है। अलग-अलग इलाकों के लिए मुझे बार-बार पीछे का हाल कहने में बार-बार उसी काल में लौटना पड़ता है और एक ही जमाने का हाल लिखना पड़ता है। इसलिए कुछ उलझन हो जाना लाजिमी है। लेकिन तुम्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जुदा-जुदा देशों में उन्नीसवीं सदी की ये सारी घटनाएँ समकालीन थीं, यानी बहुत करके एक ही समय में हुईं। उन्होंने एक दूसरी पर असर डाला और एक की दूसरी पर प्रतिक्रिया भी होती रही। इसीलिए, किसी देश के इतिहास को अलग लेकर अध्ययन करने में धोखा हो सकता है। कुल दुनिया के इतिहास से ही हमें उन घटनाओं और ताकतों के महत्व का ठीक अंदाजा लग सकता है, जिन्होंने अतीत को रूप दिया और उसे वर्तमान बनाया। ये पत्र इस तरह का इतिहास पेश करने का दावा नहीं करते। यह काम मेरी ताकत से बाहर है और इस विषय पर किताबों की भी कमी नहीं है। इन पत्रों में मैंने सिर्फ यह कोशिश

उस्मानी साम्राज्य—१६वीं और १७वीं सदी में
बुडापेस्ट
हं ग री
डैन्यूब
वेलाछिया
मोल्डाविया
बेसराबिया
क्रीमिया
काला समुद्र
सर्बिया
बलगारिया
रूमानिया
अलबानिया
यूनान
अनातोलिया
स्मर्ना
आरमीनिया
मेसोपोटामिया
फ़ुरात
क्रीट
सीरिया
मिस्र
काहिरा
ईरान

की है कि संसार के इतिहास में तुम्हारी रुचि को जगादूं, तुम्हे उसके कुछ पहलुओं की झांकी करादूं और शुरू से लगाकर आजतक मनुष्य-जाति की जो हलचलें रही हैं, उनका धागा तुम्हारे हाथ में दे दूं। पता नहीं कि मैं कहांतक सफल हो सकूंगा। कहीं ऐसा न हो कि मेरी मेहनत का नतीजा तुम्हारे सामने एक गड़बड़-झाला रख दे, जो तुम्हें नहीं फैसले पर पहुंचने में मदद देने के बजाय उलटा उलझन में डाल दे।

यूरोप उन्नीसवी सदी को आगे धकेलनेवाली ताकत था। वहां राष्ट्रीयता का बोलबाला था, और उद्योगवाद वहां से दुनिया के दूर-दूर कोनों में फैलकर अक्सर साम्राज्यशाही का रूप ले रहा था। इस सदी पर हमने शुरू में जो सरसरी निगाह डाली थी, उसमें हम यह देख चुके हैं और हमने भारत और पूर्वी एशिया में साम्राज्यशाही के नतीजों को ज़रा बारीकी से सिलसिलेवार समझा है। अब फिर नजदीक से देखने के लिए यूरोप की तरफ चलने से पहले मैं तुमको ज़रा पश्चिमी एशिया की भी सैर करा देना चाहता हूं। इस भू-भाग को मैंने बहुत अर्से से छोड रक्खा है, जिसका खास सबब यह है कि इसके बाद के इतिहास की मुझे कुछ ज्यादा जानकारी नहीं है।

पूर्वी एशिया व भारत से पश्चिमी एशिया बहुत अलग तरह का है। बहुत ज़माना हुआ तब तो मध्य-एशिया और पूर्व की बहुत-सी कौमों और कबीलों ने यहां आकर हमले किये थे। खुद तुर्क लोग इसी तरह आये थे। ईसवी सन से पहले बौद्ध-धर्म भी ठेठ एशिया कोचक तक जा पहुंचा था, लेकिन वह वहां जड जमा सका हो तो ऐसा नहीं लगता। गुज़रे ज़माने में पश्चिमी एशिया की आंखें एशिया या पूर्व की बनिस्बत यूरोप की तरफ ही ज्यादा लगी रहीं। एक तरह से यह यूरोप की तरफ एशिया का झरोखा रहा है। एशिया के जुदा-जुदा भागों में इस्लाम के फैलने से भी पश्चिमी एशिया के नज़रिये में कुछ फर्क नहीं पडा।

भारत, चीन और दूसरे पडोसी देशों ने यूरोप की तरफ इस तरह कभी नहीं देखा। वे एशियापन में ही लिपटे रहे। भारत और चीन के बीच नस्ल, नज़रिये व संस्कृति का बडा भारी फर्क है। चीन कभी मजहब का गुलाम नहीं रहा, और वहां पुजारियों-पुरोहितों की प्रथा नहीं रही। भारत ने सदा से अपने धर्म पर अभिमान किया है। उसके समाज पर पण्डे-पुजारी लदे रहे हैं, हालांकि बुद्ध ने उसकी छाती पर बैठे इस बोझ से छुडाने के जतन भी किये। भारत और चीन में और भी बहुत-से फर्क हैं, फिर भी भारत और पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के बीच अजीब एकता है। इस एकता का कारण बुद्ध-गाथाओं की कडी है, जिसने इन देशों के निवासियों को जोड रक्खा है और जिसने कला व साहित्य, संगीत व गीतों में एक-सी बन्दिश गूंथ दी है।

इस्लाम के साथ भारत मे कुछ पश्चिमी-एशियापन आगया। यह एक जुदा सस्कृति थी, जीवन का अलग ही नजरिया था। लेकिन भारत मे पश्चिमी-एशियापन सीधा या अपने कुदरती रूप मे नही आया, जैसाकि अरबवाले भारत को विजय करते तो होता। वह आया, लेकिन बहुत दिन बाद, और वह भी मध्य-एशियाई नस्लो की मार्फत, जो उसकी सही प्रतिनिधि नही थी। तो भी इस्लाम ने भारत को पश्चिमी एशिया से जोड दिया, और इस तरह भारत दो महान् सस्कृतियो के मिलने की जगह बन गया। इस्लाम चीन मे भी पहुँचा और वहाँ बहुत सारे लोगो ने इसे अपना लिया, पर इसने चीन की पुरानी सस्कृति को कभी चुनौती नही दी। भारत मे यह चुनौती इसलिए दी गई थी कि इस्लाम बहुत अर्से तक राज करनेवाले वर्ग का मजहब था। इस तरह भारत वह देश हो गया जहाँ दो सस्कृतियाँ एक-दूसरे के मुकाबले मे खडी हुई। मैं तुमको उन तमाम कोशिशो का हाल लिख ही चुका हूँ, जो इस कठिन समस्या को हल करने के लिए समन्वय की तलाश मे की गईं। इन कोशिशो मे बहुत कुछ कामयाबी हासिल हो रही थी कि ब्रिटिश हुकूमत के रूप मे एक नया खतरा और एक नई रुकावट आ मौजूद हुई। आज इन दोनो पुरानी सस्कृतियो ने अपना पुराना रूप खो दिया है। राष्ट्रीयता और उद्योगीकरण ने दुनिया को बदल दिया है, और जिस हद तक नई आर्थिक हालतो मे ठीक बैठ सकें, उसी हद तक पुरानी सस्कृतियाँ जीवित रह सकती हैं। उनके खोखले खोल बच रहे हैं, असली रूप जाते रहे हैं। खुद इस्लाम की जन्मभूमि पश्चिमी एशिया में बडे-बडे परिवर्तन हो रहे हैं। चीन और सुदूरपूर्व बराबर उथल-पुथल की हालत मे हैं। भारत मे हम खुद देख सकते हैं कि क्या हो रहा है।

पश्चिमी एशिया के बारे मे लिखे इतने दिन हो गये कि अब सिलसिले को पकडना मुश्किल-सा हो रहा है। तुम्हे याद होगा कि मैंने बगदाद के महान् अरब साम्राज्य का हाल बताया था कि किस तरह तुर्कों के (ये तुर्क सेलजूक तुर्क थे उस्मानी नही) हाथो इसकी मिट्टी पलीद हुई और अन्त मे चगेजखाँ के मगोलो ने किस तरह इसे बिलकुल नष्ट कर दिया। मगोलों ने ख्वारिज्म के साम्राज्य का भी अन्त कर दिया, जो मध्य-एशिया तक फैला हुआ था और जिसमे ईरान भी शामिल था। इसके बाद तैमूरलग आया और कुछ दिन की सैनिक सफलताओ और हत्याकाण्डो के बाद गायब हो गया। लेकिन पश्चिम की तरफ एक नया साम्राज्य उठ खडा हुआ, जो तैमूर से हारने के बावजूद फैलता जा रहा था। यह साम्राज्य उस्मानी तुर्कों का था, जिन्होंने ईरान के पश्चिम मे एशिया पर और मिस्र व दक्षिण-पूर्वी यूरोप के खास बडे हिस्से पर कब्जा कर लिया था। कई पीढ़ियो तक यूरोप पर इनका खतरा बना रहा और यूरोप के मजहबी व अन्धविश्वासी लोगो को, जो मध्य-युगो से बाहर निकल ही रहे थे, ये तुर्क पापियो को सजा देने के लिए "खुदा का कहर" मालूम दिये।

उस्मानी राज के अधीन पश्चिमी एशिया इतिहास से गायब हो जाता है और दुनिया की बड़ी जीवनधारा से कटकर रुके हुए पानी की खाडी बन जाता है। कई सदियो तक, बल्कि हजारो वर्षों तक, यह यूरोप और एशिया के बीच राजमार्ग था और एक महाद्वीप से दूसरे को माल ले जानेवाले अनगिनत काफिले इस हिस्से के शहरो और रेगिस्तानो को लांघा करते थे। पर तुर्कों ने व्यापार को बढावा न दिया और अगर वे देना भी चाहते तो एक नये कारण के सामने लाचार थे। यह कारण था यूरोप और एशिया के बीच समुद्री-रास्तो का विकास। समुद्र अब नया राजमार्ग बन गया और जहाजो ने रेगिस्तान के ऊंटो की जगह ले ली। इस परिवर्तन के सबब मे दुनिया मे पश्चिमी एशिया का महत्व बहुत घट गया। वह अब विलग जीवन बिताने लगा। उन्नीसवी सदी के पिछले हिस्से मे स्वेज नहर खुल जाने से समुद्री रास्ते का महत्व और भी ज्यादा हो गया। यह नहर पूर्व और पश्चिम के बीच, इन दोनो संसारो को एक-दूसरे के ज्यादा नजदीक लानेवाला सबसे बडा राजमार्ग बन गई।

अब बीसवीं सदी मे हमारे देखते-ही-देखते एक और महान् परिवर्तन हो रहा है। जल और थल की पुरानी होड मे अब थल फिर जीत रहा है और समुद्र को दुनिया के बड़े राजमार्ग की जगह से हटा रहा है। मोटरो के आविष्कार से बडा फर्क पड गया है और हवाई-जहाजो ने इसे और भी बढा दिया है। व्यापार के प्राचीन मार्ग, जो इतने दिनो से सूने पडे थे,अब फिर आवा-जाई से भर रहे हैं। हां, आराम की चाल चलनेवाले ऊंटो की जगह अब रेगिस्तान मे मोटरें दौडती हैं और सिर पर हवाई जहाज उडते हैं।

उस्मानी साम्राज्य ने तीन महाद्वीपो—एशिया, अफ्रीका और यूरोप को जोड दिया था। पर उन्नीसवी सदी के बहुत पहले से ही यह साम्राज्य कमजोर पड गया था और इस सदी ने इसे तीन-तेरह होते भी देख लिया। "खुदा का कहर" अब "यूरोप का मरीज़" हो गया। १९१४-१८ ई० के महायुद्ध ने इसका अन्त ही कर दिया। और इसकी राख मे से नवीन तुर्की का उदय हुआ है, जो अपने ऊपर भरोसा रखनेवाला, मजबूत और प्रगतिशील है। इसके अलावा और भी कई राज्य पैदा हो गये है।

मैं लिख चुका हूँ कि पश्चिमी एशिया 'यूरोप की तरफ एशिया का झरोखा' है। यह भूमध्य सागर मे घिरा हुआ है, जिसने एशिया, यूरोप और अफ्रीका को एक-दूसरे से अलग भी किया है और जोडा भी है। पुराने जमाने मे तो यह जोडनेवाली कडी बहुत मजबूत रही है और भूमध्य सागर के किनारे के देशो मे बहुत-सी बातें एक-सी चली आई हैं। यूरोप की सभ्यता भूमध्य-सागर के प्रदेश मे ही शुरू हुई थी। पुराने यूनान के उपनिवेश इन्ही तीनो महाद्वीपो के समुद्री-किनारो

पर बिखरे हुए थे। रोमन साम्राज्य इसीके चारो ओर फैला था। भूमध्य-सागर के आस-पास ही ईसाइयत का बचपन गुजरा है। अरब लोग अपनी संस्कृति इसी-के पूर्वी तट से सिसिली को, और फिर अफ्रीका के तट के ठेठ पार पश्चिम मे स्पेन तक, ले गये और वहाँ सात सौ वर्ष तक जमे रहे।

अब हमे मालूम हो गया कि भूमध्य-सागर के तटवाले एशिया के देशो का दक्षिणी यूरोप और उत्तरी अफ्रीका से कैसा गहरा रिश्ता है। इसलिए पश्चिमी एशिया पुराने ज़माने मे एशिया और दूसरे दोनो महाद्वीपो को जोडनेवाली साफ कडी बन जाता है। लेकिन इस तरह की कडियो की अगर तलाश की जाय तो दुनिया भर मे आसानी से मिल जायँगी। तग राष्ट्रीयता के सबब से हम ससार की एकता और जुदा-जुदा देशो के समान हितो की बनिस्बत अलग-अलग देशो का ज्यादा विचार करने लगे हैं।

## : १२३ :

## पीछे की तरफ़ एक निगाह

१९ जनवरी, १९३३

हाल ही मे मैंने दो पुस्तकें पढी हैं, जो मुझे बहुत पसन्द आई है। मेरी इच्छा थी मेरे साथ तुम भी इन पुस्तको को पढ़ती। ये दोनो पुस्तकें पेरिस के 'म्यूज़ी गिमे' के सचालक रेनी ग्राउज़े नामक फ्रान्सीसी की लिखी हुई हैं। क्या तुमने पूर्वी कला का और खासकर बौद्ध-कला का यह दिलकश अजायबघर देखा है? मुझे याद नही पड़ता कि तुम मेरे साथ वहाँ गई थी। ग्राउज़े ने चार जिल्दो मे पूर्वी यानी एशियाई सभ्यता पर निगाह डाली है और भारत, मध्य-पूर्व (यानी पश्चिमी एशिया और ईरान), चीन व जापान की सभ्यताओ का वर्णन एक-एक जिल्द मे अलग-अलग किया है। कला-रसिक होने की वजह से उसने यह पुस्तक इस बात को ध्यान मे रखकर लिखी है कि कला की तरह-तरह की हलचलो का विकास कैसे हुआ और इसमे बहुत-सी सुन्दर तसवीरें भी दी हैं। इस तरह इतिहास सीखना, बादशाहो के युद्धो, लडाइयो व साज़िशो का हाल जानने से बहुत बेहतर और दिलचस्प होता है।

अभी तक मैंने ग्राउज़े की पुस्तक की वे दो जिल्दें पढी हैं, जिनमे भारत का और मध्य-पूर्व का हाल है और इन्हें पढ़कर मेरा मन बहुत प्रसन्न हुआ है। शान-दार इमारतें और सुन्दर मूर्त्तियाँ और अद्‌भुत दीवार-चित्रो व दूसरे चित्रो की तसवीरो ने मुझे देहरादून-जेल से बहुत दूर, दूर-दूर के देशो की ओर बीते हुए ज़माने की याद दिला दी है।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हे उत्तर-पश्चिम भारत[1] मे सिन्ध घाटी के मोहन-जो-दडो और हडप्पा का हाल लिखा था, जो पाँच हज़ार वर्ष पहले की प्राचीन सभ्यता के खण्डहर हैं। बीते हुए युग के उन दिनो मे जब मोहन-जो-दडो में लोग रहते थे और काम करते और दिल बहलाते थे, तब सभ्यता के और भी कई केन्द्र थे। हमारी जानकारी बहुत थोडी है, वह एशिया और मिस्र के जुदा-जुदा इलाको मे खोज निकाले गए कुछ खण्डहरो तक ही है। अगर काफी मेहनत के साथ और काफी विस्तार मे खुदाई की जाय तो ऐसे और भी बहुत खण्डहर मिल सकते हैं। लेकिन अब भी हम जानते है कि मिस्र के नील-काँठे मे, खाल्दिया (शाम) मे जहाँ इलाम राज्य की राजधानी सूसा थी, पूर्वी ईरान के पर्सीपोलिस मे, मध्य एशिया के तुर्किस्तान मे, और चीन की ह्वाग-हो या पीली नदी के किनारो पर उन दिनो एक ऊँचे दर्जे की सभ्यता थी।

यह वह ज़माना था जब ताम्बे का इस्तेमाल शुरू हुआ था और चिकने पत्थर का युग बीत रहा था। ऐसा मालूम होता है कि चीन से लगाकर मिस्र तक के सारे लम्बे-चौडे इलाके विकास के एक ही दर्जे तक पहुँच चुके थे। वास्तव मे यह देखकर अचम्भा होता है कि एशिया के एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई एक-सी सभ्यता के कुछ सबूत मिले हैं, जो बतलाते है कि सभ्यता के ये जुदा-जुदा केन्द्र एक दूसरे से विलग नही थे, बल्कि एक का दूसरे से सम्पर्क था। खेती खूब होती थी। मवेशी पाले जाते थे और कुछ व्यापार भी होता था। लेखन-कला भी प्रकट हो चुकी थी, लेकिन ये पुरानी चित्र-लिपियाँ अभी तक पढी नही जा सकी हैं। एक दूसरे से बहुत दूर-दूर के इलाको मे एक ही तरह के औज़ार पाये गए है और कला की चीज़ो मे भी विचित्र समानता है। नक्काशी किये हुए मिट्टी के बर्तन और तरह-तरह के गुल-बूटोवाले सुन्दर फूलदान खास तौर पर ध्यान खींचते हैं। मिट्टी के ये बर्तन इतने ज्यादा पाये गए है कि इस तमाम काल का ही नाम 'नक्काशीदार मिट्टी के बर्तनो की सभ्यता' पड गया है। उस ज़माने मे सोने-चाँदी के ज़ेवर, सेलखडी और सगमरमर के बर्तन और रुई के कपडे तक बनते थे। मिस्र से लगाकर सिन्ध नदी की घाटी और चीन तक की इस प्राचीन सभ्यता के हरेक केन्द्र मे अपनी खासियत थी और हरेक का अपना ही अलग ढँग था, लेकिन फिर भी इन सबके अन्दर एक-सी व जुडी हुई सभ्यता का सिलसिला दिखाई देता है।

यह मोटे तौर पर पाँच हज़ार वर्ष पहले की बात है। लेकिन ज़ाहिर है कि ऐसी सभ्यता ने किसी पहली सभ्यता से ही उन्नति की होगी, और इसके विकास

---

[1] अब यह भाग पाकिस्तान मे है।

मे हज़ारो वर्ष लगे होंगे। नील-कांठे मे और खाल्दिया मे इसकी शुरुआत और भी दो हज़ार वर्ष पहले खोजी जा सकती है। दूसरे केन्द्र भी शायद इतने ही पुराने हैं।

ईसा से तीन हज़ार वर्ष पहले के बीते ताम्र-युग की, यानी मोहन-जो-दडो काल की, इस एक-सी व चारो ओर फैली हुई सभ्यता से चार बडी-बडी पूर्वी सभ्यताएँ अलग-अलग दिशाओ मे निकली, अलग-अलग तरह की बनी और अलग-अलग रूपो मे उनका विकास हुआ। ये चारो मिस्री, इराकी, भारतीय और चीनी सभ्याताएँ थी। इसी पिछले काल मे मिस्र मे महान् पिरामिड[1] और गीज़ा का महान् स्फिक्स[2] बने। इसके बाद मिस्र मे थीवन-काल आया, जब ईसा से लगभग दो हज़ार वर्ष पहले थीवन-साम्राज्य फूला-फला और अद्भुत मूर्त्तियाँ व दीवार-चित्र बनाये गए। कला के दुबारा पनपने का यह एक महान् काल था। इसी समय के आस-पास लुक्सर का विशाल मन्दिर बना। तूतांखामन एक थीबी फरऊन[3] था, जिसका नाम तो, मालूम होता है, लोगो ने सुन रक्खा है पर उसके बारे मे और कुछ जानकारी उन्हें नही है।

खाल्दिया में सुमेर व अक्कंद के दो प्रदेशो मे शक्तिशाली सगठित राज्य बने। खाल्दिया का उर शहर मोहन-जो-दडो के समय मे ही कला की नफ़ीस चीज़ें बनाने लगा था। करीब सात सौ वर्षों की सरदारी के बाद उर पामाल कर दिया गया। बाबुल (बाबीलन) के लोगो ने, जो सामी (यानी अरबो या यहूदियो के समान) कौम के थे, सीरिया से आकर नई हुकूमत कायम की। इस नये साम्राज्य

---

[1] पिरामिड—चौकोर शंकु के आकार के विशाल स्तूप जिनमें फरऊनों को दफ़नाया गया है। मिस्र में लगभग ४० पिरामिड हैं जो अहराम कहलाते हैं। सबसे बड़ा पिरमिड कूफू नामक फरऊन का बनवाया हुआ है। इसीमे बाद मे उसका शव रक्खा गया था। इसका आधार ७५६ फुट लम्बा तथा इतना ही चौड़ा है तथा इसकी ऊँचाई ४८१ फुट है। पिरामिडो में पत्थर के बहुत बड़े-बड़े टुकडे जमे हुए है। कूफू का पिरामिड संसार का एक आश्चर्य माना जाता है। इसके भीतर कई बड़े-बड़े कमरे हैं।

[2] स्फिक्स—पत्थर की विशालकाय मूर्त्ति जिसका सिर तो स्त्री का-सा है, धड़ सिंह का है, जिसपर पक्षियों के-से पर हैं तथा पूँछ सांप की-सी है। यह मिस्र मे पिरामिडों के ही पास है।

[3] ईसा से पूर्व छठी-सातवीं सदी मे मिस्र के बादशाह फरऊन कहलाते थे। तूतांखामन अन्तिम फरऊनों मे सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी क़ब्र में इसकी मोमियाई निकली है जो सोने के सन्दूक मे बन्द थी। क़ब्र मे सोने-चाँदी, हाथीदान्त, जवाहरात की अनेक बहुमूल्य चीज़ें भी मिली हैं।

का केन्द्र-अब बाबुल का शहर हो गया, जिसका हवाला बाइबिल मे बार-बार आता है। इस ज़माने मे भी साहित्य दुबारा पनपा और महाकाव्य बनाये व गाये जाते थे। 'ऐसा माना जाता है कि सृष्टि की उत्पत्ति व जल-प्रलय का वर्णन करनेवाले इन महाकाव्यो की कथाओ के सहारे पर ही बाइबिल के शुरू के अध्याय रचे गये हैं।

बाबुल का भी पतन हुआ और उसके कई सौ वर्षों बाद (लगभग १,००० वर्ष ईसा से पूर्व और उसके बाद) असीरिया के लोग मैदान मे आये और उन्होंने निनेवा को राजधानी बनाकर एक नया साम्राज्य कायम किया। ये बडे अजीब लोग थे। ये परले सिरे के हैवान व ज़ालिम थे। इनकी सारी शासन-प्रणाली आतकवाद पर खडी थी और इन्होंने हत्याकाण्डो व तबाहियो के सहारे सारे मध्य-पूर्व पर एक महान् साम्राज्य तैयार किया। ये लोग उस ज़माने के साम्राज्यशाही लोग थे। लेकिन ये लोग कई बातो मे बहुत ही सुसस्कृत भी थे। निनेवा मे एक बहुत बडा पुस्तकालय जमा किया गया था, जिसमें उस ज़माने के ज्ञान के हर विभाग की पुस्तकें थी। पर यह बताने की जरूरत नही कि यह पुस्तकालय कागज़ी नही था और न इसमे आजकल की पुस्तको जैसी कोई चीज़ थी। उस ज़माने की पुस्तकें मिट्टी के साँचो पर लिखी जाती थी। निनेवा के पुराने पुस्तकालय के हज़ारो साँचे आजकल लन्दन के ब्रिटिश अजायबघर मे रक्खे हुए हैं। कई तो बहुत ही दिल दहलानेवाले हैं, बादशाह ने बडी बोलती भाषा मे लिखा है कि उसने दुश्मनो पर कैसे-कैसे ज़ुल्म किये और उनमे कैसा मजा लिया।

भारत मे आर्य लोग मोहन-जो-दडो काल के बाद आये। अबतक उनके शुरू के दिनो के कोई खण्डहर या मूर्तियाँ नही मिली हैं। हाँ, उनकी सबसे बडी यादगारें उनके पुराने ग्रन्थ—वेद वगैरा—हैं, जिनसे हमे भारत के मैदान मे उतरनेवाले इन आनन्दी सूरमाओ के मन का भीतरी हाल मालूम होता है। इन ग्रन्थो मे प्रकृति की बहुत ही ज़ोरदार कविता भरी है, देवता भी प्रकृति के देवता हैं। यह लाज़िमी था कि जब कला का विकास हुआ तो प्रकृति का प्रेम उसमे बहुत ज़्यादा हिस्सा लेता। भोपाल के पास साँची के फाटक अबतक पाई गई कला की बची-खुची निशानियो मे सबसे पुराने गिने जाते हैं। उनका समय शुरू का बौद्धकाल है। इन फाटको के ऊपर फूल-पत्तो व जानवरो की शक्लो की सुन्दर नक्काशी से हमें इनके बनानेवाले कलाकारो के प्रकृति-प्रेम का और प्रकृति की परख का पता लगता है।

इसके बाद उत्तर-पश्चिम की ओर से यूनानी असर आया, क्योंकि यह तो तुम्हें याद होगा कि सिकन्दर के बाद यूनानी साम्राज्य ठेठ भारत की सरहद तक आ गया था। फिर कुषाण-वश का सरहदी साम्राज्य आया और इसपर भी यूनानी

असर था। बुद्ध मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। वह अपने-आपको देवता नही कहते थे, न अपनी पूजा ही कराना चाहते थे। उनका उद्देश्य उन बुराइयो से समाज का पिण्ड छुडाना था, जो पोपलीला के जरिये उसमे घुस आई थी। वह गिरे हुओ और दीन-दुखियो को उठाने की कोशिश करनेवाले सुधारक थे। बनारस के पास सारनाथ या इसिपत्तन मे उनका जो प्रथम प्रवचन हुआ, उसमे उन्होंने कहा था "मैं अज्ञानियो को ज्ञान से तृप्त करने आया हूँ जबतक कोई मनुष्य प्राणियो के हित के लिए अपनेको खपा न दे, त्यागे हुओ को तसल्ली न दे, तबतक वह पूर्ण नही हो सकता। . मेरा मत करुणा का मत है, इसी कारण ससार के सुखी मनुष्य उसे कठिन समझते हैं। निर्वाण का मार्ग सबके लिए खुला हुआ है। ब्राह्मण भी उसी तरह स्त्री के गर्भ से पैदा हुआ जैसे कि चाण्डाल, जिसके लिए कि उसने मोक्ष का द्वारा बन्द कर रक्खा है। जिस प्रकार हाथी नरकुलो की झोपडी को उखाड फेंकता है, उसी प्रकार तुम भी अपने विकारो का नाश कर दो। . पापो से रक्षा का एकमात्र उपाय आर्यसत्य है।" इस तरह बुद्ध ने सदाचार का और जीवन के अष्टागिक मार्ग[1] का उपदेश किया। लेकिन गुरु के उपदेशो का छिपा हुआ अर्थ न समझनेवाले मूर्ख शिष्यो का जैसा कायदा होता है, उसी तरह बुद्ध के अनुयायियो ने उनके बताये हुए आचार-व्यवहार के ऊपरी नियमो का तो पालन किया, मगर उनका भीतरी मर्म नही समझा। उनके उपदेशो पर चलने के बजाय वे उनकी पूजा करने लगे। फिर भी बुद्ध की कोई मूर्तियां नही बनी, न पूजा की कोई प्रतिमाएँ बनाई गई।

इसके बाद यूनान व दूसरे यूनानी देशो के विचार यहाँ भी आने लगे। इन देशो मे देवताओ की सुन्दर-सुन्दर मूर्तियां बनाई जाती थी और पूजी जाती थी। भारत के उत्तर-पश्चिम मे गान्धार देश मे यह असर सबसे ज्यादा था। वहाँ 'शिशु-बुद्ध' की मूर्तियाँ बनने लगी। यह उनके अपने छोटे और प्यारे देवता कामदेव या आगे होनेवाले शिशु ईसा की तरह का था। इस तरह बौद्ध-धर्म मे मूर्तिपूजा की शुरुआत हुई और यहाँतक बढ़ी कि हरेक बौद्ध-मन्दिर मे बुद्ध की मूर्ति दिखाई देने लगी।

ईरान का असर भी भारतीय कला पर पडा। बौद्ध जातको और हिन्दुओ की अनगिनती पौराणिक कथाओ से भारत के कलाकारो को बेशुमार मसाला मिल गया। पत्थरो पर खुदी हुई या रगो से खीची गई इन जातक-कथाओ व पुरानी गाथाओ को तुम आन्ध्र में, अमरावती मे, बम्बई के पास एलिफेण्टा की गुफाओ

---

[1] 'आर्यसत्य' और 'अष्टागिक मार्ग' बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धान्त है। सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित 'बुद्धवाणी' में इनका अच्छा परिचय दिया हुआ है।

मे, और वेरुळ (एलोरा) व अजन्टा मे देख सकती हो। सैर के लिए ये अनोखी जगहें हैं और मैं चाहता हूँ कि भारत का हरेक लडका और लडकी इन जगहो मे से कम-से-कम कुछको तो ज़रूर देखे।

भारत की पौराणिक कथाएँ समुद्र को लाँघकर भारत के पूर्ववर्ती देशो मे भी जा पहुँची। जावा के बोरोबुदुर मे सारी-की-सारी जातक-कथा पत्थर की दीवारो पर सिलसिलेवार खुदी हुई है। अकोरवाट के खण्डहरो मे बहुत-सी ऐसी मूर्तियाँ मौजूद हैं, जिनको देखकर हमे आठ सौ वर्ष पहले के ज़माने की याद हो आती है, जबकि पूर्वी एशिया मे यह नगर 'शानदार अकोर' के नाम से मशहूर था। इन मूर्तियो की मुख-मुद्राएँ कोमल और सजीव हैं और उनपर एक विचित्र व पकड मे न आनेवाली मुस्कराहट छाई हुई है, जो 'अकोर की मुस्कराहट' कहलाने लगी है। वहाँ की नस्लो का पुराना खून बदल गया है, लेकिन यह मुस्कराहट वैसी ही बनी हुई है और हमेशा नई लगती है।

कला अपने ज़माने की ज़िन्दगी व सभ्यता का सच्चा दर्पण होती है। जब भारतीय सभ्यता ज़िन्दगी से भर-पूर थी, तब यहाँ सुन्दर वस्तुओ की रचना हुई, कलाएँ लहलहाईं और उनकी गूँज दूर-दूर के देशो तक जा पहुँची। लेकिन, जैसा कि तुम्हें मालूम है, बाद मे सडन व गलन पैदा हुई और जैसे-जैसे देश टूक-टूक होता गया, कलाएँ भी गिरती गईं। उनकी जीवट व जान जाती रही और उन-पर ज़रूरत से ज्यादा बारीकियाँ लाद दी गईं—यहाँतक कि वे भोंडेपन की हद पर पहुँच गईं। मुसलमानो के आने से एक झटका लगा, और इस नये असर ने फालतू सजावट के गिरे हुए रूप को भारतीय कला से निकाल दिया। ज़मीन तो पुराने आदर्श की ही रही, पर उसे बडी सादगी और खूबी के साथ अरब और ईरान का नया जामा पहना दिया गया। पुराने ज़माने मे भारत के हज़ारो राज-मिस्त्री मध्य-एशिया गये थे। अब पश्चिम-एशिया के वास्तुकार और चित्रकार भारत आये। ईरान और मध्य-एशिया मे कला ज़ोरदार तरीके से दुबारा पनपने लगी थी, कुस्तुन्तुनिया मे बडे-बडे वास्तुकारो के हाथो बडी-बडी आलीशान इमारतें बन रही थी। इटली मे भी यही रिनेसाँ के शुरू का काल था, जबकि वहाँ भी महान् कलाकारो के एक तारा-मडल ने सुन्दर चित्रो और मूर्तियो की रचना की थी।

सीनन उस ज़माने का मशहूर तुर्की मेमार था और बाबर ने उसीके चहेते शागिर्द यूसुफ को यहाँ बुलवाया। ईरान का महान् चित्रकार बिहज़ाद था। उसके कई शागिर्दों को बुलाकर अकबर ने अपना दरबारी चित्रकार बनाया। वास्तुकला और चित्रकला दोनो पर ही ईरानी असर छाया हुआ नजर आने लगा। मुगल-भारत की इस भारतीय-मुस्लिम कला की कुछ आलीशान इमारतो का ज़िक्र मैंने

किसी पिछले पत्र में किया है। इनमें से कितनी ही तो तुमने देखी भी है। इस भारतीय-ईरानी कला की सबसे ऊंची सिद्धि ताजमहल है। बहुत-से बड़े-बड़े कलाकारों की मदद से यह बना। कहते है कि सबसे बड़ा मेमार उस्ताद ईसा नामक कोई तुर्क या ईरानी था और उसकी मदद के लिए कई भारतीय मेमार थे। ख़याल किया जाता है कि कुछ यूरोपीय कलाकारों ने, खासकर एक इटालवी ने, भीतर की सजावट का काम किया। इतने सारे अलग-अलग व बड़े-बड़े कलाकारों के काम करने पर भी, इस इमारत में कोई खटकनेवाली या आपस में मेल न रखनेवाली कोई चीज़ नहीं हैं। तमाम जुदा-जुदा असर आपस में घुल-मिलकर अद्‌भुत संगति पैदा कर रहे है। ताजमहल में हज़ारों ही आदमियों ने काम किया है। लेकिन इस पर ईरानी व भारतीय, दो असरों की सबसे ज्यादा छाप है। इसीलिए ग्राउझे ने कहा है कि "ईरान की आत्मा ने भारत के शरीर में अवतार लिया है।"

: १२४ :

## ईरान की अटूट पुरानी परम्पराएं

२० जनवरी, १९३३

आओ, अब ईरान की तरफ चलें, जिसके बारे में कहा जाता है कि इसकी आत्मा भारत में आई और ताजमहल को अपने लिए उचित शरीर पाकर उसमें पैठ गई। ईरानी कला की परम्परा भी निराली है। यह परम्परा ठेठ असीरियाइयों के ज़माने से, दो हज़ार वर्षों से भी ज्यादा समय से, बराबर चली आ रही है। राज्यों और राजवंशों और मज़हबों में तब्दीलियां हुई हैं, देश पर विदेशी हुकूमत भी रही है और अपने शाहों की भी, इसलाम ने भी आकर बहुत-कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये हैं, लेकिन यह परम्परा बराबर बनी रही है। हां, युगों के दौरान में यह बदली है और इसका विकास भी हुआ है। परम्परा के इस तरह कायम रहने का सबब ईरानी कला का ईरान की धरती व नज़ारों के साथ ताल्लुक होना बताया जाता है।

पिछले पत्र में मैंने निनेवा के असीरियाई साम्राज्य का ज़िक्र किया है। इस साम्राज्य में ईरान भी शामिल था। ईसा से पांच-छै सौ साल पहले ईरानियों ने, जो आर्य थे, निनेवा पर कब्ज़ा करके असीरियाई साम्राज्य का अन्त कर दिया। फिर इन ईरानी-आर्यों ने सिन्ध नदी के किनारे से लेकर ठेठ मिस्र तक अपने लिए बड़ा साम्राज्य बना लिया। प्राचीन संसार पर उनका दबदबा था और यूनानी इतिहास में उनके शासक के लिए 'शहंशाह' शब्द इस्तेमाल किया गया है। इन 'शहंशाहों' में से कुछके नाम कुरु, दारा और ज़रक्स (क्षयार्श) है। तुम्हें याद

होगा कि दारा और जरक्स ने यूनान को जीतने की कोशिश की और शिकस्त खाई। यह राजवंश हकामनी राजवश कहलाता था और इसने २२० वर्षो तक एक बडे साम्राज्य पर राज किया। अन्त मे मकदूनिया के सिकन्दर महान् ने इसका अन्त कर दिया।

असीरियाइयो और बाबुलियो के बाद ईरानियो के आने से जनता को बडी राहत मिली होगी। ये बडे सभ्य और उदार शासक थे। इन्होंने सब मजहबो और सस्कृतियो को पनपने दिया। इनके लम्बे-चौडे साम्राज्य की शासन-व्यवस्था बहुत बढिया थी। आवा-जाई की सहूलियत के लिए अच्छी सडको का तमाम देश मे जाल-सा बिछा हुआ था। इन ईरानी-आर्यों का भारत मे आनेवाले भारतीय आर्यों से नजदीकी रिश्ता था। इनका मजहब, यानी जरथुस्त का मजहब, शुरू के वैदिक धर्म से मिलता-जुलता था। साफ नजर आता है कि दोनो का मूल आर्यो के आदिम वासस्थान मे एक ही होगा, चाहे वह स्थान कही भी हो।

हकामनी बादशाह इमारते बनवाने के बडे शौकीन थे। अपनी राजधानी पर्सीपोलिस मे उन्होंने मन्दिर नही बनवाये, बल्कि खूब बडे-बडे महल बनवाये थे, जिनमे बहुत खम्भोवाले बडे-बडे सभा-भवन थे। इन विशाल इमारतो का कुछ अन्दाजा इनके खण्डहरो से लगाया जा सकता है। ऐसा जान पडता है कि हकामनी कला का सम्पर्क मौर्यकाल की भारतीय कला के साथ रहा। उसने इसपर अपना असर भी डाला।

सिकन्दर ने शाहशाह दारा को हराकर हकामनी राजवश का अन्त कर दिया। उसके बाद सिकन्दर के सेनापति सेल्युक और उसके वारिसो के अधीन कुछ दिनो तक यूनानियो का राज रहा और फिर आधे-विदेशी शासको के अधीन यूनानी असर का काफी लम्बा जमाना रहा। इसी जमाने मे भारत की सीमा पर बैठे हुए और दक्षिण मे बनारस तक व उत्तर मे मध्य-एशिया तक अपने पैर फैलाये हुए कुषाणो पर भी यूनानी असर था। भारत के पश्चिम का तमाम एशिया, सिकन्दर से लेकर ईसा की तीसरी सदी तक, यानी पाँच सौ वर्षों से भी ज्यादा तक, यूनानी असर मे रहा। यह असर ज्यादातर कला से ताल्लुक रखता था। इसने ईरान के मजहब के साथ कोई छेड-छाड नही की और वहाँ जरथुस्त मजहब ही चलता रहा।

तीसरी सदी मे ईरान मे राष्ट्रीय जीवन फिर से उठा और एक नया राजवश सत्ताधारी हुआ। यह सासानी राजवश था, जो सरगर्म राष्ट्रवादी था और पुराने हकामनी बादशाहो का गद्दीधारी होने का दावा करता था। जैसा कि अक्सर सरगर्म राष्ट्रवाद का कायदा होता है, यह बहुत तग और कट्टर था। उसे सरगर्म इसलिए बनाना पडा कि वह पश्चिम मे रोम साम्राज्य व कुस्तुन्तुनिया के बिजेन्तीन

साम्राज्य, और पूर्व मे चढे चले आनेवाले तुर्की कबीलो, के बीच फँसा हुआ था। फिर भी यह राजवश चार सौ वर्षों से ज्यादा, यानी इस्लाम के ठेठ आने तक, किसी तरह चलता ही रहा। सासानियो के राज मे जरथुस्तो का पुजारी-वर्ग बहुत ताकतवर था। राज्य की बागडोर इन्हीके हाथो मे थी और वे कोई विरोध बर्दाश्त नही करते थे। कहा जाता है कि इसी जमाने मे उनकी धर्म-पुस्तक अवेस्ता का आखिरी पाठ तैयार हुआ।

इस काल मे भारत मे गुप्त साम्राज्य फूल-फल रहा था। यह भी कुषाण व बौद्ध कालो के बाद होनेवाली राष्ट्रीय चेतना थी। साहित्य और कला मे नया उभार आया और कालिदास सरीखे कई महान् सस्कृत लेखक इसी समय हुए। इस बात के बहुत सकेत मिलते हैं कि ईरान की सासानी-कला का भारत की गुप्त-कला के साथ सम्पर्क था। आज सासानी जमाने की चित्रकारियाँ या मूर्तियाँ बाकी नही हैं। पर जो भी मिली हैं, उनमे जान व हरकत भरी हुई हैं। उनमें बने हुए जानवर अजन्टा के भित्ति-चित्रो के जानवरो से बहुत मिलते-जुलते हैं। मालूम होता है कि सासानी-कला का असर ठेठ चीन और गोबी रेगिस्तान तक फैला हुआ था।

अपने लम्बे राज के आखिरी दिनो मे सासानी कमजोर पड गये और ईरान का रग-ढग बिगड गया। बिजन्तीन साम्राज्य के साथ लम्बे युद्धो में फँसे रहने से दोनो ही बिलकुल पस्त हो गये। अपने नये मजहब के जोश से भरी हुई अरबी फौजो के लिए अब ईरान को जीत लेना मुश्किल न हुआ। सातवी सदी के बीच मे, पैग़म्बर की मृत्यु के दस वर्षों के अन्दर, ईरान खलीफा की हुकूमत मे आ गया। जैसे-जैसे अरब फौजें मध्य-एशिया और उत्तर-अफीका की तरफ़ फैलती गईं, वे अपने साथ सिर्फ एक नया मजहब ही नही बल्कि एक नई और बढ़ती हुई सभ्यता भी लेती गईं। सीरिया, शाम, मिस्र, सब अरबी सस्कृति मे रम गये। अरबी भाषा उनकी भाषा हो गई। यहाँतक कि उनकी नस्ल भी अरबी नस्ल मे मिल गई। बग़दाद, काहिरा और दमिश्क अरबी सभ्यता के बडे-बडे केन्द्र बन गये और इस नई सभ्यता के असर से वहाँ बहुत-सी आलीशान इमारतें बनी। आज भी ये देश अरबी देश कहलाते हैं और हालाँकि एक-दूसरे से अलग हैं, फिर भी एकता के सपने देखा करते हैं।[1]

इसी तरह अरबो ने ईरान को भी जीता, पर वे इस देश के निवासियो को मिस्र या सीरिया की तरह न तो मिला सके और न हज़म कर सके। पुरानी आर्य नस्ल की ईरानी नस्ल सामी अरबो से बहुत दूर की थी। उसकी भाषा भी आर्य भाषा थी। इसलिए यह नस्ल जुदा रही और उनकी भाषा भी फूलती-फलती रही। तेजी से फैलनेवाले इस्लाम ने जरथुस्त मजहब की जगह ले ली और इसे अन्त मे

[1] अरब देशों के समान हितो की रक्षा के लिए अरब लीग की स्थापना हो चुकी है।

भारत में आकर आसरा लेना पड़ा। लेकिन ईरानियों ने इस्लाम में भी अपना ही ढंग बनाये रक्खा। इस भेद की वजह से इस्लाम में दो फिरके पैदा हो गये—शिया और सुन्नी। ईरान बहुत करके शिया देश हो गया और आज भी है। बाकी इस्लामी दुनिया ज्यादातर सुन्नी है।

हालांकि अरबी सभ्यता ईरान को हजम न कर सकी, तो भी उसका उस पर जबर्दस्त असर पड़ा। वहां भी, भारत की तरह, इस्लाम ने कला की हलचलो को नया जीवन दिया। ईरानी स्वभावो का भी अरबी कला और संस्कृति पर इतना ही असर पड़ा। रेगिस्तान की सीधी-सादी औलाद के घरो में ईरानी ऐश-आराम घुस गया और अरब के खलीफा का दरबार दूसरे शाही दरबारो की तरह तड़क-भड़कदार और शानदार बन गया। शहंशाही बगदाद उस समय की दुनिया का सबसे बड़ा शहर बन गया। इसके उत्तर में दजला नदी के किनारे समारा में खली-फाओ ने अपने वास्ते बड़े-बड़े मस्जिद और महल बनवाये, जिनके खण्डहर अभी तक मौजूद हैं। मस्जिद में बड़े-बड़े कमरे और फव्वारोदार आंगन थे। महल आयता-कार था, जिसकी लम्बाई एक किलोमीटर से भी ज्यादा थी।

नवी सदी में बगदाद का साम्राज्य टूक-टूक होकर कई छोटे-छोटे राज्यो में बंट गया। ईरान स्वाधीन हो गया। पूर्व की तरफ तुर्की कबीलो ने कई राज्य कायम कर लिये और अन्त में खुद ईरान पर कब्जा करके वे बगदाद के नाम मात्र खलीफा पर भी हावी हो गये। ग्यारहवी सदी के शुरू में महमूद गजनवी का उदय हुआ, जिसने भारत पर छापा मारा, खलीफा को दहला दिया और अपने लिए एक थोड़ी जिन्दगीवाला साम्राज्य भी बना लिया, जिसको सेलजूक नामी एक दूसरे तुर्की कबीले ने खतम कर दिया। सेलजूकों ने बहुत वर्षों तक और सफलता के साथ ईसाई जिहादियो से टक्कर ली और युद्ध किया, और इनका साम्राज्य डेढ सौ वर्ष रहा। बारहवी सदी के अन्त में एक और ही तुर्की कबीले ने सेलजूको को ईरान से निकाल बाहर किया और खारजम या खीवा की सल्तनत कायम की। लेकिन इसकी जिन्दगी भी थोड़े ही दिन की रही, क्योंकि खारजम के शाह के हाथो अपने राजदूत के अपमान पर चगेजखां को इतना गुस्सा आया कि वह अपने मंगोलो को लेकर चढ़ आया, और उसने इस देश को व इसके निवासियों को कुचल डाला।

इस छोटे-से पैरा में मैंने तुम्हें कितने ही परिवर्तनो और कितने ही साम्राज्यो का हाल लिख दिया है और तुम काफी चकरा गई होगी। मैंने इन राजवशो और नस्लो के चढाव-उतार का जिक्र तुम्हारे दिमाग पर बोझ डालने के लिए नही किया है, बल्कि यह जोर देने के लिए किया है कि किस तरह इन सबके बावजूद ईरान का जीवन और उसकी कला की परम्परा अटूट बनी रही। पूर्व से एक के बाद एक तुर्की कबीले आये और बुखारा से इराक तक फैली हुई मिली-जुली ईरानी-अरबी

सभ्यता के आगे सिर झुकाते गये। जो तुर्क ईरान से दूर एशिया-कोचक पहुँच पाये, उन्होंने अपना ढंग कायम रखा और अरबी संस्कृति को नहीं अपनाया। एशिया-कोचक को तो उन्होंने अपने वतन तुर्किस्तान का ही एक हिस्सा-सा बना लिया। मगर ईरान व उसके आस-पास के देशों में पुरानी ईरानी संस्कृति का ही ऐसा ज़ोर था कि इन तुर्कों को उसे अपनाना पड़ा और अपने-आपको उनके अनुसार ढालना पड़ा। ईरान पर हुकूमत करनेवाले इन सभी तुर्की राजवंशों के समय में ईरानी कला व साहित्य फूलते-फलते रहे। मेरा खयाल है कि मैं तुम्हें फारसी के कवि फिरदौसी का हाल लिख चुका हूँ, जो सुलतान महमूद गज़नवी के समय में हुआ था। महमूद के कहने पर उसने ईरान का राष्ट्रीय महाकाव्य 'शाहनामा' लिखा था। इस पुस्तक में बयान की गई घटनाएँ इस्लामी ज़माने से पहले की हैं और इसका महान् नायक रुस्तम है। इससे जाहिर होता है कि पुराने राष्ट्रीय और परम्परावाले अतीत के साथ ईरान के साहित्य और कला का कैसा गहरा और अटूट नाता था। ईरानी चित्रों व सुन्दर लघु-चित्रों के ज्यादातर विषय शाहनामा की कहानियों से लिये गए हैं।

फिरदौसी का जन्म ९३२ ई० में हुआ और मृत्यु १०२२ ई० में हुई, यानी वह उस समय हुआ जब सदी बदली और ईसा के बाद 'हज़ार वर्ष का युग' भी पूरा हो गया। उसके कुछ ही दिन बाद ईरान में नैशापुर का रहनेवाला ज्योतिषी शायर उमर खय्याम हुआ, जिसका नाम अंग्रेज़ी में उतना ही मशहूर है जितना फारसी में। और उमर खय्याम के बाद शीराज़ का शेख सादी हुआ, जो फारसी कवीश्वरों में गिना जाता है और जिसकी गुलिस्ताँ व बोस्ताँ पीढ़ियों से भारत के मकतबों में पढ़नेवाले लड़कों को रटनी पड़ती थी।

मैंने महापुरुषों के कुछेक नामों का ही ज़िक्र किया है। नामों की लम्बी सूचियाँ मैं नहीं देना चाहता। लेकिन मैं चाहता हूँ कि तुम यह ज़रूर महसूस करो कि इन सदियों भर में ईरान से लगाकर मध्य-एशिया में अक्षु-पार-प्रदेश[1] तक ईरानी कला व संस्कृति का दीपक लगातार बड़ी तेज़ रोशनी से जलता रहा। अक्षु-पार-प्रदेश के बलख और बुखारा जैसे बड़े नगर कला व साहित्य की हलचलों के केन्द्र हो गये और ईरान के शहरों की होड़ करने लगे। बुखारा में ही दसवीं सदी के अन्त में मशहूर अरबी दार्शनिक इब्नसिना का जन्म हुआ था। दो सौ वर्ष बाद बलख में जलालुद्दीन रूमी नामक एक और फारसी शायर पैदा हुआ। यह बड़ा रहस्यवादी माना जाता है और इसीने रक्कास (नाचनेवाले) दरवेशों का पन्थ चलाया था।

इस तरह युद्धों, लड़ाई-झगड़ों और राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद ईरानी-

[1] Transoxiana.

अरबी कला और संस्कृति की परम्परा जानदार बनी रही और साहित्य, चित्र-कला व इमारती कारीगरी के कमाल पैदा करती रही। उसके बाद तबाही आई। तेरहवीं सदी मे (१२२० ई० के करीब) चगेजखाँ झपाटे के साथ आ पहुँचा और खारज़म और ईरान को नष्ट कर गया। कुछ साल बाद हलाकू ने बगदाद को नष्ट कर दिया, और ऊँची संस्कृति के जमा किये हुए फलो का सफाया हो गया। किसी पिछले पत्र मे मैं लिख चुका हूँ कि किस तरह मगोलो ने मध्य-एशिया को वीरान बना डाला, किस तरह वहाँ के बडे-बडे शहर खाली हो गये और उनमे मनुष्य-जीवन का नाम तक न रहा।

मध्य-एशिया इस आफत के बाद कभी पूरी तरह नही पनप सका। ताज्जुब तो यही है,कि जिस हद तक वह पनपा उतना भी कैसे पनपा। तुम्हें याद होगा कि चगेजखाँ के मरने के बाद उसका बडा साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया था। ईरान और इसके आसपास का उसका भाग हलाकू के हिस्से मे आया। जी भरकर सत्या-नाश करने के बाद हलाकू एक अमन-पसन्द और उदार शासक बनकर बैठ गया और उसने इलखान-राजवंश चलाया। ये इलखान कुछ अर्से तक तो मगोलो का पुराना आसमानी मजहब ही मानते रहे, बाद में मुसलमान बन गये। इस्लाम कबूल करने के पहले और बाद मे भी, वे दूसरे मजहबो की तरफ पूरी तरह उदार थे। चीन मे उनके भाईबन्द, यानी चीन का खान महान् और उसका परिवार, बौद्ध थे। इनके साथ इलखानो के बडे गहरे ताल्लुक थे। यहाँतक कि दुलहिनें भी वे चीन से मँगवाया करते थे।

ईरान और चीन के मगोलो की दोनो शाखाओ के बीच इन रिश्तो का कला पर काफी असर पडा। धीरे-धीरे चीनी असर ईरान मे आ पहुँचा और वहाँ की चित्रकला में अरबी, ईरानी व चीनी असरो का एक विचित्र मेल दिखाई देता है। लेकिन फिर भी, तमाम आफतो के बावजूद, ईरानी तत्व जोरदार बना रहा। चौदहवीं सदी के बीच ईरान ने एक और शायर पैदा किया। यह था हाफिज़ जो आज तक भारत मे भी लोकप्रिय है।

मगोल इलखानो का राज ज्यादा दिन न टिका। उनके रहे-सहे निशानो को अक्षु-पार-प्रदेश के समरकन्द के एक बडे सूरमा तैमूर ने नष्ट कर दिया। यह खूँख्वार और महा जालिम वहशी भी, जिसका हाल मैं तुम्हे लिख चुका हूँ, कलाओ का अच्छा रसिक था और एक विद्वान आदमी माना जाता है। मालूम होता है कि इसका सारा कला-प्रेम दिल्ली, शीराज़, बग़दाद और दमिश्क के बडे शहरो को उजाडने मे और लूट के माल से अपनी राजधानी समरकन्द को सजाने मे ही था। लेकिन समरकन्द की सबसे अद्भुत और आलीशान इमारत तैमूर का मकबरा 'गोरे-अमीर' है। यह मकबरा है भी इसके अनुकूल ही, क्योंकि इसकी शानदार

रूप-रेखा मे तैमूर की रोबदार सूरत की, मजबूती की और खूंख्वार स्वभाव की कुछ झलक है।

तैमूर ने जो विशाल प्रदेश जीते थे, वे उसके मरने के बाद एक-एक करके जाते रहे, लेकिन उसकी तुलना मे एक छोटी-सी रियासत, जिसमे अक्षु-पार-प्रदेश और ईरान भी शामिल थे, उसके गद्दीनशीनो के पल्ले पडी। पूरे एक सौ वर्षों तक, यानी पन्द्रहवी सदीभर, इन लोगो का, जिन्हें 'तैमूरिया' कहते थे, ईरान, बुखारा और हिरात पर कब्ज़ा रहा। और अजीब बात यह है कि एक ज़ालिम विजेता के ये वशधर अपनी उदारता, मानवता और कला-प्रेम के लिए मशहूर हुए। तैमूर का ही पुत्र शाहरुख इनमे सबसे महान् हुआ है। उसने अपनी राजधानी हिरात में एक आलीशान पुस्तकालय स्थापित किया, जिसके कारण वहा साहित्य-प्रेमियों की भीड खिचकर आती रहती थी।

सौ वर्षों का यह तैमूरी-काल कला व साहित्य की हलचलो के लिए इतना मशहूर है कि इसको 'तैमूरी पुनर्जागरण' कहते है। ईरानी साहित्य का खूब विकास हुआ और बहुत-सी सुन्दर तसवीरें बनाई गई। महान् चित्रकार बिहज़ाद चित्रकला की एक नई कलम का पेशवा था। एक दिलचस्प बात यह हुई कि फारसी के साथ-साथ तुर्की साहित्य का भी तैमूरी-साहित्य-गोष्ठियो मे विकास हुआ। तुम्हें याद दिला दूं कि इटली के 'रिनेसॉं' का भी यही ज़माना था।

तैमूरिये तुर्क थे और उन्होंने ईरानी सस्कृति को बहुत-कुछ अपना लिया था। तुर्कों और मगोलो की प्रभुता होते हुए भी ईरान ने अपने विजेताओ पर अपनी ही सस्कृति की छाप बैठा दी थी। साथ ही ईरान राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए भी लडता रहा। धीरे-धीरे तैमूरिये दिन-पर-दिन पूर्व की ओर खदेड दिये गए, यहॉं तक कि उनकी रियासत अक्षु-पार प्रदेश के चारो ओर सिकुडती गई। सोलहवी सदी के शुरू मे ईरानी राष्ट्रीयता की विजय हुई और तैमूरिये हमेशा के लिए ईरान से निकाल बाहर किये गए। सफावी नामक एक राष्ट्रीय राजवश ईरान के तख्त पर बैठा। इसी राजवश के दूसरे बादशाह तहमास्प प्रथम ने, शेरशाह के डर से भारत छोडकर भागे हुए हुमायू को शरण दी थी।

सफावी-काल १५०२ से १७२२ ई० तक, यानी दो सौ वर्ष रहा। इसे ईरानी कला का सुनहला युग कहा जाता है। राजधानी इस्फहान आलीशान इमारतो से भर गया और कला का नामी केन्द्र बन गया, जो चित्रकारी के लिए खास तौर पर मशहूर था। शाह अब्बास, जिसने १५८७ से १६२९ ई० तक राज किया, इस वश का नामी बादशाह हुआ है और ईरान के सबसे महान् शासको मे गिना जाता है। उसको एक तरफ से उज़बको ने और दूसरी तरफ से उस्मानी तुर्कों ने आ दबाया। उसने दोनो को मार भगाया, एक मजबूत राज्य कायम

किया, पश्चिम के और दूसरे दूर-दूर के राज्यो से सम्बन्ध जोडे, और अपनी राजधानी को सुन्दर बनाने के काम मे जुट गया। इस्पहान मे शाह अब्बास की नगर-योजना 'ऊँचे दर्जे की सफाई और रुचि का कमाल' मानी जाती है। जो इमारते बनाई गई, उनमे सिर्फ रूप-सौन्दर्य और नफीस सजावट ही नही थे, बल्कि वे ऐसी मनोहर जगहो मे खडी की गई थी कि उनका प्रभाव दुगना हो जाता था। जिन यूरोपीय यात्रियो ने उस समय ईरान को देखा था, उन्होंने इनकी तारीफो के पुल बाँध दिये हैं।

ईरानी कला के इस सुनहले युग मे इमारती-कला, साहित्य, चित्रकारी (भित्ति-चित्रो तथा छोटे चित्रो, दोनो की), सुन्दर कालीनें, चमकदार मिट्टी के बर्तनो का और पच्चीकारी का नफीस काम, सब फूले-फले। कुछ भित्ति-चित्रो और छोटे-छोटे चित्रो मे अद्भुत लावण्य है। कला राष्ट्रीय सीमाओ को नही मानती और न उसे मानना ही चाहिए, और सोलहवी व सत्रहवी सदियो की इस ईरानी कला को समृद्ध बनाने मे बहुत-से प्रभावो का हाथ रहा होगा। कहते हैं, इटली का प्रभाव तो जाहिर है। पर इन सबके पीछे ईरान की पुरानी कला-परम्परा है, जो दो हजार वर्षों से अटूट चली आ रही थी। ईरानी संस्कृति का दायरा सिर्फ ईरान की हद के भीतर ही न था। वह पश्चिम मे तुर्की से लगाकर पूर्व मे भारत तक के लम्बे-चौडे इलाके मे फैली। भारत के मुगल दरबारो मे फारसी भाषा संस्कृति की भाषा मानी जाती थी। और आमतौर पर पश्चिमी एशिया मे भी इसकी वही हैसियत थी जो यूरोप मे फ्रान्सीसी भाषा की थी। ईरानी कला की पुरानी भावना आगरे के ताजमहल मे अपनी अमर निशानी छोड गई है। बहुत-कुछ इसी तरह इस कला ने पश्चिम मे कुस्तुन्तुनिया तक उस्मानी इमारती-कला पर भी अपनी छाप डाली है। वहाँ इस ईरानी प्रभाव की छापवाली बहुतेरी नामी इमारतें बनी।

ईरान के सफावी बहुत-कुछ भारत के महान् मुगलो के जमाने मे ही हुए थे। भारत का पहला मुगल बादशाह बाबर समरकन्द का एक तैमूरिया शहजादा था। जैसे-जैसे ईरानियो की ताकत बढती गई, वे तैमूरियो को पीछे हटाते गये। होते-होते अक्षु-पार-प्रदेश और अफगानिस्तान के सिर्फ कुछ ही हिस्से तैमूरिये शहजादो के हाथ मे रह गये। इन छुट-पुट शहजादो से बाबर को बारह साल की उम्र से ही लडना पडा था। वह सफल हुआ और पहले काबुल का शासक बनकर फिर भारत मे आया। उस जमाने की ऊँची तैमूरिया संस्कृति का अन्दाजा बाबर से लगाया जा सकता है, जिसके याद-नामे के कुछ टुकडे मैं एक पिछले पत्र मे दे चुका हूँ। सफावी शासको मे सबसे महान् शाह अब्बास था, जो अकबर व जहाँगीर के जमाने मे हुआ। इन दोनो देशो मे बराबर बडा गहरा ताल्लुक रहा होगा। अफगानिस्तान भारतीय मुगल साम्राज्य का एक हिस्सा था, इसलिए बहुत अर्से तक दोनो की सरहद एक ही थी।

•